गौडपादसार
प्रथम भाग

श्रीदक्षिणामूर्तिसंस्कृतग्रन्थमाला – १३

गौडपादसार

माण्डूक्य-उपनिषत्-कारिका व्याख्या

प्रथम भाग

व्याख्याता

परमहंसपरिव्राजकाचार्य दक्षिणामूर्तिपीठाधीश्वर

श्री १०८ स्वामी महेशानन्द गिरि

आचार्य महामण्डलेश्वर

प्रकाशक

श्री दक्षिणामूर्त्ति मठ

डी. ४९/९ मिश्र पोखरा

वाराणसी – २२१०१०

अनुक्रमणिका

■

भूमिका

भगवान् गौडपादाचार्य कलियुग में वेदान्त के प्रथमाचार्य तो थे ही दार्शनिक भित्ति पर वेदान्त को प्रतिष्ठित करना भी उनका ही प्रयत्न था। व्यास जी ने ब्रह्मसूत्रों की रचना की और वही प्रस्थानत्रयी में दार्शनिक प्रस्थान है भी, परन्तु वह सूत्ररूप में होने से एवं सर्वज्ञ शंकर के शब्दों में— उपनिषदों के फूलों की माला को गूँथने का सूत्र होने से, केवल दर्शन ही नहीं, मीमांसा भी उतना ही प्रधान रूप से है। माण्डूक्य उपनिषद् के व्याज से प्रकरणचतुष्टय का निर्माण उस द्वन्द्वात्मक अनुभूतिवाद के रूप से है जिसमें हमें शुद्ध दर्शन मिल पाता है। नाम रूप को नित्य बाधानुवृत्ति से देखने वाले वे अपने नामरूप के विषय में कुछ संकेत करें यह तो असंभव है ही, उनके शिष्य भी इस विचार-धारा से ऐसे परिपूर्ण थे कि उन्होंने भी इसका कोई निर्देश नहीं किया। अतः जिस प्रकार वेद शब्दमूर्त्ति ही है उसी प्रकार गौडपाद भी कारिकारूप ही हैं। वे एक ऐसे नक्षत्र हैं जो जाज्वल्यमान होने पर भी किसी दूरबीन के द्वारा देखे नहीं जा सकते। पार्थिव सत्ता से वे सर्वथा अतीत हैं। स्वामी आनन्द गिरि के अनुसार बदरिकाश्रम में नारायण महर्षि की कृपा से गौडपाद ने ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया। १७वीं शताब्दी के बालकृष्णानन्द सरस्वती ने उन्हें कुरुक्षेत्र प्रदेश में हिरावती नदी के किनारे रहने वाले गौडों में उत्पन्न माना है। चूँकि वे समाधि में लीन रहते थे एवं द्वापर से ही वहाँ थे अतः उनके व्यक्तिगत नाम का पता न होने से जैसे आज भी उड़िया बाबा, मद्रासी बाबा, बंगाली बाबा प्रसिद्ध हो जाते हैं वैसे ही गौडपाद नाम से प्रसिद्ध हो गये थे। भगवान् सुरेश्वराचार्य ने भी नैष्कर्म्यसिद्धि में दशविध ब्राह्मणों में पंचगौड व पंचद्राविडों का भेद प्रसिद्ध होने से "एवं गौडैर्द्राविडैर्नः पूज्यैः" (४.४१, २) कहकर उनका पंचगौड कुल में उत्पन्न होना वैसे ही बताया है जैसे आचार्य शंकर का पंचद्राविड कुल में उत्पन्न होना। इस प्रकार चूँकि सारे ब्राह्मणों का इन्हीं दशविधों में अन्तर्भाव होता है अतः समस्त ब्राह्मण वर्ग द्वारा वेदान्त की स्वीकृति को दर्शाया है। इसी कारण अनेक आधुनिक विद्वान् गौडपाद के व्यक्तित्त्व को ही अस्वीकारते हुए कारिकाओं को गौड ब्राह्मणों की स्फुट रचना का संग्रहमात्र मानने का दुःसाहस करते हैं। पर वे भूल जाते हैं कि ग्रन्थ इतना संश्लिष्ट है कि मुक्तक हो ही नहीं सकता।

गौडपाद श्रीशङ्करभगवत्पाद के परमगुरु थे— 'परमगुरुममुम्पादपातैर्नतोस्मि'। भावविवेक, शान्तिरक्षित व कमलशील ने कारिका उद्धृत की है। स्वरचित मध्यमहृदयकारिका पर अपनी ही तर्कज्वाला नाम की व्याख्या में भावविवेक ने वेदान्तदर्शन प्रकरण में छान्दोग्य,

श्वेताश्वतर, मुण्डक आदि की तरह गौडपादकारिका भी उद्धृत की है। शान्तरक्षित ने मध्यमकालंकार कारिका में औपनिषद मत के प्रसंग में न्यूनतम १० कारिकायें उद्धृत की हैं। कमलशील ने पंजिका व्याख्या में इन कारिकाओं को उपनिषद् शास्त्र नाम से स्मरण किया है। अतः इनके पूर्व गौडपाद अवश्य हुए हैं। भावविवेक छठी शताब्दी में हुए हैं। नागार्जुन आर्यदेव व असंग के वाक्यों को कारिका में देखा जा सकता है। ये पंचम शताब्दी के लेखक हैं। इस प्रकार छठी शताब्दी का पूर्वार्ध ही गौडपाद का काल संगत है। श्रीविद्यार्णव में विद्यारण्यमहामुनि ने गौडपाद व शंकर के मध्य ४ आचार्यों का उल्लेख किया है व गोविन्दपाद लम्बी उमर तक समाधिस्थ रहे ऐसा दिग्विजयों में स्पष्ट कहा है। अतः बीच का काल भी समाहित हो जाता है व शंकर के काल की संगति भी ठीक हो जाती है। परमगुरु केवल दादागुरु को ही कहा जाये यह ज़रूरी नहीं है। वेदान्तदर्शन के यौक्तिक निरूपण के प्रथमाचार्य होने से भी उन्हें परमगुरु कहा जा सकता है। गोविन्दपाद को शेषावतार कहा जाता है व शेषद्वारा निर्मित परमार्थसार गौडपाद के विचारों से अत्यधिक मेल खाता है। शेष गोविन्दपाद का संन्यास के पूर्व का नाम भी संभव है। गौडपादकारिका १.११ व परमार्थसार ३१; कारिका १.९, २.१२, १९ व सार २.३०-३३, ५६; कारिका २.३२ व सार ६९; कारिका २.३६, ३७ सार ७९-८० कारिका ३.१७, ४.५ व सार ६५ का तुलनात्मक अध्ययन इस विचार को पुष्ट करता है। गौडपाद ने योगवासिष्ठ का भी गहन अध्ययन किया होगा ऐसा दोनों का साथ साथ विचार करने पर प्रतीत होता है। वेदान्त सम्प्रदाय में वसिष्ठ गुरुपरम्परा में प्रसिद्ध हैं। योगवासिष्ठ में अन्य मतों के खण्डन की दृष्टि न होकर उनसे ऊपर जाकर उन्हें ऊर्ध्वदृष्टि के परिप्रेक्ष में देखने की है। गौडपाद अधिक तत्त्वविवेचक होने से परपक्षध्वंस में भी प्रवृत्त हैं यह बात दूसरी है। कारिका से भिन्न जो ग्रंथराशि गौडपाद के नाम से प्रसिद्ध है उनमें कारिका का दृष्टिकोण न होने से उस पर विचार करना अनपेक्षित है। उत्तरगीता की वृत्ति, सांख्यकारिका का भाष्य, नृसिंहोत्तरतापनीय की व्याख्या, दुर्गासप्तशती की टीका, सुभगोदयस्तोत्र, श्रीविद्यारत्नसूत्र उनके ग्रंथों में समधिक प्रसिद्ध हैं।

आचार्य गौडपाद ने अपने ग्रंथ का आधार माण्डूक्योपनिषद् को बनाया जिसे सभी आचार्यों ने प्रधान उपनिषद् माना है तथा मुक्तिकोपनिषद् में तो स्पष्ट ही कहा है 'माण्डूक्यमेकमेवालं मुमुक्षूणां विमुक्तये' मोक्ष की इच्छा वाले के लिए एक माण्डूक्योपनिषद्मात्र ही पर्याप्त है। इसीलिए प्रथम प्रकरण को आगम प्रकरण कहा गया है तथा कारिका का आगमशास्त्र नाम भी प्रसिद्ध है। भाष्य की अपेक्षा कारिका में शास्त्र के एकदेश को विस्तृत करना सरल होता है। संक्षिप्त होने से इन्हें याद रखना भी सरल है। इस प्रकार यह सूत्र का काम भी कर लेता है। पर सूत्र में संक्षेप अत्यधिक होने से स्पष्टता नहीं रह पाती है। ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका इस विधा का अन्य उत्तम दृष्टान्त है। शास्त्रसमस्त विषयों का प्रतिपादक होने से सूत्रों को विस्तृत विषयों का संग्रह करना होता है, अतः एकदेश का विचार संभव नहीं हो पाता। कारिका में यह कठिनाई नहीं

है। 'कारिका तु स्वल्पवृत्तौ बहोरर्थस्य सूचनी' कहकर हेमचन्द्र ने इसका यही अर्थ बताया है। कारिका में आगम-प्रकरण, वैतथ्य-प्रकरण, अद्वैत-प्रकरण व अलातशान्ति-प्रकरण हैं जिनमें क्रम से २९, ३८, ४८ व १०० श्लोक हैं एवं सभी अनुष्टुप् में हैं। प्रथम प्रकरण को टीकाकार आनन्दगिरि ओङ्कार-प्रकरण कहते हैं क्योंकि इसी में चारों मात्राओं का वर्णन आता है। 'ओङ्कारप्रकरणस्य असंकीर्णं प्रमेयम्' (पृ. ३ आनन्दगिरि-टीका)। आगम में प्रतिपादित तत्त्व की विरोधी जगत् सत्यत्व की प्रतीति होने से इसका निराकरण द्वितीय प्रकरण में है। यह प्रतिपादन हेतुप्रधान होने से मनन कहा जायेगा। व्यवस्था की अयौक्तिकता का प्रदर्शन करा के द्वैत का मिथ्यात्व सिद्ध होने पर अद्वैत की भी व्यवस्था अनुपपन्न होने से उसका भी मिथ्यात्व न सिद्ध हो जाय अतः शून्यवाद से बचने के लिए औपाधिक भेद से व्यवस्थासिद्धि के लिए तीसरा प्रकरण है। अद्वैत के प्रतिपक्षीभूत नास्तिक मतों का उन्हीं की युक्तियों से अनुपपन्नत्व करने के लिए चतुर्थ प्रकरण का निर्माण है। मध्वाचार्य व उनके सम्प्रदाय ने पुराणों में पद्म व गरुड तथा हरिवंश के उद्धरणों से आगम प्रकरण को श्रुति तथा वरुण ने मण्डूक रूप से नारायण की स्तुति में इसको रचा ऐसा बताया है। पर जैसा मध्वाचार्य का स्वभाव श्रुतियों को कल्पित करके उद्धृत करने का है वैसा ही पुराणों की कल्पना भी है। न तो पद्मपुराण, न गरुडपुराण या हरिवंश की किसी भी प्रति में ये श्लोक मिले हैं, न मुद्रणों के पाठभेदों में भी इनका उल्लेख है। रामानुजाचार्य ने भी ब्रह्मसूत्रभाष्य के प्रथम सूत्र की व्याख्या में कारिका १.१६ को श्रुति कहकर उद्धृत किया है। यद्यपि कुछ विद्वानों ने अद्वैत सम्प्रदाय के अनेक आचार्यों को भी इसे श्रुति कहते हुये दिखलाया है परन्तु अद्वैत के तो वे उज्जीवक थे अतः वे इसे श्रुतिसम अर्थ में भी श्रुति कह दें तो कोई आश्चर्य नहीं। पर आचार्य शंकर सुरेश्वर आदि ने तो वेदान्तसम्प्रदायविद् का वचन मानकर ही उद्धृत किया है।

कारिकाओं का अध्ययन करने वाला इसमें किस प्रकार विचारों का आपस में संश्लेष है एवं एक कारिका भी इधर उधर कर पाना असंभव है इस प्रकार की अत्यन्त विचारपूर्वक व्यवस्था को देखकर जो इसे स्फुट श्लोकों का संग्रह मानते हैं उनकी उक्तियों को उपहासास्पद ही मान सकता है। वैतथ्य के आरंभ में ही "वैतथ्यं सर्वभावानां स्वप्न आहुर्मनीषिणः" कह कर वे स्पष्ट करते हैं कि इस प्रकरण के पूर्व तीन अवस्थाओं में स्वप्न का वैतथ्य कहा जा चुका है। पर वहाँ आगमप्राधान्येन कहा है अब उसे हेतु से सिद्ध करते हैं। वेदान्त की प्रणाली ही है कि पहले तत्त्व का निर्णय श्रुति से करें तथा उसी को बुद्धि में आरूढ करने के लिए युक्ति से विचार करें क्योंकि युक्तियुक्त होने पर ही बुद्धि का निश्चय बनता है। उपास्य उपासना आदि द्वैत की असत्यता का प्रतिपादन करने पर उपासना की मोक्ष-साधनता मानने वाले भी असत्यमार्ग के अवलम्बन करने वाले ही होंगे ऐसा न मान लिया जाय अतः द्वैत की उत्पत्ति के पूर्व यह सब भेद नहीं होने से अजन्मा ब्रह्म की उपासना से ही बुद्धि शुद्ध होकर वही अजन्मा सर्वदा है यह ज्ञान होता है। जो इस ज्ञान तक बिना पहुँचे साधना की पूर्णता नहीं प्राप्त करता वह श्रुतियों

में कृपण कहा गया है। अतः पूर्णता या अद्वैत को सिद्ध करने के लिए तृतीय प्रकरण है। अज व अद्वैत एक ही है क्योंकि जिसका जन्म हो वह दूसरा हो सकता है या जिससे जन्म हो वह दूसरा हो सकता है। न जिसका जन्म हो, व, न जिससे जन्म हो वही अज या अद्वैत है। अतः "उपासनोपदिष्टेयं तदर्थमनुकम्पया" (३.१६), एवं "जीवात्मनोः पृथक्त्वं यत्प्रागुत्पत्तेः प्रकीर्तितम्। भविष्यद्वृत्त्या गौणं तत्" (३.१४), तथा "मृल्लोहविस्फुलिङ्गाद्यैः सृष्टिर्या चोदिताऽन्यथा उपायः सोऽवताराय" (३.१५) कह कर पूर्व प्रकरणों से सम्बन्ध को स्पष्ट किया है। चूँकि मन के रहने पर ही द्वैत ज्ञान होता है अतः अद्वैतज्ञान की स्थिरता के लिये अद्वैत प्रकरण में अस्पर्शयोग का प्रतिपादन किया है। उपासना या योग स्पर्शयोग है। उसकी अपेक्षा यह अस्पर्शयोग है। इस प्रकार स्पष्ट है कि कारिकाएँ सभी संश्लिष्ट हैं।

विधुशेखर भट्टाचार्य अपने आगमशास्त्र में (पृ. ५७) इसे चार भिन्न ग्रन्थों का संग्रह कैसे मानते हैं यह समझना दुष्कर है। संभवतः मध्वाचार्य से प्रभावित होकर उन्होंने प्रथम प्रकरण को स्वतंत्र मान लिया और फिर उसी न्याय से बाकी प्रकरणों को भी स्वतंत्र मान लिया। पर मध्वाचार्य से ५०० वर्ष पूर्व आचार्य सुरेश्वर ने "विश्वो हि स्थूलभुङ्नित्यं तैजसः प्रविविक्तभुक्" (का. १.३) बृहदारण्यकवार्तिक में उद्धृत किया है। इन्हीं गौडपादों के २.३८ की कारिका को बृहदारण्यकवार्तिक ४.४.८८७ तथा ३.४६ को वहीं ८८८ में उद्धृत करते हुये "श्लोकांश्च गौडपादादेर्यथोक्तार्थस्य साक्षिणः" कहकर उपक्रम किया है। अतः सुरेश्वराचार्य तो निश्चित रूप से संपूर्ण कारिका को एक ग्रंथ ही स्वीकारते थे। इन दो कारिकाओं को सर्वज्ञ शंकर ने भी संकेतित किया है। शंकर के पूर्व, जैसा कि बृहदारण्यकभाष्य में स्पष्ट लिखा है, जीव व ईश्वर में भेद कोई भी वेदान्ती स्वीकार नहीं करता था— "विज्ञानात्मनः परमात्मना एकत्वप्रत्ययो विधीयत इति अविप्रतिपत्तिः सर्वेषामुपनिषद्वादिनाम्" (२.१.२०)। सूत्रों में भी दोनों की एकता किस प्रकार है इसका मतभेद बताया है पर एकता ही नहीं है यह किसी भी पक्ष में नहीं कहा गया है। महर्षि जैमिनि व बादरायण सभी ने मुक्त अवस्था में एकता ही स्वीकारी है (ब्र. सू. ४.४.४-६)। माण्डूक्य में भगवान् भाष्यकार ने सभी प्रकरणों के प्रारम्भ में पूर्व प्रकरण से संगति स्थापित की है। विधुशेखर की असंगति का कथन इसके विरुद्ध जाता है। सूत्रभाष्य तथा सभी भाष्यों में आचार्य शंकर की शैली ही है कि पूर्व अधिकरण, अध्याय या प्रकरण से संगति दिखावें। सूत्रभाष्यकार व कारिका भाष्यकार का भेद मानना तो सर्वथा अप्रामाणिक है। बृहदारण्यक के भाष्य में (४.२.२-४) माण्डूक्य के ही वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ व तुरीय का उल्लेख है जबकि उस उपनिषद् में इन नामों का प्रयोग नहीं है।

आगम प्रकरण में वाणी व मन के अविषय ब्रह्म को अभिधान, अभिधेय, प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय आदि व्यापारों के प्रतिषेध से बताया। पर उसमें संशय-विपर्यय की प्राप्ति होने पर उनकी निवृत्ति के लिए वैतथ्य प्रकरण प्रसंगतः प्राप्त है। जगने पर स्वप्न का बाध तो अनुभवसिद्ध है। 'इतने समय तक स्वप्न में मुझे जाग्रत् की तरह जो चीज़ें दीखीं

वे सचमुच में नहीं थीं।' इस प्रकार का बाध जाग्रत् का कभी नहीं होता। स्वप्न भी जाग्रत्-वासना-जन्य होने से सहेतुक हैं अत: शून्य नहीं हैं। स्वप्नशास्त्र से भविष्य जाग्रत् घटनाओं का परिचय, मनोवैज्ञानिकों द्वारा स्वप्न से जाग्रत्पुरुष के विकारों का परिचय होकर रोगनिवृत्ति रूप जाग्रत् का अनुभव आदि उसको फलहीन भी नहीं सिद्ध होने देते। कुछ लोगों का कथन यहाँ तक है कि स्वप्न को स्वप्न जानकर भी देखा जा सकता है। इस प्रकार स्वप्न के मिथ्यापन का भी संदिग्ध होना स्पष्ट है। अतः स्वप्न के वैतथ्य को सिद्ध करके जाग्रत् के मिथ्यात्व को युक्तिसिद्ध करना द्वितीय प्रकरण का कार्य है। द्वैत-मिथ्यात्व सिद्ध होने पर और कुछ नहीं है एवं द्वैत की शून्यता ही अद्वैत है इस प्रकार की भेद-दृष्टि को हटा कर अद्वैत का प्रतिपादन करना अद्वैत-प्रकरण का कार्य है। प्रसंगत: प्राप्त उपासना प्रकरणों का तात्पर्य भी अद्वैत ज्ञान में सहायक होने से ही है। अतः मनःशुद्धि के साधनों का भी वर्णन हो गया है। अलातशान्ति-प्रकरण तो अद्वैत की अलातरूपता व द्वैत प्रतीति की अस्थिर अलात से विव्रियमानता बताकर अद्वैत का भेद होने से द्वैत का विरोध बाधक नहीं है, कहकर सार्थक है। इस प्रकार प्रकरणों की संश्लिष्टता तथा एकवाक्यता में सन्देह करना ही असंभव है।

यह दूसरी बात है कि चारों प्रकरणों में भी वेदान्त का मूलमंत्र एवं परमहंसों का एकमात्र आराध्य ॐ ही प्रतिपाद्य होने से आगम प्रकरण की प्रधानता है। आचार्य शंकर इसे 'आत्मतत्त्वप्रतिपत्त्युपायभूतम्' कह कर उत्तमसाधक के लिए इसे ही पर्याप्त मानते हैं। इसमें वाणी व मन से अस्पृश्य, वैयक्तिक एवं सार्वजनीन विश्व की पारमार्थिक दृष्टि से ऐक्य अवस्था का संकेत किया है। यही आत्मा या ॐ है। वेदान्त में विचार की प्रवृत्ति अन्वयव्यतिरेकात्मक है। इसे कोई दृक् दृश्य के परिप्रेक्ष में कर सकता है तो कोई सामान्य विशेष या स्थूल सूक्ष्म या व्याप्य व्यापक रूप से कर सकता है। माण्डूक्योपनिषद् में प्रधानतः अवस्थात्रय एवं उसके साक्षी रूप से यह विचार प्रवृत्त है। अवस्थात्रय के साथ ही समष्टि एवं व्यष्टि तथा जीव जगत् के कार्य-कारणभाव का भी अन्तर्गर्भित विचार है। यह संभवतः सबसे अधिक यौक्तिक होने से अन्य उपनिषदों में भी गृहीत है। पर यहाँ या छान्दोग्य व बृहदारण्यक में जैसा स्पष्ट विवेचन है, अन्यत्र नहीं। इस प्रक्रिया में लोकसिद्ध अवस्थात्रय को आधार बनाकर उसके अनुभव करने वाले के वास्तविक स्वरूप को लक्ष्य कराया गया है। तीनों अवस्थाओं वाले को ही लोग वास्तविक समझते हैं। परन्तु विचार के द्वारा यह स्वरूप बाधित होकर साक्षी स्वरूप भास जाता है। जान लेने पर तो अवस्थावालापना भी मिट जाता है। यद्यपि तूष्णीम् अवस्था, स्तब्धावस्था, नशे की अवस्था, नींद में चलने की अवस्था (somnabulism), मौढ्यावस्था (idiocy), उन्मादावस्था (insanity) परवश्यता (hypnotic spell), मूर्छावस्था, मरणावस्था या मुमूर्षा, दिवास्वप्न (day dreaming) तन्द्रा आदि भी अवस्थाएँ प्रसिद्ध हैं, पर वे कभी कभी, किसी किसी को ही होती हैं। सभी लोगों को सब समय नहीं होतीं। अत: उनकी अपेक्षा इन्हीं तीनों को लिया गया। इसी प्रकार शास्त्र में प्रसिद्ध समाधि व मुक्ति का भी

विचार नहीं किया गया। फिर भी सभी अवस्थाओं का वर्गीकरण जहाँ अनुभव होता है व जहाँ अनुभव नहीं होता है इनमें किया जा सकता है। जहाँ अनुभव होता है उसे सच्चा समझते हैं अत: वह जाग्रत् के समान हो जायगा। जहाँ अनुभव होकर उसे झूठा समझते हैं, वहाँ स्वप्न के समान व्यवस्था हो जायगी। जहाँ अनुभव नहीं होता वहाँ सुषुप्ति के अन्तर्भूत माना जा सकेगा। इस प्रकार तीन अवस्थाओं के निरूपण से सभी अवस्थाओं का विचार हो जाता है। ये तीनों जिज्ञासु के अनुभव हैं एव इनके विषय में विचार ही आत्मदर्शन के लिये पर्याप्त है अत: माण्डूक्य सपूर्ण वेदान्त का सार कहा गया है। अपने से भिन्न जो लोग मिलते हैं वे भी इन्हीं अवस्था वाले होते हैं अत: अपने अनुभव के परीक्षण से सभी का अनुभव परीक्षित हो जाता है। एवं अपने निर्विशेषज्ञान से सभी की निर्विशेषता का पता लगने से एक आत्मा भी सिद्ध हो जाता है। इससे ज्ञेय के एकदेश का विचार रूपी दोष भी प्राप्त नहीं होगा। सर्वज्ञ शंकर भगवत्पाद कारिका ४.८८ के व्याख्यान में लिखते हैं 'ज्ञेयमेतान्येव त्रीणि, एतद्व्यतिरेकेण ज्ञेयानुपपत्तेः'।

यह भी स्मर्तव्य है कि जाग्रत् आदि अवस्था प्रपंच के अन्तर्भूत न मान कर यहाँ प्रपञ्च को ही अवस्थाओं के अन्तर्भूत करके बाँटा गया है। उन उन अवस्थाओं में जो भी ज्ञेय, ज्ञान व ज्ञाता त्रिपुटी रूप से प्रपंच हैं वे उन उन अवस्थाओं के ही हैं। प्रमाता की दृष्टि से जाग्रत् प्रपंच के अन्तर्भूत अपने देह से परिच्छिन्न अपने को सभी लोग मानते हैं, परन्तु शास्त्रदृष्टि से सारे जाग्रत्प्रपंचोपाधि के साक्षी रूप से प्रतिपाद्य परमार्थ आत्मा की अपेक्षा से वह प्रमाता भी जाग्रत्प्रपंचके अन्दर अपने से अनुमेय सारे दूसरे प्रमाताओं के साथ उस प्रपंच के अन्तर्गत ही है। वह प्रपंच जाग्रत् अवस्था से व्याप्त है ही। क्योंकि जाग्रत् अवस्था को छोड़कर अन्यत्र उसका ज्ञान नहीं हो सकता। यह बात स्वप्न में स्पष्ट हो जाती है क्योंकि स्वप्न देखने वाला अपने को स्वप्नदेह में परिच्छिन्न देखता है व दूसरों को अपने से भिन्न, परन्तु जाग्रत् में आने पर पता चलता है कि सचमुच में तो सारे स्वप्न प्रपच की उपाधि का साक्षी परमार्थ आत्मा तो वही था एवं वहाँ के सभी प्रमाता स्वप्न प्रपच के अन्तर्गत ही थे। स्वप्न से भिन्न किसी अवस्था में वे नहीं मिलते अतः वे सभी स्वप्न प्रपंच के; स्वप्न अवस्था के अन्तर्भूत ही हैं। इसे स्पष्ट करने को ही श्रुति में 'सप्तांग एकोनविंशतिमुखः' आदि कहा है। किं च माण्डूक्यप्रक्रिया में अनुभव की ही प्रधानता मान्य है, प्रत्यक्षादि प्रमाणों की नहीं। अवस्था भी प्रत्यक्षादिगम्य नहीं है, एवं आत्मा तो पहले ही स्वयं सिद्ध है। अतः इन्द्रियों की या मतिप्रभव तर्क की यहाँ प्रविष्टि नहीं है। शास्त्र व गुरु का उपदेश तो अतद्व्यावृत्ति के द्वारा अनुभवसिद्ध आत्मा का ही निर्देश करते हैं अत: गौणरूप से प्रमाण कहे जावें यह बात दूसरी है। यहाँ उपपत्ति भी वेद से निर्दिष्ट अथवा उससे अविरुद्ध तर्क रूप से समझाने के लिए प्रयुक्त भी अनुभव के अधीन ही होती है, अत: उसे भी भिन्न प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है। अनुभव का तात्पर्य भी स्वाभाविक रूप से सभी का अनुभव है। केवल कुछ लोगों का साधना-विशेष के बल से प्राप्त योगज समाधि या तप, मंत्र, ध्यान आदि से हुआ अनुभव नहीं, न प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से हुआ व्यक्तिविशेष

का अनुभव, व न व्यक्तिविशेष का सुखादिवेदनारूप अनुभव। स्वभाव से होने वाला जाग्रदादि सारी अवस्थाओं का साक्षात् विज्ञापक अनुभव ही दार्शनिक दृष्टि से विचार का विषय बनाया जा सकता है जिसे कोई भी वादी निराकृत नहीं कर सकता। इन तीन अवस्थाओं के पौनःपुन्येन अनुसंधान से संस्कृत अन्तःकरण शिव ही परमार्थ है इस निश्चय को प्राप्त करता है। परन्तु जाग्रत् अवस्था में वस्तुओं का कार्य-कारण-भाव निर्बाध मिलता है, अतः इस कार्य-कारणता से भावित जो अन्तःकरण वह इस सारे जगत् का तथा स्वयं अनुभव करने वाले अपने आपका भी कारण जानना चाहता है। प्रधान, परमाणु, कर्म आदि को वास्तविक कारण मानने वाले वादियों से बचाने के लिए परमार्थ ज्ञान के उपाय रूप से संसार का ब्रह्म से उत्पन्न होना तथा जीव का उपाधिभाव से प्रतीत होना 'एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञः. . . . . योनिः सर्वस्य' (माण्डू. ६) के द्वारा बताकर मन्दमतियों को सन्मार्ग से भ्रष्ट होने से बचाया गया है। 'देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा' (१.९) 'उपासनोपदिष्टेयन्तदर्थमनुकम्पया' (३.१६) आदि से कारिकाकार ने यह स्पष्ट किया है। वेदान्त पहले ब्रह्म का परिणाम कहकर, फिर उसकी असंगति से ब्रह्म का विवर्त बताकर अन्त में अजाति का ख्यापन करते हैं "जातिस्तु देशिता बुद्धैः अजातेः त्रसतां सदा" (४.४२)। माया द्वारा उत्पत्ति बताने में यही तात्पर्य है। माया ब्रह्म की शक्ति है। शक्ति न ब्रह्मरूप है न उससे भिन्न अतः 'भिन्नाप्यभिन्ना उभयात्मिका नो', मिथ्या है। मिथ्या कारण कारण नहीं होता। यह शैली है।

वेदान्त के सभी आचार्य श्रुति से सिद्ध ज्ञान को ही यथार्थ स्वीकारते हैं, परन्तु जाग्रत्प्रधानबुद्धि वाले मन्दप्रज्ञों को यह स्वतः सिद्ध तत्त्व निश्चय रूप से अवतरित नहीं होता। अतः करुणामूर्त्ति गौडपाद उपपत्तिप्रधान वैतथ्य तथा अद्वैत प्रकरणों में आगम प्रकरण को ही स्पष्ट करते हैं। श्रद्धाधनियों के लिए तो आगम प्रकरण से ही सिद्धि प्राप्त होना अनुभवसिद्ध है। "वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्" (ब्र. सू. २.२.२९) में भगवान् शंकराचार्य ने "नैवं जागरितोपलब्धं वस्तु स्तम्भादिकं कस्यांचिदपि अवस्थायां बाध्यते" कहकर जाग्रत् अवस्था का कभी बाध न होना कहा है। अतः अनेक लोगों को भ्रम हो जाता है कि भाष्य-मत में बाह्यजगत् परमार्थ है। पर वहीं अगले सूत्रों में "प्राक्तु ब्रह्मात्मत्वदर्शनाद् वियदादिप्रपंचो व्यवस्थितरूपो भवति। संध्याश्रयस्तु प्रपंचः प्रतिदिनं बाध्यत इति" (ब्र. सू. ३.२.४) कहकर ज्ञानोत्तर बाध को भी कहा है। 'यावद्धि न सत्यात्मैकत्वप्रतिपत्तिः तावत् प्रमाणप्रमेयफललक्षणेषु विकारेषु अनृतत्वबुद्धिर्न कस्यचिदुत्पद्यते' (ब्र. सू. २. १.१४) कहकर स्पष्ट कर दिया है कि ज्ञान के पूर्व जाग्रत् अवस्था व स्वप्न में भेद रहता है, बाद में नहीं। "वैधर्म्यात्" सूत्र में सर्वज्ञ शंकर शून्यवादी को स्वप्नमायादि प्रतीतियों की तरह जाग्रत्प्रत्ययों को भी बाह्यार्थशून्य का अनुमान से साधन करने का प्रत्युत्तर दे रहे हैं। अतः अधिष्ठानज्ञान के बिना केवल अनुमान से सिद्धि का निराकरण करने में वैसे ही तात्पर्य है जैसे अनुमानसिद्ध ईश्वर का निराकरण श्रुतिसिद्ध ईश्वर को ही प्रामाणिक बताने के लिए है। जाग्रत् की सत्यता का अनुवाद है, उसमें तात्पर्य नहीं है। अतः कुछ

आधुनिकों का इससे सूत्रभाष्य व कारिका के सिद्धान्त में विरोध दिखाकर भेद प्रतिपादन करना सूत्रभाष्य के आलोडन के अभाव को ही बताता है।

यद्यपि कारिका माण्डूक्योपनिषद् पर है तथापि आचार्य गौडपाद का प्रधान उपजीव्य बृहदारण्यकोपनिषद् ही है। श्री सर्वज्ञ शंकर ने भी अपना प्रधान भाष्य उपनिषदों की शृंखला में बृहदारण्यक पर ही निर्माण किया है तथा सुरेश्वर का तो प्रधान ग्रन्थ ही बृहदारण्यकवार्तिक है। इसी वार्तिक को लेकर संन्यास सम्प्रदाय की मान्यता है "वार्त्तिकान्ता ब्रह्मविद्या"। इस उपनिषद् के प्रधान याज्ञवल्क्य ही हैं व संभवतः ज्ञात अद्वैतियों में ये ही मुख्य रूप से प्रथम हैं। इनकी विद्वत्ता, वादयोग्यता, वाग्मिता सभी अप्रतिम हैं। इनकी पत्नी मैत्रेयी भी योग्यता से पूर्ण थी व इन्हीं को निमित्त बनाकर याज्ञवल्क्य ने अनेक रहस्यों का उद्घाटन किया है। कर्म से सर्वथा असम्बद्ध ज्ञान का प्रतिपादन करने के लिए कर्मानधिकारी स्त्री को ही श्रुति ने चुना है। आत्मा विज्ञान, आनन्द तथा अद्वितीय है। द्वैत में ही एक दूसरे को जानना संभव है। विज्ञाता को कैसे जाना जाय, आदि चरम सत्य इसी संवाद में प्रकट है। इन सभी विचारों को गौडपाद ने कारिका में प्रकट किया है। बृहदारण्यक के चतुर्थ अध्याय में इन्ध व इन्द्र का वर्णन किया गया है। आचार्य शंकर इसमें आत्मा के चारों पादों का वर्णन स्वीकारते हैं। इन्ध ही शारीर आत्मा है जिसे गौडपाद विश्व एवं माण्डूक्योपनिषद् वैश्वानर कहती है। प्रविविक्त आहार करने वाला ही माण्डूक्य का तैजस है। प्राणमात्र में रहने वाला प्राज्ञ है। तुरीय को ही बृहदारण्यक उपनिषद् में 'नेति नेति' कहा है। आचार्य शंकर कहते हैं 'अत्र च जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ततुरीयानि उपन्यस्तानि अन्यप्रसंगेन इन्धः प्रविविक्ताहारतरः सर्वे प्राणाः स एष नेतिनेतीति'। अवस्था का विश्लेषण याज्ञवल्क्य ने आत्मयाथार्थ्य-प्रतिपादनार्थ ही किया है। आत्मा को शरीर इन्द्रिय से भिन्न मानना पड़ता है क्योंकि ये स्वप्न में नहीं हैं। आत्मा को मन से भी भिन्न मानना पड़ता है क्योंकि वह सुषुप्ति में नहीं है। कारिका में इसी विचार-सरणि को अपनाकर आत्मा की वास्तविकता तुरीय को माना है। प्रथम प्रकरण में इसी का विस्तार है। इसी प्रकार छान्दोग्य की प्रजापतिविद्या भी प्रधानतः तीन अवस्थाओं का ही विचार है। छान्दोग्य में विश्व को अक्षिपुरुष, तैजस को स्वप्नात्मा एवं प्राज्ञ को सुषुप्तस्थ कहा है। तुरीय को उत्तमपुरुष कहा है। छान्दोग्य तथा माण्डूक्य दोनों ही 'ओमित्येतदक्षरम्' से प्रारंभ होती हैं व दोनों में ही प्रणव के विचार व ध्यान पर बल दिया है। गौडपाद भी 'प्रणव हीश्वरं विद्यात्सर्वस्य हृदि संस्थितम्' (कारिका १.२८) कह कर इसे ही कह रहे हैं।

कारिका प्रथम प्राप्त ग्रंथ है जिसमें उपनिषद् के पट (canvas) पर वेदान्त युक्ति के द्वारा चित्रित किया गया है। अन्तिम निश्चय कराने वाली तो श्रुति ही है पर श्रुत्यर्थ युक्ति से भी सिद्ध हो सकता है। यह बात दूसरी है कि तर्क दुधारी होने से श्रुतिविरुद्ध अर्थ को भी काफी अनुगृहीत कर सकता है, अतः तर्क कभी निश्चय नहीं करा पाता। परन्तु श्रुत्यर्थ को समझने में युक्ति की सहायता को नकारा भी नहीं जा सकता। गौडपाद

के बाद मण्डनमिश्र ने ब्रह्मसिद्धि में इसका अवलम्बन किया। आचार्य शंकर व उनकी सम्प्रदाय परम्परा ने तो इस प्रकार के विचारप्रधान ग्रंथों का इतना विस्तार कर दिया है कि संभवतः अद्वैत के ग्रंथ विश्व में किसी भी दर्शन सम्प्रदाय के ग्रंथों से कई गुना अधिक हैं। गौडपाद उपनिषद् में से भी वे ही स्थल प्रायः उद्धृत करते हैं जहाँ स्वयं श्रुति भी हेतु दृष्टान्त इत्यादि के द्वारा तत्त्वप्रतिपादन करती है। आचार्य शंकर अपने माण्डूक्यकारिका भाष्य में स्पष्ट करते हैं कि हेतुओं से द्वितीय प्रकरण में द्वैत को आविद्यक सिद्ध करके, तृतीय प्रकरण में अद्वैत को आविद्यक नहीं सिद्ध होने वाला युक्तियों से प्रतिपादित किया है। शून्यवादी नागार्जुन माध्यमिककारिका या उसकी वृत्ति में कहीं भी शून्य का इस प्रकार प्रतिपादन नहीं करके स्पष्ट करते हैं कि वे वैतण्डिक अधिक हैं, दार्शनिक भित्ति के संस्थापक नहीं। चतुर्थ प्रकरण में उपपत्तियों से अद्वैतभिन्न मतों का परस्पर व्याघात बताकर अश्रौत मतों का किसी एक निर्णय पर नहीं पहुँचना ही इन्हें सन्दिग्ध बना देता है—इसे सिद्ध किया है। इस प्रकार गौडपाद जैसे ब्रह्मवेत्ताओं के रहते भारतीय दर्शन को अन्धश्रद्धा व समालोचनाहीन कहना कितना हास्यास्पद है यह कहने की आवश्यकता नहीं। दर्शन में इससे अधिक युक्ति, हेतु, उपपत्ति, दृष्टान्त, अनुभवानुकूलता कहाँ मिल सकती है।

जैसे किसी भी दर्शन को अपने विचारों के आधार के लिए ऐन्द्रिय ज्ञान को स्वीकार करना पड़ता है वैसे ही अनिन्द्रियज्ञान के लिए श्रुति को तो स्वीकारना ही पड़ेगा। परन्तु श्रुति के समन्वय व अर्थ के लिए अद्वैत सम्प्रदायविद् हमें युक्ति की प्रधानता बताते ही हैं। प्रसिद्ध दार्शनिक बोसांके कहता है कि मन इन्द्रियों के छिद्र से तत्त्व का दर्शन करके ही विचार में प्रवृत्त होता है। (Morphology of knowledge पृ. ७२)। वस्तुतस्तु सर्वथा अबाध्य असन्दिग्ध अपरोक्ष तो आत्मा ही है। इसी को आत्मसाक्षात्कार या आत्मानुभूति कहा जाता है। इसमें प्रमाता, प्रमेय व प्रमाण तथा प्रमिति का भेद नहीं रहता। यही चैतन्य एकमात्र सत्य है। कभी कभी विचार के गंभीर क्षणों में या सौन्दर्य के द्वारा अभिभूत क्षणों में इसकी झलक तो मिलती है पर इसी में निष्ठा को प्राप्त कराना वेदान्त का उद्देश्य है। इसी को प्राप्त करने का उपाय इसको समझना है एवं उपनिषद् प्रधान रूप से तथा सारा ही वेद गौण रूप से इसी के प्रतिपादन में गतार्थ है। सभी ऋषि व मुनि इसी रहस्य का साक्षात्कार करके भिन्न भिन्न प्रकार से मंत्रों में तथा ब्राह्मणों में इसका वर्णन करते हैं एवं जिन जिन साधनाओं से वे वहाँ पहुँचे हैं उसका निर्देश करते हैं। यह बात दूसरी है कि ब्रह्म भी नित्य है व ब्रह्म का मार्ग भी नित्य है। अत: यह मार्ग हर सृष्टि के प्रारंभ में इसी प्रकार वर्णित होने से नित्य ही मंत्र व ब्राह्मण स्वीकृत है। जैसे विज्ञान का विद्यार्थी पूर्व प्रयुक्त नतीजों को समझकर पुन: प्रयोगशाला में देखकर उनका सत्यापन करके निश्चय करता है वैसे ही यहाँ भी वेद एवं ऋषियों की अनुभूति को समझकर अपनी बुद्धि-प्रयोगशाला में उनका सत्यापन तथा निश्चय किया जाता है। जितना विश्वास वैज्ञानिक प्रयोक्ता को करना आवश्यक होता है उतना ही यहाँ भी आवश्यक होता है। जो सत्य

के प्रति पूर्वाग्रह से प्रतिबद्ध हैं वे ही शास्त्रश्रद्धा को अन्ध (dogmatic) मानते हैं। वस्तुतः उपनिषद् तो उन सम्पूर्ण सत्यानुभूतियों का संग्रह है जो दिक्कालानवच्छिन्न है। ब्रह्मजिज्ञासा का पर्यवसान केवल बौद्धिक नहीं वरन् उस अनुभूति में है जो हमें सभी शोकों से पार कर देती है—'अनिंगनमनाभासं निष्पन्नं ब्रह्म तत्तदा' (३.४६)। अपरोक्षानुभवी को वेद का प्रामाण्य स्मारक-मात्र रह जाता है। अतः छान्दोग्य उपनिषद् भी "सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः" (७.२६) कहकर उस अवस्था को कहती है। भगवान् भाष्यकार श्री सर्वज्ञ शंकर इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं 'सत्त्वशुद्धौ च सत्यां यथावगते भूमात्मनि ध्रुवाऽविच्छिन्ना स्मृतिः अविस्मरणं भवति', अन्तःकरण राग-द्वेष-शून्य होने पर ब्रह्मात्मा की एकता का यथार्थानुभव होने पर नित्य स्मृति होती है। तात्पर्य है कि अपरोक्षानुभव में यह ज्ञान नित्य लगता है, 'अभी हुआ' ऐसा नहीं लगता। नित्य या पूर्व ज्ञान मानो प्रकट हो गया। गीताभाष्यटीका में स्वामी आनन्द गिरि लिखते हैं 'स्वयं ज्योतिषि प्रतीचि ब्रह्मणि अविद्याभ्रमं विद्या अपनयति, न अविदितं प्रकाशयति' ब्रह्मज्ञान प्रत्यक्स्वरूप ब्रह्म के अविद्या से प्रतीत भ्रम को हटाता है, सर्वथा अज्ञात का प्रकाश नहीं करता। भगवान् वार्तिककार कहते हैं "दग्धाखिलाधिकारश्चेद् ब्रह्मज्ञानाग्निना मुनिः वर्तमानश्श्रुतेर्मूर्ध्नि नैव स्याद्वेदकिङ्करः" ब्रह्मज्ञानाग्नि से दग्धाविद्य को वेद का आज्ञाकारी नहीं रहना पड़ता।

श्रुति को प्रमाण मानने वाले पूर्वोत्तर मीमांसक श्रुतितात्पर्य-निर्णय में उपपत्ति को भी हेतु मानते हैं। श्रुति यद्यपि जिन बातों को बताती है वे प्रत्यक्षादिप्रमाणों से अवगत नहीं हो सकती हैं, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वे जिन्हें बतावें वे अयौक्तिक हों। अतः सर्वज्ञ शंकरभगवत्पाद का उद्घोष है 'न हि श्रुतिशतमपि शीतोग्निरप्रकाशो वा इति ब्रुवत् प्रामाण्यम् उपैति' सैकड़ों श्रुतियाँ भी अग्नि को ठण्डा या अन्धकाररूप कहकर प्रमाण नहीं हो सकतीं। अतः श्रवण में भी युक्ति का योग है। लक्षणा भी युक्ति से ही प्रारंभ है। श्री गौडपादाचार्य भी कहते हैं 'निश्चितं युक्तियुक्तं च यत्, तद्भवति नेतरत्' (३.२३) जो श्रुति से मीमांसा द्वारा निर्णीत हो एव जिसम युक्ति-संगतता भी हो वही सत्य होता है। वे ही यह भी कहते हैं कि 'एवं यो वेद तत्त्वेन कल्पयेत् सोऽविशंकितः' (२.३०) वेदार्थ में निःशङ्क तो ब्रह्मविद्वरिष्ठ ही होता है। वेदान्तदुर्ग में प्रवेश करने के लिए विचारप्रधान बुद्धि आवश्यक है। आपात प्रतीतिमात्र से सन्तुष्ट होने वाला बौद्धिक प्रमादी यहाँ प्रविष्ट नहीं हो सकता। जो सोचना नहीं चाहते या सोच नहीं सकते वे उपनिषदों का तात्पर्य निर्णय करने में सदा असमर्थ रहेंगे। अन्वय व्यतिरेक ही वेदान्त का तप है। नित्य वस्तु व अनित्य वस्तु का विवेक ही प्रारंभ है। अतः जो जिज्ञासा अर्थात् पूज्या विचारणा में असमर्थ है उसका जब यहाँ प्रवेश ही नहीं तो युक्ति का भरपूर उपयोग यहाँ होगा ही। इस पर भी जो इसे अन्धविश्वास आदि मानें उनकी बुद्धि पर तरस ही आ सकती है। श्रुति ने भी 'मंतव्यः' का विधान किया है। आचार्य शंकर भी 'श्रुत्यैव सहायत्वेन

तर्कस्य अभ्युपेयत्वात्' (ब्र. सू. भा. १.१.२) श्रुति के द्वारा ही तर्क की सहायता लेने को कहा गया है, कहकर इसे स्पष्ट करते हैं। यह बात दूसरी है कि जैसा चार्ल्स ए. बैनेट कहते हैं— "Reason may establish our certainties, it does not initiate them" (A Philosophical study of mysticism p. 110) तर्क हमारे निश्चय को दृढ कर सकेगा, पर निश्चय को उत्पन्न नहीं कर सकेगा। श्री एल्टन ट्र्यूब्लड कहते हैं कि युक्ति शोधन या परिष्कार कर सकती है, पर नवीन दृष्टि का उन्मेष नहीं। 'The task of reason is to refine, not prospect' (The trustworthiness of religious experience)। अतः वेदान्तसाधना में जो श्रवण से तात्पर्य निश्चित होता है उस पर अनेक दृष्टिकोणों से गंभीर विचार करके जो भी शंकाएँ आवें उन्हें निर्मूल करके ज्ञान को दृढ किया जाता है। केवल मानने से काम नहीं चलता। सद्गुरु शिष्य को अपनी बात को आँख मींच कर मानने को नहीं कहता वरन् उस मार्ग का निर्देश करता है जिस पर चल कर शिष्य स्वयं साक्षात्कार करता है। आदर्श शिष्य भी जब तक श्रुत सत्य को आत्मसात् करके उसके विषय में निःसन्दिग्ध नहीं हो जाता तब तक विश्राम नहीं लेता है। तेज़ बुद्धि से उसका साक्षात्कार संभव है 'दृश्यते तु अग्र्यया बुद्ध्या (कठ. ३.१२)। इस प्रकार प्रमाण तो उपनिषद् ही हैं पर तर्क उसका अनुग्राहक है। जैसे रोशनी के अनुग्रह से ही आँख देखती है, पर प्रमाण आँख ही है, वैसे ही युक्ति के अनुग्रह से ही श्रुति से दर्शन होता है। 'श्रुत्यनुगृहीत एव ह्यत्र तर्कोऽनुभवांगत्वेन आश्रीयते' (ब्र. सू. भा. २.१.६)। गौडपादाचार्य वेदान्तविदों को बताते समय ऐसे शब्दों का प्रयोग करते हैं जो इस बात को स्पष्ट करते हैं कि वे पूर्वाचार्य अन्धविश्वासी बनकर किसी बात को मानने वाले नहीं थे वरन् विचार-पूर्वक वेद का अर्थ बताने वाले थे। वे उन्हें कहीं मनन करने वाले मुनि नाम से संबोधित करते हैं; अन्यत्र उन्हें मनीषी अर्थात् प्रमाणकुशल कहते हैं; कहीं विचक्षण अर्थात् निपुणतर वस्तुदर्शी, तो कहीं महाधी अर्थात् तीव्र बुद्धि वाले कहते हैं। कारिका का पाठक लेखक के पारदर्शी विचारक तथा वादकुशल होने का अनुभव बार बार करता है। बौद्ध न्याय का प्रयोग उन्हीं के खण्डन में प्रयुक्त करना उनकी कुशलता को चार चाँद लगा देता है। चतुष्कोटि न्याय का प्रयोग सिद्धान्त-सिद्धि में करना उन जैसे विद्वान् के लिए ही संभव था। आनन्द गिरि ने उनके सभी अनुमानों को पंचावयवी रूप से उपस्थापित किया है। २.४ की व्याख्या में भगवत्पाद शंकर ने भी अनुमानशरीर को स्पष्ट किया है। हेतु, जो तर्कशास्त्र की आत्मा है, के बल पर ही वे विवाद का निर्णय करते हैं। २.१७, १८, ३.३१ आदि में अन्वय-व्यतिरेकी न्याय का स्पष्ट प्रयोग है। अनवस्था, अप्रसिद्ध हेतु, अशक्ति, अपरिज्ञान, क्रमकोप, साध्यसम, लक्षणशून्य आदि का प्रयोग भी मिलता है। अतः वैतथ्य प्रकरण में तर्कमात्र से भी द्वैत सत्यत्व का निराकरण संभव सर्वज्ञ शंकर मानते हैं। इसी प्रकार अद्वैत प्रकरण में भी 'शक्यते तर्केणापि ज्ञातुम्'— अद्वैत तर्क से भी जाना जा सकता है— कहा गया है। इसी नींव पर दार्शनिक चूडामणि भाष्यकार शंकर ने अपना अद्वैत का अभेद्य दुर्ग स्थापित किया है।

माण्डूक्योपनिषद् की प्रतिज्ञा है 'सर्वं ह्येतद् ब्रह्म' इसी पर कारिका का दारोमदार है। जगत् अपनी विचित्रताओं के सहित एवं उनमें होने वाले जीवों के सहित वस्तुतः ब्रह्म ही है। इस वाक्य से सांख्यवादियों ने प्रकृतिपरिणामवाद को सिद्ध किया है तो वैष्णव आचार्यों ने ब्रह्मपरिणामवाद को स्वीकार किया है। पर शिव को श्रुति प्रपंचोपशम कहकर स्पष्ट करती है कि ब्रह्मपरिणामवाद भी उसे स्वीकृत नहीं है। अतः ब्रह्म किसी भी प्रकार से विकृत हुए बिना ही प्रपंचरूप से प्रतीत होता है। इसी को दार्शनिक भाषा में विवर्त्तवाद कहते हैं। यह वस्तुतः समझाने की प्रक्रियावस्था में अजातवाद का ही स्वरूप है। सत् ही होना है एवं सत्य है। यद्यपि आंग्ल भाषा में reality तथा existence दो शब्द आपस में असम्बद्ध प्रतीत होते हैं तथापि संस्कृत में सत् व सत्य सर्वथा अभिन्न हैं। वस्तुतः जो सदा 'है' वही सत्य है। अतः सत्य सभी परिवर्त्तनों में अपरिवर्त्तित ही रह सकता है। अतः परिणामी सत्य का अर्थ परिणामी प्रतीत होने पर भी अपरिणामी ही करना पड़ता है। अन्यथा सत्य बच ही नहीं सकता। यदि प्रपंचात्मक विश्व सत्य होगा तो निष्प्रपंच ब्रह्म सत्य नहीं हो सकता। ज्ञान से प्रपंच निवृत्त होता तो शुक आदि के मुक्त होते ही निवृत्त हो जाता। पर मायिक होने से उसे निवृत्त होना नहीं है— "प्रपंचो यदि विद्येत निवर्त्तेत न संशयः। मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतम्परमार्थतः।" (कारिका १.१७)।

आचार्य शंकर कहते हैं 'प्रपंचः द्वैतभेदविस्तारः। तस्योपशमः अभावः यस्मिन् स आत्मा प्रपंचोपशमः' प्रपंच अर्थात् द्वैतभेद का फैलाव; वह जिस में नहीं है वह आत्मा ही स्वरूपतः प्रपंचोपशम है। अतः प्रपंच की निवृत्ति वस्तुतः सदा ही है। अविद्या से ही भेददर्शन है व अविद्यानिवृत्ति से ही भेददर्शन नहीं है। कल्पित साँप प्रतीति काल में भी रज्जु में नहीं है, न वह सचमुच रज्जु ज्ञान से हटता ही है। माया, वैतथ्य, मिथ्या, कल्पित, आभास, विपर्यय, संवृति आदि शब्दों से आचार्यश्रेष्ठ गौडपाद महाराज विश्व प्रतीति को स्पष्ट करते हैं। माया किस प्रकार जगत्प्रपंच का कारण ब्रह्म को बताती है इसे गौडपादाचार्यों ने तीन प्रकार से कहा है। 'कल्पयति आत्मना आत्मानम्' (२.१२) के अनुसार आत्मा ही अपने को अनेक रूपों से कल्पित करता है और यह उस परमार्थ देव का स्वभाव होने से चोद्य नहीं है— 'देवस्यैष स्वभावः' (१.९)। स्वप्रकाश चिन्मात्र आत्मा ही सारे भेदों का कल्पक है। सृष्टि के आरंभ में इसी को "सदेव" कहा है। निर्विकार होने से आत्मा की कल्पकता नहीं बनती अतः माया के द्वारा वह कल्पक बनता है। गीता में श्री कृष्ण भी "संभवामि आत्ममायया" कहकर इसी सत्य का प्रतिपादन करते हैं। मायावी माया के द्वारा अनेक विभक्त वस्तुएँ दिखाते हुए भी सचमुच में नहीं बनता, अतः निर्विकार ही रहता है। "सतो हि मायया जन्म युज्यते न तु तत्त्वतः" (३.२७) में इसे स्पष्ट किया है। गौडपादाचार्य इससे श्रेष्ठ दृष्टि माया की कारणता के विषय में बताते है 'उपलम्भात्समाचारान्मायाहस्ती यथोच्यते' (४.४४) मायाबद्धचक्षु वालों को हाथी दिखता है व उस पर चढ़ना भी हो जाता है ऐसे ही अविद्या से ज्ञान प्रतिबद्ध होकर जगत्प्रतीति

होती है। "स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा। तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः" (२.३१)। इससे भी श्रेष्ठ दृष्टि गौडपादाचार्य के अनुसार "चित्तस्पन्दितमेवेदम्" गौडपादाचार्य कभी कभी चित्त शब्द को आत्मा के लिए प्रयुक्त करते हैं। 'चित्तं निर्विषयं नित्यमसङ्गम्' (४.७२) में यही कहा है। अलात की तरह इसके स्पन्दित होने पर प्रपंचप्रतीति है। "ऋजुवक्रादिकाभासमलातस्पन्दितं यथा" (४.४७) चित् का स्पन्दन ही चित्त है अर्थात् यह स्पन्द ही अविद्या-रूप है। यही जीव की उपाधि है। भगवान् पद्मपादाचार्य ने अहङ्कार टीका में इसे स्पष्ट किया है। अविद्या-उपाधिवाला ही जीव है पर अविद्या के अहंकाररूप में ही जीवभाव प्रकट होता है। अतः घूमते हुए अलात को देखते हुए यदि दृष्टि को अलात पर स्थिर कर दिया जाय तो लपट के सिवाय कुछ नजर नहीं आयगा उसी प्रकार यदि चित् पर दृष्टि हो तो चित्त के वास्तविक रूप के अनुभव के कारण स्पन्द से प्रतीत होने वाले प्रपंच का त्रैकालिक अत्यन्ताभाव स्फुट हो जायगा। अजात की यही साधना है। 'जीवं कल्पयते पूर्वं ततो भावान्पृथग्विधान्' (२.१६) कहकर आचार्य स्पष्ट करते हैं कि चित्त-स्पन्द की निवृत्ति से सारे बाह्य प्रपंच की निवृत्ति भी सहज है। जीव ही पहले कल्पित है अतः इसकी निवृत्ति से स्वतः अन्यनिवृत्ति है। श्रुति भी (छा. ६.३) 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' से इसी का प्रतिपादन करती है।

गौडपाद ब्रह्मज्ञानप्राप्ति का साधन बताने को प्रवृत्त हुए हैं, केवल ख्याली पुलाव पकाने नहीं। अतः कारिका उपदेशशास्त्र है। परम पुरुषार्थ को प्राप्त करके जन्म-मरण प्रवाह की निवृत्ति ही उद्देश्य है। यह संघात में ही संभव है क्योंकि शुद्ध में तो न बन्ध है न जन्म-मरण प्रवाह। वह तो माया से भ्रान्त है। "मायैषा तस्य देवस्य यया संमोहितः स्वयम्" (२.१९)। परमानन्द रूप आत्मा आवृत है तथा वितथ दुःखरूप संसार फैला हुआ है। 'सुखमाव्रियते नित्यं दुःखं विव्रियते सदा' (४.८२)। इस दुःख का मूल परमाचार्य गौडपाद के मत में कार्य-कारण-भाव का आग्रह है। 'यावद्धेतुफलावेशः संसारस्तावदायतः। क्षीणे हेतुफलावेशे संसारं न प्रपद्यते' (४.५६) कार्य-कारण-भाव मायिक है, वास्तविक नहीं। जर्मन दार्शनिक कैण्ट ने दिक्, काल तथा कार्य-कारण-भाव को चित्त का आधार बताया था। इनमें से भी गौडपादाचार्य ने अन्तिम को ही प्रधानता दी है। सभी चीज़ों व प्रतीतियों का एकमात्र कारण अविद्या है और अविद्या कारण है का अर्थ है कार्य असत्य होने से कार्य कारण दोनों ही नहीं हैं अतः, अज ही वास्तविक बच जाता है। अनात्मा में आसक्ति से ही चित्त का स्पन्दन होता है। अनात्मा की असत्यता का निश्चय चित्त स्पन्दन को रुद्ध कर देता है। स्पन्द का निःस्पन्द होना ही परम पुरुषार्थ है। इस अवस्था की प्राप्ति के लिए प्रथम प्रकरण में प्रणवोपासना का वर्णन है। मात्रा सम्प्रतिपत्ति प्रथम सोपान है। ओङ्कार का ओङ्कार रूप में ध्यान करते हुए ही उसमें अकार, उकार, मकार की दृष्टि के द्वारा आत्मा को शुद्ध रूप में स्थित रहते हुए ही उसमें जाग्रत्,

स्वप्न व सुषुप्ति की दृष्टि ही यह सम्प्रतिपत्ति है। (१.१९-२१) "नामात्रे विद्यते गतिः" अर्थात् निरुपाधिक अमात्र ओङ्काररूप ही है अतः वहाँ अभिधान अभिधेय या प्रतिपत्ति प्रतिपत्तव्य विभाग नहीं है। वह ओंकार तो आत्मा ही है। प्रणव को सगुण व निर्गुण दोनों बताया है। प्रणव ही सभी के हृदय में स्थित ईश्वर है। इस प्रकार प्रथम प्रकरण के अन्त में साधना का निर्देश है।

इसी प्रकार द्वितीय प्रकरण के अन्त में वैतथ्यानुभूति के लिए राग, भय, क्रोध आदि विकारों से रहित एवं वेदज्ञ होना कहा है। बृहदारण्यक में इसे ही 'श्रोत्रियः अकामहतः' से कहा है। निरन्तर अद्वैत में वृत्ति स्थिर करना एवं उसके लिए अपने सभी धार्मिक व लौकिक आग्रहों को छोड़कर परमहंस संन्यास के द्वारा जड की तरह जीवन निर्वाह करे। परमहंस के लिए अपने ज्ञान, अध्ययन, धार्मिकता आदि के प्रख्यापन का निषेध है एवं आश्रम के लिंग को भी धारण करने का निषेध है। "अलिंगः" आदि श्रुतियाँ इसे स्पष्ट करती हैं।

तृतीय प्रकरण के अन्त में पुनः अद्वैतभाव की दृढ अनुभूति के लिए मन को अमन बनाने का विधान किया है। "मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते" (३.३१) यहीं आचार्य ने अपना प्रसिद्ध अस्पर्शयोग भी बताया है एवं उसे योगियों के लिए दुर्गम भी बताया है (३.३९)। योगी मन के निरोध के अधीन ही मुक्ति मानते हैं।

चतुर्थ प्रकरण में कार्यकारणभाव की निवृत्ति से शान्ति की साधना है। यद्यपि सामान्य साधनाओं का संग्रह कर लौकिक, शुद्धलौकिक, लोकोत्तर, हेय, ज्ञेय, आप्य आदि से मन्द मध्यम का भी निर्देश शास्त्रसमाप्ति के कारण कर दिया गया है तथापि मुख्यतः तो अन्त में 'प्रकृत्याकाशवज्ज्ञेयाः सर्वे धर्मा अनादयः' कहकर सभी को सदा ही कार्यकारणभाव से रहित स्वभाव से ही अज समझने की साधना विहित है। जो किंचित् भी भेद देखते हैं उन्हें 'कृपणाः स्मृताः' (४.९४) कहा है। सम अज तत्त्व में निश्चित भाव से स्थित रहने वाले को द्वैतवासना वाले कभी नहीं समझ सकते (४.९५)। सभी जीव सदा स्वभाव से ही मुक्त हैं 'अलब्धावरणाः सर्वे धर्माः प्रकृतिनिर्मलाः'। जैसे पर्वत खड़े हैं तथा घोड़े खड़े हैं में खड़े का अर्थ एकत्र रुकना है अन्यत्र स्वरूप से होना है उसी प्रकार योगिमत में मुक्ति प्राप्त होती है, वेदान्तनय में स्वरूप से नित्य है। मोक्ष के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए उसे दुःखक्षय व उत्तमसुख कहा है। अभय, अकार्पण्य, वीतशोक, अकाम, निश्चल, अनानात्व, साम्य, वैशारद्य, सर्वज्ञता, प्रबोध, अक्षयशान्ति आदि शब्दों से कह कर इसे ही स्पष्ट किया है। निषेधमुख से कहे शब्द दुःखक्षय एवं विधिमुख से कहे सुख के अन्तर्गत हैं। बृहदारण्यक की तरह आचार्य गौडपाद भी इसी को ब्राह्मण्य की प्राप्ति कहते हैं। महामनीषी स्वामी आनन्द गिरि कहते हैं 'स विद्वान् अपरोक्षीकृतो ब्रह्मसतत्त्वः सन् फलावस्थो मुख्यो ब्राह्मणो भवति' (कारिका टीका ४.८५) अपरोक्ष साक्षात्कार करके ब्रह्मभाव को प्राप्त हुआ ही मुख्य ब्राह्मण है। कारिका का स्पष्ट

उद्घोष है "अजे साम्ये तु ये केचिद्भविष्यन्ति सुनिश्चिताः। ते हि लोके महाज्ञानास्तच्च लोको न गाहते।।" (४.९५)। भाष्य में स्पष्ट करते हैं "ये केचित् स्त्र्यादयोपि" जो कोई स्त्री आदि भी परमार्थतत्त्व की अजरूपता के निश्चय वाले हो जाते हैं वे ही तत्त्वज्ञानी हैं व उनकी गहराई कोई नहीं जान सकते। यद्यपि गौडपादाचार्य ने जीवन्मुक्त या तद्बोधक शब्द का प्रयोग नहीं किया है पर "सर्वज्ञता हि सर्वत्र भवतीह महाधियः" (४.८९) में यहाँ अर्थात् इस लोक में सर्वज्ञता-प्राप्ति बताकर उसका प्रतिपादन कर दिया है।

कई लोग प्राचीन काल से ही गौडपाद व अद्वैतदर्शन को बौद्धों का रूपान्तर मानने का रुख अपनाये हुए हैं। परन्तु संक्षेप में उनका भेद माध्यमिक वृत्ति के एक उद्धरण से गौडपाद कारिका की तुलना से स्पष्ट किया जा सकता है। बौद्ध उक्ति है 'शून्यमाध्यात्मिकं पश्य, पश्य शून्यं बहिर्गतम्। न विद्यते सोऽपि कश्चिद्यो भावयति शून्यताम्।।' अर्थात् भीतर भी शून्य को देखो, बाहर भी शून्य को देखो, शून्य की भावना करने वाला भी नहीं है। अद्वैत उक्ति है 'तत्त्वम् आध्यात्मिकं दृष्ट्वा तत्त्वं दृष्ट्वा तु बाह्यतः। तत्त्वीभूतस्तदारामस्तत्त्वादप्रच्युतो भवेत्।।' भीतर तत्त्व को देखकर बाहर भी इसी को देखकर तत्त्वभाव को प्राप्त कर उसी में परमानन्द को स्थित करके कभी उससे न हटे। इस प्रकार बौद्ध मत में अनात्मवाद का आधार स्पष्ट है अतः वस्तुतः मोक्ष में कोई भी नहीं है, न मोक्ष का कोई वास्तविक रूप है। वेदान्त सिद्धान्त में तत्त्व ही सत्य है। वही आत्मा है। श्रीहर्ष खण्डन में इसे स्पष्ट करते हैं "सुगतब्रह्मवादिनोरयं विशेषो यदादिमः सर्वमेवानिर्वचनीयं वर्णयति। विज्ञानव्यतिरिक्तं पुनरिदं विश्वं सदसद्भ्यां विलक्षणं ब्रह्मवादिनः संगिरन्ते।" शुद्धचिन्मात्र ही वेदान्त में आत्मा है जो पारमार्थिक सत्य है। कुछ दर्शन के विद्वान् शून्य को ब्रह्म का पर्य्याय मान कर दोनों दर्शनों को समान कहते हैं परन्तु स्वयं माध्यमिक विद्वानों ने अपने को शून्यवादी कहा है तथा योगाचार उन पर जब यही आरोप लगाता है तो वे उसका निराकरण नहीं करते। वास्तविक स्थिति को मान्य करना ही दर्शन के विद्वान् का कार्य है, दर्शन के मूलग्रंथों का सुधार करना नहीं। इसी प्रकार बौद्धों का नवाँ ध्यान है निरोधसमापत्ति, जिसे संज्ञावेदितनिरोध भी कहते हैं, उसके साथ अस्पर्शयोग की समानता की बात भी भ्रान्ति से ही प्रतिपादित है। बौद्ध ग्रंथों में अस्पर्शयोग का शब्द कहीं भी प्रयुक्त हुआ हो ऐसा देखने में नहीं आता। अतः दोनों योगों के अंगों की समानता से ही ऐसा लगता है। यद्यपि उपनिषदों में अस्पर्शयोग शब्द नहीं मिलता है पर गीता में 'मात्रास्पर्शाः' 'ब्रह्मसंस्पर्श' आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है जहाँ विषयस्पर्श दुःखहेतु कहा है। "ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते"। ऐसा विषय-स्पर्श जहाँ न हो उसे अस्पर्शयोग कहना सर्वथा स्वाभाविक है। इस योग का मूल बौद्ध दर्शन या धर्म में ढूढने के बजाय उपनिषद् में ढूढना सरल है। 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः' 'यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह बुद्धिश्च न विचेष्टति' आदि उपनिषद्-मन्त्र स्पष्ट योग का कथन करते हैं एवं ये सभी बुद्ध पूर्व के

वचन हैं। यह ठीक है कि गौडपादाचार्यों ने बौद्धदर्शन की भाषा व विचार प्रणाली को अपनाया है। पर वह ऐसा ही है जैसा कि नव्य वेदान्त के वाद ग्रन्थों में नव्य न्याय शैली को अपनाया गया है या आधुनिक पाश्चात्य विज्ञान से प्रभावित लोगों में प्रतिपादन करने के लिए उन दृष्टान्तों या नियमों का प्रयोग किया जाता है। फिर भी सन्देह न हो अतः आचार्य-प्रवर भगवान् स्वमुख से ही "नैतद्बुद्धेन भाषितम्" कह देते हैं। लेखक के ऐसा स्पष्ट कहने के बाद उन पर बौद्ध होने का कलङ्क लगाना कितना अनुचित है यह सभी को स्पष्ट है। इस श्लोक का भी बौद्ध दृष्टि से अर्थ करते हुए कहा जाता है कि बौद्ध भी "अवचनं बुद्धवचनम्" (तथागतगुह्यसूत्र) मानते हैं। बुद्धत्व प्राप्ति की रात से परिनिर्वाण की रात तक बुद्ध ने एक शब्द भी नहीं कहा। "न क्वचित्कस्यचित् कश्चिद् धर्मो बुद्धेन देशितः" (माध्यमिक कारिका २०.२५)। परन्तु भगवान् गौडपाद ने यह नहीं कहा कि बुद्ध ने कुछ नहीं कहा, वरन् वे तो कहते हैं कि जो इन प्रकरणों में कहा गया है (एतत्) वह बुद्ध ने नहीं प्रतिपादित किया है। सर्वज्ञ शंकर स्पष्ट करते हैं कि बाह्य विषयों का वैतथ्य व विज्ञान की स्वीकृति बौद्धों में पाई जाती है जो वेदान्त से मिलती जुलती है, परन्तु ज्ञान, ज्ञेय व ज्ञाता से रहित अद्वैत सत्य का प्रतिपादन बौद्धों ने या बुद्ध ने नहीं किया है। यह केवल उपनिषदों में ही मिलता है।

कई वर्ष पूर्व सन् १९७६ में आबू में माण्डूक्योपनिषद् व कारिका पर भाष्य तथा आनन्द गिरि टीका के प्रकाश में प्रवचन किये गये थे। तब इसके प्रकाशन की कोई कल्पना भी नहीं थी। परन्तु हमारे प्रिय शिष्य स्वामी महानन्द गिरि जी ने उनको आशुलिपि में बद्ध कर टंकण के द्वारा तैय्यार करके रखा था। इधर कुछ समय से स्वामी स्वयं प्रकाश गिरि इनके प्रकाशन के लिए प्रेरित करते रहे। उन्होंने स्वयं भी कई ग्रन्थ प्रकाशित किये हैं। अतः हमने उन्हीं के ऊपर इन टंकणों का सम्पादन, शोधन आदि कार्यभार छोड़ा जो अत्यन्त व्यस्त रहने पर भी हमारे प्रेम के कारण उन्होंने स्वीकारा। इसी से यह मुद्रण संभव हो रहा है। इन दोनों महानुभावों का हमारे साथ ऐसा घनिष्ट सम्बन्ध है कि इनके लिए भगवान् दक्षिणामूर्त्ति से यही प्रार्थना कर सकते हैं कि ये स्वस्थ दीर्घ जीवन प्राप्त कर वेदान्त में पूर्ण निष्ठा के साथ आज के बढ़ते द्वैतवाद व नास्तिकवाद के निरोध में सफल हों। मुद्रक ने शीघ्र व सुन्दर कार्य किया है अतः वे भी आशीर्वाद के पात्र हैं।

आबू पर्वत, शंकर मठ
श्रावणसंक्रान्ति २०५२ वि०

भगवत्पादीयो
महेशानन्दगिरिः

ॐ

आगम प्रकरण

मंगलाचरण

प्रज्ञानांशुप्रतानैः स्थिरचरनिकरव्यापिभिर्व्याप्य लोकान्
भुक्त्वा भोगान्स्थविष्ठान्पुनरपि धिषणोद्भासितान्कामजन्यान्।
पीत्वा सर्वान्विशेषान्स्वपिति मधुरभुङ्मायया भोजयन्नो
मायासंख्यातुरीयं परममृतमजं ब्रह्म यत्तन्नतोस्मि।।१।।

माण्डूक्य उपनिषद् अथर्ववेद की माण्डूकेय शाखा की उपनिषद् है। प्राचीन नव शाखाओं में से अब केवल शौनक और पिप्पलाद शाखायें ही उपलब्ध हैं। उक्त श्लोक भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर भगवत्पाद द्वारा किये गये भाष्य का मंगलाचरण श्लोक है। मंगलाचरण का उद्देश्य विघ्नध्वंस और शक्ति की प्राप्ति है।

'यत् ब्रह्म तत् नतः अस्मि' जो ब्रह्म उसको हम नमस्कार करते हैं। जो का अर्थ ज्ञात होता है अर्थात् ज्ञात को यत् पद से कहकर तंत् पद से अज्ञात पदार्थ का संकेत किया जाता है। अतः यहाँ यत् पद से बताया कि ब्रह्म ज्ञात तत्त्व है, अज्ञात नहीं है। 'प्रज्ञानं ब्रह्म' ऋग्वेद का महावाक्य है। जन्मादि विकारी पदार्थों के होते हुए उन सारे विकारों का ज्ञान एकरूप से रहता है। समुद्र में लहर, झाग, बुद्‌बुदा आदि उत्पन्न होते हुए भी जल एकरूप ही रहता है। अथवा सारे गहने बनते रहने पर भी स्वर्ण स्वर्ण ही बना रहता है। इसी प्रकार ज्ञान घड़ा, कपड़ा, लड्डू इत्यादि रूप में प्रतीत होते रहने पर भी ज्ञान ही बना रहता है। इनमें घड़ा, कपड़ा, लड्डू आदि बदले, लेकिन ज्ञान में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। यह जो सब पदार्थों के परिवर्तित होते रहने पर भी ज्ञान की एकरूपता है, उसी को प्रज्ञान कहते हैं। इसी बात को समझना है। अभी हम लोग घड़े का ज्ञान घड़े के आश्रित समझते हैं। हमको लगता है कि घड़ा है तो घड़े का ज्ञान है। वास्तविकता है कि हमारे अन्दर ज्ञान-शक्ति है तो घड़ा है, ज्ञानशक्ति नहीं तो घड़ा कहाँ है? उसमें घटरूपता का बोध हमारी ज्ञानशक्ति है जो मन के द्वारा निकलकर उसे विषय करेगी, तभी वह घड़ा है। यदि उसे ज्ञानशक्ति विषय नहीं कर रही है तो वहाँ घड़ा नहीं है। कहोगे कि वहाँ कुछ है तो जरूर। भले ही हो, लेकिन वहाँ क्या है इसका पता कभी किसी को नहीं लग सकता। है भी या नहीं इसमें भी संदेह है। यह थोड़ा-सा कठिन विषय है।

हम कहते हैं कि यह किताब सफेद है। इसका मतलब इतना ही है कि सफेद प्रकाश में हमारी आँख को यह सफेद लग रही है। इसके अलावा वहाँ सफेदी नाम की कोई चीज नहीं है, क्योंकि हमने तीन बातें कहीं : सफेद प्रकाश में, हमारी आँख को, यह सफेद लग रही है। इसमें अगर पहली बात बदल दें, इस कमरे में सफेद रोशनी न रखकर लाल रोशनी जला दें तो रोशनी बदली, किताब वैसी की वैसी बनी रही। लेकिन रोशनी बदल देने पर यह किताब हमको लाल लगेगी। अब यह कहीं कोई नियम तो है नहीं कि सफेद रोशनी में जो दीखे उसी को सच्चा रंग माना जाये। ऐसा मानने का एक आर्थिक कारण है : सूर्य की रोशनी सबसे सस्ती और सरलता से उपलब्ध हो रही है इसलिये उसमें देखी हुई चीज सच मान ली जाती है। यदि सूर्य भगवान् ने नियम बना दिया होता कि मेरी रोशनी पर भी पाँच रुपया घनफुट के हिसाब से कर देना पड़ेगा तो लोग समझते कि बिजली की रोशनी सस्ती है, उसी में देखा करेंगे। दूसरी तरह से विचार करो। जब हम गिर जाते हैं तो पैर में बड़े जोर का दर्द होता है। पैर अच्छा भला दीखता रहता है। दर्द सूर्य की रोशनी में हो रहा है, लेकिन डॉक्टर कहता है कि सूर्य की रोशनी में तुम्हारा पैर नहीं देखेंगे बल्कि एक्सरे की रोशनी में स्क्रीनिंग करके पता चलेगा। देखकर डॉक्टर कहता है कि हड्डी टूटी हुई है, प्लास्टर लगेगा। तुम कहो कि सूर्य की रोशनी की बात मानेंगे तो डॉक्टर नहीं दिखा सकता। वह कहेगा कि मेरी बात मानोगे तो पैर ठीक होगा नहीं तो लंगड़े बने रहोगे। इसलिये सूर्य की रोशनी को ठीक मानना केवल व्यवहार चलाने के लिये है, वास्तविक नहीं है। इसका वास्तविक रंग कौनसा है इसके निर्णय का कोई तरीका नहीं है। अतः एक चीज रोशनी है।

फिर हमारी आँख भी गड़बड़ कर सकती है। दिल्ली में जाओगे तो वहाँ जगह-जगह तीन रोशनियाँ देखने को मिलेंगी हरी, पीली और लाल। मोटर चलाने वाला लाल रोशनी पर रुक जाता है, पीली पर गाड़ी स्टार्ट करता है और हरी होने पर चल देता है। लेकिन एक और बात देखोगे कि जहाँ खासकर कई तरह के मोड़ होते हैं वहाँ पर उसी रोशनी के ऊपर लाल पर 'स्टाप' और हरी पर 'गो' लिखा होता है। यह क्यो? कुछ लोग कलरब्लाइण्ड होते हैं, रंगों को नहीं देख पाते। उनको रंग साफ न दीखे तो अक्षर से पता लग जायेगा। यदि ऐसा कलरब्लाइण्ड जपाकुसुम को देखता है तो उसे केवल काले रंग की छाया दीखती है। जैसे कैमरे में किसी भी रंग का फोटो लो तो सफेद और काले के शेड्स आते रहते हैं उसी से अनुमान करते रहो कि उसका क्या रंग रहा होगा। यह निर्णय कैसे हो कि तुम्हारी आँख जो देखती है वही ठीक है, कलर-ब्लाइण्ड देखता है वह ठीक नहीं है। वहाँ भी कारण है कि अधिकतर लोगों की आँख हमारे जैसी होती है, कलरब्लाइण्ड थोड़े से होते हैं। अगर हम लोगों का ऐसा होता तो हमारी आँख में गड़बड़ी मानी जाती।

इस प्रकार 'यह सफेद है' इसकी जानकारी के लिये हमको रोशनी के रंग की अपेक्षा, आँख की अपेक्षा और तीसरी चीज अपनी अपेक्षा। हमको दीखा, अतः हम देखने वाले भी बड़े जरूरी हैं। अपने पुत्र की आँख छोटी होती है तो मोती जैसी होती है और दूसरे के पुत्र की आँख छोटी होने पर चीनियों जैसी होती है। इसलिये देखने वाला भी उस चीज का निर्णायक है। ऐसे ही थोड़ी सी पुरानी किताब अपनी हो तो सफेद दीखती है, पड़ोसी की हो तो बादामी रंग की लगती है। जब हम किसी चीज को देखते हैं तो उसमें ये तीन कारण होते हैं। वहाँ क्या है? यदि इसका निर्णय करना चाहो तो कोई निर्णायक तत्त्व नहीं है। इसलिये घड़े का ज्ञान होने पर ही वहाँ घड़ा है। ज्ञान नहीं तो वहाँ क्या है, कोई नहीं कह सकता।

जब घड़े, पेड़ आदि का ज्ञान होता है तो वस्तुतः हमारे सामने ज्ञान ही उपस्थित है। यह ज्ञान एकरूप है लेकिन कुछ अन्य कारणों से, जिनका हमको पता नहीं, वहाँ हमें केवल इसी का पता है कि हमको घड़े का ज्ञान हुआ। हमको आम का ज्ञान हुआ, दूसरे को केवल पेड़ का ज्ञान हुआ, तीसरे को वस्तुत्वप्रकारक ज्ञान हो सकता है अर्थात् इतना ही पता चले कि कोई वस्तु है। हमारे यहाँ पहले करधनी कमर में पहनते थे, आजकल दिल्ली में लड़कियाँ करधनी गले में पहनती हैं। जो पायजेब पहले पैर में पहनते थे वे उसे हाथ में पहन लेती हैं। हम सोचते थे कि भूलकर पहनी होंगी, बाद में पता चला कि वहाँ पायजेब का ज्ञान हाथ के कड़े रूप में होता है। ज्ञान का भेद होने से पदार्थभेद हो गया। इन सब चीजों के अन्दर न बदलने वाली चीज ज्ञान ही प्रज्ञान है। बदलने वाला पदार्थ वह चीज है। ज्ञान के बिना इसकी सिद्धि नहीं। सबके परिवर्तित होने पर भी जो परिवर्तित नहीं होता वह ज्ञान है। उस ज्ञान को प्रज्ञान स्पष्टता के लिये कह दिया। केवल ज्ञान से स्पष्टता नहीं आयेगी कि घड़े के ज्ञान की बात कह रहे हैं या सबमें अनुस्यूत को ज्ञान कह रहे हैं।

'प्रज्ञानं ब्रह्म' ऋग्वेद का महावाक्य है। उस प्रज्ञान की अंशु अर्थात् रश्मियाँ हैं। उसी का प्रतान अर्थात् विस्तार है। प्रज्ञान व्यापक ज्ञान और उसकी एक किरण हमें दीख रही है जो अपने अंतःकरण में प्रकट है। छोटे से छोटे मच्छर के हृदय में भी वही ज्ञानरश्मि है। हमारी रश्मि का विस्तार हमारे सामने आया। यह किरण स्थिर पदार्थ जैसे पेड़, पहाड़, पत्थर आदि का और चर अर्थात् गाय, भैंस, मनुष्य, मच्छर आदि का निकर या समूह है। यहाँ से लेकर बड़ी से बड़ी नीहारिकाओं में चले जाओ, जहाँ जाओगे वहाँ ज्ञान अवश्य है। जितना ब्रह्माण्ड दीख रहा है, यह उस एक अखण्ड ज्ञानरूप का ही विस्तार है और यह ज्ञान अज्ञात नहीं है। हमको बार-बार इसका ज्ञान हो रहा है। केवल यह याद रखना चाहिये कि जिसका हमको ज्ञान हो रहा है वह ज्ञान केवल हमारे तक सीमित नहीं, अनंतकोटि ब्रह्माण्ड में सर्वत्र मौजूद है। हमारी किरण से जितना प्रकट हुआ उसका हमको पता है। बाकी जितना जिस अंतःकरण से प्रकट हुआ उसका उसको पता है।

ब्रह्म का स्वरूप बताया कि वह सर्वथा अज्ञात नहीं बल्कि ज्ञात है । '**भुक्त्वा भोगान् स्थविष्ठान्**' के द्वारा उसका दूसरा रूप बताते हैं। भोग अर्थात् सुख का या दुःख का, अनुभव होना। संसार में बहुत आदमी समझ लेते हैं कि हमने रसगुल्ले का, गुलाबजामुन का, बिछौने का भोग किया, लेंकिन वस्तुतः ये सब तो पदार्थों का ज्ञान हुआ। इनसे उत्पन्न होने वाला जो सुख-दुःख का साक्षात्कार है, इस सुख-दुःख के ज्ञान का नाम भोग है। सुख-दुःख का साक्षात्कार या भोग हमारी आनंदरूपता को बताता है। जैसे प्रज्ञान के द्वारा पदार्थों का हमको निरंतर ज्ञान होता है जिससे हम अपनी ज्ञानरूपता को जानते हैं, वैसे ही प्रत्येक ज्ञान का अंतिम पर्यवसान सुख या दुःख में होता है, इसलिये इनके द्वारा हमारी आनंदरूपता प्रकट हो रही है। सुख को देखते ही हम चिपटते हैं कि यह कभी न जाये, हमेशा हमारे पास ही बना रहे। दुःख का अनुभव होते ही यह कितनी जल्दी हमसे दूर चला जाये इसकेलिये प्रवृत्ति होती है। एक दिन के लिये कभी बेचारा बुखार, फोड़े का दर्द आ जाये तो डण्डा लेकर पिल पड़ते हैं कि चला जाये। दो चार दिन के लिये कोई मेहमान आया है तो आ जाने दो, चला जायेगा। दुःख के आते ही उसे भगाने की इच्छा और सुख मिलते ही उससे चिपकने की इच्छा इस बात को बताती है कि हम वस्तुतः आनंदरूप हैं, क्योंकि जो जिसका रूप होता है वह उसको चिपटा कर रखता है और उससे भिन्न को धक्का मारकर निकालने की चेष्टा करता है। यह आनंदरूप ब्रह्म भी हमारे लिये ज्ञात ही है, अज्ञात नहीं ।

जैसे व्यष्टि प्रज्ञान को हमने समझा तो है लेकिन उसको सर्वव्यापक रूप से नहीं जाना। घड़े के ज्ञान, कपड़े के ज्ञान को अलग-अलग मानते हैं। मेरे तुम्हारे ज्ञान को अलग मान लेते हैं। सर्वत्र व्यापक ज्ञान को नहीं पकड़ पाते। ज्ञान को जानते हैं व्यापकता को नहीं। उसी प्रकार आनन्द को जानते हैं लेकिन आनंद हमारा ही स्वरूप है, यह नहीं जानते। निरंतर समझते हैं कि हमारा आनंद किसी के अधीन है, वह मिलेगा तो आनंद आयेगा। हम स्वयं आनंद रूप हैं, हम उस पदार्थ को लेंगे तो वह पदार्थ आनंद वाला बनेगा। हमारे से सम्बन्ध वाला नहीं तो पदार्थ कहाँ आनंदरूप है? हमें भूख लगी हुई है। तीन दिन से खाने को नहीं मिला है। तब मक्की की रोटी भी स्वादिष्ट लगती है, खाकर बड़ा मजा आता है। कहीं निमंत्रण में गये, वहाँ बार-बार कहा गया कि दाल का सीरा लो, पकोड़े के साथ खाओ। डटकर खा लिया। अब कोई वैसी ही मक्की की रोटी दे तो कहोगे कि एक तरफ रखो। इसलिये यदि उस मक्की की रोटी में आनंद होता तो कल भी था, आज भी होता। इसलिये मक्की की रोटी में आनंदपना देने वाले हम हैं क्योंकि हम आज भी आनंदरूप हैं, पहले भी आनंदरूप थे। हमारी आनंदरूपता कहीं नहीं जाती । हमसे सम्बन्धित होकर चीज आनंदरूप बनती है।

प्रश्न हो सकता है कि हमसे सम्बन्धित होकर पदार्थ आनंदरूप बनता है तो हमको दुःख क्यों होता है? हम चीजों से दो प्रकार से मिलते हैं। जैसे आँख खोलकर किसी

चीज को देखेंगे तो रूप का ज्ञान होगा और आँख बन्द करके उसके रूप का पता नहीं लगेगा। अंधे को रूप का ज्ञान नहीं होता। कान से शब्द का ज्ञान होता है, कान नहीं तो शब्दज्ञान नहीं। इसी प्रकार से हमारे अन्दर एक इच्छा शक्ति है। हम किसी चीज को इच्छा के साथ देखते हैं तब तो उसकी आनंदरूपता का ज्ञान होता है तथा उसके साथ आनंद होता है। भूख के कारण मक्की की रोटी पूर्ण सुखरूप प्रतीत हुई, नहीं तो दुःखरूप है। जहाँ-जहाँ इच्छा होगी, वहाँ-वहाँ सुख होग। जहाँ-जहाँ इच्छा नहीं होगी वहाँ-वहाँ सुख नहीं होगा। इच्छा इच्छा करने वाले के लिये हुई, इसलिये आनंदरूप से जानते हैं, आनंद का हमें अनुभव है, लेकिन व्यापक आनंदरूपता को नहीं जानते। उसकी एक किरण हमारे अन्दर है। और सब अंतःकरणों में उसीकी किरणें प्रकट हैं। प्रत्येक चीज किसी न किसी के सुख का कारण है। पुराणों में कथा आती है कि भगवान् विष्णु ने वराह अवतार लेकर भूमि का उद्धार किया। बाद में कुछ समय तक यहीं खेलते रहे। देवताओं ने आकर कहा कि देवकार्य समाप्त हो गया चलिये। लेकिन वहाँ तो वराह के साथ वराही हो गई, उसके बच्चे भी हो गये। देवताओं ने कहा 'वैकुण्ठधाम को चलिये, यहाँ कहाँ गन्ध में पड़े हुए हो।' भगवान् ने कहा— 'थोड़ा रुको, बच्चे जरा बड़े हो जायें तो चलेंगे।' सबने जाकर भगवान् शंकर से कहा 'वे नहीं आ रहे हैं, दुनिया में बड़ी बदनामी होगी।' भगवान् शंकर ने आकर समझाया कि कहाँ फसे हो, चलो यहाँ से। उनसे भी वराह ने कहा कि बच्चे जरा छोटे हैं, बड़े हो जायें, तब देखेंगे। भगवान् शंकर तो रुद्रमूर्ति हैं ही। त्रिशूल लिया और मार दिया। वराह शरीर से भगवान् विष्णु हँसते हुए बाहर निकल आये और कहने लगे 'देख लो, इस शरीर में घुसने पर मुझे मोह हो गया तो औरों की क्या हालत है।' बंगला भाषा में कहावत है 'मायार् फाँदे ब्रह्म पौड़े काँधे'।

विचार करो कि इसके द्वारा भगवान् को क्या दिखाना था। सुअर को सुअरी के अंदर और कीचड़ के अन्दर वैसे ही आनन्द का बोध होता है जैसे विष्णु शरीर के वैकुण्ठ में बैठकर दिव्य आनन्द का। भगवान् की लीला तो हम लोगों के उपदेश के लिये होती है, उनको काहे का बंधन है? हम लोग बड़े प्रसन्न होकर समझते हैं कि हमको आनंद उपलब्ध है, बाकी दूसरे प्राणियों को कहाँ उपलब्ध होगा। लेकिन वास्तविक स्थिति है कि संसार के जितने प्राणी हैं उन सबको आनंद है। आनंद के विषय अलग-अलग हैं।

उस परमात्मा को हम लोग जान रहे हैं लेकिन एक किरण रूप से जान रहे हैं, उसकी व्यापकता को नहीं जान रहे हैं। जाग्रत् काल में हम इन भोगों को भोगते हैं उसमें हमको स्थूल पदार्थों की अपेक्षा होती है। स्थूल शरीर भी जाग्रत् काल के भोगों को करने के लिये चाहिये। इसलिये यहाँ भोग भी मोटे और यंत्र भी मोटे। स्थूल शरीर, स्थूल इन्द्रियाँ और स्थूल भोग चाहिये। इनको सूक्ष्म करके हम उनका भोग स्वप्न में करते हैं। स्वप्न में भी आँख खोलकर देखते हैं। वहाँ स्थूल आँख न होकर संस्कार रूपी ही आँख

है। वहाँ स्थूल रसगुल्ला न खाकर केवल उसके संस्कार (impressions) ही खाते हैं। जाग्रत् काल में स्थविष्ठ भोगों का और स्वप्न में केवल बुद्धि के द्वारा प्रकाशित का ज्ञान कर लिया अर्थात् वासनाओं का भोग कर लिया।

स्वप्न क्यों दीखते हैं? '**कामजन्यान्**' अर्थात् जिस चीज की कामना होगी उसी चीज का हमको स्वप्न दीखेगा। जिन कामनाओं को जाग्रत् काल में किसी कारण से हम पूरा नहीं कर पाते या पूरा नहीं कर सकते, वे कामनायें जाग्रत् काल में दब जाती हैं और स्वप्न काल में प्रकट हो जाती हैं। इसलिये कहा कि स्वप्न पर विचार करने से मनुष्य को प्रत्यक्ष पता लगता है कि हममें कौन कौन सी इच्छायें दबी पड़ी हैं। सत्रहवीं शताब्दी में आचार्य अप्पयदीक्षितेन्द्र हुए हैं। उनके मन में एक बार विचार आया कि पता लगाना चाहिये कि मेरा मन कैसा है? उन्होंने खूब भाँग पी और अपने शिष्यों से कहा 'भाँग के नशे में मैं जो बक बक करूं, उसे लिख लेना।' उस भाँग के नशे में ही उन्होंने 'आत्मार्पणस्तोत्र' लिखाया। जब नशा उतरा तो शिष्यों ने उन्हें दिखाया। उसे देखकर कहा कि अब मेरे मन में सिवाय परमात्मविषय के दूसरी कोई कामना नहीं है क्योंकि उस स्तोत्र में सिवाय परमेश्वर के गुणकीर्तन के, कुछ नहीं था। यह एक मोटा प्रकार हो सकता है। जिस समय हमारा जाग्रत् मन चेतनावस्था में नहीं है वहाँ कामनाओं के कारण ही मन दीखने लगता है। इसके द्वारा क्रियारूपता बताई।

इस प्रकार तीनों चीजें बतायीं— ज्ञानरूपता, आनंदरूपता और क्रियारूपता। जहाँ-जहाँ अपूर्ण कामना है वहाँ-वहाँ क्रिया अवश्य करोगे, चीजों का निर्माण कर लोगे। जिस प्रकार सारे संसार को उत्पन्न करने वाली परमात्मा की ही शक्ति है, उसी प्रकार हमारी भी उत्पन्न करने की शक्ति है। ब्रह्म की ज्ञानरूपता भी हमको अज्ञात नहीं, आनंदरूपता भी हमको अज्ञात नहीं और ब्रह्म की क्रियारूपता, संसार को उत्पन्न करने की शक्ति भी हमको अज्ञात नहीं। उसके तीनों रूपों का हमको ज्ञान तो है लेकिन उसकी ज्ञानरूपता और आनंदरूपता की तरह क्रियाशक्ति की भी एक छोटी सी किरण ही हमारे अंदर स्वप्न के पदार्थों को उत्पन्न करती है। हम यह नहीं जानते कि जो शक्ति हमारी अपूर्ण कामनाओं को लेकर स्वप्न निर्माण करती है वही शक्ति संसार के सब प्राणियों में बैठकर संसार को उत्पन्न करती है। यह व्यापकता ज्ञात नहीं है। वह ब्रह्म अंशरूप में प्राणिमात्र को ज्ञात है लेकिन व्यापक रूप से ज्ञात नहीं इसलिये ब्रह्म सर्वथा अज्ञात पदार्थ नहीं है, अज्ञात न होते हुए भी उसकी व्यापकता को ज्ञात करना है।

ब्रह्म ज्ञात है लेकिन सामस्त्येन ज्ञात नहीं है अर्थात् उसकी व्यापकता का ज्ञान नहीं है। उसके स्वरूप का ज्ञान है। किस रूप में ज्ञात है? प्रज्ञान रूप में ज्ञात है। जाग्रत् में सुख-दुःख साक्षात्कार के द्वारा आनंदरूप में और स्वप्न पदार्थों के निर्माण के कर्तृत्व रूप में ज्ञात है। लेकिन तीनों ही स्थलों में व्यापक ज्ञान अर्थात् सर्वज्ञता, व्यापक आनंद अर्थात् सर्वानन्दरूपता और व्यापक कर्तृत्व अर्थात् सर्वकर्तृत्व का ज्ञान नहीं है।

अगला पद है **'पुनरपि'**। अर्थात् जाग्रत् अवस्था के जो कारण हैं उनके लीन होने पर। जाग्रत् अवस्था का कारण कौन है? शुभ और अशुभ कर्मों का फलभोग, जिसे प्रारब्ध कहते हैं, धर्म और अधर्म, यही जाग्रत् अवस्था का कारण है। इसलिये 'पुनरपि' अर्थात जाग्रत् हेतु धर्म अधर्म के क्षय होने के बाद। **'कामजन्यान् धिषणोद्भासितान्'**। स्वप्न धर्म अधर्म का फल नहीं है, वह कामजन्य अर्थात् कामनाओं का फल है। जिस समय धर्म अधर्म नहीं है उस समय कामना से प्रयुक्त होकर स्वप्न देखता है। यहाँ पूर्व पूर्व का अनुवर्तन समझना अर्थात् जाग्रत् काल में कर्म है लेकिन साथ में कामनायें भी हैं। स्वप्न में कामनायें हैं लेकिन साथ में अज्ञान भी है। सुषुप्ति या गहरी नींद की अवस्था में केवल अविद्या है, कामना और कर्म नहीं। स्वप्न की अवस्था में अविद्या और कामनायें हैं, धर्म अधर्म का फल नहीं। जाग्रत् में अविद्या, काम और कर्म तीनों उपस्थित हैं। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति का यह लक्षण है। इसलिये सामान्य दृष्टि से जो लोग समझते हैं कि खुर्राटे भर रहा है तो सुषुप्ति में है, बड़बड़ कर रहा है तो स्वप्न में है, घूम-फिर रहा है तो जाग्रत् में है, यह तो लौकिकों की समझ है। विचारसिद्ध स्वरूप का विस्तार इस उपनिषत् में आयेगा।

जब जब अविद्या है, कामना और कर्म नहीं तब सुषुप्ति है। बैठे हुए भी बहुत बार ऐसी शून्यावस्था (absent minded) होती है अर्थात् कुछ पता नहीं रहता। कई बार क्रिया करते हुए भी मनुष्य को पता नहीं होता है; अकस्मात् उससे पूछो 'क्या कर रहे थे?' तो दायें बायें देखने लगता है। काम कर रहा है लेकिन पता नहीं है। कोई वाक्य बोल रहा हो और उसे अचानक रोककर पूछो 'क्या वाक्य बोल रहे थे, फिर से बोलो।' तो घबरा जाता है, दायें बायें देखने लगता है। कारण क्या है? वस्तुतः वह उस समय सुषुप्ति में , अविद्या में ही था। यह अवस्था साधक के लिये बड़ी खराब है। जैसे मोटर या रेल में बैठे हुए कहीं जा रहे हैं। एक दृश्य आता है निकल जाता है, दूसरा दृश्य आता है और निकल जाता है, देख भी रहा है लेकिन उसके दो मिनट बाद पूछो 'क्या देखा?' तो कहता है 'कुछ नहीं, ऐसे ही बैठे हुए थे।' यह सुषुप्ति की अवस्था है जो साधक के लिये बहुत खराब है क्योंकि यहाँ पर वह एक ऐसी चीज बन जाता है जो जड जैसी है। जैसे जड पदार्थ पर क्रिया की जाती है, वह स्वयं कोई क्रिया नहीं करता है, वैसे जब जब मनुष्य ऐसी अवस्था में चला जाता है तब तब उसपर क्रिया होती है, वह क्रिया करता नहीं है। यह घातक स्थिति है, मृत्यु जैसी स्थिति है।

इसी प्रकार जिस समय हम अपनी कामनाओं में डूबे हुए हैं, हमारी कामनायें अथवा इच्छायें इतनी प्रधान हैं कि पदार्थ के स्वरूप का साक्षात्कार हम नहीं कर पाते तब स्वप्न है। एक बार कोई औरत हमारे पास आई, थोड़ी देर बात करके चली गई। हमने वहाँ बैठे हुए लोगों से कहा कि उस औरत के विषय में कोई बात कहो। किसी ने कहा कि उसके हाथ में जो हीरा पड़ा हुआ था वह कम से कम पाँच लाख का होगा, हम तो उसको

ही देखते रहे। यह है कामग्रस्तता, क्योंकि उस हीरे को देखते हुए, उसकी कामना में रहते हुए वह औरत जैसी है उसको वैसा नहीं देख पाये। बहुत बार लोग मन्दिर का दर्शन करके आते हैं तो हम उनसे प्रश्न पूछते हैं कि मूर्ति किस पत्थर की थी? कसौटी की थी, ग्रेनाइट की थी या संगमरमर की थी? अगर संगमरमर की थी तो कौन सा रंग था? कहते हैं 'वह तो हमने नहीं देखा लेकिन हरे रंग का बहुत सुन्दर कपड़ा पहने हुए थी।' यहाँ भी हरे रंग की कामना से ग्रस्त अंतःकरण हो गया इसलिये जो चीज देखनी है वह नहीं देख पाये। यह सब शास्त्रदृष्टि से स्वप्नावस्था है।

जाग्रत् दृष्टि तब है जब तुम अपने मन की कामनाओं को, अज्ञान को दूर रख रहे हो, इन दोनों को दूर रखकर पदार्थ जैसा है उसको वैसा देख रहे हो, उसकी पूर्णता का भान कर रहे हो।

दूसरी दृष्टि से कह सकते हैं कि सुषुप्ति की अवस्था तमोगुणी अवस्था है क्योंकि श्रुति स्वयं कहती है 'सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोभिभूतः सुखरूपमेति' सुषुप्ति तब हुई जब तमोगुण की प्रधानता है। स्वप्न हुआ कामनाप्रधान होकर, इसलिये उस समय रजोगुण प्रधान है। 'रजो रागात्मकं विद्धि'। जिस समय रजोगुण बढ़ा हुआ होगा उस समय स्वप्नावस्था होगी। जाग्रत् अवस्था तब होगी जब स्वप्न से उठकर सत्त्वगुण में आयेंगे, रजोगुण को छोड़ेंगे। अधिकतर लोग हमेशा स्वप्न और सुषुप्ति में ही रहते हैं। वेद ने यह बेकार का वाक्य नहीं कह दिया 'उत्तिष्ठत जाग्रत'। हम लोग समझते हैं कि पुराने जमाने में अलार्म घड़ी नहीं होती होगी इसलिये कह दिया कि उठने का समय हो गया। इसका मतलब है कि स्वप्न और सुषप्ति अर्थात् तमोगुण और रजोगुण को छोड़कर सत्त्वावस्था में आओ। आगे इसी माण्डूक्य कारिका में भगवान् गौडपादाचार्य साधारण मनुष्यों का विवेचन करते हुए उन्हें दो ही अवस्थाओं वाला बतायेंगे 'अन्यथागृह्णतः स्वप्नः निद्रा तत्त्वमजानतः'। जो चीज जैसी है उसको वैसा नहीं समझ पाने का नाम ही स्वप्न है। उस चीज को बिल्कुल ही न समझना सुषुप्ति अर्थात निद्रा है। जिसे हम जाग्रत् अवस्था समझते हैं उसे अधिकतर लोग प्राप्त ही नहीं करते। केवल कहते हैं कि हम जग रहे हैं। इसलिये **कामजन्यान्** का तात्पर्य है कि अविद्या का अनुवर्तन वहाँ भी है।

उनका प्रकाश किससे होता है? '**धिषणोद्भासितान्**'। मनुष्य जिन चीजों को अपने अन्दर रखता है उनको शब्द रूप से ही रखता है। हमारी स्मृति मूलतः शब्दात्मक है। इसीलिये जिस चीज के विषय में हमारा शब्द निश्चित न हो उस चीज को हम जल्दी भूल जाते हैं। दो प्रयोग हमने बहुत देखे हैं। इंग्लैण्ड में तो प्रत्येक फूल और प्रत्येक पक्षी के विशिष्ट नाम हैं। छोटा बच्चा भी जानता है कि इस पक्षी या इस फूल को क्या कहते हैं क्योंकि उसमें उनकी रुचि है। इसलिये वहाँ के व्यक्ति को यदि कहीं का वर्णन करने को कहो तो फूल और पक्षियों का वर्णन साधारण आदमी भी अच्छी तरह से करेगा।

हमारे यहाँ चाहे भाषा में उनके लिये शब्द रहे, लेकिन प्रायः पुष्पों के और पक्षियों के नामों के विषय में हम लोग जानकारी रखते नहीं इसलिये वर्णन करते हुए कहते हैं— 'वहाँ पर पेड़ थे, झाड़ थे पक्षी कलरव कर रहे थे।' समझते हैं हमने वर्णन कर दिया। कारण क्या है? लोग कहते हैं 'कहाँ तक याद किया जाये?' जिस चीज के विषय में शब्द का प्रयोग, शब्द का ज्ञान नहीं होगा, उसकी स्मृति हमेशा धुँधली रहेगी, स्पष्ट नहीं होगी। यह गलती हम प्रायः करते हैं। हम लोगों ने ऐसा मान लिया है कि सिवाय धन कमाने के साधनों के बाकी जितना कुछ संसार है उसके प्रति ध्यान देना बेकार है। किसी से कहो कि इन चीजों को समझना चाहिये, रुचि लेनी चाहिये तो कहते हैं कि इस सबसे क्या होना है? लेना तो भगवान् का नाम ही चाहिये। लेकिन धन कमाने के साधनों के विषय में कोई नहीं कहता है 'इसमें क्या रखा है, कितने का घाटा नफा हुआ, इसमें कुछ नहीं, खर्च हो गया सो हो गया, बच गया सो बच गया।' वहाँ उपेक्षा-वृत्ति नहीं रहती है।

हम लोग आज अत्यधिक स्वार्थी और लोभी हो गये हैं। उसका मूल कारण क्या है? मन कभी खाली नहीं रह सकता। यदि मन को सूक्ष्म पदार्थों के अन्वेषण में लगाओगे तो उधर जायेगा और स्थूल पदार्थों के विश्लेषण में लगाओगे तो उधर जायेगा। जिस तरफ मन लगेगा उधर की चीजों को ग्रहण करता रहेगा। मन को तुम खाली बनाकर रखना चाहो तो नहीं हो सकेगा। यहीं अभ्यास करने में हम गड़बड़ा जाते हैं। जब तुम कहते हो कि व्यवहार के लिये धन आदि की तो अपेक्षा हुई, बाकी चीजों को कहते हो कि इनके व्यवहार से कोई फायदा नहीं तब मन में खाली जगह केवल धनजन्य स्वार्थ से ही भर जायेगी। विदेशियों में, विशेषकर योरोप में, यह परिस्थिति इसलिये नहीं कि धन के अलावा अन्य चीजों में उनकी रुचि होती है। पेड़ पौधों में रुचि, पक्षियों में रुचि, पौधों को बड़ा करने में रुचि हो सकती है, किसी सामाजिक कार्य में रुचि हो सकती है। उन सब रुचियों के फलस्वरूप स्वार्थान्धता और लोभ उनके मन में नहीं बैठता। संसार के प्रति जागरूकता का न होना हमने मन को शांत करने का साधन मान लिया। यह उचित साधन नहीं है, उलटा मन को कामना और स्वार्थ से भर लेने का साधन है।

धिषणा के द्वारा बताया कि मनुष्य का चिंतन हमेशा शब्दसमूह के आधार पर ही चलेगा। उसके अनुसार ही मनुष्य की कामना घटेगी या बढ़ेगी, उसके द्वारा ही उनका उद्भासन अर्थात् प्रकाशन होगा। उस शब्दसमूह के द्वारा ही कामना आगे आती है।

फिर उसके बाद '**सर्वान् विशेषान् पीत्वा स्वपिति**' कामना से उत्पन्न होने वाला अनुभव और बाह्य विषयों से उत्पन्न होने वाला अनुभव, जब ये दोनों ही विशेषण नहीं रह जायेंगे, लीन हो जायेंगे तब सुषुप्ति है। पहली पंक्ति में **व्याप्य** कहा अर्थात् व्याप्त करके, व्याप्त होकर नहीं कहा। फिर **भुक्त्वा** कहा अर्थात् भोग करके, यहाँ पर भी **पीत्वा** कहा जिसका अर्थ है इन सबको अपने अन्दर लीन करके। ये शब्द ध्यान देने योग्य

हैं क्योंकि अधिकतर लोग अपने आपको जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं के पराधीन मानते हैं। हिन्दी भाषा में तो कहते ही यह हैं कि नींद आ गई, स्वप्न आ गया, मानो स्वप्न सुषुप्ति कोई चीज हो जो हमारे ऊपर चढ़ बैठती हो। हम स्वप्न में गये, हम सुषुप्ति में गये, हम सुषुप्ति को लाये इस प्रकार के प्रयोग हिन्दी में प्रायः नहीं जैसे होते हैं। लेकिन यहाँ भुक्त्वा, पीत्वा के द्वारा बता रहे हैं कि जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति हमारे ऊपर जबरदस्ती नहीं चढ़ते। जब तक हम अपने धर्म अधर्म को जाग्रत् रखेंगे अर्थात् चौकन्ने रहेंगे, पदार्थों को वे जैसे हैं वैंसे ही अनुभव करने के लिये सत्त्वगुण में स्थित रहेंगे, तब तक स्वप्न सुषुप्ति हमारे ऊपर हावी नहीं हो सकते। जब हम चाहेंगे कि हम कामना-जगत् में जायें, तब स्वप्न में जायेंगे। जब दोनों को छोड़कर अनुभव करने के लिये जायेंगे उस समय पीत्वा अर्थात् सबको लीन कर देंगे, सुषुप्ति में जायेंगे। पीना सरलता से हो जाता है, इसलिये पीने का मतलब होता है जो काम सरलता से हो जाये। स्वप्न के अनुभवों को भुक्त्वा कहा था। खाने में तो मनुष्य को चबाना पड़ता है और पीने में कुछ नहीं करना पड़ता, जैसे ही मुंह में डाला झट नीचे चला गया। इसी प्रकार कामनाओं के जगत् में रहते काल में तो मनुष्य को कुछ न कुछ क्रिया करनी पड़ती है, पर जहाँ जाग्रत् और स्वप्न को लीन किया वहाँ सुषुप्ति में जाना सरलता से हो जाता है। इस बात को न समझने के कारण ही लोगों को नींद की गोलियाँ लेनी पड़ती हैं। वैसे यह बड़ा अच्छा है कि इस प्रकार की गोली बनाने वाले कारखानों में लोगों को काम मिलता है, आर्थिक प्रगति होती है, लेकिन खाने वालों की स्थिति खराब हो जाती है। नींद इसलिये नहीं आती कि लोग नींद लेने के लिये परिश्रम करते हैं और जहाँ यह परिश्रम शुरू किया, नींद नहीं आती। पीत्वा के द्वारा यही बता रहे हैं कि निद्रा लेने में केवल जाग्रत् स्वप्न का भान अथवा कामना के जोर को छोड़नामात्र अपेक्षित है। जहाँ कामना को छोड़ा वहाँ तुरन्त सुषुप्ति में चले जाते हैं।

जब सुषुप्ति में चला गया उस समय यह **मधुरभुक्** हो जाता है अर्थात् मधुर चीज को खाने वाला हो जाता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में मधुब्राह्मण आता है। परमात्मा को ही वहाँ मधु शब्द से कहा है। जैसे मधुकर (भौंरा) भिन्न-भिन्न फूलों से उनमें रहने वाले रस को ग्रहण करता है और उन सब फूलों का जो रस या सार है वह मधु है, उसी प्रकार विश्व के प्रत्येक पदार्थ में जो सच्चिदानंद रूप परब्रह्म परमात्मा है वह सार है। प्रार्थना में कहते भी हो 'संसारसारं भुजगेन्द्रहारम्' वह संसार का सार है। अनंतकोटि ब्रह्माण्ड के अनंत पदार्थों में से सार रूप का ग्रहण करना मधुकर अर्थात् साधक का कार्य है और जो गृहीत होता है, वह रूप मधु शब्द से कहा जाता है। यह बृहदारण्यक उपनिषद् में मधु ब्राह्मण में विस्तार से बताया है। पृथ्वी का, जल का, मनुष्यों का मधु क्या है? अंत में कहा कि सबका मधु परमात्मा है। इस मधु को न समझने के कारण कई गड़बड़ियाँ होती हैं। सप्तशती में भगवती कहती हैं 'गर्ज गर्ज क्षणं मूढ मधु यावत् पिबाम्यहम्' कुछ

लोग उसका अर्थ शहद लेते हैं। कुछ लोग शराब अर्थ लेते हैं। कुछ लोग शराब की आहुति भी देते हैं। वस्तुतः यह वाक्य ब्रह्माकारवृत्ति का है जो अज्ञान को कहती है कि जब तक वह मधुरूप ब्रह्म का अच्छी तरह ग्रहण नहीं कर लेती तब तक अज्ञान उस वृत्ति रूप से तथा अन्य साधनों के रूप से बना रहे। इसलिये मधु ब्रह्म है। ब्रह्म के अन्दर जो जमने अर्थात् एक होने की इच्छा है, आसक्ति है उसी को मधुर कहते हैं। सुषुप्ति की दशा विचित्र है। वह दशा ज्ञानपूर्वक हो जाती है तब तो मधुर हो जाती है। उसी को समाधि कह सकते हैं, जहाँ परमात्मा से एक हो जाते हैं।

सुषुप्ति के अन्दर परमात्मा से एक तो होते हैं क्योंकि श्रुति कह रही है 'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति' तथा 'न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम्' सद् ब्रह्म के साथ एक हो जाते हैं, लेकिन अज्ञानविशिष्ट होकर एक होते हैं इसलिये एक होकर भी उस एकता को जानते नहीं। एक होने पर अर्थात् एक का लाभ ले लेने पर भी ज्ञान न होने के कारण पूर्ण लाभ से वंचित हो जाते हैं। वेद ने दृष्टांत दिया जैसे जिसको यह पता नहीं है कि इस जमीन के नीचे सोने के चरु गड़े हुए हैं वह भी रोज उसपर चलता तो है, उसे जोत भी रहा है, लेकिन पता नहीं है, इसलिये उस जमीन का मालिक होने पर भी, उस जमीन के ऊपर से जाने पर भी, उसको खोदने पर भी, उसमें खेती बोने पर भी, उसके अन्दर की चीज को न जानने के कारण उसका पूरा लाभ नहीं उठा पाता। इसी प्रकार तुम लोग भी उस ब्रह्म से एक होकर, प्रतिदिन तरोताजा होकर उठते हो। क्या कारण है कि मनुष्य चाहे जितना थका हो, दुःखी हो, जहाँ उसको गहरी नींद आई वहाँ तरोताजा होकर उठता है। जैसे मोटर की बैट्री से गाड़ी नहीं चल पाती तो उस बैट्री को रातभर बिजली के सम्बन्ध में रख देने पर सवेरे फिर काम के लिये तैयार (चार्ज) हो जाती है। इसी प्रकार हम लोग भी जब गहरी नींद से उठते हैं तो तरोताजा होकर उठते हैं। विवेकियों ने मोटर में डायनमो लगा रखा होता है जिससे मोटर चलती रहती है और बैट्री चार्ज होती रहती है। इसी प्रकार विवेकी व्यवहार काल में भी परमात्मा से सम्बन्ध बनाये रखता है इसलिये उसकी चेतना भी चार्ज होती रहती है। साधारण आदमी रात में लगाते हैं तो चार्ज हो जाती है। लेकिन वह कौनसी बिजली है? वही यह मधु है पर उसको नहीं जानते। इस लिये कह दिया '**मायया मधुरभुङ्**' मधुर अवस्था का भोग करता है, उससे एक हो जाता है, उसके सुख को देखता है लेकिन माया के द्वारा, अज्ञान के द्वारा देखता है, उसके स्वरूप को जानकर नहीं देखता कि ऐसा ब्रह्म है।

जैसे वह सर्वकर्ता वैसे ही सर्वसंहर्ता है। हम अपने मन, इन्द्रिय, बुद्धि इत्यादि को लीन करते हैं, यह संहारक शक्ति हमारे अन्दर है। सब कुछ हम अपने अन्दर लीन कर सकते हैं। यों तो उसे जानते हैं, लेकिन बस इतना ही, अर्थात् अपना जो विषयिसंसार (Subjective world) है उसको लीन करना जानते हैं। लेकिन सारे ब्रह्माण्डों को लीन करने की शक्ति को हम नहीं जानते, व्यापकता का वहाँ भी भान नहीं है। इसी प्रकार

से सुषुप्ति को जानते हुए भी व्यापक मधु को नहीं जानते। सर्वत्र दोष एक ही है कि जानते हुए भी उसकी पूर्णता को नहीं जानते।

ऐसा वह जो ब्रह्म है, **तत्** अर्थात् उस ब्रह्म के लिये **नतः अस्मि** हम नत हैं, झुके हुए हैं। झुकने का क्या मतलब है? ऐसा नहीं कि ब्रह्म के सामने सिर झुकायेंगे तो झुके। नमः शब्द का अर्थ होता है त्याग 'त्यागो हि नमसो वाच्यः' सिर झुकाने को नति इसलिये कहते हैं कि उसके अन्दर तुम अपने अभिमान का त्याग करते हो। प्रत्येक व्यक्ति को यह दृढ विश्वास है कि मेरे से बड़ा और कोई नहीं। यह स्वाभाविक है। सिर तब झुकता है जब मन में यह भाव आता है कि अमुक व्यक्ति मुझसे श्रेष्ठ है, इससे अभिमान नहीं करें। यह बात दूसरी है कि एक नमन केवल परम्परा निभाने के लिये भी किया जाता है, जानते हैं कि यह व्यक्ति नमस्कार के योग्य नहीं है फिर भी लोग बुरा मानेंगे या यह लड़ाई करेगा, इसलिये नमन कर देते हैं। लेकिन वास्तविक नमन है अभिमान को छोड़ना। उसी प्रकार ब्रह्म को नमन का मतलब है कि किसी चीज़ का त्याग हो। परिच्छिन्न व्यष्टिभाव का त्याग करना है। जब तक यह परिच्छिन्न भाव है तब तक उसकी पूर्णता का ज्ञान नहीं है। जब हम यह कहते हैं कि 'मैं ब्रह्म नहीं हूँ' तब कह रहे हैं कि जो ब्रह्म अर्थात् सर्वव्यापक है वह मैं नहीं हूँ। वह सर्वव्यापक रहो लेकिन हमको छोड़कर बाकी सब जगह सर्वव्यापक है। इसी प्रकार जब हम कहते हैं कि यह धर्म अधर्म हमने किया, यह पाप तो हमसे हो ही गया, तब इसका मतलब है कि परमात्मा सर्वकर्ता रहो, लेकिन यह पाप करने वाला तो मैं ही हूँ, यह अभिमान मैं नहीं छोड़ने वाला, यह परमात्मा का कार्य नहीं है। यही हमारे अन्दर अल्पता का आधार है। जहाँ इसे छोड़ा ब्रह्म की वास्तविकता को स्वीकार किया।

'नतः अस्मि' का मतलब केवल बाहर का नमस्कार नहीं लेना। इसीलिये नमन का लक्षण करते हुए कहा कि 'मैं' शब्द का जो अर्थ है, जिसे हम मैं शब्द से समझते हैं, वह मैं कुछ नहीं, ईश्वर का ही एक अंश है, इस बात को याद करने का नाम ही वेदांत शास्त्रों में नमन है। इसलिये कहा कि जिस ब्रह्म को हमने सर्वकर्त्ता इत्यादि रूप से नहीं जाना उसको हम अब इस रूप से अपने अभिमान को छोड़कर जानते हैं।

उस ब्रह्म का वर्णन करते हुए जब कहा कि माया के द्वारा ऐसा होता है तो यह सुनते ही मनुष्य के मन में संदेह आ गया कि फिर तो यह मायिक या मायावी है। उसका जवाब दिया कि ऐसा नहीं है वरन **'मायासंख्यातुरीयम्'** माया के द्वारा केवल उसकी संख्या अर्थात् सम्यक् ख्यान या ज्ञान होता है। संख्या का एक अर्थ नंबर भी होता है। लेकिन उसको भी संख्या इसलिये कहते हैं कि उसके द्वारा पदार्थ का ठीक-ठीक ख्यापन अर्थात् ज्ञान हो जाता है। इसीलिये गीता में जहाँ सांख्य और योग शब्द आये हैं वहाँ भगवान् भाष्यकार स्पष्ट अर्थ कर देते हैं 'समं ख्यायते इति संख्या संख्या एव सांख्यः' भली प्रकार से तत्त्व को बताने वाले सांख्य हुए। वहाँ केवल कपिल मत को मानकर

चौबीस की संख्या को मानने वाले सांख्य नहीं हैं। किसी काल में साख्य बहुत थे जैसे आजकल अद्वैती बहुत हैं, कोई विशिष्टाद्वैती, कोई द्वैताद्वैती, कोई शुद्धाद्वैतवादी। हैं ये सारे वेदांती लेकिन उसमें भिन्न-भिन्न दृष्टि रखते हैं। उसी प्रकार किसी जमाने में सांख्यों का बड़ा प्रचार था। उनमें भी बहुत मतभेद था लेकिन सभी एक विषय में एकमत थे कि तत्त्व चौबीस हैं। वे कौन से चौबीस हैं? इसमें तो मतभेद था लेकिन सब सांख्य इसलिये कहे जाते थे कि चौबीस तत्त्वों के विषय में किसी को संदेह नहीं था। बाकी विषयों में मतभेद था। इसलिये संख्या पर जोर देने के कारण उन्हें सांख्य कह दिया गया। वैसे गीता और श्वेताश्वतर उपनिषद् में साख्य शब्द का प्रयोग इस संख्या को लेकर नहीं क्योंकि वहाँ चौबीस तत्त्वों पर जोर नहीं है वरन् वहाँ प्राचीन अर्थ है कि भली प्रकार से किसी बात का प्रतिपादन करने वाला शास्त्र सांख्य शास्त्र होता है।

यहाँ पर भी जितना हमने ब्रह्म के अन्दर वर्णन किया है, यह माया द्वारा वर्णन किया जाता है। वस्तुतः वह इन सबसे असम्बद्ध है। माया और ब्रह्म, उसका सम्बन्ध और सम्बन्ध के सम्बन्ध का भी निरूपण है। माया ब्रह्म में रहती है। किस सम्बन्ध से? मायिक सम्बन्ध से रहती है और वह सम्बन्ध भी ब्रह्म में किस सम्बन्ध से है? मायिक सम्बन्ध से है। यह जरा कठिन विषय है इसलिये ठीक से समझना : घड़ा कपड़ा एक दूसरे से अलग हैं, इसलिये कहेंगे कि घड़े में कपड़े से अलगाव है। कुछ घड़े में मानना पड़ेगा कि जो उसको कपड़े से अलग करता है। मोटी भाषा में अलगाव समझ लो। कपड़े का अलगाव घड़े में है तभी घड़ा कपड़ा एक नहीं हैं। इसलिये कहते हैं कि घट में पटभेद रहता है। घट से भेद करने वाली सामर्थ्य पटभेद है जो घट में रहेगा। यहाँ तक तो ठीक है। अगला प्रश्न होता है कि पटभेद जो घड़े में रहेगा वह किस सम्बन्ध से रहेगा? क्या वह अलगाव और घड़ा एक ही है? यह भी नहीं कह सकते क्योंकि अलगाव अभाव (negative) रूप है और घड़ा भावरूप (positive) है। यह नहीं कह सकते कि कपड़े का अलगाव अर्थात् पटभेद घड़े के अन्दर स्वरूप से एक होकर रह सकता है। इसलिये मानना पड़ेगा कि पटभेद अर्थात् कपड़े का अलगाव घड़े में किसी सम्बन्ध से रहेगा और वह सम्बन्ध फिर अलगाव का सम्बन्ध होगा क्योंकि पटभेद घट के अन्दर भिन्न होकर रह रहा है। इसलिये पटभेद का भेद भी तो अभाव रूप होने के कारण अलगाव से है। इसलिये फिर मानना पड़ेगा कि घट के अन्दर उसका भेद भी रहेगा। यों अनवस्था दोष होगा। इसका कभी अंत नहीं आता है। सभी नैयायिकों ने यह स्वीकार किया है कि घड़े के अन्दर कपड़े का जो अलगाव रहता है वह पटभेद घड़े को कपड़े से भी अलग कर देता है और भेदरूप होने के कारण अपने को भी घड़े से अलग रख लेता है अर्थात् कपड़े के अलगाव का अलगाव आगे मानने की जरूरत नहीं। कपड़े का अलगाव अपने को भी घड़े से अलग और कपड़े को भी अलग रखता है क्योंकि उसका स्वरूप ही अलग करना हुआ। इसी प्रकार वेदांती कहता है कि माया

ब्रह्म से जगत् को अलग कर देती है और वही माया अपने आपको ब्रह्म से भी अलग रख लेती है। माया के कारण हमको ब्रह्म से संसार अलग दीख रहा है और उसी माया के कारण ही माया भी हमको ब्रह्म से अलग ही प्रतीत हो रही है। दूसरी तीसरी माया मानने की आवश्यकता नहीं। इसलिये कहा कि माया दोनों काम कर लेती है। इसी माया की दृष्टि से इसको तुरीय कह देते हैं। तुरीय का मतलब हुआ चतुर्थ संख्या को पूरा करने वाला। ब्रह्म को इस प्रकार तुरीय कह दिया जाता है। वस्तुतः ब्रह्म एक है, तुरीय नहीं। एक ब्रह्म में माया रूपी दोष से हमको तुरीयत्व की कल्पना हो जाती है, वस्तुतः नहीं। ऐसा जो परम अमृत अर्थात् उत्कृष्ट है अथवा मृत्यु से रहित रूप है, जन्म से रहित ब्रह्म है, उसके साथ हम ऐक्य का अनुभव करते हैं।।१।।

यो विश्वात्मा विधिजविषयान् प्राश्य भोगान्स्थविष्ठान्
पश्चाच्चान्यान्स्वमतिविभवान् ज्योतिषा स्वेन सूक्ष्मान्।
सर्वानेतान्पुनरपि शनैः स्वात्मनि स्थापयित्वा
हित्वा सर्वान्विशेषान्विगतगुणगणः पात्वसौ नस्तुरीयः।।२।।

प्रथम श्लोक के अर्थ को ही कुछ और स्पष्ट कर दूसरे श्लोक में बता देते हैं। फर्क केवल इतना है कि पहले श्लोक में विधिमुखसे कथन (positive description) था और इसमें निषेधमुख से (negative description) है, इसलिये यह श्लोक सरल है। जो समग्र विश्व का आत्मा है अर्थात् विश्वस्वरूप है, यह सारा ही विश्व जिसका स्वरूप है, वह विश्वात्मा विधिज विषय भोगता है। विधि अर्थात् शास्त्र में जो विधान किया गया कि यह करो और यह नहीं करो। करने न करने से धर्म या अधर्म से उत्पन्न होने वाले जो विषय हैं उनका हम प्राशन कर लेते हैं। प्राशन शब्द का बड़ा सुन्दर प्रयोग है। हाथ में थोड़ा सा लेकर जो खाया जाता है उसे प्राशन कहते है जिसमें दाँत जीभ न लगे, सीधा गले से नीचे उतर जाये। पंजाब में बड़ी अच्छी पद्धति है। भूख हड़ताल कर रखी हो तो भी प्रसाद तो भगवान् का लेना ही हुआ। इसलिये आधा किलो हलवा चना भी खा लेते हैं और भूखहड़ताल भी करते रहते हैं। प्रसाद वह होता है जिसमें दाँत और जीभ न लगानी पड़े, मुँह में डालते ही सीधा गले से नीचे चला जाये, स्वाद का पता ही न चले। धर्माधर्म के फल का भी प्राशन ही होता है। हम लोग समझते हैं कि हम सुख दुःख का भोग करते हैं लेकिन वहाँ सुख दुःख कुछ नहीं। सुख के पदार्थ का थोड़ा सा प्राशन हुआ कि वह झट चला जाता है। किसी चीज का भोग मनुष्य अच्छी तरह नहीं कर सकता। स्थविष्ठ भोगों का प्राशन यह बताने के लिये है कि सुख दुःख, धर्म अधर्म से जो होते हैं वे बहुत थोड़ी देर तक रहते हैं।

जाग्रत् के बाद स्वप्न में स्वमति अर्थात् अपनी बुद्धि से उत्पन्न होने वाले अर्थात् संस्कारों से उत्पन्न होने वाले पदार्थों को अपने ही प्रकाश से देखते हैं, जाग्रत् की तरह

वहाँ सूर्य के प्रकाश की जरूरत नहीं है। इन सबको फिर सुषुप्ति काल में अपने अन्दर लीन कर लेते हैं। जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति अवस्था का वर्णन करते हुए पहले श्लोक में जिसे विधिमुख से कहा, यहाँ निषेधमुख से कह दिया। फिर कहा कि इन सब विशेषणों को छोड़कर, समष्टि गुणगणों को छोड़कर, जो तुरीय ब्रह्म है वह हमारी रक्षा करे, संरक्षण करे। दो तरह से एक ही अर्थ को बता दिया। तात्पर्य में फरक नहीं है।।२।।

सम्बन्ध ग्रन्थ

वेदांत के अर्थ का सारसंग्रह रूप यह चार प्रकरणों वाला माण्डूक्यकारिकानामक ग्रन्थ है। 'ओमित्येतदक्षरम्' से शुरू होने वाला जो ग्रन्थ है इसको प्रकरण बताया। प्रकरण पारिभाषिक शब्द है। जिस पुस्तक में चार चीजें पूरी तरह से बता दी जायें उसे शास्त्र कहते हैं। जैसे ब्रह्मसूत्र आदि शास्त्र हैं। सारे विषयों को जो बता दे उसको शास्त्र कहते हैं। वेदान्त शास्त्र में ब्रह्म का स्वरूप बताया, यह विषय हो गया। उस ब्रह्म के ज्ञान के लिये अधिकारी कौन है? यह भी बताया। जानने का साधन, अर्थात् गुरु के पास जाकर उस विद्या का ग्रहण, यह उपाय भी बताया। उस ब्रह्म का परोक्ष रूप सारी सृष्टि को बनाने वाला और परिच्छिन्न रूप अपने हृदय में अहं रूप से स्फुरण होने वाला, इन दोनों को अलग-अलग बताकर इन की एकता बताई। इन दोनों की एकता में क्या क्या विरोध सम्भव हैं इसे बताया और फिर वह विरोध क्यों नहीं हो सकता इस प्रकार विरोध का परिहार कर इस निष्ठा को प्राप्त करने के लिये क्या क्या साधन हो सकते हैं यह सब बताया। उस अवस्था में पहुँचने पर जो अनुभव होता है उसका फल रूप से वर्णन किया जिससे साधक को पता लग जाये कि मैं वहाँ पहुँच गया। इन सबको जो बताता है उसको वेदांत-शास्त्र कहेंगे। एक विषय में एक प्रयोजन वाली सब चीजों को बता देने वाला शास्त्र है। यह ग्रन्थ शास्त्र नहीं बल्कि एक प्रकरण है क्योंकि इसमें ये सारी चीजें नहीं बताई गई हैं। 'शास्त्रैकदेशसम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम्' शास्त्र के एक-देश से सम्बन्धित अर्थात् किसी एक बात या विषय को बताने वाला, या समझाने वाला होने से यह प्रकरण ग्रन्थ है। लेकिन उस चीज को बताने में जो शास्त्र कह रहा है उससे कुछ अधिक या भिन्न भी कहे तब प्रकरण उपयोगी है। शास्त्र का एकदेश हो गया कि जीव किस प्रकार से ब्रह्म है। लेकिन इस विषय में जो भिन्न-भिन्न प्रकार की शंकाओं की सम्भावना है अथवा शंकाओं को ठीक प्रकार से अलग करके बताना इसका एक-देश और कार्यान्तर हो गया। जैसे वर्तमान काल में— आत्मा है या नहीं। ऐसे अनेक हैं जैसे हर्बर्ट स्पैन्सर, हेगेल या वर्तमान नैयायिक या कम्युनिस्ट जो आत्मा है ऐसा नहीं मानते। हेगेल के अनुयायी आत्मा के विषय में जो शंकायें करते हैं उनका जवाब ब्रह्मसूत्रों में नहीं है। जीव ब्रह्म की एकता का वर्णन करना शास्त्र का एक देश हुआ। उस आत्मा की सिद्धि में जो नये विरोध उपस्थित किये गये उनका जवाब देने वाला यदि एक ग्रन्थ लिखा जाये तो वह प्रकरण ग्रन्थ हो जायेगा।

माण्डूक्यकारिका में चार प्रकरण आयेंगे। प्रथम प्रकरण **आगम** अर्थात् परम्परा से जो चीज प्राप्त हुई। पहले प्रकरण में जीव ब्रह्म की एकता, उसका जो निर्गुण निराकार रूप है उसको परम्परा के द्वारा जैसा बताया गया है उसको कहेंगे। जीवब्रह्म की एकता शरीर आदि उपाधियों के रहते हुए नहीं हो सकती। जब तक शरीर आदि से हमारी एकता है तब तक ब्रह्म की एकता की प्रतीति नहीं हो सकती। इसलिये शरीर आदि किस प्रकार से वितथ अर्थात् तथ्यरहित हैं इसको बताने वाला दूसरा प्रकरण **वैतथ्य प्रकरण** है। उपाधि से अलग होने पर भी क्या वस्तुतः सर्वव्यापक परमात्मा और जीव की एकता सम्भव है, इसको बताने वाला तीसरा प्रकरण **अद्वैत प्रकरण** है। जब इसको जान लेते हैं तब क्या होता है? इसे बताने के लिये अंतिम प्रकरण **अलातशान्ति प्रकरण** है। मशाल जब जल चुकती है तब शांत होती है ऐसी शांति को बताने वाला अंतिम प्रकरण है। इस प्रकार चार विषयों को बताने वाले चार प्रकरण हो गये।

ये चारों प्रकरण कैसे हैं? 'वेदांतार्थसारसंग्रहभूतम्'। वेदांत शास्त्र में कई चीजें बताई जैसे अधिकारी का निरूपण, गुरूपसदन, तत्त्वमसि के द्वारा तत् पदार्थ, त्वं पदार्थ और उनकी एकता तथा विरोध-परिहार को बताया, साधन और फल सब बताये। लेकिन ये सब बताने पर भी वेदांतों का तात्पर्य वास्तव में क्या है? एक अखण्ड आत्मा का प्रतिपादन करना ही उनका प्रयोजन है। उस एक अखण्ड आत्मा के प्रयोजन के लिये ये सारे साधन हुए। इसलिये वेदांत का अर्थ हुआ एक अखण्ड आत्मा का प्रतिपादन। उस अर्थ का सार अर्थात् एक अखण्ड आत्मा जन्म इत्यादि की प्रतीति से अनेक रूप वाला प्रतीत होता है इसलिये यदि इसके जन्माभाव को बता दें तो अपने आप सारा रोग मिट जायेगा। मैंने जन्म लिया है यह जब तक बैठा हुआ है तब तक साधनों का चक्र छूटने वाला नहीं। जन्म मिला है तो शरीर मिला है, माँ बाप मिले हैं तो हम भिन्न शरीर वाले भी हैं। दूसरों के माँ बाप भी बैठे हुए हैं। लोग छोटे बड़े घरों में भेद से उत्पन्न हुए हैं। इस भेद के कारण की कल्पना अवश्य करनी पड़ेगी। उसके लिये पूर्वजन्म मानना पड़ेगा। उसके प्रति फिर और पूर्वका जन्म कारण होगा। यह कब से शुरू हुआ? अनादि काल से यह परम्परा चली आई है। वह सब कब खत्म होगा? जब तक अंतःकरण शुद्ध नहीं होगा तब तक आत्मज्ञान कहाँ हो सकता है? फ्रांस देश के एक बहुत बड़े जनरल थे। उनके पास बहुत मैडल थे। किसी ने पूछा कि आपको इतने मैडल कैसे मिल गये? उन्होंने कहा कि यह पहले वाला पहले मिल गया और फिर छोटे छोटे अपने आप जुड़ गये। जैसे हमारे यहाँ राष्ट्रपति पद पर आने पर हर विश्वविद्यालय वाले एक डाक्ट्रेट की उपाधि दे देते हैं। इसी प्रकार से मैं जन्मा हूँ, यह एक झूठ पकड़ लिया तो इस परंपरा का कहीं अन्त नहीं आना है। मैं जन्मा हूँ, इस बात को मैंने देखा नहीं, मेरी माँ ने देखा नहीं। लेकिन लोग कहते हैं तो यह तो मान ही लिया जाये कि मैं जन्मा हूँ। फिर धर्म अधर्म, पुण्य पाप भी हुए हैं। अंतःकरण शुद्ध करो, उपासना करो, न जाने कब

मुक्ति होगी। वेदांतार्थ-सार हुआ कि पहले इस बात को पूछो कि मेरा जन्म हुआ भी या नहीं? कई बार लोग पूछते हैं कि पुनर्जन्मवाद ठीक है या ईसाई मुसलमानों का एकजन्मवाद ठीक है? हम कहते हैं कि पहले यह सोचो कि यही जन्म सिद्ध है या नहीं। जब यह नहीं है तो पहले के किये हुए धर्म अधर्म भी नहीं हैं, उनके कारण हमारा अंतःकरण अशुद्ध भी नहीं है। तब यह सारा टण्टा ही मिट जाये। सार है कि तू अजन्मा है। उस विषय में शिष्य जितने उल्टे भाव या शंकायें उठा सकता है उन सबको अच्छी प्रकार से इस ग्रन्थ में समझाया जायेगा और उन्हें हटाया जायेगा। यह प्रकरणचतुष्टय का रूप हो गया और यही उसका प्रयोजन है।

प्रकरणचतुष्टय का प्रारंभ होता है। आरंभ का मतलब क्या है? पहले जिसकी कोई भी कारणरूपता न हो और फिर उसको कार्यरूप में लाया जाये उसे आरंभ कहते हैं। जैसे पहले कपड़ा नहीं है और तन्तुओं से तुमने कपड़े को बनाया तो यह आरंभ हुआ। नैयायिक सारी ही सृष्टि को आरंभ होने वाला मानते हैं। कणाद महर्षि व न्याय दर्शनसूत्रकार इसके आचार्य हैं। सांख्य और योग परिणामवाद को मानता है जैसे दूध से दही हो गया। अब प्रश्न होता है कि यहाँ आरभ्यते किस अर्थ में है? पहले जो चीज नहीं है उसको आरंभ कर रहे हैं तो इससे न्याय पक्ष आ जायेगा और यदि जो पहले है उसको ही कर रहे हैं तो फिर 'आरभ्यते' कहना नहीं बनता, 'प्रस्तूयते' कहना चाहिये था अर्थात् सांख्यवाद की दृष्टि से जो पहले उपस्थित है उसे सामने प्रकट करते हैं, ऐसा कहना चाहिये था। यही नहीं, अन्यत्र भी 'आरभ्यते' शब्द का प्रयोग किया है। किस अर्थ में यह प्रयोग किया है? पूर्व में सर्वथा क्या नहीं है? जिस शिष्य को ज्ञान दिया जा रहा है उसके अन्दर ब्रह्मविषयक ज्ञान का अभाव है। ब्रह्माश्रित ज्ञान की प्रतीति तो है परन्तु ब्रह्मविषयक ज्ञान की प्रतीति नहीं है। ब्रह्मसूत्रभाष्य में कहा 'अस्मत्प्रत्ययविषयत्वात्' ब्रह्म का अनुभव 'मैं' इस प्रतीति में होता है। मैं शब्द का उच्चारण करते ही 'मैं चेतन' का अनुभव होता है। मैं शब्द के अनुभव में हमेशा चेतनता का भान होता है। मैं शब्द कहते हुए कभी जड का भान नहीं हो सकता। अब मैं में चेतनता का भान किस रूप में होता है? आश्रय रूप में होता है। चेतन कहो, ज्ञान कहो एक ही बात है। मैं चेतन का आश्रय है और संसार या घट पट आदि चेतन का विषय हैं। ज्ञान का विषय घट और ज्ञान का आश्रय मैं। इसलिये ज्ञान ही ब्रह्म है 'सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म'। ज्ञान का आश्रय रूप से तो मनुष्य को पता है लेकिन वह ज्ञान ही विषय रूप में भी है, यह पता नहीं है। जो ब्रह्म मेरे अन्दर ज्ञाता बना हुआ है वही ब्रह्म संसार के अन्दर ज्ञेय भी बना हुआ है। यह जो ब्रह्म की ज्ञेयाकारता की दृष्टि है, इसका जीव में आरंभ किया जाता है। इसलिये 'आरभ्यते' कहा, 'प्रस्तूयते' नहीं कहा। जहाँ जीवरूपता का विचार आयेगा वहाँ तो प्रस्तूयते कह देगें लेकिन जहाँ विश्वरूपता का विचार आयेगा वहाँ आरभ्यते कहेंगे। माण्डूक्य उपनिषद् विषय रूप से ब्रह्म को सामने रखती है। अंत में जाकर 'अयमात्मा ब्रह्म' महावाक्य

आयेगा तो वहाँ आश्रय रूप से भी बतायेंगे। लेकिन पहले विषय रूप से कहा कि इस सारे जगत् का उपादान और निमित्त कारण ब्रह्म है। इसलिये 'आरभ्यते' कहा।

जैसे ही आरंभ कहा तो प्रश्न आया कि आरंभ किया जाता है तो किसी चीज का आरंभ करने के पहले चार चीजें बतानी पड़ती हैं। जहाँ प्रस्तूयते कहते हैं वहाँ ये नहीं बतानी पड़तीं क्योंकि वहाँ तो पहले कुछ है और यहाँ सर्वथा नवीन दृष्टि चली। कोई चीज प्रारंभ करने के पहले सर्वप्रथम उसका प्रयोजन बताना चाहिये कि क्यों कर रहे हैं? 'प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोपि न प्रवर्तते' मूर्ख से मूर्ख भी किसी उद्देश्य को लेकर ही प्रवृत्ति करेगा। अगर इस शास्त्र को प्रारंभ करते हैं तो पहले इस शास्त्र का प्रयोजन बताना चाहिये कि क्यों कर रहे हो? विवेकी आदमी 'ऐसे ही' कुछ नहीं करता। आजकल के लोगों का 'ऐसे ही' अर्थात् निष्प्रयोजन काम होता है। ऐस क्यों कहा? ऐसे ही। क्यों रोया? ऐसे ही? क्यों हँसा? ऐसे ही। आजकल 'ऐसे ही' एक ऐसा सूत्र निकल गया है जो मनुष्य के तमोगुण (absentmindedness) को बताता है। इसलिये शास्त्र आरंभ करने के पहले प्रयोजन बताना चाहिये।

फिर अभिधेय बताना चाहिये कि किस चीज़ को बताओगे। जिस चीज़ को बता रहे हो उसका प्रयोजन और वह चीज़ क्या है यह भी बताना चाहिये। क्योंकि यदि यह नहीं बताया कि तुम क्या बताने जा रहे हो तो अध्येता को तात्पर्यविषय समझना कठिन हो जायेगा। जैसा आजकल कई बार अनुभव होता है कि दो घण्टा व्याख्यान सुनने पर भी, किताब पढ़ने पर भी पूछो कि कहाँ से चले, कहाँ पहुँचे? तो कुछ पता नहीं। कहीं से विषय उठाया, बीच में कुछ और ही बात बोल गये और अंत में कुछ और ही बात निकल आई। ऐसे ही आजकल के ग्रन्थों का होता है कि क्या बताने जा रहे हैं इस अभिधेय का पता ही नहीं लगता। अभिधेय ग्रंथकार को या प्रवक्ता को पहले ही बता देना चाहिए, तब तो दूसरा आदमी समझेगा कि ये अमुक बात कहने जा रहे हैं, उसमें से कितनी बात हमारी समझ में आ रही है, नहीं आ रही है। तीसरी चीज़ सम्बन्ध है। अभिधेय और प्रयोजन का क्या सम्बन्ध है? जिस प्रयोजन को हमको बताना है और जिस चीज को हम बता रहे हैं दोनों का क्या सम्बन्ध है? यह बताना चाहिये।

और इस ग्रंथ या इस प्रवचन को सुनने या पढ़ने का अधिकारी कौन है? अधिकारी का ज्ञान भी बड़ा जरूरी है। क्योंकि यदि अधिकारी का पता नहीं होगा तो जो जिसका अधिकारी नहीं है वह उसमें प्रवृत्ति करेगा और गलत समझ जायेगा। प्रवचन होना है संस्कृत में और पहुँच गये वहाँ हिन्दी जानने वाले तो दो मिनट में पड़ोसी से पूछेंगे क्या कहा? न खुद सुनेंगे और न दूसरे को सुनने देंगे। जैसे यहाँ भाषा की अपेक्षा है इसी प्रकार जिस विचार को कह रहे हैं उस विचार के पूर्व जिन-जिन चीजों के ज्ञान की ज़रूरत है वह होना चाहिये। हमारे किसी भी प्राचीन दार्शनिक ग्रंथ को यदि पढ़ा जाये तो न्याय

के पदार्थ, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्व मीमांसा के पदार्थ, वेदांत के पदार्थ अर्थात् वे क्या क्या चीजें मानते हैं, इनका तो पता होना ही चाहिये। यदि किसी आस्तिक नास्तिक उभय संबंधी ग्रन्थ को पढ़ रहे हो तो सौत्रान्तिक, योगाचार, वैभाषिक, दिगम्बरी आदि का विचार भी पता होना चाहिये। आधुनिक दर्शन में सोक्रीटीस, प्लेटो, ऐरिस्टोटल से लेकर कांट, नीत्शे का ज्ञान होना चाहिये। जिसे prerequisite (पूर्वापेक्षित) कहते हैं वह ग्रन्थ में बताया हुआ होना चाहिये। आजकल तो एक ही prerequisite माना जाता है और वह यह है कि जिसके पास किताब खरीदने का पैसा है वह खरीदो और पढ़ लो। इसलिये वही अधिकारी हो गया। अधिकार को बाँचकर मनुष्य समझ लेगा कि यह मेरे लायक है या नहीं। और यदि उसके फल को चाहता होगा तो उसके अधिकार को पाने की कोशिश करेगा। किसी भी ग्रन्थ के प्रारंभ में इन चार चीजों को बताया जाता है, यह नियम है।

अब कहते हैं कि ये चार चीजें कहनी तो चाहिये थीं और आपने कही नहीं हैं क्योंकि न भगवान् गौडपादाचार्य ने इन चार चीजों को कहा है और न माण्डूक्य उपनिषद् के प्रारम्भ में इन चार चीजों को कहा गया है। फिर यहाँ इन्हें क्यों नहीं बताया? भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर कहते हैं कि इसलिये नहीं बताया 'यान्येव तु वेदांते सम्बंधाभिधेयप्रयोजनानि तान्येवेह भवितुमर्हन्ति'। यह वेदांत का प्रकरण ग्रन्थ है। वेदांत शास्त्र का जो मूल ग्रन्थ ब्रह्मसूत्र है उसके अन्दर यह सब चीजें बता दी गई हैं और जो वहाँ का सम्बन्ध, अभिधेय, प्रयोजन है वही यहाँ भी समझ लेना चाहिये क्योंकि यह उसीका प्रकरण ग्रन्थ है, उसी चीज को समझाने वाले है। इसलिये भगवान् गौडपादाचार्य ने इसका प्रतिपादन नहीं किया और माण्डूक्य उपनिषद् के अन्दर भी इसका प्रतिपादन नहीं किया गया है। 'तथापि प्रकरणव्याचिख्यासुना संक्षेपतो वक्तव्यानि'। तथापि के द्वारा बता रहे हैं कि यद्यपि वेदांत शास्त्र के अन्दर ये चीजें बता दी गई हैं इसलिये कारिकाकारों ने नहीं बताई, परन्तु प्रकरण का व्याख्यान अर्थात् स्पष्ट करने की इच्छा वाला जो मैं हूँ, वह मैं संक्षेप से इस बात को बता दूंगा। संक्षेप से इसलिये कहा कि विस्तार बहुत ज्यादा अपेक्षित नहीं है क्योंकि यह प्रकरण ग्रन्थ है जिसमें वक्तव्य बताना चाहिये। यह जरूरी क्यों है? क्योंकि यदि मूलकार और व्याख्याकार भी नहीं बतायेंगे तो पढ़ने वालों के हृदय में संदेह हो जायेगा कि क्या वस्तुतः इस ग्रन्थ को लिखने वाले को ये चार चीजें बताना इष्ट ही नहीं था? ऐसी सम्भावना आ जायेगी, इसलिये बताना जरूरी भी है। जैसे इदानीम् काल में भी होता है कि कहीं तो ग्रंथकार स्वयं ही प्रारंभ में भूमिका कर देते हैं, वहाँ भी चारों चीजें बताना भूमिका का प्रयोजन है। आजकल तो भूमिका में कुछ भी लिख देते हैं, यह बात दूसरी है। भूमि का अर्थ ज़मीन होता है। ग्रन्थ पढ़ने के लिये जो ज़मीन तैयार की जाती है उसका नाम भूमिका है। ये चार चीजें बताने से ही आगे ग्रन्थ पढ़ने की भूमिका तैयार होगी। कहीं ग्रन्थकार स्वयं भूमिका लिख देते हैं

और कहीं वह किसी दूसरे से लिखवा लेते हैं। यहाँ पर भी यद्यपि भगवान् गौडपादाचार्य ने भूमिका वाला अंश नहीं लिखा जिसमें ये चार चीजें बतानी चाहिये थीं, तथापि इस प्रकरण की व्याख्या करने वाले भाष्यकारों ने इन्हें बता दिया है। भूमिका सर्वथा न हो तो ग्रन्थ पर अश्रद्धा हो जायेगी, इसलिये संक्षेप से बता दिया है। या इससे यह भी शिक्षा मिलती है कि जो चीज मूलकार ने किसी कारण से इसलिये छोड़ दी हो कि ग्रन्थांतर से जान ली जाये, जो उस ग्रंथ को समझाने वाला है, वह उस बात को ग्रन्थांतर से लाकर वहाँ बता दे, ऐसा न कहे कि तुम दूसरी किताब में बाँच लेना।

आजकल के लोगों को लग सकता है कि इतना कहने की जरूरत नहीं है। सीधा कहो कि यह प्रकरण है, यह व्याख्यान है। इतना औचित्य सिद्ध (justification) करने की जरूरत क्या है? आजकल लोगों के पास जितना पैसा हो उतनी बड़ी किताब छाप देते हैं। हमारे यहाँ तो सिद्धान्त है कि एक मात्रा भी यदि कहीं कम की जा सके तो कर देनी चाहिये और एक मात्रा भी ज्यादा रख दी हो तो उसका हेतु बताना पड़ता है। यदि तुम एक बात को दो शब्दों में कह रहे हो और एक शब्द में कह सकते थे तो तुम्हें कारण बताना पड़ेगा कि मैंने दो शब्दों का प्रयोग किसलिये किया। यह हम लोगों के दार्शनिक सिद्धांत का आधार है। यह नहीं कि जो तुम्हारे मन में आया सो बोल दिया। कई बार लोग कहते हैं कि ऐसा क्यों? इसका कारण यह है कि जब बुद्धि को ठीक प्रकार से सोचने का साधन बनाओगे तो वह सब विषयों में ठीक प्रकार से सोचेगी। जैसे ऐसा नहीं हो सकता है कि कोई आदमी कहे कि हमको अखबार के अक्षर तो दीख जाते हैं लेकिन किताब के अक्षर नहीं दिखते क्योंकि जो आँख जितने बड़े अक्षर को पढ़ने की सामर्थ्य वाली है वह दूसरी जगह भी उतना पढ़ेगी ही। यदि कोई व्यक्ति कहता है कि इस किताब के अक्षर मुझे नहीं दीखते तो स्वाभाविक रूप से अखबार उसे नहीं देंगे क्योंकि पता है कि उसमें पढ़ने की सामर्थ्य नहीं है। इसी प्रकार जिसकी बुद्धि इतनी नियंत्रित नहीं होती है कि शब्दों का उच्चारण करते समय पहले सोचे कि इसमें कहीं पर अव्याप्ति, अतिव्याप्ति आदि कोई दोष नहीं आ रहा है, जो शब्दों में ही उस चीज़ को नहीं देख पा रहा है, वह विचार में संगतता ला पायेगा, इसका कोई भरोसा नहीं है क्योंकि बुद्धि तो एक ही है। ऐसा नहीं कि शब्द उच्चारण के समय तो उन्हें ख्याल नहीं रहता है, ज्यादा बोल जाते हैं, लेकिन विचार उनका ठीक है। कई बार लोग कहते हैं कि शब्द तो वे बोल देते हैं, भाव ठीक है। जिसके शब्द में ही खराबी है, उसके भाव का क्या विचार करें? लड़ाई झगड़े को हटाने के लिये हाँ कर देना चाहिये लेकिन बिना भाव के शब्द सम्भव नहीं। ठीक इसी प्रकार से यहाँ पर यदि सीधे ही सम्बन्धाभिधेयप्रयोजन आदि कह देंगे तो सारे संदेह प्राप्त होंगे। इसलिये 'प्रयोजनवत्साधनाभिव्यंजकत्वेनाभिधेयसम्बद्धम्' का औचित्य सिद्ध करना ज़रूरी है। नियम है कि ये चार चीजें

ग्रन्थकार अपने ग्रन्थ में ही बता दें। ये चारों ग्रन्थ का ही भाग होना चाहिये लेकिन ग्रन्थकार ने यहाँ उसे ग्रन्थ का भाग नहीं बनाया इसलिये इतनी आवश्यकता पड़ी। ऐसे ही ब्रह्मसूत्र में प्रसंग आता है। ब्रह्मसूत्र में भाष्यकारों ने मंगलाचरण नहीं किया। वहाँ भी भगवान् पद्मपादाचार्य और वाचस्पति मिश्र ने शंका उठाई कि यह व्यक्ति कोई नास्तिक लग रहा है क्योंकि किताब शुरू की लेकिन मंगलाचरण नहीं किया। यह नास्तिक का लक्षण है। फिर वहाँ बताया है कि उन्होंने मंगलाचरण किया है और किस रूप में किया है। ग्रन्थ में न दीखे तो भी उनके हृदय में मंगलाचरण था इस बात का पता कैसे लगता है? इसके लिये काफी विचार आया। इसी तरह से यहाँ इन चार चीजों को ग्रन्थकार ने नहीं कहा तो बताना पड़ेगा कि क्यों नहीं कहा? इसलिये इतना औचित्योपपादन (justification) आवश्यक हो गया।

शास्त्र वह होता है जो किसी उद्देश्य की सिद्धि करे। काकदंत परीक्षण शास्त्र नहीं है। जिससे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है वह शास्त्र नहीं है। जो हितकारी चीज को बताये वही शास्त्र होता है। जो प्रयोजन वाला शास्त्र है, वह फिर कैसा है? 'साधनाभिव्यंजकत्वेन शास्त्रम्'। मोक्षरूप प्रयोजन को जो अभिव्यक्त करे अर्थात् प्रकट करे। यहाँ जो अभिव्यंजकत्व है, ब्रह्मसूत्र में इसी को ज्ञापकत्व कहा है। यह वेदांत का बाकी सब दार्शनिकों से मतभेद है। जितने दूसरे शास्त्र या दर्शन हैं उनका कहना यह है कि शास्त्र का प्रयोजन है तुमको रास्ते लगाना। तुमको अच्छे काम में, हितकारी कार्य में प्रवृत्त करना। यही साधारण आदमी मानता है। शास्त्र शब्द का अर्थ होता है शासन करना अर्थात् गलती करने वाले को दण्ड दे और न करने वाले की प्रशंसा करे। दूसरों से अच्छा काम करवाना शास्त्र का प्रयोजन है, यह सब मानते हैं। लेकिन वेदांत ऐसा नहीं मानता। वेदांती कहता है कि शास्त्र का प्रयोजन अभिव्यंजन है, ज्ञापन है, बता देना है। शास्त्र कभी किसी को प्रवृत्त नहीं कर सकते। विचार करने से अनुभव सिद्ध भी यही है। चाहे जितना शास्त्र घुटा दो, आगे वही करेगा जो वह करना चाहता है। एक बार हम कुंभ में गये हुए थे। वहाँ पर जो मेले के मेडिकल आफिसर थे वे हमारे परिचित थे। उन्होंने सब जगह बोर्ड लगा रखा था कि हैजे से बचने के लिये खुली चीजें मत खाओ। हम एक दिन मोटर में जा रहे थे तो देखा कि वह एक चाट की दुकान पर खड़े होकर दही बड़े खा रहे थे। हमने स्वभाव से गाड़ी रोकी और कहा कि इधर चलना हो तो बैठ जाइये। फिर हमने उनसे पूछा कि आपने सब जगह नोटिस लगा रखे हैं कि खुली चीजें मत खाओ और आप खुद इस दुकान पर खुले रखे दही बड़े खा रहे हैं। उन्होंने कहा— 'वह तो मेडीकल आफिसर होने के नाते लगाने ही पड़ते है और ऐसे थोड़ा बहुत तो खाना ही पड़ता है।' क्या सारी डॉक्टरी पढ़ा करके तुम उन्हें खुली चीजें खाने से रोक सकते हो? पता तो उन्हें है, घण्टा भर प्रवचन भी दे देंगे। इसलिये कोई भी किसी से कुछ नहीं करवा सकता, तो शास्त्र कैसे करवा सकता है? इसलिये वेदांत

सिद्धान्त में शास्त्र के कारकत्व का बार-बार खण्डन किया गया। माण्डूक्य कारिका बार-बार यही कहती है।

इसके पीछे एक दूसरा रहस्य है और वह यह है कि प्राकृतिक जगत् में और आत्मिक जगत् के अन्दर मूल भेद यह है कि आत्मा स्वतंत्र है और प्रकृति परतंत्र है। जहाँ जहाँ परतंत्र होकर कोई क्रिया होती है वह प्राकृतिक क्रिया है और जहाँ जहाँ स्वतंत्र होकर कोई क्रिया होती है वह आत्मिक क्रिया है। अभी थोड़े दिन पहले कोई हमको सुना रहा था कि अमरीका के अन्दर ऐसा कोई यंत्र बना है जिससे जो चाहो वह सारी खबर देगा। जैसे मनुष्य सोचता है ऐसे ही वह यंत्र सोच लेता है। यहाँ तक कह रहे थे कि वह कविता भी लिख लेता है। आदमी वहाँ कोई नहीं है, केवल यंत्र है। हमने स्वभाव से कहा कि वह जो कविता लिखता है उसमें कोई सृजनात्मक शक्ति भी है या केवल तुकबन्दी होती है। कहने लगे— 'होती तो तुकबंदी है क्योंकि उसमें भाव लाने के लिये कोई स्वतंत्रता हो तो भाव लाये।' इसलिये आत्मिक क्रिया और प्राकृतिक क्रिया दो प्रकार की है। प्राकृतिक क्रिया मनुष्य के लिये व्यर्थ है, शास्त्र के लिये व्यर्थ है। मान लो हमने तुमसे कहा कि सवेरे चार बजे तुम नहीं उठोगे तो तुमको रोटी खाने को नहीं मिलेगी। प्रश्न होता है कि सवेरे चार बजे उठने का पुण्य तुमको होगा या उसको? दोनों को नहीं होगा। उसको इसलिये नहीं होगा कि वह रोटी खाने की कीमत हुई और तुमको इसलिये नहीं होगा कि तुम स्वतंत्र आत्मा को परतंत्र करने के लिये जबरदस्ती कर रहे हो। प्राकृतिक क्रिया के विषय में शास्त्र कुछ नहीं कर सकता। मनुष्य को भूख लगी है। उसको रोटी खानी है, इसमें शास्त्र क्या करे? वह दाल रोटी बनाकर खायेगा। अध्यात्मशास्त्र आत्मिक क्रिया की तरफ तुम्हारी प्रवृत्ति कराना चाहता है और प्राकृतिक क्रियाओं से तुम्हें छुड़ाना चाहता है। इसलिये आदर्श तो यह है कि जीवन का एक क्षण का कार्य भी प्राकृतिक न रह जाये। जो करो वह पूर्ण स्वतंत्र होकर करो। तुम्हारी परतंत्रता बढ़ाकर स्वतंत्रता हो नहीं जायेगी। अन्य शास्त्र वाले कहते हैं 'परतंत्र बनाते बनाते एक दिन जादूमंतर छू करते ही तुम स्वतंत्र हो जाओगे। तुम लोग सब बड़े बेनियम वाले हो गये हो। हम तुम लोगों को नियम वाला बनायेंगे और जादू मंतर छू, तुम सब नियमातीत हो जाओगे। तुमको स्वतंत्रता दे दी जायेगी।' कारक शास्त्र इस जादूमंतर में विश्वास करता है क्योंकि सब मानते हैं कि जबरदस्ती ठीक रखते रखते तुम ठीक हो जाओगे। वेदांत शास्त्र इस बात को कभी नहीं मानता। वह कहता है कि परतंत्रता बढ़ाते बढ़ाते तो तुम और अधिक अधिकतर परतंत्र बनते जाओगे। स्वतंत्रता कहाँ से आयेगी? जितनी परतंत्रता तुम्हारे जिम्मे है वह तो है ही। सोचना है कि उसको कम कैसे किया जाये यह नहीं कि उसे बढ़ाया कैसे जाये। कारकत्व और ज्ञापकत्व के विषय में वेदांत शास्त्र का सबसे मतभेद पड़ता है क्योंकि वेदांत शास्त्र को ज्ञापक मानता है कारक नहीं। बताना मात्र हमारा कर्तव्य, आगे कुछ नहीं, यह हो गई व्यावहारिक दृष्टि।

वेदांती की एक कठिनाई है जो साम्प्रदायिक कठिनाई मानी जा सकती है। साम्प्रदायिक दृष्टि से कठिनाई यह है कि वेदांत सम्प्रदाय यह मानता है कि जीव को उसकी ब्रह्मस्वरूपता बताने से उसका जो ज्ञान होता है वह स्वयं ही फलरूप है। मैं ब्रह्म हूँ यह जानकर आगे कुछ करना पड़ता है, ऐसा कुछ नहीं है। यह ज्ञान स्वयं फलरूप है। यदि शास्त्र को कारक मान लोगे तो तत्त्वमसि आदि के उपदेश के बाद कुछ और कर्त्तव्य बताना पड़ेगा कि पहले यह ज्ञान कर लो, फिर यह करना। कर्त्तव्य का उपदेश आ जायेगा और वेदांत शास्त्र साम्प्रदायिक दृष्टि से यह स्वीकार करता है कि इस ज्ञान के बाद फिर कोई कर्त्तव्य नहीं रह जाता। उपनिषद् बार बार यही बात कहती है। गीता में भगवान् ने भी कहा 'यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः। आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते।।' (३-१७) आत्मज्ञान के बाद क्या? यदि आत्मज्ञान के बाद किसी कार्य को बताते हैं तो उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र से विरोध हो जाता है और उन्हें हम प्रामाणिक ग्रन्थ मानते हैं। और यदि हम मान लेते कि शास्त्र का काम है तुमको रास्ते लगाना तो तुम्हारी ब्रह्मरूपता बताने वाला शास्त्र बेकार है क्योंकि वह रास्ते नहीं लगाता वह तो केवल ज्ञापन मात्र करता है कि तुम ब्रह्मस्वरूप हो। यह जो गीता ब्रह्मसूत्र आदि का आत्मज्ञान के बाद क्रिया की निवृत्ति का वचन है वह मर्यादा कारक मान लेने पर भंग हो जाती है। यह उसका दूसरा कारण हो गया। इसलिये कह दिया कि साधन का अभिव्यंजक है अर्थात् प्रकट करने वाला, ज्ञापन करने वाला है।

'अभिधेयसम्बद्धं शास्त्रम्' मोक्ष का साधन हो गया ब्रह्म और आत्मा की एकता का ज्ञान, उस ज्ञान को उत्पन्न करने वाला, बताने वाला शास्त्र हो गया। ब्रह्म के ज्ञान को उत्पन्न करने वाला शास्त्र, यह सम्बन्ध है। ब्रह्म को शास्त्र नहीं बता सकता इसलिये ब्रह्म के साथ शास्त्र का सम्बन्ध नहीं है, लेकिन ब्रह्मज्ञान को उत्पन्न करता है, इसलिये ब्रह्मज्ञान के द्वारा ब्रह्म के साथ शास्त्र का सम्बन्ध हुआ। यदि ब्रह्म के साथ शास्त्र का सम्बन्ध हो जाये तो फिर ब्रह्म वाणी का विषय हो जायेगा, वाणी-सम्बन्धित हो जायेगा और ब्रह्म वाणी से अतीत है। इसमें भी आयेगा 'अव्यपदेश्यं एकात्मप्रत्ययसारं' ब्रह्म वाणी का अविषय है 'मनोवाचामगोचरः'। यदि शास्त्र ब्रह्म को बताने वाला होता तो शास्त्र-ब्रह्म का सम्बन्ध हो जाने से ब्रह्म वाणी का विषय हो जाता और जो वाणी का विषय होता है, वह झूठ होता है। जैसे अन्य इन्द्रियों का विषय होने वाला पदार्थ मिथ्या, वैसे ही वाणी का विषय भी मिथ्या होगा, ये सब दोष आ जायेंगे। इसलिये ब्रह्म के साथ केवल ब्रह्मज्ञान का सम्बन्ध है और ब्रह्मज्ञान के साथ शास्त्र का सम्बन्ध है। शास्त्र से ब्रह्मविषयक ज्ञान उत्पन्न होगा। ब्रह्म को शास्त्र नहीं बतायेंगे। ब्रह्म को तो ब्रह्माकार वृत्ति ही बतायेगी। दूसरी जगह भाष्यकारों ने इसी बात में दृष्टान्त दिया कि विवाह करने का कार्य तो लड़का करता है। बाकी जो अनुष्ठान आदि होता है वह तो पण्डित कर सकता है। तुमने पण्डित को मौलि बांध दी कि महारुद्र कर देना तो वह कर देगा, तुमने

कहा चण्डी यज्ञ कर देना तो वह कर देगा, महामृत्युंजय कहा तो वह कर देगा। बाकी सब काम तो पंडित जी यज्ञ से सम्पादित कर देंगे लेकिन अगर किसी को मौलि बांध दी कि लड़की का ब्याह कर देना तो वह नहीं कर सकता। वह तो लड़का करेगा। मंत्र या आहुति नहीं करेंगे। लड़के और लड़की का सम्बन्ध कराने में यज्ञ यागादि उपाय हैं। होम, सप्तपदी या अश्मारोहण आदि ने केवल यह किया कि लड़के और लड़की को विवाहित होकर जो कर्म करना चाहिये उसका अधिकारी बना दिया। आगे विवाह तो लड़का लड़की अन्दर जाकर अकेले ही कर रहे हैं। ऐसे ही शास्त्र गुरु आदि तैयारी इस बात की करा देते हैं कि तुम्हारी वृत्ति ब्रह्म को विषय कर सके। विषय तुमको करना है, और कोई नहीं कर सकता है। विषय ब्रह्म को होना है। वह न शास्त्र और न गुरु करा सकता है। उसके पहले की साधना केवल इस बात की है कि तुम उसको विषय करने के लिये तैयार हो सको। यहाँ अभिधेय के साथ उसका सम्बन्ध साक्षात् न होकर ब्रह्मज्ञान के द्वारा है। उस ज्ञान को उत्पन्न करने वाला होने से विषयसम्बन्ध सिद्ध हो गया। ब्रह्मविषयक विचार में प्रवृत्ति शास्त्र करा देता है। यदि शास्त्र न होता तो हम दुनिया भर में टक्कर मारते रहते इस बात को जानने के लिये कि इस सारी सृष्टि का कर्ता ब्रह्म कैसे है? शास्त्र ने केवल तुमको एक ऐसी बात बता दी जो तुमको पता नहीं लग सकती थी। वह यह है कि सारी सृष्टि को उत्पन्न करने वाला ब्रह्म ही तुम्हारे हृदय में बैठा है। इसलिये दुनिया भर के चक्कर को छोड़कर तुम मैं के विवेचन में लग गये और तुमको ब्रह्मप्राप्ति हो गई। शास्त्र का प्रयोजन इतना ही है कि और जगह ढूँढ़ने को छोड़कर ठीक जगह बता दे। आगे का काम तुम्हारे करने का हो गया। इसलिये कह दिया कि यह परम्परा से कारण हो गया। अर्थात् मोक्षरूपी ब्रह्म का प्राकट्य ब्रह्मज्ञान से और उस ब्रह्मज्ञान की सम्भावना शास्त्र के द्वारा हुई। 'पारम्पर्येण विशिष्टसम्बन्धाभिधेयप्रयोजनवद्भवति।'

'किं पुनः तत्प्रयोजनम् इति उच्यते' यहाँ तक प्रयोजन का नाम नहीं लिया था, इसलिये कोई प्रश्न उठाता है कि वह प्रयोजन क्या है? प्रायः कुछ करके जो पैदा होता है उसे प्रयोजन कहते हैं। योजन शब्द का मतलब ही होता है जोड़ना। कोई चीज कहीं हो और कोई चीज कहीं और हो, दोनों को मिलाओ तो वह प्रयोजन हो गया। जैसे स्वर्ग स्वर्गलोक में है और हम मृत्युलोक में हैं। अब हमने अग्निहोत्र का काम किया तो हमारा और स्वर्ग लोक का सम्बन्ध हो गया। हम स्वर्ग पहुँच गये। इसलिये यह प्रयोजन होता है। जितने प्रयोजन होते हैं उन सबमें दो चीजों का जुड़ना होता है। भोजन थाली या बटलोई में पड़ा हुआ है वह हमारे पेट में पहुँच गया, यह खाने का प्रयोजन हो गया। नहीं तो भोजन बाहर पड़ा हुआ हमारी भूख नहीं मिटा रहा था, खाने से प्रयोजन हुआ तो भूख मिटी अर्थात् खाना बाहर से अन्दर पहुँच गया। क्या ब्रह्म भी ऐसा कुछ है कि जिसके साथ हम मिल जायेंगे या आत्मा और ब्रह्म मिल जायेंगे तो मोक्ष हो जायेगा? पूछने वाले का तात्पर्य यह है कि जैसे अन्य प्रयोजन सिद्ध होते हैं वैसे ही यह भी सिद्ध

होता होगा। उसकी अभिसंधि क्या है? प्रश्नकर्ता के पेट में कौन सा पाप पड़ा हुआ है। यदि तुमने कहा 'हाँ आत्मा ब्रह्म एक हो जायेंगे' तो वह कहेगा कि जो चीज पैदा होती है वह नष्ट होती है 'यज्जातं तद् अनित्यम्' यदि आत्मा ब्रह्म एक हुए तो किसी दिन अलग भी होंगे। वह यह पूछना चाहता है कि क्या प्रयोजन अनित्य है या नित्य है। यदि प्रयोजन है तो अनित्य है और यदि नित्य है तो प्रयोजन नहीं है। मोटी भाषा में यदि तुम पहले ही मुक्त हो तो शास्त्र पढ़ना बेकार है और यदि मुक्ति तुमको मिलेगी तो अनित्य है, क्योंकि जो चीज मिलती है वह हाथ से निकल जाती है। यह पूछने वाले का तात्पर्य है।

यह शंका होने पर भाष्यकार जवाब देते हैं 'रोगार्तस्येव रोगनिवृत्तौ स्वस्थता तथा दुःखात्मकस्यात्मनो द्वैतप्रपंचोपशमे स्वस्थता' मोक्ष स्वरूपभूत ही होने के कारण अप्राप्त नहीं है लेकिन निरर्थक भी नहीं है क्योंकि अप्राप्त न होने पर भी अप्राप्त जैसा प्रतीत हो रहा है। उस अप्राप्तता की निवृत्तिमात्र कर देनी है। इसी बात को दृष्टांत से समझा देते हैं। प्रतिबंधक को हटानामात्र शास्त्र का तात्पर्य है। मान लो देवदत्त को कोई रोग हो गया, घुटने में दर्द हो गया। इस रोग के कारण उसमें अस्वस्थता आ गई। रोग आने के पहले वह स्वस्थ ही था। रोग आने पर अस्वस्थ हो गया, यहाँ स्वरूप से उसकी प्रच्युति हो गई। ऐसा लगता है कि उसका स्वास्थ्य चला गया। अब उसको दवाई दे दी। दवाई देने से रोग निवृत्ति हो गया। रोग निवृत्त होने पर उसे क्या मिला? तुम कहते हो स्वस्थता मिली। स्वस्थ तो वह पहले ही था। रोग के कारण उसका स्वास्थ्य ढक गया था। रोग निवृत्त होने से वह स्वास्थ्य पुनः प्रकट हो गया। रोग के द्वारा जो प्रतिबद्ध था वह रोग निवृत्त होने से प्रकट हो गया। यह नहीं कह सकते हो कि पहले ही स्वस्थ था तो औषधि की क्या जरूरत है, क्योंकि औषधि के द्वारा रुकावट दूर हो गई और उसके बाद उसका स्वास्थ्य प्रकट हो गया। या दूसरा दृष्टांत ज्यादा सरल है। एक सज्जन दिल्ली में हैं। उनकी आदत है कि जब किताब पढ़ते हैं तो उन्हें चश्मा चाहिये नहीं तो नहीं चाहिये। प्रायः हम चश्मा खोलकर रख देते हैं लेकिन वे जब किसी से बात करते हैं तो अपना चश्मा सिर पर लगा देते हैं। एक बार ऐसा कर दिया, बहुद देर तक बातचीत करते रहे। जब वह व्यक्ति चला गया तो पूछने लगे 'मेरा चश्मा कहाँ है?' सबके ऊपर बक बक करने लगे 'तुम लोग हमारे चश्मे को छेड़े बिना नहीं रह सकते।' तब तक उनकी लड़की पढ़कर आई, देखा बड़ा हल्ला मच रहा है। पूछा 'क्या बात है?' उसके पिता जी ने बताया 'नौकरों ने मेरा चश्मा कहीं गुम कर दिया है।' वह कहने लगी— 'पापा आपके सिर पर है।' कहने लगे— 'अरे यह यहीं रखा था।' घर वालों को तो डाँटा लेकिन अपना चेहरा कहाँ देखा? लड़की ने चश्मा लाकर नहीं दिया लेकिन ध्यान दूसरी तरफ जाने की वजह से चश्मा जो अप्राप्त हो गया था, वह प्राप्त हो गया। इसी प्रकार से आत्मा नित्यमुक्त स्वरूप है। लेकिन प्रकृति से उत्पन्न बन्धन के पदार्थों की तरफ बुद्धवृत्ति होने से अपनी मुक्तता अपने को ही नहीं दीख रही है। बद्ध चीजों को देखते

देखते मानते हैं कि ये सब बद्ध हैं तो मैं जरूर बद्ध होऊंगा। शास्त्र जब अपनी तरफ देखने को कहता है तो पता लगता है कि एक मैं ही मुक्त हूँ। बाकी सब बद्ध हैं, बाकी सब जीव नहीं, अर्थात् बाकी सब प्रकृति के बनाये हुए पदार्थ हैं, वे सारे परतंत्र हैं।

इसी प्रकार से 'आत्मनः द्वैतप्रपंचोपशमे स्वस्थता' अर्थात् आत्मा नित्यमुक्त स्वभाव है लेकिन दुःखरूप जो अंतःकरण है उसके साथ इसने सम्बन्ध करके अपने को दुःखी मान रखा है। मन के दुःखी होने से सोचता है कि मैं दुःखी, वास्तव में दुःखी हुआ नहीं है। बिना हुए ही मन के दुःखी होने से अपने को दुःखी मान लेता है। सारे दुःखों को हटाने वाली चीज जो आत्मा है वही अपने को दुःखी समझ रहा है। सारे दुःखों को हटाने की ताकत उसी में हैं। ऐसा भी हो जाता है। जैसे सब चीजों को शुद्ध करने वाली चीज अग्नि है। कोई बर्तन किसी ने छुआ है, अथवा उसमें किसी ने खाया है जूठा किया है तो उसमें अंगारा डाल देने से वह शुद्ध हो जाता है। फिर भी लोगों को बहम है कि श्मशान की अग्नि अपवित्र होती है। यह नहीं समझते कि वहाँ जो अंत्येष्टि कर्म के अन्दर अग्नि में मनुष्य के शरीर की आहुति दे रहे हैं वह शरीर को पवित्र बनाने वाला यज्ञ है। लेकिन उस मुर्दे के कारण प्रतीति होती है कि अग्नि अशुद्ध है। इसी प्रकार यहाँ हो रहा है। सब चीजों को दुःख से हटाने वाली चीज जो आत्मा है, वह मन के सम्बन्ध से दुःख वाला प्रतीत हो रहा है। इसीलिये हम लोगों को मंत्र तो सिखा देते हैं। फिर भी लोग भूल जाते हैं। किसी भी अवस्था में गये हुए हो 'अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोपि वा। यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यंतरः शुचिः।।' पवित्र अपवित्र किसी भी अवस्था में गये हुए हो जो पुण्डरीकाक्ष का स्मरण करता है वह बाहर और अन्दर से शुद्ध हो जाता है। पुण्डरीक कमल को कहते हैं। जैसे कमल पर जल कभी नहीं टिकता, वैसे ही हमारी बुद्धिरूपी अक्ष अर्थात् दिव्य ज्ञान रूपी नेत्र के ऊपर कभी भी कोई चीज नहीं टिकती। यह जो आत्मा की असंगता है, वह अपनी असंगता है। जहाँ यह स्मरण किया कि मैं साक्षी असंग हूँ वहाँ वह बाहर और अंदर दोनों तरफ शुद्ध हो जाता है। लेकिन इस मंत्र का प्रयोग करते समय पानी चाहते हो। यदि पानी से ही साफ होना था तो इसकी क्या जरूरत थी? 'मैं असंग आत्मा हूँ' इस बात का विचार करते ही शरीर आदि अपने आप शुद्ध हो गये और काम, क्रोध आदि जो अंदर की अशुद्धियाँ हैं, विचार करो कि वे मेरी नहीं हैं। मनुष्य शुद्ध हो गया। इस असंगता का स्मरण करना है। आत्मा है तो नित्यमुक्तस्वरूप लेकिन अंतःकरण आदि के धर्मों से अपने को दुःख वाला मान रहा है। 'द्वैतप्रपंचोपशमे' जैसे ही द्वैतप्रपंच का अनात्मरूप अशुद्धि का शमन किया अर्थात् यह भिन्न है, इस द्वितीय बुद्धि को छोड़कर उसमें आत्मदृष्टि की, आत्मरूप से ग्रहण कर लिया, वह शुद्ध हो गया। प्रपञ्चोपशम हो गया। फिर जो स्वस्थता अप्रकट थी, वह प्रकट हो गई। इसलिये कहते हैं 'अद्वैतभावः प्रयोजनम्' किसी नई चीज की प्राप्ति इस शास्त्र का प्रयोजन नहीं है। जिस द्वैतभाव के कारण तुम सुखी दुःखी हो उस द्वैतभावरूप

प्रतिबंधक को हटाना है, यही अद्वैतभाव है। द्वैत पकड़े बैठे हो, उसी को बताना है कि नहीं है यही इस शास्त्र का प्रयोजन है।

अद्वैतभाव ही प्रकरणचतुष्टय का और शास्त्र का प्रयोजन है। यहाँ जो चार प्रकरण आयेंगे इनका और ब्रह्मसूत्रों का, दोनों का प्रयोजन अद्वैतभाव ही है। किसी चीज की प्राप्ति नहीं वरन् मिथ्या ज्ञान से जो द्वैत की प्रतीति है उसकी निवृत्ति होनी है। भ्रान्त ज्ञान की निवृत्तिमात्र ही प्रयोजन है। इसके सिवाय यदि कोई और लक्षण करोगे तो कभी भी मोक्ष नित्य नहीं हो सकता। द्वैत किंमूलक होता है? द्वैत अहंमूलक होता है। जहाँ मैं आया वहाँ मेरा आया, और जहाँ मेरा आया वहाँ पर दो हो गये, एक मैं और एक मेरा। लोक में द्वैत का रूप है मैं और मेरे से जो तीसरा हो। जैसे कहते हैं 'द्वैतभाव मत करो, अपने लड़के की तरह अपने भतीजे को समझो।' किन्तु वस्तुतः अपना लड़का, बस वहीं द्वैत आ गया।

यह इसलिये कहते हैं कि इस बात को जब तक नहीं समझोगे तब तक द्वैतभाव की निवृत्ति नहीं होगी, कभी भी एकता का बोध नहीं होगा। जैसे ईसाई कहते हैं Love thy neighbour as thyself अपने पड़ोसी से वैसे प्रेम करो जैसे स्वयं से क़रते हो। लेकिन पड़ोसी है तो वह तुम स्वयं कैसे हो सकता है? पड़ोसी पड़ोसी रहेगा, हम हम रहेंगे। जब तक दोनों हैं तब तक जितना तुम अद्वैत व्यवहार करोगे वह दाँत भींचकर करोगे। क्या कारण है कि जैसे ही समाज और अर्थ की दृष्टि में भाइयों के साथ रहना निष्फल दीखने लगा वैसे ही भाई अलग हो गये? प्रायः हम लोग गालियाँ देते रहते हैं। यह हम लोगों की बड़ी कमजोरी है। जैसे— प्राचीनकाल में किसी विषय पर विचार कर तत्त्वनिर्णय करते थे और तत्त्वनिर्णय करके तदनुकूल ही आगे फिर व्यवहार होता था वैसा अब नहीं रह गया। ईसाई लोगों में कोई बात होती है तो उनकी कान्फ्रेन्स होती है। सारे संसार से पादरी आते हैं, बैठकर विचार करते हैं। अब तो यहाँ तक हो गया है कि कैथोलिक्स और प्रोटेस्टैण्ट्स एक होकर बैठकर विचार करने लग गये हैं जो आज से बीस साल पहले एक दूसरे से भयंकर विरोध करते थे। हो सकता है कि कुछ वर्षों में आर्थोडाक्स चर्च भी मिलकर विचार करने लगे। इसका मतलब यह नहीं कि वे सब सभी विषयों में एकमत हो जाते हैं, लेकिन बैठकर विचार करते हैं। एक दूसरे के विचारों का आदान प्रदान करते हैं। किसी चीज के नतीजे पर पहुँचते हैं। अपनी कमजोरी ही यह है कि हम नतीजे पर पहुँचते नहीं। यद्यपि प्राचीन शास्त्रों में आता है कि किसी विषय पर बार बार शास्त्रार्थ किया जाता था। हम लोगों ने बौद्धों से, जैनों से, चार्वाकों से विचार किया। लेकिन इदानीं काल में वह परम्परा बिल्कुल नहीं रह गई है। इसका नतीजा क्या होता है? एक मान्यता वाले जो पुरानी मान्यता मानते रहे हैं, अपनी वही बात कहते रहेंगे। जो अपने को नया मानते हैं वे अपनी बात कहते रहेंगे। बैठकर तत्त्वनिर्णय में प्रवृत्ति नहीं होती, और बड़ी विचित्र बात देखने में आती है कि हर आदमी अपने भाई

से अलग होता है और आगे जब अपने लड़के अलग होने लगते हैं तो कहता है कि जमाना बिगड़ गया। इनको इतना समझाया, फिर भी ये अलग हो रहे हैं। कारण क्या है? कभी भी बैठकर यह विचार नहीं किया कि अलग होना ठीक है या नहीं। क्यों भाई भाई अलग होते हैं, क्यों पहले साथ रहते थे? जब तक अर्थदृष्टि से और सामाजिक दृष्टि से इकट्ठे रहने से इज्जत होती थी कि इनके घर में चालीस आदमी हैं, डरकर रहना चाहिये, पंचायत में बैठेंगे तो इनके साथ चालीस आदमी हैं, सामाजिक मान्यता मिल जाती थी तब तक साथ रहते थे। आर्थिक दृष्टि से भी अधिकतर जो कार्य था वह कृषि का था या छोटे छोटे उद्योग थे। घर में चार आदमी होंगे तो मिलकर काम कर सकेंगे। अलग-अलग हो जायेंगे तो नहीं कर सकेंगे। इसलिये साथ रहते थे। अब आर्थिक और सामाजिक दोनों दृष्टियों से साथ रहना लाभकारी नहीं रह गया तो वे अलग अलग हो गये। जब तक किसी भी चीज में तुम यह मानोगे कि यह मैं हूँ और यह मेरा है बस उस मेरेपने में ही द्वैत छिपा हुआ है। तुम्हारेपने तक जाने की जरूरत नहीं है। यदि भाई के अन्दर भी यह मेरा भाई है, यह भाव है तो फिर अलग होना ही है। द्वैत का मूल मेरा और तुम्हारापना नहीं बल्कि मैं और मेरापना है, मैं और मुझसे सम्बन्ध वाला है।

मुझसे सम्बन्ध वाला कब न हो? या वह चीज न हो और या मेरे से भिन्न न हो। वह चीज ही नहीं हो तो हमारे में द्वैतापादन नहीं कर सकती है। जैसे मैं अपने बाप का एक ही लड़का हूँ, मेरा भाई है ही नहीं तो पुत्र रूप से मेरा अद्वैत हो गया, क्योंकि दूसरा है ही नहीं। प्रायः यह होता है कि जिसमें जो चीज नहीं होती है वह उसे अद्वितीयता का गुण मान लेता है। कहते हैं कि यदि मेरा भाई होता तो मैं कभी न लड़ता। चाचा से क्यों लड़ता है? चाचा तो दूसरा है। भाई है ही नहीं तो लड़ेगा किससे? पदार्थ न हो तो एक अद्वितीयता। योग और बौद्ध दर्शन दोनों ही इसपर जोर देते हैं। द्वितीय पदार्थ नहीं रहेगा तब अद्वितीयता है। बौद्ध उसको प्रत्यय संतति के अभाव रूप में देखते हैं। ज्ञान का प्रवेश होता है तो प्रत्यय संतति का निर्वाण हो जाता है। बस उस स्थिति में कोई द्वितीय नहीं है। इसे अभावाद्वैत कहते हैं। पदार्थ नहीं है इसलिये अद्वितीयता है। योगी भावाद्वैती है। वह कहता है कि प्रकृति रूप से पदार्थ हैं तो सही लेकिन समाधि में मैंने अपने आपको उन पदार्थों से सर्वथा छुड़ा लिया। सत्त्वपुरुष-अन्यता-ख्याति हो गई। अंतःकरण से मैंने अपने को साक्षी रूप से अलग कर लिया। जब मैंने अलग कर लिया तो चाहे जितना संसार पड़ा रहे, मेरे साथ सद्वितीयता नहीं। इसलिये पदार्थ नहीं हैं, यह मानकर बौद्ध ने अद्वैत स्वीकार किया और मेरे लिये नहीं हैं, यह मानकर योगी ने अद्वैत स्वीकार किया। यह थोड़ा सा फर्क है। वहाँ पदार्थ नहीं है और यहाँ पदार्थ होने पर भी मेरे लिये नहीं है क्योंकि मैं साक्षी हो गया। 'तदा द्रष्टुः स्वरूपे अवस्थानम्' तदा अर्थात् समाधिकाल में द्रष्टा-स्वरूप से हम स्थित हो गये।

वेदांती इन दोनों से भिन्न है। वह पूर्णाद्वैतवादी है। वह कहता है कि पदार्थों का अभाव भी नहीं है और मैं पदार्थों से अलग भी नहीं हूँ। लेकिन सारे पदार्थों के रूप में

बनने वाला मैं हूँ। इसलिये मेरे से अद्वैत है। जैसे सोने से बनने वाले सारे गहने सोने से अभिन्न हैं ऐसे ही संसार के सब पदार्थ हैं और चूँकि 'है' मेरा रूप है इसलिये मेरे से अभिन्न हैं। घड़ा, कपड़ा, लड्डू पेड़ा, ये तो दूसरी दूसरी चीजें हईं, लेकिन 'है' जो तद्रूप हुआ वह है मैं हूँ। सच्चिदानंदरूप होने से जहाँ जहाँ सत्पना है वहाँ वहाँ मैं हूँ। इसीलिये भाष्यकारों ने लिखा है 'भाववृत्या हि भावत्वं शून्यवृत्या हि शून्यता। पूर्णवृत्त्या हि पूर्णत्वं तस्मात् पूर्णत्वमभ्यसेत्।।' शून्य अर्थात् अभाव; भाव से अद्वैत और अभाव से भी अद्वैत हुआ लेकिन वास्तविक अद्वैत वेदांत का पूर्ण अद्वैत। 'पूर्णवृत्या हि पूर्णता' कण कण और क्षण क्षण में चूँकि मेरे सिवाय और कुछ है ही नहीं इसलिये अद्वैत है।

इसलिये द्वैत का कारण अहंकार हुआ। जहाँ मैं आया वहाँ मेरापना आया, द्वैत खड़ा हो गया। अहंकार क्यों आता है? अपनी पूर्णता को न जानने के कारण किसी अपूर्ण पदार्थ को अपना स्वरूप मानना ही अहंकार का कारण है। अहं और अहंकार का भेद याद रखना। अहं तो ब्रह्म है 'अहं ब्रह्म अस्मि' लेकिन अहंकार अंतःकरण की वृत्ति है। जहाँ अहं को हम किसी परिच्छिन्न भाव (limited adjunct) में ले आते हैं, वहाँ वह अहं न रहकर अहंकार हो जाता है। जो चीज की जाती है उसको 'कार' शब्द से कहते हैं। 'अहं करोति इति अहंकारः' जो नित्य अहं है वह ब्रह्मस्वरूप है, उसको कोई बनाता नहीं है, इसलिये वह गहरी नींद में भी रहता है। गहरी नींद से उठकर जब मनुष्य कहता है कि मैं वहाँ आनंद में था, मैंने कुछ नहीं जाना तो वहाँ पर भी तो एक अहं (मैं) था, एक अहं यहाँ भी है जो जाग्रत् काल में व्यवहार कर रहा है। वहाँ के अहं में क्या किसी परिच्छिन्नता का बोध था? क्या वहाँ लग रहा था कि हम किसी शरीर में बँधे हुए हैं। अमुक जगह नहीं पहुँच पा रहे हैं? क्या किसी प्रकार की परिच्छिन्नता (limitation) का, किसी प्रकार के बंधन का, किसी प्रकार की रुकावट का वहाँ ज्ञान हो रहा था? इसलिये वह स्वाभाविक अहं था, वही ब्रह्म रूप है। जाग्रत् के अन्दर अहं का अभिमान होता है, अहंकार के द्वारा उसमें निरंतर बंधन की प्रतीति होती है कि साढ़े तीन हाथ के शरीर में बंधे हुए हैं। देश के कर्त्तव्यों में जाति के कर्त्तव्यों में, गृहस्थी के कर्त्तव्यों में, न जाने कितनी चीजों से बंधे हुए हैं, कोई ठिकाना है!

अहं बद्ध किया जाता है। जैसे ही कारण निवृत्त हो जाता है वैसे ही झट अहंकार कार्य होने से निवृत्त हो जाता है। सन् ४६ में हम लोगों का दृढ अभिमान था, अहंकार था कि अफगानिस्तान, रूस और ईरान की सीमाओं में हमारी फौजें मजबूत होनी चाहिये, उधर से किसी प्रकार का आक्रमण न हो जाये। १६ अगस्त सन् ४७ को बिना कुछ किये हुए ही वह अहंकार निवृत्त हो गया। अब रावी के किनारे राजस्थान और सिंध की सीमा पर हमारी फौज दृढ होनी चाहिये। कारण क्या है? तद्देश के अभिमान की निवृत्ति हो गई, वह हमारा देश है, यह अभिमान निवृत्त हो गया। जिनके मन से निवृत्त न हो सके— आज भी बहुत से ऐसे लोग हैं, उनके मन से यह अभिमान नहीं जाता है, कहते

हैं कि है तो वह भारत ही— वे आज भी सोचते हैं कि वहाँ अमुक चीज बुरी होती है, अमुक नहीं होती है। लेकिन अधिकतर लोगों का अभिमान निवृत्त हो गया। अब यदि कोई आकर कहे कि लाहौर की सड़कें बड़ी गंदी हैं तो रुपये में पंद्रह आने खुश होंगे, 'ले लिया न पाकिस्तान, भुगतने दो।' बीस साल पहले तुम ही भुगतने वाले थे, अब नहीं रहे। किसी कारण से हमारा अहंकार पैदा होता है और कारण निवृत्त होने पर कार्य निवृत्त हो जाता है। पचास साल पहले ब्राह्मण का अहंकार था कि वेद पढ़ाना चाहिये। मैं ब्राह्मण हूँ, यदि वेद नहीं पढ़ूँगा तो ब्राह्मणत्व कैसे रक्षित रहेगा? आज ब्राह्मण गायत्री भी नहीं करता है। क्या कारण है? मैं ब्राह्मण हूँ, यह अहंकार निवृत्त हो गया। जैसे ही अहंकार का कारण निवृत्त होता है वैसे ही अहंकार रूप कार्य स्वयं निवृत्त हो जाता है। जितना उपाधि (limited adjunct) को लेकर हम मानेंगे, जैसे ही वह उपाधि गयी वह प्रतिबंधक, तुम्हारा वह परिच्छिन्नभाव गया, वैसे ही अपरिच्छिन्न भाव स्वयं प्रकट हो जाता है। यह इसलिये समझना जरूरी है कि कई बार आदमी सोचता है कि परिच्छिन्न भाव हटेगा और अपरिच्छिन्न भाव आयेगा। अपरिच्छिन्न भाव को लाना नहीं पड़ता। घड़े को फोड़ने पर घटाकाश को महाकाश के साथ एक करना नहीं पड़ता। ऐसे ही जिस जिस चीज से परिच्छिन्न-भाव की निवृत्त होती जायेगी, वैसे-वैसे अपरिच्छिन्नता स्वतः प्रकट होती जायेगी। इसलिये स्वाभाविक रूप से अहंकार का कारण हुआ किसी न किसी परिच्छिन्न भाव को पकड़ लेना।

यह जो परिच्छिन्न भाव को पकड़ना है और परिच्छिन्न भाव है बस इसी को पारिभाषिक भाषा में अविद्या कहते हैं। बहुत से लोग अविद्या या अज्ञान का जो मतलब अपने मन से लगाते हैं, वह नहीं होता है। 'अहमेव परब्रह्मेत्यस्यार्थस्याप्रबुद्धता अविद्येति वयं ब्रूमः येह नास्ति सदात्मनि' मैं ही परब्रह्म हूँ इस बात का ज्ञान न होना, 'मैं' इसके विषय में प्रबोध न होने का नाम ही अविद्या है। वेदांत शास्त्र में अज्ञान, माया आदि कोई चीज नहीं हैं कि जिसके कारण हम बँधे हुए हों, जो यह संसार फैलाती हो। बहुत से लोग ऐसा कह देते हैं, क्योंकि सांख्य की प्रकृति और वेदांत की माया को मिलाकर गड़बड़ करते हैं। आगे विस्तार से इसका विचार आना है। लेकिन यह लक्षण याद नहीं रखोगे तो आगे का सारा विचार गड़बड़ हो जायेगा। वेदांत में संसार को बनाने वाले तुम चेतन हो। माया आदि कोई संसार को नहीं फैलाती है। चेतन अपने आपको परिच्छिन्न करता है तथा परिच्छिन्न हुआ वह आगे सब चीजों की उत्पत्ति का कारण बनता चला जाता है। मैं भारतीय हूँ, यह अहंकार तुमने किया तो कभी मौलाना भसानी से द्वेष उत्पन्न होगा, कभी भुट्टो से, तो कभी माओ से द्वेष उत्पन्न होगा। लेकिन यह सब माया नहीं कर रही है। 'मैं भारतीय हूँ' एक बार यह अभिमान हृदय में आया तो सारा चक्कर चल जायेगा! इसलिये कहा अपना जो अपरिच्छिन्न और सच्चा रूप है कि मैं ही सर्वव्यापक कण कण और क्षण क्षण में व्यापक हूँ, भुट्टो, भसानी, माओ सब मैं ही मैं हूँ, मेरे सिवाय

वह कुछ नहीं है, यह जो दृढता, ज्ञान या प्रबोध है, इसके न होने से ही द्वैत आया अर्थात् मैं और मेरा, यह मित्र और यह शत्रु आदि भाव प्रसूत हुए।

जब द्वैत प्रपंच आ गया तो फिर कहीं पर अपने ऊपर दुःख का आरोप कर लिया और कहीं सुख का आरोप कर लिया। जिसको मैंने मेरी चीज समझा उसपर यदि शोभनाध्यास कर लिया तो सुख और अशोभनाध्यास कर लिया तो दुःख हो गया। शोभन अशोभन अध्यास संस्कारों से होता रहता है। पहले किसी औरत को बढ़िया घाघरा ओढ़ना पहने हुए देखते थे तो तबियत खुश होती थी कि मेरी बहू कैसी सुन्दर है। अब उसको देखकर अशोभन अध्यास होता है और बैलबाटम्स पहने देखने पर शोभन अध्यास होता है। घर में जो पुरानी दादी बैठी होगी वह कहेगी देखो कैसा जमाना आया है, कैसे खराब कपड़े पहन रहे हैं। माँ बैठी होगी तो वह खुश हो रही होगी कि कैसी कल्चर्ड (cultured) लगती है। यहाँ दोनों का शोभन अशोभन अध्यास कारण है। वहाँ हो कुछ नहीं रहा है। दोनों के लिये पहने हुए वस्त्र एक जैसे ही हैं। वह भी कमर से लटक रहा है, और वह भी कमर पर पहना हुआ है। वह भी पैर तक और वह भी पैर तक लटक रहा है। फर्क कुछ नहीं है। लेकिन एक में शोभन और दूसरे में अशोभन अध्यास हो गया। शोभन अध्यास से मनुष्य सुखी और अशोभन अध्यास से दुःखी हो गया। आत्मा में इस प्रकार से उसने सुख दुःख का आरोप कर लिया। दुःख का जहाँ आरोप हुआ वहाँ उसके मन में आया सुख मुझे प्राप्त करना है।

सुख कैसे होता है? यह वेदांत की दूसरी सीढ़ी है। जैसे अविद्या का लक्षण महत्त्वपूर्ण है, ऐसे ही सुख का लक्षण भी महत्त्वपूर्ण है। जहाँ जहाँ स्वतंत्रता है वहाँ वहाँ सुख और जहाँ जहाँ परतंत्रता है वहाँ वहाँ दुःख है। प्रायः आदमी यह सोचता है कि पदार्थों में सुख है। सूक्ष्म दृष्टि से देखो तो जो पदार्थ जिस समय तुम्हारी परतंत्रता को हटाता है वह पदार्थ सुख देने वाला हो जाता है। दिल्ली की गर्मी में लू में बैठे हुए हैं। लू के अंदर अशोभन अध्यास है कि शरीर को जला रही है। इस परतंत्रता को एअरकंडिशनर ने दूर कर दिया। सारी की सारी वैज्ञानिक और तकनीकी प्रगति (scientific & technical development) का बीज क्या है? मनुष्य को स्वतंत्र बनाना ही उसका बीज है। रास्ता उनका गलत हो या ठीक हो, यह बात दूसरी है। इसी प्रकार समग्र धर्मशास्त्र और योगशास्त्र का विषय है तुमको स्वतंत्र बनाना। एक कहता है बाह्य पदार्थों से तुम्हारे ऊपर परतंत्रता आती है इसलिये बाह्य पदार्थों से आने वाली परतंत्रता को बाह्य पदार्थों से रोक लो। दूसरा कहता है बाह्य पदार्थों से हम कमजोर होते हैं इसलिये परतंत्रता आती है इसलिये हम अपने को सजोर बना लें। लेकिन दोनों ही परतंत्रता से छुड़ाने की प्रवृत्ति कर रहे हैं। सुख का अन्वेषण परतंत्रता से हटना है। कई बार लोग दस दिन के लिये यहाँ आते हैं और अपने साथ तीन बड़ी-बड़ी पेटियाँ सामान भरकर लाते हैं। हम सोचते हैं कि बादाम पिस्ता लाये होंगे आश्रम में छोड़ जायेंगे। बाद में पता लगता है कि कपड़े

भरकर लाये हैं। हम सोचते हैं कि गर्मी का मौसम है, मान लो दो बार या तीन बार भी दिन में बदलेंगे, यह मानकर कि यहाँ धोबी आदि नहीं होगा, तो भी इससे अधिक वस्त्र किस काम आयेंगे? वापिस जाते हैं तो दो पेटियाँ खुलती ही नहीं क्योंकि धोबी यहाँ आ जाता है। दूसरे लोग ऐसे व्यक्तियों की हँसी उड़ाते हैं कि ऐसा क्यों करते हैं। विचार करो तो वहाँ पर भी उतने वस्त्र लाने का प्रयोजन है कि धोबी इत्यादि के परतंत्र न हो जायें। वहाँ भी स्वतंत्रता की ही इच्छा है, और कुछ नहीं है। अब उस स्वतंत्रता की इच्छा में परतंत्रता इसलिये आ जाती है कि आबूरोड स्टेशन पर सवेरे पाँच बजे रेल पहुँचती है, कुली महाशय नहीं मिलते। लाये तो थे स्वतंत्रता के लिये लेकिन वह स्वयं ही परतंत्रता का कारण बन गये। यह समझ की भूल है, लेकिन वह स्वतंत्रता से सुख चाह रहे हैं इसमें कोई मतभेद नहीं है। इसी प्रकार से वैज्ञानिक और तकनीकी ज्ञान हमको सुख पहुँचाने के लिये प्रवृत्त हुआ, स्वतंत्र करने को प्रवृत्त हुआ लेकिन उनके प्रयोग के अन्दर इतने ज्यादा अज्ञात कारण आ जाते हैं जो स्वयं अधिक परतंत्रता के कारण बन जाते हैं। आबू रोड या आबू में बैठे हुए वातानुकूल यंत्र खराब हो तो ठेठ अहमदाबाद से आदमी को बुलाना पड़ेगा और रेल की हड़ताल चल रही हो ती आना सम्भव नहीं। जितनी जितनी वैज्ञानिक प्रगति करते गये, तकनीकी चीज बढ़ती गई, यह ध्यान नहीं रखा कि हमने उसमें उतने ही उतने ज्यादा अज्ञात कारणों को बढ़ा लिया जिससे हमारी परतंत्रता और ज्यादा बढ़ गई, कम नहीं हुई। यह समझ की भूल हो, लेकिन हर हालत में सबके पीछे है सुखी बनने का ही उद्देश्य अर्थात् परतंत्रता से हटने का उद्देश्य।

ठीक यही हालत धर्म और योग की हुई। हम अपने को शक्तिमान् बनायें जिसमें बाह्य पदार्थों के द्वारा हमारे ऊपर नियंत्रण न हो सके। लेकिन वह शक्तिमान् बनने की प्रक्रिया स्वयं ही इस प्रकार की हो गई कि बाह्य पदार्थों को सम्भालने की हमारी शक्ति कम हो गई। एकांत में हम रहे कि हम मन पर नियंत्रण करेंगे। एकांत और शांत बने रहेंगे। बड़ी अच्छी बात है। अब हमारा मन स्थिर होने लगा, ध्यान जमने लगा, संस्कार कम होने लगे। लगा कि हमारी स्वतंत्रता आ गई। अब यदि शहर में जाकर लोगों से व्यवहार करना पड़े तो मन चिड़चिड़ा होने लगा। हमारे यहाँ महात्माओं में प्रसिद्धि है कि जो जितना तपस्वी वह उतना ही क्रोधी। पुराणों में आता है कि खूब तपस्या करते हैं और खूब शाप देते हैं, देरी नहीं करते। यह आकस्मिक नहीं है। यहाँ वस्तुतः पुराणकार हमें बता रहे हैं कि जितना शरीर में दाँत कसकर साधना करोगे, उतने ही काम, क्रोध बढेंगे, घटेंगे नहीं। जो प्रयोग एकांत में रहकरके किया गया, वह था तो इसलिये कि व्यवहार में हमारा चित्त अशांत न हो और नतीजा यह हुआ कि अब व्यवहार के नाम से ही अशान्त होने लगे। स्वतंत्र बने या और ज्यादा परतंत्र हो गये? प्रायः देखने में आता है कि साधारण गृहस्थी है, कोई सत्संगी नहीं। उसके सिर में दर्द है तो दुकान जा रहे हैं, बुखार है तो दुकान जा रहे हैं क्योंकि काम तो करना ही हुआ। लेकिन जो

साधक बनता है उसको थोड़ा सा भी सिर दर्द हो जाये तो सावधान हो जाता है और कुछ नहीं कर सकता। कारण क्या है? जो चीज स्वतंत्रता का साधन बननी चाहिये, वह स्वयं परतंत्रता का कारण बन गई।

इसलिये वेदांती कहता है कि ये दोनों प्रयोग जब करके देख लिये तो पता लगा कि सुख न अपने को बदलकर हुआ और न बाहर के संसार को बदलकर हुआ वरन् सुख इसमें है कि हमारी परतंत्रता दूर हो जाये। लेकिन वह परतंत्रता न बाह्य पदार्थों से और न अपने को बदलकर दूर हुई। ऐसी अवस्था में क्या करें? तब सच्ची जिज्ञासा उत्पन्न होती है। जिसने पहले, चाहे जन्मान्तर में हो, विचार नहीं कर लिया और संसार के पदार्थों से सुख नहीं मिल सकता ऐसा निश्चय नहीं कर लिया, वह शरीर मन को चाहे जितना बदल ले, उससे सुख नहीं हो सकता। आदमी स्वाद को जीतने के लिये यहाँ तक अभ्यास करता है कि साग को गंगाजल में धो कर खाता है। नतीजा क्या होता है? फिर एक दिन यदि मिर्च खाने को मिल जाये तो वह उसे सहन नहीं कर सकता। बात एक ही हो गई। पहले बिना मिर्च खाने में मजा नहीं और अब मिर्च खाकर मजा नहीं आता। केवल दूसरे से अलग होकर हमारी कोई स्वतंत्रता तो नहीं आई। स्वतंत्रता तो तब होती जब मारवाड़ी के साथ बैठकर मक्की की रोटी पर नमक और लाल मिर्च के साथ उसको भी खा लेते और किसी अंग्रेज से मिलते तो केवल उबली हुई सब्जी भी उतने ही स्वाद से खा लेते। इसका नाम स्वतंत्रता हुआ। जब इन दोनों साधनों से स्वतंत्रता नहीं होती तब परम कारुणिक आचार्य के पास गये और कहा कि ये दोनों करके हमने देख लिये लेकिन स्वतंत्र नहीं हो पाये, सुखी नहीं हो पाये। वे कहते हैं कि सुखी होने का तरीका तुमने गलत अपना लिया। तुमको स्वतंत्र नहीं होना है, तुम ही तो सबकी स्वतंत्रता हो। तुम स्वतंत्र हो, तुम्हारी स्वतंत्रता नहीं। तुम चाहते हो कि शरीर मन आदि के अनुभवों में हम स्वतंत्र हों। शरीर मन आदि परतंत्र हैं। इसलिये परतंत्र ही रहेंगे। शरीर मन आदि परिच्छिन्न हैं, इसलिये परतंत्र हैं। तुम अपरिच्छिन्न व्यापक हो इसलिये अपरतंत्र हो, स्वतंत्र हो। यह जब परम कारुणिक आचार्य ने तुमको उपदेश दिया तो इस उपदेश को प्राप्त करते ही द्वैत की निवृत्ति हो गई। 'तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थसम्यग्धीजन्ममात्रतः। अविद्या सह कार्येण नासीदस्ति भविष्यति।।' तुम ही इस समग्र जगत् का एक मात्र कारण हो सारे जगत् रूप में तुम ही बने हो और तुम ही ने यह बनाया है। इस वाक्य से उत्पन्न सम्यक् ज्ञान होते ही मैं परिच्छिन्न इस शरीर में हूँ, यह निवृत्त हो गया। जैसे ही यह भाव निवृत्त हुआ, फिर अविद्या न थी, न है और न आगे रहेगी। तत्त्वमसि वाक्य से उत्पन्न सम्यक् धी अविद्यानिवृत्ति का कारण है। इसलिये चाहे आज से लेकर हजार साल तक 'शिवोहं शिवोहम्, अहं ब्रह्मास्मि अहं ब्रह्मास्मि' जपते रहो, कुछ नहीं होना है। जैसे चाहे जितना आग आग कहते रहो मुँह में आग पैदा नहीं हो जायेगी।

यह जो सम्यक् धी है, या ज्ञान है वह परिच्छिन्न भाव को छोड़कर ही पैदा होता है। विज्ञान और धर्म तथा योग बाह्य जगत् और आभ्यंतर जगत् का विश्लेषण है, परिच्छिन्न का विश्लेषण है। परिच्छिन्न पदार्थों के अन्वेषण से, ज्ञान से कभी भी सम्यक् धी अर्थात् अपरिच्छिन्न ज्ञान पैदा नहीं हो सकता। जैसे पाँच पाँच साल के चार लड़के मिलकर बीस साल के वर का काम नहीं कर सकते। तुम्हारा गणित वहाँ नहीं चलेगा कि सोलह साल की लड़की के लिये बीस साल का लड़का नहीं मिल रहा है तो पाँच पाँच साल के चार से ही लड़की का ब्याह कर लो! अथवा नगाड़ा एक भैंसे के चमड़े से ही बनता है। यह नहीं कि दो सौ मेंढकों के चमड़े से नगाड़ा बन जायेगा। इसी प्रकार परिच्छिन्न पदार्थों के ज्ञानों को जोड़ेंगे तो एक दिन अपरिच्छिन्न ज्ञान आ जायेगा, ऐसा नहीं होता। अपरिच्छिन्न ज्ञान तो एक अखण्ड वृत्ति बनती है तब होता है जिसके अन्दर अनंतकोटि ब्रह्माण्ड एक साथ उद्भासित हो। उसका कुछ परिच्छिन्न रूप अपने को गीता के ग्यारहवें अध्याय में मिलता ही है, जब भगवान् ने विराट् रूप दिखाया, वह केवल संकेतमात्र है। जब परम कारुणिक आचार्य के उपदेश से वाक्योत्थ ज्ञान से अद्वैत निश्चय हो गया, तो फिर परम आनंद और समग्र अनर्थों की निवृत्ति हो जाती है, वह निवृत्ति स्वरस होकर अभिव्यक्त हो जाती है। यह स्वस्थता परिपूर्ण वस्तु का स्वभाव ही है। यही इस का प्रयोजन हो गया।

यही भाष्यकार ने कहा 'अद्वैतभावः प्रयोजनम्। द्वैतप्रपंचस्याविद्याकृतत्वाद् विद्यया तदुपशमः स्यादिति ब्रह्मविद्याप्रकाशनायास्यारम्भः क्रियते।' समझा दिया कि यह द्वैतप्रपंच अविद्याकृत है। विद्या के द्वारा जो इस प्रकार से 'मैं ही परब्रह्म परमात्मा हूँ, समग्र जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण मैं हूँ, बनाने वाला और बनने वाला भी मैं ही हूँ'— यह जो विद्या है, इसके द्वारा जो द्वितीयता परिच्छिन्न भाव के कारण आई हुई थी, वह निवृत्त हो गई तो शांति हो जाती है। जब यह उपशांत हो जाता है तब आगे कोई कर्त्तव्य नहीं रह जाता। द्वैत के द्वारा उत्पन्न जो अहंकार है उस अहंकार के द्वारा संसार के अन्दर सब चीजों में परिच्छिन्नता दीखती है। जब तक यह अहंकार बैठा है, तब तक केवल हम परिच्छिन्न नहीं, सारा संसार भी परिच्छिन्न, सब चीजें हमको सीमित ही दीखेंगी। जैसे मोटी दृष्टि से हमारे लिये पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण होता है क्योंकि हमारी आँख एक तरफ देखती है, जिधर देखती है वह दिशा हुई। यदि हमारे सिर के चारों तरफ आँखें हो जायें तो एक साथ ही हमको सब दीखेंगी। उस हालत में हमारे लिये सामने ध्यान देकर देखना, घूमकर देखना आदि वाक्य बेकार हो जायेंगे। जब तक हम दो आँखों में बँधे हुए हैं तब तक पीछे, अगल में, बगल में देखना वाक्य सार्थक हैं। उसी प्रकार जब हम अहंकार के द्वारा देखते हैं तब तक सब चीजें परिच्छिन्न दीखेंगी और जिस समय हमारा अहंकार परिच्छेदक नहीं रह जाता तो केवल हम व्यापक दीखते हों, ऐसा नहीं-वरन् सारे संसार में प्रत्येक कण ही व्यापक दीखता है। इसलिये कह दिया कि विद्या से उसका उपशम होता है। शान्ति शब्द का प्रयोग करते ही मनुष्य समझता है कि कोई

कार्य हो रहा है उसको या रोकना है या उसकी जगह दूसरा कार्य करना है। इसीलिये उपशान्ति का प्रयोग करते हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि अहंकार भी तो एक चीज है इसे नष्ट करने के लिये तुमको कुछ करना पड़ेगा। करना क्या है? कुछ लोग तो कर्म बताते हैं। निष्काम कर्म करोगे तो तुम्हारा अहंकार खत्म हो जायेगा। दूसरे लोग उपासना बताते हैं कि इस प्रकार से ध्यान करोगे तो तुम्हारा अहंकार खत्म हो जायेगा। अहंकार एक चीज हुई, जैसे घड़े को फोड़ने के लिये डण्डा चाहिये, उसी प्रकार अहंकार को नष्ट करने के लिये कर्म और उपासना चाहिये। ज्ञान से अहंकार कैसे हटेगा? यह शंका प्रायः लोग करते हैं। सभी के मन में यह शंका बैठी रहती है, इसलिये हरेक सोचता है कि कुछ तो साधन होगा, कुछ करोगे तब यह अहंकार मिटेगा। यही माया का सबसे बड़ा डण्डा है,क्योंकि जब कुछ करोगे तब अहंकार बढ़ेगा। जब ध्यान करोगे तो अहंकार बढ़ेगा। अहंकार को खत्म करने में खुद अहंकार बढ़ा रहा है। इसलिये जंजाल बढ़ता रहता है। जितने कर्म उपासना करते जाओ उतना ही अहंकार खूब खुश होता है, क्योंकि जानता है 'कोई बात नहीं, इसको सुख का अनुभव करायेंगे और फँसाये रखेंगे। पुण्य कर रहा है लेकिन हर हालत में हमारे शिकंजे से अलग नहीं हो सकता।'

अहंकार वस्तु नहीं है। अहं ही अंतःकरण के सम्बन्ध से अहंकार जैसा लग रहा है। इसलिये जब कुछ नहीं करोगे तो वह अपने आप खत्म हो जायेगा। न शरीर से क्रिया करो और न शरीर की क्रिया रोको। यह ज़रा मर्दों का, पुरुषार्थियों का काम बताते हैं! क्योंकि ये दो काम तो स्त्रियाँ भी कर लेंगी कि या काम कर लेंगी या नहीं करेंगी। पुरुषार्थी वह है जो न करता है और न नहीं करता है। स्त्री का मतलब है बुद्धि; जब तक बुद्धि के शिकंजे में, बुद्धि के साथ रहोगे तब तक या करोगे, या नहीं करोगे। सभी कहते हैं कि या करने को कहो या न करने को कहो। अर्जुन जैसा महापुरुषार्थी, अपने को पुरुष समझने वाला औरतों की तरह बिलबिल करता है। कहता है कभी आप कर्म की प्रशंसा करते हो कभी ज्ञान की। तीसरे अध्याय में कहता है 'तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्।' दोनों में सच्ची और एक कल्याण की बात कहो। या करने को या न करने को कहो। करो भी, न भी करो, यह आप क्या कह रहे हैं? भगवान् ने कहा— क्या निश्चय करके बतायें, जो बता रहे हैं उसकी हिम्मत कर, न कर और न नहीं कर। इसी प्रकार मन इत्यादि के द्वारा संसार के विषय में चिंतन करना, विज्ञान और तकनीक से मन को हटाना योग हुआ। न हटाओ और न लगाओ। जैसे कर्म में वैसे ही मन में समझ लेना। बुद्धिरूपी स्त्री के साथ जब तक स्त्री बनकर विचार करोगे तब तक दोनों में एक का निश्चय करने जाओगे और वही बंधन का कारण है। जब उसे छोड़कर शुद्ध आत्मतत्त्व में जाओगे, निश्चय करना है, इस बात को छोड़ दोगे तब मुक्त हो। निश्चय

करना बुद्धि का काम है। आत्मा निश्चय नहीं करता है। निश्चय का मतलब होता है दो चीजों में से एक का चुनाव। जब दोनों मेरा रूप है तो चुनाव क्या करोगे?

एक कथा आती है : एक औरत ने कहा कि यह मेरा लड़का है, दूसरी ने कहा मेरा है। पर्शिया के राजा ने कहा कि लड़के को काटकर बाँट दो। जिसका वह लड़का था वह चिल्ला पड़ी 'ऐसा मत करो, इसी को दे दो'। हाकिम समझ गया कि यह इसी का लड़का है। जिसका नहीं था उसे चीरने में दर्द का अनुभव नहीं, बुद्धि नहीं। इसी प्रकार बुद्धि के द्वारा निश्चय करने वही जाता है जो द्वैत में ग्रस्त है। करना मेरा एक हिस्सा, न करना मेरा एक हिस्सा। दो टुकड़ों में किसे काटें? निश्चय क्या करें? जहाँ इस बंधन में गये द्वैत का जंजाल शुरु हुआ। चौथा प्रकरण इसी से छूटने का उपदेश है। 'यावद् हेतुफलावेशस्तावद् हेतुफलोदयः' जब तक कार्यकारणभाव का आवेश है तब तक कार्यकारणभावकी प्रतीति और बंधन है। चतुर्थ प्रकरण में विस्तार से आयेगा। भाष्यकार उपशम के द्वारा इसी को कह रहे हैं, नहीं तो 'शमः स्यात्' कह सकते थे। क्योंकि शान्ति में बुद्धि के निश्चय कि प्रतीति है इसलिये वहाँ कुछ कर्त्तव्य शरीर और मन का है। कर्म या उपासना दोनों को छोड़ देना है। इसलिये कहा कि इस स्थिति को पहुँचाने वाली, उपशम को पहुँचाने वाली जो ब्रह्मविद्या है उसके प्रकाशन के लिये यह ग्रंथ है।

प्रकाशन उसका होता है जो चीज है लेकिन तुम्हारे सामने नहीं आई। प्रकाशन का मतलब कोई नई चीज नहीं हैं। जो चीज पहले होगी, उसी को सामने लाना प्रकाशन कहा जाता है। किताब लिखी गई, प्रेस में गई, प्रूफ देखे, छप गई, जिल्द बंध गई। यह सब हो गया तो कहते हैं कि इस पुस्तक का प्रकाशन हो गया। जब तैयार हुई तब ऐसा कहा। वैसे केवल प्रकाशन का मतलब होता है किसी को रोशनी देना, जग जाना। इसी प्रकार ब्रह्मविद्या भी बह्म की तरह नित्य ही है लेकिन तुम्हारे सामने लाना ही उसका प्रकाशन हो गया। अब ब्रह्मविद्या के प्रकाशन का मतलब क्या है? तुम्हारे अन्दर जो अब्रह्मता बैठी हुई है, दिखाना यह है कि तुम अपने को अब्रह्म मान रहे हो लेकिन तुम्हारा अपने को अब्रह्म मानना कभी संगत नहीं होता। चाहे जैसा हिसाब लगाओ तुम ब्रह्म ही सिद्ध होते हो। इस प्रकाशन के लिये, इस सिद्धि के लिये और किसी चीज की जरूरत नहीं है। गैरसमझी को हटाना है और वह समझ से ही हटेगी। तुमने इतने यज्ञ किये तो तुमको ब्रह्मविद्या झट मिलेगी, इसने इतने पाप किये हैं तो इसको ब्रह्मविद्या देरी से मिलेगी, ऐसे किसी कर्म की गुलाम ब्रह्मविद्या नहीं। यह बड़ा योगाभ्यासी है, कुछ घण्टे समाधि में बैठता है और यह अशान्ति से बैठता है, उसको जल्दी मिलेगी, ऐसे किसी के पराधीन ब्रह्मविद्या नहीं क्योंकि स्वतः सिद्ध है, तुम्हारा स्वरूप है। बड़े से बड़ा पापी भी मुक्त होते देखा गया है। हमारे यहां व्यासजी वेदांताचार्य थे ही। उन्होंने एक विचित्र बात सब जगह दिखाई है। रावण मरता है तो रावण की ज्योति निकलकर भगवान् के चरण में चली जाती है, कंस के मरने पर उसकी ज्योति भी भगवान् के चरणों मे चली

जाती है, शिशुपाल के मरने पर उसकी ज्योति भगवान् के चरणों में चली जाती है। कहीं कहीं इस प्रकार का फोटो भी बना देते हैं। वैसी लाइट या प्रकाश कुछ नहीं है। वहाँ केवल इतना मात्र प्रतिपादन करना है कि यदि परमेश्वर के सामने आ गये तो तुम चाहे कंस जैसे पापी हो, चाहे उद्धव जैसे भक्त हो, जहाँ ब्रह्मविद्या तुम्हारे लिये प्रकाशित हो गई, फल दोनों का एक ही है। यह नहीं कि कंस ने इतने पाप किये तो उसकी ज्योति बाद में लीन हो और उद्धव ने इतने पुण्य किये तो उसकी ज्योति जल्दी लीन हो। ऐसा कुछ नहीं है। ऐसी ब्रह्मविद्या के प्रकाशन के लिये प्रकरणचतुष्टय का आरंभ करते हैं।

यहाँ तक जो बातें कही हैं उन बातों को कुछ श्रुति प्रमाणों से बता देते हैं— 'यत्र हि द्वैतमिव भवति' जहाँ द्वैत जैसा होता है यह बृहदारण्यक की श्रुति है। कई बार मनुष्य यह सोचता है कि यह स्थिति बड़ी ऊँची स्थिति है, शरीर रहते यह स्थिति कैसे हो सकती है? यह शंका प्रायः आ जाती है। ज्ञानी का व्यवहार इसीलिये वेदांत दर्शन में एक बड़ी समस्या बना रहता है। यदि वह अपने को सर्वव्यापक मानता है तो एक शरीर से व्यवहार कैसे करता है और यदि एक शरीर से व्यवहार करता है तो सर्वव्यापक कैसे है? कुछ लोग इसीलिये जीवन्मुक्ति पक्ष को मानना ही नहीं चाहते। कहते हैं कि पक्का ज्ञान तो मरते समय ही होता है। उसके पहले ज्ञान कुछ कच्चा रहता है। कुछ पहले के लोग ऐसा मानते थे, अब भी मानते हैं, कि अगर मरा नहीं तो मरा जैसा जरूर रहे। कुछ लोग थोड़े से उदार हैं। इसलिये पेड़ के नीचे पड़ा हुआ है, मक्खियां भिन-भिना रही हैं। एक तरफ टट्टी पड़ी है और दूसरी तरफ कुत्ता मुँह चाट रहा है। यह महा आलसी का रूप हो सकता है। यदि सारी साधना करने के बाद सुअर की स्थिति हो तो क्या हुआ! इसलिये भगवान् सुरेश्वराचार्य नैष्कर्म्य सिद्धि में कहते हैं कि यदि ब्रह्मज्ञान का फल इतना हो सके कि तुम सुअर या कुत्ते की तरह हो जाओ तो कौन उसमें प्रवृत्ति करेगा? यह कोई ज्ञान का फल नहीं हुआ। बताना चाहते हैं कि यदि प्रारब्ध के कारण मरे नहीं तो मरे जैसा रहे। उसकी तरफ से कोई कार्य नहीं होना चाहिये। जीवन्मुक्ति पक्ष को न मानना कई लोगों के दिमाग में रहता है। लेकिन जितने भी वेदांताचार्य हुए हैं उन सबने एक मत से जीवन्मुक्ति को स्वीकार किया है।

भगवान् भाष्यकार प्रायः कहीं भी अपना अनुभव नहीं बोलते, घुमाकर बोलते हैं। लेकिन ब्रह्मसूत्र में जीवन्मुक्ति के प्रकरण में वे स्वयं अंत में जा कर यही कहते हैं 'कथं हि एकस्य स्वहृदयप्रत्ययं ब्रह्मवेदनं देहधारणं च अपरेण प्रतिक्षेप्तुं शक्येत?' हमको स्पष्ट भान होता है कि मैं व्यापक हूँ, फिर भी एक शरीर से काम कर सकता हूँ, इस बात को केवल युक्तिजाल से काटना चाहोगे तो थोड़े ही कट जायेगी। अपने हृदय में जो सुस्पष्ट ज्ञान होता है वह किसी के कहने से नहीं हटता, वह वैसा ही रहेगा। 'जीवन्मुक्तौ स्वानुभवमाह' ऐसा रत्नप्रभाकार कहते हैं। पहले सारी युक्तियाँ दीं, अंत में कहते हैं कि ये युक्तियाँ तो हैं ही, लेकिन यह हमारा अनुभव है। यह बात सभी वेदांताचार्य कहते

रहे हैं। इसका मतलब यह नहीं है कि वे कुछ दो चार कर्म करते हों। बड़े से बड़ा कर्म कर लेते हैं।

विद्यारण्य स्वामी ने विजयनगर साम्राज्य की स्थापना की। एक बार राजा को कुछ कमजोर होते देखा। वह समय ऐसा था कि दो मुसलमानों को ही हिन्दू बनाकर साम्राज्य की स्थापना कराई थी जिन्हें दिल्ली सम्राट् ने अपना राज्यपाल बनाकर भेजा था। इतिहास है। उधर मुसलमान समझाने की कोशिश कर रहे थे कि वे उन्हें स्वयं नवाब मान लेंगे, वे दिल्ली से न लड़ें। ऐसा संदेह हो गया तो आचार्य विद्यारण्य स्वामी स्वयं संन्यासी होकर भी लड़ने लगे। बुक नामक मुसलमान मंत्री ने कहा कि आप महात्मा होकर कैसे लड़ेंगे? तब उन्होंने कहा 'महात्मा तो मैं तेरे को मार कर ही बनूँगा।' जिस एक शरीर को लेकर व्यवहार करना है, उस शरीर को लेकर व्यवहार करते समय दूसरों को भ्रम हो जायेगा कि इसके चित्त में कोई आसक्ति होगी। लेकिन ऐसे आसक्ति नहीं हुआ करती। अथवा चाणक्य के जीवन में देख लो कि नंद साम्राज्य को समाप्त किया, चन्द्रगुप्त प्रतिष्ठित हो गये तो स्वयं फिर जंगल में चले गये और जो उनका जन्मजात दुश्मन था, जिसने उनसे सबसे ज्यादा युद्ध किया था, उसी को उन्होंने अपनी जगह प्रधानमंत्री बनाया। चन्द्रगुप्त ने पूछा तो उसे समझा दिया कि यह योग्य है, काम अच्छी तरह से चलायेगा। इस रागद्वेष-शून्यता से व्यापकता का पता लगता है। अर्जुन से भगवान् भी यही कहते हैं कि तू युद्ध करने गया नहीं, युद्ध आपतित हुआ है इसलिये उसे निभाना है, न निभाने का आग्रह गलत है। इसलिये जीवन्मुक्तों का अनुभव हमेशा से लोगों की समझ में नहीं आता है। इस विषय में श्रुति प्रमाण है।

द्वैत के द्वारा विद्या उत्पन्न होकर कभी भी विद्यमान देह में अनुभव को नहीं करा पाई, ऐसी शंका नहीं करना, क्योंकि श्रुति कहती है 'द्वैतम् इव भवति' द्वैत की तरह होता है, द्वैत नहीं होता है। 'यत्र वान्यदिव स्यात्तत्रान्योन्यत्पश्येदन्योन्यद्विजानीयात्।' जहाँ दूसरे की तरह हो, वहाँ पर ही दूसरा दूसरे को देखता है जैसे स्वप्न में। सब आत्मरूप होने पर द्वैत बुद्धि से कौन किसको देखेगा और कौन किसको जानेगा? इन श्रुतियों के द्वारा जो पहली बात बताई है उसकी सिद्धि हो जाती है। तात्पर्य यह हुआ कि इव (की तरह) शब्द द्वारा बताया कि अविद्या-अवस्था के अन्दर जो द्वैत का प्रतिभान है वह सत्य होकर है। ज्ञान की अवस्था में जो द्वैत का प्रतिभान है वह सत्य होकर नहीं है। इसलिये द्वैत का भान होने पर भी उसके अद्वैत की क्षति नहीं होती। लौकिक दृष्टांत से समझना चाहो तो ऐसे समझ लो कि साधारण बच्चा काँच में दूसरे बच्चे को देखकर उसे खेलने को बुलाता है। वह नहीं आता तो रोता है। माँ आकर पूछती है तो उस बच्चे को दिखाता है कि यह नहीं आता है। उसको भी उसमें अपना आपा ही दीख रहा है लेकिन उसको अपने से भिन्न समझ कर। तुम लोग भी प्रातःकाल उठकर भस्मी इत्यादि लगाते हो और काँच देख लेते हो कि भस्मी ठीक लगी या नहीं, या औरतें बिन्दी लगाती

हैं तो काँच देखती हैं। तुमको भी वहाँ उतना ही स्पष्ट मुख दीखता है जितना स्पष्ट उस बच्चे को दीख रहा है लेकिन वह समझता है कि वह मेरे से भिन्न कुछ है और तुम जानते हो कि यह भिन्न दीखने पर भी मेरा ही मुख दीख रहा है, और कोई दूसरा वहाँ नहीं है। यही फर्क है। इसी प्रकार से अन्तःकरण के द्वारा, मन के द्वारा, अहंकार आदि प्रत्ययों के द्वारा जब अज्ञानी देखता है तो उसको यह संसार अपने से भिन्न दीखता है और वह उसे भिन्न लगता है। इसलिये उन चीजों को इकट्ठा करेगा। जब वे चीजें उसके पास नहीं आती हैं तो रोता है कि हाय मुझे यह चीज क्यों नहीं मिल गई। ज्ञानी भी अपने अन्तःकरण और अहंकार आदि के द्वारा अपने को देखता है तो उसे भी संसार द्वैत की तरह दीखता है लेकिन जानता है कि मैं ही अपने अनंत गुणों को, अनंत पदार्थों में प्रतिभात कर रहा है। इसलिये उसे अंतःकरण (अहंकार) के द्वारा मैं ही यह सब हूँ— इस प्रकार दीख रहा है। जैसे तुम काँच में अपना मुख देखकर अपने शृंगार को ठीक करते हो, वह दुःख का कारण नहीं लेकिन छोटे बच्चे के लिये दुःख का कारण हो जाता है, इसी प्रकार ज्ञानी के लिये संसार की प्रतीति किसी प्रकार के दुःख का कराण नहीं रहती और दूसरों के लिये वह दुःख का कारण हो जाती है। इस अर्थ की सिद्धि के ये प्रमाण-वाक्य हो गये।

यहाँ तक विचार किया कि आत्मविद्या की प्राप्ति हो जाने पर कर्त्ता, करण, अधिष्ठान, प्रयोजन आदि सब कुछ आत्मरूप हो जाते हैं। जब तक विद्या का उदय नहीं हुआ तब तक कर्त्ता अलग है, कर्म अलग, करण अलग, अधिष्ठान अलग, उद्देश्य अलग है, लेकिन आत्मविद्या के उदय होने पर कर्त्ता करण आदि सब कुछ आत्ममात्र रह जाता है। आत्मा से अतिरिक्त कुछ नहीं रह जाता। इसलिये अविद्या के द्वारा द्वैतबुद्धि और विद्या के द्वारा द्वैतबुद्धि की निवृत्ति अद्वैत है। विद्या से द्वैतनिवृत्ति होने पर द्वैतनिवृत्ति रूप बुद्धि की आवश्यकता नहीं। इसलिये वह बुद्ध्यतीत है। विद्वान् का स्वरूप बता रहे थे। विद्वान् अर्थात आत्मविद्या वाला, अद्वैतभाव वाला। आत्मविद्या की उत्पत्ति होने पर जब द्वैत निवृत्त होगा तो द्वैतजन्य कार्य, करण, अधिष्ठान आदि भाव भी निवृत्त हो जायेंगे। उद्देश्य कार्य कारण आदि की निवृत्ति नहीं, द्वैत भाव की निवृत्ति है। यह इसलिये याद रखना चाहिये कि बहुत बार मनुष्य द्वैत के कार्यों के पीछे डण्डा लेकर पड़ा रहना चाहता है। राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदि के पीछे डण्डा लेकर पड़ता है कि ये दूर हो जायें। मानता यह है कि ये दूर हो जायेंगे तो अद्वैत की प्राप्ति हो जायेगी। यह वैसे ही है जैसे अंधकार को दूर करने के लिये मंत्रजप, अनुष्ठान, व्रत रखो, तपस्या करो और यह आशा करो कि यह सब करने वाले के ही घर तो रोशनी जलती होगी। ऐसे ही टार्च कैसे जल जाता होगा? पहले बटन दबाना आदि करो, पहले अंधकार हटेगा, तब प्रकाश का उदय होगा। जबकि वास्तविकता यह है कि प्रकाश का उदय होने से अंधकार और अंधकार के जितने दोष हैं, सब हट जायेंगे। इसी प्रकार आत्मज्ञान के उदय होने पर रागद्वेष आदि अपने आप हट जायेंगे। यहाँ तक बताया।

जो प्रकरणचतुष्टय बताये थे, उन चार प्रकरणों का अलग अलग विषय बताते हैं। सामान्यतः सारे प्रकरणों का विषय द्वैत को दूर करना बता दिया। अब एक एक प्रकरण का अर्थ बतायेंगे।

'तत्र तावदोंकारनिर्णयाय प्रथमं प्रकरणमागमप्रधानमात्मतत्त्वप्रतिपत्त्युपायभूतम्।' 'नेह नानास्ति किंचन' इत्यादि श्रुति है। इह अर्थात् व्यवहार-काल में। वेद ने यह नहीं कहा कि समाधि-काल में अद्वैत है, वेद ने यह भी नहीं कहा कि सुषुप्ति काल में अथवा मुक्ति हो जाने पर अद्वैत है। वरन् इह अर्थात् यहाँ पर जो हमारी व्यवहार भूमिका है, व्यवहार अवस्था है, इसमें नानात्व नहीं है। यही वेदांत का वैशिष्ट्य है। समाधि, सुषुप्ति, प्रत्यक्ष की समाप्ति में अद्वैत तो दूसरे भी मानते हैं। वेदांत कहता है कि यह सब जब नहीं है, जब जीव अविद्या में व्यवहार कर रहा है तब भी 'नाना किंचन न अस्ति', तब भी भेद नहीं है। जिस प्रकार पिता पुत्र में झगड़ा होने पर पिता नाराज होकर कहता है 'आज से तू मेरा बेटा नहीं।' यदि बेटा नहीं था तो शुरु से नहीं था और अगर आज तक है तो मरते दम तक रहना ही है। यहाँ तक तो ठीक है कि तुम उसको सम्पत्ति, धन आदि न दो लेकिन तुम्हारा बेटा है तो है और नहीं है तो नहीं है। 'तू आज से मेरा बेटा नहीं है' यह कहते काल में भी वह जानता है कि यह तो मरते दम तक बेटा रहेगा ही। भ्रांति से क्रोध के आवेग में कह देता है। ठीक इसी प्रकार से अविवेक के कारण जब जीव कह रहा है कि यह सब संसार मेरा स्वरूप है, तब भी वह उसका स्वरूप नहीं है। तब भी उसका स्वरूप तो परमात्मा ही है। वेदांत शास्त्र कहता है कि यदि आज तक तेरा स्वरूप नहीं है तो आगे भी नहीं होगा और यदि तेरा स्वरूप है तो आज भी है। पहले नहीं था और फिर हो गया ऐसा कुछ नहीं है। इसलिये वेद ने कहा 'नेह नानास्ति किंचन' इह अर्थात् व्यवहार में जब द्वैत को देख रहे हो तब भी 'नाना न किंचन अस्ति'। इसी को न्याय की भाषा में कहते हैं कि द्वैत अधिष्ठाननिष्ठ अत्यंताभाव का प्रतियोगी है। न्याय की यह भाषा ठीक से समझना क्योंकि आगे इसी ढंग से विचार होना है। प्रतियोगी का मतलब होता है जिसके रहने पर उसका अभाव नष्ट हो जाये। जैसे घटाभाव अर्थात् घड़े के न होने का प्रतियोगी घड़ा है। घड़े के होने से घटाभाव नष्ट हो जाता है। घड़ा आया और घड़े का अभाव नष्ट हुआ। जो लोग घड़ा नहीं जानते होंगे। आजकल रैफ्रिज्रेटर में लगी बोतलों का पानी पीने वाले कइयों के घरों में घड़ा नहीं होता है इसलिये उनके लिये पैसे का दृष्टांत दे देते हैं। पैसा आया और पैसे का अभाव नष्ट हुआ। इसलिये पैसा पैसे के अभाव का प्रतियोगी है। अभाव चार प्रकार का है। पैसा पैदा करने के पहले पैसे का अभाव है। पैसा पैदा करके बरबाद करने के बाद पैसे का अभाव है। तुम्हारे पास पैसा होने पर भी हमारे पास पैसे का अभाव है। यह तीन तरह का अभाव पहले समझ लो। पैसा पैदा होने के पहले जो पैसे का अभाव उसे प्रागभाव कहते हैं। अथवा घड़ा उत्पन्न होने के पहले घड़े का अभाव प्रागभाव है। वृक्ष बनने के पहले वृक्ष का अभाव

प्रागभाव है। यह एक अभाव का प्रकार हुआ। पैसा नष्ट हो गया तब जो उसका अभाव है, वह ध्वंसाभाव है। दोनों एक जैसे नहीं हैं। कई बार लोग कह देते हैं कि अभाव तो एक जैसे ही हैं। हमारे मारवाड़ की कहावत है कि बेटा होकर मर गया तो जैसे पहले बिना बेटे वाले वैसे ही अब, लेकिन बांझपने का टीका तो अब नहीं रहा। होगा ही नहीं तो लोग कहेंगे कि बांझ है। चीज उत्पत्ति से पहले नहीं है वह प्रागभाव और चीज होकर नष्ट हो गई, वह ध्वंसाभाव। तीसरा है अन्योन्याभाव। घड़ा कपड़ा नहीं है, कपड़ा घड़ा नहीं है। अतः इनमें परस्पर अन्योन्याभाव है। इसे भेद भी कहते हैं। अर्थात् एक चीज का दूसरी चीज से अभाव अन्योन्याभाव है। इसको प्रागभाव भी नहीं कह सकते और प्रध्वंसाभाव भी नहीं कह सकते क्योंकि प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव में तो चीज नहीं होती है। अन्योन्याभाव में तो चीज विद्यमान हो सकती है, घड़ा है लेकिन जिसे कह रहे हैं वह घड़ा नहीं है। कपड़ा रखा है लेकिन घड़ा कपड़ा नहीं है। चीज रहते हुए भी चीज का अभाव अन्योन्याभाव है। चौथा है अत्यंताभाव। जो चीज किसी देश, किसी काल, किसी व्यक्ति, किसी पदार्थ में कभी भी न हो जैसे गधे का सींग पहले नहीं था, अब हो जायेगा ऐसा भी नहीं है, अब है आगे नहीं रहेगा ऐसा भी नहीं, इस गधे पर है उस गधे के पास नहीं है, ऐसा भी नहीं है; वह अत्यंताभाव है। लेकिन अत्यंताभाव वाली चीज की भी प्रतीति हो सकती है। क्योंकि प्रतीति न हो तो उसका अभाव कौन कहेगा? चार पैरों वाली गाय या भैंस हमने देखी है, गधा देखने का कभी मौका नहीं पड़ा। सुना है, सुनते ही गधे के दो कान देखकर कल्पना कर लेतें हैं कि इसके भी दो सींग होंगे। गधा जब कान खड़े करता है तो जिसे पता न हो वह उसे सींग समझ लेता है। किन्तु गधे के सींग का अत्यंताभाव है।

यहाँ जो द्वैत है यह अत्यंताभाव का प्रतियोगी है। अत्यंताभाव कहाँ है? 'अधिष्ठाननिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम्' अत्यंताभाव अधिष्ठान में है। भ्रान्ति से रस्सी में साँप दीख गया, रोशनी आने पर रस्सी दीख गयी। तब निश्चय होता है कि साँप का प्रागभाव भी नहीं था। यह नहीं कि वह साँप आगे पैदा होने वाला है। साँप का ध्वंसाभाव भी नहीं है कि वह मर गया। रस्सी में साँप का वास्तविक अन्योन्याभाव भी नहीं है। बल्कि साँप का अत्यंताभाव है। किसी देश, काल और वस्तु में वह साँप था ही नहीं, केवल दीखा ही दीखा। इसी प्रकार जब ब्रह्मदर्शन होता है उस समय यह सारा द्वैतप्रपंच अत्यंताभावैकप्रतियोगी हो जाता है। ज्ञानी का अनुभव यह नहीं कि मैंने द्वैत को खत्म कर दिया। इसलिये द्वैत का ध्वंसाभाव नहीं। प्रागभाव भी नहीं कि आगे पैदा होने वाला है। अन्योन्याभाव भी नहीं कि मेरा द्वैत तो नष्ट हो गया, बाकी सब बेचारे जीव मेरे पीछे छूट गये। जैसे सब जगह अपने को पंक्ति (que) तोड़ने की आदत पड़ी हुई है ऐसे ही बहुत से लोग मोक्ष में भी पंक्ति तोड़कर जाना चाहते हैं कि पहले हमारा नंबर आ जाये। धक्का मुक्का करके जो बस में चढ़ जाते हैं, वे दूसरों की तरफ देखकर मूछों पर ताव

देते हैं और दूसरे भी सिर नीचा करके देखते रहते हैं। मुक्ति में कभी भी ऐसा चांस मिलने वाला नहीं है क्योंकि मोक्ष होने पर यह अनुभव नहीं कि मैं मुक्त हो गया, दूसरा बंधन में है। इसलिये अन्योन्याभावप्रतियोगिता भी नहीं। अधिष्ठाननिष्ठ अत्यंताभाव प्रतियोगिता है। ब्रह्मदर्शन करने पर आज तक किसी को द्वैत अनुभव हुआ नहीं, मुझे केवल प्रतीति ही प्रतीति हुई, यह निश्चय हो जाता है। स्वप्न के दृष्टांत से समझ लो। स्वप्न देखकर जब उठते हो तो क्या निश्चय होता है? स्वप्न के अन्दर जो लोग दीखे थे, वे मर गये,. ऐसा लगता? या स्वप्न के लोग आगे पैदा होने वाले हैं, ऐसा लगता है? या किसी दूसरे मकान में चले गये, ऐसा लगता है? बल्कि लगता है कि स्वप्न वाले व्यक्ति थे नहीं दीखे ही दीखे थे। इसी को अधिष्ठाननिष्ठ अत्यंताभावप्रतियोगी कहते हैं।

इसी अर्थ को वेद में कहा है। 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' आदि छांदोग्य उपनिषद् इसमें प्रमाण है। वाणी मात्र से जिसका आरंभ होता है। बस विकार नाम ही इसका है। सच्ची चीज तो मिट्टी ही है। घड़ा, सिकोरा आदि, घोड़ा गाड़ी आदि सब खिलौने मिट्टी से बना लो। लेकिन वे सारे के सारे मिट्टी रूप ही हैं, वाणी के द्वारा ही उन सबका प्राकट्य है। सच्ची चीज तो वहाँ केवल मिट्टी ही है। इसीलिये कबीरदास जी ने भी कहा 'चिन चिन महल बनाया रे' अर्थात् कहीं से मिट्टी जमा दी, उसे पका दिया तो उसका नाम ईट रख दिया, जमा दिया तो उसका नाम ढेला रख दिया। बस उन सबको इकट्ठा करके महल बना लिया। है वहाँ क्या? मिट्टी ही मिट्टी है। 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' यह श्रुति इस बात को बता रही है कि सारा जगत् ब्रह्मरूप ही है। यहां पर ब्रह्म ही एकमात्र पदार्थ है और वही वाणी के द्वारा भिन्न भिन्न रूपों को धारण करता हुआ लग रहा है। जिस समय जो चीज प्रतीत होनी बन्द होती है वह उस समय ब्रह्मरूप ही है। क्योंकि प्रतीति से अतिरिक्त वहां कोई चीज नहीं है। प्रतीति को छोड़ो तो घड़ा, सिकोरा, घोड़ा आदि कुछ भी नहीं, केवल मिट्टी ही मिट्टी है। वैसे ही यहां पर भी प्रतीति छोड़ो तो ब्रह्म ही ब्रह्म है। ज्ञान होने से क्या पता लगता है? जिस काल में प्रतीति हो रही है उस काल में भी ब्रह्म ही है। जैसे मिट्टी के रहस्य को जानने वाला इस बात को जानता है कि सिकारो, ईंट, ढेला दीखते हुए भी वहां मिट्टी ही है। उसको भी दीखता है कि यह सुराही, यह सिकोरा है, लेकिन दीखते हुए उसका निश्चय है कि मिट्टी ही है, यह निश्चय उसका कभी नहीं बदलता। 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इसी को समझाने के लिये महाराष्ट्र में और बंगाल में लोग देवी जी की या गणपति की मूर्त्ति मिट्टी की बनाते हैं। बंगाल में देवी जी की बहुत बड़ी बड़ी मूर्त्तियाँ बनाते हैं। एक एक मूर्त्ति पर चालीस चालीस हजार रूपये खर्च करते हैं। लोग दर्शन करने के लिये खूब लाइन लगाते हैं। उसका शृंगार भी खूब होता है। सोने चाँदी का शृंगार होता है और तीन दिन तक रखते हैं क्योंकि वहाँ महासरस्वती को बैठाते हैं। 'मूलेनावाहयेद् देवीम्' वचन है। प्रतिपदा को महाकाली का आवाहन होता है। चतुर्थी,

पंचमी, षष्ठी यह महालक्ष्मी का है। महाराष्ट्र आदि में जहां लक्ष्मी-पूजा होती है, वहाँ ललिता पंचमी से प्रारंभ करते हैं। बंगाल में मूल नक्षत्र से प्रारंभ करते हैं क्योंकि सरस्वती का आवाहन होता है। तीन दिन के लिये चालीस हजार रूपये की मिट्टी की मूर्त्ति बनाई, तीन दिन तक खूब पूजा हुई, घड़ी घण्टाल सब बजते रहे। चौथे दिन श्रवण नक्षत्र में विजयादशमी के दिन ले जाकर जिस गंगा जी की मिट्टी से मूर्त्ति बनाई थी, उसी गंगा जी की मिट्टी में उसे डाल दिया। आजकल तो अर्थशास्त्र पढ़ने पढ़ाने वाले बहुत हो गये हैं, यह एक अलग ही जात हो गई है। वे लोग अपना अर्थशास्त्र लगाते हैं कि चालीस हजार की मूर्त्ति बनाकर इन्होंने बहाई। अगर इतनी ही बड़ी मूर्त्ति बढ़िया सुन्दर मार्बल की या अष्टधातु की बना लें तो अस्सी हजार या एक लाख में बन जायेगी और सारा साल रोज चलती रहेगी। चालीस हजार की मिट्टी की मूर्त्ति साल में दस बार बनाई तो चार लाख का इन्वेस्टमेंट हो गया और यहाँ एक लाख के इन्वेस्टमेंट से साल भर बनी रहेगी। बड़ा हिसाब लगाकर बताते हैं। वेदांत इस प्रकार से हिसाब नहीं लगाता । वह कहता है कि सवाल पैसे का नहीं है। सवाल तो हमको उपदेश देना है कि जिस गंगा की मिट्टी को निकालकर तुमने रूप दिया, उसके पहले मिट्टी थी, जब बहा दिया तो मिट्टी रह गई और बीच में जो मूर्त्ति दीख रही थी, तब भी मिट्टी ही थी, यह निश्चय करवाना है। उसी प्रकार से तुमको कोई चीज प्रतीत होती है, उसके पहले सत् रूप है, ब्रह्मरूप है। जब वह नष्ट हो जाती है तब भी सत् रूप रह जाती है, ब्रह्मरूप रह जाती है। इसलिये जब प्रतीति हो रही है तब भी सत् रूप ही है। 'सद्ब्रह्मकार्यं सकलं सदेव' सत् का कार्य सारा सत् रूप ही है। 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' यह हो गया वह वेदवाक्य जिसके आधार पर यह बताया।

अब कहते हैं कि इसका निश्चय कैसे हो? ओंकार के द्वारा इसका निश्चय होगा। ओंकार परमात्मा का नाम है। इसी को सामवेदी लोग उद्गीथ कहते हैं। यजुर्वेदी लोग प्रणव कहते हैं। अथर्ववेदी ओंकार कहते हैं। यह अथर्ववेद की उपनिषद् होने से इसको ओंकार नाम से कहा। चीज एक ही है, नाम भिन्न भिन्न हैं। ॐ के ध्यान से, ॐ के जप से, ॐ के विचार से वह तत्त्व प्रकट होता है। यह अनुभव का विषय है। यह दूसरी बात है कि इसके विषय में कई युक्तियां भी कह देते हैं। अकार कण्ठ से उत्पन्न होता है। उकार ओष्ठ से उत्पन्न होता है। अ बोलने में कण्ठ काम में लेना पड़ता है, उ बलोने में ओष्ठ काम में लेना पड़ता है। कण्ठ से ओठ तक सबका ग्रहण हो गया। म् नासिका ध्वनि (nasals) हो गई। इसलिये सारी वाणियों को बताने वाला ॐ पद है। ऐसी अनेक युक्तियाँ आगे इस ओंकार के विषय में आयेंगी। लेकिन उन युक्तियों के कारण ओंकार का महत्त्व हो, ऐसा नहीं है। वह तो चूँकि ॐ नाम का महत्त्व है इसलिये समझने के लिये युक्तियों को बता देते हैं। उलटा नहीं कि युक्ति से ओंकार ठीक हुआ, इसलिये उसको मानें। जैसे लोक में यह मेरी माँ है। आदमी समझाता है कि माँ की बात मानो।

तुम्हारी माँ कितनी अच्छी है, कितना मीठा बोलती है, तुम्हारे को कभी डाँटती नहीं, तुम्हारे को दूध पिलाने में माँ ने कितने कष्ट उठाये। इसलिये माँ की बात मान। बात तो इसलिये माननी है कि वह मेरी माँ है। इन युक्तियों को तो एक मिनट में काट देंगे। जैसे पड़ोसी की औरत मेरे से और ज्यादा मीठा बोलती है, कभी नहीं डाँटती। मेरी माँ है इसलिये उसकी बात माननी ही है। बात मानी जाये, इसके लिये कुछ युक्तियाँ बता दी जाती हैं। उसी प्रकार से कोई कल्पना करके ॐ से ज्यादा युक्तिसंगत शब्द निकाल ले और कहे कि इसका ध्यान करो तो कुछ नहीं होना है। वह फल तो ॐ से ही मिलना है। समझाने के लिये कभी कभी युक्ति भी दे देते हैं। इसमें भी छह कारण भगवान् गौडपादाचार्य देंगे कि ॐ की प्रधानता क्यों है? लेकिन सर्वत्र ॐ के ध्यान, जप और विचार के द्वारा तीनों साधन इसके साथ हो जाते हैं।

वस्तुतः जो शिव लिंग को हमने इतनी प्रधानता अपने शास्त्रों में दी है, वह भी इसलिये कि शिवलिंग इस ॐ (ओंकार) का ही तीन आयाम वाला (three dimensional) प्रतीक है। जलहरी में तीन मोड़ उ की जगह और बीच में पूँछ की तरह लिंग होने से ॐ बन जाता है। शिवलिंग की प्रधानता इसलिये है कि यह ध्यान के लिये तीन आयामों वाला ॐ हो जाता है। इसीलिये शिवलिंग में ब्रह्मशिला, विष्णुशिला और रुद्रशिला, फिर उसके ऊपर जलहरी भगवती का रूप और फिर उसके ऊपर शिव, इस प्रकार से उसमें पाँच देवताओं की प्रतिष्ठा हो जाती है।

ओंकार का ध्यान भी है, ओंकार का जप और विचार भी है। इस उपनिषद् में ओंकार के विचार का तरीका ज्यादा बतायेंगे, वही प्रधान होगा। ॐ के प्रयोग से ही परमात्मा अत्यंत सरलता से मिल जाता है, यह सभी दर्शनों का कथन है। कुछ चीजें ऐसी हैं जो हमारे समग्र सनातन धर्म और उसके अनुयायियों में एक जैसी हैं उनमें ॐ है। बौद्धों के अंदर भी ॐ का ही प्रयोग, जैनों में भी ॐ का प्रयोग, सिक्खों में ॐ का प्रयोग एकोंकार के रूप में, आर्यसमाजियों में भी ॐ का प्रयोग मिलता है। जो निर्गुणी संतों की परम्परा है, इसमें भी ॐ का प्रयोग है। जैसे पुनर्जन्मवाद हमारे यहाँ सबकी मान्यता है। बौद्ध, जैन, सिक्ख, आर्यसमाजी सभी पुनर्जन्म के विषय में एकमत हैं, किसी में मतभेद नहीं है। ऐसे ही ॐ है। इसको सबने माना है, इसके बारे में किसी को कोई संदेह नहीं है। इस उपनिषद् में ॐ के ध्यान को विस्तार से नहीं बतायेंगे। इसको बताने वाली दूसरी उपनिषदें हैं। न इसमें ॐ के जप को विस्तार से बतायेंगे, उसको अन्यत्र बताया है। इसमें तो उस ॐ का बुद्धिपूर्वक विचार करके निर्णय करेंगे कि यह जीव और ईश्वर की एकता को बताता है।

'सकारं च हकारं च लोपयित्वा प्रयोजयेत्' सोहम् में स और ह दो व्यंजन (consonents) हैं। अगर इन दोनों को हटा दो तो सो का ओ और हं का अम् बच जायेगा। इसलिये ओम् बच गया। व्याकरण के अनुसार व्यंजन केवल अर्थ को स्पष्ट करने के लिये हैं। स्वरूप से आवश्यक नहीं हैं क्योंकि व्यंजन का मतलब लगावण होता

है जैसे भात खाना हो तो साथ में दाल, फुलका खाना हो तो साग, ढोकला खाना हो तो साथ में चटनी चाहिये। उसे लगावण कहते हैं। संस्कृत में लगावण को व्यंजन ही कहते हैं। कई बार जब आरती करते होगे तो कहते होगे कि 'भाँति भाँति के व्यंजन तुमको ईश चढ़ाऊँ' अर्थात् हे परमेश्वर तुमको भाँति भाँति के व्यंजन चढ़ाता हूँ। ठीक इसी प्रकार व्याकरण वालों के हिसाब में जो व्यंजन हैं वे केवल अर्थ को प्रकट करने के साधन हैं। असली चीज तो स्वर है। देखा होगा कि गूँगे लोग प्रायः स्वर तो बोल लेते हैं, व्यंजन नहीं बोलते हैं। थोड़ा सा भी अभ्यास करो तो उनकी बात समझ में आ जाती है। काशी में हमारे मठ में एक बहुत पुराना नौकर है जो गूँगा है, वह सब बातें समझा देता है। हम समझ जाते हैं, हम लोगों को अभ्यास है, इसलिये कोई कठिनाई नहीं पड़ती। कौन आया, कौन गया सब बता देता है। ऐसे ही एक बार प्रभुदत्त ब्रह्मचारी ने नियम लिया था कि वे स्वर का प्रयोग करेंगे, व्यंजन का प्रयोग नहीं करेंगे, उनके साथ भी बातचीत हो जाती थी। शुरू में लोगों को दिक्कत पड़ती है। स और ह व्यंजन हो गये और अर्थ को प्रकट करने वाला ॐ जीव और परमेश्वर की एकता को बताने वाला है। सोहम् का ॐ जीव ईश्वर की एकता को बताता है, यह निर्णय करने वाला प्रथम प्रकरण है।

भगवान् शंकर स्पष्ट करते हैं कि यह जो पहला प्रकरण हैं, 'आगमप्रधानम्' इसमें आगम ही प्रधान रहेगा। आगम अर्थात् आया हुआ अर्थात् परम्परा से जो ज्ञान आया हुआ होता है उसको आगम कहते हैं। जो ज्ञान परम्परा से बार-बार अभ्यास करके लोगों ने अनुभव में लिया है उसको ही प्रधान रूप से यहाँ रखा जायेगा। इसलिये यहाँ पर ज्यादा बुद्धि खटाने की जरूरत नहीं है। यहाँ बुद्धि लगाने से काम नहीं होगा। कई ऐसे विषय होते हैं जो आगम परम्परा से ही प्राप्त होते हैं। जैसे दाल पकाने में यदि पहले नमक डाल दो तो दाल गलती नहीं। यह परम्परा से प्राप्त ज्ञान है। यह जिसको न पता हो, वह दाल में झट नमक डाल देगा, बाकी सब मसाला तो उबलकर बढ़िया हो जाता है, लेकिन नमक डाल दिया तो दाल खड़ी की खड़ी रह जायेगी। इन सब चीजों में बुद्धि नहीं लगा सकते। लगाकर भी पहुँचना यहीं पड़ेगा। अथवा जल्दी दाल बनानी हो तो उसमें थोड़ा सा तेल डाल दो तो जल्दी उबल जाती है। यह आगम परम्परा से ही प्राप्त होगा। जैसे आलू के चिप्स बनते हैं ऐसे ही केले के चिप्स बनते हैं लेकिन इन्हें नारियल के तेल में तलो तभी ठीक बनते हैं। कभी कभी हमको दक्षिण के कोई भक्त भेज देते हैं। माताओं का स्वभाव होता है कि हम भी ऐसे ही तैयार करें। जब करती हैं तो खराब हो जाते हैं। अंत में पूछती हैं कि क्या बात है? हम कहते हैं कि तिल का तेल या कड़वा तेल लोगे तो नहीं होगा, नारियल का तेल लो तो हो। पूछती हैं इसमें क्या विशेषता है? हमने कहा— आगम प्रधान है, यही विशेषता है। यहाँ बुद्धि नहीं खटानी पड़ती। परम्परा और अनुभव को समझ लेना पड़ता है। प्रयोग करोगे तो फायदा उठाओगे, नहीं तो घर बैठो।

इसी प्रकार ओंकार का कैसे प्रयोग करें? भिन्न भिन्न ऋषियों ने जैसा किया, वैसा समझकर करना है। उसमें अपनी बुद्धि काम में आने वाली नहीं, इसलिये आगम प्रधान है। आगम 'प्रधान' क्यों कहा? प्रधान इसलिये कहा कि कुछ समझने के लिये तो मनुष्य को बुद्धि काम में लेनी पड़ती है। आगम होने पर भी उसमें कुछ बुद्धिसंगत बात न हो तो मनुष्य को बैठती नहीं। जैसे नमक से दाल क्यों नहीं गलती? क्योंकि उबलने के तापमान (boiling point) में फर्क आ जाता है। यह बुद्धिसंगतता हो गई कि इस कारण से ऐसा हो जाता है। बुद्धि में बात बैठ गई कि उबलने के तापमान में फ़र्क आ जाने से दाल जल्दी नहीं गलती।अथवा जब दाल में तेल डाल देते हैं तो तेल दाल के ऊपर रहता है तो एक प्रकार से हल्का प्रेशर कुकर का काम करता है। जैसे प्रेशरकुकर भाप को बाहर नहीं जाने देता ऐसे ही तेल की झिल्ली उसे रोक देती है। इसलिये गलने का काम जल्दी से हो जाता है। यह बुद्धि संगत हुआ, बात समझ में आ गई। नारियल के तेल में स्थूलता अधिक होती है। जैसे ठण्ड के मौसम में लोग यहाँ आये हुए होते हैं तो नारियल के तेल को धूप में लेकर बैठे रहते है। हमारे यहाँ रहने वाले महात्मा कड़वा तेल लगाते हैं तो उन्हें कभी धूप में लेकर नहीं बैठना पड़ता। वह जो उस तेल का घनीभवन है उसके कारण उसमें तो केले के चिप्स ठीक से जम जाते हैं, दूसरे में नहीं जमते। ये सब युक्तियाँ तो ठीक हैं समझने के लिये लेकिन यह समझकर नहीं किया जाता है। है तो यह आगम प्रधान ही। समझने के लिये बाद में युक्ति सोच लो। इसी प्रकार ओंकार के प्रयोग में कभी किसी युक्ति को दे देंगे जिससे बात बैठ जाये लेकिन वस्तुतः तो आगम ही प्रधान है। इसलिये 'आगममात्रं' न कहकर 'आगमप्रधानं' कह दिया।

शंका होती है कि आप ज्ञान कराने चले थे तो हमको बुद्धि से ज्ञान ही कराते, आगम को प्रधान क्यों कह दिया, इसको बीच में क्यों डाल दिया? जवाब है कि आत्मतत्त्व के ज्ञान का यह उपाय है। ओंकार का प्रयोग करोगे तो आत्मत्व की प्रतिपत्ति अथवा प्राप्ति होगी, नहीं तो होने वाली नहीं। यदि अनेक युक्तियों को बता भी दिया और ओंकार का विचार नहीं किया तो आत्मज्ञान नहीं होगा। इसलिये प्रतिपत्ति अर्थात् आत्मतत्त्व के ज्ञान का यह उपाय है, इसलिये इसे कह दिया। यह इसलिये बताया कि आत्मज्ञान ही पुरुषार्थ का साक्षात् उपाय है, ओंकार का ज्ञान नहीं, लेकिन ओंकार के ध्यान आदि के द्वारा आत्मा का ज्ञान होता है। जैसे दृष्टांत दिया था कि काँच में मुँह देखने से अपना चेहरा दीखता है। अब कोई युक्ति लगाये कि काँच भी बालू से बनता है तो हम बालू रख लें या बालू का घड़ा बना लें तो क्या हर्जा है? तो उससे कहेंगे कि हर्जा तो कुछ नहीं है लेकिन चेहरा नहीं दीखने वाला है। बालू से बनने वाले काँच में ही यह विशेषता है कि मुख को दिखाये, दूसरे किसी में यह विषशेता नहीं है। यह आगम हुआ। युक्ति तो यह कहती है कि बालू में ही देख लो क्योंकि कारण के गुण कार्य में जाते हैं तो उसमें भी चेहरा दीखता होगा। लेकिन दीखता नहीं। इसी प्रकार मन में कई बार शंका

आती है कि भगवान् का कोई भी नाम लो, क्या फरक पड़ता है, ॐ में क्या विशेषता है? बाकी किसी भी नाम को लोगे तो आत्मज्ञान नहीं होगा, जब तक ॐ का सहारा नहीं लोगे। यद्यपि सभी नाम भगवान् के हैं लेकिन इसी में यह विशेषता है कि इसमें आत्मा का ज्ञान हो जाता है। बाकी नामों के द्वारा तत्तत् देवताओं का साक्षात्कार, तत्तत् रूपों का साक्षात्कार हो सकता है लेकिन आत्मा और ब्रह्म की एकता समझने के लिये ॐ की ही जरूरत है। यह सब मंत्रों के आदि में लगाया जाता है जैसे ॐ नमः शिवाय, ॐ नमों भगवते वासुदेवाय ॐ नमो नारायणाय, ॐ क्लीं कृष्णाय नमः, ॐ रां रामाय नमः। हर मंत्र के साथ में ॐ इसीलिये लगता है कि भले ही बाकी देवता इत्यादि का ध्यान करो, लेकिन एक दिन तुम ॐ को पकड़कर आत्मज्ञान प्राप्त करके मुक्त भी हो जाओ। इसीलिये बाकी मंत्रों के साथ ॐ ज़रूर रहता है। जिस दिन दूसरे देवताओं से दृष्टि हटकर उस परब्रह्म परमात्मदेव पर दृष्टि गई तो वह ॐ उसी का मन्त्र रह जाता है। 'यो वेदादौ स्वरः प्रोक्तः'। प्रत्येक वैदिक मंत्र के आदि में और अंत में ॐ का प्रयोग होता है। सबसे प्रधान गायत्रीमंत्र भी ॐ से प्रारंभ होता है। गायत्री मंत्र में ब्राह्मण तीन ओंकार, क्षत्रिय दो ओंकार और वैश्य एक ओंकार लगाता है। यह भी ॐ की प्रधानता को बताता है। इसलिये कह दिया कि उसके द्वारा ही ज्ञान होता है। परम फल हुआ आत्मज्ञान, तत्त्वज्ञान, और उस तत्त्वज्ञान का यह साधन ओंकार है। केवल ॐ जानने से कुछ नहीं होगा। ॐ का प्रयोग करके आत्मदर्शन करना पड़ेगा। यह प्रथम प्रकरण का विषय बता दिया।

अब दूसरे अध्याय का विषय बताते हैं 'यस्य द्वैतप्रपंचस्योपशमेऽद्वैतप्रतिपत्ती रज्ज्वामिव सर्पादिविकल्पोपशमे रज्जुतत्त्वप्रतिपत्तिः तस्य द्वैतस्य हेतुतो वैतथ्यप्रतिपादनाय द्वितीयं प्रकरणम्।' द्वैत प्रपंच का उपशम होने पर अद्वैत की प्रतिपत्ति है। जैसे रस्सी के ज्ञान हो जाने पर सर्प आदि का विकल्प नष्ट हो जाता है, रज्जु तत्त्व का ज्ञान हो जाता है। उस द्वैत के वैतथ्य का प्रतिपादन करने के लिये दूसरा प्रकरण है। ओंकार से आत्मज्ञान प्रथम प्रकरण में हो गया। आत्मज्ञान से जो द्वैत नष्ट हुआ वह द्वैत वितथ है। तथ्य से रहित है अर्थात् सच्चाई से रहित है। है जरूर, लेकिन सच्चाई से रहित है। जैसे बगुला भी ध्यान करता है और बड़ा एकाग्र ध्यान करता है, लेकिन ध्यान के अन्दर जो परमात्मा के प्रति आत्मसमर्पण होना चाहिये उससे रहित है। वह ध्यान काहे के लिये करता है? मछली आये तो खट पकड़ ले। इसी को तथ्यरहित कहते हैं।

बड़े बड़े सेठ लोग आसनसिद्धि वाले होते हैं। तीन घण्टा एक आसन से बैठो तो आसन सिद्धि हो। सेठ लोग सवेरे सात बजे से रात के नौ बजे तक गद्दी से उठते नहीं, यह आसनसिद्धि है। अच्छे अच्छे साधकों में इतनी आसनसिद्धि नहीं होती है लेकिन आसनसिद्धि का जो फल योगाभ्यास में बताया, वह उनको इसलिये नहीं होता कि वह तथ्यरहित आसनसिद्धि है। इसी प्रकार उनकी तपस्या है।

इस समय दिल्ली में लू चल रही होगी, उस लू में दलाल बेचारे इधर से उधर घूम रहे होंगे। यह कोई उन लोगों की कम तपस्या नहीं होती है। कभी कभी वे कह भी देते हैं 'महाराज! देखिये हम लोग कैसे कैसे कष्ट सहते हैं, यह भी तो तपस्या है।' तपस्या है, इसको न किसने कहा, लेकिन तथ्यरहित तपस्या है। तथ्य उस तपस्या का क्या है? कुछ नहीं। शाम तक पाँच सौ रुपये कमाकर घर आ गये। इसी प्रकार संसार सारा प्रतीत होता है लेकिन इस सारे संसार का फल क्या है? कुछ नहीं, तथ्यरहित है। मकान बनाओ बच्चों को बड़ा करो, उनके लिये काम निकालो, उन्हें कमा कमाकर पैसा दो; लेकिन सब करके फल क्या निकला? कुछ भी नहीं। जवाब मिलता है कि फालतू सब कष्ट किया, सब बेकार गया; लेकिन अब यह समझने से क्या हो। दूसरा जन्म ले लेते हैं, फिर अपने लड़के पोतों को बटोर लेते हैं। कई लोग तो दूसरों को भी उपदेश करते हैं कि यही तो परमात्मा की सेवा है, यही तो परमात्मा है। उनसे कहो कि इस परमात्मा की सेवा गये जन्म में की थी या नहीं? की थी। वह सब करके तो तुम्हारी यह स्थिति हुई है और अब जो सेवा कर रहे हो उससे भी यही स्थिति होनी है, इससे बेहतर तो होनी नहीं है। यह सारा करके क्या हाथ आता है? कोई तथ्य हाथ नहीं आता।

अब यह सिलसिला चलता क्यों है? माँ बापों के हृदय में दया नहीं है, मोह तो होता है लेकिन दया नहीं होती है। दया हो तो विचार करें कि मेरे बाप दुःखी मरे, मेरे दादा दुःखी मरे, मैं दुःखी मर रहा हूँ, कम से कम अपने बाल बच्चों को तो इस दुःख के टण्टे में न डालूँ। लेकिन ऐसा नहीं सोचते। निर्दयी होते हैं कि जब मेरे दादा ने भोगा, मेरे बाप ने भोगा तो मेरा बेटा भी क्यों छूटे, इसे भी खूब तड़पाना है। दया हो तो पिता पहले बैठकर कह दें कि 'ब्याह करके तेरी माँ से मुझे ऐसे ऐसे दुःख मिले, मेरा बाप भी दुःखी था, तेरे चाचा ने भी ऐसे ऐसे दुखः भोगे। मेरी मान तो तू ब्याह के चक्कर में मत जा।' लेकिन वह रहस्य छिपा कर रखते हैं। इसलिये यह चक्र चलता रहता है। 'वैतथ्यप्रतिपादनाय' द्वैत तथ्यरहित है, इसका प्रतिपादन करने के लिये दूसरा प्रकरण बताया। इस प्रकरण के अन्दर अधिकतर अनुमान देंगे। प्रथम प्रकरण आगम प्रधान हुआ और दूसरे में अधिकतर अनुमान या हेतु देंगे। हेतुओं से समझायेंगे कि द्वैत तथ्यरहित क्यों है।

अब तीसरे प्रकरण का विषय कहते है— 'तथाद्वैतस्यापि वैतथ्यप्रसंगप्राप्तौ युक्तितस्तथात्वदर्शनाय तृतीयं प्रकरणम्' अब जिन हेतुओं से हम द्वैत की प्रतीति को वितथ बतायेंगे उन्हीं हेतुओं को बताकर अद्वैत अनुभव को भी कोई वितथ मान सकता है, ऐसा प्रसंग होने पर युक्ति से समझायेंगे कि वह अनुमान द्वैत प्रपंच में तो लग सकता है, अद्वैत में नहीं लग सकता। हेतु और युक्ति में फर्क होता है।

जैसे किसी ने कह दिया कि सारे कौए धौले होते हैं। क एक कौआ है। इसलिये वह झट बोलेगा कि 'क' धौला है। वह धौला है नहीं, है तो वह काला। लेकिन हेतु तो अंधा होता है। गणित शास्त्र इसीलिये अंधा होता है क्योंकि वहाँ हेतु है कि जिस

काम को पाँच आदमी पाँच दिन में करते हैं तो उस काम को पच्चीस आदमी एक दिन में करेंगे। दो सौ आदमी उसे कितनी देर में करेंगे? एक घंटे में। उनसे कहो कि ये १२ हजार आदमी दिये, करो एक मिनट में। लेकिन क्या होना है। कहेंगे 'वह तो गणित की किताब में होता है।' इसमें हेतु तो गलत नहीं है लेकिन युक्ति नहीं है। इन दोनों में फर्क हुआ करता है।

द्वैत को वितथ सिद्ध करने वाली दश महाविद्यायें ऐसी हैं जिनके द्वारा किसी भी चीज की वितथता सिद्ध की जाती है। लेकिन आत्मा की वितथता उनसे सिद्ध नहीं की जा सकती, क्योंकि युक्ति से विरोध है। जैसे मान लो हमने कहा जिस चीज का अनुभव होता है वह असत्य होती है जैसे स्वप्न। जाग्रत् के पदार्थ भी थोड़ी देर में नष्ट हो जाते हैं इसलिये वे भी असत्य हैं। अगला प्रश्न हो सकता है कि मुझे अपना अनुभव होता है तो असत्य होता होगा। क्यों? क्योंकि अनुभव होता है। यह हेतु तो हुआ, इसमें दोष नहीं है। लेकिन इसको युक्ति से समझायेंगे कि किसी चीज के असत्यपने का निश्चय तो कोई करेगा। प्रतीति की असत्यता का निश्चय ही तो प्रतीति की असत्यता है। निश्चय करने वाला अपनी असत्यता का निश्चय कैसे करे? क्योंकि अपनी असत्यता का निश्चय यदि करता है तो जो निश्चय कर रहा है, वह सत्य रह गया और निश्चय करने वाला ही तो आत्मा है। यह युक्ति हो गई। निश्चय वहीं हो सकता है जहाँ चेतन पदार्थ हो। असत्यता का निश्चय स्वयं कहीं रहेगा इसलिये जहाँ रहेगा, वह असत्य नहीं हो सकता है। यह युक्ति हुई। अद्वैत के भी वैतथ्य की प्राप्ति होने पर युक्ति से समझायेंगे कि आत्मा ऐसा नहीं है। उसको समझाने वाला तीसरा अध्याय है अद्वैत प्रकरण।

जब अद्वैत इस प्रकार एकमात्र तथ्य सिद्ध हो जाता है तो जो लोग ऐसा नहीं मानते वे उसके विरोधी हुए। उनका जवाब चौथे प्रकरण में देंगे 'अद्वैतस्य तथात्वप्रतिपत्तिप्रतिपक्षभूतानि यानि वादान्तराण्यवैदिकानि तेषामन्योन्यविरोधित्वादतथार्थत्वेन तदुपपत्तिभिरेव निराकरणाय चतुर्थं प्रकरणम्।' अद्वैत में दोष देने वाले जो दूसरे वाद हैं नैयायिक आदि, या अवैदिक बौद्ध आदि हैं जो वेद को प्रमाण नहीं मानते, उनके लिये यह जवाब है। यह हमारे शास्त्रों की मर्यादा है, इसे याद रखना। हम लोग बाड़ाबंदी के धर्म वाले नहीं है। एक बाड़ाबंदी वाले हैं जो कहते हैं हम तो जो ईसामसीह ने कहा वह मानते हैं, दूसरे जो मुहम्मद साहब ने कहा वह मानते हैं। अपनी अपनी श्रद्धा है। यह बाड़ाबंदी के धर्म हैं। तुमने अपना बाड़ा बनाया तो तुम अपने घर में राजी हम अपने घर में राजी। इसका नाम बाड़ाबंदी का धर्म है। हम बाड़ाबंदी का धर्म नहीं मानते। जर्मन साइंस, ब्रिटिश साइंस, रशियन साइंस अथवा ब्रिटिश फिज़िक्स, रशियन फिज़िक्स या इंडियन फिज़िक्स अलग अलग नहीं होती है। किसी देश का कोई व्यक्ति भौतिकी के विषय में, रसायन के विषय में कोई आविष्कार करेगा तो सभी बैठकर विचार करेंगे कि यह ठीक है या गलत। गलत होगा तो कहेंगे कि उस मान्यता में ये दोष हैं, इनका जवाब दो। यदि गलत नहीं है तो

हम सब मान लेंगे कि तुमने ठीक बात कही। हमारे यहाँ विज्ञान में भी कुछ बाड़ाबंदी चलती है क्योंकि कई लोग कहते हैं कि अपने देश का आयुर्वेद सबसे अच्छा है, ऐलोपैथी विदेशियों के काम की है, अपने लिये नहीं। यह विज्ञान की बाड़ाबंदी है। आयुर्वेद का सिद्धान्त ठीक है, इसलिये सभी आयुर्विज्ञान वाले विचार करें कि हमारी मान्यता ठीक है या गलत है। यह सिद्ध होगा कि हमारी मान्यता गलत है या तुम्हारी मान्यता गलत है। आयुर्विज्ञान वाले लोग अपने यहाँ बाड़ाबंदी चलाते है। इसलिये एक साथ ही कहेंगे कि आयुर्वेद, यूनानी, होम्योपैथी सबकी उन्नति करनी है। अरे! विज्ञान तो एक हुआ, बैठकर निर्णय करना है कि कौन सी चीज गलत है और कौन सी ठीक है। जैसे हमने विज्ञान में बाड़ाबंदी लाई, वैसे विदेशियों ने धर्म में बाड़ाबंदी लाई इसलिये वे कहते हैं कि हम क्रिश्चियन, मुसलमान, यहूदी बैठकर विचार नहीं करेंगे कि हमारी बात ठीक है तो तुम मानो, तुम्हारी ठीक है तो हम मानें। कहेंगे अपना अपना धर्म मानो, तुम अपने घर ठीक, हम अपने घर।

हम लोगों ने ऐसा कभी नहीं किया। हमारे यहाँ जितने मत हुए जैसे बौद्ध, जैन और उसके बाद मध्यकाल में मुसलमान आये, सूफियों के साथ भी हमारा विचार हुआ। कुछ उनकी साधनाओं की स्वीकृति, अस्वीकृति हुई, जो कुछ हुआ लेकिन हमने कभी बाड़ाबंदी का प्रयत्न नहीं किया। हमने कहा की तुम्हारा धार्मिक आविष्कार है, यदि ठीक होगा तो हम मानेंगे, हमारा ठीक हो तो तुम मानो। लोग इसका उलटा अर्थ लेते हैं कि हम झगड़ा करते है। झगड़ा नहीं तत्त्व-निर्णय के लिये प्रवृत्ति करते है। हम तुम्हारे ग्रंथ भी बाँचेंगे, बाइबल कुरान बाँचेंगे, सब में जो उपादेय लगेगा वह लेंगे नहीं तो कहेंगे कि ठीक नहीं है या समझेंगे कि क्यों ठीक है। प्राचीन काल से ही हम लोग ऐसा करते रहे हैं। यह हमारी परम्परा रही है। जो वेद मानने वाले वादी शंका करेंगे उनको यह कहना ही पर्याप्त है कि वेद में लिखा है अतः मानो। जो अवैदिक हैं, वेद न मानने वाले हैं, उन्होंने अपने धर्मग्रन्थों में जो लिखा उससे विचार करेंगे। ईसाइयों से मिलकर पूछेंगे कि तुम्हारी बाइबल में जीसस कहते है 'मैं और मेरे पिता एक हैं' (I and my Father are one),'माइ फादर' में षष्ठी का प्रयोग है अर्थात् मेरा पिता, फिर पिता और पुत्र की एकता कैसे? यदि तुम कहते हो कि पिता और पुत्र की एक जात है तो वही हम कहते हैं कि जीव ईश्वर की एक जात चेतन है, उसे मान लो। इस प्रकार उन्हीं के धर्मग्रन्थों से विचार करेंगे। या समझेंगे या उनसे कहेंगे कि हम से समझ लो। अवैदिकों के अन्दर जो आपस के विरोध हैं उनपर विचार करेंगे और उनकी दी हुई युक्तियों से ही अद्वैत की सिद्धि करेंगे। यह करने के लिये चतुर्थ प्रकरण अलातशांति प्रकरण है। यह संक्षेप में चारों प्रकरणों का तात्पर्य बता दिया।

तब प्रश्न होता है कि ओंकार का ध्यानज्ञान आदि करना तभी उचित है जब वह आत्मतत्त्व की प्राप्ति का उपाय है यह बात शास्त्र में कही हो; क्या ऐसा शास्त्र कहता है? इसका उत्तर भाष्यकारों ने अनेक श्रुतियों के उदाहरण से दे दिया। कठोपनिषत् में

ॐ की बहुत प्रशंसा है। यमराज कहते हैं कि सभी वेद इसका प्रतिपादन करते हैं, सभी तप इसी की प्राप्ति के लिये हैं, ब्रह्मचर्य का पालन भी इसी के लाभ के लिये किया जाता है। इसे ही अक्षर ब्रह्म बताया है। ॐ ही परम श्रेष्ठ आलम्बन है, परमात्मप्राप्ति के सहारों में उत्तम है। ऐसे ही प्रश्नोपनिषत् में पाँचवा प्रश्न ॐ की उपासना से ही सम्बद्ध है। वहाँ ॐ को पर और अपर ब्रह्म बताया है। मैत्र्युपनिषत् में ॐ इस प्रकार आत्मा के ध्यान का विधान किया है अर्थात् एकाग्र होकर ॐ का उच्चारण करते हुए आत्मा का अनुसन्धान करे, स्थूल अकार का सूक्ष्म उकार में, उसका फिर कारण मकार में और अन्त में उसका भी कार्य कारण से अतीत प्रत्यगात्मा में उपसंहार, विलय, करते हुए उस कार्यादिरहित आत्मभाव में स्थित रहे। ऐसे ही तैत्तिरीय, छान्दोग्य आदि अनेक उपनिषदें ॐ के महत्त्व में प्रमाण होने से इस को पूरी तरह समझना और समझकर जप-ध्यानपूर्वक इससे ज्ञान पाना उचित है।

●

प्रथम मन्त्र

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद् भविष्यद् इति सर्वमोङ्कार एव, यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदपि ओङ्कार एव।।१।।

श्रुति कहती है ॐ यह अक्षर ही सब कुछ है। जैसे रस्सी ही साँप आदि कल्पित पदार्थों का आस्पद अर्थात् अधिष्ठान, ऐसे ही प्राण आदि सब कल्पित पदार्थों का आस्पद अद्वितीय परमात्मा है। उसी पर सब टिका है। इसी तरह प्राण आदि पदार्थों का बोध कराने वाला शब्दजाल ॐ पर टिका है, ॐ ही सारे शब्दजाल का आस्पद है। आगे अभिधेय अर्थात् जिन चीज़ों को शब्दों से कहा जाता है वे अपने अभिधानों से अर्थात् अपने को बताने वाले शब्दों से भिन्न नहीं। इस प्रकार ज्ञेय पदार्थ अपने नामों से भिन्न नहीं और सभी नाम ॐ से भिन्न नहीं तो ॐ ही यह सब है इसमें संदेह नहीं। ऐसा नहीं कि दो आस्पद हैं, एक ब्रह्म और एक ॐ, इसी शंका को मिटाने के लिये भाष्यकार ने कहा 'स चात्मस्वरूपमेव' वह ॐ आत्मस्वरूप ही है, वस्तुतः आत्मा ही है। श्रुतियाँ स्पष्ट कहती हैं कि कार्य केवल कहने भर को है— वाचारम्भण है। अतः यह समझा जा सकता है कि नाम-रूपात्मक प्रपंच वाणी पर ही टिका है, वाणी के बिना, अभिधान के बिना है ही नहीं। सब अर्थविशेष शब्दविशेषों से व्याप्त हैं, नामों से ही सामान्य-विशेष सभी पदार्थ व्यवहार में लाये जाते हैं। इस श्रौतसिद्धान्त से ही यहाँ कहा कि ॐ ही सब कुछ है। अभिधान-अभिधेय, वाच्य-वाचक, बोधक-बोध्य— इस ढंग से ही परब्रह्म भी समझा जाता है अतः उसे भी ओंकार कह देना ठीक है।

इस प्रकार अभिधान और अभिधेय दोनों ही ओंकाररूप हैं। ध्यान, जप, चिंतन इत्यादि के लिये वह अभिधेय है और साक्षात् परब्रह्म परमात्मा का वह अभिधान है।

अपरब्रह्म रूप तो वह खुद है और परब्रह्म रूप का वह अभिधान है। परब्रह्म का नाम होने से वह परब्रह्मरूप है क्योंकि अपने यहाँ नाम और नामी का अभेद है। नाम और नाम वाले का आपस में क्या सम्बन्ध है? नियम यह है कि जिस चीज की जिस चीज के बिना सिद्धि नहीं होती, वह तद्रूप होती है। जैसे लाल रंग की लाल पदार्थ के बिना सिद्धि नहीं। जिसे कहते हैं कि यह लाल रंग का डिब्बा है, वह भी खाली लाल रंग ही नहीं है, वह लाल का पाउडर है। पाउडर एक द्रव्य हुआ जिसमें वह लाल रंग है। जहाँ गुण होगा, वहीं गुणी होगा और गुणी गुण के बिना नहीं। इसलिये गुण और गुणी का क्या सम्बन्ध है? तादात्म्य सम्बन्ध है अर्थात् गुण गुणी एक ही हैं। जिसकी जिसके बिना सिद्धि नहीं वह तद्रूप होता है। ऐसे ही नाम के बिना नामी की सिद्धि नहीं और नामी के बिना नाम की सिद्धि नहीं तो नाम और नामी एक ही हैं। कुछ विचारक देवताओं को इसीलिये नामरूप ही मानते हैं। इन्द्र माने इ पूर्वक न पूर्वक द पूर्वक र पूर्वक अ, इसका उच्चारण ही इंद्र का स्वरूप है। लोगों को समझाने के लिये कह देते हैं कि द्रेवता आकर हाथ आदि से आहुति ले लेते हैं लेकिन वस्तुतः इन्द्र पद का उच्चारण ही, 'इन्द्राय स्वाहा' यह बोलना ही पर्याप्त है। इसके लिये अलग चीज की अपेक्षा नहीं। इसी प्रकार जब ॐ का उच्चारण करते हैं तो उससे भिन्न कोई अपरब्रह्म है ऐसा नहीं, ओंकार का उच्चारण किया और वह ब्रह्म है। नाम नामी का अभेद है। इसलिये कह दिया कि अपरब्रह्म रूप वह खुद है और परब्रह्मरूप वह परब्रह्म का नाम होने से है क्योंकि नाम तथा नामी का अभेद होता है। किसी चीज का अधिगम अर्थात् ज्ञान कब हो सकता है? जब हम उसका कोई न कोई नाम बतायें। उपायभूत नाम ही उपेय की प्राप्ति कराने वाला है। इसलिये यहाँ पर ओंकार का उच्चारण करते रहने से उस परब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है। यह वाच्य-वाचक की अभिन्नता बता दी। आनंदगिरि स्वामी स्पष्ट करते है 'वाच्यं ब्रह्मापि वाचकाभिन्नं तन्मात्रमेव भविष्यति' ब्रह्म वाच्य हो गया और वाचक ओंकार हो गया, इसलिये ब्रह्म भी उपासना की दृष्टि से ओंकार मात्र ही हो गया। जहाँ तो ज्ञेय ब्रह्म का प्रसंग होता है वहाँ ओंकार वाचक नहीं, लक्षणा से जानकारी होती है अतः ज्ञेय ब्रह्म ॐकारमात्र नहीं है।

वह और कैसा है? 'अक्षरस्य' ॐ का उच्चारण करने से अपने को प्रतीति होती है मानो इसमें तीन अक्षर हैं अकार, उकार, मकार। लेकिन वस्तुतः एक अखण्ड ॐ को समझने के लिये अकार उकार मकार की कल्पना की जाती है। यह थोड़ा सा मुश्किल विषय है। शब्द और ध्वनि में क्या फर्क है? ध्वनि आवाज है लेकिन जिन आवाज़-समूहों का या ध्वनिसमूहों का कोई अर्थ होता है उनको शब्द कहते हैं। वह ध्वनि समूह जो किसी अर्थ को बताता है शब्द कहा जायेगा। जैसे दो ध्वनियाँ एक जैसी करें घट और टघ। एक ही प्रयास दोनों में हुआ लेकिन घट शब्द है टघ शब्द नहीं है क्योंकि इसका कोई अर्थ नहीं है। जब तक किसी ध्वनिसमूह का अर्थ नहीं होगा तब तक उसे शब्द नहीं कहेंगे।

प्रश्न होता है कि अर्थ का ज्ञान कौन कराता है? सूक्ष्म दृष्टि से देखोगे तो पता लगेगा कि वाक्य ही अर्थ का ज्ञान कराता है। केवल घट बोलने से कुछ अर्थ का बोध नहीं होता। एक आभास तो घड़े का सा प्रतीत होता है लेकिन और कुछ पता नहीं लगता। लेकिन जब घड़े को ले आओ 'घटमानय', घड़े को ले जाओ, घड़े में पानी भर लाओ इत्यादि पूरा वाक्य कहते हैं, तब सचमुच अर्थ की प्रतीति होती है। इसलिये वास्तविक दृष्टि से विचार किया जाये तो वाक्य ही एक पूरी अखण्ड चीज है। अब वाक्य के अन्दर शब्दों का भिन्न भिन्न सम्बन्ध बताने के लिये भिन्न भिन्न कारक होते हैं जैसे 'घड़े को ले आओ' इसमें 'को' कारक हुआ, 'घड़े में पानी ले आओ' इसमें 'में' कारक हो गया। यह कुछ न कुछ घड़े के साथ संबन्ध बताता है। इसी प्रकार ले आओ, ला रहे हैं, लाये थे, लायेंगे इत्यादि क्रिया के अन्दर भी किसी न किसी भावविशेष का बोध होता है, वह चाहे भूत, भविष्य, वर्तमान रूप हो, चाहे आज्ञा, विधि, सम्भावना इत्यादि रूप हो। यह सब मिलकर एक वाक्यार्थ का ज्ञान हुआ।

बच्चे पहले वाक्य के द्वारा ही पढ़ते हैं। बच्चे शुरू शुरू में माता पिता की बात सुनकर बोलते हैं। इसी प्रकार सब लोग भाषा सीखते हैं। आज भी यदि गाँव की भाषा को देखो तो ऐसे ही सीखा जाता है। बोलते तो सभी हैं ही महाग्रामीण से महाग्रामीण भी आपस में बात करते हैं और समझते भी हैं। लेकिन वाक्य के बीच में कुछ पूछो कि ऐसा क्यों कह दिया? तो दायें बायें देखने लगेंगे। ग्रामीण केवल गाँव में रहने वाले ही नहीं, बहुत से पढ़े लिखों को भी हम ग्रामीण ही कहते हैं। दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के एक रीडर एक बार जर्मनी गये तो वहाँ हवाई अड्डे पर लोग उनको लेने आये। उनमें से एक ने उनसे प्रश्न पूछा कि 'मैं वहाँ पहुँचा और वह आया, मेरे वहाँ पहुँचते ही वह आया, मेरा वहाँ पहुँचना था और वह आया' इन तीनों वाक्यों में क्या अर्थभेद है? हिन्दी के रीडर कह रहे थे कि यह प्रश्न सुनते ही हमारे माथे पर पसीना आ गया कि इन तीनों का भेद हम कभी सोचते ही नहीं हैं क्योंकि विचार नहीं करते कि क्या बोलना है। इसी प्रकार पहले बोलते थे। कहते हैं सबसे पहले प्रजापति ब्रह्मा के पास इन्द्र पढ़ने के लिये गये तो एक हजार दिव्य वर्षों तक प्रजापति पढ़ाते रहे और इन्द्र पढ़ते रहे 'न तस्य अंतं जगाम' लेकिन फिर भी भाषा का पूरा ज्ञान उन्हें नहीं हुआ। सरलता से भाषा समझ में आ जाये इसलिये उस अखण्ड वाक्य के अन्दर ऋषियों ने भिन्न भिन्न धातु, प्रत्यय, पद इत्यादि की कल्पना की। यहाँ कल्पना शब्द याद रखना। है तो एक अखण्ड वाक्य ही क्योंकि ज्ञान तभी होगा जब पूरा वाक्य बोला जायेगा। लेकिन वाक्यों को समझना असम्भव होने के कारण उसमें धातु, प्रकृति, प्रत्यय इत्यादि की कल्पना की जाती है जिससे साधारण आदमी सरलता से समझ सके।

ठीक इसी प्रकार से जगह जगह पर अब अ उ साथ आतें हैं तो वहाँ पर ओ का विधान यह समझाने के लिये है कि कहीं कहीं ऐसा होता है। वस्तुतः तो ओ स्वयं एक

शब्द या ध्वनि हुई। उसमें अकार उकार की कल्पना की जाती है। सचमुच ऐसा नहीं है कि अ उ कहीं अलग हों और मिला दिया तो पद ओ बना। ओ स्वयं एक ध्वनि है। लेकिन ओ ध्वनि को समझने के लिये अकार उकार को मिलाकर समझाते हैं। ॐ एक ध्वनि हुई। उस ध्वनि को समझने के लिये उसमें अकार उकार मकार की कल्पना है।

इसी प्रकार से तुरीय है। तुरीय ब्रह्म तो एक चीज हुई और उसको समझने के लिये उसमें जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति तीनों की कल्पना करेंगे। वस्तुतः वहाँ न जाग्रत् है, न स्वप्न और न सुषुप्ति है। जैसे ॐ को समझने के लिये अकार उकार मकार मानकर चलते हैं, है वहाँ केवल ॐ, वैसे ही एक अखण्ड सच्चिदानंद परब्रह्म परमात्मा को समझने के लिये उसमें जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति की कल्पना आगे इस उपनिषद् में करनी है। उपनिषद् में की है तो हम लोग भी करते हैं। विचार करके देखो तो हम लोगों को अनुभवों का सातत्य हो रहा है। पहला, दूसरा, तीसरा अनुभव हो रहा है। जैसे यहाँ से चले तो हरयाणा के पास बोर्ड लिखा हुआ मिलता है कि हरयाणा आपका स्वागत करता है, दूसरी तरफ लिखा रहता है कि राजस्थान आपका स्वागत करता है। अन्यथा पता ही नहीं लगेगा कि हरयाणा कहाँ से शुरू हुआ और राजस्थान कहाँ खत्म हुआ। इसी प्रकार क्या हम लोगों को कहीं बोर्ड मिलता है कि अब तुम जाग्रत् को छोड़कर स्वप्न में या स्वप्न को छोड़कर सुषुप्ति में जा रहे हो? कुछ नहीं, केवल अनुभव को समझने के लिये यह विभाजन मान लिया। एक अनुभव हुआ कि हमने तिजोरी में पाँच लाख रुपये बन्द किये, फिर अनुभव हुआ कि वे पाँच लाख रुपये तिजोरी में देखने जाते हैं तो तिजोरी ही नहीं दीखती। मानना पड़ता है कि उस अनुभव में और इस अनुभव में कुछ फर्क है। उस फर्क को समझने के लिये हमने एक को स्वप्न और एक को जाग्रत् कह दिया। हम लेटे हुए हैं और कोई हमारे तकिये का एक धागा काटे तो उसे लप्पड़ मार देते हैं और किसी अन्य समय में हमारे तकियों के नीचे रखे हुए अशर्फियों के झोले भी चले जाते हैं तो थप्पड़ मारना तो दूर रहा, यही पता नहीं लगता कि कौन ले गया! इन दोनों विरोधों को देखकर एक का नाम नींद अर्थात् सुषुप्ति रख देते हैं, एक क़ा नाम जाग्रत् रख देते हैं। जो ज्ञानसंतति अनुभव में आ रही है उसमें जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति ऐसा भेद नहीं है। उन अनुभवों को हम ठीक प्रकार से समझ सकें इसके लिये तीन अवस्थाओं की कल्पना करते हैं। जैसे एक अखण्ड शब्द या वाक्य है 'रामेण रावणः हतः' उसमें हम कल्पना करते हैं 'रामेण' अलग शब्द, 'रावणः' अलग शब्द और 'हतः' अलग शब्द है। फिर उसमें एक राम अलग है, फिर उसमें एक तृतीया विभक्ति अलग है, टा अलग कर दिया; फिर राम में रम् धातु अलग है इत्यादि कल्पनायें करते चले गये। लेकिन उन सब कल्पनाओं की उपयोगिता केवल इस वाक्य के समझने में है। इसी प्रकार हमारी जो अनुभूति, या ज्ञान की संतति है वह एक अखण्ड रही, उसको समझने के लिये, व्यवस्था बनाने के लिये हमने जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति की कल्पना की।

ऐसे ही एक अखण्ड ॐ अक्षर को समझने के लिये हमने उसमें अ उ म तीन मान लिये। इसलिये कह दिया 'अक्षरस्य'।

'ओमित्येतस्योपव्याख्यानम्' यहाँ ॐ का उपव्याख्यान करेंगे। उपव्याख्यान का क्या मतलब है? स्वयं भगवान् भाष्यकार इसका अर्थ करते हैं 'ब्रह्मप्रतिपत्त्युपायत्वाद् ब्रह्मसमीपतया विस्पष्टं प्रकथनमुपव्याख्यानम्' ख्या धातु का अर्थ कहना होता है। जिसके बारे में लोग बहुत बातें करें उसकी ख्याति होती है। अर्थात् उसके बारे में बहुत बात बोली जाती है। ख्या से कथन हुआ, लेकिन कैसा कथन? व्याख्यान का मतलब किया है प्रकथन। किसी चीज का प्रकर्ष से, अर्थात् उसके अन्दर जितनी बातें होती हैं उन सबको लेकर जब कहेंगे तब उसका नाम होगा प्रकर्षेण कथन। किसी भी वाक्य का यदि हमको व्याख्यान करना हो तो उसमें कई चीजों को बताना पड़ेगा। पहले यह बताना पड़ेगा कि ये चीजें आपस में कैसे सम्बन्धित हैं? उनमें से प्रत्येक पद का अर्थ क्या है? उनका क्रिया के साथ सम्बन्ध क्या है? वे सब एक दूसरे से मिलकर किस बात को बता रहे हैं? आदि सब बताना पड़ेगा। तब उस वाक्य का तुमने व्याख्यान किया। आजकल हिन्दी वालों का व्याख्यान अलग चीज है। हिन्दी वाले किस चीज का व्याख्यान करते है इसी का पता नहीं रहता। बहुत से लोग कहते हैं 'वहाँ व्याख्यान होगा।' हम पूछते हैं 'किस विषय पर होगा' कहते हैं 'जो आपकी मर्जी हो।' इसलिये हिन्दी में तो उसका भी व्याख्यान किया जाता है जिसका कोई विषय नहीं। कोई चीज सामने हो तो व्याख्यान किया जाता है। हम अपने अनुभव का प्रकाश करने के लिये अपनी बात कह सकते हैं लेकिन उसका व्याख्यान तो कोई दूसरा कर सकता है। व्याख्यान अर्थात् जो चीज किसी ने बताई उसे उपयोगी समझकर उसके विषय में समझाना। इन सब चीजों को बताने वाला वाक्यसमूह ही व्याख्यान कहा जायेगा। यह प्रकथन हुआ। ॐ का प्रकथन करेंगे। अकार में वैश्वानररूपता, उसके उन्नसी मुख और सात अंग बतायेंगे। उसी प्रकार उकार को बतायेंगे कि उसके क्या क्या अंग, क्या क्या मुख हैं आदि। इसी प्रकार मकार को बतायेंगे। उस अकार उकार मकारका प्रकथन होगा अर्थात् अच्छी प्रकार से विस्तार कहेंगे। इसलिये वह व्याख्यान हो गया। फिर यहाँ उपव्याख्यान क्यों कहा? उप अर्थात् पास अर्थात् 'ब्रह्मसमीपतया विस्पष्टम्' यद्यपि अकार उकार मकार के एकाक्षर कोष में कुछ और अर्थ भी दिये हुए हैं, अन्य कुछ कल्पनायें करना भी सम्भव हो सकता था लेकिन सबकी अपेक्षा यहाँ पर ब्रह्मरूपता के समीप होकर ओंकार का व्याख्यान करेंगे। इसलिये वह उपव्याख्यान हो गया।

ॐ का ब्रह्मपरक ही अर्थ क्यों करते हैं अन्य अर्थ भी तो है? जवाब है कि दूसरे अर्थों से ब्रह्मज्ञान में कोई लाभ होने वाला नहीं है। जैसे ओं का मतलब हाँ भी होता है। ओं का मतलब 'मेरी रक्षा करो' ऐसा भी होता है। लेकिन वे अर्थ यहाँ नहीं करने हैं क्योंकि उन अर्थों से ब्रह्मप्रतिपत्ति नहीं होगी। यहाँ यही इष्ट है इसलिये यही कहा।

श्रुति ने तो इतना ही कहा। 'सारा संसार ॐ यह एक अक्षर है, इसका उपव्याख्यान' क्रिया तो बताई नहीं। अतः ऊपर से कह दिया कि 'समझना चाहिये' यह वाक्यशेष हो गया। बहुत बार आदमी बोलता है तो पूरा वाक्य नहीं बोलता। जैसे आदमी बाहर जा रहा है तो हम केवल 'दरवाजा' कह देते हैं तो वह समझ जाता है कि दरवाजा बन्द करना है। इसी प्रकार यहाँ पर यह वाक्यशेष है 'प्रस्तुतं वेदितव्यम्।'

आगे श्रुति ने कहा कि भूतकाल, वर्तमान काल और भविष्य अर्थात् आगामी काल में जो कुछ है वह सब ॐकार ही है। इसके द्वारा बता दिया कि 'कालत्रयपरिच्छेद्यं यत्तदप्योंकार एव उक्तन्यायतः' तीनों कालों से जो कुछ भी परिच्छेद्य है अर्थात् तीनों कालों में जो होता है वह भी ॐ ही है। जैसे राम भूतकाल में था, इसका मतलब है कि भविष्य और वर्तमान में नहीं है। 'राम था' में था के अन्दर परिच्छेद बता दिया। पहले था, अभी नहीं है, आगे नहीं रहेगा। 'आकाश था' ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि अभी है। इसी प्रकार 'मेरे पुत्र उत्पन्न होगा' इसका मतलब है कि पहले नहीं था, अब भी नहीं है। जहाँ कहीं कालवाचक शब्द का प्रयोग किया जाता है, वहाँ वह पदार्थ को परिच्छिन्न कर देता है अर्थात् अन्य किसी काल में नहीं है इस बात को बता देता है। परिच्छेद्य का मतलब होता है दूसरी चीज से हटाकर अलग करना। मारवाड़ में कहते हैं कि खेती में बाड़ बाँध दो अर्थात् पड़ोसी के खेत से अपने अलग हो जायें। उसी प्रकार जब हमने था, है या होगा किसी चीज के साथ लगाया तो हमने उसे काल से परिच्छिन्न कर दिया। इदम् शब्द का वास्तविक अर्थ यहाँ काल से परिच्छिन्न करना ही है क्योंकि जब कहते हो 'यह' तो उसको काल में परिच्छिन्न कर देते हो। यहाँ परिच्छेद्य जो कुछ भी है वह ओंकार ही है। जैसा वाच्य और वाचक का अभेद बताया था वैसे यहाँ भी समझना। जो चीज जिसके बिना नहीं रहती, वह तद्रूप होती है। अब कोई भी चीज संसार में इदम् बुद्धि वाली ऐसी नहीं की किसी न किसी काल में न रहे। या थी, या है या रहेगी, तीनों में से एक बात तो कहनी ही पड़ेगी, बिना काल के कोई चीज नहीं होती। जैसे बिना नाम के कोई चीज नहीं तो नाम और नामी का, वाच्य और वाचक का अभेद हो गया, उसी प्रकार बिना काल के कोई चीज नहीं रहती तो काल और काल वाली चीज का अभेद हो गया। यह उक्त न्याय हो गया। कालत्रय शब्द अकार, उकार, मकार से कह दिया जायेगा। भूतकाल अकार से कह दिया जायेगा। आगे कारण भी बता दिया जायेगा लेकिन कारण बात समझ में बैठने के लिये कहते हैं। 'अ' नहीं को कहते हैं। आगे कारिका के अन्दर बतायेंगे। जब कहते हो कि यह चीज थी तो इसका मतलब है कि अब नहीं है। संस्कृत भाषा में प्रायः भूतकाल के लिये अट् का आगम हो जाता है जैसे अभूम, अभवम् इत्यादि। इस समय नहीं, यह था का मतलब है, इसे अकार से कह दिया जायेगा। जो चीज सामने मौजूद होती है, वही प्रधान होती है। मान लो हम किसी को पत्र लिखने बैठे हुए हैं लेकिन दूसरा आकर कहता है कि मेरी बेटी को

पत्र भेज दीजिये, उसके ऊपर आपत्ति आ गई, उसका जवान लड़का मर गया है। वह पत्र लिखना रुक गया क्योंकि वर्तमान चीज सामने आ गई। इसलिये उपस्थित चीज उत्कृष्ट होती है। उ अर्थात् उत्कृष्ट, इसे भी आगे कारिका में विस्तार से बतायेंगे। वर्तमान उत्कृष्ट होने की वजह से उकार से कहा जायेगा। और जिस चीज के विषय में केवल विचार कर सकते हो वह भविष्य है। क्या होगा, क्या नहीं होगा कोई निश्चय नहीं कह सकते। लोग विचार करते हुए 'म्' ऐसी आवाज़ करते है अतः म से भविष्य कहा। इसलिये भगवान् भाष्यकार कहेंगे कि अकार, उकार, मकार, द्वारा तीनों कालों को बताने वाला ॐ हो गया। इसलिये श्रुति ने कह दिया 'भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वमोंकार एव'। भगवान्, भाष्यकारों ने कह दिया कि यह उक्त न्याय से, अभेद-न्याय से संगत हो गया।

केवल यही नहीं, श्रुति कहती है कि जो कुछ भी तीनों कालों से अतीत है, तीनों कालों के सम्बन्ध वाला नहीं है वह भी ॐ है। तीनों कालों के सम्बन्ध वाली न हो और फिर चीज हो, यह कैसे हो सकता है? यह शंका मन में आती है। इसलिये भाष्य में कहा 'कार्याधिगम्यम्' कार्य को देखकर उसका अनुमान होता है। भाष्य की यह पंक्ति बड़े सोचने की है। भाष्यकार कहते हैं कि जो चीज अनुभव में आती है वह तो तीन काल वाली है। लेकिन जो चीज हमारे अनुभव में कभी न आई थी, न है, न होगी, लेकिन फिर भी उसको समझने के लिये कार्य को देखकर हम कुछ अनुमान करते हैं, उसका प्रत्यक्ष कभी नहीं होता। उसको यह भी नहीं कह सकते कि वह थी। यद्यपि सामान्य भाषा में आदमी कह देता है 'थी', लेकिन विचार करके देखो कि बिना अनुभव के 'थी' कैसे कह सकते हैं। 'थी' तो उसी को कह सकते हैं जिसके बारे में तुम्हारा या किसी आप्त पुरुष का अनुभव हुआ हो। आधुनिक विज्ञान में भी इसीलिये एक फिनामिना (phenomina) और एक न्युमिना (neumina) होता है। न्युमिना का मतलब फिनामिना को समझने के लिये जो चीज कल्पित की जाती है वह। जब भविष्य में उसी चीज को समझने के लिये कोई और कल्पना कर दी जाये और संगति बैठ जाये तो मानना पड़ता है कि पूर्व कल्पना गलत थी, वह सिद्धान्त (theory) फेल हो गया, यह नया आ गया। इसका मतलब यह नहीं कि उस समय का अनुभव गलत था। वह गलत सिद्ध नहीं होता। वह अनुभव तो जैसा पहले था, वैसा ही अब है लेकिन उन अनुभवों को समझने के लिये जो कल्पना तुमने की थी, उन कल्पनाओं की अपेक्षा और समीचीनतर कल्पनायें हो गई हैं। साधारण आदमी कई बार बोल देता है कि सिद्धान्त (theory) बदल गया तो विज्ञान बदल गया। विज्ञान तो वही है, उसको समझने के लिये तुमने किसी चीज की कल्पना की, उसमें गलती निकलने पर तुमने दूसरी कल्पना की । लेकिन वह कल्पना वाला पदार्थ सचमुच इदं-बुद्धि से नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह केवल काल्पनिक है। इसलिये कहा 'कार्याधिगम्यम्'। लोग त्रिकालातीत बोलते रहते हैं कि इससे कुछ अधिक ऊँचा होगा। ऊँच नीच कुछ नहीं, वरन् जिस चीज का अनुभव न हो रहा था,

न है, न होगा लेकिन किसी कार्य को समझने के लिये उसकी कल्पना की जाती है वह यहाँ त्रिकालातीत कहा है।

जैसे मान लो हमने एक शुभ कर्म किया। यह एक अनुभव हुआ। हमको एक सुख का अनुभव हुआ, यह भी ठीक है। अब उस शुभ कर्म और सुख के बीच के काल में दोनों का सम्बन्ध मानने के लिये एक अन्य कल्पना की कि शुभ कर्म करते ही अपूर्व, अदृष्ट उत्पन्न हो गया, यह एक कल्पना; उसने हमको सुख दिया, दूसरी कल्पना हुई। हमने शुभ कर्म किया तो हमारे अन्दर बैठने वाले अन्तर्यामी की माया वृत्ति से यह संकल्प बना कि इसको यह फल मिले। बाद में उस अंतर्यामी का संकल्प ही फल रूप हो गया। न उसके संकल्प को किसी ने देखा, न अदृष्ट को देखा है। अनुभव में आने वाली दो चीजें हैं। उनका सम्बन्ध जोड़ने के लिये किसी की कल्पना कर ली। ईश्वर संकल्प को या अदृष्ट को कोई नहीं देख सकता। इस सारी सृष्टि में तरह तरह के वैचित्र्य, उनके नियम देखने में आते हैं। उन नियमों को देखने पर कल्पना होती है कि इन नियमों को बनाने वाला एक ईश्वर है। जो नियमों को बनाने वाला होता है, वही नियामक भी हुआ करता है। इसलिये वह नियामक भी है। लेकिन यह हमेशा कल्पना रहेगी, क्योंकि कभी अगर यह विचार करो कि तुम सृष्टि के आदि में ऐसी स्थिति में पहुँचोगे कि ईश्वर सृष्टि करता होगा और तुम देखोगे, तो ऐसा होना नहीं। तुम बने ही नहीं हुए हो तो देखोगे कहाँ से? इसलिये इसे त्रिकालातीत कहना पड़ेगा। कार्य से अधिगम तो होता है, अनुमान तो होता है कि ये चीजें हों तब कार्य पैदा हो। लेकिन वह है हमेशा त्रिकालातीत, अनुभवातीत। जो अनुभव में आता है वह कालपरिच्छिन्न और जो अनुभव में नहीं आता, वह कालातीत है, काल से अपरिच्छेद्य है, काल से परिच्छिन्न नहीं होता। जैसे— अव्यक्त।

'अव्याकृतं साभासमज्ञानमनिर्वाच्यम्' यह टीकाकार कहते है। सांख्य योग वालों के यहाँ तो अव्याकृत का अर्थ प्रकृति है, लेकिन हमारे यहाँ वेदांत में 'अव्याकृतं साभासमज्ञानम्', सारे जगत् का कारण अज्ञान है। वेद कहता है 'तम आसीत् तमसागूढमग्रे'। तम अर्थात् माया, अज्ञान। लोक में भी अज्ञानी को तामसी कह देते हैं। उस अज्ञान के अन्दर चेतन का प्रतिबिम्ब है,क्योंकि यदि चेतन का प्रतिबिम्न न हो तो उस अज्ञान को जाने कौन? उस अज्ञान में प्रमाण क्या है? व्यष्टि में समझ लो : आदमी सो कर उठता है, कहता है 'मैं बड़े आनन्द से सोया।' तब पता लगता है कि वह वहाँ पर आनन्द में था। यह भी कहता है 'मैंने कुछ नहीं जाना' इससे मालूम पड़ता है कि वहाँ अज्ञान था। अगर सुषुप्ति से उठकर कोई भी कुछ न कहे तो क्या कोई प्रमाण इसका है? उलटा होगा यह कि दो चार दिन तो इन्तजार करेंगे कि उठकर बोलता है या नहीं और हफ्ते भर बाद कहेंगे कि इसकी समाधि हो गई, ले जाओ, अब कोई आशा नहीं है। जब तक अज्ञान का कोई न कोई प्रकाशक या बताने वाला चेतन न हो तब तक अज्ञान की सिद्धि नहीं। इसलिये वेदांती कहता है कि प्रकृति, जिसको तुम सृष्टि का

आदिकारण मानते हो, उसमें जब तक चेतन का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ेगा तब तक उसमें प्रामाणिकता कहाँ से आयेगी। इसलिये साभास अज्ञान कहते हैं।

इसी को लौकिक दृष्टि से ईश्वर कहते हैं क्योंकि जहाँ माया की सत्ता नहीं उसको ब्रह्म कहा और जो मायाविशिष्टचेतन हो गया, उसी को ईश्वर कहा। इसलिये अव्याकृत का मतलब ईश्वर या साभास अज्ञान है क्योंकि उसका भी कभी काल से परिच्छेद नहीं हो सकता। यह नहीं कह सकते कि उस साभास अव्याकृत का किसी ने साक्षात्कार किया। बहुत से लोग कहते हैं कि भगवद्दर्शन हुआ। हम इसका निषेध नहीं कर रहे हैं। यहाँ तो ईश्वरतत्त्व, साभास अज्ञान को बता रहे हैं। नारद ने बड़ी तपस्या की, भगवान् प्रकट हो गये। नारद ने दर्शन करके कहा कि मैं आज धन्य हो गया, मैंने आपका दर्शन कर लिया। भगवान् जवाब देते हैं 'माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद' हे नारद! यह तो तूने मेरे आकार और रूप को देखा। यह तो तूने मेरी प्रकृति, मेरी माया को देखा। मेरे अन्दर ताकत है कि मैं अपने को किसी भी आकार वाला बनाकर दिखा दूँ। जैसे मंदांधकार की सहायता से रस्सी में यह ताकत है अपने आपको साँप, माला, भूछिद्र बनाकर दिखा दे। घोर अंधकार में भी रस्सी कुछ नहीं कर सकती, पूरी रोशनी में भी कुछ नहीं कर सकती, लेकिन मंदांधकार में रस्सी अपने आपको इन सब रूपों में दिखा देगी और तुमको डराकर वहाँ से भगा देगी, यह शक्ति रस्सी में है। उसी प्रकार अज्ञान की सहायता से चेतन में यह शक्ति है कि वह तरह तरह के आकार वाला दीख जाये। इसलिये भगवान् ने कहा 'हे नारद! जो तू मेरा रूप देख रहा है, यह तो मेरी माया शक्ति से देख रहा है। जो मेरा असली स्वरूप है वह कभी किसी की दृष्टि का विषय नहीं होता।' यह जो परमेश्वर का अपना स्वरूप है, यह हमेशा त्रिकालातीत ही रहेगा। इसलिये इसे अव्याकृतादि कहते हैं। आदि से सूत्रात्मा, अंतर्यामी समझने चाहिये।

सूत्रात्मा वह है जो सबके अंतःकरणों के अन्दर प्रविष्ट हुआ है, जिसे अंतर्यामी भी कहते हैं। अपनी समझ में तो आता है कि सब प्राणियों के अन्दर एक अन्तर्यामी है। एक लौकिक कथा है कि एक आदमी घोड़े पर बैठकर जा रहा था। उधर ही एक बुढ़िया अपनी जवान लड़की को ले जा रही थी। वह लड़की बहुत थक गई थी। बुढ़िया ने घोड़े वाले से कहा 'मेरी लड़की बहुत थक गई है तू इसे अपने घोड़े पर बैठाकर अगले गाँव में पहुँचा दे।' उसने कहा 'मेरा और कोई काम नहीं क्या? मैं तुम्हारा नौकर नहीं हूँ।' मील आधा मील आगे गया तो सोचने लगा कि लड़की जवान थी, सुन्दर थी, बैठा लेता तो गाँव के रास्ते में जो मर्जी सो कर लेता। उधर उसके जाने के बाद बुढ़िया के मन में आया कि अच्छा हुआ, जवान लड़की थी, उसके साथ भेज देती तो पता नहीं वह क्या करता। इतने में वह घुड़सवार वापिस आ गया। बुढ़िया से कहा कि मुझे दया आ गई, इसलिये लड़की को घोड़े पर बैठा दे। तब बुढ़िया ने कहा— 'भैया! जो तेरे कान में फूँक गया, वही मेरे कान में भी फूँक गया। अब तू भी जा।' सबके

अन्दर बैठा हुआ जो सूत्रात्मा है, वह समझ में तो आता है, कार्याधिगम्य होता है, कार्य से उसका पता लगता है। क्या कारण है कि किसी प्राणी के दुःख को देखकर दस व्यक्ति यहाँ बैठे हों तो दसों के अन्दर करुणा व्याप्त होती है। कोई लोभ के वश खर्च न करे, यह दूसरी बात है। कोई क्रोधी हो और दुश्मन मानकर समझे कि अच्छा हुआ यह दूसरी बात है। दूर से देखेगा तो दुःख उसे भी होगा, चाहे पास में आकर वह सोचे कि अच्छा हुआ इसके बाप ने मेरे बाप को मारा था। कोई सूत्रात्मा है जो प्रवृत्ति कराता है, लेकिन उसका दर्शन आँखों से नहीं कर सकते। फिर भी सबकी एक जैसी अनुभूति को, इस कार्य को देखकर उसका अधिगम होता है कि जरूर कोई सूत्रात्मा है। वह भी ओंकार रूप है। वस्तुतः यदि विचार करके देखो तो काल सब चीजों को उत्पन्न करता है और काल को उत्पन्न करने वाला परमात्मा है। इसीलिये श्रुति कहती है 'स संवत्सरः अभवत् न ह पुरा ततः संवत्सर आसेति' वह परमात्मा ही बाद में संवत्सर रूप हुआ। उसके पहले काल नहीं था, काल बाद में उत्पन्न होता है और फिर उसमें सारी चीजें पैदा होंगी। इसलिये उसे त्रिकालातीत कहना ठीक है।।१।।

●

द्वितीय मन्त्र

'अभिधानाभिधेययोरेकत्वेपि अभिधानप्राधान्येन निर्देशः कृतः'। अभिधान अभिधेय की एकता, नाम नामी की एकता बता दी। इन दोनों की एकता होने पर भी ओंकार-प्राधान्येन उसी को प्रथम मंत्र में निर्दिष्ट किया गया। वाच्य वाचक की एकता और फिर वाचक को प्रधान मानकर निर्देश कर दिया। अब क्या बताना है? 'अभिधानप्राधान्येन निर्दिष्टस्य पुनः अभिधेयप्राधान्येन निर्देशोऽभिधानाभिधेययोरेकत्वप्रतिपत्त्यर्थः'। दूसरे मंत्र में ओंकार को छोड़कर उससे बताया जाने वाला जो ब्रह्म है उसको कहेंगे। बात वही है जो पहले में कही है लेकिन पहले में नाम को लेकर कहा, दूसरे में नामी को लेकर कहेंगे। इससे दोनों की एकता सिद्ध हो जाती है। प्रथम मंत्र में अभिधानप्राधान्येन निर्देश कर दिया गया। पुनः नामी को प्रधान बनाकर जो निर्देश किया जाता है, वह इसलिये कि अभिधान और अभिधेय की एकता का पता लग जाये। इसके लिये नाम और नामी को एक ही बताया। कैसे बताया? दूसरा मंत्र है।

सर्वं हि एतद् ब्रह्म अयमात्मा ब्रह्म सोयमात्मा चतुष्पात्।।२।।

वहाँ जिसको इदं शब्द से कहा यहाँ इसे एतद् शब्द से कह दिया। जो कुछ भी अनुभव में आ रहा है वह सब कुछ ब्रह्म ही है। इसमें तीनों काल आदि आ गये। अब अनुभव होने वाली चीजों को बता दिया। यह अभिधान अभिधेय की एकता हो गई। अब आगे की बात बताते हैं क्योंकि 'सर्वम्' पद पहले मंत्र में भी कहा और यहाँ भी कहा।

एक शंका मन में रहती है कि सब कुछ तो ब्रह्मरूप हुआ, जो कुछ अनुभव में आता है वह सब भी ब्रह्मरूप हुआ लेकिन यह अनुभव करने वाला कौन हुआ? संसार में सब चीजों को परमात्मा मानने वाले तो बहुत से लोग हैं। कह देते हैं कि परमेश्वर ज़र्रे-ज़र्रे में बैठा हुआ है। उनसे कहो कि फिर तुम्हारे में भी तो बैठा हुआ है कहो 'मैं भी ब्रह्म ही हूँ' तो कहते हैं 'ऐसा मत कहो, सब जगह उसे बैठाओ, एक जगह छोड़ दो। इससे तो मनुष्य को घमण्ड हो जायेगा। मैं ब्रह्म नहीं हो सकता। इसलिये अपने को छोड़ो।' लेकिन श्रुति तो कहती है कि यह जो अनुभव करने वाला तुम्हारा आत्मा है, यही ब्रह्म है। यह अथर्ववेद का महावाक्य है 'अयमात्मा ब्रह्म'। यदि केवल आत्मा ब्रह्म कह देते तो आदमी समझता कि कुछ बहुत साधना करने के बाद हमारे आत्मा में कोई नई ज्योति जगेगी, तब ब्रह्म बनेंगे। कई बार लोग कहते हैं कि अभी तुम दुनिया में फँसे हुए, कामी, क्रोधी हो, तुम कैसे ब्रह्म होगे। लेकिन श्रुति कहती है कि हम नहीं होंगे तो और कौन होगा? 'अयम्' से वर्तमान काल में निर्देश कर रहे हैं कि तुम जैसे हो वैसे ही ब्रह्म हो। जैसे मान लो सोने की डली कहीं गोबर में पड़ी हुई है तो क्या गोबर से उठाकर धुलने के बाद सोना बनेगी या पड़ी हुई भी सोना ही है? यह ठीक है कि तिजोरी में रखने के लिये उसे धो दो। लेकिन जहाँ है वहाँ स्वर्ण रूप ही है। इसी प्रकार अनुभव करने वाला चाहे जैसी अवस्था में है, है तो ब्रह्मरूप ही। 'अयम्' के द्वारा बताया कि जैसा है वैसा ही। यह कहना इसलिये जरूरी है कि तभी उसकी परीक्षा हो सकती है। यदि पहले ही कहेंगे कि ऐसा ऐसा करोगे तब ब्रह्मरूपता आयेगी तो फिर ब्रह्मरूपता आने के बाद ही तो परीक्षा शुरु होगी। फिर वेदांत और दूसरे सिद्धान्तों में फर्क क्या रह गया? ज्योतिष्टोम याग करके तुम स्वर्ग जाओगे तब पता लगेगा कि स्वर्ग कैसा है। इसी प्रकार यदि अंतःकरण की शुद्धि के बाद ब्रह्म का पता लगे तो यह भी एक कर्म हो गया कि ऐसा ऐसा करो तब कर्मफलरूप में ब्रह्मरूपता का अनुभव होगा। वेदांत का क्रिया में अन्वय नहीं है। इसलिये तुम जिस अवस्था में हो, उस अवस्था में तुम अपनी तरफ दृष्टि करोगे तो तुरंत ब्रह्म की अनुभूति होगी, क्योंकि ब्रह्मरूप हो। इसलिये 'अयम् आत्मा ब्रह्म'।

'सः अयमात्मा चतुष्पात्' वह आत्मा चार पैरों वाला है। 'पद्यते गम्यते अनेनेति पादः' यह पाद का अर्थ है। जिसके द्वारा किसी चीज को जाना जाये उसको पाद कहते हैं क्योंकि जो गत्यर्थक धातु हैं वे सब ज्ञानार्थक भी हैं। गति अर्थात् गमन को बताने वाले धातु ज्ञान को बताते हैं जेसे अध्ययन भी अधिपूर्वक इणगतौ धातु से निष्पन्न है इसलिये ज्ञानार्थक है। गति करने वाला पैर चूँकि गति कराता है इसलिये उसे भी पाद कहते हैं। उसी प्रकार जो चीज ज्ञान कराती है उसे भी पाद कहा जाता है। अब चार तरह से उसका ज्ञान आगे कराना है— विश्व वैश्वानर, तैजस हिरण्यगर्भ, प्राज्ञ ईश्वर और तब शुद्ध चेतन का ज्ञान करायेंगे। आगे श्रुति स्वयं बतायेगी कि यह पाद कल्पना कैसे होती है।

पहले मंत्र में अभिधान अर्थात् नामप्रधान रूप से बताया और दूसरे में अभिधेय अर्थात् नामी को प्रधान करके उसी बात को बताया जिससे दोनों की एकता का ज्ञान हो जाये। 'इतरथा ह्यभिधानतन्त्राभिधेयप्रतिपत्तिरित्यभिधेयस्य अभिधानत्वं गौणमित्याशंका स्यात्'। यदि उनकी एकता को न बताया जाये, वाच्य, वाचक, नाम और नामी की एकता का यदि इस प्रकार से स्पष्ट निर्देश न किया जाये, केवल नाम के द्वारा ही उसका प्रतिपादन कर दें तो फिर नामी वैसा है ऐसा ज्ञान हो जायेगा। यह समस्या मीमांसा की है। जैसे बताया था कि इ पूर्वक न पूर्वक द पूर्वक र पूर्वक अ इन्द्र का स्वरूप है। इसलिये मीमांसक की समस्या यह है कि वह 'इन्द्र' इस नाम के अतिरिक्त किसी देवता को मानता ही नहीं। पूर्वमीमांसा में जैमिनी महर्षि ने नियम किया कि देवताओं का सिवाय शब्द के, नाम के, और कोई विग्रह है ही नहीं। व्यासजी ने ब्रह्मसूत्रों में कहा कि ऐसा नहीं हो सकता। केवल नाम की प्रधानता कहने से मनुष्य नामी को वृथा समझने लग जाता है। जैसे लोक में उपाय उपेय में गड़बड़ी होती है। मान लो हमको परमात्मविषयक ज्ञान गुरु से मिलता है, इसलिये गुरु हमारे लिये परमात्मा का उपाय होने से परमात्मा ही कह दिया जाता है। 'गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः'। यहाँ तक तो ठीक लेकिन कई बार मनुष्य यह भूल जाता है कि गुरु उपाय है और परमात्मा उपेय है। गुरु की प्रधानता इसमें है कि वह हमको परमात्मा से मिला देता है। यह उसकी विशेषता हुई। इसको भूलकर यदि हम यह समझ लें कि गुरु ही परमात्मा है तो गड़बड़ हो जायेगा। यदि गुरु ही परमात्मा हो तो सारी साधना बेकार है क्योंकि वह तो सामने बैठा हुआ है फिर किस तत्त्व का दर्शन करने के लिये ध्यान किया जाये? इसलिये वह बेकार हो जायेगा। उपाय और उपेय की एकता इसलिये कि हमको यह पता रहे कि उपाय को ठीक करने से उपेय आयेगा। गुरु के कथन के अनुसार ध्यान धारणा करने से परमात्मदर्शन होगा, इस दृष्टि से उपाय और उपेय की एकता पर जोर दिया गया। नहीं तो उपेय ही सोचने से उपाय हाथ से निकल जायगा, उपेय नहीं मिलेगा। लेकिन यहाँ विपरीत भूल भी सम्भव होती है।

वेद के मंत्र की यह विशेषता है कि उसमें शब्द और ध्वनि दोनों पर विचार करके मंत्र का निर्माण किया गया। जैसे साहित्यकार जब कविता लिखता है तो जहाँ उसे युद्ध का वर्णन करना होता है वहाँ उन्हीं चीजों को बताने के लिये उन शब्दों का चयन करने का प्रयत्न करता है जिनकी ध्वनि कठोर हो जैसे ट, ख, ढ इत्यादि, इस प्रकार के अक्षर वाले शब्दों को चुनता है क्योंकि उनको सुनने मात्र से ही मन के अन्दर रौद्र रस उत्पन्न होता है, कठोरपना आता है। उसी बात का वर्णन यदि उसको शृंगार रस में करना होता है तो ल, व इत्यादि इस प्रकार की जो कोमल ध्वनियाँ हैं उनका उच्चारण करने का प्रयत्न करता है। यह तो किसी के लिये सम्भव नहीं है कि सारे शब्द वहाँ चुन ले क्योंकि पर्यायवाची नहीं मिलेंगे। लेकिन लेखक का प्रयत्न यह रहता है कि ध्वनि और जिस बात को वह कहना चाह रहा है, जिस रस को वह बताना चाह रहा है, दोनों में सामरस्य आये। यदि सामरस्य नहीं होता है तो रसपरिपाक ठीक नहीं होता है। ध्वनि कठोर हुई,

भाव सौम्य हुआ तो एक तरह का हँसी का भाव प्रकट हो जाता है। कोमलता कहनी हो और कठोर शब्द से कहो तो उसके अन्दर जो विरोध है, वह विरोध ही विदूषण (humour) या हास्य को उत्पन्न करता है। इसलिये ध्वनि और शब्द के सामरस्य का अभाव मन में झट से विदूषण को उत्पन्न करके हास्य रस का प्रतिनिधित्व करने लग जायेगा। वह रस जो उत्पन्न होना चाहिये, नहीं होगा। वैदिक मंत्रों की विशेषता यही रही है कि ऋषियों ने ध्वनि और शब्द दोनों की समरसता पर बहुत जोर दिया। वर्तमान काल में जो लोग वैदिक मंत्रों को पढ़ते हैं, जो सर्वथा हमारी संस्कृति के नहीं, वे भी उसके कवित्त्व की प्रशंसा करते हैं। उसमें उषा श्रद्धा इत्यादि का जो वर्णन है, वे चाहे उषा श्रद्धा को देवी न मानें, लेकिन वह सब न मानने पर भी उसके कवित्त्व से वे प्रभावित हो जाते हैं। उन्हें मानना पड़ता है कि ठीक शब्द और ध्वनि के इस सामरस्य को लेकर उस मंत्र को पुनः पुनः प्रयोग करने से वह रस परिपाक होकर उसमें कही हुई बात बिल्कुल जम जाती है।

इसलिये मंत्र उस तत्त्व के भाव को प्राप्त करने का उपाय हुआ और उसका परिपाक होना उपेय हुआ। इस दृष्टि से कह दिया जाता है कि समझो न समझो, मंत्र का जप करो। गड़बड़ी यह हो जाती है कि इसको सुनते-सुनते मनुष्य भूल जाता है कि मंत्र उपाय है, उपेय नहीं है। आज से लेकर सृष्टि के अंत तक तुम उस मंत्र को जपते चले जाओ, जब तक उस तत्त्व के अन्दर तुम्हारे भाव का प्रवेश नहीं होता वह सारा बेकार हो जायेगा। इसलिये उस उपाय के आधार से उपेय में जाना है। इसीलिये एकता बता दी। लेकिन उस एकता को जब गलत समझ लिया तो बुरा हाल होता है। कभी हमारे काशी में आओ तो तुम्हें दिखायें। सवेरे साढ़े तीन चार बजे आदमी उठेंगे। साधक हैं तभी उठ रहे हैं। सवेरे चार बजे गंगा स्नान करने पहुँच गये। स्नान करके जल में खड़े होकर संध्या और गायत्री जप कर रहे हैं। उनका जप चल रहा है और पास में ही उसका दूसरा पड़ोसी भी आया हुआ है जो उसे खबर सुना रहा है 'अरे! सुनो, रात में वह अपने देवचंद की भानजी थी न, वह भाग गई'। वह संध्या करते हुए सुन कर कहता है 'हूँ', बोल तो सकता नहीं क्योंकि मंत्र जप के बीच में बोलने से दोष लगता है। पड़ोसी सारी बातें सुना रहा है और उसका जप चल रहा है। जब तक उसका जप समाप्त हुआ, तब तक पड़ोसी ने तेल आदि लगाया, बातचीत करता रहा। अब उसका स्नान करके संध्या करने का समय आया। पहले वाले ने तो अपनी गोमुखी में माला डालकर लपेट ली और अब वह पहले वाले को सुनाता है 'मैं तो पहले ही जानता था, साल भर पहले अमुक घटना हुई थी, तुम्हें पता नहीं है?' अब वह 'हुँ हुँ' करता रहता है। वे समझते हैं कि हमने संध्यावंदन, गायत्रीजप कर लिया इसलिये हमारा ब्राह्मणत्त्व तो अक्षुण्ण रहेगा। फिर बाद में दुःखी होते हैं 'हम ब्राह्मण हैं, हमारे मन में कोई संकल्प उत्पन्न होता है लेकिन पूरा नहीं होता। मनु ने कहा है 'जप्येनैव हि संसिध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः' केवल जप से भी सिद्धि हो जाती है, और हम इतना जप करते रहे लेकिन कुछ नहीं हुआ।'

वह जप नहीं, क्योंकि उपाय और उपेय की गड़बड़ी हो गई। मंत्रजप से उस भाव को हृदय में नहीं भर पाये तो उपेय की तरफ नहीं गये।

उपाय और उपेय की एकता होने पर भी 'इतरथा' यदि श्रुति ने उपेय अथवा नामी को अलग नहीं कहा होता तो 'अभिधानतन्त्राभिधेयप्रतिपत्तिः' अभिधान के अधीन अभिधेय की प्रतिपत्ति अर्थात् ज्ञान है, इस प्रकार का भ्रम हो जायेगा। दोनों की एकता को न बताकर केवल नाम को, वाचक को बताया, तो नाम के अधीन ही नामी का ज्ञान है, यह भ्रम हो जायेगा। कर्मकाण्डी ऐसा करते हैं तो अभिमान से भर जाते हैं और कहते हैं 'मंत्राधीना हि देवताः' 'देवता क्या कर सकते हैं, उनको क्या खुश करना है? हमारे पास मंत्रशक्ति है, देवताओं को उसके अधीन काम करना पड़ेगा।' ऐसी उन्होंने कथा कहानी भी बना रखी है कि तक्षक नहीं आना चाहता था, इन्द्र के सिंहासन में चिपक गया। इसलिये ऋषि ने कहा कि इन्द्र की ही आहुति दो। कथा सुनी ही होगी। लेकिन वह कथा जब कहते हैं तो एक बड़ी मजे की बात करते हैं कि जिसने उस कथा को निकाला उसे वैदिक प्रक्रियाओं का ज्ञान नहीं था। उसने कहा 'सेन्द्राय तक्षकाय स्वाहा' 'इन्द्राय स्वाहा' का मतलब होता है कि इन्द्र के लिये आहुति है, और 'तक्षकाय' का मतलब है कि तक्षक के लिये आहुति है। तक्षक की आहुति नहीं है। इस प्रक्रिया का ज्ञान न होने से आगे जाकर गड़बड़ी हो जाती है। हमारे यहाँ बनारस में एक कथा है कि तुलसीकृत रामायण को रात को विश्वनाथ के मन्दिर में रखा गया तो दिन में वेद सब नीचे हो गये और तुलसीरामायण ऊपर आ गई, उसपर लिखा था 'सत्यं शिवं सुन्दरं'। यह कथा लिखने वाला यह भूल गया कि यह वाक्य तो रवीन्द्र बाबू का है, इसलिये रामायणोत्तरकाल का है, उनके पहले का यह वाक्य नहीं था। जो मन से इस प्रकार की कथायें गढ़ते हैं उनके अन्दर वह पूरा ज्ञान तो होता नहीं है इसलिये पता लग जाता है कि इस कथा में कहीं गड़बड़ी हो रही है। इन सब कथाओं में क्या कहा जा रहा है? यदि नाम अर्थात् उपाय ठीक है तो उपेय नामी उसके अधीन है। उसी अधीन को यहाँ अभिधानतंत्र कह दिया। यह समझकर 'अभिधेयस्याभिधानत्वं गौणम्' अभिधेय का ख्याल करना गौण है अर्थात् कोई आवश्यक नहीं है, ऐसी शंका न हो जाये इसलिये श्रुति ने दोनों प्रकार से कह दिया कि उपाय और उपेय दोनों पर ध्यान रखो।

'एकत्वप्रतिपत्तेश्च प्रयोजनमभिधानाभिधेययोरेकेनैव प्रयत्नेन युगपत्प्रविलापयंस्तद्विलक्षणं ब्रह्म प्रतिपद्येतेति'। अब कहते हैं कि इस प्रकार एकत्व प्रतिपत्ति हो जाती है अर्थात् परस्पर अभेद के उपदेश से दोनों के प्रति प्रयत्न करना विफल नहीं है, जितना ध्यान उपाय पर उतना ही ध्यान उपेय पर भी रखना है यह समझ आ जाता है। उपाय को पहले इसलिये कहा कि उपाय को तो करना है और उपेय को पाना है। इसलिये यह फर्क तो है ही। इसीलिये पहले उपाय कहा, लेकिन उपेय को पाना है यह नहीं भूलना चाहिये। इसलिये कहा कि वह विफल नहीं है। इसीलिये कहा कि एक ही प्रयत्न से अभिधान और अभिधेय

दोनों का काम बन जाता है। कैसे? जैसे गीता में उपाय-उपेय की एकता बताई 'एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति' (५-५) सांख्य और योग एक ही है ऐसा जो जानता है वही जानकार है। किस रूप में जानता है? सांख्य उपेय और योग उपाय है, इस रूप में जानता है। क्योंकि स्वयं आगे कहते हैं 'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते। योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते।।६-३।।' व्यवस्थित विकल्प कर दिया कि जब तक अभी योग पर चढ़ नहीं पाये अर्थात् योग की साधना ठीक नहीं कर ली तब तक कर्म उपाय है। योग से छः अंग आसन, प्राणायाम आदि नहीं, वरन् 'योगः कर्मसु कौशलम्' अर्थात् ईश्वरार्पणबुद्धि से जो कर्म किया जाता है उसे यहाँ योग शब्द से कहा। अन्यत्र भी शास्त्रों में ऐसा कहा गया है। जब तक ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म करने में पूरी तरह से सफल नहीं हो पाया है तब तक ईश्वरार्पण बुद्धि न होने पर भी कर्म में लगा रहे। यह आरुरुक्षा हुई। चाहिये तो यह है कि किसी कामना से कर्म न करो, लेकिन चाहने पर भी कामना हमें छोड़ नहीं रही है तो उलटा अर्थ नहीं समझना है कि कामना नहीं छूट रही है और मुझे बिना कामना के कर्म करना है, इसलिये कर्म ही छोड़ूँ। ऐसा नहीं, बल्कि जब तक कामना नहीं छूटी तब तक भी कर्म तो करता ही रहे और कामना छोड़ने का प्रयत्न करता रहे। जब ईश्वरार्पण बुद्धि से उसकी कर्म करने में प्रवृत्ति हो गई तो फिर उसके लिये सांख्य अर्थात् ज्ञान साधन बन जाता है। इसलिये जैसे गीता में 'एकं सांख्य च योगं च' दोनों एक ही प्रयत्न से हैं, न वहाँ समुच्चय है कि सांख्य योग साथ साथ करे, न वहाँ यह है कि सांख्य एक अलग रास्ता है और योग एक अलग रास्ता है, दोनों में से किसी एक रास्ते में जाओ, दोनों के अन्दर इस प्रकार का विकल्प नहीं है; बल्कि एक ही प्रयत्न है कि योग करोगे और उसी में आगे चलकर सांख्य करोगे। उसी प्रकार यहाँ पर भी 'अभिधानाभिधेययोः एकेनैव प्रयत्नेन' एक ही प्रयत्न से दोनों हैं। जैसे आबू से अगर तुमको बम्बई जाना है तो कहा जा सकता है कि यहाँ से पहले अहमदाबाद जाना और वहाँ से बाम्बे रोड नेशनल हाइवे पकड़ लेना। इसमें अलग प्रयत्न नहीं, न विकल्प है। मतलब है कि पहले अहमदाबाद पहुँचकर आगे बम्बई रोड पकड़ना। यह एक ही प्रयत्न है क्योंकि यदि अमहदाबाद रोड नहीं पकड़ी तो बम्बई नहीं पहुँचोगे। ऐसे ही यहाँ पर भी उपाय और उपेय अथवा नाम और नामी में या अभिधान अभिधेय में एक ही प्रयत्न चलता है।

लेकिन 'युगपत् प्रविलापयन्' अर्थात् साथ साथ दोनों को एक ही प्रयत्न के अन्दर करना है। जब सामने नाम रूप आये उस समय उसको ओंकार में लीन करो और जैसे ही ओंकार में लीन कर लिया, वैसे ही नामी कूटस्थ साक्षी में पहुँच जाओ। पहले पदार्थों को आकाश तत्त्व में इस प्रकार पहुँचाओ। पृथ्वी जल में, जल तेज में, तेज वायु में, वायु आकाश में इस प्रकार क्रम से करो या अक्रम से करो। अक्रम से इसलिये कहते हैं कि यह जरूरी नहीं कि पृथ्वी को जल में और जल को तेज में ही लीन करो। जैसे

शुरु-शुरु में बच्चों को दो अट्ठे सोलह याद करना पड़ता है तो उन्हें दो एकं दो, दो दुनी चार इस क्रम से चलना पड़ता है और तब दो अट्ठे सोलह तक पहुँचते हैं। इसका मतलब यह नहीं कि जो व्यक्ति गणित आनर्स कर रहा हो वह भी इसी क्रम से शुरु करके दो अट्ठे सोलह तक पहुँचे। इसी प्रकार यहाँ भी साधना के शुरु में समझने के लिये प्रविलापन प्रक्रिया करनी पड़ती है, लेकिन जब बात बैठ जाती है तो चीज को देखने के साथ ही होता है कि ये नामरूप आकाश में लीन होंगे और आकाश शब्द रूप है, शब्द ओंकार रूप है। सीधा ही अभिधेय को अभिधान रूप ओंकार से अभिन्न जान लेगा और उसका प्रतिपाद्य परमेश्वर है, इसलिये यह पदार्थ परमेश्वर का रूप हुआ ही हमारे सामने उपस्थित है इस रूप से प्रविलापन हो जायेगा। इसलिये हमेशा क्रम से हो, यह नियम नहीं है।

कई बार साधकों के जीवन में ऐसा आता है कि आसन भी ठीक बैठ गया, पद्मासन लगा लिया, जप कर लिया, प्राणायाम कर लिया, फिर भी मन नहीं टिकता। उसके घण्टा दो घण्टे बाद घूमने जा रहे हैं तो अकस्मात् मन शांत हो जाता है। आदमी सोचता है कि अब शांत हुआ है, उस समय शांत हो जाता है तो ध्यान करते। भूल यह होती है कि मन की शान्ति के लिये वे सब साधन थे। अगर मोटर में चलते हुए तुम्हारा मन शांत हो गया तो तब की चिंता छोड़ो, उसी समय ध्यान प्रारंभ कर दो क्योंकि वह सब करके जो मिल गया, वह समय चाहे दो मिनट का हो, चाहे पाँच मिनट का, झट ध्यान में लीन हो जाओ, वहाँ फिर किसी क्रम को न लो। जूता खोलना, आसन में बैठना आदि सब क्रम से करना मन एकाग्र होने का उपाय है। अब अगर जूता पहने हुए ही मन एकाग्र हो गया तो जूता उतारने की कोई जरूरत नहीं। उपेय मन की एकाग्रता पर पहुँचो तो ध्यान प्रारंभ कर दो। लोग इसका कई बार उलटा अर्थ यह कर लेते हैं कि फिर जूता खोलने का कोई औचित्य नहीं है। ऐसा नहीं। जहाँ अक्रम से चित्त की एकाग्रता नहीं है वहाँ तो क्रम का ही सहारा लेना पड़ेगा लेकिन जब उस चीज की प्राप्ति हो गई तो फिर क्रम का चिंतन न करो, कि क्रम से नहीं आये तो ठीक नहीं। जैसे पैसा कमाने के लिये दुकान खोलनी पड़ती है। यह क्रम हुआ कि रुपया लगाओ, बैंक से ऋण लो, दुकान लो, दुकान पर बैठो। अक्रम से भी होता है। मान लो एक आदमी ने कह दिया कि विलायत में सीयर्स एण्ड रोबट्र्स वाले एक लाख लैम्प चाहते हैं। तुमने सोचा 'हमारे एक परिचित लैम्प बनाते हैं।' तुमने उनसे कहा और उन्होंने कहा 'ले जाओ।' तुमने यहाँ पच्चीस रुपये में खरीदा और वहाँ पच्चीस डालर में बिक गया तो तुम्हारा फायदा हो गया। अब कोई तुमसे पूछे 'पैसा कैसे कमायें?' और तुम उसको कहो 'बैठे रहो, कोई न कोई आयेगा।' तो यह ठीक नहीं। उसको जब करने को कहोगे या स्वयं करने बैठोगे तब तो क्रम से करना पड़ेगा, लेकिन यदि अक्रम से हो जाता है तो क्रम से नहीं हुआ इसकी चिंता नहीं करनी चाहिये। इसलिये कह दिया कि युगपत् अर्थात् एक साथ

ही, क्रम से या अक्रम से, अभिधान और अभिधेय को विलीन करने से 'तद्विलक्षणं ब्रह्म प्रतिपद्येतेति' दोनों से विलक्षण ब्रह्म का ज्ञान हो जाता है।

इसी बात को आगे श्रुति स्वयं कहेगी कि जो पाद है, वही मात्रा है और जो मात्रा है वही पाद है। जब प्रयत्नपूर्वक ध्यान करने बैठे हो तब अकार उकार मकार पादों को लेकर उसमें जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति इत्यादि मात्राओं को देखोगे। जब व्यवहार कर रहे हो तब जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति इत्यादि मात्रायें स्वभाव से सामने आयेंगी। उनके अन्दर ही अकार उकार मकार की दृष्टि करनी पड़ेगी। इसलिये यदि ध्यान भी करने बैठे हो और दूसरी बात याद आ गई, साग क्या बनाना है? यही याद आ गया, तो कोई बात नहीं। साग तो वहाँ उपस्थित नहीं है, उसकी स्मृति है, वह स्मृति संस्कारवशात् है और जो संस्कार होता है वह स्वप्न होता है। स्वप्न का द्रष्टा मैं हूँ। स्वप्न सामने आये, उसके अन्दर उकार मात्रा का चिंतन कर लिया तो वह वहीं खत्म हो गया कि उकार से भिन्न नहीं है। नहीं तो उस समय उसके पीछे लकड़ी लेकर नही पड़ना चाहिये कि यह क्यों आ गया। आने दो। विचार करके देखो तो यह सारा जगत् जितना हमको दीख रहा है, यह सब उस ब्रह्म में कल्पित है। इतना बड़ा संसार दीख रहा है, उसके बीच में थोड़ा सा साग आ गया तो कौन सा नुक्सान कर गया? जैसे रेल में एक हजार यात्रियों का भार खींचा जा रहा है, उस रेल पर यदि एक मक्खी आकर बैठ जायेगी तो क्या रेल रुक जायेगी? इसी प्रकार यह इतना बड़ा संसार मुझ साक्षी चिन्मात्र में फर्क नहीं लाता तो बीच में इतने छोटे से साग के संकल्प से क्या फर्क पड़ेगा? इसलिये उसके पीछे न पड़कर स्वप्न के साथ एक करके उसे जान लिया तो वह वहीं खत्म हो गया।

इसी बात को स्पष्ट करके कह दिया कि 'सर्वं यदुक्तमोंकारमात्रमिति तद् एतद् ब्रह्म' एतद् रूप से जो कुछ भी प्रतीत होता है वह सब कुछ ब्रह्मरूप ही है। किसी एक रूप में ही ब्रह्म यदि डटकर रहे तो उस रूप में ही पहचानोगे, दूसरे में नहीं। जिस रूप में आयेगा, वह है तो ब्रह्म ही। इसलिये सब कुछ ओंकार रूप से कहा गया। इसलिये भाष्य में स्पष्ट कर दिया कि जो कुछ चीज ओंकारमात्र रूप से कह दी गई वह सब ब्रह्मरूप ही है अर्थात् ओंकार से अभिन्न है, और ओंकार ब्रह्म का नाम है इसलिये ब्रह्म से अभिन्न है। सर्व से कार्य कारण दोनों समझने हैं। कार्य 'भूतं भवद् भविष्यत्' और कारण त्रिकालातीत हो गया। यह सब पहले बता दिया।

'तच्च ब्रह्म परोक्षाभिहितम्' श्रुति से ब्रह्म का उपदेश कर दिया। ब्रह्म क्या है? सब कुछ जो है वह ब्रह्म है। लेकिन सब कुछ परोक्ष है। जो कुछ भी हमारे अनुभव में आ रहा है, परोक्ष है, क्योंकि कुछ न कुछ बीच में पर्दा रहता है। सोचते हैं कि सामने दरवाजा दीख रहा है। विचार करके देखो तो पता लगेगा कि बीच में कई पर्दे पड़े हुए हैं। पहले उसमें प्रकाश का पर्दा पड़ा हुआ है। प्रकाश न हो तो दरवाजा कुछ और ही नजर आता है। इतना ही नहीं, दरवाजे पर पेंट हुआ है, उसकी लकड़ी को छीला हुआ है, **यह भी**

उसका पर्दा है। फिर आँख का पर्दा, आँख के द्वारा देख रहे हैं, इसलिये आँख में जितनी कमियाँ होंगी उनसे युक्त होकर दरवाजा दीख रहा है। मन का पर्दा पड़ा हुआ है। मन के संस्कारों के अनुसार दीखेगा। फिर अहं, अविद्या इत्यादि के पर्दे भी मान लो। हर हालत में जिस पदार्थ को एतद् अथवा इदं शब्द से देख रहे हैं वह कभी भी हमको साक्षात् समझ में नहीं आता। वह हमेशा परोक्ष ही बना रहेगा। जब कहा'सर्वं हि एतद् ब्रह्म' तो ब्रह्म भी परोक्ष ब्रह्म है। इन सब रूपों में आने वाला ब्रह्म कैसा है? यह पता नहीं लगा। यह सारे रूप धारण करके तो आता है। जैसे सिनेमा देखने वाले को पता है कि अमुक ऐक्टर भीम कैसे बनता है या अमुक अर्जुन कैसे बनता है, लेकिन जब वह यह सब नहीं बना हुआ है तब कैसा होता है? यह किसी को पता नहीं लगता। इसी प्रकार इन सब रूपों को लेकर ब्रह्म आ रहा है, इन सब रूपों में ब्रह्म है, लेकिन उस ब्रह्म का रूप सचमुच कैसा है? जब वह सब रूप नहीं लेता है तब कैसा है? ब्रह्म का परोक्ष रूप से ज्ञान तो हो गया, अब अति अनुग्रह करके वेद कहता है 'प्रत्यक्षतः विशेषेण निर्दिशति' तुमको हम उसका अपरोक्ष, प्रत्यक्ष रूप बता देते हैं जहाँ किसी प्रकार का व्यवधान नहीं है।

वह कौन सा रूप है? 'अयमात्मा ब्रह्म' जो तुम्हारा अपना स्वरूप है, वह ब्रह्म है। यह उसका प्रत्यक्ष ज्ञान हो गया। अपने आपको जानने के लिये तुमको रोशनी की जरूरत नहीं है। रोशनी न हो और कोई पूछे कि तू वहाँ बैठा है तो यह थोड़े ही कोई कहता है 'मेरे को पता नहीं क्योंकि अंधेरा है।' प्रत्यक्ष ज्ञान होता है कि मैं हूँ। कोई व्यक्ति मरा है या नहीं, इसका पता तब लगेगा जब डाक्टर पहले नाड़ी देखेगा, आँखे देखेगा, हृदय देखेगा। फिर निश्चय होता है कि मर गया। अगर किसी आदमी से पूछो कि तू जिन्दा है या मरा, तो क्या वह कहता है कि पहले स्टैथेस्कोप आ जाये तो पता लगे? दूसरा मरा है या नहीं, इसका तो पता लगाना पड़ता है, लेकिन अपना स्वरूप तो प्रत्यक्षसिद्ध है। इसके लिये किसी इन्द्रिय की जरूरत नहीं है। गहरी नींद में इसका पता लगता है। वहाँ से जब सोकर उठता है तो उससे पूछो कि वहाँ कैसा था तो कहता है कि मैं बड़े आनंद से था। यह नहीं कहता कि पता नहीं जिन्दा था या मर गया था। वहाँ मन भी नहीं था लेकिन वह स्वयं था। अपना आपा नित्य अपरोक्ष है। यह प्रत्यक्ष है, इसमें कभी किसी प्रकार के व्यवधान (intermediary) की आवश्यकता नहीं। उसी को यहाँ 'अयमात्मा ब्रह्म' बता दिया। यदि तुम उस ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को समझना चाहो तो जो कुछ इदं रूप से अनुभव होता है वह सब उसके ऊपर पर्दा हुआ और जब तुम उसको अहम् रूप से अनुभव करते हो तो वह उसका पर्दारहित रूप है। अहम् के ऊपर तुम कुछ न कुछ पर्दा लगाकर देखने के आदि हो गये हो। इसलिये कोई कहेगा 'मैं ब्राह्मण हूँ'। यही विवेक बताना है कि ब्राह्मण तो शरीर रूप उपाधि को लेकर हो। इस जन्म के पहले तुम हो सकता चमार रहे हो या अलगे जन्म में इंग्लैण्ड में म्लेच्छ

पैदा हो जाओ। शरीर को लेकर ही ब्राह्मणत्व धर्म है। इसलिये यहाँ 'ब्राह्मण हूँ' में कुछ न कुछ उपाधि ली। इसी प्रकार मैं महामूर्ख हूँ, यह हमारी बुद्धि की उपाधि हो गई। तुम्हारी बुद्धि मूर्ख हो सकती है। मैं तो वहाँ भी वैसा का वैसा है। उसमें क्या फरक पड़ना है? आगे विचार बताना है कि केवल मैं हूँ का अनुभव होने पर भी आदत ऐसी डाल रखी है कि कोई न कोई उपाधि जोड़ लेते हैं; वह उपाधि तुम्हारा रूप नहीं है, तुम स्वयं साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म हो। वह उपाधि तो 'सर्वम्' से कह दी गई। इसलिये कहते हैं 'विशेषेण निर्दिशति' प्रत्यक्ष रूप से उसका निर्देश कर दिया कि जो ब्रह्म सर्वरूप बताया है, वह परोक्ष है ऐसा नहीं समझना बल्कि 'अयमात्मा ब्रह्म' रूप से वह स्पष्ट ही दीख रहा है। इसलिये विशेष करके उसको इस प्रकार से बता दिया। ब्रह्म को इसीलिये जब पहचानना चाहो तो अहम् प्रत्यय से पहचानो, यह श्रुति का तात्पर्य है।

संसार में लोग परमेश्वर को किसी अन्य रूप में पकड़ना चाहते हैं लेकिन वह रूप परमेश्वर का अपना रूप कभी नहीं हो सकता क्योंकि अपने से भिन्न जड होता है। जिस चीज को देखते हो वह जड है। दूसरे आदमी को नहीं देखते, उसके शरीर को देखते हो और वह शरीर जड है। उस शरीर में बैठने वाले को देखने का कोई तरीका तुम्हारे पास नहीं है। जब कभी तुम अपने से उसको भिन्न देखोगे तो हमेशा उसकी उपाधि को, जडरूपता को पकड़ोगे। जब 'अहम्' अर्थात् मैं को पकड़ते हो तब चेतन का स्पर्श है। 'मैं' इस ज्ञान में किसी प्रकार का जड पकड़ में नहीं आता बल्कि चेतन पकड़ में आता है, और ब्रह्म चेतनस्वरूप है। हमको सामने पहाड़ दिखाई दे रहा है। पहाड़ का ज्ञान हो रहा है लेकिन पहाड़ का ज्ञान किसको? हमको हो रहा है। बिना पहाड़ का और हमारा सम्बन्ध हुए पहाड़ का ज्ञान नहीं हो सकता और सिवाय ज्ञान के पहाड़ में कोई प्रमाण नहीं। किसी दूसरे ने बता दिया कि नैनीताल का पानी बिल्कुल खराब हो गया है, उसमें जहरीली घास आ गई है, तो वहाँ भी जब तुम्हे बताया और वह तुम्हे ज्ञात हुआ तभी नैनीताल के पानी के अन्दर खराबी है यह तुम्हे प्रामाणिक ज्ञान हुआ। इसलिये बिना ज्ञान से सम्बन्धित हुए कोई भी चीज ज्ञात नहीं होती अर्थात् जानी नहीं जाती। बिना ज्ञान के किसी पदार्थ की सिद्धि नहीं। किसी भी चीज को जानोगे तभी वह सिद्ध होगी, उसके पहले नहीं। तो सीधा ही कह दें कि मैं हमेशा चेतन ज्ञान स्वरूप हूँ। मेरे साथ यदि हिमालय पहाड़ का तादात्म्य हो गया तो मैंने हिमालय पहाड़ को जाना, वह पहाड़ मेरी ही उपाधि बन गया। इसलिये जहाँ जहाँ जिस किसी चीज को देख रहे हो, देखने के साथ ही वह चीज तुम्हारी ही उपाधि बन रही है। इन सब उपाधियों को धारण करने वाले तुम ही तो ब्रह्मरूप हो। ऐसा नहीं कि कोई दूसरा ब्रह्म इन रूपों को धारण करके आ रहा है। इसलिये सारे जगत् की उपाधियों को तुम्हारा अपना ज्ञान ही धारण करता जा रहा है और तुम स्वयं ही ब्रह्मरूप हो। इसलिये कह दिया 'अयमात्मा ब्रह्म'।

'अयम्' शब्द के द्वारा क्या बताया? सामने पड़ी चीज को आदमी हाथ से दिखाकर कहता है 'यह'। किसी चीज़ को कहने की इच्छा वाला व्यक्ति, उस चीज का ज्ञान स्पष्ट हो जाये, इसके लिये जो शरीर से कोई विशिष्ट काम करता है उसको अभिनय कहते हैं। भाष्यकारों ने लिखा 'अयमिति चतुष्पात्त्वेन प्रविभज्यमानं प्रत्यगात्मतयाभिनयेन निर्दिशति'। अभिनय का मतलब क्या होता है? 'विवक्षितार्थप्रतिपत्त्यर्थमसाधारणः शारीरो व्यापारः' हम जिस चीज को कहना चाह रहे हैं, जो विवक्षित अर्थ है उसका तुमको ज्ञान हो इसके लिये किया शारीरिक इशारा। जैसे किसी को केवल मुख से कहा कि यह दरी लाल है तो उसका ज्ञान उतना स्पष्ट नहीं होता है, लेकिन अगर शरीर व्यापार से दिखा दें कि 'यह दरी' तो झट उसके अनुसार ही चीज को जानते हैं और ज्ञान हो जाता है। केवल मुख से कहने पर व्यक्ति दायें बायें देखता है कि किधर की दरी की बात कर रहे हैं। अगर केवल इतना कहें कि यह मदन है तो किसी को पता नहीं लगेगा। यदि शरीर व्यापार से बता दिया कि यह मदन है, तो मनुष्य की आँख वहाँ टिक जायेगी। ठीक इसी प्रकार यदि श्रुति ने 'अयम्' इसको अभिनय से न बताया होता तो ज्ञान न होता। कहोगे कि श्रुति तो ग्रन्थ हुआ। हमारे यहाँ श्रुति को चेतन माना है।

यह बात ठीक से समझना। कारण क्या है? हम लोग श्रुति को ग्रन्थ नहीं मानते। इसीलिये हमने उसका नाम श्रुति रखा। श्रुति का मतलब होता है जो सुनी जाये। गुरु के मुख से सुनने पर ही हम वेद को श्रुति कहते हैं। चाहे जितनी किताबें बाँच लो उसको हम श्रुति या वेद का पठन नहीं कहते। हमारे यहाँ श्रुति पारिभाषिक शब्द है अर्थात् जो सुनी जाये। हमारी परम्परा में ब्राह्मणों के पूजन का आधार ही यह है। हम लोग ब्राह्मणों का पूजन करते हैं। कई बार लोग शंका करते हैं कि कोई ब्राह्मण महाकामुक हो, क्रोधी हो तो क्या उसका भी पूजन करें? हम कहते हैं कि जरूर करना चाहिये। क्यों करना चाहिये? जैसे कुरान यदि किसी अखबार के कागज पर, मोटे कागज पर लिखी हो, स्याही भी ठीक छपी न हो तो क्या उस कुरान की किताब को मुसलमान पूज्य नहीं मानता? उस पर कुरान लिखी है इसलिये उस विषय को लेकर पूज्य है। कागज या स्याही का पूजन थोड़े ही है। यद्यपि बाहर से किताब की पूजा हो रही है लेकिन उस किताब में जो लिखा हुआ है, उसकी पूजा हो रही है, कागज की नहीं। अगर वही कागज, स्याही अलग अलग पास में रख दो तो मुसलमान उसकी पूजा नहीं करेगा। ठीक इसी प्रकार से ब्राह्मण को वेद का अध्ययन कराया गया है। ब्रह्म नाम वेद का है। उसने वेद का अध्ययन किया है। उसके शरीर में दिमाग में, बुद्धितत्त्व में वेद के मंत्र लिखे हुए हैं। जैसे वह कागज मोटा हो सकता है, खराब स्याही से छपा हुआ हो सकता है। इसी प्रकार ब्राह्मण का जो शरीर है, वह कामुक, क्रोधी, लोभी भी हो सकता है। काम, क्रोध, लोभ के कारण उसकी कीमत तो अपने लिये घटती बढ़ती रहेगी, क्योंकि उसने खुद फायदा नहीं उठाया तो नरक वह जायेगा। लेकिन उसके हृदय में जो वेद लिखा हुआ है, वह

तो ठीक ही लिखा हुआ है। हम लोग चूँकि श्रुति को चेतन मानते हैं, इसलिये चेतन जो मनुष्य है, उसके ऊपर उसके दिमाग में वैदिक मंत्र लिखे हुए हैं, अतः हम उसी को ग्रन्थ मानकर उसकी पूजा करते हैं।

ऐसा मानने में हेतु क्या है? किसी भी भाषा का हमेशा एक रूप नहीं रह सकता। शब्दों का रूप बदलता रहता है, शब्दों का भाव बदलता रहता है। जो शब्द किसी समय में अच्छे भाव वाला होता है, वही शब्द कालान्तर में बुरे भाव वाला हो जाता है। बहुत प्रसिद्ध शब्द राक्षस है। 'रक्ष एव राक्षसः' राक्षस का मतलब होता है जो रक्षा करने वाला होता है। रक्ष धातु से राक्षस शब्द बना। वर्तमान में जो महादुष्ट हो उसे राक्षस कहते हैं। फिर मन में आता है कि अगर इसका अच्छा मतलब था तो राक्षस का मतलब बुरा क्यों? जो तुम्हारी रक्षा करता है, उसी के हाथ में जब शक्ति अधिक दिन तक रहने लगती है तो वही अत्याचारी बनने लगता है। इसलिये वही राक्षस हो गया। पहले जो रक्षा के लिये नियत था, वही जब शक्ति का दुरुपयोग करने लगा तो उसे राक्षस कह दिया। अथवा असुर शब्द है। वेदों में असुर शब्द का प्रयोग परमेश्वर के लिये हुआ है। इन्द्र को कई जगह असुर कहा है। लेकिन वर्तमान में इसका अर्थ भी बुरा हो गया है। असु नाम प्राणों का है। गीता में भी कहा 'गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः'। जिसे प्राण चलायें और जिसे प्राण न चलाये वह जिंदा या मरा है। प्राण जिसमें खूब रमण करें अर्थात् प्राणशक्ति जिस समय प्रबल हो, वह असुर कहा जायेगा। परमेश्वर से अधिक बल वाला कौन होगा? इसलिये प्राचीन काल में यह शब्द प्रशंसावाची है। उसी शब्द का अपभ्रंश होकर अहुर्रमजदा फारसी में परमेश्वर का नाम ही माना गया है। जो बल वाला होता है वही आगे चलकर लोगों को दबाने लगता है। जब वह दबाने लगा तो इस शब्द में बुरा भाव आ गया और बुरे अर्थ में यह शब्द रूढ हो गया। हर हालत में शब्दों का भाव बहुत ज्यादा बदल जाता है। आज यदि कोई चाहे कि हम ऋग्वेद के असुर शब्द को लेकर इन्द्र को बुरा सिद्ध करें क्योंकि इसका रूढार्थ वही है तो सारा गड़बड़ हो जायेगा। ये थोड़े से शब्द हैं, ऐसे अनेक शब्द हैं जिनका भाव कालांतर में बदल जाता है। और यदि जड पुस्तक का सहारा लोगे तो कभी भी इदमित्थं भाव से निश्चय नहीं हो सकता कि इसका वास्तविक अर्थ क्या है।

हम लोगों ने इसका बचाव ऐसे किया कि शब्द वही रहे लेकिन उसका श्रवण उसके मुख से किया जाये जिसने परम्परा से अध्ययन किया हो। उसने गुरु से उसका अर्थ समझा, गुरु ने आगे अपने गुरु से जाना। इस प्रकार शब्द वे सब रहने पर भी ज्ञान कराने के लिये अर्थ वर्तमान की भाषा में बताये। यदि कहो कि वे भाषा में ही लिख देते तो क्या हर्ज था? समस्या फिर वही होती कि तीन सौ साल बाद उसका अर्थ कौन समझता? इसलिये हमने माना कि समझाने का काम चेतन अपनी भाषा में करता चला जाये, सहारा वैदिक मंत्रों का रहे। बजाय इसके कि हर सौ पचास साल बाद एक नया

अनुवाद लिखें, व्यक्ति प्रधान होगा। दूसरी बात चाहे जितना अनुवाद करो, हर आदमी एक सा नहीं समझता। सामने बैठे हैं तो नज़र से नज़र मिलाकर देखते हैं कि यह शब्द समझ में नहीं आया तो दूसरे शब्द से कहें। इसलिये श्रुति हमारे यहाँ चेतन है। उलटा अर्थ नहीं कि पैर होते होंगे और चलती होगी।

श्रुति चूँकि चेतन व्यक्ति से श्रवण की जाती है, इसलिये चेतन के अभिनय के द्वारा भगवान् भाष्यकार बता रहे हैं कि गुरु जब शिष्य को उपदेश देता है तब अभिनय करके श्रुति कह रही है। गुरु बतायेंगे 'अयमात्मा ब्रह्म' जिसका तुमको अनुभव हो रहा है, तुम जिसके द्वारा सबका अनुभव कर रहे हो वही तुम। यदि अभिनय न करके केवल 'आत्मा ब्रह्म' कहा गया होता हो आदमी समझता कि ब्रह्म जैसे बड़ी चीज, वैसे ही आत्मा कोई दूसरा होगा। ब्रह्म नपुंसक लिंग वाला और आत्मा पुल्लिग वाला, इसलिये संसार के दो परमेश्वर हैं— एक आत्मा और एक ब्रह्म। जैसे कहीं स्त्रीलिंग शक्ति-वाचक शब्द का प्रयोग और कहीं शिववाचक पुल्लिग शब्द का प्रयोग कर लिया तो समझते हैं कि शिव शक्ति दो ज़रूर हैं। वे नहीं समझ पाते कि वही जिस समय क़िसी कार्य को नहीं करता है उसी को शिव, वही जिस समय अपने धर्म को प्रकट करता है उस समय उसको शक्ति कह दिया जाता है। जैसे अंग्रेजी में दो शब्दों का प्रयोग होता है 'काइनैटिक एनर्जी' और 'पोटैंश्यल एनर्जी'। जिस समय वह एनर्जी काम करने लगी, स्पष्टता के लिये उसे काइनैटिक कह दिया। जिस समय वह काम नहीं करती है उस समय उसे पोटैंश्यल कह दिया। इसी प्रकार शिव शक्ति दो चीजें नहीं। स्त्रीलिंग ओर पुल्लिग शब्दों को देखकर कल्पना करते हैं कि दुनिया को चलाने वाली एक औरत और एक मर्द होंगे। जैसे घर में औरत और मर्द चलाने वाले हैं। ऐसी भिन्न-भिन्न कल्पनायें कर लेते हैं। इसलिये 'अयमात्मा' के द्वारा बताया कि आत्मा कोई दूसरी चीज नहीं। जिसको तुम निरंतर अनुभव कर रहे हो, जो तुम्हारे अहंप्रत्यय में प्रत्यक्ष है, वह आत्मा ही ब्रह्म है।

आगे 'चतुष्पात्त्वेन प्रविभज्यमानम्' के द्वारा बताया कि जो तुम्हारा अनुभव है उस अनुभव और आत्मा को चार पादों में प्रविभक्त करेंगे। कुछ अनुभव ऐसे हैं जहाँ तुम ज्ञानेन्द्रियों के अधीन होकर काम करते हो। कुछ ऐसे हैं जहाँ ज्ञानेन्द्रियों के नहीं, संस्कारों के अधीन हो, कुछ ऐसे हैं जहाँ न ज्ञानेन्द्रियों के, और न संस्कारों के अधीन हो। भिन्न-भिन्न प्रकार के अनुभव हैं। चार पैरों के रूप से अर्थात् इन चार के द्वारा जो तुम्हारी ज्ञानरूपता प्रकट हो रही है, 'प्रत्यगात्मतया' जो तुम्हारा प्रत्यगात्मा चारों अनुभवों को कर रहा है, वही ब्रह्म है जो इनमें प्रकट है।

शंका हुई कि यदि वही ब्रह्म है तो ब्रह्म के चार पैर हुए। कहते हैं कि चार पैर नहीं मान लेना। वह गाय भैंस की तरह नहीं, इसलिये झट फोटो नहीं बना लेना। 'सोयमात्मोंकाराभिधेयः परापरत्वेन व्यवस्थितश्चतुष्पात्कार्षाणवन्न गौरिवेति।' भगवान् भाष्यकार स्पष्ट करते हैं कि जिस आत्मा को ओंकार नाम से कहा गया वही पर और

अपरब्रह्म है। वह चार पैर वाला रुपये (अथवा तत्कालीन सिक्का) की तरह है। जैसे, रुपये में चार चवन्नियाँ होती हैं। यह सुनकर रुपये को तोड़कर उसमें से चार चवन्नियाँ निकालने की कोशिश करोगे तो एक धेला नहीं मिलेगा। जैसे वह एक अखण्ड रुपया है। समझने के लिये उसमें चार चवन्नियाँ मान लीं। यही उसका चतुष्पात्त्व हो गया। प्राचीन काल का सिक्काविशेष समझ लेना। आजकल उसी को रुपया कहते हैं। उसमें समझनेमात्र के लिये चार पैर हैं। तुमने चवन्नी की दाल, चवन्नी की चाय, चवन्नी का मसाला और चवन्नी का घी खरीदा। दुकानदार रुपया लेकर कहता है कि चारों चीजों का दाम मिल गया। यहाँ इसका मतलब है कि एक अखण्ड रुपये के अन्दर व्यवहार के लिये चार चवन्नियों का व्यवहार कल्पित हो गया। उसी प्रकार तुम एक अखण्ड ज्ञानस्वरूप हो। जहाँ तुमने ज्ञानेन्द्रियों की सहायता ली, वह एक चवन्नी, पाद हुआ। बिना ज्ञानेन्द्रियों के केवल संस्कार से व्यवहार कर लिया तो दूसरी चवन्नी, दूसरा पाद हुआ। जहाँ केवल अविद्या का सहारा लिया, वह तीसरी चवन्नी, तीसरा पाद हुआ। चौथे में कुछ नहीं है। तुरीय के अन्दर जो अनुभव है वह इन तीन के अतिरिक्त कुछ नहीं है। लेकिन वह इन तीनों में एक जैसा रहता है अर्थात् तीनों न करने पर भी वही बना रहता है। यह सब करते रहने पर भी वह बना रहता है और यह सब न करने पर भी वैसा ही बना रहता है। वह चतुर्थ नहीं, लेकिन इन तीन की अपेक्षा से, करने की अपेक्षा से न करने को लेकर चौथी चवन्नी अर्थात् चतुर्थ पाद हो गया। उसकी तरह इसके चार पैर समझ लेना, गाय की तरह चार पैर नहीं समझ लेना।

ओंकार की चतुष्पादता गाय के चार पैरों की तरह नहीं बल्कि रुपये में चार चवन्नियों की तरह है। अब एक व्याकरण की शंका होती है कि यहाँ पाद शब्द कैसे बनाओगे? दो तरह से पाद शब्द बन सकता है। एक करण व्युत्पत्ति से अर्थात् जिससे चला जाय या जिससे पदन किया जाये वह पाद और दूसरा कर्म व्युत्पत्ति से अर्थात् जिसको पदन किया जाय या जिसको चला जाये, जिसकी ओर चला जाये। दो प्रकार से शब्द बन सकता हैं। यहाँ पाद शब्द का क्या मतलब करें— जिससे चला जाये या जिसकी ओर चला जाये? पाद का अर्थ जिससे जाना जाये और जिसको जाना जाये, दोनों अर्थों में बड़ा फर्क पड़ जायेगा। जिससे जाना जाये वह साधन या करण (instrument) और जिसको जाना जाये यह साध्य या कर्म (object) हुआ। यहाँ श्रुति ने चार पाद कहे। यदि कहते हो जिससे जाना जाये वह पाद है तब तो जाग्रत्, स्वप्न, सुषप्ति, तुरीय चारों साधन हो गये और इन चारों साधनों से किस को जाना जाये यह श्रुति ने नहीं बताया। यदि साधन अर्थ पाद का मानेंगे तो साध्य की असिद्धि होगी क्योंकि तुरीय भी एक पाद ही है। और यदि यह कहते हो कि जिसको चला जाये अर्थात् जिसको जाना जाये वह पाद है, तो साधन असिद्ध होगा। विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय चारों को जाना किस साधन से जायेगा यह उपनिषद् के अन्दर नहीं बताया। है तो यह व्याकरण की कठिनाई

लेकिन साधन और साध्य को चूँकि इस उपनिषद् में कहीं नहीं बताया गया, इसलिये पाद शब्द की दो प्रकार की व्युत्पत्ति यहाँ करनी पड़ेगी। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति प्रसिद्ध होने से वहाँ तो जिससे जाना जाये यह व्युत्पत्ति समझनी है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति के विचार से जाना जाये, यों पाद शब्द का अर्थ साधन करना पड़ेगा। और तुरीय को जाना जाये, वहाँ पर उसी पाद शब्द की कर्मव्युत्पत्ति करनी पड़ेगी। तुरीय वह हुआ जिसको जाना जाये, और जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति वे हुए जिससे जाना जाये। यहाँ चतुष्पाद् में ये दोनों अर्थ करना आवश्यक हो गया, नहीं तो एक में साधन-असिद्धि और दूसरे में साध्य-असिद्धि आ जाती है।

'त्रयाणां विश्वादीनां पूर्वपूर्वप्रविलापनेन तुरीयस्य प्रतिपत्तिरिति करणसाधनः पादशब्दः।' तीन जगह पर तो पाद शब्द करण (instrument) अर्थ वाला हो गया। वह करण कैसा है? जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति को कैसे समझना चाहिये? उसका संकेत करके बता दिया 'विश्वादीनाम्' विश्व, तैजस और प्राज्ञ; वैश्वानर, हिरण्यगर्भ और ईश्वर; जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति। जाग्रत् का जो अनुभव करता है उसका नाम विश्व है। ये सब पारिभाषिक शब्द हैं, केवल याद करने पड़ते हैं। जाग्रत् का अनुभव करने वाला अर्थात् जीव विश्व शब्द से कहा जाता है। इसी पर जोर देने के कारण विष्णु सहस्रनाम का प्रारंभ विष्णु शब्द से नहीं किया। यद्यपि प्रायः जिसका नाम है उसका नाम पहले आना चाहिये तथापि वहाँ विश्व से शुरू किया 'विश्वं विष्णुर्वषट्कारः'। वह इसलिये किया कि जब तक जाग्रत् के अभिमानी जीव के स्वरूप को नहीं समझोगे तक तक व्यापक विष्णु स्वरूप समझ में नहीं आयेगा। इसलिये विश्वम् और तब विष्णु कहा। समझ में कैसे आयेगा? वषट्कारः; षट् का अर्थ है सर्वज्ञता, नित्यतृप्ति, अनादि ज्ञान आदि छह गुण जो विष्णु में हमेशा रहते हैं। इसलिये वह वषट्कारः हो गया। हम लोग उसके विषय हैं इसलिये आगे का साधन बताने में प्रवृत्ति हो गई 'भूतभव्यभवत्प्रभुः'। इसलिये विश्व पारिभाषिक शब्द है। जाग्रत् में जो अनुभव करता है उसको विश्व कहते हैं। स्वप्न में जो अनुभव करता है उसको तैजस कहते हैं। यह उसका नाम हो गया। विश्व तैजस एक रहो लेकिन अनुभव के प्रकार में भेद है। विश्व पदार्थों को देखकर अनुभव करता है और तैजस अपने पदार्थोंको खुद बनाता है और अनुभव करता है। दोनों के तरीके में फर्क हो गया। मंगलाचरण श्लोक में ही बता आये हैं कि केवल सोने वाला ही स्वप्न नहीं। जाग्रत् में जो क्रिया करते हो वहाँ भी स्वप्न है। एक स्त्री शरीर पाँच फुट लम्बा सत्तर किलो के वजन का है उसका अमुक रंग है। यह सब तो है जाग्रत् का पदार्थ क्योंकि यह बनाने वाले तुम नहीं। लेकिन एक उसके अन्दर कहता है कि यह हेय है, स्त्री है, इसकी तरफ भोग्य दृष्टि करना बेकार है।दूसरा उसकी तरफ भोग्य दृष्टि करता है कि यह भोग्या है। सात्त्विक गुण वाला व्यक्ति उसे हेय दृष्टि से, रजोगुण उसे भोग्य दृष्टि से देखेगा। वहीं पर एक कुत्ता खड़ा हुआ है, वह उसे भक्ष्य दृष्टि से देखता है कि इसके ऊपर मुँह मारूँ तो बड़ा

मजा आयेगा, इसकी मांसपेशियाँ बड़ी अच्छी हैं। ये तीनों दृष्टियाँ पदार्थगत नहीं हैं। यह तुम्हारा अपना स्वप्न चल रहा है। ठीक उसी प्रकार से एक ही स्त्री एक साथ एक व्यक्ति को बहन दीख रही है, दूसरे को माँ दीख रही है, तीसरे को बेटी दीख रही है, चौथे को साली और पाँचवें को पत्नी दीख रही है। वहाँ औरतें पाँच छह नहीं हैं। एक ही है। बाकी सब तुम्हारी बनाई हुई चीजें हैं। यह स्वप्न है। इसको बनाने वाले तुम हो, इसको परमात्मा नहीं बनाता। लेकिन सामने पाँच फुट की चीज़ तुम्हारी बनाई हुई नहीं है। इसलिये जगते हुए भी जहाँ जहाँ तुम स्वयं निर्माण करके उसको देखते हो वह सारा का सारा तैजस का व्यवहार है। यही सब जगह समझते जाना। जिसको सिवाय आनंद के और किसी चीज का बोध नहीं, वह जो गहरी नींद वाली स्थिति है, उसका भोग करने वाला प्राज्ञ कहा जाता है। विश्व तैजस प्राज्ञ तीनों नाम हो गये। विश्वकाल में जो भोग करवाता है वह वैश्वानर या विराट् कहा जाता है। तैजस को जो भोग करवाता है वह हिरण्यगर्भ कहा जाता है और प्राज्ञ के भोग जहाँ हो रहे हैं या जो करवा रहा है वह ईश्वर कहा जाता है। इन तीनों की अवस्थायें जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति हो गईं। 'विश्वादीनाम्' में यह सब ले लेना चाहिये।

अब इनको एक दूसरे में लीन करते हैं 'पूर्वपूर्वप्रविलापनेन'। प्रविलापन का मतलब है कि यदि जाग्रत् का सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने लग जाओ तो वह स्वप्न सिद्ध होने लगता है। इसको मोटी दृष्टि से समझाने के लिये कह दिया था कि वहाँ एक शरीर खड़ा है, लेकिन जो शरीर तुमको दीख रहा, वह वहाँ नहीं है। यदि उस शरीर को ऐक्सरे की आँख से देखो तो हड्डियाँ ही हड्डियाँ दीखेंगी। उस शरीर की मांसपेशियाँ जो ठोस दीख रही हैं उन्हें माइक्रोस्कोप से देखो तो बीच में छेद ही छेद नजर आयेंगे। जिस चमड़े को तुम बड़ा मुलायम और सुन्दर समझ रहे हो उसे ध्यान से देखने पर पता चलेगा कि उसमें चलनी की तरह छेद ही छेद हैं। हमारा प्राचीनशास्त्र नौ करोड़ छिद्र बताता था, अब आजकल के लोगों की क्या गिनती है, पता नहीं। वहां से लेकर अंत में अणु तक पहुँच जाओ। दो अणुओं के बीच में बहुत पोल होती है। अणु के खुद के भीतर भी बहुत पोल होती है। फिर उस ऐटम में ऋणाणु-धनाणु के मध्य बहुत पोल और वहाँ फिर आइसोटोन्स, न्यूट्रोन्स में भी ऐसा ही है। यहाँ तक तो कहा जाता है कि जिस पृथ्वी लोक पर हम रहते हैं, यदि उस सबको बिना पोल के एकत्रित कर दिया जाये तो एक क्रिकेट की गेंद जितनी रह जायेगी। बाकी सब पोल ही पोल मामला है।जैसे कई लोग बढ़िया मिठाई बनाते हैं और उसका नाम व्हिप्ड क्रीम रखते हैं। देखकर लगता है कि ठोस मामला होगा लेकिन खाने जाते हैं तो पोल है। ऐसे ही विचार करके देखते हैं तो समझ में आता है कि बाल जितना पदार्थ है, बाकी सब तो फुला कर बना दिया गया है। वेदांती कहता है कि यहाँ तक तुम पहुँचे तो आगे जरा हमारी मान लो कि वह बाल भी नहीं है। अगर तुम थोड़े से परमाणुओं के बीच की पोल को इतनी ठोस चीज़ समझ

सकते हो तो वह तुम्हारी ही कल्पना हुई। इसलिये जाग्रत् का जब विचार करने लगते हैं तो पहले तो लगता है कि बाह्य पदार्थ हैं और उसमें हम कुछ कल्पना करते हैं। जब विचार में प्रवृत्त होते हैं तब पता लगता है कि बाह्य पदार्थ नहीं जैसे ही हैं। 'नहीं हैं' नहीं कह रहे हैं, यह याद रखना, क्योंकि यह क्षणिकविज्ञानवाद, शून्यवाद और वेदांत में फर्क है। वे लोग कहते हैं कि बाहर कुछ नहीं है। हम लोग कहते हैं कि बाहर कुछ नहीं है यह नहीं कह सकते, क्योंकि कुछ नहीं से कुछ पैदा नहीं हो सकता, लेकिन जैसा दीख रहा है वैसा नहीं है। इसका नाम ही मिथ्या है। संसार असत्य नहीं है। संसार को हम लोग तो सत्य कहते हैं। 'सत्यस्य सत्यम्' बृहदारण्यक उपनिषद् परमात्मा को सत्य का भी सत्य बताती है। संसार का असली सत्, अस्तिरूप, सत्य है लेकिन संसार मिथ्या है। जैसा तुम देख रहे हो, वह तुम्हारी कल्पना है, वहाँ कुछ है जरूर। जब यह निश्चय हो गया तो जाग्रत् का स्वप्न में प्रविलापन हो गया। जैसे स्वप्न के पदार्थ कुछ हैं जरूर, ऐसा नहीं समझना कि स्वप्न में पदार्थ नहीं हैं। स्वप्न में संस्कार रूप से पदार्थ हैं। लेकिन दीखते हैं पदार्थ रूप में। आखिर जिस चीज के संस्कार जायेंगे वही तो स्वप्न में नजर आयेगी। स्वप्न में पदार्थ संस्कार रूप से हैं, और दीखते हैं बाहर पदार्थ रूप से, इसलिये मिथ्या हैं। इसी प्रकार जाग्रत् में पदार्थ हैं किसी रूप से, दीखते हैं घट, पट आदि रूप में। यह जाग्रत् का स्वप्न में प्रविलापन कर दिया।

हम ये सारी कल्पनायें कर रहे हैं, इसका कारण क्या है? वहाँ जो कुछ है उसको हम जान नहीं रहे हैं। हमने जैसे ही माइक्रोस्कोप से एक चीज को जाना तो तुरंत पता लग जाता है कि हम जिसको ठोस समझते थे वह ठोस नहीं हैं। उस भेद (जगह) को हम नहीं जान पाते, उस भाव का अज्ञान है इसलिये हमको वहाँ ठोस चीज नजर आती है। अज्ञान के कारण ही हमारी कल्पना चलती है। जाग्रत् के अन्दर जो ब्रह्म है उसको हम नहीं जान पाते हैं इसलिये कल्पना चलती है। स्वप्न के अन्दर जो संस्कार हैं उनको नहीं जान पाते हैं इसलिये कल्पना चलती है। इन दोनों अवस्थाओं का जो कारण अज्ञान है, सुषुप्ति के अन्दर उसी का परामर्श करके कह देते हो कि मैंने कुछ नहीं जाना। वहाँ मुझे कुछ पता नहीं लगा। न जानना अर्थात् अज्ञान। यदि मुझे कुछ का अज्ञान प्रवृत्त करता है तो जाग्रत् या स्वप्न, और यदि कुछ का अज्ञान प्रवृत्त नहीं करता है तो सुषुप्ति। यहाँ स्वप्न को सुषुप्ति में लय किया कि वस्तुतः स्वप्न अज्ञानरूप ही है। अगर न होता तो उसका विस्तार हो नहीं सकता था। यह 'पूर्वपूर्वप्रविलापनेन तुरीयस्य प्रतिपत्तिरिति' इस भाष्यका अभिप्राय है।

जाग्रत् को जो देखने वाला द्रष्टा था उसी को यह पता लगा कि स्वप्न काल की तरह ही जाग्रत् के पदार्थ प्रसूत हैं या उत्पन्न हैं। उसी को सुषुप्ति में यह पता लगा कि वस्तुतः अज्ञान के कारण ही स्वप्न के संस्कार भी प्रसूत हैं। जब वह कहता है कि सुषुप्ति में मैंने कुछ नहीं जाना, कहता तो वह यही बात है लेकिन वह किसी सूक्ष्म चीज को

भी बता रहा है : मैंने कुछ नहीं जाना, इस बात को जाना। यदि कुछ न जानने का मतलब होता कुछ नहीं जानना तो तू अनुभव कैसे कर रहा है कि मैंने कुछ नहीं जाना? जैसे सूर्य के सामने तुम अपना हाथ कर दो तो सूर्य दिखाई नहीं देता, और रास्ता दिखाई दे जाता है, सूर्य की चिलचिलाहट बचाने के लिये ऐसा कर देते हैं चूँकि चिलचिलाहट में आदमी रास्ते में गड़बड़ी कर जाता है। रास्ता दिखाई देता है, रास्ते की रोशनी से ही पता लग रहा है कि सूर्य वहाँ है। केवल हाथ आगे करने से रास्ता दीखने लगा हो तो अमावास्या की रात्रि को भी हाथ आगे करके रास्ता दीखना चाहिये। सूर्य की चिलचिलाहट बन्द हो जाने पर जो रास्ता दीख रहा है वह बता रहा है कि सूर्य है। इसी प्रकार जाग्रत् स्वप्न में जो हमारी विमर्श शक्ति थी जिसके द्वारा हम पदार्थों का निर्माण कर रहे थे, वह विमर्शशक्ति सुषुप्ति काल में नहीं, इसलिये कहते हैं कि मैंने कुछ नहीं जाना। लेकिन कह रहा है कि मैंने कुछ नहीं जाना, अतः इस बात को तो जाना ही। जानना मेरा ऐसा स्वभाव है कि यदि मैं कुछ बनता हूँ तो उसको जानता हूँ, यदि कुछ नहीं बनता हूँ तो 'मैं कुछ नहीं बना' इस बात को ही जानता हूँ, लेकिन बिना जाने नहीं रह सकता। इसी को बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा 'नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते अविनाशित्वात्' द्रष्टा की दृष्टि का कभी भी नाश नहीं हो सकता, वह हमेशा बनी रहेगी। जो सुषुप्ति में विमर्शशून्यावस्था में, जाग्रत्-स्वप्न में विमर्शरूप अवस्था में, और दोनों अवस्थायें जिसमें बस वह तुरीय है। इसलिये तीन से चौथी अवस्था नहीं। इन तीन रूपों में प्रकट होने वाला जो है वह तुरीय है। इस प्रविलापन प्रक्रिया से तुरीय की प्रतिपत्ति अर्थात् ज्ञान हो जाता है।

यही इसके ज्ञान का सीधा साधन इस उपनिषद् में बताया जायेगा। कहीं पंचीकरण प्रक्रिया होती है जैसे छांदोग्य उपनिषद् में, कही पंचकोशप्रक्रिया होती है जैसे तैत्तिरीय उपनिषद् में, कहीं सद्ब्रह्म से सृष्टि आदि कही जाती है जैसे ऐतरेय में, किन्तु माण्डूक्य उपनिषद् में इसी को लेकर चलेंगे कि जब बार बार बाह्य पदार्थ का अनुभव है तब स्वप्न में प्रविलापन करो। और जाग्रत् से स्वप्न के विमर्श को सुषुप्ति के विमर्शशून्यावस्था में लीन करो तथा जो विमर्श वाला और विमर्शशून्यावस्था वाला है वह वैसा का वैसा है इसकी जागरूकता रखो। इसी को मोटी भाषा में समझ लो कि जिसने यह बात जान ली कि रावण बनकर के मैंने ऋषियों को दुःख दिया और राम बनकर मैंने उन्हीं ऋषियों का रक्षण किया वह तुरीय मैं हूँ। इतना बड़ा साहस होना पड़ेगा। राम बनने का साहस तो खट लोग करते हैं क्योंकि अच्छा है, लेकिन समग्र रूप का अनुभव करना जरूरी है। उसके बिना काम नहीं बनता। भगवान् के विराट रूप में इसीलिये यक्ष, राक्षस इत्यादि इसी दृष्टि से सब बताये गये। इसलिये कह दिया कि पूर्वपूर्वप्रविलापन से ज्ञान हो जाता है। इसलिये इन तीन के अन्दर तो जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति के प्रविलापन से जाना जाता है अतः वे तीनों पाद हैं। 'तुरीयस्य पद्यत इति कर्मसाधनः पादशब्दः' और जब तुरीय

की बात करते हैं तब इन तीनों के प्रविलापन से जो पकड़ में आता है 'साध्य' वह पाद है। इन दोनों अवस्थाओं को इकट्ठा करके आगे कारिका में बतायेंगे 'अन्यथा गृह्णतः स्वप्नो निद्रा तत्त्वमजानतः। विपर्यासे तयोः क्षीणे तुरीयं पदमश्नुते।।' यहाँ संक्षेप में उसका अर्थ समझ लेना चाहिये। मनुष्य मन में सोचता है कि इन तीनों से भिन्न चौथा होगा। यह मन का संस्कार बड़ी कठिनाई से निकलता है। इन तीनों से अलग कुछ नहीं है। ये तीनों जिसकी अवस्थायें हैं, जो इन तीनों में एक जैसा रहता है बस उसी को पकड़ना है। अभी हम लोग उसमें गड़बड़ कर जाते हैं क्योंकि बचपन से अलग संस्कार डाल दिये जाते हैं। जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति को ठीक तरह से समझते नहीं। ठीक भी है, क्योंकि यदि इस चीज को आदमी समझ ले तो संसार का गधे की तरह भार ढोना छोड़ देगा। यह सारे संसार का भार तो अपने आप बह रहा है।

जो व्यक्ति नदी में तैरना जानता है, वह जानता है कि जिधर से नदी की धारा बह रही है उसका सहारा लेकर आनंद से तैरना होता है। आजकल के लोग होटल में रुपया देकर तैरना सीखते हैं। उनसे कहो कि गंगा जी में तैरने चलें तो कहते हैं 'तैर नहीं सकते'। 'अरे, तुम कहते हो कि हमको तैराकी का प्राइज़ मिला है, तो जरा हमारे साथ भी तैरने चलो'। ज़बर्दस्ती ले जायें तो एक घाट से तैरकर दूसरे घाट में जा लगते हैं। बड़ा ज़ोर लगाते हैं, मानों स्थिर पानी में केवल अपने हाथों से तैर रहे हों, वैसा ही प्रयत्न वहाँ करते हैं, लेकिन गंगा जी की जलधारा तेज होने से वह तुम्हारे ज़ोर को कुछ नहीं धारती। जो गंगा जी के प्रवाह में तैरना सीख चुका है तो स्थिर जल में तैरने में उसे कोई कठिनाई महसूस नहीं होती, बड़ा सरल लगता है। इसी प्रकार संसार के प्रवाह का एक स्वरूप है। जो तो संसार के प्रवाह के स्वरूप को समझकर के चलता है उसको उसका बोझा नहीं उठाना पड़ता। थोड़ा सा निर्देश (direction) इधर उधर कर देते हैं बाकी काम वह प्रवाह खुद करता है। उतना ही जीव का स्वातंत्र्य है। जो यह मानकर चलता है कि सारी चीज़ की जिम्मेदारी केवल मेरी ही है, वह फिर गधे की तरह भार ढोता चलता रहता है।

अभी थोड़ी देर पहले एक बच्ची यहाँ से चली। उसने थैला उठाया, बच्ची जो रही। लेकिन थैला किधर से खुलता है और किधर से बन्द होता है, उसको इसका पूरा भान तो होता नहीं है। उसने एक कोने से उठाया, ऊपर का फ्लैप साइड में आ गया उसके अन्दर की चीज गिर गई। यहाँ तक कोई कठिनाई नहीं है, यह स्वाभाविक है। गिरने की खट आवाज आते ही बच्ची ने झट सहमकर पीछे की तरफ देखा कि कहीं माँ देख तो नहीं रही है। जब देखा कि माँ नहीं देख रही है तो उसने सब चीजें समेटकर अंदर रख लीं। बोध हो गया कि गलत किया। लेकिन वह जो सहम कर देखा, बस उससे हमारे हृदय में चोट लगी कि इसको इतना भय है कि चीज टूट गई तो माँ क्या करेगी। अरे, ये चीजें तो टूटती रहेंगी, लेकिन उसके चित्त में जो भय आया उसकी

कितनी बड़ी कीमत है! कहा जा सकता है कि वह अपने शुद्ध चिन्मात्र स्वरूप से गिरकर बेचारी जीव बन गई। काम उसको वही करना था, माँ देख लेती तो कहती 'बेवकूफ कहीं की' या 'देख कर नहीं उठाती', और वह क्या करती? वह गिरी हुई चीज न गिरी हुई हो जाये, ऐसा कोई भी कर सकता नहीं। ये संस्कार आगे बढ़कर सारे जीवन को संभ्रम वाला बना देते हैं, सारे जीवन के आनंद को छीन लेते हैं; क्योंकि गिरा, इसकी जिम्मेदारी तुम्हारी। जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति के विचार वाला जानता है कि गिरना स्वाभाविक चीज है। इसकी सबसे बड़ी जिम्मेदारी तो पूषा देवता की है क्योंकि उसने जब पृथ्वी बनाई तो न इसमें गुरुत्वाकर्षण रखा होता और न चीजें गिरतीं। सबसे बड़ा अपराध तो उसी का है। और भी बहुतों की गलती है। न ऐसा थैला बनाया जाता न चीजें गिरतीं। ऐसा थैला बनाया जाता जो चारों तरफ से सिल जाये और उसमें छोटा सा छेद ही बना लिया जाता। विचार से अनेक कारण मिलेंगे। उसकी यह अज्ञानिता कि किधर से पकड़ना है यह भी एक कारण है पर छोटा सा ही, उसके पीछे और बहुत कारण है।

जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति का विचार करने से यह बात समझ में आ जाती है कि विमर्शशक्ति का प्रवाह जाग्रत् स्वप्न में चल रहा है। हम थोड़ा सा केवल इसकी दिशा में कुछ कर सकते हैं, बाकी, प्रवाह तो चलता ही रहेगा। यही मनुष्य को सुखी कर सकता है क्योंकि यह सच्ची बात है। खूब प्रयत्न करने वालों को अंत में देखते है कि उनका आत्मा (guilt conscious) महामैला हो जाता है। विदेशों में मान्यता है कि conscience, उत्तरदायित्व का भाव मजबूत करो। ऐल्बर्ट श्वाइत्ज़र का हम लोगों पर दोष ही यह है कि हिन्दू की conscience strong नहीं होती। ऐसा वह मानता है। Conscience होना अच्छी बात है। लेकिन उसका फल जो अहम्मन्यता है, उस दोष को लोग नहीं देख पाते। सब करके अंत में वह ऐल्बर्ट श्वाइत्ज़र भी दुःखी होकर मरा, वह जैसा सम्बन्ध जर्मनी और इंग्लैण्ड का कायम करवाना चाहता था, कायम नहीं करवा सका। विवेकी इसको समझते हैं। यह पूर्वपूर्वप्रविलापन क्रिया से मनुष्य की पकड़ में आता है कि हमारा वास्तविक स्वरूप अवबोधमात्र, देखनामात्र, चिद्रूपता मात्र, प्रकाशमात्र है। कभी विमर्श शक्ति स्वप्न रूप में भ्रम करायेगी, कभी जाग्रत् के रूप में, और कभी सुषुप्तिरूप में प्रतीत होगी। इन तीनों के प्रवाह के अन्दर जो स्थिर भाव से एक जैसा केवल चिन्मात्र, दृङ्मात्र हमारा स्वरूप है, वह, चाहे हम लाख कोशिश कर लें, जा नहीं सकता क्योंकि स्वरूप की प्राप्ति प्रयत्नसाध्य नहीं होती। जो चीज प्रयत्नसाध्य हुआ करती है, वह प्रयत्न के मिटने पर एक दिन मिट जाती है। जितनी चीजों का तुम अपने ऊपर आरोपण कर लो वे सब एक न एक दिन मिट जाने वाली हैं। केवल दृङ्मात्र कभी नहीं मिटेगा क्योंकि हमारा स्वरूप है। इसलिये उसमें स्थिर होना है। बाकी जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति के प्रवाह के अन्दर दृङ्मात्र की दृष्टि में दिशा-परिवर्तन होगा, लेकिन उससे कुछ आता जाता नहीं है। इसलिये कहा 'तुरीयस्य पद्यत इति कर्मसाधनः पादशब्दः'।।२।।

●

तृतीय मन्त्र

'कथं चतुष्पात्त्वमित्याह' चार पाद कैसे हैं यह बताते हैं। नैयायिक, सांख्य, वैशेषिक, योग इत्यादि सब मानते हैं कि आत्मा निरवयव निराकार है। उसमें दो पैर भी सम्भव नहीं तो चार पैर कहाँ से आ जायेंगे? अतः पादों का वर्णन करती हुई श्रुति कहती है—

जागरितस्थानो बहिष्प्रज्ञः सप्तांग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः।।३।।

'जागरितस्थानः' अर्थात् जाग्रत् अवस्था के अन्दर जिसका अनुभव होता है। 'बहिष्प्रज्ञः' बाहर अर्थात् आत्मा से भिन्न विषय के अन्दर जिसकी प्रज्ञा अर्थात् ज्ञान होता है। अपना ज्ञान जाग्रत् अवस्था में नहीं होता, अपने से अलग पदार्थों को इदं बुद्धि से देखते रहते हैं। देखने वाले को जाग्रत् काल में नहीं देख सकते क्योंकि बहिष्प्रज्ञ है। ध्यान के अन्दर आत्मा को विषय करने का प्रयत्न करते हैं किन्तु ध्यान को जाग्रत् अवस्था नहीं कह सकते और न वहाँ बाहर की किसी चीज को जान ही रहे हो, उलटा बाहर के ज्ञानों को हटा रहे हो। इसलिये वह जाग्रदवस्था नहीं है। इसके सात अंग हैं, उन्नीस मुख हैं। यह आत्मदेव उन्नीस मुख वाला है। किसी देवता के एक मुख, भगवान् विष्णु का; किसी के दो मुख, अग्नि के; तीन मुख वाले भगवान् दत्तात्रेय; चार मुख वाले ब्रह्मा; पंचमुख भगवान् शंकर; छह मुख वाले कार्त्तिकेय स्वामी; लेकिन यह आत्मा उन्नीस मुख वाला है। दशमुख वाले रावण को भी पीछे छोड़ दिया! स्थूल पदार्थों का यहाँ भोग होता है। वैश्वानर नाम के पहले पाद का रूप बता दिया कि यहाँ पर पाद का मतलब यह स्वरूप है। पाद का मतलब केवल पैर नहीं लेना।

'जागरितं स्थानमस्येति जागरितस्थानः' भगवान् भाष्यकार ने इसका अर्थ कर दिया कि जागरित स्थिति इसकी है इसलिये इसको जागरितस्थान कह दिया। अवस्थिति का मतलब क्या होता है? 'अभिमानस्य विषयभूतम्' स्थिति का मतलब होता है किसी चीज के अन्दर अभिमान। जिस समय अभिमान करते हो तो वह स्थिति कही जाती है। लोक में भी कहते हैं कि यह राष्ट्रपति हैं। वह भी अपने को राष्ट्रपति मानता है। अथवा मैं मंत्री हूँ, मैं डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट या कलक्टर, कुछ भी समझ लो। अब यह बताओ कि यह बनने से उस आत्मा में कुछ वैशिष्ट्य आता है क्या? कुछ भी नहीं आता। जैसे वह आदमी एक क्षण पूर्व था, वैसे ही एक क्षण बाद है। इसको गलत नहीं समझना। अगर हमारे अन्दर आज इस ग्रन्थ को पढ़ने की बुद्धि नहीं है और कल हमको तुमने वेदांत का प्राध्यापक (प्रोफेसर) बना दिया तो क्या इसके पढ़ाने की बुद्धि आ जायेगी? नहीं आ सकती। केवल यह अभिमान आ जायेगा कि मैं वेदांत पढ़ा सकता हूँ। किसी भी स्थिति को प्राप्त करने से कोई नई चीज का आवेश तुम में नहीं हो सकता। यह चीज

अनादि काल से समस्या रही है। यह ठीक है कि व्यवहार चलाने के लिये हम लोग इसका प्रयोग करते हैं, और करो व्यवहार चलाने के लिये, लेकिन वास्तविक बात का विचार करो कि जो जन जैसा है वैसा ही है। समग्र पदों से निवृत्त करके जब हम उसे देखते हैं तब तो हम वास्तविकता की तरफ जाते हैं और इन सब चीजों से जब हम देखने लगते हैं तो केवल अभिमानमात्र को देखते हैं। किसी घर में बातचीत हो रही थी। उनका लड़का बाईस साल का हो गया है। वह कहे कि मुझे गाड़ी ले जानी है, दूसरा कह रहा था कि गाड़ी नहीं, स्कूटर ले जाओ। यहाँ तक ठीक है। गाड़ी खड़ी हुई है। अंत में हमसे भी कहा कि आप ही देखिये। हमने पूछा कि गाड़ी क्यों नहीं ले जा सकता? तब कहा कि जब तक इसका विवाह नहीं होगा तब तक इसको स्वतंत्र गाड़ी नहीं देंगे। हम बहुत दिन तक सोचते रहे कि एक दिन में उसमें कौन सा अतिशय आधान हो जायेगा जो विवाह करते ही वह गाड़ी चलाने में पंडित बन जायेगा? जैसा है वैसा ही तो रहेगा। व्यवहार चलाने के लिये करो, व्यवहार को हम मना नहीं करते। राजा में विशेष शक्ति का आधान मान लो। पोप के अन्दर कुछ विशेष शक्ति मान लो। उससे हमारा विरोध नहीं। लेकिन उतने मात्र से अतिशय कुछ नहीं आने वाला है सिवाय अभिमान के। आज हम ब्रह्मचारी हैं, अपने साथियों के साथ बैठे हुए बातचीत कर रहे हैं। आज रात में हमको संन्यास दे दिया गया। कल प्रातःकाल उससे हमारे में कौनसा वैशिष्ट्य आ जाना है? विचार करके देखो कि संस्कार होने मात्र से क्या हमको वैराग्य या उपरति उत्पन्न हो जानी है? जैसे हम कल तक थे वैसे ही आज हैं, कुछ वैशिष्ट्य नहीं आना है। अभिमान जरूर आता है। एक हँसी मजाक की बात है। कई बार महात्मा हमसे शिकायत करते हैं कि अमुक ने हमसे ॐ नमो नारायणाय नहीं किया। हम कहते हैं 'क्या साल भर पहले करता था?' कहते हैं—'तब और बात थी'। क्या अब तुम्हारे दो सींग निकल आये हैं? उस समय वह दुःख नहीं देता था, आज से देने लगा तो वह संन्यास तुम्हारे दुःख का कारण बना, सुख का कारण क्या बना! केवल मनुष्य के मन में एक अभिमानमात्र आ जाता है कि कुछ हो गया। कुछ अतिशय का आधान हो गया। जैसा कहा कि व्यवहार चलाने के लिये सब कुछ किये जाओ, उसके लिये मना नहीं करते हैं।

यहाँ आत्मा को जागरितस्थान स्वप्नस्थान और सुषुप्तिस्थान कहा है। तुरीय को स्थान नहीं कहेंगे। जाग्रत् में स्थान का मतलब क्या? 'मैं' जाग्रत् में हूँ, इस प्रकार के अभिमान का विषय। तुरीय आत्मा कोई जाग्रत् नाम की अवस्थिति हो, उसमें जाता है, ऐसा नहीं है। उसमें कुछ वैशिष्ट्य नहीं आता। वह जैसे सुषुप्ति में है, जैसे स्वप्न में वैसे ही जाग्रत् में है, लेकिन इस अभिमान का विषयभूत हो गया। किसी भी स्थान से वैशिष्ट्य नहीं आता। जैसा है वैसा ही व्यक्ति रहेगा। इस बात को अगर अंदर ही अंदर जानोगे तो बाहर से व्यवहार में तो राजा की बात मानना, राष्ट्रपति को राष्ट्रपति

मानना लेकिन यह सब मानते हुए जानना कि बस वह जो है सो है! उसमें उसके स्थान से कुछ वैशिष्ट्य नहीं आया, यह बात जाननी है। नहीं तो आजकल बड़ी कठिनाई होती है। कोई व्यक्ति राष्ट्रपति बन गया तो वह धर्मप्रचारक भी बन जाता है, विज्ञान के विषय में भी बातें बोलने लगता है। समाजनीति, अर्थनीति इत्यादि इनका तो वह प्राचार्य है ही। अपने को बड़ी कठिनाई महसूस होती है, घबरा जाते हैं कि इतना बड़ा आदमी यह बात कह रहा है।

इस स्थान के विचार के कारण ही हम वेदांतियों के यहाँ एक मर्यादा है जो इस भाष्य को पढ़ने में देखोगे और जितने भाष्य पढ़ोगे सब जगह देखोगे। गौतम के सूत्र का उद्धरण लेंगे लेकिन नाम लेकर यह बताने की चेष्टा नहीं करेंगे कि गौतम ने यह कहा। वेदांत की मर्यादा यह बनाई गई कि 'प्रामाण्यचिंतायां पुरुषप्रवृत्तेः अनुदाहरणीयत्वात्' प्रामाण्य मीमांसा अर्थात् किसी बात के सच झूठ की प्रमाणता का जब विचार चल रहा है तो किसी महापुरुष या किसी दूसरे पुरुष ने क्या किया, क्या कह रहे हैं, उसका उदाहरण कभी मत लो। बात चाहे तुम यह कहो कि एक व्यक्ति ने ऐसा कहा है। लेकिन यह कह देना कि यह बात तो पतंजलि महर्षि ने कही है, यह एक तरह से दूसरे आदमी को विचार करने से रोक देता है। घरों में यह प्रायः होता है। बिल्कुल गलत बात सास कह रही हो और बहु कहे 'तुम जो कहती हो ऐसा करने में क्या फायदा है?' वह कहती है 'पहले मेरी सास करती रही, मेरी ददिया सास करती रही। क्या वे सब बेवकूफ थीं?' यदि बहु कहे कि बेवकूफ थीं तो बड़ों की निंदा, और यदि कहे कि नहीं वे बेवकूफ नहीं थीं, तो हम बेवकूफ हैं। इसलिये वेदांत ने मर्यादा बनाई कि सत्य और असत्य के विचार में किसी भी महापुरुष को बीच में नहीं लाना चाहिये। यहाँ तक कि बौद्ध आदि के खण्डन में भी बुद्ध का नाम नहीं लेंगे वरन् 'सौगताः तथागताः', इत्यादि बुद्ध के अनुयायियों के सिद्धांत का नाम लेंगे, व्यक्ति का नाम नहीं। प्रमाण का विचार करो कि कौन सी चीज सिद्ध होती है। स्वाभाविक बात है कि जिसकी बात प्रमाणसिद्ध होगी उसके विषय में श्रद्धा उदय होगी ही इसमें कुछ कहना ही नहीं है। इस प्रकार जागरितस्थान को स्पष्ट कर दिया।

आगे कहा 'बहिष्प्रज्ञः'। इसे समझाते हुए भाष्यकार कहते है 'बहिष्प्रज्ञः स्वात्मव्यतिरिक्ते विषये प्रज्ञा यस्य स बहिष्प्रज्ञो बहिर्विषयेव प्रज्ञाविद्याकृतावभासत इत्यर्थः।' प्रज्ञा तो अन्दर रहने वाली चीज हुआ करती है, लेकिन बहिष्प्रज्ञ का मतलब है बाहर से प्रज्ञा। प्रज्ञा बाहर कहाँ रहेगी? इसलिये लक्षण कर दिया कि यहाँ पर बहिष्प्रज्ञ का मतलब बाहर की प्रज्ञा नहीं है, बल्कि बाहर के विषयों में, बाहर के विषयों को लेकर जो प्रज्ञा अर्थात् ज्ञान उत्पन्न होता है। बाहर का मतलब क्या? कोई समझेगा कमरे के बाहर, कोई समझेगा शरीर के बाहर। सबका संग्रह करने के लिये कहा 'स्वात्मव्यतिरिक्ते' आत्मा से भिन्न तुम्हारा अहंकार है। 'मैं' इसको भी तो कोई जान रहा है। सब चीजों

को तो मैं जानता हूँ लेकिन 'मैं' इसको भी तो जान रहा हूँ। इसे स्व-पर-निर्वाह नाम से कहते हैं। यह आगे विस्तार से बार बार आयेगा। जैसे दीपक स्वयंप्रकाश है। इसका मतलब है कि दीपक अपने को दिखाता हुआ दूसरे को दिखाता है। अपने आपको दिखाते हुए दूसरों को दिखाता है, उसे स्वपरनिर्वाहक कहते हैं। ऐसा नहीं है कि दीपक को देखने के लिये कोई दूसरा दीपक जलाओ तो वह दीपक दीखे। सूर्य को देखने के लिये कोई लट्टू नहीं जलाना पड़ता। सूर्य सब चीजों को दिखाते हुए अपने आपको भी दिखाता है। इसी प्रकार जो प्रज्ञा अर्थात् चेतनता है, वह चेतनता अपने आपको दिखाते हुए बाकी सबको दिखाती है। अपने आपको अहम्प्रत्यय को जानकर दिखाती है। बाकी सब चीजों को तो अहंकारात्मिका वृत्ति— 'मैं यह'— जानती है, लेकिन 'मैं' कहते ही मनुष्य न केवल दूसरी चीजों को जानता है,बल्कि अन्दर अनुभव होता है कि यह 'मैं' भी मेरे ज्ञान का विषय है, मैं भी तो जाना जा रहा है। ऐसा अनुभव नहीं कि मैं बाकी सबको तो जानता हूँ, 'मैं' को नहीं जानता। अब इसमें वे सब विकल्प नहीं लाना जो मोटी दृष्टि से कह दिया जाता है कि तुम अपने को जानते हो तो शुद्ध रूप को नहीं जानते। वह तो स्वयं ही शुद्ध चीज है उसको शुद्ध करने वाली कौनसी चीज है? जिसके स्पर्श से बाकी सब पवित्र, ऐसे गंगा जल को पवित्र करने के लिये कोई अन्य साधन नहीं करना पड़ता। इसी प्रकार जिस चैतन्य के स्पर्श से सब कुछ चेतन होकर परम पवित्र हो रहा है, उसकी पवित्रता में और कोई साधन करना हो, ऐसा थोड़े ही है। भीष्म कहते हैं 'पवित्राणां पवित्रं यो मंगलानां च मंगलम्।' गीता में भी भगवान् ने कहा 'राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्'। वह तो स्वरूप से ही पवित्र है। अपवित्रता का आरोप उसके ऊपर बेकार लोगों के द्वारा कर दिया गया है। समझ लेना कि यह आरोप बेकार है। जैसे सूर्य का प्रकाश मल की गंदी नाली में पड़ता है, उसको देखकर प्रतीत हो रहा है कि सूर्य आज धुँधला है। जिस समय उस मल की नाली में प्रतिबिम्बित हुआ सूर्य अशुद्ध समझा जाता है उसी समय सूर्य वैसा का वैसा चमक रहा परम पवित्र है। शुद्ध करके शुद्ध नहीं होगा। ऐसा नहीं कि जब मल की नाली साफ कर दूँगा, वहाँ के गंदे पानी को निकालकर उसे निर्मल पानी से भर दूँगा, फिर सूर्य शुद्ध होगा। ऐसा एक मल की नाली को तुमने शुद्ध कर भी दिया तो वह न जाने कितनी मल की नालियों में पड़ा हुआ है। इसी प्रकार से एक जगह की गंदगी शुद्ध होने पर वह आत्मा शुद्ध चेतन बनेगा, ऐसा कुछ नहीं है, क्योंकि वह स्व-पर-निर्वाहक है।

मैं इस प्रतीति के अन्दर जो चेतनता का भान है उसमें कोई अशुद्धि नहीं। मैं ब्राह्मण हूँ, मैं कामी हूँ, मैं क्रोधी हूँ, ये आरोप तुम अंतःकरण को लेकर करते हो। काम क्रोध आदि विकार तो अंतःकरण में हैं। एक बात कभी अनुभव करके देखो। हम लोगों की उम्र ज्यादा होती है तो घुटना दर्द करने लगता है। इसलिये उस घुटने के दर्द के कारण हम चल नहीं पाते। यही अवबोध होता है कि यदि यह घुटना खराब न होता तो मैं पहले

के जैसा ही चलता। इसलिये मैं के अन्दर शरीर के वार्द्धक्य की कभी अनुभूति नहीं होती। अथवा किसी अच्छे व्यक्ति का व्याख्यान सुन रहे हैं। शब्द समझ में नहीं आ रहा है। सोचते हैं कि मैंने बचपन में यदि ठीक प्रकार अध्ययन किया होता तो आज इनकी बात समझ लेता। यहाँ भी बुद्धि की हीनता को तुम अपने में थोड़े ही देख रहे हो। वह तो ज़बरदस्ती दूसरा तुम्हारे ऊपर थोपता है, 'अरे, घुटना क्या करेगा, तू बुड्ढा है।' अथवा 'तेरे बुद्धि ही नहीं है, तू चाहे मैट्रिक पास कर लेता तो क्या होता'। यहाँ दूसरा आरोप कर रहा है क्योंकि वह मेरे को नहीं देखता, मेरे शरीर और बुद्धि को देखता है। उसका कहना तो ठीक है कि तू बुड्ढा है, तू मूर्ख है, लेकिन अपने अन्दर तो 'मैं' नित्य-शुद्ध-बुद्ध मुक्त-स्वभाव ही है। इसलिये कहते हैं 'बहिष्प्रज्ञः स्वात्मव्यतिरिक्ते विषये प्रज्ञा यस्य स बहिष्प्रज्ञः'।

इस बहिष्प्रज्ञः में एक चीज ठीक से समझ लेना। स्वरूपभूत चैतन्य बाह्य विषय नहीं। स्वरूपभूत प्रज्ञा बाह्य विषय में प्रतिभासित नहीं होती क्योंकि इसे विषय की अपेक्षा नहीं रहती। विषय को इसकी अपेक्षा रहती है। इसलिये कहते हैं कि अज्ञान से कल्पित बुद्धिवृत्तिरूप प्रज्ञा ही बहिर्विषयक होती है। किन्तु क्योंकि बाह्य वस्तु का वास्तविक अभाव है इसलिये कह दिया 'बहिर्विषया इव' अर्थात् मानो बहिर्विषयक हो।

बहिष्प्रज्ञ का पहला अर्थ प्राप्त हुआ बाहर की प्रज्ञा, उसका निवारण हो गया। प्रज्ञा अन्दर है लेकिन बाहर के विषय की अपेक्षा प्रज्ञा को नहीं, पदार्थ को है। इसलिये 'इव' से कहते हैं कि बाहर विषय कुछ नहीं है। प्रज्ञा बाहर को विषय कर रही हो, ऐसा दीखता है। अपने को लगता है कि बाहर कुछ दीख रहा है। ध्यान में यही कठिनाई महसूस होती है। जब कहते हैं कि हृदय में ध्यान करो तो शंका होती है कि हम अंदर बैठें या बाहर बैठें। अंदर बैठें तो भगवान् की तरफ पीठ होती है और सामने कर लें तो भगवान् बाहर हो जायेंगे। विचार करके देखो : तुमने आँखें बंद कर लीं और तुम देख रहे हो कृष्ण भगवान् खड़े हैं। कैसे देख रहे हो? आँख तो बंद है, इसलिये बाहर नहीं दीख रहे हैं। मन के अन्दर ही तो दीख रहे हैं। बाहर की तरह दीख रहे हैं, बाहर नहीं दीख रहे हैं। इसी प्रकार जो प्रज्ञा इन जाग्रत् के पदार्थों को विषय करती है, सारे जाग्रत् के पदार्थ उस प्रज्ञा के अन्दर ही प्रतिभात हो रहे हैं। जैसे काँच हो और उसके सामने से चीजें आती जाती चली जायें तो काँच में वे चीजें दीखती चली जायेंगी। काँच में दीख रही हैं लेकिन लगता है कि काँच के अंदर कहीं दीख रही हैं। उसी प्रकार प्रज्ञा में सब कुछ दीख रहा है, लगता है बाहर दीख रहा है। इसलिये 'बहिर्विषया इव प्रज्ञा'। उस 'इव' को स्पष्ट कर दिया कि यही अज्ञान है। चीजें सारी की सारी प्रज्ञा में दीख रही हैं और अज्ञान है कि चीजें सारी की सारी प्रज्ञा के बाहर हैं, यही अविद्या है। यहाँ जाग्रत् से पकड़कर भगवान् भाष्यकार सीधे सुषुप्ति में ले गये। वहाँ तो पूर्व पूर्व प्रविलापन था। यहाँ अविद्या के द्वारा किया हुआ ही बाह्य अवभासन है। यही अज्ञान है। इसी अज्ञान से, चीजें सारी

प्रज्ञा में है, लग रहा है बाहर हैं। यदि चीजें बाहर होती तो अंदर बाहर की कल्पना प्रज्ञा में किंनिमित्तक करोगे? जैसे छोटा बच्चा यही सोचता है कि काँच के पीछे कोई होगा, उसके पीछे जाता है, सोचता है वहाँ कोई मिल जायेगा। वह तो काँच में है। ठीक इसी प्रकार हम अनादि काल से पदार्थों को बाहर ढूँढ रहे हैं, वास्तव में वे सारे के सारे प्रज्ञा में प्रज्ञारूप ही हैं। जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब दीखता है दर्पण से अलग, लेकिन न दर्पण से अतिरिक्त है और न दर्पण में है, और न उसके कारण दर्पण में कोई परिवर्तन आता है। इसी का नाम अविद्या है। स्वरूप प्रज्ञा तो बाह्य विषय की आवश्यकता नहीं रखती, बल्कि बुद्धिवृत्ति से ही सारा निर्वाह हो जाता है। बुद्धिवृत्ति भी विषय नहीं करती क्योंकि बुद्धिवृत्ति से भी उसका कोई सम्पर्क नहीं है। बाह्य विषय बुद्धिवृत्ति भी है, इसलिये बुद्धिवृत्ति भी उस आत्मतत्त्व में केवल विमर्श से कल्पितमात्र है।

कल्पना चेतन का धर्म है। कई बार मन में यह शंका होती है कि यदि यह सारी कल्पना है तो क्यों है? कई बार लोग यह भी कह देते हैं कि पूर्व संस्कार से अपर संस्कार का अनुवर्तन होना चाहिये। यह जगत् काल्पनिक है तो कहीं इसके संस्कार पड़े होंगे। जैसे स्वप्न जाग्रत् के संस्कार से होता है। यह जडात्मवाद की दृष्टि से विचार है। जैसे किसी सुन्दर कविता या काव्य को देखकर कोई कहे कि इन्होंने कहीं पढ़ा होगा तब लिखा होगा, नहीं तो नया कहाँ से बना लिया? यद्यपि ऐसा कोई नहीं बोलता, लेकिन भारत में हम लोगों ने एक चीज देखी है कि बहुत से लोगों के दिमाग में यह बैठा दिया जाता है कि यह सब जो विज्ञान की उन्नति हो रही है, हमारे यहाँ से किताबें ले गये थे, उसी में से चुरा चुराकर कर रहे हैं। जो वैज्ञानिक आविष्कारक हैं उन्हें कोई संस्कृत का ज्ञान नहीं, यदि ज्ञान भी हो तो उन ग्रन्थों में लिखी बातें जो हम लोग समझते हैं उससे ज्यादा वे कहाँ से समझ सकते हैं। यह कोई यंत्र, मंत्र, तंत्र तो है नहीं कि फूँक मारकर काम होता हो। लेकिन वहाँ भी मन में भाव है कि यदि कहीं कोई चीज है तो किसी संस्कार से उद्‌बुद्ध है। वैज्ञानिक अपनी स्वतंत्र शक्ति से, विमर्श के द्वारा चेतन की शक्ति से क्या कल्पित करता है, यह नहीं समझ पाते। चाहे काव्य रचना हो, चाहे राकेट रचना हो, सर्वत्र चेतन का अपने आपको प्रकट करना है। यदि शब्द से हम प्रकट कर सकते हैं तो पदार्थों में प्रकट क्यों नहीं कर सकते? यदि विचार करके देखो तो ऊर्जाशक्ति तो एक ही है। आखिर शक्ति ही इकट्ठी होकर, संघटित होकर, पदार्थ बनता है, यह तो अणु युग में सबको मानना पड़ेगा। शब्द का निर्माण भी एक कार्य है। उसके लिये ऊर्जा, शक्ति को काम करना पड़ेगा। यदि वह ऊर्जा काफी मात्रा में है तो पदार्थ भी बन जायेगी। वैसे मानसिक या आत्मिक शक्ति की विशेषता क्या है? जैसे चुम्बक पत्थर यदि कहीं रख दिया ज़ाये तो आसपास के लोहों को आकृष्ट करके वह चुम्बक पत्थर मोटा बन जाता है। अथवा कहीं हिमालय में चले जाओ और वहाँ बरफ की छोटी सी गेंद बनाकर लुढ़का दो तो वह नीचे जाते जाते एक बहुत बड़ा गोला बन जाता है क्योंकि बरफ या

शीन का स्वभाव है कि उसमें कुछ चिपटता चला जायेगा। लेकिन इतना निश्चित है कि वहाँ वह स्नोबाल, बर्फ की गेंद थी तब यह कार्य हुआ, अथवा चुम्बक था तब हर तरफ से लोहों को अपनी तरफ खींच कर मोटा हुआ। इसी प्रकार आत्मा की ऊर्जा, शक्ति जब कार्य करती है तो तदनुकूल जो चारों तरफ के पदार्थ हैं वे उस उर्जा से खिंचते चले जाते हैं। शक्ति के द्वारा ही जैसे काव्य रचना होती है वैसे ही बड़े से बड़े मकान की रचना होती है। मदद उसको यह मिल जाती है कि वह ऊर्जा केवल अपना ही कार्य कर सके, यही नहीं वरन् आत्मा की ऊर्जा में यह सामर्थ्य है कि दूसरी जो मानसिक और भौतिक ऊर्जायें हैं उनको वह अपनी तरफ आकृष्ट कर लेती है। यह बिल्कुल सत्य है कि विश्वामित्र, पराशर आदि की तरह केवल अपनी आत्मिक शक्ति से मकान खड़ा करना चाहो तो कर सकते हो यह भी सम्भव है, लेकिन अधिकतर यह करना अपेक्षित इसलिये नहीं होता कि जहाँ ऊर्जा शक्ति हो, वहाँ पदार्थ अपने आप आ जाता है। इसलिये यह जो आत्मा का विमर्श है यह जगदाकार से भास हो रहा है। लगता यह है कि यह विषय है पर विषय कुछ नहीं है, केवल चेतन की ऊर्जा ही ऊर्जा है। इसलिये कह दिया 'अविद्याकृतावभासत इत्यर्थः' अविद्याकृत हैं, वस्तुतः उनका अभाव है। वास्तविक पदार्थ नहीं हैं। वहाँ कुछ है और कुछ अन्य रूप में भास रहा है। क्या है? चेतन है, और भास रहा है पदार्थ रूप में।

'तथा सप्तांगान्यस्य "तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा संदेहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादौ" ' (छा॰ ५-१८-२)। आगे श्रुति ने कहा था कि इस वैश्वानर के सात अंग हैं। वे सात अंग बताते हैं। यह वाक्य अथर्ववेद का है जहाँ सात अंग कहे गये हैं। द्यु लोक ही उसकी मूर्धा है। इसका कारण क्या है? ऊर्जा, शक्ति जब कार्य करती है तो सर्वप्रथम हमारे मस्तिष्क के अन्दर जो ज्ञानतन्तु हैं उनको छेड़ती है। यह पहला काम करती है। ठीक इसी प्रकार से यहाँ पर भी जब कोई चीज बनेगी तो द्युलोक अर्थात् प्रकाशमय लोक ही प्रधान रहेगा। इसलिये उसे सुतेजा अर्थात् अत्यंत तेजस्वी कहा। यह प्रकाश ही प्रधान और विमर्श गौण होता है। किसी भी चीज को करने के पहले केवल उस चीज का ज्ञानमात्र ही रहता है, यह प्रथम स्थिति है। दोनों का साम्य क्या हुआ? दोनों के अंगों को क्यों बता रहे हैं? समानता को लेकर ही इन अंगो को बता रहे हैं। जैसे हम लोग जब अपनी आत्मशक्ति को प्रकट करते हैं तो मूर्धा के ही ज्ञानतन्तु को पहले छेड़ते हैं। उसी प्रकार इस विश्व की सृष्टि के अन्दर सबसे पहले प्रकाश अर्थात् पदार्थ का ज्ञानमात्र रहता है, यह दोनों की एकता का कारण हो गया। विश्वरूप यहाँ पर सूर्य को कहा है। सूर्य ही उसकी चक्षु है अर्थात् आँख है। जैसे वहाँ द्युलोक न कहकर सुतेजा कहा, वैसे यहाँ सीधा सूर्य न कहकर विश्वरूप कहा। जैसे हमारी आँख सफेद, पीला, लाल, काला पदार्थ इत्यादि जैसा होता है वैसा ग्रहण कर लेती है, वैसे ही सूर्य भी सफेद, पीला, लाल, काला जैसा पदार्थ

होता है वैसा ही प्रकाशित कर देता है। पहली अवस्था में केवल उसका ज्ञानमात्र है। दूसरी अवस्था में भी है तो ज्ञानमात्र ही, लेकिन प्रकाशक प्रकाश्यभाव का उसके अंदर अनुवर्तन आ गया। सर्वप्रथम जब हम किसी चीज को सोचते हैं तो उस समय प्रकाश्य-प्रकाशक-भाव अलग नहीं रहता। वह तो युगपत् (एकसाथ) अनुभूति होती है। फिर उसके बाद जब उसके विश्व अर्थात् विभिन्न रूप की तरफ दृष्टि जाती है तब प्रकाश्य-प्रकाशक-भाव बन जाता है। इसलिये चक्षुर्विश्वरूपः कहा।

पृथक् अर्थात् अलग तरहों से, अनेक प्रकार से या भिन्न-भिन्न, वर्त्म अर्थात् रास्ता। भिन्न भिन्न रास्तों में चलना ही जिसका स्वभाव है, वह वायु ही प्राण है। यहाँ पर भी वायु न कहकर उसी ऐक्य को बताने के लिये 'प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा' कहा। जहाँ दृश्य-द्रष्टा का भेद कल्पित हो गया, 'चक्षुर्विश्वरूपः', वहाँ फिर तुरंत जिज्ञासा होती है कि इस ज्ञान का साधन क्या है? जब तक ज्ञान अभिन्न होता है तब तक साधन का अन्वेषण नहीं होता है और जहाँ ज्ञान में पृथक्त्व या भेद आया वहाँ तुरंत प्रतीत होता है कि इतने पृथक् मार्गों में जो चलने वाला है, उसके भिन्न भिन्न करण होने चाहिये। स्वप्न के दृष्टांत में समझ लो। जब अपने स्वप्न देखते हैं तो हम लोग खुद ही स्वप्न के पदार्थ बनते हैं लेकिन फिर भी वहाँ आँख कान इत्यादि बना लेते हैं। स्वप्न में भी आँख से देखते हैं, कान से सुनते हैं। वहाँ पर भी दूसरे से कहते हैं 'चश्मा ले आना, जरा किताब बाँच लें।' यह सब पृथक् वर्त्मा हुआ। ज्ञान एक अखण्ड हुआ। पहले हमने उसमें दृश्य-द्रष्टा-भेद की कल्पना की और जब द्रष्टा-दृश्य की कल्पना कर लीं तो दोनों के सम्बन्ध को बनाने वाला कोई न कोई करण या साधन चाहिये। चूँकि वे अनुभव अनेक हैं इसलिये अनेक करणों की कल्पना मनुष्य करता चला जाता है। तभी तो उसके अन्दर यह अविद्या दृढ होगी कि मेरे पास यह करण तो है नहीं, मैं काम कैसे करुँ। करना आत्मा को है। 'संदेहो बहुलः' बहुलः अर्तात् जो सर्वव्यापक आकाश है वह देह का मध्यभाग है। हिन्दी में संदेह दूसरे अर्थ में रूढ हो गया है। संस्कृत में देह के मध्य भाग को संदेह कहते हैं, संशय (doubt) के अर्थ में ही नहीं। कठोपनिषद् में भी संदेह शब्द का इसी अर्थ में प्रयोग किया गया है 'अस्मिन् संदेह्ये गहने सम्प्रविष्टः'। अतः प्रायः वेदों में संदेह देह के मध्य भाग को बताने वाला है। प्रायः देह के मध्य भाग को आदमी कपड़े से ढाँके रहता है, उसका पता नहीं लगता, चेहरा, हाथ, पैर इत्यादि दीख जाते हैं, इसलिये संदेह शब्द इस अर्थ में रूढ हो गया। आकाश ही उसका मध्यभाग है। इसके द्वारा बता दिया कि द्रष्टा-दृश्य-भाव आने के साथ ही करणों की अपेक्षा हो गई। द्रष्टा दृश्य से सम्बन्ध करेगा तो इन्द्रियों से और अन्य साधनों से ही। उससे अगर सम्बन्ध करना है तो दिक् का भेद करना पड़ेगा कि यह दीवाल वहाँ है तो यहाँ नहीं है, यहाँ है तो वहाँ नहीं है। हम आबू में हैं तो दिल्ली में नहीं हैं, दिल्ली में हैं तो यहाँ नहीं हैं। जहाँ करणों का

भेद किया कि इस इन्द्रिय से इसको, इस इन्द्रिय से इसको जानेंगे तो करणभेद के साथ देशभेद आ जायेगा। इसलिये 'संदेहो बहुलः' कहा।

'बस्तिरेव रयिः' रयि अन्न या धन को कहते हैं, यह मानकर कि अन्न ही असली धन है। अन्न का कारण जल होता है। इस समानता को लेकर उसे बस्ति (किडनी या मूत्रस्थान) बता दिया। 'अद्यते भुज्यते इति अन्नम्' जिसका भोग किया जाये उसे अन्न कहते हैं, इस व्युत्पत्ति के अनुसार जब भिन्न भिन्न देश में पदार्थ हैं, ऐसी कल्पना कर ली तब किसी काल में किसी पदार्थ का और किसी काल में किसी पदार्थ का भोग होगा। जिस चीज को तुमने भोगा फिर उसके कारण की कल्पना किया करते हैं। क्या कारण है कि हमको आज बढ़िया मावे की कचौड़ी खाने को मिली, कल चना खाने को मिला था? कल्पना करते हैं कि आज कोई धर्म उदय हुआ होगा। जब पदार्थों में अन्न की या भोग्य की कल्पना की तो किसी को हमने सुख और किसी को दुःख माना। जिनको सुख माना उसमें कल्पना की कि इसका कारण धर्म है और जिनको दुःख माना उसका कारण अधर्म माना। अन्न का कारण जैसे जल, वैसे ही भोग्य का कारण धर्म अधर्म हैं। उदक को शास्त्रों में प्रायः कर्म का प्रतीक माना ही है। इसलिये कोई भी कार्य करने के लिये सबसे पहले जल चाहिये। 'अप इति कर्मनाम' ऐसा यास्क मुनि ने लिखा है। इस सामान्य से दोनों की एकता है। बस्ति अर्थात् मूत्रस्थान में क्या होता है? जो तुम्हारे शरीर में रक्त का दोष है, उसको हटाकर दूर कर देता है और गुण वाले हिस्से को वापिस रक्त में भेज देता है। जो शरीर का बिना काम का हिस्सा है वह मूत्र रूप में बाहर निकल जायेगा तथा काम का हिस्सा रक्त में वापिस चला जायेगा। ठीक इसी प्रकार से आज हमने जिसको सुख या दुःख माना, उसका कारण हमने धर्म या अधर्म माना। फिर उसमें धर्म के हिस्से को बार बार करना चाहते हैं और अधर्म के हिस्से को नहीं करना चाहते।

अंत में पृथ्वी की कल्पना कर ली। पृथ्वी क्या है? 'पृथ्वी एव पादौ' पृथ्वी ही पैर हैं। पृथ्वी के ऊपर ही सब कुछ प्रतिष्ठित रहता है, मकान आदि जो भी बनाओ, सबकी अंतिम प्रतिष्ठा तो पृथ्वी ही है। धरती के जोर पर ही सब कुछ है। ऐसे पाद के आधार पर ही सारा शरीर रहता है चलते फिरते समय। प्रतिष्ठागुण को लेकर पृथ्वी को पाद कहा। जब धर्माधर्म का विवेक कर लिया तब मनुष्य को लगता है कि संसार के जितने भी कार्यकारण-भाव हैं उनकी परम्परा प्रतिष्ठित हो गई। जहाँ तुमने धर्माधर्म की कल्पना की वहाँ सारे संसार के विषय में तुमने एक प्रतिष्ठा को प्राप्त कर लिया। एक संतोष तुम्हें हो गया कि हमारा काम हो गया, सारी व्यवस्था ऊपर से नीचे तक हो गई। ऐसा क्यों होता है? पहले जितने कारण थे उसमें हम कोई न कोई दृष्ट कारण की कल्पना कर रहे थे। सुख-दुःख के प्रति जब धर्माधर्म की कल्पना की तो अदृष्टकल्पना को कारण बनाया और अदृष्ट एक ऐसी चीज है जिसके पेट में सब कुछ बैठ सकता है। जहाँ अदृष्ट कारण को स्वीकार किया वहाँ वास्तविक कार्यकारण-भाव का निषेध कर दिया।

दृष्टकारणता में तो था कि सुख का कारण कचौड़ी और दुःख का कारण चना है। लेकिन अदृष्ट कारण को स्वीकार करने पर किस धर्म का क्या फल, किस अधर्म का क्या फल, यह हमेशा ही अज्ञात रहना है। विज्ञान में भी हमेशा यही होता है। दो-तीन कोटियों तक तो कारण बतायेंगे। उसके आगे कारण को गोल कर देंगे। वह जो अज्ञात कारणता है, वह चाहे विज्ञान में चाहे दर्शन में, जहाँ कहीं हो, केवल इस बात को बताती है कि जितनी तुमने कारणकल्पना की है वह सब झूठी है। जब तुमको बाध्य होकर कहीं न कहीं जाकर अदृष्टकारणता को स्वीकार करना ही पड़ेगा तो विवेकी सोचता है कि वहाँ तक क्यों जाओ, यहीं अदृष्टकारणता मान लो। हमको सुख हुआ तो धर्म का फल, लेकिन किस धर्म का फल? पता नहीं। तो वहीं कह दो कि सुख हुआ, क्यों हुआ? पता नहीं। लेकिन अदृष्ट कारण का नाम लेकर मनुष्य को संतोष हो जाता है। इसलिये यहाँ आकर जब अज्ञात कारणता को ज्ञात की तरह व्यवहार करने लग गया तो उसका अज्ञान प्रतिष्ठित हो गया, पृथ्वी की तरह दृढ हो गया। यह तो कभी कदाचित् जब किसी महापुरुष से वेदांत का सत्संग श्रवण करने को मिलेगा तो इस कारणकार्य-परम्परा को छोड़ेगा, नहीं तो यह चलता ही रहेगा, इसे छोड़ने की हिम्मत नहीं पड़ेगी।

'इति अग्निहोत्रकल्पनाशेषत्वेनाहवनीयोग्निरस्य मुखत्वेनोक्त इत्येवं सप्तांगानि यस्य स सप्तांगः।' यह सामवेद का वाक्य है जहाँ अग्निहोत्र का वर्णन किया है। पहले विस्तार से अग्निहोत्र का विचार किया। वेदों में सर्वत्र यह प्रक्रिया है। पहले किसी भी यज्ञ को पूरी तरह से विस्तार करके बतायेंगे। उसके बाद यज्ञ के प्रत्येक हिस्से का क्या महत्त्व, क्या तात्पर्य है यह बतायेंगे। जैसे लोक में भी पहले तुम किसी चित्र की रचना करते हो, फिर उस चित्र की प्रतीकात्मकता बताते हो कि इसमें यह इसका प्रतीक है, यह इसका प्रतीक है। ठीक ऐसे ही वेद में बार बार आता है। जो स्थूलबुद्धि वाले होते हैं वे चित्र को ही सब कुछ समझ लेते हैं। वे बस उन कर्मों को ही करने में लगे रहते हैं। उससे कुछ लोगों के मन में एक तरह की विजुगुप्सा होती है। इसलिये वे कहते हैं कि सभी प्रतीकों को खत्म करो। ये दोनों चीजें गलत हैं। प्रतीक के बिना एक दूसरे से व्यवहार नहीं हो सकता। शब्द, अक्षर सब प्रतीक हैं। यह कहना कि हम किसी प्रतीक का प्रयोग नहीं करेंगे, झूठ होगा। सोचोगे तो भी किसी न किसी प्रतीक (शब्द) से ही सोचोगे। बिना प्रतीक के काम नहीं चल सकता। प्रतीक में मनुष्य अटक कर प्रतीक से बोध्य जो है, उसे न समझे तो भी काम नहीं बनता। बहुत वर्ष पूर्व एक बार हम तिब्बत गये थे। वहाँ ल्हासा और उसके आसपास बड़े अच्छे अच्छे ग्रन्थ हैं। प्राचीन हस्तलिखित हैं। वहाँ वालों से कहा कि हमको यह किताब पढ़ने को दो तो वे नहीं देते थे। फिर कुछ लामाओं से थोड़ा बहुत परिचय हुआ तो वे दे भी देते थे। हमने देखा कि वह किताब बहुत जगह से फटी है। किसी का एक पन्ना फटा हुआ किसी का आधा पन्ना फटा हुआ देखा। पता लगा कि उनके पूर्वजों ने उनको बताया था कि

इस किताब के अन्दर सब रोगों की औषधियों का वर्णन है। इसमें उन्होंने औषधि शब्द को तो याद रखा और वर्णन को भूल गये। ग्रन्थ प्राचीन ब्राह्मी लिपि में होने से उन्हें उसके अक्षर बाँचने नहीं आते थे। जब कोई बहुत बड़ा आदमी बीमार हो तो उस ग्रन्थ में से कागज का एक टुकड़ा काटकर जल के साथ उसे पीने को दे दें, क्योंकि पूर्वज कह गये थे कि इसमें प्रत्येक रोग की औषधि है। इस प्रकार न जाने कितनी जगह से वह ग्रन्थ गायब था। उस समय ऐसा था, अब क्या स्थिति है पता नहीं। वह प्रतीक है, उसको समझो तो उसमें दार्शनिक जिज्ञासा और कई चिकित्साशास्त्र की बातें भी थीं। प्रतीक न समझकर उसी को रोग की औषधि समझ लो तो भी गलत है। लेकिन इस प्रतीक का दुरुपयोग होगा, यह सोचकर इसलिये इसको छापो ही नहीं, यह भी ठीक नहीं। प्रतीक आवश्यक है, उसके बिना कोई चीज नहीं बताई जा सकती। लेकिन प्रतीक किसका है? इसे भूलकर सब बेकार हो गया। प्रायः हमारे यहाँ यह होता है। इसीलिये बीच बीच में जब कभी सत्पुरुषों ने इसका विरोध किया है तो वह इसलिये कि प्रतीकात्मकता को भूलकर लोग वैसा ही समझने लग गये कि यह अग्निहोत्र है, केवल बाहर तरह तरह की अग्नि का स्थापन करके उससे आहुति दो। यहाँ पहले अग्निहोत्र का वर्णन किया और फिर उसमें क्या चीज क्या है, वह सारा रहस्य बताया है। वहाँ आहवनीय अग्नि को इसका मुख बताया है।

इस अग्निहोत्र को मुख इसलिये बताया कि अग्निहोत्र के कुण्ड में जो आग जल रही होती है उसके तीन हिस्से किये जाते हैं। दाहिने हिस्से में दक्षिणाग्नि से बायें हिस्से में गार्हपत्याग्नि को अलग कर दिया जाता है और मध्य का हिस्सा आहवनीय अग्नि है। गार्हपत्य अग्नि में चावल आदि पकाने का काम किया जायेगा। उसके ऊपर जो पाक होता है वही फिर आहुति रूप से आहवनीय अग्नि के अन्दर देना पड़ेगा। तात्पर्य यह है कि आहवनीय अग्नि की गर्मी से ही जो चीज पकी है उसकी अर्थात् स्वयं की स्वयं में ही आहुति देनी है। इसलिये वह अग्नि वहाँ मुख कही गई है। इसके द्वारा श्रुति यह बताना चाह रही है कि यह आहवनीय अग्नि हुई इस आत्मा की, आत्मा तो वैसा ही बना रहा। मध्यभाग की अग्नि को इधर उधर नहीं हिलाया गया। उसका दक्षिण हिस्सा दक्षिणाग्नि द्रष्टा बन गई और बायें हिस्से में गार्हपत्य अग्नि दृश्य बन गई। गृह नाम समूह का है। घर में समूह में लोग रहते हैं, उसे भी गृह कह देते हैं। इस प्रकार द्रष्टा समूह और दृश्य समूह दोनों के अन्दर चेतनता देने वाली उस अग्नि का ही अंग वह आहवनीय अग्नि है जो दोनों के बीच में स्थिर रहती है। और जब हम उस पदार्थ को अनुभत करके देखते हैं तो पुनः आत्मा में ही उसका आधान हो जाता है। इसलिये आहुति दी जायेगी। इस बात को बताने के लिये इस ढंग से समझाया गया है। उसी चीज को तुम अपने से दृश्य बनाकर हटाओगे तो नया दृश्य 'ज्ञातं मया' इस रूप में तुम्हारे में प्रवेश करेगी। है तो सारा जगत् एक अखण्ड आत्मा में, उसमें हमने मान लिया कि दरवाजा दृश्य है, उतने क्षण में हमने आंख को दृश्य न मानकर द्रष्टा मान रखा है।

अब वह दरवाजा तो आँख के द्वारा पुनः हमारे में ही आहुत होगा। लेकिन स्वयं दरवाजा अपने को दरवाजा समझ रहा है, जड-चेतन के भेद को थोड़े समय के लिये भूल जाओ। या चेतन व्यक्ति गाय को समझ लो। दरवाजा अपने को दरवाजे से अभिन्न करके बोध कर रहा है इसलिये दरवाजा दरवाजे को नहीं जानेगा। जैसे हमने जब यहाँ दरवाजे को देखा तो आँख रूप उपाधि से प्रवेश किया। अब मान लो आँख को दृश्य बना दिया आँख में कंकरी पड़ी तो उसका अनुभव कर रहे हैं। यहाँ अंतःकरण द्रष्टा बन गया। उस काल में आँख को अंतःकरण से ग्रहण कर लेंगे। आँख दृश्य और अंतःकरण द्रष्टा हो गया। किसी काल में अंतःकरण को दृश्य बनाया। ध्यान में देखते हैं कि मन काम नहीं कर रहा है। वहाँ मन दृश्य हो गया। तब मन का ज्ञान 'ज्ञातं मया' करके ज्ञात हो रहा है, प्रतीत हो रहा है। जिस जिस चीज में जो बुद्धि करोगे, वही वही दृश्य पुनः आहवनीय अग्नि में तुम्हारे में प्रवेश करेगा। 'इति अग्निहोत्रकल्पनाशेषत्वेनाहवनीयोग्निरस्य मुखत्वेनोक्तः' का यह तात्पर्य हुआ। द्रष्टा बनकर जिस चीज को दृश्य बनाओगे, वही 'ज्ञातं मया' होकर मेरे में प्रविष्ट होगी। इसी प्रकार से वैश्वानर को श्रुतियों ने सात अंग वाला बताया 'इत्येवं सप्तांगानि यस्य स सप्तांगः।'

'तथैकोनविंशतिर्मुखान्यस्य बुद्धीन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि च दश, वायवश्च प्राणादयः पंच, मनोबुद्धिरहंकारश्चित्तमिति मुखानीव मुखानि तान्युपलब्धिद्वाराणीत्यर्थः।' आगे श्रुति ने कहा 'एकोनविंशतिमुखः' उन्नीस मुख हैं। कौन कौन से मुख हैं? बुद्धीन्द्रिय अर्थात् पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ— कान, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, नासिका; पाँच कर्मेन्द्रियाँ— वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ; पाँच प्राण— प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान और अंतःकरणचतुष्टय— मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार; ये उन्नीस इसके मुख हो गये। इतना समझ लेना कि ज्ञानेन्द्रिय के द्वारा उस आत्मा की ज्ञानशक्ति प्रकट होगी, कर्मेन्द्रियों के द्वारा उसकी कर्मशक्ति प्रकट होगी। ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ आत्मा की व्यवहार में आने वाली ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति है। उसे observable या kinetic अर्थात् बहिर्व्यक्त कह दो। प्राणादि पाँच कर्म की और अंतःकरणचतुष्टय ज्ञान की (potential stage) अन्तर्व्यक्त स्थिति है। ज्ञान-क्रिया-शक्ति ही बाह्य जगत् में प्रकट हुआ करती है। पहले जो था वह तो सारा का सारा इच्छा को लेकर था। वह सप्तांग के अंदर आ गया क्योंकि जब तक दृश्य-द्रष्टा इत्यादि इच्छापूर्वक एक दूसरे से अलग नहीं कर दिये जायेंगे तब तक जगत् अपने से भिन्न हुआ नहीं। पृथ्वी प्रतिष्ठा तक पहुँचे नहीं तो न प्राणों को न कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों को और न अंतःकरणचतुष्टय को चला सकते हैं। जब कार्यकारण-भाव पर दृढ प्रतिष्ठा को प्राप्त कर लिया, पृथ्वी की तरह दृढ हो गये तब ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों इत्यादि को चलाते हैं। हमको आवाज सुनाई नहीं दी तो कान लगाते हैं क्योंकि निश्चय हो गया कि कान में आवाज आई है। तब चलाते हैं कार्य कारण परम्परा को। एक कार्य हुआ, उसका कारण ज्ञानेन्द्रिय या कर्मेन्द्रिय को बताया, और उनका कारण आगे प्राण, अंतःकरणचतुष्टय को बताया। अंत में कारिकाकार स्वयं बतायेंगे 'यावद्धेतु-

फलावेशस्तावद्धेतुफलोद्भवः। क्षीणे हेतुफलावेशे नास्ति हेतुफलोद्भवः ।।४-५५।।' जब तक यह कार्य और कारण की शृंखला में अपने को बाँधता है, किसी कार्य को देखते ही अंदर एक खुजली मचती है कि इसका क्या कारण है? इस खुजली को मिटाने के लिये न जाने हजारों सालों से कारण ढूँढने में लगे हुए हैं। हर चीज का कारण सोचते हैं कि ऐसा क्यों? यह बड़ी भारी खुजली है। जब तक यह कार्य-कारण मन में बैठा हुआ है, कार्य को देखकर कारण की कल्पना, उस कारण से फिर एक कार्य होगा इसकी कल्पना, तब तक बढ़िया संसार बढ़ता रहता है। लेकिन ढूँढ़-ढूँढ़ कर अंत में यह निर्णय कर लेते हैं कि किसी भी कार्य का कोई कारण नहीं और किसी भी कारण का कोई कार्य नहीं, अनादि काल से आज तक लोग कारणों को ढूँढ़ रहे हैं लेकिन आज तक कोई कारण नहीं मिल रहा है। हर कारण में दोष मिलता है। पहले लोग भूत प्रेतों में कारण ढूँढ़ते थे, उसके बाद आजकल जर्म्स के अन्दर कारण ढूँढ़ते हैं। पहले डाकिनी लगती थी, अब कहते हैं कि ब्लडप्रेशर लगता है। आगे कुछ और कारण हो जायेंगे। कुछ लोग कहते हैं मानसिक चिन्ता लग गई। अनेक कारण बताते रहे हैं। लेकिन किसी भी कारण-कार्य-भाव में इदमित्थं भाव से निश्चय नहीं हो सकता। चूँकि निश्चय नहीं हो सकता, इसलिये मालूम पड़ता है कि यह सब काल्पनिक है। हमने अपने मन में बैठा लिया है कि आज दो चीजें दीखीं तो देशभेद, कालभेद होना चाहिये। फिर देशभेद, कालभेद से अन्य कल्पनायें आ जाती हैं। इसलिये कहा कि ये उन्नीस इसके मुख हो गये। 'मुखानीव मुखानि तान्युपलब्धिद्वाराणीत्यर्थः' मुख क्यों कहा? ऐसा नहीं समझना कि वैश्वानर अन्दर बैठा हुआ है जिसके उन्नीस मुख हैं। इसलिये स्पष्ट कर दिया 'मुखानि इव मुखानि'। जो बार-बार इवकार आता है वह यह बताने के लिये कि यह वास्तविक नहीं है। जैसे मुख के द्वारा चीजों को ग्रहण किया जाता है उसी प्रकार इन उन्नीस चीजों के द्वारा ज्ञान और कर्म का ग्रहण किया जाता है। किससे? आत्मा से। क्योंकि यह गड़बड़ी फिर लोग कर जाते हैं, समझते हैं कि आँख से बाहर विषय दीखता है। आँख से तो आत्मा देखता है। आँख के द्वारा पता लगता है कि आत्मा में देखने की शक्ति है। न होती तो आँख में कहाँ से आती? हाथ में उठाने की शक्ति आत्मा की क्रियाशक्ति को बताती है। वह शक्ति न होती तो हाथ में कहाँ से आती? यह सब आत्मा की उपलब्धि का द्वार है।

'स एवंविशिष्टो वैश्वानरो यथोक्तैर्द्वारैः शब्दादीन्स्थूलान्विषयान्भुङ्क्त इति स्थूलभुक्।' ऐसा जो यह वैश्वानर, बहिष्प्रज्ञ, जागरितस्थान, सात अंगों वाला और उन्नीस मुख वाला है, वह इन दरवाजों के द्वारा स्थूल शब्द आदि विषयों का भोग करता है। शब्द आदि को यहाँ स्थूल कहने का क्या तात्पर्य है? विषयों का दो रूप से ग्रहण होता है। एक स्मृति रूप से और एक बाह्य अनुभवरूप से। यहाँ स्थूल का मतलब अनुभवरूप से है, और सूक्ष्म जो संस्काररूप से ग्रहण किया जाता है। स्थूल का मतलब ठोस नहीं समझ लेना। नहीं तो आदमी समझता है कि बाहर कोई सच्ची चीज होगी। ऐसा कुछ

नहीं है। इसीलिये आनंदगिरिस्वामी ने स्थूलत्व का लक्षण किया है 'दिगादिदेवतानुगृहीतैः श्रोत्रादिभिः गृह्यमाणत्वं स्थूलत्वम्' दिक् आदि देवताओं से अनुगृहीत होकर इंद्रियों से जो पदार्थ ग्रहण किया जाता है उसे स्थूल कहते हैं। अमुक देश, अमुक काल में अमुक कारण से इस पदार्थ का ग्रहण हुआ ऐसा जहाँ सुस्पष्ट ग्रहण मनुष्य को हो उसका नाम स्थूलता है। जैसे किसी ने कहा कि ये सब चीजें कल्पित हैं। लोग कहते हैं 'ऐसा कैसे हो सकता है?' किसी दार्शनिक को किसी ने आकर एक लट्ठ मारा और पूछा 'बोलिये लट्ठ अंदर है या बाहर?' यह ऐसा मानकर है कि लट्ठकी मार के अनुभव से कुछ नवीन सिद्ध हो जायेगा। कोई दार्शनिक इस बात से नहीं घबराने वाला क्योंकि जैसे जगत् की प्रतीति, वैसे लट्ठ की प्रतीति हो रही है। उससे लट्ठ कहाँ सिद्ध हुआ? केवल होता यह है कि चक्षु के अन्दर कोई चीज हिलने की कल्पना आई और थोड़ी देर बाद किसी जगह दर्द हुआ तो कल्पना आई। यह कहीं कोई भी दार्शनिक नहीं कहता है कि कल्पनाओं में कोई वास्तविकता है। यह दृष्टि नहीं है। जो संसार-सत्यत्ववादी हैं वे समझते हैं कि किसी को डण्डा मार दिया तो हमारा मतलब सिद्ध हो गया। वे यदि कुछ नहीं मारते तो भी टाइफाइड या हैजा आ जाता है। जैसे तुम्हारा डण्डा मारना वैसे ही ये हैं, दोनों एक जैसे ही हैं। स्थूल विषय का मतलब बाहर कोई ठोस चीज है, ऐसी कल्पना लोगों की होती है, लेकिन वह हमारा यहाँ लक्षण नहीं है। वरन् जहाँ देश, काल और कार्यकारण-परम्परा को सुदृढ कर अनुभव की प्रतीति होती है वही स्थूलता है। विवेकी को वह नहीं होगी। इसलिये उसको सूक्ष्म रूप से ग्रहण हो जाता है। यह स्थूलभुक् है।

अब वैश्वानर का अर्थ करते हैं 'विश्वेषां नराणामनेकधा नयनात्।' वैश्वानर के अन्दर आहुति तो प्रायः लोग दिया करते हैं। अब कम हो गया है, नहीं तो पहले औरतें भी आहुति दे देती थीं। वैश्वानर क्या है? 'विश्वानर एव वा वैश्वानरः' जो विश्व हो और नर हो उसे वैश्वानर कहेंगे। विश्व के आगे नर शब्द आता है तो विश्व को दीर्घ हो जाता है। जो विश्व हो और नर हो उसे विश्वानर कहेंगे। नर का मतलब क्या? जो कर्मफलों के भोग में अपने को आसक्त नहीं करता है उसे नर कहते हैं। 'न कर्म लिप्यते नरे' ईशावास्य श्रुति ने अर्थ किया कि जो कर्म में लिप्त न हो उसे नर कहते हैं। इसलिये हिन्दी वाला आदमी औरत का अर्थ यहाँ नहीं लेना। कई जगह भाष्यकार कहते हैं 'नरजन्म दुर्लभम्' वहाँ आदमी औरत नर का अर्थ नहीं, वरन् जो कर्मों में लिप्त न हो वही नर कहा जाता है। विश्व का मतलब है अनेक। जो विश्व हो और नर हो, यही जाग्रत् के अभिमानी का स्वरूप है। लगता ऐसा है कि हम लोग लिप्त होते हैं लेकिन किसी में लिप्त नहीं होते। इसके लिये किसी को कोई उपदेश देने की जरूरत नहीं है। लोग बड़ा उपदेश देते हैं कि अनासक्त हो। हम कहते हैं कि वह अनासक्त तो है ही, उसका क्या उपदेश दें? किसी आदमी का जवान लड़का जैसे ही विलायत से पढ़कर आया, घर गया और तीन दिन में मर जाता है। उससे मिलने जाओ तो उसके मुँह से आवाज नहीं निकलती,

रोटी नहीं खा सकता। लोग कहते हैं कि अनासक्ति का उपदेश दो। लेकिन कुछ मत करो। दो साल बाद उससे मिलने जाओ तो वह हँस रहा है, खेल रहा है, रबड़ी भी खा रहा है। क्या उसे किसी ने अनासक्ति का उपदेश दिया? कुछ नहीं। अनासक्ति तो हमारा स्वभाव है, उपदेशजन्य नहीं है। वह तो जरा लोगों को उपदेश देने का शौक होता है तो दे देते हैं। बड़ी मुश्किल से दुःख सुख को महीना दो महीना पकड़ने की कोशिश करते हैं, लगता है पकड़ में आया, चुटकी खोली तो कुछ नहीं। ऐसे ही लगता है कि आसक्ति हुई, कोशिश करते हैं, फिर देखते हैं कि कुछ आसक्ति नहीं। दूसरा पदार्थ सामने आ गया तो उधर चले गये। यह कर्मफलशून्यता हमारा स्वभाव है।

इसमें हेतु 'विश्वेषां नराणाम्' है। होता क्या है? यदि एक पदार्थ हमारे सामने एक ही रहता जैसे लड़का मरा तो उसकी मृत्यु ही देखते और कुछ नहीं देखते, तो आसक्ति बनी रहती। लेकिन लड़के के मरने के बाद लड़की का, दूसरे लड़के का और आगे भानजी का रूप दीखा। यह विश्वरूपता आसक्ति को टिकने नहीं देती। फिर साफ के साफ रहते हैं। इसलिये जाग्रत् के अभिमानी को विश्वानर कहते हैं। 'अनेकधा नयनात्' अनेक प्रकार से 'भोक्तृत्वेन व्यवस्थितान्' अपने आपको भोक्ता मान लिया तो कुछ को सुख का भोग और कुछ को दुःख का भोग मान लिया। इसमें कोई व्यवस्था नहीं कि किसे सुख या दुःख मानेंगे। बहुत साल पहले जोधपुर में किसी गाँव के अन्दर एक औरत कुएँ में गिर पड़ी, उस बेचारी को निकाला गया। पुराना ज़माना था, डाक्टरों का ज़माना आया नहीं था, खास कर राजाओं के राज्यों में। उसको हलवा खिलाया गया और वही बाँध दिया गया। अगले दिन उसकी देवरानी कुएँ में गिर पड़ी। जब उसे निकालने गये तो उसने कहा ऐसे नहीं निकलूँगी, जैसे जेठानी को हलवा खिलाया था, वैसे ही मुझे खिलाओ। लोगों ने कहा— 'पहले ही कह देती।' उसने कहा— 'पहले कहती तो कौन खिलाता।' किस चीज़ को सुख और किसको दुःख मानें इसका कोई नियमन कहीं नहीं हो सकता। लेकिन इतना निश्चित है कि कुछ को सुख, कुछ को दुःख मानेंगे। भोग का अर्थ ही है सुख दुःख के द्वारा पदार्थों का अलग अलग वर्गीकरण कर लेना। अब भी अनेक पदार्थ ऐसे हैं जो सुख-दुःख नहीं देते, जिनमें अध्यास नहीं है। रास्ते में कितने आदमी दीखते हैं, वे न सुख देते हैं, न दुःख। स्वाभाविक अनासक्तभाव, उदासीन भाव, उनके प्रति बना रहता है। सामने से कई मोटरे निकलती रहती हैं, कहाँ किसी मोटर के निकलने पर आसक्ति आती है? अकस्मात् देखने में आ गई मर्सिडीज़। जो लखपति है उसके मन में आसक्ति होती है कि मेरे पास करोड़ होते तो मैं खरीदता और जो वहाँ खखपति मजदूर खड़ा है, उसकी मसझ में आया 'जला देनी चाहिये, ये इसमें बैठ कर क्यों जा रहे हैं।' बाकी सब मोटरें निकली, लेकिन, कोई भाव उत्पन्न नहीं हुआ। यदि सवेरे से शाम तक अपने अनुभवों का लेखा जोखा रखो तो पाओगे कि अस्सी प्रतिशत अनुभवों के प्रति तुम उदासीन हो। न उनमें सुख और न दुःख है। मुश्किल से बीस प्रतिशत अनुभव तुम्हारे सुख-दुःख का विषय बनते हैं, वही तुम्हारा भोग है। बाकी सब चीजें

भोग नहीं हैं। भोक्ता रूप से अपने को व्यवस्थित करने पर ही भोग होता है। कौन किसका भोक्ता है, इसमें नियम नहीं।

इतना याद रखना कि जितनी जितनी जाग्रत् अर्थात् चेतन अवस्था बढ़ेगी उतना उतना तुम्हारे अंदर पदार्थों के अन्दर जो उदासीन भाव है वह कम होता चला जायेगा। और जितना जितना तमोगुण का हिस्सा बढ़ेगा उतना उतना जागृति कम होती जायेगी और उदासीन भाव बढ़ता जायेगा। यद्यपि चेतन कभी पूर्ण उदासीन तो नहीं हो सकता है लेकिन 'लॉ आफ लिमिट्स' से कहें तो कह सकते हैं कि ईंट पूर्ण उदासीन है क्योंकि उसे न सुख, न दुःख है। इसी बात की ध्वनि करने के लिये कठोपनिषद् में कहा 'स्थाणुमन्येनुसंयन्ति' आदमी ठूँठ तक भी बन सकता है। ठूँठ में किसी भी पदार्थ के प्रति चेतनता है ही नहीं। प्रायः ऐसा दुर्भाग्य हम लोगों का हो गया है कि इस तमोगुणी अवस्था को कई बार लोग समझ लेते हैं कि यह सात्त्विकी अवस्था है। चेतनता का अभाव उन्हें खटकता नहीं। वे समझते हैं कि इतना दुःख हमारा कम हो गया। फिर ईंट बन जाओ तो बिल्कुल दुःख नहीं होगा। सामान्य हो जाओगे। यदि बीस प्रतिशत सुख-दुःख सामान्य व्यक्ति में हैं और तुम्हारा पचास प्रतिशत तक दुःख सुख बढ़ जाये, तो समझना चाहिये कि चेतनता बढ़ रही है, चेतनता चीजों में आ रही है। तमोगुण बढ़ने पर चेतनता कम होती जायेगी। विश्वरूप होकर रयि आदि को प्राप्त कराता रहता है। कर्मफलप्रदाता होकर अर्थात् चेतना स्वरूप से नर हुआ भी विश्व के प्रति, भिन्न-भिन्न प्रकार के पदार्थों के प्रति चेतनता को प्राप्त करता है। इसीलिये यहाँ जाग्रत् अवस्था कहकर पहली अवस्था को वैश्वानर शब्द से कहा गया।

'विश्वेषां नराणामनेकधा नयनात् वैश्वानरः' यह एक वैश्वानर का रूप बता दिया। अब इसी को दूसरे ढंग से समझाते है। 'यद् वा विश्वश्चासौ नरश्चेति विश्वानरो विश्वानर एव वा वैश्वानरः' जैसे रक्ष से राक्षस बन जाता है, वय से वायस बन जाता है (वय अर्थात् चिड़िया), स्वार्थ में तद्धित हो जाता है, रक्ष एव राक्षसः जो रक्षण करने वाला है उसे राक्षस कहते हैं, वय एव वायसः जो वय है वही वायस कहा जाता है, इसी प्रकार जो विश्व हो और नर हो वही वैश्वानर है। विश्व अर्थात् व्यापक। उसी को आगे स्पष्ट करते हैं 'सर्वपिण्डात्मानन्यत्वात्स प्रथमः पादः' इस दूसरे अर्थ में सारे पिण्डों के अन्दर अर्थात् पशुपक्षियों से लेकर चींटी पर्यन्त और ब्रह्मा विष्णु के शरीरों तक जो एक जैसा रहने वाला आत्मा है। पहले अर्थ में कर्मफलदातृत्व को लेकर सुख दुःख आदि रूप में भोगों की प्राप्ति कराता है। दूसरे अर्थ में सर्वपिण्डात्मा हो गया। जितने भी पिण्ड हैं उन सभी पिण्डों में वह विद्यमान है। 'आत्मा स्वरूपः प्राणो वा' आत्मा के दो अर्थ होते हैं— स्वरूप और प्राण। सर्वपिण्डात्मा अर्थात् 'सर्वपिण्डस्वरूपः' वैश्वानर को जितना भी जाग्रत् है उन सब जीवों के पिण्ड रूप समझ लेना चाहिये। यह जाग्रत् और स्वप्न का फर्क करने के लिये कह रहे हैं। जब हम कहते हैं कि हमको यह दरवाजा दीख रहा है तो हो क्या रहा है? हमारी चेतना में दरवाजे की प्रतीति हो रही है, यह तो सच्ची बात है। इसके

सिवाय जो कुछ है वह प्रक्रिया (theory या explaination) है। चेतना नित्य है, नित्य चेतना में दरवाजे की प्रतीति क्यों? एक क्षण पहले नहीं, एक क्षण बाद में नहीं। उसके लिये मन की कल्पना करते हैं। आत्मा नित्य चेतन होने पर भी जब मन वृत्ति बनायेगा तब प्रतीत होगा। मन सम्पूर्ण जाग्रत् काल में बना रहता है तो मन की वृत्ति भी इसी समय क्यों? तब आँख की कल्पना कर ली। आँख ने वृत्ति क्यों बनाई? क्योंकि प्रकाश के अन्दर दरवाजा था इसलिये। यह सब इसी एक बात को समझाने के लिये है— चेतन में दरवाजे की प्रतीति। सत्य तो इतना ही है। इस विषय में कोई संदेह नहीं हो सकता कि चेतन में दरवाजे की प्रतीति है। बाकी सब समझने के लिये है। समझाने के कई तरीके हो सकते हैं। अब प्रश्न होता है कि यह तो एक तरीका समझाने का हुआ। नैयायिक परमाणुओं के द्वारा दरवाजे का निर्माण किया हुआ मानता है और दरवाजे से चक्षुका सम्बन्ध मानता है। सांख्यवादी परमाणु नहीं तो प्रकृति से, कर्म से, महत् तत्त्व आदि से उत्पन्न मान लेता है। वेदांती की अपनी दृष्टि तो दोनों से भिन्न है। यद्यपि वेदांती कुछ चीजों में दूसरों की बात भी मान लेता है, केवल व्यवहार चलाने के लिये। जैसे कर्मकाण्ड के विषय में 'व्यवहारे भट्टन्यायः' कुमारिल भट्ट ने जिन बातों को उपपन्न माना, उन्हें वैसा ही मान लिया। इसी प्रकार मानसिक उपाधियों के विचार के समय जैसी योग-प्रक्रिया है वैसा स्वीकार कर लेते हैं। लेकिन यह वेदांत का व्यवहारवाद है। वेदांत की अपनी दृष्टि सब चीजों के बारे में होती जरूर है लेकिन वह लोगों को समझने में कठिन पड़ती है इसलिये सरलता के लिये किसी दूसरे की बात को मान लो कोई हरज़ा नहीं।

वेदांती की अपनी दृष्टि है कि चेतना के अन्दर दरवाजे की प्रतीति हुई। कैसे हुई? यह प्रसंग है। एक कहते हैं कि समान जाति में ही आपस में क्रिया सम्भव है, असमान जाति में नहीं। ठोस दरवाजे को काटने के लिये ठोस आरा चाहिये। सूक्ष्म हवा को काटने का काम ठोस आरा नहीं कर सकता। इसी प्रकार से चेतन में किसी प्रतीति को कराने के लिये चेतन में ही कारणता चाहिये और कोई दूसरी चीज इसकी प्रतीति नहीं करा सकती। यदि हमारी चेतना में दरवाजे का भान हुआ तो इसलिये कि किसी चेतना ने स्वतंत्र संकल्प को किया क्योंकि चेतना में ही संकल्प शक्ति है जिसने हमारी चेतना में दरवाजे की प्रतीति करा दी। अब आगे चलते हैं; स्वप्न के अन्दर तो हमारी चेतना पदार्थों की प्रतीति संस्कारवशात् कर लेती है। वहाँ तो हमारी स्वतंत्रता हुई। जाग्रत् के पदार्थों में परतंत्रता का अवबोध होता है और जाग्रत् के पदार्थों में अनेक चेतनों को एक साथ प्रतीति होती है, ये दो चीजें जाग्रत् में विशिष्ट हैं। जैसा पहले बताया था कि स्त्री-शरीर में जो तुम पत्नी, भगिनी, माता, दुहिता इत्यादि कल्पना करते हो उसकी बात नहीं, क्योंकि वह अपनी अपनी कल्पना हुई लेकिन सामने पाँच फुट के साँवले रंग के शरीर की प्रतीति है, उसी को प्रारंभ में माना कि वह पदार्थ है। उसकी प्रतीति वहाँ होने वाले कई चेतनांशों को एक साथ एक जैसी होती है। एक, जाग्रत् काल में पदार्थों की प्रतीति में परतंत्रता

का अवबोध और दूसरे, एक साथ कई चेतनांशों को एक जैसी प्रतीति। इसलिये किसी एक चेतन को ऐसा मानना पड़ेगा जो कई चेतनों को एक जैसी प्रतीति करा सके। इस कमरे में बैठे हुए सब लोगों को एक चीज एक जैसी दीख रही है तो इसका मतलब है कि एक चेतन हम सब चेतनों को अपने स्वातंत्र्य के द्वारा उसकी प्रतीति करा रहा है और चूँकि प्रतीति करा रहा है इसलिये पारतंत्र्य का अवबोध और चूँकि सबको एक साथ करा रहा है इसलिये हम किसी एक चीज़ को देख रहे हैं, ऐसा भ्रम भी हो जाता है। जैसे कई दर्पण हों और बिम्ब एक हो तो सबमें एक जैसा प्रतिबिम्ब पड़ जायेगा। अब एक चीज logical necessity से लाघवोपपत्ति से माननी पड़ती है कि बजाय इसके कि हर बार जब चेतनों का समूह बदले तो नये-नये चेतन को इन सबको प्रभावित करने वाला मानें, हमेशा के लिये एक को ही स्वीकारना चाहिये। इसलिये लाघवात् एक ही व्यापक चेतन को मान लिया जाता है जो जाग्रत् अवस्था के अन्दर सब प्राणियों में प्रतीतियों को उत्पन्न करता है। बजाय इसके कि कई छोटे छोटे चेतनों को स्वीकार करें, एक ही सर्वव्यापक चेतन है जो कई चेतनों को, अर्थात् संसार के सब चेतनांशों को, प्रभावित करता है। उसी चेतन को विराट् आत्मा कहते हैं, वही परमेश्वर है। यह वेदांत की अपनी दृष्टि है : एक व्यापक चेतन और दूसरे परिच्छिन्न चेतन हो गये। व्यापक चेतन परिच्छिन्न चेतनों की प्रतीति करा देता है।

व्यापक और परिच्छिन्न चेतनों का सम्बन्ध कैसे बनेगा यह अगला प्रश्न आयेगा। वह चेतन सर्वव्यापक है, किसी एक देश में व्यापक हो, ऐसा नहीं। इसलिये प्रत्येक चेतनांश में भी वह व्यापक है। यह परिस्थिति कुछ ऐसी हुई जैसे सर्वव्यापक जलराशि समुद्र के अन्दर कभी एक जगह लहर रूप में उठती है, कभी दूसरी जगह, कभी एक स्थल में छोटी छोटी पचास लहरों के रूप में। जहाँ लहर उठी वहाँ जल ही लहराकार हो गया, दूसरी जगह लहराकार नहीं है। एक लहर में अनेक जलबिन्दु हैं, वे सारे के सारे लहराकार हैं। उसी प्रकार सर्वव्यापक अखण्ड चेतन के अंशों में पदार्थाकार की वृत्ति प्रतीत होती है। अगर लहर में पाँच हजार बिन्दु हैं तो वे पाँच हजार ही लहराकार प्रतीत हो रहे हैं। ऐसे ही उस अखण्ड चेतन के अन्दर कहीं पर पाँच हजार व्यक्तियों को अनुभव होता है। कहीं एक बुलबुला उठा तो उसको भी अनुभव ही हुआ। अब उन बुलबुलों और लहरों के अन्दर जो यह प्रतीति है कि हम भिन्न हैं, बस इतनी ही अविद्या है। उस अखण्ड चेतन का अनंत रूपों में प्रकटीकरण है।

विश्व क्यों है? एक ही अखण्ड चेतन है, उस अखण्ड चेतन के अंश ने अपने आपको अविद्या के कारण मानो भिन्न हो, ऐसा समझ लिया है। चेतन समझता है कि वह किसी चीज को देख रहा है। चीज की कोई आवश्यकता नहीं है, प्रतीतिमात्र है। प्रतीति कराने वाले समुद्र की तरह व्यापक चेतन है। इसलिये यही उसका सर्वपिण्डात्मा हो गया। सारे पिण्डों का स्वरूप वही है। ऐसे कहने से भी प्रतीति कुछ ऐसी हो जाती

है कि सारे पिण्डों का प्राण वह होगा। इसलिये भाष्यकारों को केवल सर्वपिण्डात्मा कहकर सन्तोष नहीं हुआ। क्योंकि सर्वपिण्डात्मा कहने से यह प्रतीति कहीं न हो जाये कि वह सारे पिण्डों का प्राण है, अर्थात् सारे पिण्डों को प्राण करने की शक्ति देने वाला वह है, उनका सार रूप है, लेकिन पिण्ड तो उससे कुछ अलग होंगे। यह 'कुछ' वाला भ्रम जल्दी नहीं जाता। यहाँ तक ठीक है कि हम ईश्वर के भरोसे हैं, ईश्वर हम सबको चला रहा है लेकिन फिर भी हम कोई हैं जिसको चला रहा है। ईश्वर हमको नहीं चला रहा है, ईश्वर हमारे रूप में अपने आपको ही चला रहा है। अपने आपको चलाना अर्थात् चल रहा है। यह जो किंचित् भेद की अनुवृत्ति की सम्भावना थी, उसे हटाने के लिये कह दिया 'अनन्यत्वात्' सर्वपिण्डात्मा कहने से सर्वपिण्डप्राण नहीं समझना बल्कि अनन्य है ऐसा समझना। ईश्वर में, अखण्ड चेतन में और चेतनांशों में किंचित् भेद भी नहीं है, सर्वथा अनन्य है। जिस प्रकार शरीर के भिन्न भिन्न प्रत्यंगों के अन्दर अंशत्व की प्रतीति होने पर भी वे अंश नहीं हैं, अलग अलग क्रिया करने पर भी वे अलग अलग नहीं हैं, क्योंकि सब मिलकर ही शरीर है। इनमें से किसी एक चीज को नहीं कह सकते कि वह हृदय ही असली चीज है और शरीर में कुछ नहीं पड़ा है। यद्यपि जिसको जो रोग होता है वह समझता है कि बस यही चीज है। अंधे को लगता है कि आँख नहीं तो कुछ नहीं। जिसका यकृत खराब हो उसे भी यही लगता है कि यकृत ठीक नहीं तो कुछ ठीक नहीं, कुछ खा ही नहीं सकते। जिसका घुटना न चले तो उसे लगता है कि इसके बिना तो जीवन ही बेकार है। हर चीज उतनी ही प्रधान लगती है जब कभी उसका अभाव हो। वे सारी चीजें मिलकर ही शरीर हुआ। यद्यपि समझने के लिये उन सब में भी भिन्न भिन्न प्रधानता दीख रही है तथापि वे सब कारण मिलकर एक ही कार्य है। क्रिया में अंगों की कल्पना है कि यह इसने किया, लेकिन वह सब मिलकर के ही पूरी है। जैसे घड़ी में यह नहीं कह सकते कि घण्टे का काँटा घड़ी है, मिनट या सेकेण्ड का काँटा घड़ी है अथवा हेयरस्प्रिंग घड़ी है। वह सब मिलकर एक घड़ी है। इसी प्रकार यहाँ 'अनन्यत्वात्' एक अखण्ड चिन्मात्र ही अनंत प्रकारों से प्रतीति कर रहा है। वह अनंत प्रकारों की प्रतीति कुछ नहीं है। उन अनंत प्रकार की प्रतीतियों में जो बोध हुआ सो मैं हूँ। यह प्रतीति कि मैं किसी देश, काल, कार्यकारण से प्रभावित होकर किसी देश काल से बद्ध है, इसी का नाम बंधन, अविद्या, अज्ञान है और सब देश कालों के अंदर चित् की एक तरह की प्रतीति सारे कारणों से निर्मुक्त, सारे कार्यों से मुक्त, बस यही ज्ञान है, विद्या है।

'अनन्यत्वात् स प्रथमः पादः' जाग्रत् काल के अन्दर यह अनन्यता स्फुट होती है इसलिये इसे प्रथम पाद कहा। वैसे तो प्रथम का अर्थ होता ही है 'पहला' लेकिन इसी को पहले क्यों रखा? वैसे प्रथ धातु का अर्थ प्रसिद्ध होता है। जो चीज सब कोई जानते हों उसे प्रथ या प्रसिद्ध कहते हैं। हिन्दी में भी प्रथितयश कहते हैं अर्थात् जिसके यश को सब लोग जानते हों। मा प्रमा या ज्ञान को कहते हैं। प्रथम का मतलब है जिसका

ज्ञान स्पष्ट हो। स्वप्न के अन्दर चेतना तुम्हारे संस्कारों के द्वारा प्रतिबद्ध है। कामना के द्वारा इतनी प्रतिबद्ध है कि स्वप्न के अन्दर इस ज्ञान की सम्भावना ही नहीं बन पाती है। अविद्या से बद्ध है लेकिन साथ में कामनाओं से, संस्कारों से भी बद्ध है। सुषुप्ति के अन्दर यद्यपि कामनाओं से बद्ध तो नहीं है लेकिन वहाँ पर चेतना को विस्तृत होने का मौका ही नहीं है क्योंकि उसके पास साधन ही नहीं है। जाग्रत् ही ऐसी अवस्था है जिसके अन्दर विस्तृत होने का साधन भी है और इतना कामग्रस्त भी नहीं है, ऐसा संस्कारग्रस्त नहीं है कि इसके अन्दर आगे की प्रगति न हो सके। इसी दृष्टि से इसे प्रथम कहा क्योंकि यहीं पर प्रसिद्ध है कि प्रमा अर्थात् सही ज्ञान हुआ करता है।

अथवा 'प्रविलापनापेक्षया प्राथम्यम्' प्रविलापन की अपेक्षा से प्रथम समझ लेना। जाग्रत् को ही पहले विश्लेषण करके देखना पड़ेगा। जिसने जाग्रत् का विश्लेषण किया है, उसका विश्लेषण तो स्वप्न में भी दृढ हो जायेगा क्योंकि जिसको विश्लेषण का स्वभाव पड़ा हुआ है, उसका स्वप्न में भी विश्लेषण चलता रहेगा। और जिसने जाग्रत् में विश्लेषण नहीं किया उससे स्वप्न में भी विश्लेषण नहीं हो सकेगा। जाग्रत् और स्वप्न यह बार बार इसलिये याद दिलाते हैं कि लेटने की अवस्था नहीं लेना। बाह्य विषयों से व्यवहार करते समय यदि तुम्हारी चेतना पूर्ण जाग्रत् (wide awake) नहीं है तो फिर पदार्थों में जो तुम मातृ दुहितृ आदि की कल्पना करते हो, उस कल्पना के अन्दर भी तुम्हारा कोई नियंत्रण नहीं रहेगा। प्राचीन काल में हम लोग कहा करते थे कि जिस व्यक्ति ने पहले न्याय का अध्ययन या सांख्य का अध्ययन नहीं कर लिया उसे वेदांत नहीं बैठता। उसका मतलब न्याय की कुछ युक्तियाँ याद कर लेना नहीं था वरन् न्याय के द्वारा मनुष्य को बाह्य पदार्थों के प्रति निरंतर जागरूक रहने की शिक्षा मिलती है। हमारे एक न्याय के पंडित पद्मप्रसाद जी वाराणसी विश्वविद्यालय में न्याय के आचार्य थे। किसी विषय पर बोलते समय वे एक मिनट बोलकर पाँच मिनट बाद दूसरा वाक्य बोलते थे। कभी किसी सम्मेलन में जाना होता था तो दूसरे तो फटाफट बोलते चले जाते थे। वे कहते थे 'ये लोग इतनी जल्दी कैसे बोलते हैं? यह विचार नहीं करते कि कहीं उसमें अव्याप्ति, अतिव्याप्ति दोष तो नहीं है, लक्षण प्रमाण से सिद्ध है या नहीं है। ये कैसे ऐसे जल्दी जल्दी बोल जाते हैं?' हमने कहा 'ये इतना सोचें तो लीडर नहीं बन सकते, फिर आपकी तरह से पंडित ही बन जायें।' अधिकतर लोग प्रभावित होते हैं फटाफट बोलने से। क्या बोलते हैं यह न सुनने वाले की समझ में आता है, न वे खुद जानते हैं। न्याय हमको शिक्षा देता था पदार्थों के प्रति जागरूक होने की, हम जिस चीज को समझ रहे हैं, बोल रहे हैं तो वह जैसी है, वैसी समझें। सांख्य-योग हमको शिक्षा देता था कि हम अपने मन के परिवर्तनों को समझ पायें। जिसने बाह्य जगत् की और आंतरिक जगत् की जागरूकता को पहले प्राप्त नहीं किया वह अतिसूक्ष्म आत्मतत्त्व को नहीं पकड़ पायेगा। यह तात्पर्य है। आज हो सकता है कि बाह्य पदार्थों के प्रति जागरूकता के लिये भौतिक

विज्ञान में विशेषता प्राप्त करना आवश्यक हो क्योंकि वैज्ञानिक बाह्य पदार्थों के प्रति जागरूक होता है। इसी प्रकार मनोविज्ञान की शिक्षा लेने से हम अपने अंतःकरण व चित्त (unconscious) के प्रति जागरूक होने लग जाते हैं। जो इन दोनों जागरूकताओं को प्राप्त नहीं कर पाता वह आत्मतत्त्व नहीं समझ पाता। वह चाहे प्राचीन तरीके से करे, चाहे आधुनिक तरीके से करे। इसलिये कह दिया 'प्रविलापनापेक्षया प्राथम्यं न सृष्ट्यपेक्षया'। जाग्रत् के अन्दर जब हम बाह्य पदार्थों के प्रति पूर्ण रूप से जागरूक होंगे तब आगे समझ में आयेगा कि यह आत्मतत्त्व कैसा है। सब कुछ को हाँ कह देने वाले आदमी से यह काम नहीं होता।

'एतत्पूर्वकत्वादुत्तरपादाधिगमस्य प्राथम्यमस्य'। जागरित अवस्था पूर्वक ही उत्तरपाद अर्थात् स्वप्नपाद का अधिगम होता है अर्थात् ज्ञान हो जाता है। भाष्यकारों का यह वाक्य बड़ा प्रधान वाक्य है क्योंकि स्वप्न को समझने के लिये जाग्रत् को समझना आवश्यक है। फ्रायड् और उसको मानने वाले मनोवैज्ञानिक और हमारे यहाँ भी जो स्वप्नशास्त्री और सामुद्रिक शास्त्री हैं, उनका इससे साक्षात् विरोध समझना। उनकी प्रक्रिया है कि स्वप्न के द्वारा जाग्रत् को समझने का प्रयत्न किया जाता है। यह प्रक्रिया भूतप्रक्रिया है। स्वप्न में हमको एक सिद्ध पदार्थ मिल रहा है। जाग्रत् के संस्कारों से उत्पन्न होने वाली चीज हमको स्वप्न में मिल रही है। स्वप्न को देखकर जाग्रत् में जाने का तात्पर्य होता है वर्तमान को देखकर भूत में जाना। इसी कारण यह मनोविज्ञान मनुष्य को एक नवीन दिशा, reorientation कि दृष्टि, नहीं दे पाता, क्योंकि यह हमेशा स्वप्न को देखकर इस स्वप्न के क्या कारण रहे थे— इस प्रकार हमेशा भूत का विचार करता है, भविष्य की दृष्टि वाला नहीं बन पाता। भाष्यकारों का कहना है कि मनुष्य के जाग्रत् का विश्लेषण करके, इसकी कौनसी कामनायें बनेंगी, उसको समझो। भविष्यदृष्ट्या किधर को जाना है, उधर दृष्टि रखो। स्वप्न यह बतायेगा कि भूत में यह व्यक्ति कैसा था। उत्तरपाद का ज्ञान एतत्पूर्वक होता है। इसलिये भूत को समझने के लिये स्वप्न का प्रयोग करना चाहो तो करो, लेकिन जोर इस बात पर दो कि जाग्रत् का विश्लेषण करके आगे इसका भविष्य कैसे बनाना है। स्वप्न पर नियंत्रण लाना है, उल्टा नहीं कि वर्तमान को देखकर भूत में जाओ जिसका नतीजा यह होता है कि आधुनिक मनोविज्ञान रोग का निदान तो कर देता है लेकिन उससे पूछो 'रोग की दवाई क्या है?' तो कहता है कि दवाई की बात मत करो। वेदांत ठीक इसके विपरीत कहता है कि जाग्रत् से स्वप्न का अतिदेश करो। कार्य-कारण-भाव को समझने के लिये इसका प्रयोग करो लेकिन आगे ले जाने की दृष्टि से करो। जाग्रत् को ऐसा बनाओगे तो आगे कामनायें एतद्पूर्वक हो जायेंगी।

जैसी गलती मनोवैज्ञानिक करते हैं वैसी गलती रात दिन घरों में लोग किया करते हैं क्योंकि उन्हीं विचारधाराओं से प्रभावित हैं। बच्चों के गलती करने पर भूत की तरफ

दृष्टि करते हैं। गलती क्यों की— यह प्रश्न बेकार है। जब कोई कहता है कि यह भूल क्यों की? तो उससे पूछो 'तुम अविद्या में क्यों आये?' इसलिये भाष्यकार कहते हैं कि यह प्रश्न ही गलत है। भूल क्यों की यह पता लग जाये तो भूल हुई न होती। इसलिये भूल के विषय में यह प्रश्न पूछना कि भूल का कारण क्या, यह सबसे बड़ी भूल है। अविद्या का, भ्रम का, अज्ञान का कारण नहीं हुआ करता, वह तो स्वतः सिद्ध है। प्रयत्न तो इस बात का करना है कि इस बच्चे के द्वारा कोई भूल होवे नहीं। वातावरण ऐसा बनाओ कि मनुष्य भूल न करे। भूल करने पर उसे डाँटना ठीक नहीं। लेकिन हमारी विचारधारा प्रायः भूतमुखी होने के कारण यही होता रहता है, वह चाहे आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से हो, चाहे प्रतिदिन के व्यवहार की दृष्टि से। जो गलती हो गई उसके कारण का विचार ही नहीं करना चाहिये। जैसे अपने बच्चों के साथ, ऐसे ही हम अपने मन के पीछे भी पड़ जाते हैं कि मन ने यह भूल क्यों की? वह तो कर दी। उसे भूलो। आगे वह भूल कैसे नहीं होगी, इसका विचार करो। ऐसा वातावरण तैयार करो कि आगे भूल न हो। आज से लेकर सृष्टि के अंत तक तुम एक पैर पर खड़े होकर प्रायश्चित्त कर लो, लेकिन जो भूल हो गई, वह भूल नहीं हो गई, यह कभी नहीं होने वाला है। वह तो हो गया सो हो गया, उसका विचार छोड़ो, आगे नहीं होनी चाहिये इतना ही विचार करना है। जाग्रत् की प्रथमता इसलिये कि जाग्रत् के द्वारा ही स्वप्न को नियंत्रित करना है। जीव की जितनी कल्पनायें होती हैं, वे सब स्वप्न का निर्माता हैं।

'कथमयमात्मा ब्रह्मेति प्रत्यगात्मनोऽस्य चतुष्पात्त्वे प्रकृते द्युलोकादीनां मूर्धाद्यंगत्वमिति?' कोई शंका करता है कि यहाँ प्रसंग तो चला था आत्मा का और आपने जो सात अंग बताये, वे तो परमात्मा के सात अंग बता दिये— द्युलोक उसकी मूर्धा, सूर्य चक्षु, पृथ्वी उसके पैर इत्यादि। यह जो इतना बड़ा वाक्य श्रुति ने कह दिया कि यह आत्मा ही ब्रह्म है, यह कैसे? 'अस्य चतुष्पात्त्वे प्रकृते' इस आत्मा के चार पैर बताने चाहिये थे, अथवा दो हाथ दो पैर आदि जीव के विषय में भी कोई बात कहनी चाहिये थी। प्रकरण तो चला हुआ था चार पैर वाले जीव का, उसमें आपने परमेश्वर के उक्त सात अंगों का वर्णन कैसे कर दिया? कहने वाला अध्यात्म और अधिदैव इन दोनों को अलग समझकर प्रश्न कर रहा है। वेदांती की दृष्टि क्या है? वह कहता है कि अध्यात्म-जगत् सिद्ध है और बाकी सारा जगत् साध्य है। मेरी चेतनता और उस चेतनता के अन्दर भिन्न भिन्न प्रकार की प्रतीतियाँ, यह अध्यात्म जगत् तो सिद्ध जगत् है। बाकी जितनी तुम अधिदैव, अधिभूत, अधिलोक, अधियज्ञ की कल्पना करते हो, वह सब केवल साध्य है। ब्रह्म को यदि साध्य मानोगे तो ब्रह्म परोक्ष हो जायेगा। साध्य अर्थात् किसी साधन से जिसको सिद्ध किया जाये। साधन से अगर सिद्ध करोगे तो वह सारी चीज परोक्ष हो जायेगी। ब्रह्म भी परोक्ष हो जायेगा। ब्रह्म की परोक्षता को हटाने के लिये ही 'अयमात्मा ब्रह्म' कहा गया। इसलिये ब्रह्म के जितने गुण श्रुतियों में कहे गये हैं, वे सब आत्मा में ही

समझने पड़ेगे, नहीं तो ब्रह्म परोक्ष हो जायेगा। परोक्ष ब्रह्म अव्यवहार्य होने से किसी काम का नहीं। ब्रह्म के साथ कुछ कर तो सकते नहीं हो। परोक्ष पदार्थ को वहाँ बताना तो फायदेमंद हो सकता है जहाँ उसका प्रयोग बताया जाये। जैसे दही परोक्ष पदार्थ है, और हमने कहा कि दही खाने से पेट ठीक रहेगा। दही खाने की प्रक्रिया बताई तो साध्य हो गया, खाओगे तो पेट ठीक हो जायेगा। तुमने दही खाया और पेट ठीक हो गया, इस ज्ञान का तो कोई मतलब हुआ क्योंकि फायदा पहुँचाया। वहाँ दो कंकड़ पड़े हुए हैं, कुछ लेना देना नहीं। उसे न उठाने को और न ले जाने को कह रहे हैं, फिर उस कंकड़ में साध्यता नहीं, इसलिये साधन का प्रयोग व्यर्थ हो गया। वे कंकड़ साध्य नहीं कहे जा सकते। खाया हुआ दही साध्य हुआ क्योंकि हमारे द्वारा वह खाने की क्रिया का विषय हुआ। अगर कंकड़ बचाने को कह रहे हैं तो फिर कंकड़ व्यवहार्य हो गये कि उन्हें बचा कर चलो। जहाँ पर किसी चीज का, अप्रत्यक्ष या परोक्ष पदार्थ का, ज्ञान कराया जाये वहाँ वह परोक्ष पदार्थ साध्य होने के कारण किसी न किसी व्यवहार का विषय होना पड़ेगा। ब्रह्म को सारे शास्त्र अव्यवहार्य बताते हैं। यदि ब्रह्म परोक्ष होगा तो अव्यवहार्य होने के कारण सर्वथा निरर्थक और बेकार होगा। इसलिये कह दिया कि ब्रह्म के जितने गुण हैं यदि उनके अन्दर परोक्षता को स्वीकार करोगे तो वे सारी चीजें बेकार हो जायेंगी। यदि उनके अंदर यथाभूतार्थता है तो वह आत्मा में ही होनी चाहिये। इसलिये जो हमने द्युलोक आदि की मूर्धाद्यंगता बताई, वह बिल्कुल समीचीन है।

इसे एक न्याय बनाकर कहते हैं कि यह सब जगह वेद आदि सच्छास्त्रों को पढ़ने में समझ लेना। 'नैष दोषः, सर्वस्य प्रपंचस्य साधिदैविकस्यानेनात्मनश्चतुष्पात्त्वस्य विवक्षितत्वात्।' यह एक अतिदेश न्याय हो गया जो सब जगह याद रखना। सारा ही जो आत्मा के विषय में कहा हुआ प्रपंच है, वह सारा का सारा प्रपंच साधिदेव अर्थात् अधिदेव के साथ बिना आत्मा की एकता को प्राप्त किये हुए सर्वथा निरर्थक और बेकार हो जायेगा। यह जो भाष्य की उक्ति है, यह बड़ी कठोर उक्ति है। लेकिन यह उक्ति महर्षि यास्क ने भी अपने निरुक्त में बताई है। उसमें भी महर्षि यास्क ने कई अर्थ किये हैं। उसमें कहा है कि जिनका परमहंस सम्प्रदाय है, वे तो समग्र वेद को केवल आत्मा का ही विवेचन मानते हैं। न वे उसमें किसी यज्ञ को, न किसी देवता को, न किसी पुण्य पाप को स्वीकार करते हैं। वे उसमें न किसी इतिहास को, न किसी भूगोल को लेते हैं। उन सबका खण्डन करके वे कहते हैं कि यह तो केवल आत्मा की चेतन शक्ति को ही बताने वाला है। भाष्यकार की इन उक्तियों पर परवर्ती काल में बराबर आक्षेप हुए हैं। रामानुज, मध्व आदि सबको यह खटकता है, क्योंकि भक्त चाहता है कि ईश्वर कुछ न कुछ बना रहे। वेदांती की समस्या है कि ईश्वर को मैं जानता हूँ या ईश्वर मेरे को जानता है? अगर ईश्वर को मैं जानता हूँ तो मैं जैसे अनेकों चीजों को जानता हूँ, वैसे ही एक ईश्वर हुआ। वेदांती कहता है कि सच्ची बात तो यह है यहाँ जो कुछ भी कहा

गया है, वह यदि आत्मसम्बन्धी नहीं है तो उसकी कोई प्रयोजनीयता नहीं है। इसलिये आत्मा को बताते हुए हम ब्रह्म के गुण बोल दिया करते हैं और ब्रह्म को बताते हुए आत्मा के गुण बोल दिया करते हैं क्योंकि हमारे अंदर इन दोनों में कोई भेद की दृष्टि नहीं है। यदि ऐसा स्वीकार नहीं करोगे तो ब्रह्म अप्रसिद्ध हो जायेगा। अप्रसिद्ध होगा तो बेकार हो जायेगा। वेदांत में केवल निस्संदिग्ध आत्मा का जो स्वरूप है, उसी आधार पर ईश्वर और ब्रह्म की सिद्धि है। वेदांती जब कई बार कह देता है कि कोई व्यक्ति नास्तिक नहीं हो सकता तो उसका मतलब यही है कि आत्मा के विषय में कभी किसी को संदेह नहीं हो सकता। 'अहमस्मि न वा' 'मैं हूँ या नहीं हूँ', ऐसा संदेह किसी को नहीं हो सकता और 'मैं नहीं हूँ' ऐसा निश्चय भी नहीं हो सकता। 'अहं न अस्मि' यह नास्तिक (atheist) हुआ और 'अहमस्मि न वा' यह संदेहवादी agnostic या skeptic हुआ। क्योंकि ये दोनों असम्भव हैं, इसलिये न कोई नास्तिक और न कोई संदेहवादी हो सकता है। सारे परम आस्तिक हैं क्योंकि सबका दृढ निश्चय है 'अहमस्मि' मैं हूँ, यह अहम् ही ईश्वर है। इसलिये जब कह रहे हो 'अहमस्मि', तो प्रत्यक्ष से कह रहे हो कि ईश्वर को मैं स्वीकार करता हूँ। अहम् से भिन्न जो ईश्वर को स्वीकार करते हैं, ईश्वर मनवाना उनका सिरदर्द है, क्योंकि उनके ईश्वर के लक्षण को कोई मानता है, कोई नहीं मानता। फिर वे आपस में लड़ाई झगड़ा करते हैं। एक कहता है कि मेरा लक्षण अच्छा, दूसरा कहता है मेरा लक्षण अच्छा। कोई कहता है ईश्वर पाँच मुख वाला, कोई कहता है एक मुख चार हाथ वाला। कोई कहता है ईश्वर सातवें आसमान में रहता है, कोई कहता है वह तीसरे आसमान में रहता है। कोई उसे हैवन (Heaven) में और कोई बहिश्त में बताता है। कोई कहता है ईश्वर गोलोक में रहता है और कोई कहता ईश्वर वैकुण्ठलोक में रहता है। उनका आपस में झगड़ा होता हो। वेदांत कहता है कि उनमें से कोई यह नहीं कह रहा है कि 'अहं न अस्मि' इसलिये हमारा ईश्वर का लक्षण 'मैं' है। जब तक कोई यह न कहे कि 'मैं नहीं हूँ' तब तक वह ईश्वर को मान ही रहा है। 'मान रहा है' यह जल्दी नहीं कह देते, ईश्वर है ही। मान रहा है का मतलब है कि वस्तुतः ईश्वर नहीं है, अथवा भ्रमसिद्ध ईश्वर है। लक्षण प्रमाणों से सिद्ध होने पर ईश्वर के विषय में संदेह रहे लेकिन नित्यसिद्ध परमेश्वर 'अहमस्मि' में सिद्ध हो रहा है। उसी को यह शास्त्र, यह उपनिषद् बताना चाह रही है 'विवक्षितत्वात्' अर्थात् उपनिषद् इसे कहने की इच्छा करती है।

किसी के मन में प्रश्न हुआ 'हम लोग सब ईश्वर रूप तो हैं ही, हमें ईश्वरप्राप्ति हो गई अब अधिदैव जगत् की आवश्यकता नहीं रही, सब काम हमारा बन गया। फिर आगे शास्त्र की क्या जरूरत है? हम ब्रह्म हो गये, मैं का भान है ही, मैं ब्रह्मरूप है। ईश्वर का ज्ञान हो गया। ब्रह्मज्ञान से सारी चीजें निवृत्त हो जाती हैं।' इसका उत्तर देते हैं कि यह वाक्यार्थ है, साक्षात्कार तो नहीं हुआ। इसलिये कहते हैं— 'एवं च सति सर्वप्रपंचोपशमेऽद्वैतसिद्धिः' पूर्व पूर्व पाद रूप से, उत्तरोत्तर पाद रूप से प्रविलापन प्राप्त

होने पर तत्त्वज्ञान का प्रतिबंधक या रुकावट दूर हो जाती है। रुकावट क्या है? प्रतीति में भेदबुद्धि या द्वैतबुद्धि। प्रतीति में भेद नहीं है, लेकिन प्रतीति में भेदबुद्धि है, अर्थात् भेद का निश्चय है। दर्पण में मुख देखने पर भी, द्वैत प्रतीत होने पर भी द्वैतबुद्धि नहीं है। काँच के अन्दर आदमी दूर, दूसरी तरफ़ मुँह किये हुए दीख रहा है, ऐसी दृढ रूप से द्वितीयता दीखने पर भी बुद्धि अद्वैत है 'मैं ही दीख रहा हूँ', बस इतना ही भेद है। शास्त्र को और कुछ नहीं करना है। उसी दर्पण के अन्दर छोटे बच्चे को, अज्ञानी को दीख रहा है कि यह कोई दूसरा है। विवेकी को जब समझाया जाता है तो वह पहले समझ तो गया कि यह मैं ही दीख रहा हूँ, लेकिन निश्चय नहीं करता। अंदर कहीं न कहीं लगा रहता है कुछ तो मेरे से भिन्न होगा ही! कल्पना करने लगता है कि काँच है तब तो दूसरा दीख रहा है। प्रतीति को पकड़ना नहीं चाहता। काँच तो मेरे से भिन्न हुआ। इसी प्रकार संसार की द्वितीयता दीख रही है तो कुछ तो होगा, मन होगा। मेरे से मन भिन्न हुआ। उन्हें दृष्टांतांतर से समझाना पड़ता है कि यहाँ पर तो दर्पण अलग है, इसलिये अलग लगता है। लेकिन भांग के नशे में जब ब्राह्मण कहता है कि मैं चाण्डाल हूँ तो वहाँ नशा किस चीज में है? जो कह रहा है उसी में है और जो कह रहा है 'मैं चाण्डाल हूँ', वही सचमुच ब्राह्मण है। जितना उसे समझाओ कि तू ब्राह्मण है, लेकिन उसे निश्चय है कि मैं चाण्डाल हूँ। अथवा कर्ण था तो कुंती का पुत्र लेकिन अपने को राधा का पुत्र मानता था। जिस समय में वह अपने को राधा का पुत्र मानता था, उस समय में भी कुंती का पुत्र था लेकिन निश्चय था कि मैं राधा का पुत्र हूँ।

यहाँ दृष्टांतों को इसलिये बदलना पड़ता है कि कई बार लगता है कि काँच अलग चीज होगी, इसलिये ऐसा हो जायेगा। रस्सी में साँप का दृष्टांत भी इसी दृष्टि से देना पड़ता है कि वहाँ पर दर्पण तो है नहीं। जिस समय रस्सी का साँप रूप मालूम पड़ रहा है, रस्सी ही मंदांधकार में साँप रूप में प्रतीत हो रही है, रस्सी प्रतीत हो रही है। इस दृष्टांत से आया कि वहाँ अंधकार तो है। तब शुक्तिरजत का दृष्टांत देते हैं कि सींप में चाँदी तो धूप मे दिखाई देती है। कहीं अंधेरा कारण, कहीं तेज धूप, कहीं नशा कारण और कहीं काँच कारण है। ये सब भिन्न भिन्न देखकर सिद्ध होता है कि इनमें से कोई भ्रांति का कारण नहीं है, इतना ही बताना है। कोई ब्राह्मण है तो उसकी लाट्री भी निकल आती है, कभी किसी बनिये की, कभी किसी चमार की लाट्री आ जाती है, कोई करोड़पति है तो उसकी भी लाट्री आ जाती है, किसी भिखारी की लाट्री आ जाती है। इनसे पता लगता है कि ब्राह्मणपना, वैश्यपना, चमारपना, अथवा भिखारीपना लाट्री आने में कारण नहीं। आनुषंगिक हैं, कुछ न कुछ तो रहेंगे ही। ठीक इसी प्रकार से द्वितीयत्व की बुद्धि आने में इनमें से कोई चीज कारण नहीं है, यही भिन्न भिन्न दृष्टांतों के द्वारा बताना इष्ट है। अगर एक ही चीज सब जगह भ्रांति में कारण पड़े, केवल नशे में या केवल अंधेरे में भ्रम हो, तब तो द्वितीयता की प्राप्ति हो जाती। कहीं जड दृष्टान्त दिया जैसे रस्सी

में साँप। इससे किसी को सन्देह होगा कि रस्सी जड है, क्या अधिष्ठान ब्रह्म भी जड है? इसलिये दूसरा दृष्टांत दिया कि दर्पण में जैसे मुख दीखता है अथवा नशे में ब्राह्मण अपने को चाण्डाल मानता है। सभी भिन्न भिन्न दृष्टांत वास्तविक कारणता के निषेध में पर्यवसित होते हैं, और कुछ नहीं। ठीक इसी प्रकार से मैं ब्रह्म हूँ, लेकिन भ्रांति से प्रतीत हो रहा है कि मैं जीव हूँ। और भी द्वैतनिश्चय कर रखे हैं कि चूँकि मैं जीव हूँ, इसलिये सारा जगत् जो मुझे दीख रहा है मेरे से बाहर है, यह मान रखा है। तब भी उसकी जो अद्वितीयता है, यह कहीं गई नहीं है, वह तो है ही। अद्वैत को नहीं लाना है, केवल अद्वैत बुद्धि को लाना है। अद्वैत अब भी है और तब भी रहेगा। द्वैत की तरह प्रतीति अब भी है और तब भी रहेगी। इस समय निश्चय है द्वैत का, विवेक काल में निश्चय ढीला तो पड़ता है कि द्वैत की सिद्धि नहीं होती है लेकिन फिर पूर्व संस्कारों से संस्कारित हो कर द्वितीयता लाता है, यह बात दूसरी है।

ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करो तो भाष्यकारों के बाद इस अद्वैत को कई तरह से इधर उधर करने का कार्य हुआ। विशिष्टाद्वैती को भी अद्वैत जँच तो जाता है लेकिन बाद में कहता है कि इतना नहीं हो सकता, अद्वैत तो है लेकिन कुछ भेद, कुछ विशेषण तो लगा दो। कोई द्वैताद्वैती, कोई शुद्धाद्वैती। सब अद्वैत को मानते हुए भी चाहते हैं कि अद्वैत को लेकर कहीं न कहीं कुछ रुकावट करें। संस्कारवशात् निश्चय नहीं हो पाता। इसलिये कह दिया कि यह तो ठीक है कि अध्यात्म, अधिदैव प्रपंच सारे के सारे 'अहम्' इस प्रतीति के विषय को लेकर कल्पित हैं। 'अहम्' यह नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव सच्चिदानंदस्वरूप परब्रह्म परमात्मा है, यह सब का ज्ञान है, कोई नया ज्ञान नहीं। लेकिन जो निश्चय है कि यह प्रपंच है और जगत् सद्वितीय है, यह निश्चय बदल देना है। यह जो प्रातिभासिक द्वैत प्रतीतिमात्र है, यही तत्त्वज्ञान का प्रतिबंधक है, और कुछ नहीं। इसकी जब उपशांति हो जाती है तब कह दिया जाता है कि अद्वितीयता की बुद्धि सिद्ध हो गई।

तत्त्वसाक्षात्कार हो जाने पर आध्यात्मिक का आधिदैविक प्रपंच में प्रविलापन के द्वारा तुरीय निष्ठा में पर्यवसान होने पर जितना भी प्रपंच है वह उपशांत हो जाता है। उपशांत का मतलब मंगलाचरण में बता दिया था। 'सर्वप्रपंचोपशमे अद्वैतसिद्धिः' समग्र प्रपंच के उपशांत हो जाने पर अद्वैतसिद्धि होती है। 'सर्वभूतस्थश्चात्मैको दृष्टः स्यात्' एक आत्मा ही सारे भूतों में स्थित है। सारे भूत प्रत्यगात्मा से भिन्न होकर किसी भी प्रकार अवस्थिति वाले नहीं हैं अर्थात् प्रातिभासिक अवस्थिति वाले भी नहीं हैं। जब तक मनुष्य विचार नहीं करता है तब तक तो संसार की वास्तविक सत्ता है। अविचारी को लगता है कि संसार सत्य है, विनाशी तो है अर्थात् नष्ट तो होता है लेकिन सत्य है। विनाशिता और असत्यता के हेतुओं में भ्रम कभी नहीं करना। संसार के पदार्थ नष्ट होते हैं, यह बात तो लौकिक अविवेकी पुरुष भी जानते हैं क्योंकि देखने में आती है। विवेक होने पर यह नई बात पता नहीं लगती कि संसार विनाशी है, वह तो पहले ही पता है। नई बात तो यह पता लगती है कि यह संसार मिथ्या है। प्रतीत होता है, लेकिन है नहीं।

नष्ट होता है, ऐसा नहीं बल्कि है नहीं। संसार नष्ट होता है, जब तक ऐसा अवबोध रहेगा तब तक संसार की आसक्ति का मूल नहीं जायेगा क्योंकि यदि है और नष्ट होने वाला है तो पाँच मिनट तक उससे भोग मिल जायेगा, फिर उस पाँच मिनट के सुख को कैसे छोड़ा जाये? कई बार मन में यह शंका आती है कि संसार की विनाशिता को देखते हुए उधर प्रवृत्ति क्यों है? जबकि विनाशिता प्रवृत्ति को नहीं रोकती वरन् प्रवृत्ति को तीव्र कर देती है। जैसे अगर पता लग जाये कि यह रसगुल्ला शाम तक खराब हो जाने वाला है तो दो की जगह तीन रसगुल्ले अभी ही खाने की प्रवृत्ति हो जाती है। यह नहीं होता कि रसगुल्ला शाम तक खराब होने वाला है तो सारे ही खराब हो जाने दो, खाकर क्या करेंगे, खाकर भी खराब होना है। इसलिये संसार की विनाशिता का ज्ञान भोग का विरोधक नहीं बनता, यदि कुछ बनता है तो और उत्तेजक बनता है। लेकिन विवेक करने पर वेदांत आदि शास्त्रों के अनुकूल मन को लगाने पर पता लगता है कि यह संसार विनाशी ही नहीं, मिथ्या है। जैसे दर्पण में अत्यंत सुन्दर स्त्री के प्रतिबिम्ब को देखकर कोई उससे भोग करने में प्रवृत्त नहीं होता, वरन् जिसका प्रतिबिम्ब है उसको देखने की इच्छा होती है, दर्पणस्थ प्रतिबिम्ब की तरफ जाने की इच्छा नहीं होती, इसी प्रकार विचारशील को अपनी चेतनता की प्रातिभासिक पदार्थों में प्रतीति जब विवेक काल में होती है तो उन पदार्थों को ग्रहण करने में प्रवृत्ति नहीं होती। उलटा जिस शक्ति के कारण ये प्रातिभासिक पदार्थ प्रतीत हो रहे हैं उसको ग्रहण करने की, उसको समझने की, उसको पकड़ने की, उसको प्राप्त करने की कामना होती है। इसलिये पदार्थ उसको प्रत्यगात्मा की तरफ ले जाते हैं। जितना पदार्थ के सौंदर्य को वह देखता है, उतना ही वह उस आत्मतत्त्व को जानना चाहता है जिसका प्रतिबिम्ब यह सब है। यह विवेकी की दृष्टि है। उसके लिये जगत् मिथ्या या प्रातिभासिक है, प्रतीतिमात्र है। जब उससे आगे चलता है तब पता लगता है कि यह सब प्रतीति सिवाय मेरे और कुछ नहीं। ब्रह्म से लेकर घास के तिनके तक एक अखण्ड चेतन मैं ही मैं हूँ, यह अद्वितीय दृष्टि है। यह प्रत्यग्रूप से सब चीजों की अवस्थिति हो जाना है। अब पदार्थों की प्रातिभासिक प्रतीति भी नहीं बल्कि आत्मरूप ही प्रतीति रह जाती है क्योंकि उसके बिना वह सत्ता और स्फुरत्ता से रहित है।

'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतस्थश्चात्मैको दृष्टः स्यात्' इस भाष्यवाक्य में सर्वभूतस्थ पद एक तरह से उद्धरण समझ लेना।

'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
संपश्यन्नात्मयाजी वै स्वाराज्यमधिगच्छति।।'

यह मनुस्मृति है। मनु महाराज ने अनेक कर्मों का विधान किया। कर्मों के विधान में कुछ प्रधान कर्म और कुछ गौण कर्म। प्रधान कर्मों में फिर अधिक प्रधान कर्म बताये। अंत में कहते हैं कि सब यज्ञों में श्रेष्ठ यज्ञ आत्मयज्ञ ही है। जैसे गीता में भी भगवान्

ने जपयज्ञ, प्राणायाम यज्ञ, स्वाध्याययज्ञ, ज्ञानयज्ञ, द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ इत्यादि अनेक यज्ञ बताये। वे सभी वेदों में बताये हुए यज्ञ हैं। कुछ लोग जिन्होंने वैदिक ग्रन्थों का अध्ययन नहीं किया है, वे कहते हैं कि गीता में यज्ञ के अर्थ का विस्तार किया गया है। गीता के अन्दर वेदों में जो यज्ञ कहे हैं, वे ही बताये हैं। हिन्दी इत्यादि में यज्ञ का मतलब होम है अतः लोग समझते हैं कि वेद में बताये हुए यज्ञ का भी वही मतलब है। वेदों को पढ़ने की जरूरत किसी को नहीं है। यज्ञ का मतलब लौकिक रुढि में होम समझने के बाद गीता, महाभारत, विष्णुपुराण आदि में होम से अतिरिक्त दूसरा अर्थ मिला तो कहते हैं कि यह ठीक नहीं। यदि अन्य कर्मकाण्डविषयक मंत्रों को छोड़ भी दो और केवल पुरुषसूक्त भी देख लेते हो तो वहाँ भी आता है 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः तानि धर्माणि प्रथमानि आसन्' तीन यज्ञ वहीं बता रहे हैं। एक करण यज्ञ, एक कर्म यज्ञ। तीसरा 'अयजन्त' कौनसा यज्ञ हुआ? 'तानि धर्माणि प्रथमानि आसन्'। इसलिये गीता के अन्दर जो वैदिक यज्ञ हैं उन्हीं को बताया है। मनुस्मृति में भी इसी प्रकार उसी श्रुति के आधार पर यज्ञों का वर्णन किया। श्रुति ने कहा है 'आत्मयाजी श्रेयान्' सारे यज्ञों का वर्णन करके अंत में वेद में कहा कि जो आत्मयज्ञ करता है वही श्रेय या कल्याण का भागी बनता है क्योंकि बाकी सब आरात् उपकारक अर्थात् दूर से उपकारक हैं। बाकी जितने यज्ञ हैं वे किसी न किसी त्याग का उपदेश करते हैं। दान में धन का त्याग, तप में भोग का त्याग, ज्ञानयज्ञ अर्थात् विचार करते हो तो मन से मर्जी आये जैसा अव्युत्पन्न विचार का, मन में एक दूसरे से सर्वथा असंगत बातें उठने का त्याग; अर्थात् गप्पे मारने में जो बड़ा मजा आता है उसका त्याग। दो आदमी बैठकर बात शुरू करेंगे कि यह पेड़ खजूर का है और आधे घण्टे बाद बात कर रहे होंगे कि वियतनाम में बम क्यों डाला। खजूर के पेड़ से रेगिस्तान (desert) की बात पर पहुँचे, रेगिस्तान से अरब देश याद आ गया, अरब में पेट्रोल की क्या स्थिति है, पेट्रोल की बातचीत से रूस की याद आ गयी और रूस से वियतनाम याद आ गया। इसमें बड़ा रस आता है। किसी के साथ बैठकर किसी विषय के हेतुओं का विचार करो तो सामने वाला कहता है 'मुझे आफिस जाना है।' यह जो अत्यंत रस आने वाली चीज है, उसका त्याग ही विचार है। विचार करो कि यदि एक बात से मन दूसरी बात में गया तो क्यों गया, उसका हेतु क्या, जाना चाहिये, नहीं जाना चाहिये इत्यादि। स्वाध्याय यज्ञ है कि तरह तरह की दुनियाभर की अनात्मपदार्थों की बातें पढ़ेने की जो स्वाभाविक प्रवृत्ति है, उसका त्याग करके स्वाध्याय करना। इन सबमें किसी न किसी चीज के त्याग का ही उपदेश किया गया।

सारे त्यागों का वर्णन करने के अंत में व्यास जी लिखते हैं 'सर्वत्यागे समापनः' आत्मयज्ञ में अहम् का त्याग करते हो। अब तक मैं कुछ हूँ, यह मानते रहे और अब मानना पड़ेगा कि मैं ब्रह्म से अतिरिक्त कुछ नहीं हूँ, ब्रह्म ही हूँ। यह अंतिम अहं का त्याग हो गया तो बाकी सारे त्याग स्वाभाविक हो जाते हैं। इसीलिये आत्मयज्ञ को श्रुतियों ने व आपस्तम्ब धर्मसूत्र आदि ने बताया। यहाँ भगवान् भाष्यकारों ने मनुस्मृति से उद्धरण

ले लिया। आत्मयज्ञ क्या है? सब प्राणियों के अन्दर आत्मदृष्टि, आत्मदर्शन करना ही आत्मयज्ञ है। प्रत्येक प्राणी चल रहा है, बोल रहा है, हिल डुल रहा है और यह सब करने के लिये चेतनता आवश्यक है। 'मै चेतन हूँ' इसलिये इन हिलना डुलना, बोलना इत्यादि प्रवृत्तियों को करने वाला मैं हूँ। यह चेतन पदार्थों में हो गया। सब जड पदार्थ सत्तारूप प्रतीति वाले हैं अर्थात् उन सबके अन्दर सत्ता (existence) है अर्थात् वे 'हैं' इस अवबोध के विषय हैं। उन पदार्थों में हैपना देने वाला मैं हूँ क्योंकि सच्चिदानंद ब्रह्म मुझ से अतिरिक्त कुछ नहीं। जड पदार्थों में सत् रूप से व चेतन पदार्थों में चित् रूप मैं हूँ। यह जो अपना अनुभव है, यह 'सर्वभूतस्थमात्मानम्' है।

'सर्वभूतस्थमात्मानम्' कहने से दो चीजों की प्रतीति होती है— एक भूत एवं उनके शरीर आदि कार्यकरणसंघात अथवा घट पट आदि पदार्थ, और एक मैं जो उनमें सत् चित् रूप से बैठा हुआ है। ऐसा है नहीं, इसलिये कहा 'सर्वभूतानि चात्मनि' ये सारे जो भूत दीख रहे हैं, घट पट आदि पदार्थ एवं पशु पक्षी इत्यादि प्राणी, शरीर आदि कार्यकरणसंघात और बाह्य पदार्थ, उपाधिरूप होने से मुझ एक आत्मा में अवभासित होने के कारण कल्पित हैं, मेरे में हैं, जैसे रस्सी में साँप कल्पित होता है। यह जरा सूक्ष्म दृष्टि से समझने का विचार है। इसको शास्त्रीय भाषा में अन्योन्याध्यास कहते हैं। मोटी दृष्टि से तो यह माना जाता है कि रस्सी में साँप दीखा लेकिन सूक्ष्म दृष्टि से देखो तो रस्सी में साँप जिस समय दीख रहा है उस समय में भी साँप में रस्सी दीख रही है। रस्सी में साँप दीखा यह सीधी बात है क्योंकि रस्सी ढकी हुई है और साँप दीख रहा है। उन दोनों का भेद क्या है? जो ढका हो, न दीखने वाला हिस्सा हो, उसे अधिष्ठान रस्सी कह दिया और जो है नहीं लेकिन दीख रहा है उसे अध्यास, कल्पित, मिथ्या कह दिया। रस्सी अधिष्ठान ढकी हुई है, साँप दीख रहा है, यह अध्यास हो गया क्योंकि सर्प वहाँ है नहीं। इसलिये रस्सी में साँप दीख रहा है, यह भी ठीक है। अब कुछ सूक्ष्म दृष्टि से विचार करो। साँप कितना लम्बा दीख रहा है? जितनी लम्बी रस्सी है। साँप कितना मोटा दीख रहा है? जितनी मोटी रस्सी। इसलिये साँप में दीखने वाली लम्बाई मोटाई सच्ची है, साँप झूठा है। लेकिन साँप झूठा होने पर भी साँप में दीखने वाली लम्बाई मोटाई झूठी नहीं है क्योंकि जिस लम्बाई मोटाई को अध्यास काल में हमने देखा, दीपक आने पर भी लम्बाई मोटाई वैसी ही दीखेगी। यह लम्बाई मोटाई रस्सी में है, रस्सी की लम्बाई मोटाई सर्प में अध्यस्त हो रही है। कहने को तो यह कहते हैं कि रस्सी में साँप दीख रहा है लेकिन साँप में भी रस्सी लम्बाई और मोटाई रूप से दीख रही है क्योंकि लम्बाई मोटाई रस्सी का ही रूप है, उससे भिन्न कोई चीज तो है नहीं। रस्सी में साँप और साँप में फिर रस्सी, इसी को अन्योन्याध्यास कहते हैं।

इसी प्रकार से आत्मा में पहले अनात्मा का अध्यास। एक अखण्ड चेतन के अन्दर देह आदिकों की प्रतीति, यह पहला अध्यास। देह आदियों के अन्दर फिर चेतनता और सत्ता की प्रतीति। जो उन भूतों में दीख रही है वह चेतनता और सत्ता तो सच्ची है क्योंकि

अधिष्ठान की है। 'मैं' वाला हिस्सा झूठा है लेकिन सत्ता-चित्ता झूठी नहीं है। आत्मा में अनात्मा का, अनात्मा में फिर आत्मा का अध्यास। वह आत्मा स्वरूप से अध्यस्त नहीं, केवल संबंध से अध्यस्त है। इसलिये शास्त्रों में स्वरूपाध्यास, संसर्गाध्यास आदि अनेक शब्दों का निर्माण बात तो समझाने के लिये करना पड़ता है। बात इतनी ही है कि आत्मा में इन उपाधियों का दर्शन होकर उपाधियों से आत्मा एकमेक हुआ प्रतीत होता है। एक अखण्ड आत्मा है उसके अन्दर हमको शरीर आदि का भान है, शरीर आदि की कल्पना होती है। वह भान होने के साथ ही शरीर आदि की क्रियाओं से फिर आत्मा का भान होता है। चेतनता न होती तो शरीर हिलता डुलता कैसे? इसलिये वहाँ भी चेतनता है जरूर। लेकिन होने पर भी इनका भेद कल्पित है, चेतनता सच्ची है। सम्पश्यन् के द्वारा बताया कि इस बात को जो भली प्रकार से अनुभव करता है, वही वस्तुतः आत्मयज्ञ कर रहा है, आत्मयाजी है। उसको फिर स्वाराज्य की प्राप्ति हो जाती है। यहाँ अपना स्वाराज्य नहीं समझ लेना कि अपने देश का आदमी गद्दी पर बैठकर कहे 'मैं हुक्म चलाता हूँ' तो स्वराज्य हो गया! वह स्वराज्य नहीं है। आत्मा की पूर्णराट्ता अर्थात् पूर्ण स्वतंत्रता ही स्वाराज्य है। हम सर्वथा अपनी आत्मा के अनुकूल चलें, किसी भी परतंत्रता के वश में न आयें। जड पदार्थ सभी परतंत्र करने वाले हैं। आत्मा को ही वेदों के अन्दर ज्ञान, स्वराज्य इत्यादि शब्दों से कहा जाता है। इसलिये आत्मा का राज्य पूर्ण स्वतंत्रता, किसी प्रकार का किसी उपाधि से पारतंत्र्य न होना ही स्वराज्य की प्राप्ति होती है। शास्त्र का कहना है कि मनु ने जो कुछ कहा है बिल्कुल सत्य कहा है। आजकल लोगों ने मनु महाराज को बदनाम कर रखा है। जैसे वेदों का सार लोग जानते हैं ऐसी ही मनु ने हरिजन प्रथा चलाई, यह सबको पता है, इसलिये सबको पता है कि वह बुरा आदमी था, उसने लोगों के अन्दर स्पर्शास्पर्श चलाया। वेदों के सार की तरह ही लोगों ने मनुस्मृति का सार भी जान लिया है। लेकिन शास्त्र कहता है कि मनु ने जितनी बातें कही हैं सब प्राणियों के कल्याण के लिये कही हैं।

इसी विषय में श्रुति का प्रमाण देते हैं—

'यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।।'

यह ईशावास्योपनिषद् (यजुर्वेद) की श्रुति है। जो सारे भूतों को (जैसा मनु ने कहा था) आत्मा में देखता है और सबमें स्वयं को देखता है उसे किसी के प्रति घृणा नहीं होती। इस प्रकार इस श्रुति का जो अर्थ है और उस स्मृति का जो अर्थ है, यह सब इस प्रथम पाद के अन्दर उपसंहत अर्थात् एकत्रित करके कह दिया। जो इन तीन पादों के पूर्व कही हुई प्रक्रिया से प्रविलापन करके नित्य विज्ञप्तिमात्र सत्ता चित्ता रूप तुरीयावस्था में प्रतिष्ठा को प्राप्त करता है, वह इस प्रकार से इन सब चीजों को अपनी आत्मा में ही एक कर लेता है। दूसरा कोई अधिष्ठान न मिलने के कारण यह सारा विश्व उसके लिये अपनी

आत्मा की अनंत शक्ति का ही एक प्रातीतिक अर्थात् प्रतीकमात्र बन जाता है। आत्मा की शक्ति सारे जगत् के पदार्थों के द्वारा प्रतीत हो रही है। यदि मेरे में यह शक्ति न होती तो सारा जगत् कैसे बन सकता था? इस प्रकार से उपसंहृतता हो जाती है। तब उसमें किसी प्रकार चीज की जुगुप्सा या छिपाने की इच्छा नहीं रह जाती है। जब तक इस एकत्व का अनुभव नहीं हो जाता तब तक मनुष्य में छिपने छिपाने की इच्छा चलती रहती है। अपने मन के भावों को छिपाना, शरीर के भावों को छिपाना आदि सब में मनुष्य की वृत्ति गोपन की बनी रहती है। जिसके अन्दर यह सर्वात्मदृष्टि हो जाती है वह फिर किससे छिपाये, क्या छिपाये? सब कुछ आत्मस्वरूप है।

'अन्यथा हि स्वदेहपरिच्छिन्न एव प्रत्यगात्मा सांख्यादिभिरिव दृष्टः स्यात्तथा च सत्यद्वैतमिति श्रुतिकृतो विशेषो न स्यात्।' यदि 'सर्वभूतस्थमात्मानम्' और 'सर्वभूतानि चात्मनि' यह उभयपक्ष मनु का और श्रुति का स्वीकार न किया जाये, अध्यात्म और अधिदैव के भेद को अगर न हटाया जाये तो विशेषता क्या? केवल अपने कार्यकरण-संघात के अन्दर कूटस्थ आत्मा तो सांख्यवादी कपिल भी मान लेते हैं। सामान्य विवेकी भी मान लेते हैं। अच्छी प्रकार से विचार करें तो हमको पता चल जाता है कि मन की वृत्तियों का प्रवाह चल रहा है, उसका मैं कूटस्थ साक्षी हूँ। फिर विवेक के बाद वैराग्य, शम दम आदि षट्क, मुमुक्षा, श्रवण, मनन निदिध्यासन और तब तत्त्वज्ञान, ये सब साधन मानने की क्या जरूरत है? यह सब मानना इसलिये जरूरी है कि इतना तो पता लग जाता है कि अपने मन और कार्यकरण-संघात का साक्षी कूटस्थ है, इतना तो सांख्य आदि भी विवेक कर लेते हैं। वेदांत तो प्रत्येक प्राणी के अन्दर आत्मतत्त्व को, अपने आत्मतत्त्व के अन्दर सबको समझने की प्रक्रिया है। केवल एक शरीर में कूटस्थ साक्षी बनना हो तो सांख्य से भी काम चल जायेगा। यह भूल कई बार मनुष्य कर लेता है कि अपने शरीर और अपने मन के साक्षिभाव को प्राप्त कर समझता है कि मैं कृतार्थ हो गया। 'तथा च सत्यद्वैतमिति श्रुतिकृतो विशेषो न स्यात्' यदि इतने को ही प्रामाणिक मान लें, कि सांख्य में जो कहा वैसे ही यहाँ कह दिया होगा, तो वेद आदि शास्त्र बाँचने की आवश्यकता ही नहीं है। उतना तो अपने विवेक से ही पता चल जायेगा। श्रुति की क्या आवश्यकता है? तात्पर्य यह है कि परम्परा से प्राप्त ज्ञान की आवश्यकता वहाँ पड़ती है ज़िसको सामान्य प्रत्यक्ष और अनुमान से न जाना जा सके। जहाँ जिस बात को सामान्य प्रत्यक्ष और अनुमान से जान सकते हैं उसके लिये किसी परम्परा-ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। हरा रंग, पीला रंग, लाल रंग ये घोर जंगल में बैठे रहोगे तो भी दीख जायेंगे, पशु पक्षियों को भी दीख जायेंगे; लेकिन जो मानवीय भाषा संस्कृत है, उसके अमुक शब्द का यही अर्थ होगा, अंग्रेजी के अमुक शब्द का यही अर्थ होगा, यह चाहे एकांत जंगल में पचास साल निकाल दो, तब तक पता नहीं लगेगा जब तक गुरुपरम्परा के द्वारा संस्कृत, अंग्रेजी, हिन्दी जानने वाला न बता दे कि अंग्रेजी में इसको पेपर, संस्कृत में कर्गद, हिन्दी में कागज कहते हैं।

यह श्रुतिकृत अर्थ किसी न किसी बताने वाले के द्वारा, श्रवण के द्वारा ग्रहण किया जायेगा, तभी समझ में आयेगा। इसी प्रकार अंतःकरण बदल रहा है और उसके अन्दर मैं एक साक्षी कूटस्थ द्रष्टा हूँ, इतना समझने के लिये कोई हमारा ध्यान दिलाये, यह जरूरी नहीं है, यह तो हम अपने विचार से जान लेंगे। लेकिन जैसे मैं इस शरीर का द्रष्टा साक्षी हूँ वैसे ही मैं सिर दुखने वाले प्राणी के अंतर्यामी रूप वाला हूँ, यों तब तक इस आत्मतत्त्व की गहराई में प्रवेश ही नहीं करेगा जब तक कोई पहले ध्यान न दिलाये। इतनी तृप्ति होगी कि मैं साक्षी हूँ। यह ध्यान दिलाना श्रुति का कार्य है। करना तो अपने आपको है लेकिन इसका पता तो लगे कि कौन है? नहीं तो कूपमण्डूक की तरह समझते हैं कि संसार में चलना इतना ही है कि इस पार से उस पार चले गये। इसी प्रकार से अंतःकरण के साक्षी बन गये, आगे कुछ नहीं, ऐसा प्रतीत होगा। उसके बाद श्रवण मनन की जरूरत नहीं रही यह भ्रम हो जाता है। यदि दूसरे प्राणी हैं और उनके अन्दर भिन्न भिन्न आत्मा है तो इतनी आत्माओं के रहते हुए फिर अद्वैत क्या हुआ? इसलिये अद्वितीयता की प्राप्ति नहीं होगी। इस अद्वैत की प्राप्ति नहीं होती है तो वे प्रायः अहंमात्रवाद (solipsism) में चले जाते हैं। वे कहते हैं कि जितने पदार्थ दीख रहे हैं उनमें मुझ आत्मा के सिवाय कोई नहीं है। हमारे यहाँ अनेक बौद्ध दार्शनिक ऐसे हुए हैं। परवर्तीकाल में वेदांत एकदेशी भी कोई कोई ऐसा अर्थ करते हैं। वे इस प्रकार बोलते हैं कि स्वप्न में जितने जीव दीखते हैं उनके अन्दर मेरे सिवाय कोई आत्मा नहीं, इसी प्रकार जाग्रत् में भी जितने जीव दीखते हैं उनमें भी मुझ आत्मा के सिवाय और कोई नहीं। यह प्रसंग यद्यपि इस उपनिषद् में नहीं आयेगा तथापि यह समझना बहुत आवश्यक है, इसलिये यहाँ समझ लेना। स्वप्न में जितने जीव दीखते हैं उनमें कोई जीव नहीं है, मैं ही वहाँ जीव हूँ। बाकी सब कल्पित शरीर मात्र हैं, उनमें हमको जीवत्व की प्रतीति हो रही है। इसी प्रकार जाग्रत् काल में भी जितने जीव हमको दीख रहे हैं वे जीव नहीं, केवल सारे के सारे शरीर हैं और मेरे द्वारा कल्पित हैं। उनके अंदर किसी जीव को मानने की आवश्यकता नहीं है। यह मानने वाले कहते हैं कि जब मुझे इस शरीर से साक्षी का, तत्त्व का ज्ञान हुआ तो तत्त्व ज्ञान हो गया। लेकिन इस विचार में वह एक मूलभूत भूल करते हैं जो वे खुद नहीं बोल पाते। स्वप्न के अंदर एक 'मैं' घूम रहा होता हूँ। स्वप्न में भी एक मेरा शरीर होता है और वह घूम रहा होता है। उस शरीर के आत्मा में और वहाँ दीखने वाले दूसरे शरीर के आत्मा में कोई विलक्षणता नहीं है। जिस मैं के द्वारा वे सारे जीव प्रविष्ट हैं जो उनसे आवृत है, उनमें अंतर्यामी रूप से स्थित है, वही वहाँ जो मेरा शरीर कल्पित है, उसमें भी स्थित है। उन सबमें स्थित रहने वाला वहाँ का स्वप्न वाला आत्मा नहीं। उन सब में स्थित रहने वाला तो वह है जो जाग्रत् में अंतःकरण विशिष्ट अहम् है; उसमें वे सारे के सारे अध्यस्त हैं। भूल वे यह कर रहे हैं कि स्वप्नस्थ मैं और जाग्रत्स्थ मैं को एक कर रहे हैं। स्वप्नस्थ मैं के द्वारा वहाँ के दूसरे प्राणी कल्पित नहीं है, जाग्रत् का मैं जो अधिष्ठान है, जिसका अज्ञान

होता है, उसके द्वारा वे सारे के सारे अंतर्यामी रूप से प्रविष्ट हैं। उसी प्रकार से जाग्रत् का जो मेरा यह कार्यकरण-संघात है इसमें जो आत्मा है वह वैसे ही कल्पित है जैसे दूसरे सब हैं। यह प्रत्यगात्मा ही अपने इस जाग्रत् का प्रमाण है जो स्वप्न से तुरीय में जाता है। तब जो है उसी को यहाँ पर जितने जाग्रत् के भान हैं सबके साथ एकता का अनुभव होता है, जैसे स्वप्न से जगने पर हमें अनुभव होता है कि वे प्राणी अन्य नहीं थे। यह जो स्वप्नस्थ कार्यकरण-संघात का प्रत्यगात्मा और जाग्रत्स्थ कार्यकरण-संघात का अधिष्ठान प्रत्यगात्मा है, इन दोनों को ठीक न समझने से यह भ्रम होता है और भ्रम के कारण साधना गड़बड़ हो जाती है। इसलिये कहा 'तथा च सत्यद्वैतमिति श्रुतिकृतो विशेषो न स्यात्' अद्वैतम् इति अर्थात् सारे प्राणियों में एक जैसा ही मेरा स्वरूप है। ऐसा नहीं कि किसी एक शरीर में कुछ ज्यादा और किसी दूसरे में कुछ कम हो। दूसरा शरीर वैसा ही कल्पित है, जैसे मेरा कल्पित है। वह 'मैं' तुरीय वाला, जाग्रत् वाला 'मैं' नहीं। 'सांख्यादिदर्शनैनाविशेषात्' अन्यथा जैसे सांख्य आदि दर्शन द्वैतमूलक हैं, ऐसे ही वेदांत भी हो जायेगा। सांख्य आदि दर्शन इसलिये द्वैतमूलक हैं कि वे मानते हैं कि इस कार्यकरण संघात का साक्षी, उस कार्यकरण-संघात का साक्षी, इस प्रकार अनेक साक्षी अपने अपने कर्मों के अनुसार हैं।

'इष्यते च सर्वोपनिषदां सर्वात्मैक्यप्रतिपादकत्वम्' यह वाक्य लोगों को बहुत कम अच्छा लगता है क्योंकि सारा का सारा हम लोगों का भाव है कि हम दुःख में पड़ गये हैं और कैसे इससे भागकर बच निकलें! यही लोगों की अधिकतर प्रवृत्ति है। वेदांत की समस्या बड़ी विचित्र है। वह चलता तो है अपने शरीर कार्यकरणसंघात और मन में होने वाले दुःखों से छूटने के लिये, उससे छूटने के लिये वह प्रत्यगात्मा को पकड़ने जाता है क्योंकि श्रुति कहती है कि आत्मज्ञान से ही इसकी निवृत्ति होगी। जब उस आत्मा को पकड़ पाता है तब जान पाता है कि सारे अंतःकरणों में एक मैं ही अंतर्यामी रूप से विद्यमान हूँ। इसलिये जब तक सब अंतःकरणों में मुझ सर्वान्तर्यामी के द्वारा प्रकाश नहीं होगा तब तक काम नहीं होगा। मैं 'प्रत्यग्' चला तो था अपना रोग मिटाने और पता चला कि सबका रोग मिटे बिना मेरा रोग मिटता नहीं! इसलिये लोगों को यह बात पसन्द नहीं आती। लोग कहते हैं कि हमें बचने का उपाय बता दो, दूसरों से कोई मतलब नहीं। भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि यह तो सर्वथा उस औपनिषद सिद्धान्त को इष्ट है कि सब आत्माओं की एकता होने के कारण जो कुछ भी हमारा हेय उपादेय, योग क्षेम है सो साथ ही साथ होना है, अकेले कुछ काम बनना नहीं है। दूसरे तो इसे दोष मानते हैं कि वेदांत दर्शन में मुक्ति असम्भव हैं क्योंकि सारे प्राणी अच्छे होने नहीं और जब तक सबको ज्ञान न हो तब तक मुक्ति सम्भव नहीं। इसलिये हमारा शास्त्र अच्छा कि सब अपने अपने रास्ते जाओ, सबको मुक्ति मिलती चली जायेगी। लेकिन हम औपनिषद लोग उनकी इस बात से घबराते नहीं क्योंकि वह दोष नहीं, वह तो हमारे लिये इष्ट है क्योंकि हम सब प्राणियों में एक हैं। जैसे हमारे सिर में दर्द हो रहा है और

जबरदस्ती उसे दबाने के लिये कोई दवाई नावल्जीन आदि ले लें तो हो सकता है कि उसके नशे में दर्द का पता न लगे, लेकिन दर्द का कारण हटे बिना रोग हटा नहीं। कारण ढूँढ़ने चलें तो कई कारण हो सकते हैं, समय पर न खाना हो सकता है, कब्जी हो सकती है। इसी प्रकार समाधि आदि के जोर से किसी प्रकार अपने अन्तःकरण को स्तब्ध भी कर सकते हैं लेकिन चूँकि वहाँ कारण पड़ा हुआ है इसलिये वहाँ से व्युत्थान होते ही अंतःकरण उपस्थित होने पर पुनः कार्य करना शुरू कर देता है, जैसे थोड़ी देर के लिये दर्द दब गया लेकिन रोग तो बना रहा। इसलिये बजाय इसके कि रोग को रोका जाये, अच्छी प्रकार से निदान कर देना चाहिये। इसलिये हमें इष्ट है कि हम सबके दुःख को अपना दुःख समझकर उसे दूर करें।

'अतो युक्तमेवास्याध्यात्मिकस्य पिण्डात्मनो द्युलोकाद्यंगत्वेन विराडात्मनाधिदैविके-नैकत्वमभिप्रेत्य सप्तांगत्ववचनम्'। यह जो इतना लम्बा चौड़ा सप्तांग का विवेचन चला, द्यु लोक से पृथ्वी पर्यन्त सब बता दिया, उसी में शंका चली की आपको तो कार्यकरण-संघात के अंग बताने थे, आप ब्रह्म को बताने लग गये। कहते हैं, क्या करें? चूँकि सर्वात्मैक्य उक्त प्रकारों से सिद्ध है, इसलिये यह जो बात हमने कही, यह बिल्कुल युक्ति-संगत है। यह जो आध्यात्मिक पिण्ड है इसका ही वस्तुतः विचार करने पर द्यु लोक आदि सब हमारा ही स्वरूप है,अंतर्यामी रूप से इन सबमें मैं एक ही हूँ, इसलिये ये सारे मेरा ही स्वरूप हैं। यह जो अधिदैव और आध्यात्मिक है, ये अलग अलग नहीं हैं वरन् मेरा ही अर्थात् अध्यात्म का ही रूप हैं। यह सारी त्रिलोकी मेरा ही स्वरूप है। इस एकता को लेकर ही श्रुति ने सात अंग बता दिये। छान्दोग्य उपनिषत् में भी बताया है कि वैश्वानर के अवयवों की ही वैश्वानर रूप से उपासना करना ठीक नहीं, द्यु आदित्यादि सब अवयवों वाले वैश्वानर की उपासना करनी चाहिये। उपनिषत् का बताने का ढंग है, गुरु ने कहा है 'यदि तु मेरे पास आकर पूरी बात न समझता और केवल मूर्धा की ही उपासना करता रहता तो तेरी मूर्धा गिर जाती!' यह तभी संभव है जब अधिदैव से अध्यात्म का अभेद हो, अन्यथा द्युलोकादि को गलत समझने से अपनी मूर्धा क्यों गिरती?

अन्तर्यामी की व्यापकता का अन्यत्र वर्णन है। याज्ञवल्क्य कई बार जनक की सभा में बुलाये जाते थे और जनक की सभा के अन्दर वे अनेक प्रकार से उपदेश किया करते थे। उन उपदेशों से वहाँ शाकल्य नाम का एक पुरोहित बहुत घबराता था। वह आत्मज्ञानी तो था नहीं लेकिन कुल परम्परा से वहाँ का पुरोहित बनता था। कर्मकाण्ड का बड़ा विद्वान् था। उसके मन में यह संदेह बना रहता था कि यह बराबर आता रहता है, कहीं ऐसा न करे कि मेरे को अपदस्थ कर दे, यह कहीं राजा को जँच न जाये। हमेशा से यह परम्परा चली आई है, आजकल भी चलती है। लोग घबरा जाते हैं। दूसरा कोई उनके सामने खड़ा हो तो सोचते हैं कि इसे खत्म करें। यह हमारी बाप दादों की परम्परा थी, कहीं चली न जाये। याज्ञवल्क्य महर्षि ने उसे बहुत समझाया 'मुझे पौरोहित्य की बिल्कुल

इच्छा नहीं है। जनक अध्यात्म विद्या का प्रेमी है, इसलिये सुनाने आता हूँ, इसमें तुम घबराओ नहीं।' लेकिन लोभी के मन में बात जल्दी जमती नहीं। एक बार याज्ञवल्क्य जनक की सभा में गये हुए थे। जब उसने बहुत तंग किया तो उन्होंने उसे कह दिया 'देख, अब की बार तू मेरे को बिना प्रसंग के तंग करेगा तो तेरा भला नहीं होगा, मुझे गुस्सा आ जायेगा और तू मर जायेगा।' फिर एक बार जनक ने सभा की, याज्ञवल्क्य बुलाये गये। बहुत से अध्यात्मवेत्ता आये हुए थे, बहुत बातें हुईं। याज्ञवल्क्य ने उन सबको शांत किया। उस बार की सभा में जनक की प्रतिज्ञा ही यह थी कि जो सबसे बड़ा ब्रह्मवेत्ता सिद्ध होगा, उसे दस हजार गायें दूँगा जिनके सींग सोने से और खुर चाँदी से मढे होंगे। जो सबसे बड़ा अध्यात्मवेत्ता हो, वह इन्हें ले जाये। वहाँ सभी बड़े बड़े विद्वान् उपस्थित थे, एक दूसरे को देखते रहे, कोई बोला नहीं। याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्य से कहा, 'अरे सामश्रवा! ले चल गायें।' वहाँ उपस्थित लोगों ने कहा, 'क्या तुम ही बड़े ब्रह्मवेत्ता हो?' उन्होंने कहा, 'ब्रह्मवेत्ताओं को नमस्कार करता हूँ, गायें मुझे चाहिये सो ले जा रहा हूँ।' फिर सब ने प्रश्न पूछे, गार्गी ने भी प्रश्न पूछे। सबका जवाब दिया। गार्गी ने सब लोगों को कह दिया कि मैंने इनसे कठिन से कठिन प्रश्न कर लिये हैं और इसमें संदेह नहीं कि ये श्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता हैं। इसलिये भला इसी में है कि आप लोग इनको सबसे बड़ा मान लें। उस समय गार्गी ने कई प्रश्न पूछ कर एक न पूछने लायक प्रश्न भी किया था कि यह अक्षर ब्रह्म फिर किस में प्रतिष्ठित है? सर्वव्यापक ब्रह्म हुआ, उसने यही पूछा कि यह सर्वव्यापक किसमें अधिष्ठित है। वहीं पर याज्ञवल्क्य यह वाक्य कहते हैं 'मा ते मूर्धा व्यपप्तत्' हे गार्गी! तू जानती है कि यह सर्वव्यापक तत्त्व है, समझते हुए भी तू यह पूछ रही है तो एक तरह से उस ब्रह्म का अपमान करके पूछ रही है। ऐसी बात बोलेगी तो बिना मतलब मारी जायेगी, तेरा सिर कटकर न गिर जाये।

बाकी सबने गार्गी के कहने पर कह दिया कि याज्ञवल्क्य सबमें श्रेष्ठ है। लेकिन शाकल्य खड़ा हो गया कि मेरे प्रश्न का जवाब दो। वह कर्मकाण्ड के प्रश्न पूछने लगा, प्रसंग वहाँ ब्रह्मविद्या का चल रहा था। वह पूछने लगा कि अमुक दिशा का देवता कौन, अमुक आहुति का देवता कौन आदि कर्मकाण्ड विषयक प्रश्न चलाता रहा। बीच में याज्ञवल्क्य ने दो तीन बार कहा भी 'सारे ब्रह्मवेत्ता तेरे को अंगारे सी नजरों से देख रहे हैं कि तू बिना मतबल की बातें बोल रहा है, कहीं तेरा नुक्सान न हो जाये, इसलिये वे चाह रहे हैं कि तू चुप हो जा।' शाकल्य ने अनेक प्रश्न पूछे। उन सबका जबाब याज्ञवल्क्य ने दिया। सभी उपासनाकाण्ड और कर्मकाण्ड विषयक प्रश्न थे। अंत में याज्ञवल्क्य ने कहा 'यह ब्रह्मवादियों की सभा है, कर्मकाण्डियों की नहीं। तूने बहुत से प्रश्न पूछे, अब मैं तेरे से एक ही प्रश्न पूछता हूँ, यदि तू नहीं बता पायेगा तो यहाँ अनधिकार चेष्टा करने से तू मर जायेगा।' उन्होंने पूछा 'जो सर्वव्यापक आत्मतत्त्व है, उसके बारे में भी कुछ जानता है या इधर-उधर के देवताओं और आहुतियों को ही जानता

है?' वह बेचारा यह जानता नहीं था, इसलिये उस सभा में बोलना उसकी अनधिकार-चेष्टा थी। न बताने से वह मारा गया। उन सारे ज्ञानों को जानने पर भी अन्तर्यामी के अज्ञान के कारण होने वाला जो नुक्सान है, वही बताता है कि अंतर्यामी की सर्वव्यापकता विद्यामान है।

अध्यात्म और अधिदैव की एकता यह वेदांत को इष्ट है। श्रुति में एक नियम किया है, यद्यपि यह नियम कर्मकाण्डी लोग नहीं मानना चाहते। नियम यह है कि जब तक देवता का ज्ञान न हो जाये तब तक मनुष्य को आहुति देने का अधिकार नहीं है। कर्म में तभी उसका विनियोग है जब देवता का ज्ञान करो और तब उस मंत्र से आहुति दो। यदि ऐसा न करे तो उसका सिर कटकर गिर जाता है। छांदोग्य की एक कथा है कि एक बार एक राजा यज्ञ कर रहा था। उस काल में एक ब्रह्मवेत्ता उषस्तिचाक्रायण ऐसे देश में रह रहे थे जहाँ खाने पीने की कोई व्यवस्था नहीं थी। वहाँ बहुत सालों से अकाल पड़ रहा था। उन्होंने सुना कि राजा यज्ञ कर रहा है, वहाँ चले। भूखे बहुत थे, रास्ते में एक जगह पीलवानों के गाँव में पहुँचे और कहा, 'कुछ खाने को हो तो दो।' उन्होंने कहा, 'आपके खाने के लायक कुछ नहीं है, ये उड़द हैं, हम खा चुके हैं, इसलिये जूठे हैं और बासी भी हैं। आप जैसे ऋषियों के काम का भोजन नहीं है।' ऋषि ने उनसे कहा, 'मैं यहाँ अन्न माँगने आया हूँ, धर्म के उपदेश की कामना से नहीं आया हूँ कि क्या खाना योग्य है और क्या नहीं है। इसका विचार छोड़ो, उड़द दो।' उन्होंने वे बासी और जूठे उड़द ऋषि को दे दिये और एक गिलास पानी लाकर रखा। पानी हटाते हुए ऋषि ने कहा 'दूर रखो मैं तुम्हारे हाथ का छुआ पानी नहीं पीयूँगा।' उन्होंने कहा, 'फिर आप ये जूठे बासी उड़द हमसे लेकर क्यों खा रहे हैं? पानी तो फिर भी कुएँ या नदी का है।' ऋषि ने कहा 'मैंने तुमसे कहा न कि मेरे को धर्म का उपदेश नहीं दो। ये उड़द तो मुझे प्राण रक्षण के लिये चाहिये। पानी तो सब जगह उपलब्ध है, तालाब भरे हैं।' वे जूठे उड़द खाये हुए ही ऋषि यज्ञ में पहुँच गये। सारे पुरोहित बैठ चुके थे। राजा ने विचार किया कि अब इनकी क्या व्यवस्था हो? ऋषि ने पुरोहितों से कहा कि जो वैश्वानर को बिना जाने इस यज्ञ में आहुति देगा उसका सिर कटकर गिर जायेगा। इस प्रकार ऋषि ने सबको बाँध दिया। यह तो वे सब जानते थे कि श्रुति का नियम है कि बिना अर्थज्ञान के आहुति न दे। राजा ने यज्ञ रुकने का कारण पूछा तो बता दिया। सबने विचार किया कि लगता है इनको देवता का ज्ञान है। राजा ने कहा 'मैं आपको ही इस यज्ञ का आचार्य बनाऊँगा।' उन्होंने कहा 'मुझे आचार्य नहीं बनना है। जितनी दक्षिणा इनको मिले, उतनी ही हमको मिले और भोजन आदि की व्यवस्था जैसी इनके लिये, वैसी हमारे लिये कर देना।' तब उन्होंने जाकर ऋग्वेदी को उसके देवता का, और इसी प्रकार सबको तत्तद् देवता का उपदेश दिया। वहाँ वैश्वानर अग्नि को बताते हुए इन्हीं सात अंगों का उपदेश उन लोगों को दिया। वैश्वानराग्नि की एकता को प्राप्त करके उन

सात अंगों के द्वारा ही राजा ने उस यज्ञ को पूर्ण किया और कर्म की पूर्णता को प्राप्त हुआ। इन कथाओं की जो एकता है उसी को यहाँ कह दिया 'इत्यादि लिंगदर्शनाच्च'। अर्थात् ये संकेत हुआ। यहाँ साक्षात् श्रुति ने कहा तो नहीं कि वैश्वानर इस प्रकार से द्युलोकादि सप्तांगों से एक था वरन् उसके शाप और इसके शाप को कहने से दोनों की एकता का द्योतन हो जाता है।

'विराजैकत्वमुपलक्षणार्थं हिरण्यगर्भाव्याकृतात्मनोः।' विराट् की एकता हिरण्यगर्भ और अव्याकृत अर्थात् ईश्वर की भी उपलक्षणा के लिये है। यहाँ पर तो केवल वैश्वानर की एकता बताई। कोई कहेगा कि स्वप्न और सुषुप्ति के अन्दर जीव ईश्वर से अलग होता होगा, क्योंकि यहाँ तो जाग्रत् अवस्था में ही एकता को बताया जा रहा है। किन्तु जाग्रत् अवस्था की एकता से समझ लेना कि स्वप्न और सुषुप्ति में भी एक है। उपलक्षणा है। श्रुति जब कह रही है कि जाग्रत् में वह परमात्मा है तो स्वप्न और सुषुप्ति में है, इसमें कहना ही क्या। जैसे कहीं गये और किसी ने कह दिया कि इधर से नहीं निकलना, पानी बहुत गहरा है, हाथीडूब पानी है। कोई वापिस प्रश्न करे 'अच्छा, तो फिर चींटी आदि तो पार नहीं होती होगी?' तो कहेंगे कि हाथी से उपलक्षणा है, जब हाथी ही डूब जायेगा तो उससे कम वाला तो डूबेगा ही, इसमें कहना ही क्या। स्वप्न और सुषुप्ति में दूसरा जीव और बाह्य जगत् कोई नहीं मानता। जाग्रत् में बाह्य जगत् है और उसका नियामक अंतर्यामी ईश्वर है, अथवा सांख्य की भाषा में प्रकृति है और उसका नियामक ईश्वर है, ऐसा सब मान रहे हैं कि वह इस सबका मालिक है। यह हरेक मानेगा कि जब वह जाग्रत् का नियामक है तो स्वप्न और सुषुप्ति का भी वही मालिक है, कोई दूसरा नियामक नहीं है। वही जाग्रत् से स्वप्न में और स्वप्न से फिर जाग्रत् में आता है। दूसरे उसे प्रकृति कह देते हैं। लेकिन लग रहा है कि हमारे को कोई परतंत्र कर रहा है। जब यह ज्ञान हो गया कि इस जाग्रत् के अन्दर परतंत्र करने वाला ईश्वर है और वह मेरे से भिन्न सिद्ध नहीं हो रहा है तो स्वप्न और सुषुप्ति में भेद की सिद्धि तो प्राप्त ही नहीं है। इसलिये जाग्रत् अवस्था के अन्दर 'मैं ही परब्रह्म परमात्मा हूँ' इसका वैश्वानर विद्या के द्वारा प्रतिपादन कर दिया तो हिरण्यगर्भ अर्थात् स्वप्न और अन्तर्यामी अव्याकृत अर्थात् सुषुप्ति के अन्दर 'मैं ही एक मात्र परमात्म तत्त्व हूँ,' इसमें कहना ही क्या।

'उक्तं चैतन्मधुब्राह्मणे— यश्चायमस्यां पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मम् इत्यादि'। किसी ने कहा कि यह तो आपने उपलक्षणा न्याय से सिद्ध किया, हम लोग तो बिल्कुल रेखोपरिरेखा मानने वाले हैं। दो तरह के विचारक होते हैं, एक तो ऐसे हैं जो कुछ बात अनुभव से और बाकी युक्ति से मान लेते हैं। कुछ कहते हैं कि लिखा हुआ दिखाओ तो मानेंगे, इसलिये श्रुति प्रमाण चाहते हैं। मधु ब्राह्मण (बृहदारण्यक) में कहा है 'पृथ्वी में तेजोमय अमृतमय पुरुष और अध्यात्मपुरुष एक ही हैं।' यों अध्यात्म व अधिदैव की एकता बतायी।।यों मुखतः कह दिया। 'इत्यादि' द्वारा बता दिया कि ऐसे अन्य वाक्य अन्तर्यामी व मधुब्राह्मण में कहे हैं। यहाँ जाग्रत् इत्यादि के द्वारा उपलक्षणा

की है, यद्यपि उपनिषदों में स्पष्ट भी कह दिया है। 'सुषुप्ताव्याकृतयोस्त्वेकत्वं सिद्धमेव।' किसी ने कहा कि यह तो मधु ब्राह्मण में कहा है, जो यजुर्वेद का ग्रन्थ है। यजुर्वेदी मानते रहें, यह व्यवस्थित विकल्प है। न्याय और कर्मकाण्ड के अन्दर कई प्रकार के कर्म हैं जिसमें विकल्प होता है। जैसे एक जगह कहा कि सूर्य उदय के पहले ब्रह्ममुहूर्त में अग्निहोत्र करे और दूसरी जगह कहा कि सूर्य उदय होने के बाद ही आहुति दे। श्रुति ने यह विकल्प तो इसलिये किया कि यह व्यवस्थित विकल्प है। संसार के सब आदमियों का जीवन एक जैसा नहीं, इसलिये जिनको दिन में ज्यादा काम करना होता है उनके लिये अनुदित पक्ष ठीक है। जब घर में होंगे तो सवेरे उठना अपने हाथ में है, कहीं जाना है तो सवेरे दो तीन बजे उठकर ही आहुति दो। यह अनुकूल पड़ जाता है। आजकल के लोगों का जीवन दूसरे क्रम का है। कहते हैं कि उठते ही आठ बजे हैं तो ब्रह्ममुहूर्त में आहुति कैसे देंगे? वे 'सवेरे तीन बजे उठो' यह कहने से ही घबरा जायेंगे, कहेंगे कि अग्निहोत्र को नमस्कार है। इसलिये उनके लिये उदित पक्ष अनुकूल पड़ जायेगा। यह व्यवस्थित विकल्प; जिसके यहाँ जिस वेद का अध्ययन परम्परा से हो रहा है, जिसका जो पक्ष चल रहा है, वही करे। यह सामान्य ज्ञान वाले के लिये है। अब इस प्रकार के नियमों का अतिदेश बहुत से लोग कर लेते है। आप लोगों को रोज अनुभव होता होगा कि किसी के घर में विवाह के समय सात टीकी लगाते हैं और किसी के घर ५२ टीकी लगाकर विवाह करते हैं। यह सप्तमातृकाओं और बावन मातृकाओं को बताता है। इसको न जानने से ऊपर ऊपर से एक दूसरे को जब देखते हैं तो एक को बड़ा और दूसरे को छोटा मानते हैं। वे यह नहीं जानते कि देवनागरी लिपि में बावन मातृकायें अर्थात् बावन ही अक्षर हैं। इसलिये पूरी वर्णमाला को लो तो ५२ अक्षर होते हैं और यदि उनका वर्गीकरण कर दें जैसे स्वरों का संग्रह एक में, फिर कवर्ग, चवर्ग आदि तो सात वर्ग हो जाते हैं। सात टीकी में भी बावन अक्षर वर्गीकरण से आ गये, यह कोई नहीं समझता, उल्टा दुगना तिगुना कुछ होगा यह समझते हैं। लोग पूछते हैं कि हमारे बेटे के ब्याह में तो सात ही टीकियाँ लगाई गई थीं, उनके बावन लगाई गई। सामान्य नियम इसलिये कहते हैं कि जिसके घर जैसा हो रहा है, वैसा कर लो। यह अतिदेश बहुत मुश्किल से समझ में आता है। उसी प्रकार किसी ने कहा कि यजुर्वेदी हुआ करते होंगे, उन्हें यह जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति का अभिमान होता होगा। अथर्ववेद में जाग्रत् को एक बताया है, स्वप्न सुषुप्ति में दूसरा होगा। इसलिये कहा 'सुषुप्ताव्याकृतयोस्त्वेकत्वं सिद्धमेव' विचार कर देखो कि स्वप्न में दूसरे प्राणियों की सिद्धि कहाँ है? सुषुप्ति और स्वप्न की एकता तो सिद्ध ही है। इसके लिये श्रुति वाक्य की आवश्यकता नहीं है। केवल स्पष्टार्थता के लिये मधुब्राह्मण का वाक्य यहाँ कह दिया। इससे पता लगता है कि अथर्ववेद में ऐसे कोई स्पष्ट मंत्र इसके लिये नहीं मिलते, इसलिये वहाँ से समझ लेना।

हेतु क्या है? 'निर्विशेषत्वात्'। विशेष उसे कहते हैं जो एक को दूसरे से अलग करने वाली चीज हो। सुषुप्ति के अन्दर 'मैंने कुछ नहीं जाना', इस ज्ञान के अतिरिक्त

कोई दूसरा सविशेष ज्ञान होता तो यत्किंचित् भेद करते भी। 'एवं च सति एतत् सिद्धं भविष्यति सर्वद्वैतोपशमे चाद्वैतमिति।' अद्वैतसिद्धि से प्रारंभ किया गया था, उसी में विनिगमना करते हैं कि ऐसा हो जाने पर यह सिद्ध हो जाता है कि सर्वद्वैत के उपशम हो जाने पर अद्वैत सिद्धि है अर्थात् जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और इनकी व्यष्टि समष्टि सबकी एकमात्र तुरीय में अखण्डता है। जैसे जाग्रत् अवस्था के अन्दर स्थूल में अभिमान है, वैसे ही स्वप्न के अन्दर सूक्ष्म में अभिमान है। इसलिये जाग्रत् की एकता से स्वप्न की एकता सिद्ध हो जाती है। स्वप्न जाग्रत् के संस्कारों का फल हुआ, जब जाग्रत् में ही स्थूल अभिमान को लेकर जीव और ईश्वर अलग अलग नहीं, तो उस संस्कार से उत्पन्न होने वाला जो सूक्ष्म स्वप्न का अभिमान है, उसमें भेद की कैसे सम्भावना है? सुषुप्ति के अंदर भेद कराने वाली कोई चीज नहीं क्योंकि 'सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोभिभूतः सुखरूपमेति' सुषुप्ति काल में जितने इंद्रिय मन आदि विशेष हैं जिनके कारण जीव और ईश्वर का भेद हो सकता है, ये जब वहाँ हैं ही नहीं, कोई विशेष वहाँ नहीं है, तो फिर निर्विशेष होने से भी वहाँ जीव और ईश्वर की अद्वितीयता सिद्ध हो जाती है। भाष्य में चकार आया है। चकार किसी का समुच्चय करने के लिये है। सर्वद्वैत के उपशांत हो जाने पर अद्वैत 'और' (चकार) यहाँ यह बताने के लिये है कि प्रतिबन्ध-ध्वंसमात्र से अर्थात् सर्वद्वैत के उपशांत हो जाने मात्र से अद्वैत का स्फुरण नहीं वरन् श्रुति और गुरु के द्वारा उपदिष्ट वाक्य से ही उसका स्फुरण सम्भव है। इसलिये बीच में चकार दिया अर्थात् सारे द्वैत की उपशान्ति हो और श्रुति तथा गुरु के द्वारा जीव ईश्वर की एकता का श्रवण किया हुआ हो, तब अद्वैत सिद्ध होगा नहीं तो नहीं होगा। क्योंकि सारे द्वैत की उपशान्ति समाधि में भी है, सुषुप्ति में भी है, भगवान् विद्यारण्य कहते हैं कि चाहे जितने साल की समाधि लगाओ, समाधि में द्वैत का भान नहीं रहेगा लेकिन महाप्रलय से ज्यादा समय तक तो तुम द्वैत का भान नहीं रोक सकते। जब महाप्रलय में द्वैत का भान नहीं होने पर भी अद्वैत का अनुभव नहीं तो दो-चार-छः महीने की समाधि से अद्वैत का भान कहाँ से होगा? इसलिये अद्वैत के भान के लिये सर्वद्वैत की उपशान्ति के साथ ही जीव और ईश्वर की एकता के प्रतिपादन का स्पष्ट अवबोध आवश्यक है। यहाँ चकार के द्वारा इसे स्पष्ट कर दिया। प्रथम पाद समाप्त हो गया।।३।।

चतुर्थ मन्त्र

स्वप्नस्थानोन्तःप्रज्ञः सप्तांग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक्तैजसो द्वितीयः पादः।।४।।

जैसे पहले जागरितस्थान आया था, वैसे ही यहाँ पर स्वप्नस्थान है। स्वप्न है स्थान जिसका, वह हुआ स्वप्नस्थान, स्वप्न जो स्थान ऐसा नहीं, अथवा स्वप्न और

स्थान ऐसा अर्थ भी नहीं, वरन् स्वप्न स्थान जिस जीव का, वह स्वप्नस्थान या तैजस हो गया। पहले कहा था बहिष्प्रज्ञ और यहाँ अंतःप्रज्ञ कहा। यही दोनों के अन्दर फर्क हो गया। अंतःप्रज्ञ का मतलब क्या है? जाग्रत् के अन्दर इन्द्रियों द्वारा बाहर जाना आवश्यक है। बाह्य विषयों का ज्ञान बिना ऐन्द्रिय सम्बन्ध के नहीं हो सकता। ऐन्द्रिय सम्बन्ध से अतीन्द्रियार्थसन्निकर्ष भी समझ लेना। योगी को अतीन्द्रियार्थसन्निकर्ष होता है। जैसे यहाँ बैठे हुए न्यूयार्क में घटने वाली घटना को देखा तो यह अतीन्द्रिय सन्निकर्ष हो गया। यह भी एक तरह का ऐन्द्रिय ज्ञान ही है। अपने अन्दर जो स्पर्शेन्द्रिय (त्वगिन्द्रिय) है इसका ही विशेष विकार दूसरी इन्द्रियाँ हैं। जब मनुष्य के शरीर का निर्माण होता है तो पहले त्वगिन्द्रिय ही कहीं विशेष प्रकार से मुड़कर चक्षु का रूप और कहीं दूसरी जगह दूसरे ढंग से विकसित होकर श्रोत्रेन्द्रिय का रूप ले लेती है। इसीलिये अनेक प्राणियों में अनेक इन्द्रियों का प्रत्यक्ष न होने पर भी त्वगिन्द्रिय से शून्य कोई प्राणी नहीं है। कई प्राणी हैं जिनकी आँखें नहीं होती, कई ऐसे हैं जिनके कान नहीं होते, कई प्राणियों के पैर नहीं होते लेकिन त्वगिन्द्रिय न हो ऐसा एक भी प्राणी नहीं है। जो इन्द्रिय जिसके पास नहीं होती है, उस इन्द्रिय का काम वह त्वगिन्द्रिय से सम्भाल लेता है। कोई बहरा होता है बोलने वाले के ओठों पर हाथ रखकर वह जो कह रहा है उसे सुन लेता है, हैलेनकैलर ऐसा करती थी। अंधा टटोलकर काम कर लेता है, वह भी त्वगिन्द्रिय ही हुई। सभी इन्द्रियों का काम त्वगिन्द्रिय करती है। शास्त्रों में इसीलिये त्वगिन्द्रिय को सर्वशरीरवर्ती कहा। वहाँ यह नहीं कहा कि कुछ स्थलों को छोड़कर त्वगिन्द्रिय सारा शरीर बनती है। जहाँ त्वगिन्द्रिय का लक्षण किया वहाँ कहा कि आँख आँख के गोलक में, कान कान के गोलक में रहेगा। त्वक् सारे शरीर में रहता है। जहाँ आँख कान आदि हैं वहाँ भी त्वक् है ही। दूसरे शास्त्र भी इसी बात को बताते हैं।अतीन्द्रिय सन्निकर्ष के अन्दर इस त्वगिन्द्रिय के द्वारा ही मन बहिर्गमन करता है। बाकी सारी वृत्तियों को तो रोक लिया जाता है। आँख, कान, नाक इत्यादि तो बन्द कर दिये जाते हैं, तभी चित्त एकाग्र होता है। चित्त एकाग्र होकर जब न्यूयार्क की चीज यहाँ बैठे हुए देखता है तो त्वगिन्द्रिय से ही दूर गया। इसलिये जो कुछ लोग समझते हैं कि अतीन्द्रिय सन्निकर्ष एक तरह का आश्चर्य है या कुछ दूसरे समझते हैं कि एक प्रकार का अनुमान (guess) है, वह नहीं है वरन् वह वास्तविक प्रत्यक्ष है। जैसे अन्य प्रत्यक्ष हैं, वैसे ही अतीन्द्रिय सन्निकर्ष भी एक प्रत्यक्ष ही है। यदि ऐसा नहीं होगा तो वह प्रमा नहीं होगा। अगर हम इन्द्रियों से बाहर जाकर पदार्थ को नहीं देखेंगे तो फिर वह प्रमा नहीं होगी।

इस बात को अगर वैज्ञानिक दृष्टि से समझो तो बड़ा स्पष्ट हो जायेगा। दिल्ली से टेलिविजन प्रसारण को हम देखते हैं। वहाँ एक घटना हो रही है और हम आबू में उस घटना को देख रहे हैं। घटना वहाँ होती है, दीख यहाँ रही है। कैसे दीख रही है? वहाँ जो घटना है वह चाक्षुष प्रत्यक्ष है। आँख के द्वारा जो प्रत्यक्ष है उसको उन्होंने विद्युत् तरंगो में परिवर्तित कर दिया electric waves या radio waves समझ लो। है वह विद्युत्

ही। यहाँ रखा हुआ एक औजार उस विद्युत् प्रवाह को पुनः चाक्षुष प्रत्यक्ष के योग्य रूप में बदल लेता है। चाक्षुष प्रत्यक्ष को विद्युत् प्रवाह में बदला गया और विद्युत् प्रवाह को हमने यहाँ बैठकर पुनः चाक्षुष प्रत्यक्ष में बदल लिया। इसलिये वह हमें चक्षु से प्रत्यक्ष हो गया। सांख्य की भाषा में बोलेंगे तो ठीक इससे उलटा बोलेंगे। विज्ञान की भाषा में कहा जाता है कि पेड़ पर प्रकाश टकरा कर आँख में आया। पेड़ का प्रकाश आँख (retina) में प्रविष्ट हुआ तब हमें पेड़ दीखा, सांख्यवादी कहता है कि जब हमारी चाक्षुषी वृत्ति आँख से चलकर पेड़ पर पहुँची,तब पेड़ दीखा। प्रक्रिया सारी एक ही है। फर्क इतने में ही है कि यहाँ से चाक्षुषी वृत्ति वहाँ पहुँची या जो वहाँ का रूप है वह हमारे सामने आया। बाकी प्रक्रिया में कोई फर्क नहीं है। दूसरा दृष्टांत लो। हमने पेड़ के सामने एक काँच रखा, उस काँच में हमने पेड़ का प्रतिबिम्ब देखा। यहाँ भी पेड़ का चाक्षुष प्रत्यक्ष है। आधुनिक विज्ञान वाले कहते हैं कि वहाँ से किरणें चलकर काँच पर पड़ी और काँच ने प्रतिबिम्बित (reflect) कर हमारी आँख में उस पेड़ को पहुँचा दिया। सांख्य की प्रक्रिया उसी प्रकार की है : चाक्षुषी वृत्ति चलकर काँच पर पड़ी और काँच ने उस चाक्षुषी वृत्ति को पेड़ पर भेज दिया। प्रक्रिया में खास भेद नहीं है, केवल फर्क यह है कि किधर से वृत्ति आती है। अब विचार करो कि उस दर्पण ने किया क्या? तुम्हारी चाक्षुषी वृत्ति को दूसरी जगह भेज दिया, यह उसकी शक्ति है। हम लोग अगर टेलिविजन का तात्पर्य सांख्य की भाषा में कहेंगे तो यह कहेंगे कि हमारी चाक्षुष वृत्ति टेलिविजन स्क्रीन पर पड़ी और वह चाक्षुषी वृत्ति विद्युत् प्रवाह बनकर अहमदाबाद के टेलिविजन केन्द्र पर पहुँच गई, वहाँ पहुँचकर वह पुनः चाक्षुष वृत्ति बन गई और वह वहाँ प्रत्यक्ष कर रही है। दर्पण में सांख्यवादी कहता है कि यहाँ से वृत्ति चली और दर्पण ने लौटा दी। आधुनिक विज्ञान वाला कहता है कि वहाँ जो पदार्थ था उसे उन्होंने विद्युत् शक्ति बना दिया और विद्युत् शक्ति को यहाँ के टेलिविजन ने पुनः चाक्षुष प्रत्यक्ष बना लिया। बात एक ही है। हम लोगों की प्रक्रिया में चाक्षुष वृत्ति से विद्युत् वृत्ति और वह वृत्ति पुनः चाक्षुष वृत्ति बन गई। त्वक् का प्रत्यक्ष तडित् अर्थात् विद्युत् रूप ही है। जो ऐन्द्रिय ज्ञान त्वक् के द्वारा है, वह विद्युत् आकार का ही है। वैसे भी मोटी दृष्टि से, बिजली का ग्रहण कौनसी इन्द्रिय करती है? कभी थोड़ी वोल्टेज में हाथ लगाकर देखना। ज्यादा वोल्टेज में तो सारा मामला ही हरिः ओं तत्सत् हो जायेगा! थोड़ी वोल्टेज में ऊँगली लगते ही झटका मारती है। वहाँ उसका पता नाक, कान इत्यादि किसी इन्द्रिय से नहीं चलता, त्वक् इन्द्रिय से खट पता चलता है। हुआ क्या? हमारी चाक्षुष वृत्ति टेलिविजन में पड़कर सांख्य प्रक्रिया से विद्युत् वृत्ति (त्वक् वृत्ति) बन गई और त्वक् वृत्ति वहाँ जाकर फिर ग्रहण कर लेती है। यहाँ औजार से हुआ और योगी जब अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष करता है तो इसी प्रक्रिया को बिना औजार के स्वतंत्र होकर कर लेता है। इसलिये यदि न्यूयार्क को देखना है तो आँखें बंद करना जरूरी हो जाता है। कहीं पर भी पुराणों में पढ़ा होगा कि किसी ने ऋषि से पूछा कि अमुक राक्षस ने ऐसा काम कर दिया, आप

बताइये, वह अब कहाँ है? तो पहला काम ऋषि आँखें बंद करने का करते हैं। प्रश्न होता है कि यह जरूरी क्यों? चाक्षुषवृत्ति का संग्रह करके त्वक् इन्द्रिय में परिणत कर देते हैं। अब वह विद्युत् प्रवाह बन गई और वह प्रवाह अब किसी भी देश में पहुँचाया जा सकता है। वहाँ वह चूँकि चाक्षुष वृत्ति के द्वारा गया है, इसलिये चाक्षुष प्रत्यक्ष करके वह ज्ञान पुनः हमारे अन्दर आ जायेगा। इसी को योगाभ्यासी कुछ विशेष प्रक्रिया के द्वारा और वैज्ञानिक औजारों के द्वारा कर लेते हैं। सिद्धान्त एक ही है। इसलिये कह दिया 'अंतःप्रज्ञ'।

इन्द्रिय और अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष के लिये बाहर जाना जरूरी लेकिन स्वप्न के अन्दर कहीं बाहर नहीं जाना है। किसी भी इन्द्रिय के द्वारा यहाँ बहिर्गमन का निषेध है। बाहर जायेगा तो बहिष्प्रज्ञ जाग्रत् अवस्था हो जायेगी। इसलिये स्वप्न में अंतःप्रज्ञ है अर्थात् अन्दर ही उसकी प्रज्ञा है। यहाँ भी फिर वे ही सात अंग हो जायेंगे। लेकिन वहाँ स्थूल सप्तांग थे, यहाँ सूक्ष्म सप्तांग हैं। अंग वही रहेंगे, केवल यहाँ सूक्ष्म को लेना पड़ेगा। गोलक इत्यादि को यहाँ लेने की जरूरत नहीं है। ये दोनों तो एक ही हो गये।

'प्रविविक्तभुक्' प्रविविक्त का मतलब होता है बिल्कुल अकेला। एक चीज को किसी अन्य चीज से अलग करो तो उसे अकेला कर दिया ऐसा कहते हैं। दाल चावल मिले हुए हैं, दाल को चावलों से विविक्त कर दिया अर्थात् अकेला कर दिया। गीता में भी कहा 'विविक्तदेशसेवित्वम् अरतिर्जनसंसदि'। प्रविविक्त का मतलब है प्रकर्षेण विविक्त अर्थात् बिल्कुल अकेला कर देना। जाग्रत् काल के पदार्थ में दो चीजें रहती हैं। एक ईश्वरसृष्ट पदार्थ और दूसरा तुम्हारी वासना या पूर्व-संस्कार से युक्त होकर पदार्थ का ग्रहण होना। जब ईश्वरसृष्ट पदार्थ को ग्रहण करोगे तो साथ में तुम्हारी वासना या तुम्हारे पूर्व संस्कार तो रहेंगे ही। जाग्रत् में दोनों मिले हुए हैं। जो स्त्री-शरीर प्रत्यक्ष दीख रहा है वह ईश्वरसृष्ट है और उसको मातृत्व संस्कार के कारण माँ कह रहे हैं, यह वासना से हुआ है। स्वप्न के अन्दर बाह्य-पदार्थ का अभाव है। स्वप्न वासनामात्र का ही भोग है। इसलिये प्रविविक्तभुक् कहा। यही तैजस नाम का द्वितीय पाद है अर्थात् आत्मा का दूसरा चरण है अर्थात् आत्मज्ञान का दूसरा पाद है। इससे भी आत्मा के विषय में पता लगता है।

'स्वप्नः स्थानमस्य तैजसस्य स्वप्नस्थानः।' जागरितस्थान में जो अर्थ स्थान का किया, वही अर्थ यहाँ समझना। कोई जगह नहीं कि जहाँ पहुँच जाओ। मैं जाग्रत् में हूँ, बहिर्विषय का अनुभव करता हूँ, यह एक अभिमान है, ऐसा मानना ही जागरितस्थान है। ऐसे ही मुझ द्रष्टा के अभिमान का विषयभूत स्वप्नस्थान हो गया। आनंदगिरि स्वामी ने कहा है 'द्रष्टुः ममाभिमानस्य विषयभूतमिति यावत्।' नई चीज की प्राप्ति इस स्थान में नहीं होती, केवल अभिमान बना रहता है। 'मैं राष्ट्रपति बन गया' यह अभिमान ही होता है कोई दो सींग नहीं निकल आते, वही रहते हो। स्वप्न तैजस का स्थान है। इसलिये उसे स्वप्नस्थान कह दिया। यहाँ स्वप्न शब्द का प्रयोग किया गया है तो आवश्यक है

कि स्वप्न शब्द का मतलब बताया जाये। स्वप्न का यह अर्थ हमेशा याद रखने का है। 'जाग्रत्प्रज्ञानेकसाधना बहिर्विषयेवावभासमाना मनःस्पन्दनमात्रा सती तथाभूतं संस्कारं मनस्याधत्ते। तन्मनस्तथा संस्कृतं चित्रित इव पटो बाह्यसाधनानपेक्षमविद्याकामकर्मभिः प्रेर्यमाणं जाग्रद्वदवभासते।' स्वप्न पदार्थ का निरूपण करते हैं। किसी चीज को बताने के लिये साधर्म्य और वैधर्म्य दो की सत्ता लेनी पड़ती है। जैसे अट्टालिका और झोपड़ी में से यदि तुम्हें अट्टालिका का पता है और झोपड़ी बतानी हो तो साधर्म्य बतायेंगे कि जैसे धनी लोग अट्टालिका (skyscraper) में रहते हैं अर्थात् रहने की जगह है वैसे ही झोपड़ी (hutment) भी रहने की जगह है। वैधर्म्य होगा कि अट्टालिका में कई तल्ले होते हैं, अनेक नौकर लोग खिड़कियाँ ही साफ करते रहते हैं। कमरे में एक-एक आदमी के लिये अलग-अलग टट्टी होती है। और झोपड़ी में खिड़कियाँ होती ही नहीं, सफाई करने वाले नौकर होते ही नहीं और टट्टी के लिये बाहर जाना पड़ता है। यह वैधर्म्य हो गया। साधर्म्य और वैधर्म्य के द्वारा ही किसी चीज को समझाया जा सकता है। कुछ ऐसी चीजें हैं जो तुम्हारे अनुभव का विषय नहीं, उनसे वैधर्म्य ज्ञान हो गया। किसी भी चीज को समझाने के लिये इन्हीं दो का प्रयोग करना पड़ता है। स्वप्न को समझाने के लिये इसी का प्रयोग करेंगे कि जाग्रत् से इसका साधर्म्य वैधर्म्य क्या है। उससे पता लग जायेगा कि स्वप्न किसको कहते हैं।

पहले वैधर्म्य बताते हैं। प्रज्ञा तो जैसे स्वप्न में है वैसे ही जाग्रत् में है। जाग्रत् में भी पदार्थों का ज्ञान ही होना है और स्वप्न में भी ज्ञान ही होना है। जहाँ जहाँ प्रज्ञा या ज्ञान है वहाँ वहाँ दोनों एक जाति के हैं, दोनों के ज्ञान में कोई फर्क नहीं है। लेकिन जाग्रत् प्रज्ञा में अनेक साधनों का प्रयोग होता है अर्थात् आँख, कान, नाक, रोशनी इत्यादि सब समझ लेना। जाग्रत् काल में चश्मे की जरूरत पड़ती है किताब बाँचने के लिये और स्वप्न काल में बिना चश्मे के बाँच लेते हैं। जाग्रत्-काल के अंदर अगर रात के समय देखना हो तो बिजली का बिल दिखाई देने लगता है और स्वप्न के अन्दर रात के समय भी देखते रहो, कभी बिजली का बिल नहीं आता। हम कई बार लोगों को कहते हैं कि रात में मत पढ़ा करो, यहाँ बिजली बहुत महँगी है। लेकिन यह नहीं कहते कि रात में स्वप्न न देखा करो, चाहे जितने देखो। अनेक साधनों का मतलब है कि विविध प्रकार के करण, इन्द्रिय या साधन। आगे स्पष्ट भी करेंगे कि स्वप्न के अन्दर अनेक साधनों की जरूरत नहीं है। जाग्रत्-प्रज्ञा अपने से बाहर के पदार्थों को विषय करती है, बाह्य जो शब्द आदि विषय हैं उनको ग्रहण करती है। वस्तुतः जाग्रत् में भी बहिर्विषय नहीं हैं। वहाँ भी बाहर विषय हैं इस प्रकार से अवभासन होता है क्योंकि बाह्य जो शब्द आदि विषय हैं वे भी तो अविद्या के विषय होने के कारण वास्तविक नहीं हैं, प्रातीतिकमात्र हैं। जाग्रत् काल में पदार्थ बाहर प्रतीतमात्र होते हैं बाहर हैं नहीं अतः कहा 'बहिर्विषया इव'। पहले जो 'इव' का विचार विस्तार से किया, वही यहाँ समझ लेना।

बाह्यार्थ प्रातिभासिक होने से दृष्टिसृष्टिवाद स्वीकृत हो गया। सृष्टिदृष्टिवाद वाले भी मानेंगे कि सृष्टि अविद्या से है अतः वास्तविक नहीं। इसलिये दृष्टि-सृष्टि और सृष्टि-दृष्टिवाद में फर्क केवल इतने को लेकर है कि अधिष्ठान में अंतःकरण-उपहित चेतन को या अंतःकरण-अनुपहित चेतन को पकड़े। अनुपहित को पकड़ेंगे तब सृष्टिदृष्टिवाद क्योंकि पदार्थों का कारण अंतःकरण-अनुपहित चेतन हुआ। यदि अंतःकरण-उपहित चेतन को पकड़ोगे तो उससे प्रत्यगात्मा का ग्रहण हो जायेगा, इसलिये दृष्टिसृष्टिवाद हो जायेगा। इनका फर्क केवल इतने अंशों को लेकर है। लेकिन जगत् की आविद्यिक सत्ता वेदांत के सारे वादियों को स्वीकर्त्तव्य है। इसलिये यहाँ वास्तविक बाध कहा, व्यावहारिक नहीं। दृष्टिसृष्टिवाद प्रातिभासिक और सृष्टिदृष्टिवाद व्यावहारिक कह देगा। बाह्यार्थ की वास्तविक या पारमार्थिक सत्ता नहीं, इसलिये दोनों का संग्रह हो गया। अतः यहाँ कह दिया कि बाहर पदार्थ प्रमाणसिद्ध नहीं है। प्रतीति प्रमाणसिद्ध भी होती है और प्रमाणासिद्ध भी होती है। प्रमाण का मतलब है कि किसी न किसी प्रमा के करण के द्वारा जाना जाये। यथार्थज्ञान का जो साधन वह प्रमाण हुआ। जब तुम्हारे घुटने में दर्द होता है और घुटने के दर्द से जो तुमको दुःख होता है वह दुःख प्रमाणसिद्ध नहीं है, तुम्हे ही अवभासमान तो है। तुमको दर्द नहीं हो रहा है, यह नहीं कह रहे हैं; क्योंकि जब कभी हम लोग कहते हैं कि दर्द प्रमाणसिद्ध नहीं तो आदमी झट कहता है 'हमको दर्द हो रहा है!' हमने मना कब किया कि तुमको दर्द नहीं हो रहा है। लेकिन दुःख का प्रमाण से प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। क्योंकि दुःख में रूप नहीं इसलिये आँख से उसका प्रत्यक्ष नहीं होता है। दुःख में रंग भी नहीं, कोई शब्द नहीं कि सुन लें, दुःख में कोई गंध नहीं कि सूंघकर पता लगे, दुःख का कोई स्पर्श नहीं कि छू कर बता सकें। इसलिये प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय तुम्हारा दुःख नहीं। जब प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नहीं तो प्रत्यक्षमूलक अनुमान का भी विषय नहीं बन सकता है। अर्थापत्ति इत्यादि अनुमान के ही प्रकार समझ लो। सारे प्रमाणों का प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द तीन से ही काम चल जाता है। अन्य कोई आप्तपुरुष हमें कह नहीं सकता कि तुम्हारे दर्द है। ब्रह्मा भी आकर कहे 'तुम्हारे सिर में दर्द नहीं' और मेरे सिर में दर्द होगा तो मैं ब्रह्मा से कह सकता हूँ 'मेरे सिर में दर्द है।' यदि मेरे सिर में दर्द नहीं है तो ब्रह्मा भी कहे कि दर्द है तो भी होगा नहीं। अनुमान के लिये प्रत्यक्षसिद्ध लिंग चाहिये, अतः प्रत्यक्ष न हो सकने पर अनुमान भी संभव नहीं। शब्द भी प्रत्यक्षादि से ज्ञात में शक्तिसम्बन्ध रखता है अतः प्रत्यक्षादि के अविषय को वह भी बता नहीं सकता। अतः दर्द का ज्ञान किसी प्रमाण से नहीं हो सकता। फिर भी दर्द है इसमें शंका नहीं। ऐसे ही जब हम कहते हैं कि स्वप्न प्रमाण-जन्य नहीं है तो बहुत से लोग समझते हैं कि प्रतीति ही नहीं है। किन्तु हम केवल यह कह रहे हैं कि प्रतीति है लेकिन प्रमाणसिद्ध नहीं। किसी प्रमाण से हमने इसको जाना हो, ऐसा नहीं।

ठीक इसी प्रकार से जाग्रत् के अन्दर भी हम लोगों को जितनी प्रतीतियाँ होती हैं, सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो वे सब कोई प्रमाणसिद्ध नहीं होती। प्रमाणसिद्ध इसलिये नहीं होती कि जाग्रत् की इन्द्रियों के द्वारा जाग्रत्-पदार्थ का प्रत्यक्ष हुआ जैसे स्वप्न की इन्द्रियों के द्वारा स्वप्न के पदार्थ का प्रत्यक्ष हुआ। यदि जाग्रत् से बाहर जाकर हम देख सकते तब पता लगता कि सचमुच जाग्रत् का रूप क्या है? यह स्थिति वैसी ही है जो वर्तमान भौतिकी के सामने आई हुई है। किसी भी चीज की वास्तविक गति का, वास्तविक परिमाण का और वास्तविक भार का पता नहीं चल सकता क्योंकि परिमाण, भार और गति, इनकी वास्तविकता का पता तब लगे जब तुम किसी स्थिर पदार्थ को पकड़ पाओ। जैसे यदि तुमको पता लगाना है कि यह रेल किस गति से चल रही है तो तुमको किसी स्थिर बिन्दु को पकड़ना पड़ेगा, तब कहेंगे कि इस बिन्दु की स्थिरता के कारण इसकी वास्तविक गति तीस मील प्रति घण्टा हुई। लेकिन जिसको तुम स्थिर मान रहे हो यदि वह भी दो मील की गति से चल रहा है तो इसकी गति २८ या ३२ तुम्हारे इधर या उधर जाने की अपेक्षा से हो जायेगी। अब सारे ब्रह्माण्ड में कहीं स्थिरबिन्दु है ही नहीं। पृथ्वी अपनी गति से चल रही है। ब्रह्माण्ड (Universe) भी फैल (expand) रहा है। इसके अन्दर तुमको कोई बिन्दु नहीं मिलना है कि जहाँ स्थिर होकर वास्तविक गति का पता लगा सको। गति के अधीन माप हुआ करता है। जैसे तुम्हारे पास एक फुट का रूलर है। यदि तुम किसी ऐसे यान पर बैठ जाओ जो ९३ लाख मील प्रति सैकेण्ड की गति से चल रहा हो तो वह फुटरूलर आधे फुट का रह जायेगा। यह प्रयोगों से उन लोगों ने सिद्ध किया है। यह ठीक है कि ९३ लाख मील प्रति सैकेण्ड की गति की आशा अपने को जल्दी नहीं,कि ऐसा कोई यान निकलेगा, लेकिन प्रयोगों से इतना निश्चित है कि गति से माप में अंतर आता है। आखिर पृथ्वी पर हम २४६०० मील प्रतिदिन की रफ्तार से चल रहे हैं तो इस गति का भी कुछ तो फर्क पड़ता ही है। यही हालत वजन की है। जितनी जितनी गति बढ़ती जायेगी उतना ही उतना वजन अधिक होता चला जायेगा। गतिहीन स्थान न मिलने से न हम किसी की गति को, न परिमाण को और न भार को निश्चित कह सकते हैं। इस गति वाले ब्रह्माण्ड के बाहर गतिहीन अवस्था में पहुँचो तब इसके बारे में निर्णय करके कह सकते हो। इसी प्रकार जाग्रत् अवस्था के जो हमारे अनुभव हैं, उनको ठीक से हम तब समझ सकते हैं जब जाग्रत् अवस्था के बाहर जाकर इनको देखें, तब इनकी प्रमाणसाध्यता आये। और जाग्रत् अवस्था के बाहर गये तो यह जगत् नहीं रहेगा। समाधि को रहने दो तो भी स्वप्न में जाओ तभी जाग्रत् नहीं रहता। रात में मावे की कचौड़ी डटकर खाकर सोये और स्वप्न देखा कि तीन दिन से भूखे हैं, खाने को नहीं मिला, जमाना खराब आ गया, कोई खाने को नहीं दे रहा है। उस समय पेट का माल स्वप्न की भूख को नहीं मिटा पा रहा है। इसलिये जाग्रत् से स्वप्न में जाने पर जाग्रत् को नहीं देख सकते। सुषुप्ति में या समाधि में भी नहीं देख सकते। जाग्रत्

से हटकर जब जाग्रत् का विश्लेषण करेंगे तब वह जिस जाति का है उसको ठीक तरह से जानेंगे। इसी प्रकार जब स्वप्न से हटकर स्वप्न का विश्लेषण करेंगे तब स्वप्न को ठीक तरह से समझेंगे। उससे पहले नहीं समझ सकते। इसलिये कह दिया कि अवभासमान तो है, प्रामाणिक नहीं। यह तुम्हारा कहना ठीक है कि हमको एक फुट का रूलर दीख रहा है या हमको लग रहा है कि रेल तीस मील की गति से चल रही है। यह कहने का तुमको पूर्ण अधिकार है, यह नहीं कि तुम झूठ बोल रहे हो। लेकिन यह नहीं कह सकते कि प्रमाणसिद्ध इसकी इतनी गति है। हमको यह एक फुट प्रतीत हो रहा है, पर यह नहीं कह सकते कि यह प्रमाणसिद्ध इतना ही है।

इसी प्रकार जाग्रत् के पदार्थों का अवभासन हमको होता है यह ठीक है, लेकिन विचार करो कि वह पदार्थ क्या है? उसे प्रमाणसिद्ध नहीं कह सकते इसलिये 'अवभासमाना' कह दिया।

'मनःस्पन्दनमात्रा सती' अवभासमानरूप है इसलिये वास्तविक सत्ता नहीं, मनःस्पंदन मात्र है, साक्षिवेद्य है। मन को स्पन्दित करने के लिये बाहर के विषय भले ही हों बाहर के विषय नहीं हैं, यह सिद्ध करने में तात्पर्य नहीं है। यहाँ तो केवल यह कहना है कि बाहर के विषय हैं या नहीं और हैं तो कैसे हैं, इसके बारे में हमको कोई ज्ञान नहीं है। बाहर कुछ है या नहीं और है तो कैसा है इसके बारे में हम नहीं जान सकते। जाग्रत् की इन्द्रियों से देखने पर पदार्थ ऐसे दीखते हैं, लेकिन जाग्रत् की इन्द्रियों को छोड़ देने पर उनका स्वरूप क्या है— यह पता नहीं लग सकता। हमको जब चीज दीखती है तो कोई न कोई प्रकाश वाली दीखती है। प्रकाश वाली चीज़ दीख रही है यह तो ठीक है, लेकिन यदि कोई पूछे कि रोशनी में यह लाल पीली दीखती है, इसका असली रंग, बिना रोशनी वाला, कौन सा है? तो क्या जवाब दे सकते हैं! बिना रोशनी के कोई पदार्थ है यही जानने का कोई साधन नहीं क्योंकि रोशनी बंद होने पर कुछ नहीं दीखेगा। रोशनी होने पर ही दीख सकता है। जाग्रत् के द्वारा बाहर कोई पदार्थ है या अमुक प्रकार का है, यह पता नहीं लेकिन जो कुछ वहाँ है वह जाग्रत् की इन्द्रिय से ऐसा प्रतीत हो रहा है, इतना ही निश्चित कह सकते हैं। श्रीमद्भागवत में भी यह बात आती है 'अवभात्यर्थरूपेण' एक निर्गुण ब्रह्म ही अवभात या अवभासित है। वह बाहर कुछ है जो मन में एक लहर उठाता है, वह घटाकार, लहर होती है। मन में लहर बनने का साधन तो बाहर हो गया, लेकिन हमको जो प्रत्यक्ष होता है वह तो केवल मन की लहर ही है। इसलिये मनःस्पन्दनमात्र है। यह सब जाग्रत् प्रक्रिया हुई।

'तथाभूतं संस्कारं मनस्याधत्ते' तथाभूत अर्थात् स्पंदनमात्रभूत जाग्रद्वासना से वासित जो मन है जब वह लहर उठायेगा तो उसके संस्कार उस मन में छूट जायेंगे। जिस जिस पदार्थ के आकार का मन स्पंदन करेगा, वही वही संस्कार उस मन के अन्दर

आहित होते जायेंगे। प्रज्ञा की, मन की, मनःस्पंदन की जैसी वृत्ति बनी है वैसी ही वासना बनेगी। स्वसमानाकार उत्पत्ति तथाभूत का मतलब लें तो जिस आकारकी मन की लहर उठेगी, मन का स्पंदन होगा वही वासना बनेगी। बाहर जो है वह प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। जाग्रत् के करणोंके द्वारा जब देखते हैं तब उसका प्रत्यक्ष की तरह भास होता है। है तो वह नित्य परोक्ष, इसलिये प्रत्यक्ष तो नहीं हो सकता है, केवल संस्कार को मन में आहित कर देता है।

'तन्मनस्तथा संस्कृतं चित्रित इव पटो बाह्यसाधनानपेक्षमविद्याकामकर्मभिः प्रेर्यमाणं जाग्रद्वदवभासते।' मन पर वे सारे संस्कार पड़े हुए हैं। केवल आज के जाग्रत् को नहीं समझ लेना, अनादि काल के जो कुछ भी अनुभव होते हैं वे सब संस्काररूप से मन पर हैं ही। इस प्रकार के संस्कार वाला मन वैसा ही हुआ जैसे कपड़े के ऊपर तरह तरह के छीटें डालते चले जाओ तो उसके संस्कार पड़ते जायेंगे, थोड़ी देर में पानी सूख जायेगा और रंग के छीटें पड़े रहेंगे, ऐसा दीर्घ काल तक यदि करते रहो तो जो कल्पना भी हमने कभी नहीं की, वैसे चित्र उसमें दीखने लगते हैं। मनोवैज्ञानिक स्याही का दाग बनाते हैं, उसमें किसी को कुछ दीखता है और किसी को कुछ, उसी से वे मन का पता लगा लेते हैं। ऐसे ही भिन्न भिन्न प्रकार के रंग मिलकर भिन्न भिन्न चित्र हो जायेंगे। इसी प्रकार जाग्रत् काल के छींटों के कारण स्वप्न में भी चीजें दीखती हैं जो लगता है कि जाग्रत् में कभी नहीं देखीं; लेकिन लगता ही है। जाग्रत् में हमने किसी की नाक, किसी के ओठ, किसी के पैर देखे, लेकिन स्वप्न में वे तीनों मिलकर एक नया आदमी दीख रहा है! अगर विश्लेषण करके देखोगे तो पता चलेगा कि छींटे जाग्रत् के ही हैं। स्वप्न में जाकर केवल पैटर्न (pattern) बदल जाता है। जाग्रत् और स्वप्न में यह फर्क हो गया। जाग्रत् में तो अनेक साधन थे और यहाँ स्वप्न में बाह्य साधनों की कोई अपेक्षा नहीं। मन के संस्कारोंको बाह्य साधन नहीं कह सकते, वे तो मन के हो गये। जैसे छींटे उस कपड़े (canvass) से अभिन्न हो गये, बाह्य कुछ नहीं है, ऐसे ही मन से अभिन्न हुए संस्कार को मन ही कहेंगे। उनको जानने के लिये हमको किसी बाह्य इन्द्रिय की जरूरत नहीं है। जाग्रत् में अनेकों साधन थे और स्वप्न में बाह्य साधन या करणोंकी अनपेक्षा है, कोई ज़रूरत नहीं है। यह वैधर्म्य हो गया।

प्रश्न होता है कि सब समय ही सारे के सारे छींटे उसके ऊपर पड़े हुए हैं तो इकठे ही दीखने चाहिये या एक जैसे ही दीखने चाहिये। समाधान के लिये कभी कोई लम्बा-चौड़ा चित्र देखो। उसी कपड़े को देखो तो कभी कोई हिस्सा और कभी कोई हिस्सा नज़र आता है। एक ही चीज़ एक दिन एक रूप से दीखती है और दूसरे दिन दूसरे रूप से। कपड़े पर कोई काली स्याही का दाग पड़ा हो तो जिस दिन भूख लगी होती है, उस दिन आम की तरह दीखता है और जिस दिन भूख न लगी हुई हो तो वह जूते की तरह दीखता है। यहाँ कई बार घूमने जाते हैं तो तरह तरह की चट्टानें दीखती हैं। एक

ही चट्टान में किसी को शेर दीखता है, किसी को हाथी दीखता है। जितने लोग साथ होते हैं सबको अलग अलग दीख रहा है। किसी एक अंग पर नज़र गई, उसी को प्रधानता देकर नाम दे देते हैं। स्वप्न भी एक जैसा नहीं दीखता। इस अनेकता का हेतु क्या है? अनेक प्रकार के प्रतिभानों का कारण अविद्या, काम, कर्म हैं। स्वप्न के प्रति भी कर्म की कारणता आगे बताते हैं। कर्म का फल बताया है सुख या दुःख। स्वप्न में भी सुख-दुःख का भोग होता है। स्वप्न में भी किसी दिन मावे की कचौड़ी और किसी दिन जली हुई खिचड़ी मिलती है, नियम नहीं कि हमेशा मावे की कचोड़ी ही मिलती हो। क्यों एक दिन कुछ और दूसरे दिन कुछ मिला? कर्म ही कारण हुआ। सुख के प्रारब्ध-भोग काल में मावे की कचोड़ी और दुःख का प्रारब्ध उदय होने पर जली हुई खिचड़ी मिली। केवल कर्म नहीं, कामना भी कारण है। वर्तमान मनोवैज्ञानिक फ्राय्ड और उसके अनुयायी कामना पर ही जोर देते हैं। वे कहते हैं कि सारे स्वप्न कामनाओं के कारण आते हैं। लेकिन वेदांत ऐसा नहीं मानता। कामना भी कारण है, मनुष्य के अपने पुण्य पाप रूप प्रारब्ध भी कारण पड़ जाता है। इसलिये अविद्या, काम, कर्म से प्रेरित हुआ ही प्रतीतियों को करता रहता है। अविद्या जहाँ रहेगी, वहाँ कामना और कर्म रहेंगे। अविद्या का काम है जो अभिन्न हो, उसे भिन्नवत् प्रतीत कराये। जाग्रत् में भी सारा संसार मुझ आत्मा से अभिन्न है लेकिन भिन्न प्रतीत हो रहा है। ऐसे ही स्वप्न में भी अविद्या अवश्य है क्योंकि सारी चीजें मन से अभिन्न हैं और प्रतीति के लिये, देखने के लिये दूसरी हो गई हैं। द्वैत-उत्पत्ति के लिये अविद्या की जरूरत है। जगने के बाद पता चलता है कि दूसरा कोई नहीं था। कामना इसलिये आवश्यक है कि इसी से दृश्यविशेष का निर्धारण होगा। कर्म इसलिये आवश्यक है कि सुख दुःख का भोग होता है। इसलिये अविद्या, काम, कर्म के द्वारा प्रेरित हुआ सारे संस्कारों वाला मन जाग्रत् की तरह ही वहाँ पर भी अवभासन करता है, अर्थात् प्रतीत होता है। मंगलाचरणमें 'कामजन्यान्' प्राधान्यविवक्षासे समझ लेना।

जाग्रत् के जो संस्कार हैं उन संस्कारोंसे अविद्या, काम, कर्म के द्वारा प्रेरित होकर स्वप्न दीखता है। चूँकि जाग्रत् के संस्कार पदार्थों को बाहर देखने के हैं इसलिये स्वप्न में पदार्थ अंदर होने पर भी बाहर की तरह प्रतीत होते हैं। वहाँ पदार्थों की बाह्य सत्ता नहीं, यह विस्तार से आगे बतायेंगे। इसी विषय में श्रुति का प्रमाण देते हैं— 'तथा च उक्तं - 'अस्य लोकस्य सर्वावतोमात्रामपादायेति', तथा 'परे देवे मनस्येकी भवति' इति प्रस्तुत्य 'अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति' इत्याथर्वणे।' 'अस्य लोकस्य सर्वावतोमात्रामपादय' यह शतपथ ब्राह्मण की बृहदारण्यक उपनिषद् की (४.३.९) श्रुति है। वहाँ कहा है कि जो सामने उपस्थित अनुभव है, सामने अनुभव में है, उसी को लोक कहते हैं। सामने अनुभव में आने वाला जाग्रत् है। इसलिये जाग्रत् के अन्दर आने वाले अनुभूयमान पदार्थों में ही सभी साधन सम्पत्ति है। चाहे बाह्य पदार्थों की

सम्पत्ति हो, चाहे अन्तर्जगत् की सम्पत्ति हो, चाहे परलोक की सम्पत्ति हो और चाहे मोक्ष की सम्पत्ति हो, ये सब सम्पत्ति या वित्त शब्द से हमारे यहाँ कहे जाते हैं। वित्त का मतलब केवल रुपया पैसा समझने की मूर्खता वर्तमान काल में भारतीयों में आ गई है। इसलिये जो पैसे का लेनदेन करता है उसका नाम वित्ताधिकारी रख छोड़ा है। लेकिन वित्त का मतलब व्यापक है। 'विदि ज्ञाने' धातु से विद् शब्द पहले बना। विद् अर्थात् जानना। असली धन तो हमारे यहाँ ज्ञान मानते हैं। 'श्रद्धाधनेन मुनिना मधुसूदनेन' आचार्य मधुसूदन स्वामी अद्वैतसिद्धि में लिखते हैं कि हम संन्यासियों के पास क्या धन है? श्रद्धा ही हमारा धन है। धन क्या करता है? हमारे मन में एक विश्वास दिलाता है कि समय आने पर हमारे पास कुछ है जिससे हमारा काम निकलेगा। इसीलिये पास में जेब में सौ रूपये का नोट हो तो आदमी को कुछ सुरक्षा (security) की प्रतीति (feeling) होती है। सोचता है कि जरूरत होगी तो काम आ जायेगा। न हो तो मनुष्य के मन में होता है कि न जाने कोई मुसीबत आ जायेगी तो क्या करेंगे? जिसको परमात्मा में श्रद्धा है उसको यही सुरक्षा प्रतीति (security feeling) सब समय रहती है। इसलिये श्रद्धा भी धन है। जहाँ वित्त शब्द का प्रयोग बृहदारण्यक में किया वहाँ भगवान् भाष्यकार स्पष्ट करते हैं 'मानुषं दैवं च वित्तम्' दो प्रकार के धन हैं— मानुष वित्त और दैव वित्त। संसार के पदार्थ मानुष वित्त हैं। इसमें पैसा भी आ गया, अपना शरीर भी आ गया। शरीर एक बहुत बड़ा धन है। इसके अन्दर रहने वाली इन्द्रियाँ बहुत बड़ा धन है। यह सब मानुष वित्त के अन्तर्गत है। दिल्ली में एक वृद्धा स्त्री आती थी। उसकी हमेशा यह शिकायत रहती थी कि भगवान् ने मेरे को कुछ नहीं दिया। विधवा थी। हमने उसे कई बार समझाया लेकिन नहीं मानी। एक बार हमने उससे कहा कि 'तू बहुत कष्ट में है, तू कहती है कि तेरे पास कोई धन नहीं है। हमने तेरे लिये दो लाख का इंतजाम किया है।' कहने लगी— 'आप मजाक करते हैं।' हमने कहा— 'नहीं, बिल्कुल सच्ची बात है। हमारे यहाँ एक सेठ आते हैं, उनकी आँखों में काला मोतिया उतर आया है और दोनों आँखें चली गई हैं। डाक्टर ने उनसे कहा है कि अगर दूसरे का कार्निया ट्रांस्प्लांट, आँख प्रत्यारोपित, कर दें तो उनकी आँखें आ जायेंगी। तुम अपनी आँख दे दो तो वे दो लाख रुपया दे देंगे।' कहने लगी— 'मेरे पास एक आँख ही तो है, वह भी चली जाये तो क्या फायदा।' हमने कहा— 'फिर तू ऐसा क्यों कहती है कि मेरे पास धन नहीं है। दो लाख तो तू लिये बैठी है, उतने में भी बेचने को तैयार नहीं है, इसलिये ज्यादा ही कीमत है। औरों को धोखा देती है कि कुछ नहीं है।' इसलिये शरीर, इन्द्रियाँ आदि सब मानुष वित्त में आते हैं।

दूसरा दैव वित्त है। परमेश्वर की उपासना भी एक धन है। काशी में एक गौड ब्राह्मण थे। सन् ३५ में जब पहले पहल अंग्रेज़ मिनिस्ट्री बनी तब की बात है। यूनिवर्सिटी अभी

बनी नहीं थी, काशी में क्वीन्स कालेज था जो संस्कृत का विद्यालय था। उस समय उन लोगों ने यह कानून पास किया कि वहाँ हरिजन इत्यादि भी पढ़ सकते हैं। यह कानून पास होते ही इन पण्डित जी ने इस्तीफा लिखकर भेज दिया। वे न्यायशास्त्र के विभागाध्यक्ष थे। उन्होंने सम्पूर्णानन्द जी को पढ़ाया था जो उस समय की मिनिस्ट्री में एजुकेशन व लेबर मिनिस्टर थे। उन्हें पता लगा तो उन्होंने उन्हें बुलाकर पूछा कि इस्तीफा क्यों दिया। उन्होंने कहा 'तुमने यह कानून पास किया है कि क्वीन्स कालेज में हरिजन इत्यादि भी संस्कृत पढ़ सकते हैं। मैं तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य को छोड़कर जिनके यज्ञोपवीत नहीं है, उनको नहीं पढ़ाऊँगा।' सम्पूर्णानंद जी कहने लगे— 'पंडित जी, ऐसे कौन पढ़ने आता है, आप भी बिना मतलब की बात करते हैं।' कहने लगे— 'यदि कोई आ गया तो?' तब, जैसी अपने हिन्दुओं की मल्हम-पट्टी की नीति चलती है, सम्पूर्णानन्द जी उन्हें कहने लगे— 'जब कोई आये तो इस्तीफा दे देना।' उनकी चार लड़कियाँ भी थीं, यह भी सम्पूर्णानंद जी जानते थे। ब्राह्मण हैं, इस्तीफा देंगे तो कैसे क्या होगा? और लोगों ने भी समझाया कि कोई पढ़ने आये और आपके यहाँ आये तो इस्तीफा दे देना। वे कहने लगे 'तब तो यह पाप हो जायेगा। तुमने एक कानून बनाया, उस कानून को न मानते हुए मैं अपना लाभ ग्रहण करूँ, यह पाप हो जायेगा। इसलिये ऐसा मुझ से नहीं हो सकता। यदि मैं तुम्हारा अन्न तब तक खाता रहूँगा तो मुझे पढ़ाना भी पड़ेगा।' अंत में सम्पूर्णानन्द जी ने कहा 'आपकी चार लड़कियाँ भी हैं, उनका क्या होगा?' उन्होंने कहा 'इसकी मुझे चिंता नहीं है।' दूसरे ब्राह्मण भी उन्हें समझाने लगे। उन्होंने कहा— 'शास्त्र कहता है 'धनमिच्छेद् हुताशनात्' अर्थात् अग्नि की कृपा से धन प्राप्त हो जाता है। मैं अग्निहोत्र ले लूँगा।' सब तो शास्त्रश्रद्धा वाले नहीं होते हैं, कुछ वहाँ उनका हँसी करते रहे कि अग्नि से कहीं धन मिलता है! लेकिन इन्होंने वही किया। नतीजा यह हुआ कि उनकी चारों लड़कियों का ब्याह अच्छी तरह हो गया और मरने के पहले दो मकान भी उन्होंने बना लिये। यह दैववित्त है।

जैसे केवल मानुषवित्त का भरोसा करके काम चलता है, वैसे ही केवल दैववित्त का सहारा लेकर के भी काम चलता है। इसीलिये भाष्यकारों ने जहाँ वित्तैषणा कहा, वहाँ उन्होंने दो प्रकार के वित्त कह दिये। दैव वित्त में आने वाले विवेक वैराग्य, शमदमादि, मुमुक्षा आदि सबको हमारे यहाँ सम्पत्ति ही माना है। यह मोक्ष मार्ग की सम्पत्ति हैं। चाहे मानुष, चाहे दैव, चाहे पारलौकिक वित्त हो, एक धर्म का और दूसरा मोक्ष का वित्त है। यह सब इस जाग्रत् अवस्था में ही मिलता है, स्वप्न के अन्दर नहीं। स्वप्न में अनुभव कोई नया नहीं होता है, जाग्रत् का संस्कार ही होता है। इसलिये कह दिया कि उस सर्ववित्त में से कुछ मात्रा अर्थात् कुछ हिस्सा, लेश या वासना को ग्रहण करके स्वप्न का अनुभव करते हैं। सारी वासनाओं का वहाँ अनुभव नहीं है। जाग्रत् में तो अनेक अनुभव होते

हैं, उनमें से कुछ थोड़ी सी वासनाओं को जो अपूर्ण रह गई हैं अथवा जिनका फल उस दिन अनुभव करना है, उनसे स्वप्नभोग हो जाता है। इसलिये वहाँ कामना और कर्म दोनों हेतु हैं। यहाँ बृहदारण्यक उपनिषद् स्पष्ट बता रही है कि स्वप्न जाग्रत् के संस्कारों से ही होता है। स्वप्न रूप से मन ही परिणत होता रहता है। ये दोनों बातें भाष्य में कही थीं। एक तो कहा था कि जाग्रत् के संस्कारों से स्वप्न होता है और दूसरा कहा था कि मन ही तदाकार बन जाता है। 'संस्कृतं चित्रित इव पटः' भाष्य में कहा था कि जैसे कपड़े में दाग या छींटे पड़े हुए हैं, वैसे ही मन के ऊपर वासनायें पड़ी हुई हैं। स्वप्न रूप से मन ही परिणाम को प्राप्त करता है। जिस प्रकार से छींटों के द्वारा कपड़ा ही भिन्न भिन्न आकार वाला बनता है। देखने का काम साक्षी का है।

इस विषय में अब श्रुति का प्रमाण देते हैं जो अथर्ववेद की श्रुति है। 'परे देवे मनस्येकी भवति' यहाँ पर देवता क्यों कहा? मन को भी अनेक जगह देव कहा जाता है। देव का मतलब होता है प्रकाश, चूँकि दिव् धातु का अर्थ प्रकाश होता है। इसीलिये सूर्य का एक नाम द्युमणि है मानों प्रकाश की बड़ी भारी मणि हो। मन भी तो स्वयं प्रकाश है। लेकिन आत्मा के अधीन होकर स्वयं प्रकाश है। साधारण आदमियों को, जिन्होंने विवेक नहीं किया है, लगता तो ऐसा है कि मन ही स्वयंप्रकाश है। मन के आगे बुद्धि, बुद्धि के आगे अविद्या और अविद्या के आगे आत्मा है। आत्मा तक तो कोई ही पहुँचता है। प्रायः मन को ही प्रकाशमान मानकर सारा काम चला लेते हैं। मन से वह परे है। केवल देवे कहने से मन का ग्रहण न हो जाये, इसलिये 'परे देवे' कह दिया। मन से आगे इन्द्रियों को भी हमारे यहाँ अनेक जगह देव शब्द से कहा जाता है। क्योंकि इन्द्रियाँ भी तो प्रकाशती हैं, रूप का प्रकाश आँख, शब्द का प्रकाश कान करता है इत्यादि। उन सबकी अपेक्षा वह पर देवता है जो साक्षी है। अथवा असाधारण कारण प्रकाश का हुआ, उसको पर कह दिया। किसी भी चीज के कुछ साधारण कारण होते हैं और कुछ असाधारण कारण होता है। कोई आदमी गिर पड़े तो पूछते हो 'कैसे गिरे?' वह जवाब दे सकता है कि शरीर था, इसलिये गिरा। बात यह बिल्कुल ठीक है, क्योंकि गिरने में शरीर भी कारण है। शरीर न होता तो क्या गिरता? बहुत से ऐसे जवाब मनुष्य दे देता है। कोई कहता है कि कर्मों में लिखा है, इसलिये गिरा। अगर गिरने का कर्म ही जाग्रत् न होता तो कहाँ से गिरता? कोई कहता है कि समय आ गया था, आज राहु तुला से वृश्चिक में संक्रमण कर गया, इसलिये गिरा। यह भी ठीक है। ईश्वरेच्छा से गिरा, यह भी ठीक है। जमीन थी इसलिये गिरा, जमीन ही न होती तो कहाँ पर गिरता? ये सब गिरने के कारण तो हैं लेकिन असाधारण कारण नहीं हैं। असाधारण कारण तो केले का छिलका था जिसपर पैर रपटा तो गिरा। बाकी सब साधारण कारण हैं। इसी प्रकार प्रकाश अर्थात् ज्ञान के प्रति असाधारण कारण तो परमात्मा है और साधारण कारण इन्द्रिय,

मन, पदार्थ इत्यादि सब हैं। असाधारण कारण होने से उसको कह दिया 'परे देवे'। 'मनसि' उस परदेवता के साथ मन भी देव हुआ। आरती में कहते हैं 'मनो ज्योतिर्जुषताम्' हमारा मन परमात्मा की ज्योति का सेवन करे। अभी हमारा मन संसार के पदार्थों का तो सेवन कर रहा है। संसार के पदार्थ ज्योतिरूप नहीं, जड रूप हैं। उनका सेवन करके, उन पदार्थों को देखता है, अनुभव करता है लेकिन परमात्मा का सेवन नहीं कर रहा है। इसलिये आरती करते समय प्रार्थना करते हैं 'मनो ज्योतिः जुषताम्' कि अब मन परमात्म-ज्योति का सेवन करे। मन के साथ ये सब चीजें एक रूप होकर प्रतीत होती हैं। स्वप्न के अन्दर जो द्रष्टा है वह मन की प्रधानता को लेकर देखता है। स्वप्रकाश द्रष्टा की विशेषता अगली पंक्ति में कहते हैं। 'इति प्रस्तुत्य अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति' इत्याथर्वणे' इस स्वप्न काल में, अनुभव काल में यह जो मन से एक हुआ देव अर्थात् पर देवता है वह अपनी महिमा का अर्थात् अपनी विभूति का अनुभव करता है। विभूति विशिष्ट ऐश्वर्य को कहते हैं। साधारण भाषा में भी आँख के सामने की चीजों को हम सब देखते हैं। है तो यह भी विलक्षण चीज कि आँख खोलते ही यहाँ से ठेठ ध्रुव तारे तक देख लेते हैं। विचार करो तो बड़ा भारी चमत्कार है। लेकिन सबको होता है इसलिये विभूति इसे नहीं कहा। लेकिन कोई आदमी दीवाल के उस पार की घटना को देखे तो कहते हैं कि इसमें विभूति है। इसलिये विशिष्ट ऐश्वर्य को विभूति कहते हैं। मन द्रष्टा रूप में तो जाग्रत् का हर समय अनुभव कर रहा है, चीज़ों को देखता रहता है। देखना भी मन की एक बड़ी शक्ति है लेकिन यह तो साधारण शक्ति है, सब समय रहती है, इसलिये विभूति नहीं है। स्वप्न में विशिष्ट रहती है। यहाँ देखने वाले के साथ जो दीख रहा है, यह भी देख रहा है। मन ही घड़ा बना है। जाग्रत् काल में मन देखता है लेकिन दीखने वाला नहीं बन सकता। स्वप्न के अन्दर देख भी रहा है और अपने आपको दिखा भी रहा है। इसलिये यह उसका विशिष्ट ऐश्वर्य हो गया। इसलिये अपनी महिमा का अनुभव करता है, मन ही वहाँ पर विषय बन जाता है। इस प्रकार स्वप्न का लक्षण बताया और स्वप्न के विषय में श्रुति का प्रमाण देकर स्वप्नस्थान को बता दिया।

अब इस मंत्र में जो अंतःप्रज्ञ शब्द आया है, उसमें अंतः शब्द का अर्थ करते हैं। 'इन्द्रियापेक्षयान्तःस्थत्वान्मनसस्तद्वासनारूपा च स्वप्ने प्रज्ञा यस्येत्यन्तःप्रज्ञः।' इन्द्रियों की अपेक्षा वह अन्दर है। यहाँ यह शंका समझना कि संसार के पदार्थ बाहर हैं क्योंकि इन्द्रियजन्य उनका ज्ञान होता है, ऐसे ही स्वप्न के पदार्थो का मन से ज्ञान पैदा होता है तो वे भी मन से बाहर होंगे क्योंकि जिससे जिसका ज्ञान होता है, वह उससे बाहर होता है। आँख से रूप का ज्ञान होता है तो आँख से रूप बाहर है। स्वप्न के अन्दर मन से पदार्थों का ज्ञान होता है तो वहाँ भी पदार्थ मन से बाहर होंगे। फिर अंतस्थ या अंदर कैसे कहा? वे भी तो बाहर ही हुए। समाधान है कि अंतः का अर्थ यह है कि

मन से बाहर भले ही रहें लेकिन इन्द्रियों के द्वारा जो विषयों का ग्रहण है वे विषय इन्द्रिय में पहले से मौजूद नहीं हैं, और स्वप्न में मन से जिसका ज्ञान होता है वे पहले से वासना रूप से मन पर मौजूद है। इन दोनों कारणों से स्वप्न में अन्दर प्रज्ञा होती है। इन्द्रियों की अपेक्षा अंदर है, इसलिये भी अंतस्थ है। यह जाग्रत् और स्वप्न का फर्क पहले भी बताया और यहाँ फिर बताया। इतना भेद हमेशा याद रखना चाहिये। बौद्धवाद ने जाग्रत् और स्वप्न को एक करके माना है। वे कहते हैं कि जाग्रत् का पदार्थ भी सर्वथा स्वप्न जसा ही है और वेदांत कहता है कि जाग्रत् के पदार्थ स्वप्न जैसे हैं। इसमें लोग बड़ी गड़बड़ी कर जाते हैं। जाग्रत् के पदार्थ स्वप्न जैसे ही हैं, यह बौद्धों का कहना है, जाग्रत् के पदार्थ स्वप्न जैसे हैं, यह वेदांती का कहना है। 'जैसे ही' का मतलब है कि दोनों में कोई भेद नहीं है। 'जैसे' का मतलब होता है कि कुछ भेद है और कुछ समानता है। स्वप्न और जाग्रत् में समानता तो यह है कि दोनों में अनुभूयमानता होने के कारण दोनों ही मिथ्या हैं। फर्क यह है कि जाग्रत् के पदार्थ मिथ्या विषयों द्वारा बनाये गये हैं और स्वप्न के पदार्थ मिथ्या अंतःकरण विशिष्ट चेतन जीव के बनाये हुए हैं। यही दोनों में फर्क हो गया। मोटे दृष्टांत से समझ लो कि सरकार एक हुण्डी देती है और एक व्यापारी हुण्डी देता है। व्यापारी भी हुण्डी में यही लिखेगा कि अमुक तारीख को पाँच हजार रुपया यह कागज लेते ही दे दूँगा। रिजर्व बैंक आफ इंडिया भी यही हुण्डी लिखकर देता है। लेकिन व्यापारी की हुण्डी लेने के बाद रात दिन आदमी ख्याल रखता है कि इसका व्यापार ऊपर नीचे तो नहीं हो रहा है, और रिजर्व बैंक की हुण्डी लेकर तिजोड़ी में रखकर समझता है कि मैं लखपति हूँ। हैं दोनों हुंडियाँ। जाग्रत् के पदार्थ परमेश्वर की हुण्डी हैं। इसलिये यह कहीं जाती नहीं। रात में सुराही रखकर सोओ, जब उठोगे, सुराही वहीं मिलेगी। यह रिजर्व बैंक की हुण्डी है। स्वप्न के अन्दर बढ़िया सुराही रखकर आओ और फिर स्वप्न लेकर सोचो कि वहाँ सुराही रखी है, पानी ले लेंगे, तो मिलेगी नहीं। यही फर्क है। यह व्यापारी की हुण्डी है। 'जैसे' और 'जैसे ही' का फर्क न समझने के कारण कई बार भूल हो जाती है। अपने यहाँ 'स्वप्न जैसा' है लेकिन 'स्वप्न जैसा ही' नहीं है। कुछ फर्क और कुछ समानता है।

'विषयशून्यायां प्रज्ञायां केवलप्रकाशस्वरूपायां विषयित्वेन भवतीति तैजसः।' मनःस्वभावभूत जो जाग्रत् की वासनायें हैं वे स्वप्नप्रज्ञा हो गई। उस स्वप्न प्रज्ञा को तैजस क्यों कहा? तेज का विकार है, ऐसा तैजस का मतलब नहीं समझना। क्योंकि तैजस का सीधा अर्थ होना चाहिये तेज का विकार अर्थात् तेज से बना हुआ। जैसे स्वर्ण को हम लोग तैजस पदार्थ कहते हैं क्योंकि स्वर्ण को अग्नि से बना हुआ पदार्थ मानते हैं। ऐसा क्यों मानते हैं? यह प्रकरण दूसरा है। वह इसलिये मानते हैं कि हमारे यहाँ विधान किया कि अगर अखण्ड दीपक जलाना हो तो भय रहता है कि दीपक बीच में कहीं बुझ

न जाये अतः उसमें एक स्वर्णशलाका डाल देते हैं। स्वर्ण तैजस पदार्थ है इसलिये दीपक बुझने पर भी ज्योति खण्डित नहीं मानी जायेगी। यह कर्मकाण्डी का कहना है। कर्मकाण्डी मानता है कि ज्योति बुझने पर स्वर्ण के रहते ही ज्योति जलती हुई मानी जायेगी। यह वाक्य ही इसमें प्रमाण है कि स्वर्ण तैजस पदार्थ है। उसमें कोई युक्ति समझाने के लिये दे देते हैं। लेकिन मूल तो श्रुति है। श्रुति को समझाने के लिये युक्ति सोच ली जाती है। वैसे ही क्या यहाँ भी स्वप्न तेज का विकार है, इसलिये तैजस कहा गया है— यह शंका है। लेकिन यह तेज का विकार है नहीं। स्थूल विषय बाह्य तेज से प्रकाशित होते हैं। स्वप्न के पदार्थों को जानने के लिये किसी बाह्य प्रकाश की जरूरत नहीं है। बाह्य प्रकाश की जरूरत नहीं है अर्थात् स्वप्न के अन्दर स्वयं ही प्रकाशरूपता है। बाकी सब चीजों को देखने के लिये बत्ती चाहिये लेकिन सूर्य को देखने के लिये बत्ती नहीं चाहिये क्योंकि सूर्य स्वयं प्रकाश है। इसी प्रकार जाग्रत् के पदार्थों को देखने के लिये सूर्य, चन्द्र, बिजली, तारों की रोशनी चाहिये। स्वप्न के पदार्थों को देखने के लिये सूर्य, चन्द्र या बिजली इत्यादि कोई रोशनी नहीं चाहिये। इस दृष्टि से उसको तैजस कह दिया। विषयशून्य जो प्रज्ञा है वह केवल प्रकाशरूप है। वही यहाँ विषयी अर्थात् द्रष्टा अर्थात् विषय देखने वाला बन जाता है और वही विषय रूप से हो जाता है। इसलिये तैजस शब्द से वासनामयी प्रज्ञा को ग्रहण करना पड़ेगा। वासनामयी प्रज्ञा किसी दूसरी प्रज्ञा की रोशनी की अपेक्षा नहीं करती। इसलिये उसे तैजस कह दिया।

अब 'प्रविविक्तभुक्' का अर्थ करते हैं। 'विश्वस्य सविषयत्वेन प्रज्ञायाः स्थूलाया भोज्यत्वम्। इह पुनः केवला वासनामात्रा प्रज्ञा भोज्येति प्रविविक्तो भोगः इति।' विश्व और तैजस दोनों में फर्क बता दिया। यद्यपि प्रज्ञा के लिये भोज्य तो एक जैसा ही है, जैसे रसगुल्ला जाग्रत् में भोज्य बनता है, वैसे ही रसगुल्ला स्वप्न में भी भोज्य है। भोज्यता दोनों में एक जैसी है। लेकिन दोनों में फर्क यह है कि एक जगह रसगुल्ला है और उसमें भोज्यता है, उसका भोग है, यह जाग्रत् अवस्था है। रसगुल्ला नहीं है और उसका भोग है, यह स्वप्नावस्था है। भोज्यरूपता तथा भोग का विषय, रसगुल्ला, दोनों में एक जैसा है लेकिन एक जगह रसगुल्ला और उसमें भोज्यता और दूसरी जगह केवल भोज्यता ही भोज्यता, रसगुल्ला नहीं है। यही दोनों में फर्क है। इसलिये कह दिया कि वहाँ सविषयता है, विषय के साथ है, विषय के साथ प्रज्ञा है, इस दृष्टि से ही उसे स्थूलभुक् कह देते हैं। स्थूलभूक् का मतलब यह नहीं कि यहाँ मोटा और वहाँ बारीक रसगुल्ला है! स्थूल का मतलब सविषय भोग है। जहाँ निर्विषय भोग होता है, वह सब हमारे यहाँ सूक्ष्म भोग कहा जाता है। संसार में अनेक चीजों का भोग हम लोग बिना विषय के करते हैं। आबू में रहने वाले बहुत से लोग डरते रहते हैं कि सड़क पर भालू न पकड़ ले। उनसे पूछो कि भालू कभी देखा? कहते हैं, नहीं लेकिन पकड़ लेता है। छोटे बच्चे हौवे

से डरते रहते हैं। बड़ी उम्र वाले होकर भी भूतों से डरते रहते हैं। ये सब बिना विषय के भोग्य हैं। डरते हैं लेकिन विषय वहाँ कुछ नहीं है। यदि भूत छाती पर बैठ गया है या भालू ने तुम्हें पकड़ लिया हो उस समय तो स्थूलभूक् सविषय भोग है। उस समय का डर वास्तविक है। उससे पहले का डर बेकार का है।

इह अर्थात् स्वप्न काल में केवल वासनामात्र की ही प्रज्ञा को भोग्य कहना पड़ गया। पदार्थ यहाँ है ही नहीं। इसलिये कह दिया कि यहाँ एकांत (प्रविविक्त) भोग है। जाग्रत् में भी वासना तो अवश्य है लेकिन साथ में विषय भी है। स्वप्न के अन्दर भी वासना है लेकिन विषय नहीं है। जाग्रत् में भी बिना वासनाओं के भोज्यता नहीं आया करती। इसलिये वासना दोनों में रहेगी, नहीं तो भोज्यता आयेगी ही नहीं। लेकिन स्वप्न के अन्दर केवल वासना है और जाग्रत् में वासना के साथ विषय भी है। यों जाग्रत् और स्वप्न का भेद और दोनों की समानतायें दोनों याद रखनी चाहियें। जाग्रत् और स्वप्न सर्वथा भिन्न है, यह मानने वाले लौकिक हैं, चार्वाक हैं, अन्य भी कुछ वादी हैं। वे कहते हैं कि जाग्रत् व स्वप्न में कोई समानता ही नहीं। इसलिये उनसे जब स्वप्न की बात करो तो एक ही सूत्र रहता है कि स्वप्न छोड़ो, सच्ची बात करो। वे भूल जाते हैं कि जाग्रत् का अनुभव और स्वप्न का भी अनुभव हम ही कर रहे हैं, छोड़ें कैसे? जब तक दोनों अनुभवों का विश्लेषण नहीं करोगे तब तक दोनों पर लागू होने वाला एक सिद्धान्त पता कैसे लगेगा? कुछ लोग तो स्वप्न को सर्वथा भिन्न जाति का मानते हैं। लौकिक चार्वाक इत्यादि ऐसा ही करते हैं और स्वप्न का विचार नहीं करना चाहते। फ्राय्ड की सबसे बड़ी देन उन्नीसवीं शताब्दी में यही थी कि उसने स्वप्न का विचार किया। उससे पूर्व भारतेतर देश वाले केवल जाग्रत् का विचार करते थे। उसने कुछ स्वप्न के विचार की प्रवृत्ति की प्रेरणा दी। लेकिन तीसरी चीज सुषप्ति अभी भी उनकी पकड़ में नहीं आई। जब तक जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों का विचार नहीं करेंगे तब तक अनुभव की पूर्णता का विचार कहाँ हुआ? और फ्राय्ड के प्रयत्न करने पर भी अभी वे डटकर दो पैर पर भी नहीं खड़े हैं। अधिकतर वैज्ञानिक कहते हैं कि मनोविज्ञान (Psychology) तो कोई विज्ञान ही नहीं है! लेकिन हम लोग तीन अनुभूतियों की एकता करके चलते हैं। एक तरफ वे लोग हैं जो स्वप्न और जाग्रत् को सर्वथा भिन्न मानते हैं। एक तरफ वे लोग हुए जिन्होंने जाग्रत् और स्वप्न को सर्वथा अभिन्न माना है। वेदांत शास्त्र जाग्रत् और स्वप्न को कुछ चीजों में समान और कुछ में भिन्न मानता है और यही अनुभव के अनुरूप भी है। इसलिये यह विचार याद रखने का है। जो भेद जाग्रत् स्वप्न का बता दिया, इसको छोड़कर बाकी चीजों में जाग्रत् स्वप्न एक जैसे हैं, सप्तांग और उन्नीस मुख दोनों में समान हैं। यह दूसरा तैजस पाद हो गया। इन दो पादों को बताकर अब तीसरा पाद बताते हैं।

पञ्चम मन्त्र

यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक्चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः।।५।।

सुषुप्ति अवस्था में जाकर मनुष्य की सारी ही इन्द्रियाँ और मन उपरत हो जाते हैं। मन और इन्द्रियग्राम का कार्य न करना एक चीज़ है और उपरत होना और चीज है। यह हम लोग प्रायः भूल जाते हैं। एक बात समझने के लिये किसी चीज को मानते हैं और फिर मानते मानते उसकी स्वतंत्र सत्ता मान बैठते हैं। यह ज़रा ठीक से समझना। हमको सामने पेड़ दीख रहा है। पेड़ देखने रूपी अनुभव को समझने के लिये आँख रूपी इन्द्रिय माननी पड़ती है। आँख रूपी इन्द्रिय कभी किसी के अनुभव में नहीं आती है। बाहर इन्द्रिय नहीं, यह तो गोलक है क्योंकि यह तो जिन लोगों के अन्दर की आँख खराब हो जाती है, उनकी भी बनी रहती है। इन्द्रिय देखने की शक्ति है। देखने की शक्ति-रूप जो इन्द्रिय है उसको मानना क्यों पड़ता है? क्योंकि हमको पेड़ दीख रहा है इसलिये। कर्ण इन्द्रिय को इसलिये मानना पड़ता है कि सुनाई दे रहा है, बहरे को सुनाई नहीं देता तो उसका कान (बाहर की गोलक) ऐसा ही होता है, कुण्डल भी पहन लेता है, कान बड़े सुन्दर लगते हैं, लेकिन किसी काम के नहीं, क्योंकि हल्ला भी करते रहो तो उसे सुनाई नहीं देता, श्रोत्रेन्द्रिय नहीं है। आँख की इन्द्रिय या कान की इन्द्रिय कभी किसी के अनुभव में नहीं आती है, लेकिन कार्य देखकर मानना पड़ता है कि शक्ति ज़रूर है, इसलिये कार्यानुमेय है। कई बार मनुष्य यह सोच लेता है कि कार्य न रहने पर भी इन्द्रिय बनी रहती होगी। इसीलिये जब कभी कहते हैं कि गहरी नींद में इन्द्रिय नहीं, मन नहीं तो आदमी झट प्रश्न करता है कि वहाँ हमको पता नहीं लेकिन इन्द्रियाँ ज़रूर ही पड़ी रहती होंगी। इन्द्रिय तो शक्ति है। जैसे कोई कहे कि बिजली का खटका (switch) दबाने पर भी पंखा नहीं चल रहा है लेकिन बिजली तो होगी ही। पंखा चले, यही तो बिजली होने में प्रमाण है। यदि पंखा नहीं चल रहा है तो वही प्रमाण है कि उस समय हमारे मकान में या उस तार में बिजली नहीं है। यह नहीं कि यहाँ से बिजली जाते दीखे तब मानें। इसी प्रकार सुषुप्ति में हमको दीखता नहीं, सुनाई नहीं देता, उस समय मनन, निश्चय कुछ नहीं कर सकते तो ये सारी की सारी इन्द्रियाँ उस समय में नहीं हैं। ऐसा नहीं समझना चाहिये कि ये सब इकट्ठी होकर कहीं एक जगह जाकर बैठ जाती हैं। शक्ति कार्य से ही अनुमित होती है। जहाँ जहाँ कार्य नहीं, वहाँ वहाँ शक्ति नहीं। इसलिये सुषुप्ति में इन्द्रियग्राम की कार्यकारिता नहीं रहती, उपरत या लीन हो जाता है। इन्द्रियाँ नष्ट नहीं होतीं। नष्ट होने और उपरत होने में फरक है। जैसे हम चुपचाप बैठे हैं उस समय में हमारे खड़े होने की शक्ति नहीं है लेकिन वह शक्ति नष्ट नहीं हुई है क्योंकि अगले क्षण चाहने पर खड़े हो सकते हैं, उस समय कार्यकारी शक्ति नहीं है। यही उपरति

का मतलब है। इसी प्रकार जब सुषुप्ति से जाग्रत् में आते हैं तो ऐसा नहीं कि नई आँख या इन्द्रियाँ लानी पड़ती हों। उस समय उपरत थीं। जब मन इच्छा करेगा या प्रारब्ध उदय होगा, तब जगने के साथ ही कार्यकारी हो जायेंगी। इन्द्रिय या करण का अर्थ ही होता है 'असाधारणं कारणं करणम्' कार्य होने पर ही तो कारण है, बिना कार्य के कारण नहीं होता है।

संसार से उपरति है, संसार से उसको उपरामता है, ऐसा लोक में भी प्रयोग करते हैं। इसका मतलब यह नहीं कि वह संसार में कुछ करता नहीं है। इसका मतलब इतना ही है कि संसार के पदार्थों को छोड़ने की शक्ति उसमें विद्यमान है, काम वह चाहे जितना कर रहा हो। काम करते समय नहीं लगता है कि इसमें उपरामता है, लेकिन जिस क्षण चाहेगा उसी क्षण उसे छोड़ देगा, इस शक्ति के कारण ही कहते हैं कि उपरत है। अनासक्त पुरुष तो वह हुआ जो आसक्ति नहीं करता। इसलिये वैराग्य और उपरति हमारे यहाँ अलग अलग गिनाये गये। विवेक, वैराग्य, शम, दम और तब उपरति; दोनों में कुछ फरक है। वैराग्य में तो मनुष्य राग से विपरीत दशा में जाता है। आसक्ति है, उसे छोड़ता है तो अनासक्त बनता है। क्योंकि आसक्ति स्वभाव से प्राप्त है इसलिये अनासक्तिका पाठ पढ़ाना पड़ता है। लेकिन जब आगे जाता है तो वह अनासक्ति को रातदिन अपने ऊपर चढ़ाये नहीं रखता है। फिर वह क्या हो जाता है? उपरत हो जाता है। किसी भी समय कोई चीज उसको आसक्ति से दुःख देने वाली प्रतीत हुई तो झट अनासक्ति के औजार से काट दिया। बाकी समय जब व्यवहार कर रहा है तो कर रहा है। जब उसे जरूरत पड़ेगी तब वैराग्य निकाल लेगा और जब जरूरत नहीं तो अन्दर रख लेगा। शुरू शुरू में छोटे बच्चे को एक पैंसिल कहीं से मिल जाये तो घर में कोई कागज सुरक्षित नहीं रहेगा। जिस किसी कागज पर रेखायें खींचता रहेगा। जब बड़ी उम्र हो गई तो आवश्यक होने पर रेखायें खींच लेता है, काम कर लेता है, बाकी समय पैंसिल सम्भाल कर रखता है। जिस दिन स्याही खत्म हो गई तो उस पैंसिल से काम कर लेता है। ठीक इसी प्रकार उपरति काल में हर समय विरक्ति, अनासक्ति का प्रयोग नहीं करता। जब आवश्यकता हुई तब प्रयोग कर लिया। इसी प्रकार सुषुप्ति के अन्दर इन्द्रियाँ, अन्तःकरण खत्म नहीं होते, उस समय काम नहीं करना है इसलिये अन्दर रख दिये हैं। यही सुप्ति की दशा है। नहीं तो सुप्ति की दशा मृत्यु हो जायेगी। यदि नष्ट हो गये तो उसका नाम मृत्यु है, मृत्यु होने पर कोई वापिस नहीं आता। और यदि जब चाहे वापिस प्रयोग कर लें तो सुप्ति है।

'न कंचन कामं कामयते' काम्यमान पदार्थ अर्थात् सारा ही संसार काम में समझ लो। अथवा पुण्य पाप का हेतुरूप पुत्र आदि की कामना काम है। कामना मनुष्य को मूलतः दो चीजों की होती है : पुण्य और पाप। जब शास्त्र के अनुकूल कुछ कामना उत्पन्न होती है तो पुण्य का कारण और जब शास्त्र के प्रतिकूल कुछ कामना उत्पन्न होती

है तो वह पाप का कारण। जितनी जितनी शास्त्रानुकूल पदार्थों के अन्दर सुख-बुद्धि करोगे उतना उतना पुण्यमय जीवन बनता जायेगा। वह होवे कैसे? प्रवृत्ति का हेतु शोभनाध्यास होता है। किसी भी चीज़ को अच्छा मानोगे तब उसमें प्रवृत्ति होगी। शोभनाध्यास भी कभी प्रतिबद्ध और कभी अप्रतिबद्ध होता है। हमको सामने बढ़िया सुन्दर मोतीचूर का लड्डू दीख रहा है। उस लड्डू को देखते ही, उसमें से बढ़िया घी की सुगन्धि को सूँघते ही शोभनाध्यास हो गया कि यह खाने के लायक है। जैसे ही खाने के लिये आगे बढ़े, किसी ने कहा— 'अरे, इसे नहीं खाना, इसमें जहर पड़ा हुआ है।' तो शोभनाध्यास तुरंत प्रतिबद्ध हो गया। अभी भी वह लड्डू शोभन तो दीख रहा है, सुन्दर तो दीख रहा है, लेकिन उसकी जो शोभनता के द्वारा हमको प्रवृत्ति कराने की सामर्थ्य थी, वह प्रतिबद्ध हो गई। यदि यह प्रतिबंधक न होता तो प्रवृत्ति हो जाती। अब वह प्रतिबंधक फिर से खुल भी सकता है। उसने कहा— 'अच्छा खा लो, मैं तो तुम्हारी परीक्षा कर रहा था।' या 'मजाक कर रहा था।' फिर उसमें प्रवृत्ति हो सकती है। लेकिन जब तक वह प्रतिबंधक बैठा हुआ है तब तक प्रवृत्ति नहीं होगी। इसलिये अप्रतिबद्ध शोभनाध्यास प्रवृत्ति का हेतु है। यह जो प्रतिबंधकता है, यही असल में हमारे सुधरने का एकमात्र साधन है। पदार्थ के अन्दर शोभनता तो प्रतीत होती है। किसी का भी पदार्थ दीखा तो मन में आता है कि दबा लो। दूसरे की घड़ी पड़ी हुई है, अण्टी में दबाकर चल दो। आजकल तो लोग होटलों में जाकर वहाँ से तौलिया साबुन की बट्टी ही चुरा लाते हैं! बाद में हमको सुनाते भी हैं कि हमने ऐसा ऐसा काम किया। वहाँ लिखने के लिये लैटर पैड रखते हैं तो वही उठा लाते हैं और कहते हैं कि हमारे लिये ही तो रखे थे! वहाँ ज़रूरत के लिये रखे थे, यह नहीं समझते। ऐसी कोई चीज देखकर उसमें स्वायत्त करने की प्रवृत्ति करना शोभनाध्यास के कारण है। शास्त्र ने उसे प्रतिबद्ध कर दिया कि यदि तुम किसी चीज़ की चोरी करते हो तो उसके बदले में नरक के अन्दर सूचीवेध का भोग करना पड़ेगा। यह स्थूल प्रतिबंधक हो गया। उससे थोड़ा सा सूक्ष्म प्रतिबन्धक हुआ कि तुम जिसकी चीज उठाकर लाये हो, जन्मान्तर में उसे दसगुना करके लौटानी पड़ेगी। ये सब प्रतिबंधक हैं। यदि यह प्रतिबंधक तुम्हारे अंदर है तब तो रोक लोगे और धीरे धीरे इस प्रतिबंधक का अभ्यास पड़ जायेगा।

इसीलिये गुरुमत अर्थात् प्रभाकर के मत में शास्त्र के अन्दर जितने कर्मों का फल बताया है, वह सब केवल प्रवृत्ति और निवृत्ति कराने के लिये है। शास्त्र का तात्पर्य केवल नियोग है और कुछ नहीं है। यह बात शुरू शुरू में लोगों को नहीं बता पाते क्योंकि बताने पर फिर प्रतिबंधक ही नहीं रहता है। विलायत में कई बातें ऐसी हैं जो अंग्रेज नहीं करते। उनसे आगे प्रश्न करो कि क्यों नहीं करते? तो उनका जवाब ही होता है 'ऐसा किया नहीं जात' (This is not just done)। इसलिये उनके मन में कल्पना ही नहीं आती कि इसका फल भी होता है या नहीं। यह नियोग है। धीरे-धीरे प्रतिबंधक का अभ्यास

करते-करते जब शोभनाध्यास हट गया तो फिर प्रतिबंधक की जरूरत नहीं पड़ती। प्रबुद्ध व्यक्ति तुम्हारी चीज़ इसलिये नहीं उठाता है कि हमको ईश्वर डण्डा मारेगा या हमको नरक में जाना पड़ेगा, ऐसी बात नहीं। बल्कि उसका शोभनाध्यास हट गया है अतः किसी व्यक्ति की चीज को लेना ही नहीं। मन में ही नहीं आ सकता कि यह कोई ढंग की अर्थात् शोभन चीज़ है। सभ्य पुरुष रास्ते में दुनिया-भर की औरतों को देखते हैं। पर उनके मन में ही नहीं आता कि भोग्या बना लूँ। ऐसा नहीं सोचते कि 'परस्त्री गमन से पाप न होता तो कर लेते'। यह बात भले आदमी के मन में नहीं आती। वस्तुतः सारे शास्त्रों का प्रयोजन केवल तुमको ठीक काम में लगाना है। ऐसा करने के लिये स्थूल या सूक्ष्म कुछ भी प्रतिबंधक डाल दिया जाता है। जब तुम्हारा शोभनाध्यास हट जायेगा तो फिर उस प्रतिबंधक की कल्पना की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। पूर्वमीमांसा इसीलिये ईश्वर को अपने दर्शन में स्वीकार नहीं करती। इस बात को लेकर दूसरे भक्तों को बड़ा बुरा लगता है। कहते हैं कि यह कैसा धर्म है जिसमें भगवान् को ही नहीं माना? पूर्वमीमांसा इसलिये ईश्वर को नहीं मानती कि ईश्वर को सामने देखते ही मनुष्य के मन में कर्मफल की तरफ दृष्टि चली जाती है और मीमांसा हमको सर्वथा फल की आकांक्षा से रहित होकर कर्म करना सिखाना चाहती है और वह तभी हो सकता है जब तुम्हारे मन से यह निकल जाये कि मैं करूँगा तो भगवान् फल ज़रूर देंगे। वैसे कर्म के अंत में लोग कह देते हैं 'श्रीकृष्णार्पणमस्तु' लेकिन मन में होता है कि हज़ारगुना होकर वापिस आयेगा। नहीं आयेगा यह हम नहीं कह रहे हैं, लेकिन यह भावना मन में बनी रही-तो कृष्णार्पण किया कहाँ? दिल्ली में हमारे हनुमानजी के मंदिर के बारे में लोगों की शिकायत ही यह है कि वहाँ पुजारी प्रसाद रख लेता है और दो लड्डू दे देता है। काशी के संकटमोचन के पुजारी बहुत अच्छे हैं, वहाँ सारे लड्डू वापिस ही दे देते हैं, केवल एक लड्डू पुजारी रख लेता है। हम कहते हैं 'वहाँ चढ़ाने क्यों गये थे, अपने घर में चढ़ा लेते तो सारे वापिस मिल जाते।' पहले ही सोच रहे हैं कि कितना वापिस मिलेगा तो चढ़ाया क्या? ईश्वर की दृष्टि को लेने से फलाकांक्षा रह जाती है। बिना ईश्वर के उसकी आशा टूट जाती है, इसलिये कहा कि ईश्वर को बीच में न लाओ। ऐसा नहीं कि वे स्वीकार नहीं करते थे लेकिन साधक के लिये यह आवश्यक था, इसलिये कह दिया। सुषुप्ति में भी शोभनाध्यास न रहने से तब किसी भी काम की कामना नहीं करते। जैसे सुषुप्ति में नहीं करते, ऐसे ही जाग्रत् के व्यवहार में हो तब निष्कामी कहा जाता है।

'दर्शनादर्शनवृत्त्योस्तत्त्वाप्रबोधलक्षणस्य स्वापस्य तुल्यत्वात्सुषुप्तिग्रहणार्थं यत्र सुप्त इत्यादि विशेषणम्।' पाँचवें मंत्र की व्याख्या करने के लिये जाग्रत् व स्वप्न किस प्राकर सुषुप्ति से भिन्न होते हैं इसे बताते हैं। चतुर्थ मंत्र की व्याख्या करते हुए अर्थात् स्वप्न का रूप बताते हुए तो यह बताया कि स्वप्न और जाग्रत् में क्या समानता और क्या असमानता अथवा साधर्म्य और वैधर्म्य है। अब जाग्रत् स्वप्न को एक बना देते

हैं और तदपेक्षया सुषुप्ति को अलग कर देते हैं। दर्शन अर्थात् जहाँ किसी चीज़ का अनुभव होता है। 'चीज़ का अनुभव' चीज़ पर जोर है। और जहाँ किसी चीज़ का अनुभव नहीं होता है उसे अदर्शन वृत्ति कहते हैं। स्वप्न में भी दीखता तो है ही लेकिन चीज नहीं दीखती। वहाँ संस्कारों के, वासनाओं के कारण मन ही दीख रहा है। जाग्रत् में चीज़ दीखती है इसलिये उसे दर्शन वृत्ति कहा और दूसरे को अदर्शन वृत्ति कहा। प्रश्न होता है कि दर्शन शब्द का प्रयोग यहाँ भाष्य में क्यों किया? क्योंकि प्रायः दर्शन शब्द तो चीज़ देखने में या कुछ भी देखने में हो सकता है। दर्शन शब्द के प्रयोग का तात्पर्य क्या है? यह वृत्ति शब्द से स्पष्ट कर दिया। यह नहीं कहा कि 'दर्शनादर्शनयोः तत्त्वाप्रबोधलक्षणस्य' दर्शन अदर्शन न कहकर दर्शनवृत्ति और अदर्शनवृत्ति कहा है। दृष्टि की वृत्ति बनेगी जाग्रत् काल में। स्वप्न में अंतःकरण की वृत्ति तो है लेकिन दृष्टि की वृत्ति नहीं है क्योंकि इन्द्रियजन्य ज्ञान नहीं है। इसलिये अगर वृत्ति को भूल जाओगे तो दर्शन-अदर्शन खटकेगा। एक जगह इन्द्रियों की वृत्ति है और दूसरी जगह इन्द्रियों की वृत्ति नहीं है। दोनों जगह इनको एक करके कहते हैं 'तत्त्वाप्रबोधलक्षणस्य' दोनों ही जगह तत्त्व का अप्रबोध है। तत्त्व का जो अग्रहण है वह दोनों जगह एक जैसा ही है। इन्द्रियों की वृत्ति से भी हमने नामरूप का ग्रहण किया, उससे भी हमने तत्त्व को ग्रहण नहीं किया। जहाँ इन्द्रियों की वृत्ति नहीं केवल वासनाजन्य अंतःकरण वृत्ति है वहाँ भी हमने तत्त्व को ग्रहण नहीं किया। दोनों जगह तत्त्व का अज्ञान एक जैसा है। भिन्न भिन्न औजार होने से ज्ञान तो भिन्न भिन्न हुआ लेकिन तत्त्वज्ञान न होना एक जैसा ही है। अब जैसे तत्त्व का अज्ञान इन दोनों अवस्थाओं में, वैसे ही तत्त्व का अज्ञान सुषुप्ति में है। जाग्रत् कर्मप्रधान हो गया, स्वप्न कामनाप्रधान और सुषुप्ति हो गई अविद्याप्रधान। लेकिन सुषुप्ति के अंदर भी अविद्यामात्र रह गई वह भी तत्त्व को ढाँकने में उतनी ही जबरी पड़ती है जितने कामना और कर्म। सुषुप्ति में तत्त्व कम ढका हुआ है, ऐसा नहीं है वरन् एक जैसा ढका हुआ है। इसलिये तत्त्व का अप्रबोध एक जैसा ही है। यह साधर्म्य बता दिया कि जाग्रत् स्वप्न एक तरफ है और सुषुप्ति एक तरफ, लेकिन दोनों में समानता तत्त्व को न समझना है।

तत्त्व शब्द यहाँ भाष्य में पहली बार प्रयुक्त हुआ है। तत्त्व अर्थात् तत् का जो भाव अर्थात् असलियत हो उसे तत्त्व कहते हैं। जैसे मनुष्य की असलियत मनुष्यता है। मनुष्यता है तो मनुष्य, नहीं तो मनुष्य नहीं। तत् के भाव को तत्त्व कहते हैं। तत् परमात्मा का नाम है जैसे 'तत्त्वमसि', 'ॐ तत्सदिति निर्देशः' इत्यादि। परमात्मा की असलियत का ग्रहण हो, तब तत्त्व-प्रबोध हो, और यहाँ उनकी असलियत का ग्रहण नहीं होता। परमात्मा के तत्त्व का, असलियत का ग्रहण न इन्द्रियों की वृत्ति से न अंतःकरण की वृत्ति से और न इन वृत्तियों के अभाव से, यह कहना यहाँ भाष्यकार का असली तात्पर्य है। परमात्मा के विषय में कुछ बात सुनने के साथ ही ये तीन वृत्तियाँ बनती हैं। साधारण आदमी आकर कहता है कि ईश्वर के दर्शन करने हैं। भगवान् को दिखा दीजिये। दृष्टांत भी

देते हैं कि जैसे विज्ञान चीजों को दिखाता है तो हम मानते हैं। कहीं किसी किताब में लोग बाँच लेंगे कि कोई कहीं किसी के पास गये और उन्होंने भगवान् का दर्शन करा दिया। वह मान रहा है कि भगवान् इन्द्रियों का विषय है। अब जब विचार करेगा तो पता लगेगा कि जो इन्द्रिय का विषय होता है वह परमात्मा होता ही नहीं है। इसलिये कोई आकर कहे कि मैं वहाँ गया और भगवान् के दर्शन कर आया तो समझ लेना कि वहाँ कोई भगवान्-प्रसाद नाम का व्यक्ति था, उसे देख आया होगा, क्योंकि जो इन्द्रियों का विषय होता है वह परमात्मा नहीं। यह वैसा ही है जैसे कोई कहे 'हम हवा को देखकर आ रहे हैं।' जैसे हवा दृष्टि का विषय नहीं है। वैसे ही परमात्मा दृष्टि का, इन्द्रियों का विषय है ही नहीं। कुछ लोग उससे आगे चलते हैं। सोचते हैं कि यहाँ नहीं दीखता होगा, वैकुण्ठ, गोलोक में जाकर जरूर दीखता होगा। यहाँ नहीं दीखा यह मन मान भी जाये फिर भी लगता है कि कहीं तो दीखता ही होगा। किन्तु वह दृष्टि का विषय ही नहीं है। अतः जब अर्जुन को भगवद्रूप नहीं दीखा तो भगवान् ने उसे समझाने के लिये कहा 'दिव्यं ददामि ते चक्षुः' वह एक दिव्य दृष्टि है। लोग समझते हैं कि कोई तीसरी आँख और जोड़ दी होगी! दिव्य शब्द से समझते हैं कि आँख विशेष होगी जिससे अर्जुन उनका वह रूप देख रहा होगा। इसलिये लोगों को पहले तो इन्द्रियों की अविषयता ही नहीं बैठती; यथाकथंचित् यदि यह बैठ भी गई तो वह मन का या अंतःकरण का विषय है, यह जमा रहता है। इसलिये मन से प्रयत्न करते रहते हैं। अगर यथाकथंचित् यह भी समझ में आ गया कि वह मन से नहीं दीखता तो अंतिम साधन है कि जहाँ अंतःकरण और मन नहीं रहता है, ऐसी निर्विकल्प समाधि में दीखता होगा। लेकिन न वह अंतःकरण-वृत्ति से दीखता है, न इन्द्रियों की वृत्ति से और न इन दोनों के अभाव से दीखता है। इन्द्रिय और मन की वृत्ति समाधि में नहीं। लगता है वहाँ दीख जाता होगा, किन्तु वहाँ भी नहीं दीखता है। इससे किसी के मन में उलटी शंका भी आ जाती है कि जब किसी तरह से नहीं दीखता तो दीखता ही नहीं होगा। वह दीखता तो है लेकिन कहाँ दीखता है? आँख की देखने की शक्ति तुमको दीखती है। यह तुम्हें पता है कि आँख में देखने की शक्ति है लेकिन इस देखने की शक्ति को तुमने किस चीज़ से देखा? आँख से तो देखा नहीं, इसलिये वह तुम्हारी इन्द्रिय का प्रत्यक्ष भी नहीं। मन से भी नहीं देखा अथवा दोनों के अभाव में भी नहीं देखा लेकिन आँख ने देखा तो पता है कि आँख के अन्दर शक्ति है। यह समझना पड़ता है। जो नहीं समझता है, वह यही मानता रहता है कि यही गोलक आँख है। इस आँख में इन्द्रिय है यह विचार से समझ में आता है, नहीं तो साधारण आदमी समझता है कि गोलक ही आँख है, वह इन्द्रिय को नहीं समझ पाता। ठीक इसी प्रकार से हम जब किसी चीज़ को जानते हैं तो अंतर्यामी नारायण अंदर न होता तो कैसे जानते? जानने के साथ ही उसका भान हो रहा है कि अंतर्यामी नारायण अंदर है। लेकिन जैसे मूर्ख समझता है कि गोलक ही आँख है, उसकी शक्ति को नहीं समझता, ऐसे ही मूर्ख समझता है कि अहम् जानता है अर्थात् मैं जान रहा हूँ। जब समझाया जाता है तब

पता लगता है कि मैं तो खुद जड हूँ, वह क्या जानेगा? मैं के अन्दर जो बैठा हुआ चैतन्य है वही आदिदेव है। यह बात समझ में आ गई तो वह हर क्षण दीख रहा है लेकिन यदि उसे इन्द्रिय मन या इनके अभाव से देखना चाहेगा तो नहीं दीखेगा। उसे देखने का तरीका वृत्ति को अंतर्मुखी करना है। जाग्रत् व स्वप्न में भी उसे देख रहे हैं, क्योंकि ज्ञान है। सुषुप्ति में भी चूँकि ज्ञान है इसलिये देख रहे हैं। वृत्ति और वृत्ति के अभाव काल में ज्ञान में कोई फरक नहीं होता। जैसे कमरे में घड़ा रखा है तो घड़े को देखकर पता लगता है कि मेरी आँख की देखने की शक्ति है। यदि कमरे में घड़ा नहीं रखा है तो भी आँख से ही पता है कि घड़ा नहीं है। घड़ा है और नहीं है इन दोनों अवस्थाओं के अंदर आँख की ताकत एक जैसी ही काम में आती है। इसी प्रकार जाग्रत्-स्वप्न में बाहर की तरफ चीजें दीखती हैं तब, और सुषुप्ति काल में कुछ नहीं है इस बात को देखता है तब, उसकी ज्ञान-शक्ति में फरक नहीं है। शक्ति एक जैसी ही रही।

इसलिये कहा कि सुषुप्ति का ग्रहण करना है अर्थात् सुषुप्ति का प्रतिपादन करना है इसलिये यत्र सुप्त इत्यादि विशेषण मंत्र में आया है। यदि केवल कहते 'न कंचन कामं कामयते' या कहते 'न कंचन कामं कामयते पश्यति' तो काम नहीं बनता। इसलिये दोनों का संग्रह करके कहना पड़ा। क्योंकि जाग्रत्-स्वप्न से भिन्न करके बताना है इसलिये इसका ग्रहण करना आवश्यक हो गया। जाग्रत्-स्वप्न से पृथक कर सुषुप्ति को 'यत्र' से कहा और जाग्रत्-स्वप्न का निषेध किया। सुषुप्ति वह है जहाँ तत्त्व अप्रबोध होने पर भी, बाह्य विषय का और अंतःकरण के विषय का भोग नहीं है। इस प्रकार उनसे वैधर्म्य बताया। अप्रबोध साधर्म्य और विषयों का अभोग वैधर्म्य दोनों बता दिये।

अब दूसरे ढंग से कारण बताते हैं। 'अथवा त्रिष्वपि स्थानेषु तत्त्वाप्रतिबोधलक्षणः स्वापः अविशिष्ट इति पूर्वाभ्यां सुषुप्तं विभजते।' अथवा जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति दोनों स्थानों के अन्दर अज्ञान एकसा है। यह अथवा-पक्ष कारिका के आग्रह से है क्योंकि आगे चलकर कारिका में भगवान् गौडपाद दो अवस्थाओं से ही व्यवस्था बतायेंगे एक तत्त्व का अग्रहण और एक तत्त्व की जगह किसी दूसरी चीज का ग्रहण 'अन्यथा गृह्णतः स्वप्नो निद्रा तत्त्वमजानतः' के द्वारा कारिकाकार दो ही चीजें मानकर चलते हैं। एक जगह केवल तत्त्व का अग्रहण अर्थात् ठीक ज्ञान नहीं है और दूसरी जगह तत्त्व की जगह पर अतत्त्व का ज्ञान है। एक तो केवल इतना है कि वहाँ क्या पड़ा है वह नहीं दीख रहा है। यहाँ रज्जु का केवल अग्रहण है, वहाँ क्या है यह पता नहीं। दूसरी जगह, वहाँ साँप है ऐसा उलटा ज्ञान हो जाता है। इसी तरह से सुषुप्ति के अन्दर तो वहाँ क्या है यह पता नहीं और जाग्रत्-स्वप्न के अन्दर वहाँ पदार्थ है, ऐसा अन्यथा-ग्रहण है। है तो केवल ब्रह्म ही लेकिन उसे जाग्रत्-स्वप्न के अन्दर अन्यथा-ग्रहण है। है ब्रह्म और दीखता है देवदत्त बैठा है। देवदत्त थोड़े ही बैठा है, ब्रह्म बैठा है। यह अन्यथा ग्रहण है। गहरी नींद में कहता है वहाँ क्या था पता नहीं। था ब्रह्म ही, उसी का पता नहीं। जैसे मंदांधकार में कभी होता है कि वहाँ क्या पड़ा है, यह पता नहीं। यह सुषुप्ति की अवस्था है। वहाँ

साँप है ऐसा अन्यथा-ग्रहण हुआ तो जाग्रत्-स्वप्न हो गया। इस प्रकार दो चीजों को लेकर भगवान् गौडपादाचार्य व्यवस्था बनाते हैं।

यह नहीं समझना कि वे जाग्रत्-स्वप्न को एक ही समझते हैं। विधुशेखर भट्टाचार्य इत्यादि ऐसे विचारकों का एक बड़ा वर्ग तैयार हुआ है जिन्होंने भगवान् गौडपादाचार्य और नागार्जुन के शून्यवाद को एक सिद्ध करने का प्रयत्न किया है क्योंकि दोनों के शब्दों में कुछ समानतायें हैं। उन कुछ समानताओं को लेकर एक जैसा मान लेते हैं। विधुशेखर भट्टाचार्य की किताब और उसके अनुवाद को लेकर अन्य विचारक भी उस रास्ते चले गये हैं। अंत में तो एस॰ एन॰ दासगुप्ता ने भी इसी विचार को लिया है। वह सब इसलिये कि कुछ समान कारिकाओं को उठाकर विषम कारिकाओं को छोड़ दिया है। यह तो ठीक है कि जैसे नागार्जुन ने दो सत्तायें मानी वैसे ही ये मानकर व्यवस्था करते हैं लेकिन ये जाग्रत्-स्वप्न के अवान्तर भेद को अन्यत्र कारिकाओं में बताते भी हैं। हमारे यहाँ कठिनाई यह है कि यदि स्वप्न को तुम दृष्टांत बनाने जाते हो तो दृष्टांत दार्ष्टान्त से कभी भी सर्वथा एक नहीं हुआ करता। दार्ष्टान्त जाग्रत् के पदार्थों को मिथ्या सिद्ध करने के लिये स्वप्न के पदार्थों को दृष्टांत लेना है। जाग्रत् के पदार्थ मिथ्या हैं, अनुभूयमान होने के कारण, स्वप्न की तरह। अब अगर जाग्रत् और स्वाप्न पदार्थ एक ही हैं तो तुम्हारा कहने का तात्पर्य हो गया कि स्वप्न के पदार्थ मिथ्या हैं अनुभूयमान होने के कारण स्वाप्न पदार्थों की तरह; तब तो तुम्हारा अनुमान ही भंग हो गया। इसलिये आगे चलकर बहुत स्पष्ट रूप में भगवान् गौडपाद कारिकाओं में स्वप्न को दृष्टांत और जाग्रत् को दार्ष्टान्त बताते हैं। यह माध्यमिक कारिकाकार नागार्जुन को स्वीकृत नहीं है, इसलिये यहाँ भेद है। लेकिन हर हालत में दो को लेकर दोनों चलते हैं, यह समानता भी है। इससे उन्हें भ्रांति हो जाती है जो अच्छी तरह इसका विचार नहीं करते। एक शंका कई बार लोग कर लेते हैं कि वे लोग भी कारिकाओं को देखते तो हैं ही। यद्यपि यह विषयांतर है, फिर भी बता देते हैं। सर्वथा मन के अन्दर किसी न किसी मानदण्ड (coordinates) को हम सामने रखेंगे। यदि हमें गीता समझनी है तो हम महाभारत, उद्धव गीता को सामने कर लेते हैं। वे हमारे मानदण्डों से मिलें न मिलें, इससे कोई मतलब नहीं। यह हम लोगों की प्राचीनों की परम्परा है। हमको जब नागार्जुन की बात पर विचार करना पड़ेगा तो माध्यमिककारिकाकार के शिष्य प्रशिष्य के व्याख्यान को हम प्रामाणिक मानेंगे। जब हम अपने ग्रन्थ पढ़ेंगे तो अपने मानदण्डों को प्रामाणिक मानेंगे। आधुनिक विचारधारा कहती है कि ऐसा नहीं। किसी भी ग्रन्थ के हर पाठक को अधिकार है कि वह अपने नये मानदण्ड (coordinates) बनाकर बाँच लिया करे। यह क्रम १५० वर्षों से चल रहा है। इससे मतभेद आ जाता है। यदि हमने मानदण्ड यह बना लिया कि नागार्जुन और गौडपादाचार्य के अन्दर अलातशांति इत्यादि दृष्टांत की समानता से एक दूसरे पर प्रभाव अवश्य पड़ा है, तो ग्रन्थ पढ़ने पर समान वाक्य प्रधान और विषम वाक्य गौण लगने लगेंगे। यह

स्वाभाविक है। दूसरों ने माना कि नागार्जुन बौद्ध हैं, गौडपादाचार्य वैदिक हैं, इसलिये दोनों में समानता हो ही नहीं सकती। वे समान अंशों को गौण और विषम अंशो को प्रधान बनाते चले जायेंगे। इसलिये यदि पद्मनाभ, टी॰ आर॰ वी॰ मूर्ति, राघवन, एस॰ सुब्रह्मण्य शास्त्री इत्यादि विचारकों को पढ़ें तो ये सब उपस्थित करते हैं कि दोनों में कोई समानता है ही नहीं। समानता गौण है। दूसरे कहते हैं कि विषमता गौण है। हम लोगों का कहना है कि दोनों एकांगी (extreme) हैं, क्योंकि जब हम व्याख्याकार को देखते हैं तो पता लगता है कि दोनों का आपस में कुछ आदानप्रदान भी है और दोनों में किसी विषय पर आपस में कुछ मतभेद भी है। अतः शब्द को देखकर नहीं चलना है।

हमें यह लगता है कि भाष्यकार इस बात को समझ रहे थे कि इस श्रुति का तात्पर्य कहीं द्विविध सत्तावाद में न कर दिया जाये। कारण कि एक शंका होती है कि कारिकाकार के मत को 'अथवा' करके स्पष्ट क्यों कर रहे हैं? 'अथवा' से कारिका का अर्थ इसलिये किया कि भाष्यकार को लगा कि दो सत्ताओं को लेकर चलने से भ्रान्ति सम्भव है। जब माण्डूक्य की प्रक्रिया ही तीन अवस्थाओं को लेकर है तो उसमें द्विविध सत्तावाद को लाना ही अव्यावहारिक लगता है। प्रातिभासिक और व्यावहारिक दोनों सत्ताओं को भगवान् भाष्यकार अलग करके चलते हैं और भगवान् गौडपादाचार्य इन दोनों को एक करके चलते हैं। भाष्य का तात्पर्य यह है कि जब श्रुति स्पष्टतः तीन अवस्थायें कह रही है और गिनती करके कह रही है 'तृतीयः पादः' इत्यादि, तो जबरदस्ती उन दो को मिलाकर दो को उपस्थापित करना श्रुतहानि हो जायेगी और अश्रौतकल्पना करनी पड़ेगी। श्रुति ने जो कहा उसे छोड़ना पड़ेगा। अतः भ्रम यह हो जायेगा कि द्विविध सत्तावाद यहाँ श्रुति में चल रहा है। इसलिये 'अथवा' से कारिका के पक्ष को भाष्यकार ने लिया लेकिन मूल पक्ष त्रिविध-सत्ता को रखा।

अब प्रश्न यह हो सकता है कि कारिकाकार ने ऐसा क्यों किया? कारिकाकार अंत में जाकर स्पष्ट कहेंगे कि हमारा और बौद्धों का मदभेद है।

'अलब्धावरणाः सर्वे धर्मा प्रकृतिनिर्मलाः।

आदौ बुद्धास्तथा मुक्ता बुध्यन्त इति नायकाः।।'४-९८।।

बुद्ध, नायक आदि शब्दों को स्पष्ट प्रयुक्त करेंगे। तायी शब्द बिल्कुल ही बौद्धों का शब्द है। कारिकाकार माध्यमिक कारिका को सामने रखकर लिख ही रहे हैं। अब दोनों की समानता बताने का प्रयत्न बेकार है। वे प्रक्रियायें ही उन्हें समझानी हैं। कारिकाकार का यह तात्पर्य है कि तुम द्वैत सत्ता मानते हो, उससे भी अद्वैत की ही सिद्धि होती है। कारिका का उद्देश्य नागार्जुन की भाषा का प्रयोग करना है, इसलिये उसका प्रयोग करेंगे। त्रिविध सत्ता मानकर सौत्रान्तिक, वैभाषिक से बात हो सकती है, माध्यमिक से नहीं हो सकती। बजाय इसके कि उनके साथ द्विविध सत्ता को लेकर झगड़ा करें, कारिकाकार यह करते

हैं कि तुम हमारी द्विविध सत्ता को स्वीकार करके ही कह रहे हो। जो तुम कहते हो वह सिद्ध नहीं होता है। जो हम कहते हैं वह सिद्ध होता है। इसलिये कारिकाकार ने द्विविध सत्तावाद से भी समझाया। इतना ही नहीं आगे विलक्षण कल्पना करेंगे, बौद्धों से भी आगे की। सामान्यतः त्रिविध सत्तावाद चला। बौद्धों ने द्विविध सत्तावाद लिया। लेकिन यदि एक ही सत्ता को मानकर चलो तब भी व्यवस्था बन जाती है। एक सत्तावाद किसी ने नहीं माना है, सिवाय वेदांतियों के। कहते हैं कि अगर किसी काल में एक सत्तावादी भी कोई आ जायेगा तो उसका जवाब भी लिख देते हैं। क्यों यह सम्भावना होती है? क्योंकि दो से एक पर भी जा सकते हैं जैसे तीन से दो पर गये। इसलिये सर्वथा अजातिमात्र को लेकर चलेंगे यह दृष्टि मानकर कि सृष्टि को छोड़कर अजातिवाद में पहुँच जायेंगे। पहले ही इस पर योगवाशिष्ठ ग्रंथ है। योगवाशिष्ठ को लेकर भी आधुनिकों में मतभेद चलता रहता है। द्विविधसत्तावाद वेदांतियों ने सर्वत्र नहीं लिया, केवल विशिष्ट परिस्थितियों में लिया। इसलिये भाष्य में दोनों अर्थ कर दिये।

'यत्र यस्मिन् स्थाने काले वा सुप्तौ न कंचन स्वप्नं पश्यति न कंचन कामं कामयते।' यत्र मूलमंत्र का पद है। यत्र का अर्थ कर दिया 'यस्मिन् स्थाने', जिस अवस्था के अन्दर, 'काले वा' अथवा जिस काल में। यह विकल्प क्यों किया? काल का विकल्प इसके पहले कहीं नहीं किया, यहाँ कर रहे हैं क्योंकि सुषुप्ति को भी एक अवस्थिति बताना कठिन है। स्थिति बताने का मतलब यह हो जाता है कि किसी चीज से या किसी चीज में स्थिति बतानी पड़ेगी। सुषुप्ति में जब कोई दूसरी चीज है ही नहीं तो किस में स्थिति और किस से स्थिति बतायें? भगवान् सुरेश्वराचार्य तो इसलिये प्रायः सुषुप्ति के अन्दर सिद्ध ब्रह्म में ही स्थिति स्वीकार कर लेते हैं क्योंकि श्रुति कहती है 'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति।' वहाँ कोई विशेषण श्रुति ने दिया नहीं। उसको यह उपनिषद् भी बता रही है। वार्तिक में विस्तार से इसका विचार किया है। यह संकेत यहाँ कर दिया कि सुषुप्ति का पता उठने के बाद कालभेद को ही लेकर लगा सकते हैं। पहले जाग्रत् और स्वप्न में तो श्रुति ने स्वयं स्थान शब्द का प्रयोग किया था 'जागरितस्थानः, स्वप्नस्थानः'। यहाँ श्रुति ने केवल 'यत्र' कहकर छोड़ दिया। इसलिये इसका अर्थ देश या काल हो सकता है अतः दोनों विकल्प भाष्यकारों ने कर दिये। जाग्रत् स्वप्न का पता तो जाग्रत् स्वप्न के अन्दर लगता है, सुषुप्ति का पता सुषुप्ति के अन्दर नहीं लगता। एक काल्पनिक स्थिति मान लो : किसी बंद कमरे में हो और तुम्हारे पास घड़ी भी नहीं है। कहीं तुमने कोई ऐसा वैसा काम किया जिस अपराध में पकड़ लिये गये और आनंद से एकाकी कैद, सालिटरी कन्फाइनमैण्ट भोग रहे हो। जेल में वे लोग घड़ी भी उतार लेते हैं। उस अवस्था में कमरे में तुम्हें कितनी देर नींद आई इसके ज्ञान का कोई साधन तुम्हारे पास नहीं है। दो मिनट भी नींद आई हुई हो सकती है और दो घण्टा आई हुई हो सकती है। जब तक बाह्य जगत् में रोशनी का अथवा घड़ी का भेद न देख लो तब तक कितनी

देर नींद आई, यह जाग्रत् में आने के बाद भी पता नहीं चल सकता। इसलिये उसका अर्थ 'यस्मिन् काले' कर दिया अर्थात् जितने काल अचेतनावस्था रही उस काल रूप परिच्छेद से ही सुषुप्ति का व्याख्यान कर लेते हैं।

'सुप्तः न कंचन स्वप्नं पश्यति' श्रुति में यह नहीं कहा कि कोई कुछ नहीं देखता है या केवल यह भी नहीं कहा कि 'न कंचन कामं कामयते'। दोनों कहा 'सुप्तः न कंचन स्वप्नं पश्यति' सोया हुआ कोई स्वप्न नहीं देखता है और 'न कंचन कामं कामयते' कोई कामना नहीं करता। यह इसलिये कहना जरूरी हुआ कि जिस समय तुम सोये हुए हो उस समय दूसरों को जगत् और तुम्हारा शरीर दीखता रहता है। तुम्हारा शरीर सोया हुआ क्रियाओं को भी करता रहता है। यह नहीं कि शरीर क्रिया न करता हो। रात के समय बढ़िया चूरमे के लड्डू खाकर सोये तो पेट ठस भरा हुआ था और सवेरे उठे तो सब नीचे आँतड़ियों (intestines) में पहुँच चुका है, हज़म हो गया है; सब काम हो गया लेकिन अपने सोते रहे। हमारे सोने पर भी शरीर दूसरों का विषय भी हो रहा है और शरीर में क्रियायें भी हो रही हैं। यहाँ तक होता है कि कुछ लोग तो सोये हुए घूम भी आते हैं और काम भी कर आते हैं उन्हें सुप्त गन्ता (sleep walkers) कहते हैं। ऐसा भी हो जाता है। इसलिये कह दिया कि 'सुप्तः न कंचन स्वप्नं पश्यति'। ऐसा नहीं समझना कि किसी को नहीं दीख रहा है, केवल सोया हुआ कुछ नहीं देखता है।

यहाँ कठिनाई आती है कि भाष्यकारों ने श्रुति का क्रम बदलकर उद्धरण दिया। मूल में था 'न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति' और भाष्य में क्रम बदल दिया 'न कंचन स्वप्नं पश्यति न कंचन कामं कामयते'। यह परिवर्तन भाष्य में क्यों किया? हमारे यहाँ एक नियम है कि शब्दक्रम की अपेक्षा अर्थक्रम ज्यादा स्वीकार्य होता है। शब्दों के क्रम से यदि अर्थ का क्रम भिन्न है तो अर्थक्रम को प्रधानता देनी चाहिये, शब्द क्रम को नहीं। स्थूल या सूक्ष्म विषयों का दर्शन उनके प्रति कामना का हेतु बनता है यह सूचित करने के लिये क्रमपरिवर्तन समझ सकते हैं।

'न हि सुषुप्ते पूर्वयोरिवान्यथाग्रहणलक्षणं स्वप्नदर्शनं कामो वा कश्चन विद्यते'। सुषुप्ति काल या सुषुप्ति अवस्था पूर्वोक्त जाग्रत्-स्वप्न की तरह अन्यथा-ग्रहण रूप लक्षण वाली नहीं है। यह कारिका के अनुसार स्पष्ट है। किसी चीज को किसी दूसरे तरीके से जानना, जो चीज जैसी नहीं है उसको उस प्रकार से ज़ानना, यह लक्षण स्वप्न-दर्शन में होता है अथवा जाग्रत् के पदार्थों में होता है। अन्यथा-ग्रहण-शून्यता को लेकर दोनों से सुषुप्ति का भेद करना है। 'तद् एतत्सुषुप्तं स्थानमस्येति सुषुप्तस्थानः' अब सुषुप्ति का लक्षण कहते हैं कि अन्यथा-ग्रहण न होते हुए तत्त्व का अज्ञान ही सुषुप्ति का लक्षण है। यदि कहते कि केवल 'अन्यथा-ग्रहण न करते हुए' तो लक्षण ज्ञान में या तुरीय में चला जाता। यदि केवल कह देते 'तत्त्व का अग्रहण' तो जाग्रत्-स्वप्न में भी लक्षण चला जाता। इसलिये अन्यथा ग्रहण न होते हुए तत्त्व का अज्ञान सुषुप्ति का लक्षण हो गया।

जैसे पहले कहा ऐसे ही यहाँ भी 'सुषुप्तस्थान' का अर्थ है 'सुषुप्ति के अन्दर अभिमान है जिसको' वह हो गया सुषुप्ति स्थान वाला।

'एकीभूतः' को स्पष्ट करते हैं 'स्थानद्वयप्रविभक्तं मनःस्पन्दितं द्वैतजातम्' स्थानद्वय अर्थात् जाग्रत् स्थान और स्वप्न स्थान दोनों में बँटा हुआ मन का स्पंदन। जाग्रत् के अन्दर इन्द्रिय स्पन्द से युक्त मन का स्पंदन और स्वप्न स्थान में केवल मन का स्पंदन। मन का स्पंदन दोनों जगह हुआ। यही द्वैतजात है। 'मनःस्पंदितं द्वैतजातम्' यह रटकर रखने का है। यह लक्षण इसलिये रटकर रखने का है कि कुछ लोग तो शब्द का स्पंदन द्वैतजात को मानते हैं। वैयाकरण शब्द से स्पंदन और उससे फिर द्वैतसमूह की उत्पत्ति मानते हैं। शैवों के एकदेशी त्रिकदर्शन वाले या प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के विद्वान् ब्रह्म का स्पंदन ही जगत् को मानते हैं। वल्लभाचार्य भी ब्रह्म का स्पन्द ही जगत् को मानते हैं। इसलिये वे ब्रह्म की ही दो अवस्थायें मान लेते हैं— एक निःस्पंद अवस्था महाप्रलय की और एक स्पन्द अवस्था सृष्टि-स्थिति की। किसी ने ब्रह्मस्पंद को, किसी ने शब्द स्पन्द को माना और चूँकि स्पन्द रूप से हम भी स्वीकार करते हैं तो इन दोनों के साथ कभी कभी लोगों का भ्रम हो जाता है। इसलिये तीनों भ्रमों से बचना चाहिये। वस्तुतः जगत् मन का स्पंद है, न ब्रह्म का स्पन्द है, न शब्द का और न असत् का स्पंद है। यह सारा का सारा द्वैतजात मन का स्पन्द है। मन स्वयं किस से बना? मन अविद्या से बना। अज्ञान ही मन का कारण है। लेकिन अज्ञान अवस्था में द्वैत नहीं है। सुषुप्ति के समय में अज्ञान तो है लेकिन द्वैत कहाँ है? द्वैत तो मन के पैदा होने के बाद ही आयेगा। इसलिये द्वैत को अज्ञान पैदा करता है मन के द्वारा। योगी अथवा ध्यानी मन को बन्द करके द्वैत को बंद कर देते हैं क्योंकि लक्षण ही यह किया गया 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'। चित्त व मन एक ही है। मन यदि वृत्ति ही नहीं बनायेगा तो द्वैत नहीं रहेगा, यह भी अद्वैत की स्थिति है। इसलिये आगे जाकर योगसूत्रकार कह भी देंगे 'तदा द्रष्टुः स्वरूपे अवस्थानम्'। ठीक इसी प्रकार जब भक्त सर्वथा चित्त की एकाग्रता में पहुँच जाता है तब ध्यान की अवस्था में भी मन सर्वथा निःस्पन्द हो जाता है। उन लोगों की भी यदि उक्तियाँ पढ़ोगे तो मिलेंगी कि मेरे में श्याम है या मैं श्याम में हूँ यह कौन कह सकता है? द्वैत के अभाव की ये उक्तियाँ हैं, लेकिन वे क्यों हैं? क्योंकि मन के स्पन्द को लिया गया। यदि मन का स्पन्द नहीं होगा तो द्वैत का अनुभव नहीं होगा। ठीक यही चीज़ दूसरे प्रकार से बौद्ध भी स्वीकार करते हैं। वे जिसको विज्ञान-संतति कहते हैं यह वस्तुतः मन की अवस्था ही तो है। जब मन के सतत प्रवाह का निर्वाण हो गया, मन बुझ गया, संस्कार शून्यावस्था में पहुँच गया, तो निर्वाण हो गया, इसलिये वहाँ द्वैत नहीं है। द्वैत न आने वाली स्थिति तो कई प्रकार से आ जाती है क्योंकि मन के स्पन्द होते हैं और उस मन को किसी भी प्रकार से रोक लो तो द्वैत नहीं रह जायेगा। लेकिन द्वैत का न रहना होने पर भी द्वैत का कारण जो मन है उस मन का कारण अविद्या फिर भी बैठी रहेगी। इसलिये ये सब स्थितियाँ

ऐसी हैं जिनके अन्दर मन की अधीनता है। आगे जाकर भगवान् भाष्यकार स्पष्ट कहेंगे कि यह ठीक है मनोनिग्रह होने पर कोई दुःख भी नहीं रहेगा लेकिन वह है मन के निग्रह को लेकर ही। यदि मन ने प्रवृत्ति कर दी तो उसके प्रवृत्ति करते ही फिर उनका द्वैतजात वैसा का वैसा ही उपस्थित हो जायेगा। योगी समाधि से व्युत्थान काल में आयेगा तब, महायान-सम्प्रदाय की दृष्टि से करुणा का आवेश हो बोधिसत्व के अन्दर पुनः द्वैतजात का प्रकाश होगा। हीनयान वाले तो जीवन्मुक्ति मानते ही नहीं वे तो मरने के बाद ही मुक्ति मानते हैं। इसीलिये वे निर्वाण और परिनिर्वाण में भेद करते हैं। भक्त भी यही मानता है कि जब तक चित्त को एकाग्र करके भगवद्ध्यान में हैं तब तक भगवद्-विग्रह में हैं, उसके बाद फिर द्वैतजात वैसा का वैसा ही बना रहेगा। वेदांती कहता है कि मन के स्पन्द को रोक कर अद्वितीयता की जो प्राप्ति है वह कारण अविद्या के रहते हुए है। इसलिये उसमें मन हमेशा सावधान रहना पड़ेगा। यदि अविद्या को नष्ट कर दो जो मन को उत्पन्न करती है और मन के स्पन्द को कराती है, तो फिर मन की उत्पत्ति की सम्भावना ही नहीं रह जायेगी। इसीलिये बिल्कुल सरलता से होने वाला साधन है अविद्या हटाना। यहाँ किसी भी प्रकार का कोई भी प्रयत्न करना अपेक्षित नहीं रहता है क्योंकि दुःख का कारण ही नष्ट हो गया। यदि चाहो तो भी मन का पता नहीं लग सकता क्योंकि कारण नष्ट हो चुका है। मन का स्पंदन बनेगा ही नहीं क्योंकि मन का कारण नष्ट हो चुका है। मन का स्पंदन होना सम्भव ही नहीं। इसलिये प्रत्येक पदार्थ बाधित होता हुआ ही सामने आयेगा। उसी का पारिभाषिक शब्द बाधितानुवृत्ति है। तब उसे सावधान रहने की जरूरत नहीं। वह सब कुछ दूसरों की दृष्टि से कर रहा है, स्वकीय दृष्टि से वहाँ द्वैत नहीं है। इसलिये कह दिया 'स्थानद्वयप्रविभक्तं मनःस्पन्दितं द्वैतजातम्।' अपने यहाँ सबने ही प्रायः इस प्रकार मन को स्वीकार करके मनःस्पंदित ही द्वैतजात को माना है। लेकिन यह द्वैतजात न शब्द का और न ब्रह्म का स्पन्द है, यह तो मन का स्पन्द है।

सुषुप्तस्थान को बता दिया। अब 'एकीभूतः' पद का अर्थ बताते हैं। 'तथारूपा-परित्यागेनाविवेकापन्नं नैशतमोग्रस्तमिवाहः सप्रपंचकमेकीभूतमित्युच्यते'। प्रायः एकीभूत का मतलब समझा जाता है भिन्न भिन्न चीज़ें मिलकर एक हो जाना, जैसे दूध, दही, घी इत्यादि सब मिलकर एकीभूत होकर पंचामृत बन जाता है। ऐसे ही शंका हो सकती है कि यहाँ पर भी जाग्रत् और स्वप्न के जितने विषय हैं वे सब आपस में मिलकर एक हो जाते होंगे इसलिये एकीभूत कह दिया होगा। अतः स्पष्ट करते हैं कि एकीभूत का यह मतलब नहीं है। अपने रूप को छोड़े बिना अविवेकापन्न, अलग अलग प्रकार से या विविक्त रूप से प्रतीत न होना, इस भाव को प्राप्त होना एकीभाव है। ऐसा नहीं कि सुषुप्ति आने पर पदार्थ लीन हो जाते हों जैसे महाप्रलय में पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश क्रम से मिल जाते हैं और आकाश अज्ञान में लीन हो जाता है। ऐसा सुषुप्ति में नहीं होता है। चीज़ें वैसी की वैसी बनी रहती हैं लेकिन अपने को वे अलग अलग

प्रतीत नहीं होतीं, बस इतना ही है। शरीर के अन्दर इन्द्रियाँ इत्यादि भी इसीलिये अविवेकापन्न हैं लेकिन नष्ट नहीं हैं। विषयिप्रधान subjectivist या idealist दार्शनिक हैं, चाहे भारतवर्ष के हों चाहे पाश्चात्य, वे पदार्थों की अप्रतीति होना ही 'पदार्थ नहीं रहा', यह मानते हैं। लेकिन वेदांती यह मानते हैं कि पदार्थ दृश्य नहीं रहा, यहाँ तक तो ठीक है लेकिन स्वरूप से पदार्थ नहीं रहा यह ठीक नहीं। ऐसा नहीं कि अपने जगते ही सारी चीजें नई बन जाती हों। इसलिये कहा कि रूप का परित्याग नहीं होता। केवल त्याग न कहकर परित्याग कहा। रूप का त्याग तो होता ही है। दृश्यत्व धर्मविशिष्ट घट इसमें से दृश्यत्वरूप धर्म तो हट ही गया लेकिन घट तो फिर भी बना रहा। रूप का सर्वथा त्याग नहीं होता है, ऐसी बात नहीं है, लेकिन सर्वथा परित्यक्त हो जाये वहाँ पर पदार्थ या उसका कोई धर्म हो ही नहीं, ऐसा नहीं। इसलिये अपरित्यक्त कहा। यदि रूप का परित्याग नहीं हुआ तो क्यों कहते हैं कि एकीभूत हो गया? चीज है ही, उसको अलग अलग जानना नहीं हो पा रहा है। चीज़ वैसी की वैसी बनी हुई है तो भेदग्रह क्यों नहीं होता है? दृष्टांत से समझाया— जैसे दिन में अपने को यह पदार्थ दीख रहा है, जब निशा आ जाती है, और वह भी अमावास्या की निशा हो तथा बादल भी छाये हुए हों तो फिर अपने को मकान, दरवाजा सब एक जैसे दीखते हैं, सब एक हो जाते हैं। अंधकार ही अंधकार होता है, इसका मतलब यह नहीं कि सचमुच वह दीवाल इत्यादि वहाँ से उड़ गये हों। अंधकार के ढक्कन में सब एक हो जाते हैं, इसलिये अलग अलग उसको हम ग्रहण नहीं कर सकते लेकिन पदार्थ के स्वरूप का परित्याग नहीं होता वैसे ही यहाँ है। 'नैशतमोग्रस्तमिवाहः'। अथवा अहः से अहर्पति सूर्य को ले लो। जिस समय खग्रास ग्रहण लगता है उस समय सूर्य रात्रि के अंधकार से ग्रस्त हो जाता है। वहाँ भी हमको छाया रूप राहु और सूर्य दोनों को अलग अलग ग्रहण करने की सामर्थ्य नहीं रह जाती। इसी प्रकार यहाँ भी सारा का सारा जो प्रपंच है वह सब एकीभूत शब्द से कहा जाता है अर्थात् एकीभूत विशेषण का प्रयोग वहाँ हो जाता है।

एक बात समझ लेना कि वेदांत शास्त्र में इसी को कारण-भाव की प्राप्ति मानते हैं अर्थात् इसी का नाम कारण है। वेदांती अनिर्वचनीय ख्यातिवादी है। अनिर्वचनीय या मिथ्या ख्याति का तात्पर्य यह है— लोग कहते हैं कि मिट्टी में घड़ा पहले था, जैसे सांख्यवादी कह देता है, तो फिर कुम्हार को अठन्नी देने की जरूरत नहीं होनी चाहिये। यदि कहो कि मिट्टी में घड़ा नहीं था, तो तुम जूट से भी घड़ा बना लो! जो चीज़ जहाँ नहीं है यदि उससे पैदा कर सकते हो तो बालू से तेल और पानी से घी निकाल लो! न यह कह सकते हो कि वह चीज उसमें है और न यह कह सकते हो कि वह चीज़ उसमें नहीं है। इसलिये कार्य कारण का मतलब केवल इतना है कि जो मिट्टी का रूप हमारे सामने प्रकट है वह कार्य रूप, बाकी जितना है वह सब लीन अवस्था में है। उस

मिट्टी में सिकोरा, खिलौने सब पड़े हुए हैं। जैसे एक चादर के नीचे पचास बर्तन पड़े हुए हैं। चादर को एक तरफ से हटाओ तो प्याला दूसरी तरफ से हटाओ तो तश्तरी और तीसरी तरफ से हटाने पर चायदानी दीख गई। जितना जितना कपड़ा हटाया वह रूप प्रकट हो गया, बाकी छिपा रह गया। इसी प्रकार मिट्टी में जो रूप हमने बाहर किया वह रूप तो ऊपर आ गया और बाकी सारे रूप उसमें वैसे के वैसे पड़े हुए हैं। हमको तो वहाँ एक मिट्टी दीख रही है लेकिन जो समझदार व्यक्ति है उसको वहाँ मिट्टी ही नहीं, सारे बर्तन दीख रहे हैं अर्थात् बुद्धि से दीख रहे हैं, आँख से नहीं। कोई भी चीज कहीं भी कभी भी नई पैदा नहीं होती, जैसी है वैसी ही है। बस जो भाव हमारे सामने प्रकट हो गया उसको हम कार्य मान लेते हैं और जो प्रकट नहीं हुआ वह सारा का सारा कारण रूप से मौजूद ही है। यह हम लोगों के कार्य-कारण का विचार है। टीकाकार कहते हैं 'कार्यजातं कारणभावमापन्नं कारणमित्येव व्यवह्रियते' यह हम लोगों के कारण को समझाने का तरीका है जो कार्य कारणभाव अर्थात् लीनावस्था को प्राप्त हुआ है उसी को कारण कहा जाता है।

'अत एव स्वप्नजाग्रन्मनःस्पन्दनानि प्रज्ञानानि घनीभूतानीव सेयमवस्थाऽविवेक-रूपत्वात्प्रज्ञानघन उच्यते।' एकीभूत के आगे प्रज्ञानघन कहा, उसका अर्थ अब करते हैं। प्रज्ञान का मतलब है स्वप्न में मन का जो स्पन्द होता है वह। जाग्रत् के अन्दर मन का स्पन्द इन्द्रियातीत और स्वप्न में इन्द्रियाधीन नहीं है, यह फरक तो है, लेकिन है तो मन का स्पन्दन मात्र, इन्द्रियों के अधीन हो चाहे इन्द्रियों के अनधीन। स्वप्न और जाग्रत् के अन्दर जो मन का स्पंदन है वह प्रज्ञान है। सुषुप्ति में वह सारा का सारा घनीभूत हो गया ऐसा लगता है क्योंकि वह एकीभूत है, अलग अलग नहीं दीख रहा है। अंधकार भी हम लोगों को हमेशा ठोस दीखता है, पोला नहीं दीखता। ठीक इसी प्रकार यहाँ पर भी चूँकि अलग अलग प्रज्ञानों का ज्ञान नहीं हो रहा इसलिये उसे प्रज्ञानघन कह दिया। हिन्दी वाले भी घना अंधकार ऐसा प्रयोग करते हैं। ऐसे घनप्रकाश कोई नहीं कहता! प्रकाश भी यहाँ वैसे ही फैला हुआ है जैसे अंधकार, लेकिन अंधकार को घना कहते हैं, रोशनी को नहीं क्योंकि प्रकाश में चीजों का अलग-अलग ज्ञान है इसलिये वह ठोस की तरह या एक की तरह नहीं दीखता। अंधकार में अलग अलग चीजों का ज्ञान न होने से वह ठोस की तरह दीखता है। इसी प्रकार यहाँ भी उसे घन कह दिया। जितना भी कार्य-प्रपंच और मन है वह सारा का सारा घनीभूत है अर्थात् कारण रूप से स्थित है। केवल 'घनीभूतानि' कहने से कोई समझ लेता कि सब चीजें घुलकर एक हो जाती होंगी, एकमात्र प्रज्ञानमात्र या प्रज्ञान की मूर्ति रह जाती होगी और जगने पर फिर सब नये सिरे से पैदा हो जाती होंगी। ऐसी शंका न हो जाये, इसलिये कह दिया 'घनीभूतानि इव' अर्थात् जैसे अंधकार में घनीभूतकी तरह है, सब चीजें वास्तव में मिलकर एक नहीं हुई वैसी यह अवस्था है।

एक ही वाक्य में अविवेकरूप, अविवेकापन्न और बीच में इव पद डालकर बार बार क्यों इतना याद दिला रहे हैं? इसलिये कि साधारण व्यक्ति सुषुप्ति में कुछ नहीं रहा ऐसा वास्तविक मान लेता है और अनेक विचारक भी ऐसा कह जाते हैं। इसलिये भाष्यकारों ने दो बार अविवेक और एक बार इव कह दिया अर्थात् चीज़ें सब वैसी की वैसी अलग रखी हुई हैं लेकिन उन सबका हमको प्रज्ञान या ज्ञान नहीं है। इसी को कारण रूप से स्थित कहते हैं। यह जो अवस्था है, यह अविवेकरूप है। अब इसी को कारण कहेंगे।

वस्तुतः जिसको हम लोग अविद्या कहते हैं उसका रूप यहाँ भाष्यकारों ने अविवेक बताया है। लोग समझते हैं कि अविद्या या माया नाम की औरत है जो लोगों को पकड़ पकड़ कर फँसा देती है। यहाँ तक लोग कहते हैं कि इसलिये देवी की उपासना करनी चाहिये क्योंकि माया की उपासना करने से माया छुड़ायेगी। 'सैषा प्रसन्ना वरदा नृणां भवति मुक्तये' ऐसा एक-आध मंत्र भी बोल देते हैं। औरत ही माया होती है ऐसा समझते हैं। माया स्त्रीलिंग शब्द है। उसके लिये अज्ञान अबोध आदि नपुंसकलिंग व पुरुषलिंग शब्द भी हैं, इसलिये शब्द से घबराने की बात नहीं है। अविवेक का नाम ही अविद्या है। सम्यक् प्रकार से चीज को नहीं समझा तो फिर आगे उसको उलटा समझना शुरु हुआ। नासमझ ही उलटी समझ का कारण है। सुषुप्ति में केवल नासमझ है इसलिये उसे कारण कहते हैं। जाग्रत्-स्वप्न में नासमझ के साथ उलटी समझ है इसलिये उसे कार्य कहते हैं। नासमझ ही बंधन का कारण और उससे उलटी समझ पैदा हो गई तो विक्षेप प्रारंभ होता है। नासमझ में यदि रह गये तो विक्षेप तो नहीं होगा लेकिन समझ भी नहीं है। नासमझ को हटाने का तरीका समझ है। इसीलिये अविवेक ही कारण है। यही प्रज्ञानघन है।

'यथा रात्रौ नैशेन तमसाऽविभज्यमानं सर्वं घनमिव तद्वत्प्रज्ञानघन एव' जो बात पहले कही थी उसी को वाक्यांतर से कह देते हैं। जिस प्रकार से रात्रि के अंधकार में चीजें अलग अलग होकर नहीं दीखती, एक ठोस की तरह अंधकार ही सर्वत्र है, उसी प्रकार यहाँ प्रज्ञानघन है। उसी दृष्टांत को इन्होंने दुबारा दोहरा कर क्यों कहा? भाष्य का जहाँ लक्षण किया है वहाँ कहा है कि स्ववचन का भी अर्थ भाष्य में बताना चाहिये। मूल ग्रन्थ का अर्थ बताओ और वह अर्थ करते हुए यदि कोई कठिन वाक्य आ जाये तो स्वयं अपने वाक्य का भी अर्थ करके बता देना चाहिये। ऊपर था 'नैशतमः' इसमें कौन सा समास किया जाये और यहाँ इसका क्या तात्पर्य किया जाये? इत्यादि संदेह प्राप्त हो सकते हैं। इसी को स्पष्ट कर दिया 'नैशेन तमसा'। कब? तो स्पष्ट कर दिया 'रात्रौ' यों अपने वचन की भी व्याख्या भाष्य में हुई है।

'एवशब्दान्न जात्यन्तरं प्रज्ञानव्यतिरेकेणास्तीत्यर्थः।' प्रज्ञानघन के बाद मूलमंत्र में एव शब्द है। एव का मतलब 'ही' होता है। प्रज्ञान से अतिरिक्त कोई दूसरी जाति का पदार्थ वहाँ नहीं है, केवल प्रज्ञान ही प्रज्ञान है। यहाँ एव पद अन्ययोगव्यवच्छित्ति के

लिये है अर्थात् प्रज्ञान के सिवाय वहाँ और कोई दूसरी चीज नहीं है। प्रज्ञान से भिन्न अप्रज्ञान जाति का, भिन्न जाति का पदार्थ वहाँ नहीं है। आगे इन्हें वहाँ आनंद कहना है अतः शंका हो जाती है कि आनंद वहाँ है तो प्रज्ञानघन कैसे कहते हो? प्रज्ञानघन और आनंदमय के बीच में पड़ा हुआ एवकार बता रहा है कि आनंद तो होता ही प्रज्ञान की जाति का है, प्रज्ञान का स्वरूप होता है। इसलिये आनंद प्रज्ञान के अन्दर सद्वितीयता का आपादन नहीं करेगा। जैसे यहाँ दस ब्राह्मण बैठे हों तो कहते हैं कि यहाँ केवल ब्राह्मण ही बैठे हैं। कहोगे 'केवल कहाँ, दस ब्राह्मण बैठे हैं' लेकिन हैं तो ब्राह्मण जाति के ही। केवल ब्राह्मण बैठे हैं यह वाक्य ठीक है। अगर क्षत्रिय या वैश्य बैठा हुआ हो तो नहीं कह सकते थे। आनंद तो प्रज्ञानजाति का होने से यहाँ एव का प्रयोग उचित है। यहाँ अयोगव्यवच्छेद नहीं बल्कि अन्ययोगव्यवच्छेद समझना, यह तात्पर्य हो गया।

'मनसो विषयविषय्याकारस्पन्दनायासदुःखाभावादानन्दमय आनन्दप्रायो नाऽऽनन्द एव।' प्रज्ञानघन एव के आगे मूल में आनन्दमयः पद है, उसका अर्थ करते हैं। 'आनंदमयः' अर्थात् 'आनंदप्रायः' अधिकतर वह आनंदरूप है। मयट् यहाँ विकारार्थक न समझकर प्राचुर्यार्थक समझना। मयट् के दो अर्थ संस्कृत में होते हैं। किसी चीज का विकार भी मय से कहा जाता है जैसे मृन्मय पात्र, मिट्टी से बना हुआ पात्र। अधिकता भी मय से कहते हैं। जैसे चीज प्रकाशमय है तो इसका मतलब केवल प्रकाश है, ऐसा नहीं, चीज भी वहाँ है, लेकिन प्रकाश अत्यधिक है। आनंदमय के अन्दर मयट् विकारार्थक नहीं, आनंद से यह बना हुआ हो ऐसा नहीं बल्कि यहाँ आनंद प्रचुर होता है। इसमें आनंद की अधिकता क्यों है? इसलिये है कि जब जब मन का स्पंदन होता है तब तब परिश्रम होता है, आयास होता है। जो जितना सूक्ष्म पदार्थ होता है उसको उतनी ही जल्दी थकावट होती है क्योंकि उसका आयास उतना ही होता है। भगवान् नारायण आँख खोलते हैं तो सृष्टि हो जाती है और आँख बंद करते हैं तो प्रलय हो जाती है 'यस्य च सुप्तिर्महाप्रलयः'। उनका आँख खोलना ही बहुत बड़ा प्रयास हो गया। ४३ लाख २० हजार को एक हजार से गुणा करो, इतने साल उन्होंने आँख खोली और थक गये। फिर आँख बन्द कर ली।

जो जितनी सूक्ष्म वृत्ति वाला होगा उसको उतने में ही आयास हो जायेगा। हमारे यहाँ ये मज़दूर काम कर रहे हैं। ये सवेरे से शाम तक गड्ढा खोदते रहते हैं इन्हें कोई आयास नहीं, शाम को घर जाकर अपनी रोटी भी बनाते खाते हैं। एक दिन यहाँ किसी ने लोगों को कहा कि श्रमदान करो तो दो घण्टे में ही किसी के हाथ में घाव हो गया! उतने में ही लोगों को आयास हो गया। हाथ में डण्डा पकड़ लो कुछ नहीं होता, आँख में लकड़ी की फाँस भी आ जाये तो आयास हो जाता है, आँख उसे सहन नहीं कर सकती। लेखक कलम लेकर घण्टा भर तक बैठा रहता है, दूसरे लोग सोचते हैं कि कैसा बेकार का आदमी है, लिखना है तो झट लिखकर काम खत्म करो। वह एक समुचित

शब्द सोच रहा है, उसे वही नहीं बैठ रहा है। इतने बड़े कालिदास थे, उन्हें लिखना था 'तीन आँख वाले परमेश्वर का दर्शन किया'। बहुत सोचते सोचते उन्हें शब्द याद नहीं आया। 'त्र्यम्बकम्' को 'त्रियम्बकम्' लिखना पड़ा 'त्रियम्बकं संयमिनं ददर्श'; नहीं तो छन्दोभंग दोष आ जाता! अब यह बात फावड़ा चलाने वाला नहीं समझता। यही परिस्थिति होती है जब अविवेकियों के हाथ में सत्ता आती है वे विवेकियों का नाश करते हैं क्योंकि वे यह समझते हैं कि ये सब बेकार हैं, इनकी कोई जरूरत नहीं। फावड़ा चलाने वाले लोग चाहिये, काम करने वाले चाहिये। कलात्मक चीज़ का मूल्य अविवेकियों को पता नहीं चलता। ताजमहल, देलवाड़ा मन्दिर को देखने जायेंगे तो उन्हें जँचेगा कि यह जनता के पैसे की बरबादी की गई है। इसकी जगह खेत, बाँध इत्यादि बनाने चाहिये थे। जो अतिसूक्ष्म दृष्टि वाला है उसके मन में वृत्ति बनी और आयास हो गया। समाधि के अभ्यास में मन की वृत्ति शांत है, मन की वृत्ति बनना ही आयास है। उसके सामने उतना ही परिश्रम बहुत है। मन की वृत्ति बनी तो आगे के सारे परिश्रम आ जायेंगे। सुषुप्ति में आनंद की प्रचुरता क्यों है? बाकी सब आयास छोड़कर अंत में मन के स्पन्दन का आयास रहता है। यह आयास भी वहां नहीं है। जब कोई आयास परिश्रम नहीं, तो आनंद है। इसलिये कह दिया कि 'आयासदुःखाभावात् आनन्दमयः'। किसका आयास? मन के स्पंदन का तात्पर्य क्या है? विषय-विषयी आकार रूप मन द्रष्टा और दृश्य रूप में बन जाता है। देखने वाला और जिसको देखता है, विषय और विषयी, सुषुप्ति के अन्दर चूँकि दोनों नहीं हैं, इसलिये आयास नहीं है। आनंदमय का अर्थ आनंदप्राय किया, आनंद का विकार नहीं। आत्मसुख को प्रकट होने से रोकने वाला जो मन का स्पन्द रूप दुःख उसका वहाँ अभाव है। आनंद तो स्वरूप है। जाग्रत् स्वप्न में अपना स्वरूप कहीं गया नहीं, लेकिन मन के स्पन्दन के कारण आनंद ढका पड़ा है, वहाँ होने पर भी। जब मन का स्पन्द बन्द हो गया, उस आनंद का प्रतिबंधक हट गया।

सिद्धान्ती के शिष्य के मन में आया कि मय का एक अर्थ स्वरूप भी होता है। जैसे कहते हैं कि यह दारुमय स्तंभ है। दारु व स्तंभ एक ही चीज़ है, फिर भी स्वरूप अर्थ में मय का प्रयोग हो जाता है। उसी प्रकार यहाँ आनंदमय को आनंदस्वरूप ही मान लो। मन रूपी आयास हटा तो स्वरूप आनंद प्रकट हो गया, यह सीधा ही कह दो। प्राचुर्यार्थ क्यों करते हो? सिद्धान्ती के अनुयायी की यह शंका है। वस्तुतः तैत्तिरीय के अन्दर दो प्रकरण हैं। एक जगह कहा है 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' और अंतिम वाक्य कहा है 'आनंदं ब्रह्मेति व्यजानात्'। वहाँ आनंदमय की प्रतिष्ठा रूप से ब्रह्म का प्रतिपादन किया है। इसी को लेकर ब्रह्मसूत्रों में जहाँ आनंदमय का अर्थ किया है, वहाँ विकल्प से दोनों अर्थ कर दिये हैं। इस शंका का उत्तर देते हैं; 'न आनंद एव' आनंदस्वरूप नहीं है। यह वाक्य याद रखना। यद्यपि बृहदारण्यक में और ब्रह्मसूत्रों में भी यह बात स्पष्ट की है तथापि ऐसी एक विचारधारा वर्तमान में चल रही है जो सुषुप्ति को ही ब्रह्म की स्थिति मान

लेती है! सुषुप्ति ब्रह्म की स्थिति नहीं है। इस विषय में कई जगह भाष्यकार स्पष्ट करते हैं। जैसे सुषुप्ति के अन्दर भेदग्रहण नहीं, वैसे ही समाधि में भेदग्रहण नहीं। यदि सुषुप्ति में ब्रह्मस्थिति होगी तो समाधि में भी ब्रह्मस्थिति हो जायेगी। भाष्यकार और भगवान् गौडपाद तो सुषुप्ति में ब्रह्मस्थिति नहीं मानते। इसलिये समाधि में भी ब्रह्मस्थिति नहीं मानते। वहाँ ब्रह्म के नजदीक पहुँच जाते हो लेकिन ब्रह्मस्थिति नहीं। ऐसा नहीं कि वहाँ अखण्डवाक्यार्थ का ग्रहण है। ब्रह्माकार वृत्ति बनने के लिये आवश्यक क्या पड़ेगा? तत्त्वमसि आदि महावाक्य। समाधि में वह नहीं है।

आगे कारिका में कहेंगे कि समाधि आवश्यक किस लिये है? निर्वृत्तिक स्थिति के स्वरूप को समझने के लिये आवश्यक है कि निर्वृत्तिक स्वरूप कैसे होता है। लेकिन जो आत्मा है वह न सवृत्तिक है और न निर्वृत्ति है। वृत्ति और निर्वृत्ति दोनों उसमें कल्पित हैं। 'भावाभावविनिर्मुक्तः' आत्मा में न वृत्ति, न वृत्ति का अभाव है, दोनों से वह परे है। भावरूपी वृत्तियों को हम जाग्रत्-स्वप्न में ग्रहण करते ही हैं, उसके उपदेश की ज़रूरत नहीं। लेकिन निर्वृत्तिक भी तुम्हारी ही स्थिति है, यह समाधि में गये बिना पता नहीं लगेगा। समाधि के अन्दर सुषुप्ति के जैसी अवस्था है लेकिन ज्ञान-स्वरूप होकर है इसलिये उसे ग्रहण कर रहे हो। अब तत्त्वमस्यादि वाक्य तो यह कहेंगे कि जिसको तुम पहले सवृत्तिक समझते थे, जिसको अब निर्वृत्तिक जाना इन दोनों से रहित तुम्हारा स्वरूप है, यह बताना है। इसलिये कह दिया कि इसको आनंद ही नहीं समझ लेना, यह आनंदस्वरूप नहीं है। सुषुप्ति के अन्दर ऐसा क्यों नहीं समझ लेना, हेतु दिया 'अनात्यंतिकत्वात्' आत्यंतिक न होने से, अनात्यंतिक है। सुषुप्ति किसी काल में प्रारंभ होती है, किसी काल में समाप्त होती है। इसलिये यह आत्यंतिक रूप नहीं हुआ जबकि ब्रह्म की आनंदरूपता तो आत्यंतिक है, न प्रारंभ होती है और न समाप्त होती है, एक जैसी रहती है। इसलिये कह दिया 'अनात्यंतिकत्वात्'। यदि ऐसा नहीं मानोगे तो उत्थान नहीं हो पायेगा। यदि सुषुप्ति के अन्दर साक्षात् ब्रह्मरूप आनंद की स्थिति मान लोगे तो फिर सुषुप्ति से जाग्रत्-स्वप्न में कैसे आओगे? समाधि में भी तो अखण्डब्रह्माकार वृत्ति नहीं है। सुषुप्ति के अन्दर तो ग्रहण नहीं है, ज्ञान नहीं है, अज्ञानपूर्वक आनंद है, और समाधि के अन्दर ज्ञानपूर्वक आनंद है। समाधि के अन्दर ज्ञानपूर्वक आनंद है अज्ञानपूर्वक नहीं है। ज्ञानपूर्वक होने और अज्ञानपूर्वक होने से भेद हुआ बाकी सुषुप्ति समाधि की एकता हुई। अखण्ड वाक्यार्थ का ज्ञान दोनों में नहीं है। उसके बाद अखण्ड वाक्यार्थधी हो यह दूसरी बात है। समाधि में ज्ञानपूर्वक आनंद है। ठीक जैसे ईश्वर का ग्रहण भक्त करता है वैसे ज्ञानी ने भी ईश्वर का ग्रहण किया। ज्ञानी को तत्त्वमस्यादि के द्वारा अखण्ड बोध होने से वह ईश्वर का ग्रहण हमेशा 'मैं' ऐसा करेगा अज्ञानी हमेशा 'अहम्' से भिन्न रख कर के करेगा। वैसे ही समाधि में निर्वृत्तिक भाव का ग्रहण तो ज्ञानी अज्ञानी दोनों को, लेकिन ज्ञानी सवृत्तिक निर्वृत्तिक उभय उपाधि से रहित है और अज्ञानी आत्मा को निर्वृत्तिक रूप से ही ग्रहण

कर पाता है, अधिष्ठान रूप से नहीं कर पाता। इसलिये एक का आत्यंतिक और दूसरे का अनात्यंतिक ज्ञान है। ज्ञानी के लिये समाधि अवस्था और संसार दोनों एक जैसे हैं क्योंकि सवृत्तिक निर्वृत्तिक दोनों में मायिकता का भाव है। जिसने समाधि से ही प्राप्त किया उसे निर्वृत्तिक भाव से ब्रह्म का भान है अतः उसका व्युत्थान हो जाता है क्योंकि सवृत्तिक ज्ञान से 'मैं ब्रह्म से दूर हो गया' यह बोध हो जाता है।

अब आनंदभुक् का अर्थ करते हैं। 'यथा लोके निरायासस्थितः सुख्यानंदभुगुच्यते, अत्यन्तानायासरूपा हीयं स्थितिरनेनानुभूयत इत्यानन्दभुक्।' जिस प्रकार लोक में अर्थात् संसार में ऐसा देखा जाता है कि जो व्यक्ति कोई आयास नहीं करता है, आनंद से बैठा हुआ है तो कहते हैं कि यह आनंद का भोग कर रहा है। ऐसा लोक में कहा जाता है, समझा जाता है। जो आयास कर रहा है वह आनंद से भोग कर रहा है,ऐसा नहीं। आयास से रहित स्थिति होते हुए आनंद का भोक्ता कहा जाता है। उसी प्रकार यह सुषुप्ति काल की स्थिति अत्यंत अनायासरूप है। इसमें तो किंचित् भी आयास नहीं है। ज्ञानी एक राज्य चला रहा होता है अथवा एकांत जंगल के अंदर वृक्ष के नीचे पड़ा हुआ होता है वह दोनों अवस्थाओं में एक सा है। न उसे राज्य चलाने में आयास का और न पेड़ के नीचे पड़े हुए अनायास का बोध होता है, दोनों उसके लिये एक जैसे हैं। राज्य चलाऊंगा तो विक्षेप होगा, इसलिये मुझे यह झंझट अपने सिर नहीं लेनी है,. यह सुदृढ तत्त्ववेत्ता को नहीं लगता। इसलिये कह दिया 'अत्यंतानायासरूपा हीयं स्थितिः'। तृतीय पाद का नाम प्राज्ञ है, उसके अनुभव में यह स्थिति आती है। इसलिये उसे आनंदभुक् कह दिया। अब इसी बात में श्रुति का प्रमाण देते हैं ''एषोऽस्य परम आनन्दः' इति श्रुतेः' जो सुषुप्तिमें पुरुष है उसे आनंद अभिव्यक्त होता है। जो प्राज्ञ या जीव है उसकी सुषुप्ति ही सबसे बड़ा आनंद है। चाहे जितनी बढ़िया से बढ़िया हवा हो, वातानुकूल लगा हो, बिछौना बढ़िया हो लेकिन यदि सुषुप्ति की प्राप्ति नहीं होती है तो उसे आनंद नहीं रहता है। यह सब कुछ भी नहीं है और पत्थर पर भी पड़कर दो चार घण्टे सो जाता है तो बिल्कुल आनंदमय हो जाता है। यह सुषुप्ति की अवस्था ही जीव की परम आनंदमयी स्थिति है। कई बार लोग कह देते हैं कि फिर सोते रहें? सोते रहो, लेकिन सोया रहा नहीं जाता। सुषुप्ति आने के लिये गड्ढा खोदे, परिश्रम करे, दण्डबैठक करे शरीर मन को थकावे, बहुत ज्यादा थकावट न करे। बहुत ज्यादा थक जाओ तो भी नींद नहीं आती। ये सब इसलिये हैं कि नींद आ जाये।

'स्वप्नादिप्रतिबोधचेतः प्रति द्वारीभूतत्वाच्चेतोमुखः' मूल के पद चेतोमुख का अर्थ करते हैं कि जाग्रत् और स्वप्न का प्रतिबोध जो होता है वह सुषुप्ति से ही होता है। सुषुप्ति से स्वप्न में या जाग्रत् में जाता है। इसलिये यह द्वार हो गया। मुख और द्वार एक ही बात है। शरीर के अन्दर किसी भी चीज को डालने का दरवाजा ही मुख है। घर के दरवाजे को ही घर का मुँह कहते हैं, पूछते हैं कि घर का मुँह किस तरफ है अर्थात् दरवाजा

किस तरफ है। अर्थात् जाग्रत्-स्वप्न की चेतना की ओर सुषुप्ति के दरवाजे से ही बाहर निकलता हुआ आता है। इसलिये चेतोमुख कह दिया। शंका होती है कि जाग्रत् से सुषुप्ति में जाते हो तो सुषुप्ति का मुख जाग्रत् को क्यों नहीं कह देते? या स्वप्न से सुषुप्ति में जाते हो तो उसे सुषुप्तिमुख क्यों नहीं कहा? थोड़ी देर पहले उसका कारण दिया था। जहाँ चीज़ छिप जाये, वह कारण-अवस्था होती है और जहाँ चीज़ प्रकट हो जाये वह कार्य-अवस्था है। जाग्रत्-स्वप्न में तो अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् प्रकट हो जाता है। इसलिये इन्हें कार्यावस्था मानते हैं। सुषुप्ति के अन्दर सब चीजें अप्रकट हो जाती हैं। इसलिये उसे कारण-अवस्था मानते हैं। सुषुप्ति को कारण क्यों कहते हैं? क्योंकि वहाँ अप्रकटता है। जाग्रत् से सुषुप्ति, सुषुप्ति से जाग्रत् में जीव आता है। कार्यरूपता का प्राकट्य और कार्यरूपता का अप्राकट्य इसे लेकर ही कारण व कार्य शब्दों का प्रयोग वेदांती कर लेता है। अतः सुषुप्ति की कारणरूपता को दृष्टि में रख उसे चेतोमुख कहा। जाग्रदादि को कारणरूपसे नहीं बताना है अतः उन्हें सुषुप्तिमुख नहीं कहा। अथवा ऐसा भी इसका तात्पर्य हो सकता है कि सुषुप्ति अभिमानी प्राज्ञ को जाग्रत्-स्वप्न में आने के लिये चैतन्य ही दरवाजा बनता है। चेतनता है इसीलिये तो वह जाग्रत्-स्वप्न में पहुँचता है। यदि केवल अज्ञान ही होता तो कभी जाग्रत्-स्वप्न में नहीं जाता। इसलिये चैतन्य ही जाग्रत्-स्वप्न में जाने के लिये सुषुप्ति से द्वार है। चेतनता यदि न होती तो वह सुषुप्ति में ही रह जाता, जाग्रत्-स्वप्न में जा ही नहीं सकता था। यह मतलब भी चेतोमुखः का हो जाता है। इसलिये दोनों अर्थ समझ लेना। जाग्रत्-स्वप्न में प्रतिबोधरूप और सुषुप्ति में प्रतिबोध का कारण है।

दूसरे अर्थ को और स्पष्ट करते हैं— 'बोधलक्षणं वा चेतो द्वारं मुखमस्य स्वप्नाद्यागमनं प्रतीति चेतोमुखः' स्वप्न इत्यादि में आने के लिये वही द्वार है क्योंकि जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति तीनों के अन्दर बना तो दरवाजा बाहर रहेगा। दरवाजे की विशेषता है कि उसे न बाहर और न अन्दर कह सकते हैं। इसी बात को समझाने के लिये हिरण्यकशिपु की कथा है जिसमें उसने कहा 'न मैं अंदर मरूँ और न बाहर मरूँ।' अतः दरवाजे पर ही उसको मारा। अज्ञानरूपी उपाधि तो सुषुप्ति हो गई। अंतःकरण रूपी उपाधि बाहर का स्वप्न-जाग्रत् हो गया लेकिन अंतःकरण उपाधि वाला चेतन और अज्ञान रूपी उपाधि वाला चेतन दरवाजा हुआ। इसलिये चेतन को न सुषुप्ति में और न जाग्रत्-स्वप्न में कह सकते हैं। इसलिये चेतन ही वह दरवाज़ा हुआ जो अंदर और बाहर दोनों तरफ है, जैसे सुषुप्ति में वैसे ही जाग्रत्-स्वप्न में। यदि बराम्दे की दृष्टि से देखो तो उसे वहाँ और कमरे की दृष्टि से उसे कमरे में समझ सकते हैं। दरवाजा मध्य का है, न बराम्दे में और न कमरे में। ठीक इसी प्रकार अज्ञान रूपी सुषुप्ति अवस्था हो गई, मन का स्पन्द रूपी जाग्रत्-अवस्था लेकिन मन का स्पन्द रूपी और प्रज्ञान रूपी दोनों का मुख चेतना है क्योंकि मन के स्पन्द नहीं वाली अवस्था भी चेतन और मन के स्पन्दन वाली अवस्था

भी चेतन। चेतन बीच में पड़ गया इसलिये चेतोमुख कह दिया। यह ज़रूरी नहीं कि सुषुप्ति से स्वप्न में ही आया जाये, या जाग्रत् में ही आया जाये, अतः भाष्य में 'स्वप्नाद्यागमनं प्रति' कहा; प्रायः सुषुप्ति से स्वप्न में आया करते हैं, इतनी ही बात है, ऐसा ही है। यह कोई नियम नहीं।

वह प्राज्ञ है। प्राज्ञ अर्थात् भूत, भविष्य सभी ज्ञातृता वहाँ है। वर्तमान इसलिये नहीं कहा कि वर्तमान की ज्ञातृता तो जाग्रत् स्वप्न में है ही। लेकिन सुषुप्ति में भूत भविष्य की भी ज्ञातृता है। कैसे? मिट्टी से जो जो चीज़ें बाहर आगे निकलती जायेंगी वे सब मिट्टी में छिपी हुई थीं। इसका मतलब यह नहीं कि मिट्टी को देखने पर वे चीज़ें दीख जायेंगी। हैं तो मिट्टी में ही नहीं तो निकलती कैसे? इसी प्रकार भूतज्ञातृता उसमें गई हुई है विलीन है, भविष्य ज्ञातृता उससे निकलेगी। ऐसा नहीं कि सुषुप्ति में वह ज्ञातृता प्रकट हो जाती है। ऐसा होता तो प्रज्ञानघन कैसे होता? सारे विषयों को जानेगा सुषुप्ति से निकल कर ही। इसलिये वे सारी चीज़ें सुषुप्ति में ही हैं। 'प्रकर्षेण जानाति इति प्रज्ञः प्रज्ञ एव प्राज्ञः' प्रकर्ष से जानता है अतः प्रज्ञ और प्रज्ञ ही स्वार्थ में प्रत्यय लगने पर प्राज्ञ बन जाता है इसलिये प्राज्ञ कह दिया। इसकी ज्ञातृता तो जाग्रत्-स्वप्न में निकलती है, फिर उसे वहाँ प्राज्ञ कहना चाहिये, यहाँ क्यों कह दिया? 'सुषुप्तोऽपि हि भूतपूर्वगत्या प्राज्ञ उच्यते।' सुषुप्ति में प्रज्ञा की दशा से ही गया, जाग्रत्-स्वप्न से ही गया, अतः भूतपूर्व गति से उसे प्राज्ञ कह दिया, पहले था इसलिये तब भी कह दिया। जैसे किसी का परिचय देते हैं 'ये एग्जिक्युटिव इंजिनियर हैं।' पूछो कहाँ के? कहते हैं 'रिटायर्ड हैं।' यह भूतपूर्वगत्या कह दिया। उसी प्रकार सुषुप्ति में प्राज्ञ नहीं, जाग्रत्-स्वप्न में निकलने पर प्राज्ञ है जिसे सुषुप्ति में भूतपूर्व गति से प्राज्ञ कह दिया।

यह अर्थ कुछ कम जँचा। अर्थ तो इसलिये कर दिया कि प्राचीन साम्प्रदायिक अर्थ प्राज्ञ का यही था। यह नहीं समझना चाहिये कि भाष्यकार किसी नये सिद्धान्त का प्रतिपादन कर रहे हैं जिसे किसी ने नहीं लिखा। वे स्वयं अनेक पूर्वाचार्यों के उद्धरण देते हैं। ब्रह्मनंदी आदि प्राचीन टीकाओं का यथासंभव अविरोध रखने का दृष्टिकोण भाष्यकार का रहता है। उनके अर्थ में अपनी अनभिरुचि होती है तो सीधा नहीं कहते है कि 'इसमें हमारी रुचि नहीं.' प्रायः अथवा से अर्थान्तर कर देते हैं। यहाँ भी यह नहीं जँचा कि भूतपूर्व गति से नाम दो क्योंकि तब तो विश्व व तैजस में भी प्राप्ति होनी चाहिये। अतः नया अर्थ कर रहे हैं, 'अथवा प्रज्ञप्तिमात्रमस्यैवासाधारणं रूपमिति प्राज्ञः' यह दूसरी निरुक्ति हो गई। अन्य अवस्थाओं में तो प्रज्ञा है लेकिन प्रज्ञा के साथ दृश्य और द्रष्टा, ज्ञाता और ज्ञेय दो सज्जन बैठे हुए हैं, इसलिये भेद भी है। सुषुप्ति के अन्दर ज्ञाता-ज्ञेय नहीं रह जाता, केवल ज्ञान ही रह जाता है क्योंकि ज्ञाता अंतःकरणविशिष्ट भी यहाँ नहीं है और ज्ञेय विषयावच्छिन्न भी वहाँ नहीं है। वहाँ केवल प्रज्ञामात्र रह जाती है। इस दृष्टि से उसे प्राज्ञ कह दिया गया। प्रज्ञप्तिमात्र ही सुषुप्ति का असाधारण रूप है। इसलिये उसे प्राज्ञ कह दिया।

वह असाधारण रूप कैसा है? इसको स्वयं स्पष्ट करते हैं 'इतरयोर्विशिष्टमपि विज्ञानमस्ति। सोयं प्राज्ञस्तृतीयः पादः' अन्य अवस्थाओं में भी प्रज्ञा है लेकिन उनमें विशेषण वाला ज्ञान है और इसमें तो केवल ज्ञान ही ज्ञान है इसलिये कह दिया कि उनमें विशिष्टविज्ञान भी है। 'अपि' भी क्यों कहा? जाग्रत् और स्वप्न में विशिष्ट विज्ञान है। जाग्रत्-स्वप्न के अन्दर भी प्रज्ञप्तिमात्रता रहती है। कब रहती है? घड़े का ज्ञान तुमको हो गया। घटज्ञान जब नष्ट हो तब दूसरे क्षण घटज्ञान का अभाव रहे तब अगले क्षण पटज्ञान पैदा हो। घटज्ञान के नष्ट होने और पटज्ञान की उत्पत्ति के बीच का क्षण प्रज्ञप्तिमात्र ही है क्योंकि वहाँ द्रष्टा-दृश्य का भेद है नहीं। इसलिये जाग्रत्-स्वप्न अवस्था के अन्दर भी बीच बीच में प्रज्ञप्तिमात्रता रहती है लेकिन विशिष्ट विज्ञान भी रहता है। सुषुप्ति के अन्दर विशिष्ट ज्ञान आता ही नहीं। 'अपि' इसलिये कहा कि उन दोनों में भी सामान्य ज्ञान तो है। प्रज्ञप्तिमात्र जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति में साधारण तो है लेकिन सुषुप्ति के अन्दर प्रज्ञप्तिमात्रता है, यह उसका असाधारण रूप है। यह प्राज्ञ तृतीय पाद हो गया।

●

षष्ठ मन्त्र

जाग्रत् का विचार करते हुए बता रहे थे कि प्राज्ञ विश्व और वैश्वानर अर्थात् व्यष्टि और समष्टि दोनों एक ही हैं। कहना चाहिये था जाग्रत् के अभिमान को विश्व और कहा वैश्वानर। इससे संकेत दिया कि विश्व और वैश्वानर एक ही हैं। व्यष्टि और समष्टि की एकता तो वहाँ संकेतित की गई क्योंकि जाग्रत् काल में व्यष्टि और समष्टि की एकता बुद्धिगम्य तो है, बुद्धि से तो समझ में आता है, लेकिन अनुभवगम्य नहीं है। बुद्धि से समझ में आता है कि हमारा शरीर इस समष्टि पंच महाभूत का ही एक अंग है। लेकिन यह बुद्धि से समझ में आने पर भी अनुभव यह रहता है कि यह मेरा शरीर और यह दूसरा संसार है। इसी प्रकार बुद्धि से तो समझ में आता है कि एक हिरण्यगर्भ का अंग मेरा मन है, समष्टि मन में ही मेरा मन है, उसका ही एक अंश है, लेकिन अनुभव फिर भी अपने ही मन का होता है, दूसरे के मन का नहीं। तीक्ष्ण विचार करने पर आत्मा का स्वरूप निश्चित होता है। बिना किसी भेदक पदार्थों की कल्पना किये एक ज्ञान और दूसरे ज्ञान में भेद को सिद्ध नहीं कर सकते। जब तक यह न कहें कि यह घड़े का ज्ञान और यह कपड़े का ज्ञान, तब तक दोनों ज्ञानों में फरक कैसे बताओगे? इसलिये किसी न किसी भेदक पदार्थ अर्थात् अलग करने वाले गुण की कल्पना करके तो इसमें भेद कह सकते हैं अन्यथा नहीं। इस सूक्ष्म विचार से पता लग जाता है कि एक ही आत्मा है लेकिन पता लगने पर भी अनुभव ऐसा नहीं है। जाग्रत्काल में एकता के संकेत मिलते हैं, एकता का अनुभव नहीं होता, क्योंकि जाग्रत्काल का अनुभव करने वाले शरीर इन्द्रिय मन हैं। ये भेदक उपाधि हुए बने ही रहते हैं। जब तक शरीर मन हैं तभी तक तो जाग्रत् अवस्था

है। चूँकि उपाधि के रहते हुए ही जाग्रत् का अनुभव, इसलिये संकेत मिलने पर भी जाग्रत् में व्यष्टि और समष्टि की एकता का अनुभव नहीं। इसीलिये वहाँ विश्व और वैश्वानर शब्दमात्र का प्रयोग कर संकेत किया। जाग्रत् में एकता का संकेत है लेकिन एकता का अनुभव नहीं। क्यों अनुभव नहीं? क्योंकि भेद करने वाली उपाधि के रहते हुए ही जाग्रत् अवस्था रहती है। यदि भेद करने वाली उपाधि को हटा दो तो जाग्रत् अवस्था नहीं रहती। इसलिये अनुभव नहीं हो सकता। अब जब सुषुप्ति आई तो श्रुति मुखतः, स्पष्टतः, कह रही है कि व्यष्टि और समष्टि सर्वथा एक है। क्यों एक कह सकते हैं? क्योंकि सुषुप्ति में भेद करने वाली उपाधि शरीर इन्द्रिय मन इत्यादि नहीं रह जाते। इसलिये सुषुप्ति में तो व्यष्टि और समष्टि की एकता बिल्कुल प्रकट है, संकेतित नहीं क्योंकि एक की सुषुप्ति और दूसरे की सुषुप्ति में भेद करने वाली चीज़ कोई नहीं है, क्योंकि कोई भेदक प्रत्यय अंतःकरण नहीं है। अविद्या रूपी उपाधि में भेद नहीं है, वह एक ही है। इसीलिये सुषुप्ति से जब उठकर आता है तो महामूर्ख और महापण्डित दोनों एक ही बात कहते हैं 'मैं सुख से सोया, मैने कुछ नहीं जाना।' जाग्रत् में एक महापंडित है, महापंडित होने के नाते वह एक पंक्ति बोल देता है, उसको समझने के लिये अपने को दो घण्टे लगते हैं। बड़ा भारी वैज्ञानिक है, वह एक आविष्कार को प्रकट करता है उसको व्यवहार में लाने के लिये बीसियों साल लग जाते हैं। वह महापंडित है रोगी को देखकर एक दवाई बता देता है और अपने दस साल तक सोचते रहें, वह दवाई समझ में नहीं आयेगी। जाग्रत् में यह फरक है। एक आदमी महामूर्ख है, उसको तुम एक वाक्य कहो तो नहीं समझ सकता। एक अंधा है जिसको रूप नहीं दीखता और दूसरे की आँखें तेज हैं। एक का कान तेज है, एक का कमजोर। एक रातदिन अपने दिल में दुःखी होता रहता है कि 'हाय! मैंने किसी ब्राह्मण की हत्या क्यों कर दी!' वह ब्रह्महत्यारा है। दूसरा आदमी दिन-रात प्रसन्न रहता है कि मैने चातुर्मास और सोमयाग कर लिये अब वाजपेय याग करने के लिये सामग्री इकट्ठी हो गयी है। यह सब जाग्रत् में है। लेकिन वे सब महापंडित, महापुण्यात्मा, महापापात्मा, तेज और मंद आँखों वाला, सारे के सारे सुषुप्ति में आकर एक ही अनुभव करते हैं कि 'मैनें कुछ नहीं जाना, मैं आनंद से सोया।' वहाँ किसी का कोई दूसरा अनुभव नहीं होता। इसलिये वहाँ भेदक नहीं। अतः व्यष्टि और समष्टि की एकता स्फुट है। वही अब श्रुति छठे मंत्र में कहती है।

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्।।६।।

यह जो सुषुप्ति काल के अन्दर है यही सर्वेश्वर है। इसी को शास्त्रों के अन्दर सर्वेश्वर कहा गया है क्योंकि समष्टि ही तो ईश्वर है। जैसे इस शरीर के मालिक हम वैसे ही जो सारे संसारका मालिक वह ईश्वर है और सुषुप्ति में वह और हम एक हैं क्योंकि वहाँ भेदक नहीं है। जाग्रत् में भेदक है। वेदांत इसीलिये ईश्वर को जैसे सिद्ध

करते हैं वैसे और कोई नहीं सिद्ध कर सकता। नैयायिक अनुमान से ईश्वर को सिद्ध करता है पर अनुमान में दोष आ जाता है। कोई भी यह नहीं कहता कि ईश्वर ऐसा है, यह अनुभव है। वेदांत कहता है कि सुषुप्ति में जो तुम्हारा अनुभव है वही ईश्वर है। सुषुप्ति में तुम ईश्वर से एक हो, वही ईश्वर का रूप है। सुषुप्ति का अनुभव प्राणिमात्र को है। प्राणिमात्र ने इसको माना लेकिन एक आदमी विट्ठल शास्त्री हमको एक बार मिले जो सुषुप्ति को नहीं मानते! एक बार उनसे विचार चल रहा था, तीन अवस्थाओं का विचार होने लगा। उन्होंने कहा 'मैं वेदप्रामाण्य को स्वीकार नहीं करता, सुषुप्ति को नहीं मानता।' एक ही आदमी ऐसा मिला जिसने कहा कि सुषुप्ति नहीं आती। अतः ऐसे अपवाद छोड़े दें— और उन्हें भी हम ज़िद्दी ही मानते हैं, सुषुप्ति उन्हें नहीं आती ऐसा नहीं— तो सुषुप्ति, गहरी नींद सब को अनुभवसिद्ध है।

वह अवस्था सर्वेश्वर की है। यही अंतर्यामी है। सर्वेश्वर सर्वज्ञ आदि मन्त्रोक्त सब विशेषण परमेश्वर के हैं। यही सब चीजों का एकमात्र योनि अर्थात् कारण है। इसी से सब कुछ उत्पन्न हुआ है और इसी में सब कुछ लीन होता है। जितना भी जड-चेतनात्मक जगत् है वह सारा का सारा सुषुप्ति की अवस्था से बाहर आता है और उसमें ही फिर लय हो जाता है। नतीजा हुआ कि वहाँ जिसके साथ एकता का अनुभव किया उसको फिर भेदक रहते हुए अलग देखते हुए भी एकता का भान जायेगा नहीं। जैसे पति और पत्नी एक दूसरे का हाथ पकड़े बैठे थोड़े ही रहते हैं। एक बार हथलेवा या पाणिग्रह कर लिया, दृढ निश्चय हो गया कि अब हम पति-पत्नी हो गये। यह थोड़े ही है कि दिन रात हाथ पकड़े बैठे रहें तभी एक हो। इसी प्रकार सुषुप्ति के अन्दर जब जीव ने अपने ईश्वर-स्वरूप से अभिन्नता को जान लिया तो जाग्रत् में भेदक प्रत्यय के रहते हुए भी अभेद पता रहेगा। भेदक प्रत्यय रहते व्यवहार भेद भी होगा। जैसे वह पति पत्नी हो गये लेकिन फिर भी पत्नी भोजन बनायेगी और पति बाहर से कमा कर लायेगा। दोनों का व्यवहार अलग होगा। लेकिन पति जो कमाकर लाता है, पत्नी उसे अपनी कमाई जानती है। इसलिये पति लाख कमाता है तो वह यह नहीं कहती कि वह लखपति, मानती है कि मैं लखपति हूँ। ऐसे ही जो गहने बनाये, उन्हें पत्नी को पहनाकर पति को अवबोध होता है कि यह मेरा ऐश्वर्य है। पत्नी न पहने तो जोर लगाता है कि हीरे का हार पहनकर चलो, नहीं तो लोग क्या समझेंगे। व्यवहारगत भेद रहते हुए ही एकता है क्योंकि पाणिग्रह हो गया। उसी प्रकार सुषुप्ति में जिसने परमेश्वर के साथ एकता को समझ लिया वह भेदक प्रत्यय रहते हुए, व्यवहार में भेद करते हुए भी जानता है कि परमेश्वर के साथ मेरा अभेद है।

यही भाष्य में स्पष्ट करते हैं 'एष हि स्वरूपावस्थः सर्वेश्वरः साधिदैविकस्य भेदजातस्य सर्वस्येशिता नैतस्माज्जात्यन्तरभूतोन्येषामिव। 'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः' (छा॰ ६-८-२) इति श्रुतेः।' यहाँ 'हि' अर्थात् कारण। श्रुति ने सर्वेश्वर कहा, क्यों कहा? 'स्वरूपावस्थः' अर्थात् उपाधि को न लेकर अनौपाधिक को लेकर के कहा। उपाधि जीव

की हुई अंतःकरण 'कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः' अविद्या का कार्य अंतःकरण हुआ या मोटी भाषा में मन समझ लो। मन जीव की उपाधि है। कारण, सारे जगत् को उपन्न करने वाली, माया ईश्वर की उपाधि है। जाग्रत्-स्वप्न में मन रहता है, इसलिये सुषुप्ति के अन्दर जीव नहीं है। जाग्रत्-स्वप्न में जीव है ईश्वर नहीं ऐसा नहीं क्योंकि माया की उपाधि तो जाग्रत् में भी रहेगी। जाग्रत् के अन्दर जीव है, ईश्वर तो है ही और सुषुप्ति के अन्दर जीव नहीं है, कारण ईश्वर से एक हो गया। इसलिये यह जो स्वरूपावस्था कही, यह हेतु है। हेतु देना जरूरी क्यों होता है?—यह शंका किसी के मन में हो सकती है। कुछ लोग अनेक अविद्याओं को मानने वाले भी वेदांत-एकदेशी हैं। खासकर भामती प्रस्थान वाले अनेक अज्ञान मानते हैं। हर जीव के अंदर अपनी अपनी अलग अविद्या है। उनका कुछ विचित्र सिद्धान्त है कि हर जीव की अपनी सृष्टि अलग है! उनके यहाँ प्रतिजीव सृष्टि अलग है। और जो हम लोगों को प्रत्यभिज्ञा हो जाती है वह इसलिये कि दो आदमी एक जैसी सृष्टि कर लेते हैं! ऐसी कल्पना अनेक अविद्यावादी कुछ लोगों की है। इस दृष्टि से इस मंत्र का क्या तात्पर्य लगाया जाये? स्वरूपावस्थ हेतु वहाँ भी लग जायेगा। अर्थ यह करना पड़ेगा कि उपाधि को गौण करके चैतन्य की प्रधानता कर दी। यह स्वरूपावस्था हो गई। अनेक अविद्या पक्ष में उपाधि-प्राधान्य और चैतन्य को गौण ले लो और मुख्य सिद्धान्त के अन्दर कार्य उपाधि के नाश हो जाने से जीव वहाँ नहीं ऐसा समझ लो। जीव की उपाधि मन अपने कारण माया में लीन हो गयी इसलिये चेतन एक हो गया।

वह सर्वेश्वर कैसा है? 'साधिदैविकस्य भेदजातस्य सर्वस्येशिता'। व्यष्टि के समूह से समष्टि की सत्ता है या नहीं? व्यावहारिक पक्ष है कि समष्टि ही सत्ता वाली है, व्यष्टि नहीं। यह मार्क्स और उसके अनुयायियों का पक्ष है। व्यष्टि की ही स्वतंत्र सत्ता है केवल लोगों के मिल जाने से कुछ नवीन उत्पत्ति नहीं होती, यह वर्तमान काल के जो इंग्लैण्ड अमरीका इत्यादि के विचारक Personalist Realists हैं, उनका सिद्धान्त है। समाज से भिन्न व्यक्तियों का स्वतंत्र अस्तित्व है ही नहीं यह एक मत है। व्यक्ति का ही स्वतन्त्र अस्तित्व होता है समाज कोई चीज है ही नहीं यह दूसरी मान्यता है। यह मान्यता आज के व्यावहारिक विचार में आ जाती है और यही मूलतः झगड़ा इस समय में चल रहा है। वेदांती इसे कुछ भिन्न रूप से मानता है। वह इसमें भिन्नाभिन्न-विलक्षण सम्बन्ध मानता है। व्यष्टि समाज से सर्वथा भिन्न है, यह असंभव है क्योंकि जब समाज में रहेगा तभी भाषाज्ञान आदि सब कुछ सीखेगा। समष्टि से व्यष्टि सर्वथा भिन्न भी नहीं है और सर्वथा अभिन्न भी नहीं है क्योंकि सर्वथा अगर अभिन्न हो तो प्रत्येक व्यक्ति का जो स्वातंत्र्य-अनुभव है उसका क्या करोगे चार लड़कों को एक स्कूल में पढ़ाने पर भी चारों एक जैसे नहीं हो जाते। यहाँ तक तो ठीक है कि उत्तर प्रदेश में पढ़े हुए चार लड़के हिन्दी ही जानते हैं और चार लड़के केरल में पढ़े हुए मलयाली ही जानते हैं। यह उनमें साम्य है, यह समाज वाली स्वतंत्रता है। लेकिन उन चार में

एक सुन्दर मलयाली बोलता है और दूसरा गालियों वाली मलयाली बोलता है। उस देश में भी लोग गालियाँ देते है, यह नहीं समझना कि इधर ही लोग गालियाँ देते हैं। इसी प्रकार कानपुर में पढ़े हुए चार लड़के बात करने में भी माँ-बहन से नीचे ही नहीं उतरते, गाली के बिना उनकी बात ही नहीं। उनमें एक लड़का है जिसके मुख से सिवाय शुद्ध शब्द के और कुछ नहीं निकलता। व्यक्ति की स्वतंत्र सत्ता भी है और व्यक्तियों के समूह से जो समाज बना उस समाज के अन्दर भी एक विशिष्ट सत्ता है वह अच्छी भी होती है और बुरी भी होती है। एक आदमी किसी का जल्दी खून नहीं कर सकता। यह ज़रा सच्ची बात बताते हैं, उलटा नहीं समझना। एक व्यक्ति किसी का खून नहीं करता लेकिन उस व्यक्ति को एक टोले में रख दो उस टोले का नाम मिलिट्री रखकर उसे राष्ट्रीय भावना (National spirit) वाला कहना शुरू कर दो और उसे परमवीरचक्र आदि देना शुरू कर दो तो उससे खूब आदमी मरवा लो। क्या हुआ? उस टोले में कुछ विशेषता आ गई। जैसे वहाँ मिलिट्री का नाम होता है वैसे ही अनेक नाम दे दिये जाते हैं जहाँ लड़ाई झगड़ा करना हो। वहाँ व्यक्ति का अपना स्वातंत्र्य अक्षुण्ण ही रहता है क्योंकि वहाँ भी सब एक जैसे नहीं हैं। एक वहाँ गोली चलाते हुए सोचता है पैर में मारूँ, दूसरा देखकर छाती में मारता है। भेद वहाँ भी है, लेकिन भेद रहते हुए भी कुछ ऐसी चीज है जो सामान्य हो जाती है। हम लोग व्यक्ति और समाज का भिन्नाभिन्न-विलक्षण सम्बन्ध मानते हैं।

इसी प्रकार जीव और ईश्वर का जो सम्बन्ध है वह कैसा है? जीव ईश्वर से सर्वथा भिन्न भी नहीं क्योंकि यदि सर्वथा भिन्न हो तो शरीर मन इत्यादि जो ईश्वर की सृष्टि है उससे अलग होकर उसकी सत्ता होती, यह नहीं हो सकता। लेकिन सर्वथा स्वतंत्र भी नहीं रह सकता क्योंकि फिर जड पदार्थों में और उसमें फरक ही नहीं रहेगा। उसको भी पता है कि मेरी स्वतंत्रता है। सर्वेश्वर कहकर कहते हैं कि यह जो अध्यात्म और अधिदैव जगत् है इन दोनों के ऊपर ईश्वर का शासन रहते हुए ही जीव का स्वातंत्र्य है। ईश्वर के शासन से रहित होकर यह जीव परम स्वतंत्र नहीं है, किसी भी हालत में, न जाग्रत् में और न स्वप्न में। इसलिये जितना भी भेदजात अथवा भेदसमूह है उन सबका वह नियामक है, शासन करने वाला है।

'शासन करने वाला' सुनते ही तटस्थ ईश्वर कारणवादी पाशुपत और नैयायिक उछल पड़ा। 'यही तो हम कहते हैं!' संसार में अधिकतर तटस्थ कारण ईश्वर को मानते हैं। वे यह मानते हैं कि या परमाणु या प्रकृति या कोई चीज़ है, उससे संसार बनता है, बनाने वाला ईश्वर है। इसी को तटस्थ-कारणवाद कहते हैं। जैसे कुम्हार घड़े को बनाता है, मिट्टी आदि से बनाता है। घड़े को बनाता है लेकिन घड़े में अनुगत नहीं है। ऐसे ही ईश्वर सृष्टि को बनाता है लेकिन सृष्टि में अनुगत नहीं है। यह तटस्थकारणवाद पाशुपत नैयायिक लोग मानते हैं। इसका खण्डन ब्रह्मसूत्रों में किया है क्योंकि वेदांती का कहना है कि श्रुति कहती है कि जिस प्रकार मकड़ी जाले को बनाती है ऐसे ईश्वर ने सृष्टि बनायी।

मकड़ी जाला बनाने के लिये धागा कहीं अन्यत्र से नहीं लाती। स्वयं ही धागा रूप से बन रही है तथा बना भी रही है। अथवा हम लोग जैसे अपने बाल बनाते हैं; कंघी करना नहीं समझना; बाल मूँड़ दो और पाँच सात दिन तक हजामत न बनाओ तो खुद ही माल तैयार हो जाता है। इस माल की कच्ची सामग्री अमरीका, इंग्लैण्ड कहाँ से मंगायी? स्वयं ही बनाने वाले और बनने वाले हो। 'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति। यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाऽक्षरात्संभवतीह विश्वं।।' इसी प्रकार परमेश्वर केवल जगत् को बनाता है ऐसा नहीं बल्कि जगत् रूप में बनता भी वही है। तटस्थकारणवाद निषेध करने के लिये कह दिया 'नैतस्माज्जात्यंतरभूतः अन्येषामिव'। यह जो सुषुप्तिस्थ है जिसे सर्वेश्वर पद से कह रहे हैं वह कोई दूसरी जाति वाला पदार्थ हो ऐसा नहीं। 'अन्येषाम् इव' अर्थात् पाशुपत आदि की तरह नहीं, दूसरों के जो सिद्धान्त हैं उनकी तरह नहीं।

ऐसा क्यों मानते हैं? कहते हैं कि श्रुति ही हमारा प्रमाण है। 'प्राणबंधनं हि सोम्य मनः' यह श्रुति कहती है। 'प्रकृतमज्ञातं परं ब्रह्म सदाख्यं प्राणशब्दितम्' यह टीकाकार कहते हैं। अज्ञात परमात्मा ही यहाँ प्राण शब्द से कहा गया है। वेदांत सिद्धान्त में अज्ञात परमात्मा ही जगत् का कारण और ज्ञात परमात्मा ही मोक्ष का कारण है। बंधन और मोक्ष का कारण परमात्मा ही है। अज्ञात परमात्मा, अर्थात् जब तक परमात्मा को नहीं जाना, इस जगत् का कारण है और परमात्मा को जान लिया तो वह ज्ञात परमात्मा ही मोक्ष का कारण हो गया। वेदांत-सिद्धान्त में दोनों का कारण एक परमात्मा ही है। कहोगे कि एक ही चीज़ उलटा फल कैसे पैदा कर सकती है? उलटा फल सब जगह पैदा करती है। रेल में जा रहे हो, तुम्हारे साथ एक आदमी है और तुम्हें पता नहीं कि यह चोर है, अज्ञात चोर है। वह तुम्हारा माल लेकर गायब हो जाता है। वही चोर यदि तुम्हारे गाँव का है और तुम्हें पता है कि यह दस नम्बरी चोर है और रेल के डिब्बे में वह तुम्हें मिल गया, तो तुम निश्चिन्त रहते हो। ज्ञात चोर का फायदा है कि तुम्हारी कोई चीज़ चोरी नहीं होने देगा क्योंकि उसे पता है कि कोई दूसरा भी चुरा ले जायेगा तो यह मेरे को ही पकड़ायेंगे! इसलिये खास ध्यान रखता है कि चोरी न हो। अज्ञात चोर नुक्सान का कारण और वही ज्ञात होकर फायदे का कारण हो जाता है। ऐसे ही परमात्मा का हाल है। अज्ञात परब्रह्म ही यहाँ प्राण शब्द से कहा गया। 'तद्बंधनं बध्यते अस्मिन् पर्यवस्यति' इसमें बंधता है अर्थात् इसमें पर्यवसित होता है। यह जो मन है इसका पर्यवसान इस अज्ञात परमात्मा में ही सुषुप्ति काल में होता है। मन सुषुप्ति काल में उस अज्ञात परमात्मा में चला जाता है। समाधि के अन्दर मन कहाँ लीन होगा? ज्ञात परमात्मा में। सुषुप्ति और समाधि दोनों में लीन तो परमात्मा में ही हुआ लेकिन समाधि में ज्ञात परमात्मा में लीन हुआ इसलिये मुक्त हुआ, सुषुप्ति में अज्ञात परमात्मा में लीन हुआ इसलिये बंधन वैसा का वैसा रहा। लेकिन दोनों अवस्थाओं में लीन परमात्मा में ही होता है। इसलिये

कहा 'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः' यहाँ मन से केवल मन को न ग्रहण कर मन उपाधि वाले जीव-चैतन्य को ग्रहण करना। क्योंकि चेतन ही चेतन में लीन होगा।

दूसरी श्रुति बताते हैं 'अयमेव हि सर्वस्य सर्वभेदावस्थो ज्ञातेत्येष सर्वज्ञः' प्राज्ञ ही सर्वज्ञ है। 'अयमेव' क्यों लगा दिया? श्रुति में यह पद नहीं लगाया था। केवल कहा था यह परमेश्वर सर्वज्ञ है। एवकार इसलिये लगाया कि परमात्मा ही सर्वज्ञ होता है। कहोगे ऐसा नहीं क्योंकि पुराणों में व्यास, गणेश, पराशर इत्यादि बहुत से सर्वज्ञ सुने गये हैं, आपने परमात्मा को ही केवल सर्वज्ञ कैसे कह दिया? 'हि' पद से कारण बताते हैं कि क्यों एव कहा। हेतु दिया कि जो सर्वज्ञ रूप से प्रसिद्ध व्यास, पराशर आदि हैं उन सब भेदों के अंदर व्यवस्थित रहने वाले परमेश्वर ही हैं। परमेश्वर हैं तो व्यास पराशर भी सर्वज्ञ हैं और वह नहीं तो व्यास और पराशर आदि की उपाधिमात्र सर्वज्ञ नहीं हो सकती। इसलिये वास्तविक सर्वज्ञता तो परमेश्वर की ही हुई, इसलिये उसे सर्वज्ञ कहा।

'एषः अन्तर्यामी' अन्तर्यामी अर्थात् 'अंतः अनुप्रविश्य' अन्दर प्रवेश करके शासन करने वाला। 'अनुप्रविश्य' क्यों कहा? एक प्रवेश होता है और एक अनुप्रवेश होता है। घड़े में पानी का प्रवेश होता है। घड़े में पानी का प्रवेश होने पर सूर्य के प्रतिबिम्ब का अनुप्रवेश होता है। पानी भरने के लिये प्रविष्ट करने का कार्य करना पड़ता है। लेकिन पानी भरने के बाद सूर्य का प्रतिबिम्ब उसमें डालने के लिये तुमको कुछ करना थोड़े ही पड़ता है, पानी भर दिया तो प्रतिबिम्ब अपने आप ही पड़ेगा। इसलिये प्रवेश के बाद जो होता है उसी को अनुप्रवेश कहते हैं। अन्यत्र भी श्रुति में कहा 'अनेन जीवेन आत्मना अनुप्रविश्य', वहाँ भी वही तात्पर्य है। उसका प्रवेश घड़े में पानी की तरह नहीं है बल्कि पानी में सूर्य के प्रवेश की तरह है। इसीलिये उसके शुद्ध रूप में कभी कोई फरक नहीं आ सकता, वैसा का वैसा बना रहता है। भाष्यकारों ने श्रुति के अनुरोध से कह दिया कि अन्तर्यामी अर्थात् अनुप्रवेश करने वाला शासक। प्रतिबिम्ब का मतलब होता है कि बिम्ब की तरह तो लगे लेकिन बिम्ब न हो। प्रतिबिम्ब का मतलब केवल यह नहीं कि अंतःकरण कोई होगा उसमें उसका मुँह दीखता होगा! जैसे काँच में अपना मुँह पड़ता है तो मुँह की तरह लगता है लेकिन मुँह है नहीं। इसी का नाम प्रतिबिम्बरूपता है। ईश्वर सबके हृदय में घुसा हुआ प्रतीत होता है लेकिन वस्तुतः सचमुच घुसा हुआ नहीं है। ऐसा नहीं कि ईश्वर के टुकड़े टुकड़े होकर हमने बाँट लिया हो और ईश्वर बेचारा छोटा सा रह गया हो। यद्यपि प्रत्येक जीव में अन्तर्यामी अलग अलग लगता है लेकिन लगने पर भी वह अखण्ड का अखण्ड बना रहता है। यही उसका प्रतिबिम्ब रूप से प्रवेश है। इसलिये 'अंतः अनुप्रविश्य' कहा। इस प्रकार से प्रविष्ट हुआ उन सबका नियमन या शासन करता रहता है।

यह जो उसकी अन्तर्यामिता का शासन है यह बड़ा मीठा शासन है। उसके दो प्रकार के शासन हैं। एक बाहर रहकर शासन करना। जब कर्म के अनुसार सुख दुःख का भोग देता है, बहिर्यामी है; तुम्हारे कर्म के अनुसार ही भोग कराता है। अन्तर्यामी

रूप से अंदर से नियंत्रण करता है। बाहर से उसका नियंत्रण कठोर है क्योंकि तुम चाहते नहीं कि यह दुःख मिले लेकिन ज़बरदस्ती भोगना पड़ता है। दूसरे के सुख को देखकर ईर्ष्या इत्यादि होती है। इसलिये कठोरता लगती है। अंदर रहकर जो शासन करता है, उसे ऋग्वेद में कहा है 'मधुकश', अर्थात् मीठा चाबुक। वह दण्ड रूप से उस समय कुछ नहीं करता लेकिन अंदर कहता है कि 'बुरा किया, नहीं करना था' और ऐसा लगता है कि मैं खुद ही बोल रहा हूँ या कह रहा हूँ। विवेकी इस मीठे चाबुक को बाहर के चाबुक से अधिक महत्त्व देता है। यह बात आदमियों को अच्छी नहीं लगती जब हम कहते हैं कि यदि संसार में कोई सुधार ला सकता है तो स्त्रियाँ ला सकती हैं। न सरकार और न कोई और सुधार ला सकता है। वे तो बाहर का चाबुक मारेंगे। अगर स्त्रियाँ कह दें कि चोर बाजारी से लाई हुई साड़ी हम नहीं पहनेंगी अथवा कर बचाकर लाया हुआ गहना हम नहीं पहनेंगी विदेशों से आई हुई चीज़ का हम प्रयोग नहीं करेंगी तो आदमी साल दो साल लायेगा, अंत में कहेगा 'मारो गोली, इसको नहीं चाहिये तो अपने काहे के लिये सब करें।' यह मीठा चाबुक है। बाहर के चाबुक में आदमी सोचता रहता है कि यह उपाय करें। वहाँ इसलिये मधुकश कहा है क्योंकि परमात्मा इसका प्रयोग करके हमें प्रायः ठीक करता है। लोग कहते हैं कि ज़माना खराब है। हमारा हमेशा कहना है कि जो बुरे से बुरा आदमी कहा जाता है, वह भी दिन भर में कितने बुरे काम करता होगा? दिन भर में सौ झूठ बोलता होगा। वाक्य दो हजार बोलता होगा। उन्नीस सौ तो फिर भी सत्य ही बोलता है! घूस खाने वाले तीन चार आदमियों से दिन में घूस खाते होंगे लेकिन काम तो तीस चालीस का करते हैं। पाँच से घूस खाई तो पच्चीस का बिना घूस के कर रहे हैं। जिसको तुम बहुत खराब ज़माना या बहुत बुरा आदमी कहते हो वह भी कितनी बुराई कर लेता है? बाकी समय बुराई न करने में कारण मधुकश अंतर्यामी है क्योंकि उसकी आवाज को मनुष्य दो चार बार दबाता है दिन भर में, फिर भी दबा सकता नहीं। इसलिये मनुष्य को बाहर से नियंत्रण करने का प्रयत्न करने के बजाय इस अन्तर्यामी को दृढ करो, वह बुरा काम नहीं कर सकेगा। इसीलिये कह दिया 'सर्वेषां भूतानां नियन्ता अपि'। यह श्रुति इसी को घोषित करती है।

'अतएव यथोक्तं सभेदं जगत्प्रसूयत इत्येष योनिः सर्वस्य।' यह जो प्रकृत प्राज्ञ है, यही सारे जगत् का कारण है क्योंकि जाग्रत् और स्वप्न दोनों स्थान इसी में से बाहर आते हुए प्रतीत होते हैं। अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत तीन प्रकार के भेद वाले जगत् को यह उत्पन्न कर रहा है। इसलिये यही उसका कारण हुआ। 'यतएवं प्रभवश्चाप्ययश्च प्रभवाप्ययौ हि भूतानामेष एव।' अब तक श्रुति ने जो सर्वेश्वर अन्तर्यामी और योनि शब्दों का प्रयोग किया इससे हो सकता है कि कोई समझ लेगा कि वह तटस्थ कारण का लक्षण है। वस्तुतः 'प्राणबंधनं हि सोम्य मनः' यह श्रुति उसे स्वयं ही अभिन्न निमित्तोपादान कारण बताती है। 'भूत उससे उत्पन्न होते हैं' यहाँ तक पहले

के सारे विशेषण तटस्थ निमित्त में लग जायेंगे, लेकिन उसी में भूत लीन भी होते हैं, यह निमित्त का लक्षण नहीं हो सकता। घड़े का प्रभव, घड़े का सर्वेश्वर इत्यादि सब शब्द तो कुम्हार के लिये कहे जा सकते हैं लेकिन घड़ा फूटकर कुम्हार में लीन होता है यह नहीं कह सकते। जब कोई चीज लीन होती है तो अपने उपादान कारण में ही जायेगी। बनाने वाले में नहीं। यदि ऐसा होता तो सुनार खरबपति हो जाता क्योंकि सारा सोना गलकर उसी के पास आता! सारे गहने गलकर सोने में जाते हैं, सुनार में नहीं। इसलिये जो अज्ञात परमेश्वर सुषुप्ति काल में है इसी में सब कुछ लीन भी होता है, इसलिये यह अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। 'यतः प्रभवः' जिससे प्रभव है और जिससे लय है वह भी यही है। जिससे कोई चीज उत्पन्न होती है उसे प्रभव कहते हैं। 'अप्येति अस्मिन् इति अप्ययः' यही दोनों में भेद है।

इन छह श्लोकों में जो बात कही उसके ऊपर भगवान् गौडपाद की कारिकायें हैं। यहाँ से कारिका प्रारंभ होती है।

●

प्रारम्भिक नव कारिकायें

मूल ग्रंथ के प्रत्येक पद का या हर वाक्य का अर्थ न करके उनके बारे में और क्या कहा जा सकता है, क्या क्या और विचार किया जा सकता है, यह बताना कारिका का प्रयोजन है। भाष्य, टीका, वार्त्तिक, वृत्ति आदि सब विशिष्ट ढंग के ग्रन्थों के नाम हैं। कारिका वह है जिसमें ग्रन्थ पर स्वतंत्र अनुसंधान किया जाये। इन कारिकाओं के बारे में प्रसिद्धि यह है कि कलियुग के प्रारंभ में अद्वैत की परम्परा कुछ क्षुण्ण हो गई, क्षीण हो गई। तब कारिकाकार ने बद्रीनारायण में जाकर भगवान् नारायण की अतिदीर्घ काल तक तपस्या की। उसके फलस्वरूप भगवान् नारायण ने प्रसन्न होकर उन्हें इन कारिकाओं का उपदेश दिया। भगवान् नारायण ही अद्वैत वेदांत के प्रवर्त्तक हैं। इसीलिये हम लोगों की गुरुपरम्परा है।

'नारायणं पद्मभवं वशिष्ठं शक्तिं च तत्पुत्रपराशरं च।
व्यासं शुकं गौडपदं महान्त गोविन्दयोगीन्द्रमथास्य शिष्यम्।।

सर्वप्रथम भगवान् नारायण से परंपरा प्रारंभ होती है। नारायण से ब्रह्मा, ब्रह्मा से वशिष्ठ, वशिष्ठ से शक्ति, शक्ति से पराशर आदि। इसीलिये कभी भी जब किसी संन्यासी को नमस्कार करते हैं तो कहते हैं ॐ नमो नारायणाय। इसके द्वारा भगवान् नारायण का स्मरण करते हैं। जैसे गौतम महर्षि के वंश में उत्पन्न को गौतम और वशिष्ठ गोत्र में उत्पन्न हुए को वशिष्ठ कह देते हैं अर्थात् जो जिस गोत्र में उत्पन्न होता है, तदनुकूल नाम रख देते हैं, वैसे ही भगवान् नारायण की विद्यावंशपरम्परा में होने के कारण संन्यासिमात्र को नारायण पद से कह दिया जाता है। तब संन्यासी भी आशीर्वाद देता

है। नारायण अर्थात् वस्तुतः तुम भी नारायणस्वरूप हो, तुम भी इस नारायणभाव को प्राप्त हो। इसीलिये गौडपादाचार्य ने नारायण की तपस्या की और उन्होंने इन कारिकाओं का उपदेश दिया। शब्दशः तो भगवान् क्या उपदेश देंगे? भगवान् ने जो ज्ञान दिया उस ज्ञान को उन्होंने अपने शब्दों में लिखा। चतुर्थ प्रकरण के प्रारंभ में 'वन्दे द्विपदां वरम्' कहकर इस ओर संकेत करेंगे।

'अत्रैतस्मिन्यथोक्तेऽर्थ एते श्लोका भवन्ति।' इस विषय में अर्थात् ये जो छह मंत्र आ गये जिनमें तीन अवस्थाओं का और व्यष्टि समष्टि की एकता का विचार किया, उनके प्रतिपाद्य के बारे में ये आगे आने वाले श्लोक समझने चाहिये :—

बहिष्प्रज्ञो विभुर्विश्वो ह्यन्तःप्रज्ञस्तु तैजसः।
घनप्रज्ञस्तथा प्राज्ञ एक एव त्रिधा स्मृतः।।१।।

बहिष्प्रज्ञ शब्द श्रुति में आया हुआ है। जहाँ बाहर के विषयों का ज्ञान हो वह बहिष्प्रज्ञ होता है। बहिष्प्रज्ञ वाला जो विभु-वैश्वानर-सबका अधिपति है। वह जब बाहर की प्रज्ञा वाला बनता है तभी वह विश्व नामधेय बनता है। है तो वह सर्वव्यापक परमात्मा एक ही, लेकिन जब इन्द्रियों के द्वारा देखता है तो उसका नाम विश्व पड़ जाता है। जैसे यह कह दिया जाता है कि जगत्पति ही अयोध्यापति हैं। वैसे तो वे सारे जगत् के मालिक हैं पर अयोध्या में रहकर उस का शासन कर रहे हैं इसलिये जगत्पति ही अयोध्यापति हैं ऐसा कह दिया जाता है। अथवा आजकल की भाषा में राष्ट्रपति जितने भी सरकारी नौकर हैं सबका मालिक है, राष्ट्र भर का पति हुआ, लेकिन वह राष्ट्रपति भवन के अन्दर झाडू लगाने वाले का भी मालिक है, उसको डाँटता है 'झाडू ठीक से क्यों नहीं लगाई?' सबका मालिक होने पर भी दोनों में फरक है। बाहर के लोग साक्षात्कार (interview) के लिये डरते रहते हैं और झाडू लगाने वाला कहता है 'आप दूसरे कमरे में चले जाइये, मुझे गलीचा झटकना है।' तब वह यह नहीं कहता 'मैं देश का मालिक हूँ, तू ऐसा कहता है?' ठीक इसी प्रकार विभु परब्रह्म सर्वव्यापक परमात्मा ही जब इन्द्रियाँ ग्रहण करता है, आकर शरीर में बैठ जाता है, तब शरीर की इन्द्रियों के द्वारा नियंत्रित हो जाता है। शरीर में बैठना ही उसके नियंत्रित होने का कारण हो गया। जैसे जगत्पति ही अयोध्यापति है वैसे ही जो सबका अधिपति वही तुम्हारे हृदय में बैठा हुआ है। लेकिन जब हृदय में बैठ गया तो उसे इन्द्रियों के साथ ही चलना पड़ेगा, स्वतंत्र नहीं घूम सकता। इसलिये विभु ही बहिष्प्रज्ञ हुआ विश्व नाम से कहा जाता है अर्थात् जाग्रत् का अभिमानी हो जाता है। जब अंतः प्रज्ञ अर्थात् बाहर के विषयों को न देखकर केवल अंदर होने वाले कल्पित विषयों को ही देखता रहता है तब उसी का नाम तैजस अर्थात् स्वप्नाभिमानी हो जाता है। जब वह प्रज्ञा के साथ एक हो जाता है तब घनप्रज्ञ हुआ वह प्राज्ञ नाम से कहा जाता है जो सुषुप्ति का अभिमानी है। वह एक ही तीन प्रकार का कहा गया है। ऐसा नहीं कि ये तीन अलग अलग होते हों, है वह एक ही, लेकिन जब तीन प्रकार से कार्य करता है तो वह इस प्रकार से कहा जाता है।

'पर्यायेण त्रिस्थानत्वात्सोहमिति स्मृत्या प्रतिसंधानाच्च स्थानत्रयव्यतिरिक्तत्वमेकत्वं शुद्धत्वमसंगत्वं च सिद्धमित्यभिप्रायः'। बहिष्प्रज्ञ आदि बातें तो सारी पहले श्रुति द्वारा कही जा चुकी हैं, फिर कारिका में नई बात क्या रही? उसमें कुछ स्वतंत्र चिंतन होना चाहिये। अतः 'एक एव त्रिधा स्मृतः' यह जो वहाँ स्पष्ट नहीं था उसे कारिकाकार स्पष्ट करते हैं। अध्यात्म अधिदैव इत्यादि जितने भेद हैं, स्थूल सूक्ष्म उपाधियों के, जीवों के जितने भेद हैं, वे सब उपाधि के बिना किसी प्रकार नहीं बताये जा सकते। पर्यायेण अर्थात् एक के बाद दूसरा जाग्रत् के बाद स्वप्न, स्वप्न के बाद सुषुप्ति, उसके बाद फिर जाग्रत् या स्वप्न या सुषुप्ति। एक साथ ही जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति का अनुभव नहीं होगा। इसलिये कहा कि यदि आत्मा का स्वभाव इन तीनों में से कोई एक होता तो एक के बाद दूसरी अवस्था न आती। एक के बाद दूसरी आना सिद्ध कर रहा है कि आत्मा की अपनी अवस्था न जाग्रत् और न स्वप्न और न सुषुप्ति है। यह जो स्थानत्रय का प्रतिपादन किया, वह इसलिये कि यह पता लग जाये कि आत्मा में ये तीनों अवस्थायें स्वरूप से कल्पित हैं, आने जाने वाली हैं। यह समझना ही सबसे कठिन है। सुषुप्ति आती जाती है, स्वप्न भी आता जाता है। यह तो आदमी समझ लेता है, लेकिन जाग्रत् को पकड़े बैठा रहता है कि यह तो वही बना हुआ ही है। यह तो वह देख रहा है कि जाग्रत् के पदार्थ स्वप्न के काम में नहीं आते और स्वप्न में अनुभव किये हुए पदार्थ जाग्रत् के काम के नहीं। स्वप्न के पदार्थ तो थोड़ी देर में चले जाते हैं इसलिये कहते हैं 'वह अगर एक क्षण भी नहीं है तो है ही नहीं'। जब पूछो 'जाग्रत् के पदार्थ भी स्वप्न और सुषुप्ति में नहीं हैं?' तो जवाब देते हैं 'हम स्वप्न में थे, हमारे लिये वे पदार्थ नहीं थे, दूसरों के लिये तो थे, दूसरे तो जाग्रत् में थे।' जो जो स्वप्नावस्था में था, उनमें से किसी के काम के जाग्रत् के पदार्थ नहीं थे, इससे सिद्ध होता है कि जाग्रत्-पदार्थ स्वप्न में बेकार हैं। जैसे तुम यहाँ से अमरीका चले जाओ तो यहाँ का नोट वहाँ काम नहीं करता, इसका मतलब है कि वह इस देश का सिक्का है, उस देश का नहीं है। कोई कहे कि इस देश का सिक्का यहाँ अमरीका में क्यों नहीं चल रहा है जब कि हिन्दुस्तान में तो अब भी चल रहा है? तो प्रश्न व्यर्थ है। भारत में भले ही चले लेकिन वहाँ उसका कोई प्रयोजन नहीं है। ठीक इसी प्रकार जो जो जाग्रत् से स्वप्न में जाता है उसको स्वप्न देश में जाग्रत् की कोई चीज काम नहीं आती। यह नहीं कि केवल हम स्वप्न में गये, सभी जाते हैं। जो जाग्रत् देश में अवस्थान कर रहा है उसके लिये जाग्रत्-पदार्थ काम के रहो। सुषुप्ति में आने पर जाग्रत्-स्वप्न के सिक्के किसी के काम के नहीं। स्वप्न के पदार्थ जाग्रत् के काम के नहीं। इससे सिद्ध होता है कि ये कोई भी सच्चे नहीं हैं। यदि सच्चे होते तो बने रहते। विनाश की बात नहीं कर रहे हैं, स्वप्न में जाने पर ये नष्ट नहीं हो जाते हैं। रस्सी में जो साँप दिखाई देता है, जब हम कमरा बन्द करके बाहर जाते हैं तो वह मर नहीं जाता और वापिस आने पर फिर पैदा नहीं हो जाता है। हमारे बाहर जाने पर वहाँ साँप है ही नहीं। जब दीख रहा था तब भी नहीं था। बाद में बाध होता है। इसी प्रकार

से ये जाग्रत् और स्वप्न के जितने पदार्थ हैं, जाग्रत् से स्वप्न में गये तो जाग्रत् के पदार्थ हैं ही नहीं, यह नहीं कि हम स्वप्न में गये तो पदार्थ वहाँ पड़े रह गये। पदार्थ उसके लिये पड़े रह गये जो जाग्रत् में हैं। जो जो उस कमरे में साँप देख रहा है उस उस के लिये साँप है। लेकिन जो बाहर चला गया उसके द्वारा कल्पित साँप क्या मर गया? मरा नहीं, है ही नहीं। उसी प्रकार यहाँ भी स्वप्न में जाने पर जाग्रत् के पदार्थ हैं ही नहीं, जाग्रत् के अन्दर भले ही बने रहें। ऐसे ही स्वप्न के पदार्थ जाग्रत् में आने पर नहीं हैं। इसलिये कह दिया 'पर्यायेण त्रिस्थानत्वात्'।

तीनों स्थानों के अन्दर पर्याय से अर्थात् एक एक करके तीनों अवस्थाओं का अनुभव होता है एक साथ नहीं। आगे कहते हैं 'सोहमिति स्मृत्या'। ऐसा क्यों न मान लिया जाये कि जाग्रत् वाला कोई और है, स्वप्न वाला कोई और तथा सुषुप्ति वाला कोई और है, तीनों अवस्थाओं में जाने वाला कोई अलग अलग व्यक्ति है? कहने वाले का तात्पर्य बड़ा गहन है। कहने वाला यह कहना चाहता है कि दो जीवों में भेद तुम किसको लेकर करते हो? उपाधि को लेकर करते हो। आत्मा एक हुआ, मन की उपाधि अलग अलग हुई; मन की उपाधि भिन्न होने पर तुमने जीवभेद मान लिया, आत्मा तो एक है ही। जाग्रत् का द्रष्टा और स्वप्न का द्रष्टा एक उपाधि वाला या भिन्न उपाधि वाला? भिन्न उपाधि वाला है। जाग्रत् का द्रष्टा शरीर इन्द्रियों वाला और स्वप्न का द्रष्टा शरीर इन्द्रियों से रहित। उपाधि अलग हो गई तो जीव को अलग क्यों न मान लें? यदि इसको बचाने के लिये कहो कि कोई आत्मनिष्ठ भेद है तो अपने अद्वैत का अभिमान छोड़कर द्वैतवादी बन जाओ! यह पूछने वाले का तात्पर्य है।

जवाब देते हैं कि हम वेदांतियों के यहाँ अनुभव ही प्रमाण है। वेदांत केवल अनुभव को समझने के लिये युक्ति को मानता है। युक्ति के जोर से अनुभव में घटी-बढ़ी मानने को तैयार नहीं। कारण क्या है? हमारे यहाँ जगत् की प्रतीत को समझने के लिये प्रवृत्ति है। जगत् की कुछ प्रतीती हो रही है, उसको हम समझना चाहते हैं कि यह प्रतीति कैसे और क्यों? जगत् की व्यवस्था बनाना हमारा उद्देश्य नहीं। ये दोनों अलग-अलग उद्देश्य हैं। जगत् को समझने के लिये तो हमारी प्रवृत्ति है लेकिन जगत् की व्यवस्था करने के लिये नहीं। इसी दृष्टि से वेदांत एक विज्ञान है। वेदांत केवल ज्ञान नहीं। विज्ञान अर्थात् अनुभव पर जहाँ जोर दिया जाये। गीता में भी भगवान् कहते हैं 'ज्ञानं विज्ञानसहितं प्रवक्ष्यामि' विज्ञान के सहित अर्थात् अनुभव सहित। 'अनुभवावसाना हि ब्रह्मविद्या' ब्रह्मविद्या का अवसान अनुभव में है। आधुनिक वैज्ञानिक यद्यपि बाह्य जगत् का अध्ययन करते हैं लेकिन बाह्य जगत् का अध्ययन करने में भी उनकी दृष्टि वही है जो हमारी है। संसार के रूप को समझना कि यह जगत् का रूप कैसा है? विज्ञान से भिन्न है तकनीकी (technology)। विज्ञान के नियम से क्या फायदा उठाया जाये, यह तकनीकी है। साधारण आदमी विज्ञान और तकनीक, साइंस और टैक्नालजी का फरक नहीं कर पाता, एक

ही समझता है। वह समझता है कि चन्द्रमा के अन्दर गये तो यह विज्ञान की तरक्की है। यह विज्ञान की तरक्की नहीं है। चन्द्रमा में जाकर किसी नवीन चीज का पता लगना विज्ञान हुआ। वैज्ञानिक के सामने उपयोगिता का प्रश्न नहीं है। इसी प्रकार वेदांती से यह कभी न पूछो कि तुम्हारे आत्मज्ञान का क्या लाभ है? वह तो केवल जानना चाहता है कि इसका स्वरूप क्या है। उससे फायदा उठाने वाले तो आगे तकनीकी, समाजविज्ञानी, मनोविज्ञानी हैं, विज्ञान से उन पर असर आयेगा। वेदांती को उससे मतलब नहीं। वह केवल सत्य को जानना चाहता है। उस सत्य से लाभ हो, हानि हो, इससे मतलब नहीं।

जीवभेद के बारे में भी वेदान्ती की चिन्तन-प्रक्रिया अनुभवमूलक है। आत्मा एक हुआ। आत्मा एक होने पर भी हर अंतःकरण वाले का अनुभव यह है कि 'मैं इससे अलग हूँ'। हमको यह आग्रह नहीं है कि हरेक को मनावें कि जीव अलग-अलग हैं। जीवभेद का आग्रह हमारा नहीं है। आत्मा की एकता के रहते हुए भिन्न-भिन्न शरीर मानने वाला कहता है कि हम अलग हैं। अब जीवभेद की प्रतीति होने से हमने कहा कि यह शरीर-मन की उपाधि के भेद से भेदप्रतीति है। अनुभव के अनुसार जीव भिन्न भिन्न हैं। हम कहते हैं कि आत्मा एक है। सामने वाला अपना अनुभव कहता है कि हमें अलग-अलग प्रतीति होती है। उसकी प्रतीति की व्यवस्था बनाई कि शरीर मन अलग-अलग हैं इसलिये जीवभेद की प्रतीति होती है। उपाधि के भेद से व्यवस्था बन गई। युक्तिवादी कहता है कि उपाधि के भेद से यदि जीव अलग हैं तो जाग्रत् स्वप्न की उपाधि अलग होने से उन्हें अलग जीव मानो। उसका जवाब दिया 'सोहम् इति स्मृत्या' जीव को जगने-सोने वाले के भेद का अनुभव न होकर उलटा अनुभव होता है कि 'मैंने स्वप्न देखा था, मैं ही सुषुप्ति में था, मैं ही अब जग रहा हूँ'। तुम्हारा अनुभव जहाँ भेद का था वहाँ हमने उपाधि से व्यवस्था बनाई। यहाँ तुम्हारा अनुभव अभेद का हो रहा है तो उपाधि के बदलने पर भी जीवभेद क्यों मानें? जो युक्तिप्रधान होंगे वे कहेंगे कि ' सोहम्' यों प्रत्यभिज्ञात को भ्रम मान लो नहीं तो वह लक्षण कि उपाधिभेद से जीवभेद है, कट जायेगा। वेदांती कहता है कि हम अनुभूति को प्रधान मानते हैं। अगर जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति वाला नहीं कहता कि हम एक हैं तो हम कहते कि तीन मान लो। जब वह कह रहा है कि हम एक हैं तो एक मानो।

अब अभेद की व्यवस्था बनायेंगे : जाग्रत् के अन्दर भी तो अंतःकरण है। जाग्रत् की एक उपाधि शरीर-इन्द्रियाँ हट भी गई तो मन वाली उपाधि रह गई, और मन वही है। मन वाली उपाधि के रह जाने से जाग्रत् स्वप्न की एकता हो जायेगी। एक न्याय है कि विशेषण के बदलने से विशिष्ट नहीं बदलता। कोई आदमी दण्ड लेकर चल रहा है तो उसे कहते हैं कि यह दण्डी है। उसके बाद उसने दण्ड रख दिया तो वह आदमी थोड़े ही मर गया! आदमी तो वही का वही है। एक उपाधि रख दी, इतने मात्र से वह नहीं बदला। विशेषण के बदल जाने से पदार्थ नहीं बदलता है। इसी प्रकार से तुमने

अपने शरीर और इन्द्रियों की उपाधि को जाग्रत् में छोड़ दिया, लेकिन तुम वैसे ही रहे चूँकि मन वही रहा, मन के संस्कार वही रहे। सुषुप्ति के अन्दर मन अपने कारण में लीन हो गया, वहाँ भी कारण रूप से अभेद बना रहा। अभेद की व्यवस्था तो बना ली गई लेकिन व्यवस्था बनाई अनुभव को लेकर। यदि भिन्न शरीरों के रहते हुए भी किसी का अनुभव हो कि 'मैं इन सब शरीरों में हूँ' तो वहाँ जीवभेद हम नहीं मानेंगे। इसमें दृष्टांत पुराणों का है: परशुराम विष्णु थे, दाशरथि राम भी विष्णु थे। शरीर दो थे, इन्द्रियाँ भी दोनों की अलग-अलग थीं। लेकिन दोनों का अनुभव क्या था? 'मैं विष्णु हूँ'। इसलिये वहाँ दो उपाधियाँ होते हुए भी विष्णु दो नहीं मानते। एक विष्णु ही दोनों शरीरों में एक साथ खेल रहा है। वहाँ हमको भेद मानने की अपेक्षा नहीं क्योंकि दोनों ही अपने को विष्णु समझ रहे हैं। इसी प्रकार से योगी लोग अपने कर्मक्षय के लिये अथवा कार्यविशेष के लिये एक से ज्यादा शरीरों का निर्माण कर लेते हैं। कर्मक्षय के लिये— हमको इतना सुख-दुःख भोगना है जिसके लिये बीस साल लगेंगे। यदि बीस शरीर निर्माण कर लो तो एक साल में भोग खत्म कर लेंगे। इसके लिये योगी कायव्यूह के द्वारा दूसरे देहों का निर्माण कर लेता है। क्या उन दूसरे शरीरों के रहते हुए भिन्न-भिन्न जीव उत्पन्न होते हैं? नहीं होते, क्योंकि अभिमान रहता है कि 'इन सब शरीरों में एक ही हूँ।' कायव्यूह की चर्चा कई जगह संतों की जीवनी में देखी होगी। आप लोग पढ़ते होंगे कि एक साथ ही अमुक संत तीन जगह पर उपस्थित हो गया। कई संतों के लेखों में ऐसा आता है। सदाशिवब्रह्मेन्द्र की मृत्यु के तीन स्थल बने हैं, एक साथ ही तीन जगह उन्होंने समाधि ली। कायव्यूहों का निर्माण योगी कर लेते हैं। वहाँ भी उसकी अनुभूति है कि 'इन सब शरीरों में मैं एक ही हूँ' तो जीवभेद नहीं मानेंगे। जहाँ कायव्यूह में स्पष्ट उपाधिभेद है वहाँ भी अनुभूति के बल से जब हम एकता मानते हैं तो जहाँ भेद स्पष्ट नहीं वहाँ क्योंकर मानेंगे? अंतःकरण की व्यक्त और लीन अवस्था को लेकर भेदप्रतीति है अन्तःकरण अलग-अलग नहीं। अविद्या भी जाग्रत्-स्वप्न की और सुषुप्ति की अलग-अलग नहीं। इसलिये कह दिया 'सोहमिति स्मृत्या प्रतिसंधानाच्च' इस बात को आदमी बार बार याद भी करता है, बार बार कहता है कि जो मैं सोया वह मैं अब जग रहा हूँ। इसलिये अनुसंधान करता है। इसी अनुभव के बल से हम लोग पदार्थों की एकता भी करते हैं।

यहाँ 'स्मृत्या' शब्द को याद रखना। मैंने जो घड़ा कल देखा था, वही आज देखा। जो कमला कल आई थी, जो बद्री कल बैठा था, वे ही आज बैठे हैं। कमला का कपड़ा बदल गया, बद्री के दांत निकल गये, कोई भेद आ गया। फिर कैसे मानते हैं कि यह वही बद्री है? बौद्ध युक्ति पर ज्यादा जोर देते हैं कि यह वही बद्री है ही नहीं, भ्रम हो रहा है। वेदांत कहता है कि भ्रम तो सारा जगत् है! जब तक हमें अनुसंधान, प्रतीति, है कि 'वही बद्री है' तब तक वही बद्री मानना उचित है। अंतःकरण की एकता आदि

को लेकर बद्री की एकता अभी नहीं कह रहे। वह बाद में समझना; क्योंकि यदि कहो कि बचपन से लेकर अब तक अंतःकरण, सूक्ष्म शरीर, एक रहा इसलिये वही बद्री है, तो बद्री जब मरकर दूसरी जगह पैदा होगा तो भी वही मानना पड़ेगा। बद्री से एक हजार रुपया बीस साल पहले उधार लिया वह उसे आज तो दे सकते हैं, लेकिन मरकर जब वह दूसरी जगह चला जायेगा तो रुपया उसके लड़के को देंगे। वह नई जगह से पैदा होकर कह भी देगा कि 'मैंने तुम्हें पहले जन्म में रुपया दिया था,' तो भी हम कहेंगे 'हमको ठगने आया है! भाग यहाँ से।' क्यों? प्रतिसंधान नहीं रहा कि वही बद्री है इसलिये। जहाँ प्रतिसंधान रह जाता है वहाँ वही मानते भी हैं जैसे भीष्म पितामह को प्रतिसंधान रहा था कि यह शिखण्डी वही अम्बिका है, वही स्त्री है, अतः उन्होंने उसके सामने हथियार रख दिये। दीख तो वह महारथी शिखण्डी रहा था लेकिन उसपर शस्त्र इसलिये नहीं उठाये कि प्रतिसंधान था कि यह पहले जन्म वाली औरत है। जब तक प्रतिसंधान रहेगा तब तक वही चीज है, यह मानेंगे। जब प्रतिसंधान नहीं रहा तो चीज वही नहीं रही। बौद्धों की तरह प्रतिक्षण में अलग अलग घड़ा हो रहा है, घड़े की एकता की भ्रान्ति है, इत्यादि केवल युक्तिसिद्ध कल्पनाओं को हम लोग नहीं मानते। प्रतिसंधान इसमें हेतु हो गया।

'स्थानत्रयव्यतिरिक्तत्वम् एकत्वं शुद्धत्वम् असंगत्वं च सिद्धम् इति अभिप्रायः।' स्थानत्रय से आत्मा भिन्न है, यह सिद्ध होने से क्या क्या स्पष्ट हुआ? पहली बात एकत्व। जहाँ स्मृति और प्रतिसंधान का भेद है, वहीं वस्तुओं का भेद है, प्रतिसंधान और स्मृति की जहाँ एकता है वहाँ वस्तु एक ही रही। सुषुप्ति के अन्दर क्या जीवभेद की स्मृति और अनुसंधान रहता है? जाग्रत्-स्वप्न में रहता है कि 'मैं इस जीव से अलग हूँ' तो हमने कह दिया कि अमुक उपाधि से अलग हो। गहरी नींद में क्या अनुसंधान होता है कि मैं दूसरे जीवों से, ईश्वर से अलग हूँ, मैं जगत् से अलग हूँ? नहीं होता। समाधि में भी भेद का भान नहीं होता। सुषुप्ति समाधि में भेद का अनुसंधान नहीं तो उस काल में, सुषुप्ति समाधि में, बस एक ही आत्मा है। वहाँ भिन्न-भिन्न जीवों की कल्पना करने की जरूरत नहीं है क्योंकि अनुभव नहीं हो रहा है कि अलग है।

शुद्धत्वम्—धर्म, अधर्म, राग, द्वेष आदि मल भी अवस्थांतर में बदल गये। जाग्रत् के धर्म-अधर्म स्वप्न में नहीं रहे, स्वप्न के धर्म-अधर्म जाग्रत् में नहीं रहे। इसी प्रकार जाग्रत् के राग-द्वेष स्वप्न में नहीं, स्वप्न के जाग्रत् में नहीं। धर्म, अधर्म, राग, द्वेष आदि जितने दोष हैं, ये भी सारे के सारे आत्मा में नहीं क्योंकि यदि आत्मा में ये होते तो जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति तीनों में बने रहते क्योंकि आत्मा तीनों में एक जैसा है। स्वप्न से सुषुप्ति में गये तो वे नहीं रहे, जाग्रत् से स्वप्न में गये तो वे नहीं रहे, इसलिये सिद्ध हुआ कि ये आत्मा के धर्म नहीं हैं। यही शुद्धत्व है।

असंगत्वम्—इसके द्वारा असंगता भी सिद्ध हो जाती है। यदि इसकी किसी के साथ दृढ आसक्ति होती तो हमेशा उसको साथ रखता। जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति जहाँ जाता है वहाँ झट बदल देता है। इस शरीर की आसक्तियाँ भी स्वप्न में पकड़कर कहाँ रखता है? सवेरे उठते हैं तो देखते हैं कि चार पाँच जगह दापड़ निकले हुए हैं क्योंकि रात्रि में कीड़ा काट गया। या छोटी छोटी फुँसियाँ हुई पड़ी हैं क्योंकि मकड़ी मूत गई। यदि इस शरीर की उसको दृढ आसक्ति होती तो स्वप्न काल में भी मकड़ी को भगा पाता। शरीर में आसक्ति नहीं है। वह तो जबरदस्ती लोग दूर भविष्य की बातं कहते हैं कि 'एक दिन आयेगा जब आसक्ति हटेगी, तब तुम शुद्ध हो जाओगे। एक दिन आयेगा जब एक आत्मा ही रह जायेगा।' जबकि यह रोज स्वप्न-सुषुप्ति में जाकर कहता है कि 'सिद्ध करो कि मैं आसक्त हूँ। मैं स्वप्न से अनासक्त हूँ। स्वप्न से सिद्ध है कि मैं स्वभाव से एक हूँ।' रोज सुषुप्ति में भी जाता है। भ्रम में पड़कर लोग चक्र में पड़े रहते हैं कि अभी आसक्त हैं, कभी आसक्ति हटेगी। इसलिये व्यक्ति कहता है कि कुछ साधन बताओ। चमकते हुए सोने के ऊपर ब्रासो की पालिश और चढ़ाओ, ऐसा कहता है। और अगर कोई साधन न बताये तो कहता है कि कुछ भेद जरूर होगा, कुछ छिपाकर रखते होंगे। अरे कुछ नहीं, यही सच्ची बात है। नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त उसका स्वभाव है, बदलता कभी नहीं। इस प्रकार स्थानत्रयव्यतिरेक, एकत्व, शुद्धत्व, असंगत्व सिद्ध हो गया।

इसमें श्रुति का प्रमाण देते हैं 'महामत्स्यादिदृष्टांतश्रुतेः'। कलकत्ते वगैरा में जहाँ बड़ी बड़ी नदी या तालाब हैं, वहाँ बड़ी बड़ी मछलियाँ होती हैं। तेजी से पानी चल रहा होता है। जब जुलाई अगस्त में बरसात का मौसम आयेगा, उसमें नाव में इस पार से उस पार जाना हो तो नाव चलाने वाला मना कर देता है कि 'नहीं ले जायेंगे।' काशी में कई बार ऐसी परिस्थिति आ जाती है कि महात्मा चातुर्मास्य में मर जाते हैं क्योंकि यह कोई नियम नहीं कि बरसात के मौसम में न मरते हों! गंगा जी में उन्हें डालना होता है। नाव वाला कहता है कि यहीं डाल दो। साधु कहते हैं 'यह तो घाट है।' वह कहता है 'आगे जाओगे तो इनके साथ अपनी भी जल समाधि हो जायेगी!' घाट के पास भी प्रवाह होता है, इसलिये शरीर बह ही जाता है। लेकिन मन में होता है कि जरा दूर ले जाकर डालें। ऐसी परिस्थिति में वहाँ जो बड़ी-बड़ी मछलियाँ या महामत्स्य हैं, वे इस किनारे से उस किनारे तक आते जाते रहते हैं। वह प्रवाह उनके ऊपर कोई असर नहीं डालता है, वे इधर से उधर घूमते रहते हैं। महामत्स्य की गति में किसी प्रकार की कमी नहीं आती, दोनों तटों के ऊपर वे संचरण करते रहते हैं। काशी के अन्दर काशी की तरफ वाली गंगा जी ठण्डी रहती हैं और रामनगर वाली गंगा जी गरम रहती हैं। इस पार से उस पार जाने पर पता लगता है। इस पार ज्यादा लोग नहा रहे होते हैं। गरम पानी चाहिये तो उधर, और ठण्डा पानी चाहिये तो इधर नहाते हैं। लेकिन दोनों किनारों के उस भेद का कोई भी असर, कोई भी दोष-गुण उस महामत्स्य के ऊपर नहीं पड़ता।

वे उससे अलिप्त रहते हैं। महामत्स्य इत्यादि दृष्टांत के द्वारा बृहदारण्यक श्रुति यह बताती है कि ठीक इसी प्रकार से जीव जाग्रत्, स्वप्न आदि अवस्थाओं में स्वतंत्र होकर महामत्स्य की तरह घूमता है। दोनों किनारों का कोई असर इसपर नहीं पड़ता। धर्म, अधर्म, राग, द्वेष के विकार भले ही पड़े रहें, यह नहीं कि यह अधर्म नष्ट होगा तभी सुषुप्ति आयेगी। जो कोढ़ी, टाइफाइड रोगी, चेचकग्रस्त दीखता है, लगता है इनका बड़ा अधर्म है, तभी ये महादुःख इसके ऊपर आये हैं, लेकिन उन्हें भी सुषुप्ति आ जाती है। ऐसा नहीं कि इतना बड़ा पाप आया हुआ है तो सात दिन तक नींद नहीं आयेगी। वह रहते हुए भी नींद आ जाती है क्योंकि जीव महामत्स्य जैसा है, उसे धर्म, अधर्म, राग, द्वेष बाँधकर नहीं रख सकते। आदि पद से और भी दृष्टांत दिया 'श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रान्तः संहत्य पक्षौ संलयायैव ध्रियते'; बाज, गरुड, जैसे पृथ्वी से फट आकाश में चला जाता है और फिर पृथ्वी पर वापिस भी आ जाता है। ये सभी दृष्टांत बताते हैं कि यह नित्य शुद्ध और असंग है।।१।।

●

अब यह किस जगह किस किस अवस्था में रहता है? इसे बताते हैं।

दक्षिणाक्षिमुखे विश्वो मनस्यन्तस्तु तैजसः।
आकाशे च हृदि प्राज्ञस्त्रिधा देहे व्यवस्थितः।।२।।

जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति तीनों दशाओं में रहता इस शरीर में ही है। यह पहले श्रुति ने स्पष्ट नहीं कहा था, इसलिये कारिका ने स्पष्ट किया। विषय वही हो लेकिन उस विषय पर और बातें कही जायें तभी कारिका सार्थक है। श्रुति के कथन से साधारण आदमी के मन में हो सकता है कि सम्भवतः यह कहीं अन्यत्र जाकर इनका अनुभव करता होगा। कुछ दार्शनिक ऐसा मानते भी हैं कि स्वप्न काल में दूसरी जगह जाकर देख आता है। आगे उनका खण्डन भी आयेगा कि यह युक्तिसंगत नहीं है। इसलिये कहा कि ये तीन अवस्थायें जीव की हैं लेकिन तीनों अवस्थायें शरीर के अन्दर ही बैठकर होती हैं। जीव स्वप्न काल में भी, सुषुप्ति में भी शरीर में ही है। क्यों? अगर यह नहीं रहता तो स्वप्न और सुषुप्ति के अन्दर तुमको क्या मानना पड़ता? मरा हुआ ही मानना पड़ता! स्वप्न सुषुप्ति के अन्दर प्राण चलते रहते हैं। प्राण की गति अवरुद्ध नहीं होती। अगर आत्मा चला जायेगा तो प्राण किस की शक्ति से चलेंगे? आत्मा के बिना प्राण नहीं चल सकते। इसलिये आत्मा शरीर में विद्यमान है। इतना ही नहीं सूक्ष्म रूप से कार्य भी करता रहता है। केवल प्राण ही नहीं, शरीर के खून का संचार, यकृत, बस्ति सब काम कर रहे हैं, आत्मा है तभी तो काम कर रहे हैं। आवाज देते हैं तो आदमी जग जाता है, शरीर में है तभी। ज़ब जगाना हो तो कहाँ आवाज देते हैं? कान के पास जाकर आवाज देते हैं, दरवाजे के पास जाकर थोड़े ही कहते हैं 'आ ज़ा!' अगर

दूर गया हुआ हो तो कैसे जगता है? जो लोग मानते हैं कि स्वप्न में कहीं और चला जाता है, उनकी बात सिद्ध नहीं होती है। शरीर में रहकर ही अनुभव करता है। आवाज आदि देने वाली बात लगती तो मोटी है पर बात समझ कर रखनी चाहिये। अनेक प्रकार की बातें सुनने में आती हैं। लोग कहते हैं 'हम स्वप्न में थे, अमुक आदमी मरा तो उस बात को हमने पहले ही जान लिया।' इसके द्वारा वे यह बताना चाहते हैं कि मैंने काल के व्यवधान को पार कर लिया। अगर काल के व्यवधान को पार किया तो जिस काल में आवाज दी उस काल में कैसे उठे? शरीर में थे, तभी उठे। इस प्रकार की अनेक तरह की कथायें कहते रहते हैं। होता कुछ नहीं है, एक तरह का भ्रम हो जाता है। दस चीजें तो वासनाओं के कारण स्वप्न में देखते हो। उनमें से एकाध घटना बाद में घटती है तो कहते हैं कि मैंने देख लिया। बाकी जो नौ नहीं देखीं, उसकी कौन कहता है? ठीक जैसे ज्योतिषी दस बातें बताता है। उसमें से दो हो गई, आठ नहीं हुई। उन दो को ही बार बार कहेगा 'मैंने कहा था न'। छः महीने में तुम ही भूल जाओगे कि इसकी बताई हुई आठ बातें तो हुई ही नहीं। पंचांगों में छापते हैं कि हमने कई वर्ष की भविष्य वाणियाँ की जो ठीक निकलीं। लोग भी कहते हैं कि इनकी भविष्यवाणी ठीक होती है। हम कहते हैं कि ये इतने पृष्ठ छापते हैं, तो ये दो ही लाइनें ठीक हुई, बाकी लाइनों का क्या हुआ? देखते हैं तो पता चलता है कि एक दो साल पहले के वाक्य पूरे के पूरे वैसे ही छपे होते हैं। जैसे ज्योतिषी का हिसाब किताब भ्रम से चलता रहता है, ठीक ऐसा ही भ्रम जीव को होता रहता है कि मैंने इस घटना को स्वप्न में देखा तो हो गई। इसलिये देश काल को पार कर जरूर देख आया है, ऐसा भ्रम हो जाता है। लेकिन वह शरीर के अंतःपाती ही है, शरीर में ही बैठा हुआ है।

कहाँ कहाँ बैठकर क्या क्या चीज प्रधान होती है? इसे बताते हैं। जाग्रत् अवस्था में वह दाहिनी आँख में प्रधानरूप से रहता है। यह उसके रहने की खास जगह हुई जहाँ वह जाग्रत् अवस्था में रहता है। आगे भाष्य में बतायेंगे कि क्यों दक्षिण अक्षि में रहता है। जीव रहता है, आत्मा (Self) नहीं। जाग्रत् में जीव दाहिनी आँख के अन्दर प्रधान रूप से रहता है, इसलिये यह उसका प्रधान स्थान हुआ। अब जब वह इन्द्रियों को रोक लेता है तो फिर 'मनसि अंतः तु तैजसः' मन के अन्दर रहता है। तब वही तैजस स्वप्न वाला कहा जाता है। यह उसकी स्थिति बता दी। 'आकाशे च हृदि प्राज्ञः' हार्दाकाश के अन्दर, जो हृदय के अन्दर है वहाँ जाकर जब रहता है तब उसकी प्राज्ञ अर्थात् सुषुप्ति की अवस्था होती है। इस प्रकार तीन प्रकार से देह में व्यवस्थित है। इन इन जगहों पर जाने से ऐसी ऐसी प्रधानता की प्रतीति होती है। शरीर में रहते हुए ही तीनों का अनुभव है।

'जागरितावस्थायामेवं विश्वादीनां त्रयाणामनुभवप्रदर्शनार्थोऽयं श्लोकः' अब भाष्यकार असली रहस्योद्घाटन करते हैं। स्वप्न और सुषुप्ति का जब विचार करते हैं तो जाग्रत् के अन्दर ही स्वप्न और सुषुप्ति को समझने का प्रयत्न करना चाहिये। शुरू में भी कहा था कि आँख बंद करने को सुषुप्ति नहीं समझना। भाष्यकार अब स्वयं स्पष्ट

कहते हैं कि विश्व तैजस प्राज्ञ तीनों का अनुभव जाग्रत् अवस्था में ही हो जाता है, लेटने और सोने की जरूरत नहीं है। कारण क्या है? यदि हम मान लेंगे कि केवल स्वप्न और सुषुप्ति में उनका अनुभव है, तो उनके बारे में हमारा विचार स्पष्ट नहीं होगा। न स्वप्न अच्छी तरह याद रहता है और न सुषुप्ति अच्छी तरह याद रहती है कि समझा जा सके। विचार जाग्रत् अवस्था में ही करना है। इसलिये जाग्रत् में ही तीनों अवस्थाओं को बताना इष्ट है। यह रहस्य इस माण्डूक्य उपनिषद् का है। प्रायः जो इस बात को नहीं समझते वे तीन अवस्थायें भिन्न-भिन्न मानकर चलते रहते हैं। इसलिये कहते हैं कि जाग्रत् अवस्था के अन्दर ही उसका अनुभव बताना इष्ट होने से भगवान् गौडपादाचार्य इस कारिका का श्लोक कह रहे हैं। यदि जाग्रत् में ही यह बताया जा सके कि स्वप्न और सुषुप्ति का अनुभव हमको होता है तो फिर अनेकता का भ्रम कट जाता है।

'दक्षिणमक्ष्येव मुखं तस्मिन्प्राधान्येन द्रष्टा स्थूलानां विश्वोनुभूयते। इन्धो ह वै नामैष योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषः' (बृहदा. ४।२।२) इति श्रुतेः'। दाहिनी आँख ही मुख है। पहली बात तो यह है कि यहाँ अक्षि का मतलब केवल इस गोलक को नहीं लेना । इस गोलक के अन्दर जो इन्द्रिय वह इस अक्षि शब्द से कही गई है। चिंतन का स्थल जाग्रत् में विशेषकर कार्यकारी होता है। शरीर के या मस्तिष्क के सारे अंग एक जैसा कार्य सब समय नहीं करते। आजकल तो वे लोग विद्युत्तरंगों से मस्तिष्क के चित्र लेते हैं। उससे पता लगता है कि भिन्न-भिन्न कार्यों को करने वाले भिन्न-भिन्न स्थल हैं। दक्षिणाक्षि से यहाँ आधुनिक शरीर विज्ञान वाले जिसे आप्टिक लोब कहते हैं, उसका ग्रहण करना पड़ेगा। उसमें जाग्रत् अवस्था अधिक कार्य करती है। एक विचित्र बात है कि जो अंधे होते हैं उनके भी आप्टिक लोब (optic lobe) होता है। इन्द्रिय उनकी गई हुई नहीं होती है। वे भी जिस समय जाग्रत् का व्यवहार करते हैं उस समय में उनके आप्टिक लोब में क्रिया (activity) होती है। मोटी दृष्टि से अंधा आदमी भी जब जाग्रत् में व्यवहार या बात कर रहा होता है तो इसकी आँख देखते रहो तो आँख क्रिया करती रहेगी। आँख का डोया भी घूमता रहता है। उसे दीखता कुछ नहीं, लेकिन आवाज जिधर से आती है, डोया उधर चला जाता है। आँख की यह क्रिया क्यों, जब उसे दीखता तो है नहीं? वह इसलिये कि देखने की शक्ति न होने पर भी जो अंदर की उसकी जाग्रत् के रहने की जगह है वह तो वही है। इसीलिये कहा कि जाग्रत् अवस्था में दाहिनी आँख में रहता है। ऐसा बहरा कभी नहीं करता। चाहे किधर से आवाज आ रही हो, बहरा उसे सुनने के लिये वैसा नहीं करता जैसे हम करते हैं। आँख तो अंधे की भी इधर उधर आती जाती है। पूर्ण बहरे के कान उधर कभी नहीं जायेंगे। दूसरी इन्द्रियाँ तभी प्रवृत्ति करती हैं जब उनमें काम करने की ताकत हो। लेकिन आँख की प्रवृत्ति अँधों की भी होती है। उसका यही कारण है। इसलिये दक्षिणाक्षि ही मुख है।

कोई कहेगा कि पहले तो उन्नीस मुख बताये थे, यहाँ क्या केवल आँख से ही जाग्रत् का अनुभव होता है? कहते हैं— ऐसा नहीं 'तस्मिन् प्राधान्येन' जाग्रत् अभिमानी

विश्व अंतःकरणावच्छिन्न चेतन ही यहाँ प्रधान रूप से रहता है। रहता तो सारे शरीर में है उस समय में भी। हम लोगों के अनुसार मन मध्यमपरिमाणी है। कुछ दार्शनिक मन को अणुपरिमाणी मानते हैं और कुछ व्यापक परिमाणी मानते हैं। लेकिन अपने यहाँ मध्यम परिमाणी माना, न अणुपरिमाणी और न व्यापक है। बीच वाला है, सर्वशरीरवर्त्ती है। सारे शरीर में रहता है और जब किसी चीज का आँख आदि से अनुभव करना होता है तो शरीर के बाहर भी चला जाता है। इसी मध्यम परिमाण को लेकर जैन शास्त्रों ने जीव को ही मध्यम परिमाणी माना है। जीव की मध्यम परिमाणता वैसे विचित्र सी लगती है, लेकिन यह मानकर चलो कि उन्होंने मन और आत्मा के भेद को पकड़ा नहीं। इसलिये वह रहेगा सारे शरीर में लेकिन प्राधान्येन दक्षिणाक्षि में रहेगा। 'द्रष्टा स्थूलानां विश्वोऽनुभूयते'। हम लोगों को कहाँ दक्षिणाक्षि में अनुभव होता है! यह तो सब समझाने के लिये युक्ति दी। हमको कहीं विशेष अनुभव नहीं होता। इसलिये ऊपर से यह समझ लेना 'ध्याननिष्ठैः इति शेषः।' जो समाधि का अभ्यास करते हैं उन्हें पता चलता है कि उस समय जितनी चेतना को जाग्रत् रखने का प्रयत्न करते हैं, उतना ही आँख पर जोर पड़ता है। ध्यान की गम्भीरता के बाद आँखों के अंदर लाली आती है। वह इसलिये कि वहाँ ज्यादा क्रिया होने से ही रक्त का संचार ज्यादा होता है। यह ध्यान-निष्ठों को अनुभव होता है। दूसरों को एक जैसा ही सब लगता है।

ध्याननिष्ठ को अनुभव होता है, इसमें प्रमाण क्या? श्रुति का प्रमाण देते हैं 'इन्धो ह वै नामैष योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषः' बृहदारण्यक की यह श्रुति है। इन्ध का मतलब होता है जिसके अंदर दीप्ति रहती है। तेज का गुण दीप्ति है। इसीलिये जो चीज अच्छी तरह जलती है उसे हिन्दी वाले भी ईंधन कहते हैं। अर्थात् तेजस्वी का गुण, जलाने का या गर्मी का गुण ईंधन है 'इन्धो दीप्तिगुणः। वैश्वानर आदित्यान्तर्गतो वैराजः' दीप्ति गुण वाला वैश्वानर है। पेट के अन्दर वैश्वानर रहकर सारे शरीर को गर्मी पहुँचाता है। पेट में वैश्वानर बैठा हुआ है। वह है तब तक शरीर गरम है और जैसे ही यह वैश्वानराग्नि शान्त हुई तो लोग कहते हैं कि पैर ठण्डे हो गये, जांघ में गर्मी है। फिर जांघ भी ठण्डी हुई, पेट गरम है। पेट की गर्मी भी शांत हुई तो छाती में पहुँच गई है। उसके बाद फिर राम नाम सत्य है, उठाकर ले जाओ, हो गया खतम सारा काम। वैश्वानर अग्नि इस शरीर को ईंधन रूप से आग देती रहती है। वही वैश्वानर 'आदित्यान्तर्गतो वैराज आत्मा,' जो शरीर को गर्मी देने वाला है वही आदित्यांन्तर्गत अर्थात् सूर्य के अन्दर रहने वाला विराट् पुरुष है। पार्थिव लोक के अन्दर जितनी भी शक्ति अर्थात् ऊर्जा है, यह सब सूर्य से ही आयी है। लकड़ी पैदा हुई तो सूर्य से, क्लोरोफिल द्वारा सूर्य से ही गर्मी लेकर पेड़ पौधे बने। पानी यदि नीचे गिरकर बिजली पैदा करता है तो पानी को ऊपर पहुँचाने वाली शक्ति सूर्य की थी। यहाँ तक कि पृथ्वी स्वयं भी सूर्य से टूटकर अलग हुई है। जो कुछ भी पार्थिव शक्ति है वह सब सूर्य से ही है। इसीलिये इस पृथ्वी लोक का जो

विराट् प्रजापति है, वह सूर्य है। इसी दृष्टि से सूर्य की उपासना की प्रधानता है। गायत्री में भी 'तत्सवितुः' सारे जगत् को उत्पन्न करनेवाले सूर्य की ही प्रार्थना है। आदित्य की उपासना प्रधान मानी गई है। वस्तुतः उसका नाम आदित्य रखा ही इसलिये गया है। दिति का अर्थ होता है खण्डन या काटना। घास काटने के औजार को दाव या दाँती कहते हैं। जो चीज कभी कटकर अलग न हो वह अदिति। अदिति का पुत्र आदित्य हुआ। सूर्य और हमारे ग्रहमण्डल में कभी भी टूटना नहीं होता। सूर्य की ग्रहण शक्ति से ही पृथ्वी घूम रही है। पृथ्वी न घूमे तो रात दिन, मौसम कुछ नहीं हो सकता। सब एक जैसा हो जाये। इसीलिये यह हमारा आदित्य हुआ। दूसरे लोकों की क्या दशा है, वह वे जानें। हम लोगों के लिये सूर्य ही प्रजापति हैं, विराट् रूप हैं। हमारे अन्दर जो वैश्वानर है वही सूर्य मण्डल में रहने वाला विराट् पुरुष है।

'चक्षुषि च द्रष्टैकः' विराट् आत्मा और वैश्वानर आत्मा दोनों ही आँख के अन्दर जाकर एक हो जाते हैं, क्योंकि आदित्य को साक्षत् ग्रहण करने वाली आँख ही है। शरीर के अन्दर तेज को ग्रहण करनेवाली आँख ही है। इसलिये जब हम आँख से सूर्य मण्डल को देखते हैं तब यह जो हमारा अंतःकरणावच्छिन्न चेतन, हमारे मनवाला चेतन है, यह उस समय सूर्य पर पहुँच कर सूर्य से एक हो जाता है। आँख के द्वारा मन सूर्य लोक में पहुँचा तब सूर्यदर्शन हुआ। आधुनिक विज्ञान में सूर्य की रोशनी आँख में आई। हर हालत में सूर्यदर्शन के अन्दर साक्षात् एकता होती है। धूप में खड़े हो जाओ तो गर्मी रूप से सूर्य का ग्रहण हो जायेगा लेकिन सूर्य जैसा है वैसा थोड़े ही ग्रहण हो जायेगा। यदि आँख से देखो तो पता लगेगा कि इस मकान के चारों तरफ आग लगी है उसकी गर्मी है या सूर्य की गर्मी है। बिना आँख के गर्मी तो लगेगी लेकिन वह आग की गर्मी है या सूर्य चढ़ने की, यह पता नहीं लग सकता। इसी प्रकार बाकी सब इन्द्रियों को समझना। विराट् सूर्य के साथ एकता आँख के द्वारा है। यही योगियों के भूख-प्यास जीतने का सूत्र है। लोग बहुत बड़ा आश्चर्य मानते हैं। कोई आदमी पाँच सात साल न खाये पिये तो समझता है कि बिना खाये पिये चल रहा है। वह चक्षु के द्वारा सूर्य का सम्बन्ध करके तेज का आकर्षण कर लेता है। उसी ईंधन से ऊर्जा चलती रहती है। बिना ऊर्जा के कुछ नहीं होना है। केवल ग्रहण का तरीका उन्होंने सीधा (direct) कर लिया। जैसे सिरोही महाराजा के महल के अन्दर सीधी पानी की सप्लाई जाती है। हमने एक दिन पूछा कि हमारे यहाँ पानी की कमी है, वहाँ सुना है कि पानी की कमी होती नहीं। तब पता चला कि वहाँ सीधी सप्लाई होती है। यह हम लोगों का तरीका है। कभी कोई भिक्षा दे, न दे, इसलिये इस साधन को भी अपने पास रखा हुआ है। इसीलिये चातुर्मास्य में हम लोग कम भ्रमण करते हैं क्योंकि किसी जान पहचान के व्यक्ति के पास रह जायेंगे तो भिक्षा मिलती रहेगी। चातुर्मास्य में पाँच-सात दिन तक सूर्य निकलता ही नहीं तो कैसे इंतजाम करें? इसलिये जहाँ जान पहचान होती है, वहीं रह जाते हैं। बाकी समय सूर्य है ही।

'नन्वन्यो हिरण्यगर्भः क्षेत्रज्ञो दक्षिणेऽक्षण्यक्ष्णोर्नियन्ता द्रष्टा चान्यो देहस्वामी? न, स्वतो भेदानभ्युपगमात्।' किसी ने कहा कि यह एकता हमें नहीं जँची। विराट् आत्मा के साथ जीव की एकता कैसे है? अध्यात्म चक्षु और अधिदैव सूर्य को एक कैसे कर दिया? यह समझ में नहीं आया। हिरण्यगर्भ सूक्ष्म प्रपंच का अभिमानी, सूर्य मण्डल में रहने वाला, समष्टि लिंग शरीर वाला तो अलग है। वह तो चक्षु के ऊपर अनुग्रह करने वाला है। वह अधिदैव है आँख का मालिक है। जो तुम्हारे अन्दर रहने वाला संसारी है, वह अलग है। दोनों को तुमने एक कैसे कर दिया? क्षेत्रज्ञ इस शरीर में रहने वाला है, क्षेत्र इस मनुष्य शरीर को कहते हैं क्योंकि इसके अन्दर धर्माधर्म के बीज बोता है और आगे सुख दुःख रूप फल काटता है। इस शरीर को जो जान रहा है, उसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं जो व्यष्टि देह वाला आँख के अन्दर रहता है। हिरण्यगर्भ तो सूर्य लोक के अन्दर रहता है और जीव क्षेत्रज्ञ बेचारा यहाँ रहता है। इन दोनों को एक कैसे कहा? जैसे स्वामी और भृत्य एक नहीं हो सकते वैसे ही सूर्य और जीव। इन दोनों को आपने एक कैसे बता दिया?

यह शंका ठीक नहीं है, 'स्वतः भेदानभ्युपगमात्', क्योंकि उपाधि को छोड़कर उनका भेद किसी प्रकार से सिद्ध नहीं हो सकता, स्वीकार नहीं किया जा सकता। विचार करके देखो, कह रहे हो कि सूर्य तुम्हारी आँख का शासन करने वाला है। इसका मतलब हुआ कि आँख के सब काम सूर्य करा रहा है क्योंकि शासक है। फिर बीच में तुमने जीव को कहाँ से डाल दिया? बस यही भ्रमसिद्धता है। सारे संसार को चलाने वाला एक परब्रह्म परमात्मा, मेरे को छोड़कर। यह अभिमान मनुष्य का है। दोष तो दूसरे पर देता है कि यह अपने को ब्रह्म कहते हैं और अभिमानी खुद है। कहता है सारी दुनिया को ब्रह्मरूप मान लेंगे लेकिन मैं अपने को ब्रह्मरूप स्वीकार करने वाला नहीं! मैं तो अलग ही बैठा रहूँगा। अपने को परमेश्वर की बराबरी का करके अलग बैठाने का अभिमान करता है और दूसरे को कहता है ये ब्रह्म बन गये। लेकिन दूसरा कहाँ ब्रह्म बना? वह तो सच्ची बात कह रहा है कि मैं कुछ नहीं, जो है सो ब्रह्म है। व्यर्थ के अभिमान से मनुष्य फँस जाता है। स्वतः अर्थात् उपाधि को छोड़कर। किसी न किसी उपाधि के नाम से भेद हो सकता है। लेकिन जब तक उपाधि का भेद नहीं होगा तब तक आत्मा में भेद नहीं समझ सकते। जब तुमने व्यष्टि उपाधि ले ली तो परिच्छेद हो गया, तब कह दो कि 'मैं कर रहा हूँ'। लेकिन जब तुम सोच रहे हो कि मैं कर रहा हूँ उस समय भी वही कर रहा है क्योंकि यदि वह न करे तो तुम नहीं कर सकते। वह कर रहा है और उसके ऊपर तुम अपना अधिकार जमा रहे हो मैं कर रहा हूँ। 'हूँ करूँ हूँ करूँ एज अज्ञान छे' नरसी मेहता कहते हैं 'मैं कर्त्ता हूँ मैं कर्त्ता हूँ' इसी का नाम अज्ञान है। उपाधि के व्यतिरेक से, उसके बिना, और किसी भी उपाय से भेद को स्वीकार नहीं कर सकते। यह जो काल्पनिक जीवभेद है, यह वास्तविक नहीं। इस बात को श्वेताश्वतर की श्रुति भी कहती

है ''एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' इति श्रुतेः।' प्रकाशित करने वाला अर्थात् ज्ञानस्वरूप देव है और वह एक ही है। उसमें कोई भेद नहीं। वही सारे प्राणियों के अन्दर छिपा हुआ रहता है अर्थात् वहाँ मौजूद है पर संसार के अन्य पदार्थों की तरफ दृष्टि होने से नहीं हुआ-सा रहता है। यही गूढ का मतलब समझना। यह नहीं कि वह स्वयं कहीं छिपकर बैठता हो। वह तो खुला बैठता है लेकिन खुला बैठने पर भी संसार के चक्कर में आत्मा इतना छिपा है कि हमें उसे देखने की फुर्सत नहीं। बचपन में कहता है 'अभी जवानी ही नहीं आई क्या सोचें', जवानी में कहता है 'दुनिया का रस लेने दो', पौगण्ड अवस्था में कहता है 'जवानी पूरी हुई लेकिन बच्चों की एजुकेशन बाकी है।' बुड्ढा हो गया तो कहता है 'अब करना तो शुरू कर रहे हैं लेकिन क्या करें, बैठते हैं तो कभी नींद आती है, कभी घुटना दर्द हो जाता है, बैठा नहीं जाता। महाराज! पद्मासन न लगाकर लम्बे होकर बैठें तो कोई हर्जा है?' वह छिपा हुआ तत्व हो, ऐसा नहीं, वह तो खुल्लमखुल्ला है। इसलिये उसका नाम ही रख दिया 'आविः सन्निहितम्' है तो खुल्लमखुल्ला, लेकिन उसकी तरफ दृष्टि ले जाने का समय मिले तब। संसार के पदार्थों में ही समय लगा रहता है। उन्हें कर्त्तव्य मान रखा है। सबको यह निश्चय है कि मेरे बिना यह संसार रुक जायेगा, stand-still हो जायेगा। गूढ का मोटा अर्थ है कि परमेश्वर छिप कर बैठा है। क्या वह डरता है? अतः तात्पर्य यही है कि हमारी उधर दृष्टि नहीं। और भी प्रमाण देते हैं : 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत' यह बात गीता स्मृति में भी बताई गई है। हे अर्जुन! सारे क्षेत्रों के अन्दर जो रहने वाला क्षेत्रज्ञ है वह मुझे समझना।' जो तू अपने को अलग समझे बैठा है, वह मैं हूँ। तूने व्यर्थ का मोह लगा रखा है कि मैं अलग हूँ। इसी प्रकार ''अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्' इति स्मृतेश्च'; बिना अलग-अलग हुए ही मानता है कि प्राणी अलग-अलग हैं। वह अंतर्यामी एक ही, क्षेत्र अलग-अलग हैं। इस स्मृति से भी यह सिद्ध होता है।

प्रश्न होता है कि सभी इन्द्रियों में विश्व तो एक जैसा है, तब दाहिनी आँख को खासकर इसका स्थान क्यों कहा? यद्यपि आँखों की प्रधानता है यह समझ आता है, बता भी चुके हैं, तथापि दाहिनी आँख का उल्लेख क्यों? इसका जवाब भाष्यकार देते हैं 'सर्वेषु करणेषु अविशेषेऽपि दक्षिणाक्षिणि उपलब्धिपाटवदर्शनात् तत्र विशेषेण निर्देशो विश्वस्य'। भाष्यकार ने सूत्र बता दिया 'उपलब्धिपाटवदर्शनात्'। यद्यपि दाहिनी आँख का वैशिष्ट्य शास्त्रसिद्ध है तथापि शास्त्र का भी अभिप्राय क्या है? क्या जो अंधा या दाहिनी आँख का काणा है उसे जाग्रत् में रहने की जगह नहीं है? इसलिये कहा 'उपलब्धि-पाटवदर्शनात्'। प्रायः दाहिनी आँख से साफ दीखता है। अधिकतर लोगों के देह का दाहिना भाग ज्यादा काम करता है, दायाँ हाथ, दायाँ पैर इत्यादि। उसी दृष्टि से दाहिनी आँख की विशेषता कह दी। बृहदारण्यक में भी जहाँ विश्व-तैजस-प्राज्ञ का अनुवाद कर तुरीय अभय ब्रह्म का उपदेश दिया है वहाँ विश्व को दाहिनी आँख में ही कहा है 'इन्धो

ह वै नामैष योऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः'। वहाँ बायीं आँख में विश्व की पत्नी को बताया 'अथैतद्वामेऽक्षणि पुरुषरूपमेषाऽस्य पत्नी विराट्'। वहाँ भाष्यकार ने स्पष्ट किया है 'इन्द्रस्य भोक्तुः भोग्यैषा पत्नी विराड् अन्नम्।' पत्नी को वामांग कहते ही है। अतः विश्व को दाहिनी आँख में बताने का अभिप्राय केवल स्थानविशेष कहना नहीं है, उपहित-प्राधान्य बताना है। उपाधि उपहितसे सर्वथा अलग मिलेगी नहीं, उपाधिप्रधान हुई तो बायीं आँख स्थान हो गया, उपहित प्रधान हुआ तो दायीं आँख। यद्यपि ध्यानादि के लिये शरीर के स्थान विशेषों का महत्त्व है अतएव वैसा वर्णन भी है, तथापि तत्त्वविचार की दृष्टि से यह विभाजन समझना है। जहाँ उपलब्धिपाटव हो वह पुरुष का, विश्व का स्थान है। यद्यपि उपलब्धि उपाधि से होगी, उपाधि की पटुता से उपलब्धि में पाटव—सफायी, स्पष्टता होगा, तथापि पटुतम उपलब्धिरूपता आत्मा का स्वभाव होने से उपलब्धिपाटव में आत्मा की अनावृतता अधिक मानकर वहाँ उसे अभिव्यक्त या मौजूद समझा जाता है। इसलिये विश्व का स्थान दाहिनी आँख कहा। इसमें शास्त्र और अनुभव दोनों अनुकूल हो गये। इस प्रकार विश्व का व्याख्यान हो गया।

अब जाग्रदवस्था में तैजस का अनुभव कैसे— यह बताते हैं 'दक्षिणाक्षिगतो रूपं दृष्ट्वा निमीलिताक्षः तदेव स्मरन् मनसि अन्तः स्वप्न इव तदेव वासनारूपाभिव्यक्तं पश्यति।' दाहिनी आँख में बैठा जो विश्व है वही पास पड़ी किसी चीज को ध्यान से देखता है और आँखें बन्द कर लेता है, तब अंदर ही अंदर उसे वही चीज दीखती है। यद्यपि आँखे बन्द हैं और अनुमानादि नहीं कर रहा इसलिये हो उसे स्मरण रहा है, तथापि दीखता वैसे ही है जैसे सपने में। सपने में भी जाग्रत् की वासनाओं से ही चीजें दीखती हैं, ऐसे ही आँखें बन्द करने पर भी दीखती हैं। रूपज्ञान से उत्पन्न वासनाओं से ही वह स्मरणरूप दर्शन है जो मनके अंदर हो रहा है। इसलिये वह स्वप्न ही है। जाग्रत् में इस तरह दीखने और स्वप्न में दीखने में कोई फर्क है नहीं 'यथाऽत्र तथा स्वप्ने' इसलिये विश्व-तैजस का अभेद स्पष्ट हो गया ' अतो मनस्यन्तस्तु तैजसोऽपि विश्व एव', विश्व ही मन में देखता है तो तैजस है। दोनों स्थानों में बैठकर देखने वाला एक ही है। यह हो गया 'मनस्यन्तस्तु तैजसः।'

'आकाशे च हृदि प्राज्ञः' ये कारिका के शब्द थे। उसी को स्पष्ट करते हैं 'आकाशे च हृदि स्मरणाख्यव्यापारोपरमे प्राज्ञ एकीभूतो घनप्रज्ञ एव भवति।' हृदयाकाश में वह कब है? जब स्मरण रूपी व्यापार भी उपरत हो जाता है, शांत हो जाता है। स्वप्न तो था स्मरणरूप और जब स्मरण भी समाप्त हो गया तब प्राज्ञ है। स्मरण नाम के व्यापार के उपरत हो जाने पर जो विश्व और तैजस भाव को प्राप्त हुआ था, वही फिर हृदयावच्छिन्न आकाश में पहुँच जाता है। जिस प्रकार घर से मनुष्य किसी काम को करने के लिये निकलता है और काम को समाप्त करके पुनः वहीं आकर के बैठ जाता है इसी प्रकार जाग्रत्-स्वप्न का भोग भोगने के लिये जीव हृदयाकाश से बाहर आया और जब वह

काम खत्म हो गया तो पुनः हृदयाकाश में चला गया। एकीभूत हुआ घनप्रज्ञ रहता है, विशेष-विज्ञान से रहित रहता है। किसी भी प्रकार से उस समय कोई भी विशेष ज्ञान नहीं रहता। ज्ञानमात्र, चिन्मात्र, तो रहेगा ही लेकिन किसी विशेष विज्ञान से रहित होता है। यह पहले बता आये हैं। ऐसा क्यों होता है? 'मनोव्यापाराभावात्' हेतु दिया कि मन जब जब व्यापार या कोई न कोई क्रिया करेगा तब उसे विशेष विज्ञान होगा और मन जब क्रिया नहीं करेगा तो विशेष विज्ञान नहीं रहेगा। इसी दृष्टि से नैयायिक जब कहते हैं कि आत्ममनःसंयोग से ज्ञान होता है तो उसका मतलब है कि विशेष ज्ञान होता है, और विशेष ज्ञान वेदांती भी मन के अन्दर ही मान रहा है। जब जब मन का व्यापार नहीं है तब तब विशेष विज्ञान नहीं है। ज्ञानस्वरूप आत्मा जैसा है वैसा ही है।

'दर्शनस्मरणे एव हि मनःस्पन्दिते तदभावे हृद्येवाविशेषेण प्राणात्मनाऽवस्थानम्।' मन का स्पन्दन दो प्रकार का हुआ। दर्शन अर्थात् परोक्ष या अपरोक्ष ज्ञान जाग्रत् में, और उसी के संस्कारों से स्मरण, ये मन के दोनों प्रकार के स्पन्द हैं। इसके द्वारा बताया कि दर्शन और स्मरण को छोड़कर तीसरा कोई मन के स्पन्दन का प्रकार नहीं। या प्रमाण से अनुभव करेगा, या उस अनुभव का स्मरण करेगा। जब दोनों का अभाव हो गया तो वह हृदय के अन्दर ही 'अविशेषेण' अव्यक्त रूप से रहेगा। जब तक विशिष्ट नहीं हो तब तक व्यक्त नहीं कहा जा सकता। मिट्टी से कोई बर्तन बनाओगे तभी व्यक्त होगा, नहीं तो अव्यक्त रूप से तो सारे बर्तन उसमें पड़े हुए हैं ही। उसी प्रकार हृदय के अन्दर चला गया तो अव्यक्त रूप से वहाँ पर स्थित रहेगा। किस रूप से रहेगा? 'प्राणात्मना अवस्थानम्' सुषुप्ति काल में यदि पता लगाना है तो प्राण से पता लगेगा। मन और प्राण एक दूसरे से अभिन्न हैं। मनःस्पन्दित के द्वारा कहा कि जहाँ जहाँ मन का स्पन्द है वहाँ प्राण का स्पन्द है। योगी प्राण के स्पन्द को रोक कर मन के स्पन्द पर नियंत्रण करते हैं। विवेकी मन के स्पन्द को रोक कर प्राण के स्पन्द का नियंत्रण करते हैं। लेकिन स्पन्द रुकेगा युगपत् ही। मन रुक जाये और प्राण चलता रहे ऐसा नहीं होता। प्राण रुक जाये और मन चलता रहे ऐसा भी नहीं होता है। भगवान् वार्तिककारों ने इसीलिये मन और प्राण को काँच की तरह बताया है। जैसे काँच का जो पृष्ठ देश है उधर मुँह नहीं दीखता और काँच के अगले हिस्से में मुख दीखता है, लेकिन दोनों एक साथ मिला हुआ ही काँच है। कोई कहे कि सामने वाले हिस्से में दीखता है तो पिछले वाले हिस्से को काटकर अलग कर दो! तो फिर काँच नहीं रह जायेगा। दोनों युगपत् सिद्ध हैं। इसी प्रकार प्राण के अन्दर भान नहीं होता, मन के अन्दर भान होता है, लेकिन यदि प्राण न हो तो मन किसी भान को नहीं कर सकता क्योंकि सब क्रियाओं को कराने वाली चीज प्राण ही है। क्रियाशक्ति तो प्राण ही है। मन में वृत्ति कब बने? जब प्राण-शक्ति कार्य करे तब। प्राण की क्रिया के बिना अंतःकरण में वृत्ति बनाने की सामर्थ्य कहाँ से आ सकती है? इसलिये दोनों साथ ही साथ रहते हैं। एक के बिना दूसरे की सिद्धि नहीं। इसलिये प्राण

रूप से अवस्थित हो गया। "प्राणो ह्येवैतान्सर्वान्संवृङ्क्ते' इति श्रुतेः।' इसमें यह श्रुति भी प्रमाण है। अव्याकृत रूप से प्राण के अन्दर जीव स्थित रहता है, इसे बता दिया। अथवा सबको अपने अंदर उपसंहृत करके प्राण ही रहता है। यह संवर्ग विद्या का मंत्र है। जो अध्यात्म प्राण है वह वाक् आदि प्राण को अन्दर संवृत कर लेता है, इस तरह से प्राण अध्यात्म वाक् आदि का उपसंहर्ता है। शरीर में होने वाली वाणी इत्यादि इन्द्रियों को भी संहृत कर लेता है और अधिदैव वायु समष्टि अग्नि इत्यादि देवताओं को अपने में उपसंहृत कर लेता है, सूर्य आदि अधिदैव जगत् को अपने में कर लेता है। इस प्रकार अध्यात्म अधिदैव दोनों ही वायु अपने में उपसंहृत करते हैं।

'तैजसो हिरण्यगर्भो मनःस्थत्वात्। 'लिंगं मनः' 'मनोमयोऽयं पुरुषः' इत्यादिश्रुतिभ्यः।' तैजस हिरण्यगर्भ दोनों मन में स्थित होने से ही हैं। विश्व-विराट् की एकता बता दी। सुषुप्ति-अव्याकृत की एकता बता दी। अब तैजस और हिरण्यगर्भ दोनों की एकता बताते हैं। तैजस हिरण्यगर्भ है क्योंकि मन में स्थित है। हिरण्यगर्भ समष्टि हुआ, सर्वव्यापक हुआ और तैजस व्याप्त हुआ लेकिन हिरण्यगर्भ की उपाधि सूक्ष्म प्रपंच है और तैजस जीव की भी उपाधि सूक्ष्म है। दोनों की उपाधि सूक्ष्म होने से दोनों की एकता हो गई। यह कहाँ पता लगा? श्रुति कह रही है 'लिंगं मनः।' हिरण्यगर्भ क्रियाशक्ति की उपाधि वाला, वह भी लिंगात्मतया ही प्रसिद्ध है। लिंग अर्थात् सूक्ष्मदेह लीनम् अर्थं गमयति इति लिंगम् छिपे हुए अर्थ को जो बताये उसी को लिंग कहते हैं। सूक्ष्मशरीर लिंग शरीर इसीलिये बताया जाता है कि उसके अन्दर क्रियाशक्ति व ज्ञानशक्ति का संकेत होता है। आँख देखती है तो संकेत होता है कि अन्दर यह क्रियाशक्ति है, दृक्शक्ति है। उसी को इन्द्रिय कह दिया गया है। जैसे आँख वैसे ही मनन करने की शक्ति है। उसी को अंतःकरण कहते हैं। यह श्रुति स्पष्ट रूप से इसी बात को बताती है।

यह कहा कि सुषुप्ति काल में अव्यक्त प्राण हम हो जाते हैं। प्रश्न होता है कि वहाँ प्राण कहाँ अव्यक्त होते हैं? सुषुप्ति काल में प्राण तो व्याकृत हैं। 'ननु व्याकृतः प्राणः, सुषुप्ते तदात्मकानि करणानि भवन्ति, कथमव्याकृतता?' कहने वाले का तात्पर्य है कि प्राण का नाम और प्राण का रूप व्यक्त या प्रकट है। क्यों प्रकट है? क्योंकि वहाँ उसका नाम रूप स्फुट है, कई बार इतना स्पष्ट प्रकट हो जाता है कि साथ वाले की नींद भी उखड़ जाये! और इन्द्रियों को श्रुति के बल से हमने कहा कि प्राण रूप हैं। अब प्राण व्यक्त तो इन्द्रियों को भी तद्रूप होने से व्यक्त ही कहना चाहिये, फिर आपने उसे अव्याकृत कैसे कहा? उत्तर देते हैं 'नैष दोषः, अव्याकृतस्य देशकालविशेषाभावात्'। बात यह है कि एकत्व उपपत्ति जैसी तुम करना चाहते हो, वैसी नहीं है। अव्यक्त का मतलब देश काल वस्तु के परिच्छेद का न होना है। यह अव्यक्तता है। पास में खड़े रहने वालों को चाहे प्राण की आवाज सुनाई दे, लेकिन उस प्राण के अन्दर उनको कहीं पर आँख, कान, नाक इत्यादि इन्द्रियों का अवबोध है क्या? अगर ऐसी अव्यक्तता

मानोगे तब तो पड़ी हुई मिट्टी को कहोगे कि मिट्टी का नामरूप है, घड़ा भी तदात्मक है तो वहाँ घड़ा भी मान लो! जैसे मिट्टी के अन्दर घड़ा अव्यक्त है, छिपा हुआ है, वह घड़ा यद्यपि मिट्टी से एक है लेकिन एक होने पर भी अव्यक्त है। मिट्टी रूप से व्यक्त होने पर भी घड़ा रूप से अव्यक्त है, अप्रकट है। इसी प्रकार यहाँ भी प्राण के नामरूप व्यक्त होने पर भी प्राण से एक हुई इन्द्रिय आदि तो अप्रकट हैं। इसलिये एकात्मकता दोष की बात नहीं। सुषुप्ति की दृष्टि से देखो, तुमको जाग्रत् में जो प्राण दीख रहा है उसकी दृष्टि से नहीं।

यही स्पष्ट कहते हैं 'यद्यपि प्राणाभिमाने सति व्याकृततैव प्राणस्य, तथापि पिण्डपरिच्छिन्नविशेषाभिमाननिरोधः प्राणे भवतीत्यव्याकृत एव प्राणः सुषुप्ते परिच्छिन्नाभिमानवताम्।' जाग्रत् काल में प्राण के अन्दर, मन व्यक्त होने से, प्राणाभिमान होता है इसलिये 'यह मेरा प्राण चल रहा है' ऐसा उसके अन्दर अवबोध होता है। इसी प्रकार प्राण की क्रियाओं में भी अभिमान हो जाता है। 'मैंने यह बोझ उठाया', यह प्राण की क्रिया में अभिमान है क्योंकि शक्ति वाली चीज प्राण ही है, उठाने का कार्य वही करेगी। यद्यपि जब प्राण के अन्दर अभिमान होगा तब प्राण व्याकृत रह जायेगा तथापि सुषुप्ति में पिण्ड से परिच्छिन्न विशेष अर्थात् 'ये मेरे प्राण हैं' ऐसा अभिमान जीव को नहीं होता जिससे प्राण तब अव्याकृत कहा गया। पिण्ड परिच्छिन्न विशेष अभिमान सुषुप्ति में निरुद्ध हो जाता है अर्थात् रुक जाता है। इसलिये प्राण को सुषुप्ति में अव्याकृत अर्थात् अव्यक्त ही कहा गया। जब तक परिच्छिन्न अभिमान जाग्रत् आदि काल में है तब तक सुषुप्ति के अन्दर परिच्छिन्न अभिमान न होने के कारण उसको अव्यक्त कहना पड़ेगा। सूत्रात्मा की परिस्थिति में परिच्छिन्न अभिमान नहीं रह गया, उसके लिये वह अव्यक्त नहीं रहा, लेकिन जीवों के लिये तो अव्यक्त रह ही जायेगा।

इसी बात को और स्पष्ट करके बताते हैं 'यथा प्राणलये परिच्छिन्नाभिमानिनां प्राणोऽव्याकृतस्तथा प्राणाभिमानिनोऽप्यविशेषापत्तावव्याकृतता समाना प्रसवबीजात्मकत्वं च।' परिच्छिन्न अभिमान वाले का प्राणलय है 'राम नाम सत्य है' अर्थात् मर जाना, वही प्राण का लय है। इसलिये जब मनुष्य मर जाता है, तो उसका परिच्छिन्न अभिमान समाप्त हो जाता है, उस प्राण के साथ उसका अभिमान समाप्त हो जाता है। तब प्राण नामरूप से अव्याकृत हो जाता है, यह सबको स्वीकार करना पड़ेगा। इसी प्रकार जो प्राण में अभिमान वाला है, उसका अभिमान-निरोध होने पर प्राण की अव्याकृतता है। परिच्छिन्न प्राण में अभिमानिता दोनों की नहीं रही, अतः दोनों में कोई विशेष नहीं है। सुषुप्ति में 'यह मेरा प्राण है' इस अभिमान के अभाव में अव्यक्तता माननी पड़ेगी जैसे मरने पर मानते हैं। मरे हुए का प्राण कहीं गायब नहीं होता लेकिन अव्यक्त होता है, उसे अभिमान नहीं रहता। वैसे ही यहाँ भी अभिमान नहीं रहा तो अव्यक्त हो गया। अव्याकृत और प्राण की एकता में दूसरा हेतु दे रहे हैं। 'प्रसवबीजात्मकत्वं च'। आधिदैविक जो अव्यक्त

प्राण है वह जगत् की उत्पत्ति का बीज है। सारे जगत् के प्रसव का कारण अव्यक्त है। अव्यक्त से ही सारा आधिदैविक जगत् उत्पन्न हुआ है क्योंकि श्रुति कहती है 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नमरूपाभ्यामेव व्याक्रियत'। उस समय में केवल एक अव्याकृत अव्यक्त ही था। फिर उसने 'नाम-रूप' इस तरह अपने को व्यक्त किया। पहले केवल एक अव्यक्त ही अव्यक्त था। उस अव्यक्त से ही यह सब उत्पन्न हुआ। इसलिये वह अव्यक्त ही प्रसवबीज है, सारे जगत् को उत्पन्न करने का कारण है। ठीक इसी प्रकार से सुषुप्ति के अन्दर जो प्राण है वह अध्यात्म जगत् अर्थात् इन्द्रियों और मन को उत्पन्न करने वाला बीज है। यदि प्राण शरीर में न रह जायें तो फिर क्या है? फिर सुषुप्ति से थोड़े ही उठेगा, प्राण है तब तक उठेगा। जैसे वहाँ यदि अव्यक्त न होता तो जगत्-प्रसव नहीं होता, वैसे ही यहाँ प्राण न होता तो सुषुप्ति से जाग्रत्-स्वप्न में नहीं आ सकता था। इसलिये जैसे वहाँ अव्यक्त वैसे ही यहाँ भी प्राण को अव्यक्तरूप मानना पड़ेगा। उपाधि रूप के विचार से सुषुप्ति और अव्याकृत दोनों का अभेद बता दिया। अब तक समानता के आधार पर सुषुप्ति की उपाधि जो प्राण और समष्टि हिरण्यगर्भ की उपाधि जो अव्यक्त, इन दोनों की एकता बता दी। इस तरह उपाधि की एकता बताई। उपाधि के स्वभाव का विचार करते हैं तो दोनों समान हैं।

अब उपहित के स्वभाव को बताते हैं कि उपाधि वाले के स्वभाव में भी एकता है। 'तदध्यक्षश्चैकोऽव्याकृतावस्थः। परिच्छिन्नाभिमानिनामध्यक्षाणां च तेनैकत्वमिति पूर्वोक्तं विशेषणमेकीभूतः प्रज्ञानघन इत्याद्युपपन्नम्।' अव्याकृत की अवस्था और सुषुप्ति की अवस्था दोनों के अन्दर अध्यात्म और आधिदैविक अधिष्ठाता चिद्धातु एक ही है। चेतन रूप से दोनों में कोई फरक नहीं। अव्याकृत और सुषुप्ति अवस्था दोनों उपाधियों में होने वाला चेतन एक ही होने से उपहित भी एक ही है। उपाधि से भी समानता और उपहित की एकता है तो दोनों में भेद का प्रतिपादक प्रत्यय कौन सा लाओगे? अधिष्ठाता, उसको जानने वाला, उसका मालिक, उसका अधिपति वह एक ही है। सुषुप्ति और अव्याकृत की एकता जब सिद्ध हो गई तो एकीभूत, प्रज्ञानघन आदि विशेषण भी समीचीन हो गये। मूल मंत्र में कहा था एकीभूत और प्रज्ञानघन, ये दोनों कारिका में नहीं आये। तात्पर्य हुआ कि वहाँ जो कहा था वह तो श्रुति ने कहा था और यहाँ इन युक्तियों से बता दिया कि उसकी एकता हो जाती है। 'इत्यादि' में आदि से सर्वेश्वर, सर्वज्ञ आदि सबका ग्रहण इसमें कर लेना। 'तस्मिन्नुक्तहेतुत्वाच्च' इस विषय में जितने हेतु थे, वे बता दिये।

अब कोई शंका करता है कि हमने तो अब तक प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान यही सुन रखा है, अव्याकृत को प्राण कैसे कहा? इस शंका का बीज यह है कि संसार में विभिन्न शास्त्रज्ञों में शब्दरूढि भिन्न-भिन्न होती है। यह विषय आगे और कई जगह दुःख देगा, इसलिये एक बार इसे समझ लेना चाहिये। प्रत्येक शास्त्र के अपने शब्दों

की रूढि होती है। जो जिस शास्त्र को देखता है उसको उसी रूढि का ज्ञान होता है और दूसरे अर्थ को वह रूढ्यर्थ नहीं समझता। इसीलिये समझ की भूल प्रायः होती ही रहती है। प्रायः जब दो आदमी झगड़ा करें तो बुद्धिमान् आदमी को बीच में पहले नहीं बोल देना चाहिये कि तुम ठीक और तुम गलत। दोनों की बात थोड़ी देर तक ध्यान से सुनते रहो तो पता लगेगा कि दोनों एक शब्द का भिन्न अर्थ में प्रयोग कर रहे हैं। उसी शब्द का प्रयोग एक व्यक्ति एक अर्थ में और दूसरा दूसरे अर्थ में कर रहा है। अपने अपने अर्थ का लोगों को इतना दृढ निश्चय होता है कि दूसरे के वाक्य में मेरा लगाया हुआ अर्थ ठीक बैठता है या नहीं यह सोचने की किसी को फुर्सत नहीं क्योंकि सबको निश्चय है। इसलिये श्रीहर्ष कहते हैं कि ऐसे में यह करना चाहिये : जब समझ लिया कि इस शब्द से झंझट हो रही है तो दोनों को पूछना चाहिये कि इसका लक्षण करो। दोनों अलग अलग उसका लक्षण करेंगे। तब उनसे कहो कि इस लक्षण को मानते हो या नहीं। जब लक्षण का विचार करने लगोगे तो रुपये में पौने सोलह आना वह कहेगा 'तुम इसको ऐसा क्यों कहते हो, इस शब्द का यह अर्थ क्यों किया?' यह सिमैंटिक्स की, शब्दार्थ की समस्या हो गई। ऐसे ही एक शास्त्र वाला शब्दप्रयोग किसी अर्थ में करता रहता है, दूसरा किसी और अर्थ में प्रयोग करता रहता है। आधुनिक काल में भी ऐसा ही होता है। मिनिस्टर शब्द का एक अर्थ रूढ है जो राज्य का मिनिस्टर बनता है, जैसे प्राइम मिनिस्टर। दूसरा मिनिस्टर का अर्थ धर्मप्रचारक है। अब यदि तुम मिनिस्टर की बात करते हो और दोनों झगड़ा करते हैं तो दोनों अपने अपने अर्थ में उसका प्रयोग करेंगे। एक कहेगा 'मिनिस्टर का अर्थ तो यही होता है, प्राइम मिनिस्टर तो बाद में बने, हम असली मिनिस्टर हैं, इन्होंने झूठा नाम रखा है।' छोटी छोटी चीजों में ऐसे ही अर्थभेद होता रहता है। घड़ी शब्द का हम लोगों में मतलब होता है चौबीस मिनट और आजकल के अंग्रेजी पढ़े लिखे पहनने वाली चीज को घड़ी कहते हैं। हमें घड़ी शब्द से चौबीस मिनट का अवबोध होता है। दोनों का अर्थग्रह अलग-अलग होता रहता है और उससे भ्रम होता रहता है। इसी प्रकार हमारे वैदिक शास्त्रों में भी होता है। बुद्धिमान् पुरुष का काम होता है कि जिस ग्रंथ को पढ़ रहे हैं, उस ग्रन्थ के शास्त्र की रूढि को पहले समझो। यदि हमको गीता का अर्थ समझना है तो पहले तो हमारा ध्यान गीता में केन्द्रित होना चाहिये कि वह शब्द कहाँ कहाँ कैसे कैसे आया है। उसके बाद देखना चाहिये कि वह शब्द महाभारत में किस अर्थ में आया है क्योंकि महाभारत का अंग गीता हुई। फिर एक कदम आगे चलकर देखेंगे कि पुराणों में उसका तात्पर्य कैसा है क्योंकि पुराण भी व्यासकर्तृक हुए। यह नहीं कि गीता के शब्द को देखकर तुरंत निर्णय पर कूदो कि आज वर्तमान काल में हमने जो मान रखा है वही अर्थ है। जैसे 'एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति।' इस श्लोक को देखते ही लोग कहते हैं कि सांख्य और योग शास्त्र की एकता बताई। योग शास्त्र के लिखने वाले महर्षि पतंजलि और भगवान् कृष्ण कब

हुए, इसका ख्याल नहीं, झट निर्णय कर लिया कि वहाँ उसका वही मतलब है। वैदिक पढ़ता है तो उसे न कपिल का सांख्य और न पतंजलि का योग याद आता है, उसे श्वेताश्वतर उपनिषद् याद आती है। 'तत् कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपापैः'। 'सम्यक् ख्यायते इति सांख्यं ज्ञानम्' अच्छी प्रकार जहाँ चीजें बताई जायें, उस विवेक-शास्त्र को सांख्य कहा। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये। जब वेदों का अर्थ किया जाये तो वेद की रूढि देखनी पड़ेगी कि शब्द किस अर्थ में रूढ है। ऐसा नहीं कि वर्तमान काल में जिस अर्थ में रूढ है उसी अर्थ में लगा दिया। इससे गड़बड़ी हो जाती है।

सामान्य रूप से प्राण शब्द प्राण समान आदि पंचप्राणों में रुढ है। अतः किसी की शंका है। उसने उसी रूढि को समझा है, अव्याकृत अर्थ जो वेदों में हुआ है उसे नहीं समझा है। 'कथं प्राणशब्दत्वम् अव्याकृतस्य?' आपने अव्याकृत के विषय में प्राण शब्द का प्रयोग कैसे कर लिया? उसका जवाब देते हैं कि यहाँ प्राण शब्द का अर्थ चलने वाले प्राण रूप रूढ्यर्थ नहीं लेना। श्रुति भी इसमें प्रमाण है 'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः'। तुमने अपने अपने शास्त्र पढ़े हैं, वेदों को देखो तो प्राण शब्द इसी अर्थ में रूढ है। जगह जगह प्राणों का महत्त्व बताया है। प्राण से सृष्टि हुई। प्रश्नोपनिषद् में भी बताया कि प्रत्येक इन्द्रिय उसे नहीं जान पाई तो अंत में प्राण ने उसे जाना। सारी इन्द्रियों ने पाप किया लेकिन प्राण निष्पाप रहा। प्राण ने ही कोई पक्षपात नहीं किया, बाकी सबने पक्षपात किया इत्यादि कथायें उपनिषदों में आती हैं जो प्राण के महत्त्व को बताती है। वहाँ प्राण से परमेश्वर को ही लेना पड़ता है। माया-विशिष्ट चेतन ही परमेश्वर है जो अव्याकृत है। अन्य शास्त्रों में रूढ होने पर भी श्रुति-रूढि को देखो। वह श्रुति कहती है कि मन प्राण के बन्धन में है। यहाँ ब्रह्म का ही प्रकरण चला हुआ है। इसलिये यहाँ ब्रह्म ही इसका अर्थ होगा।

इसपर शंका करते हैं कि फिर प्राण का मतलब शुद्ध ब्रह्म को लो 'ननु तत्र 'सदेव सोम्य' इति प्रकृतं सद्ब्रह्म प्राणशब्दवाच्यम्?' छांदोग्य श्रुति में तो बताया है कि शुद्ध ब्रह्म से जगत् उत्पन्न हुआ। इसलिये यहाँ भी 'प्राणबंधनं हि सोम्य मनः' में प्राण का अर्थ वही करो, ईश्वर क्यों कर रहे हो? उत्तर देते हैं 'नैष दोषः' यह दोष नहीं है क्योंकि प्रकरण चाहे ब्रह्म का हो लेकिन आगे उससे सृष्टि बताई। आगे जब सृष्टि बताई तो जिस ब्रह्म को वहाँ बताया है वह सृष्टि करने वाला सशक्ति ब्रह्म ही हो सकता है। जैसे जब कहते हैं कि यह आदमी प्रवचन करेगा तो आदमी कहा, विद्वान् तो कहा नहीं, लेकिन 'प्रवचन करेंगे' इस लिंग से ही सिद्ध होगा कि विद्वान् हैं, तभी प्रवचन करेंगे। यह तो नहीं कहा कि भाषण करेंगे! क्योंकि भाषण कोई भी कर सकता है। जो भाषा को जाने वह भाषण कर सकता है, लेकिन प्रवचन तो विद्वान् ही कर सकेगा। उसी प्रकार से कहा तो यह था कि सत् ब्रह्म था और आगे उससे सृष्टि को बताया, तो वह सत् ब्रह्म सशक्ति ब्रह्म, मायाशबल ही हो सकता है नहीं तो आगे की सृष्टि कैसे बनेगी? इसलिये यह

दोष नहीं। वह जो सत् है उसको यहाँ बीज रूप मानना पड़ेगा, 'बीजात्मकत्वाभ्युपगमात्सतः', आगे की उत्पत्ति देखकर यह स्वीकार करना पड़ेगा कि वह सृष्टि करने वाला ब्रह्म है।

यह सूत्र-वाक्य था, अब उसी उत्तर को विस्तार से समझाते हैं—'यद्यपि सद्ब्रह्म प्राणशब्दवाच्यं तत्र, तथापि जीवप्रसवबीजात्मकत्वमपरित्यज्यैव प्राणशब्दत्वं सतः सच्छब्दवाच्यता च। यदि हि निर्बीजरूपं विवक्षितं ब्रह्माभविष्यत् 'नेति नेति', 'यतो वाचो निवर्तन्ते', 'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदिताद्' इत्यवक्ष्यत्। 'नसत्तन्नासदुच्यते' इति स्मृतेः'। सत् ब्रह्म के प्रकरण के अन्दर प्राण शब्द का अर्थ ब्रह्म है। फिर भी जीवप्रसव अर्थात् जीव को उत्पन्न करने का जो कारण या बीजावस्था है उसको बिना छोड़े हुए ही। ब्रह्म कहने पर भी आगे सृष्टि बताई है तो उसके अन्दर जीवों को उत्पन्न करने की शक्ति थी, यह मानना पड़ेगा। उस शक्ति को छोड़े बिना ही सत् की वहाँ प्राणशब्दता हो गई। यदि सत् शब्द का अर्थ निर्बीज अर्थात् बीज-रहित अर्थात् सृष्टि उत्पन्न करने की शक्ति से रहित होता, यदि इस अर्थ में तात्पर्य या इच्छा होती, तो फिर वाक्य अन्य ढंग का होता। दूसरी जगह जहाँ निर्बीज ब्रह्म कहना होता है वहाँ 'नेति नेति' कहते हैं। पहले 'न इति' से स्थूल का निषेध, दूसरे 'न इति' से सूक्ष्म का निषेध और वीप्सा, द्विरुक्ति, से कारण का निषेध है। इसलिये स्थूल, सूक्ष्म, कारण तीनों भावों से रहित को 'नेति नेति' कह दिया। 'यतो वाचो निवर्तन्ते' वहाँ वाणी मन इत्यादि निवृत हो जाते हैं, इस रूप से भी उसे कहा जाता है। 'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितात्' जिसको जान सको उससे भी परे है और जिसको न जान सको उससे भी परे है। ब्रह्म को न जान सकते हो और न बिना जाने रह सकते हो! आँख मन इत्यादि वहाँ जा नहीं सकते तो जानोगे किससे? बिना जाने रह नहीं सकते क्योंकि वह ज्ञानरूप है। ब्रह्म इन्द्रिय मन इत्यादि से अतीत है इस रूप से ही उसे जाना जाता है। इन श्रुतियों की तरह प्राणबन्ध स्थल पर भी कुछ न कुछ सृष्टि की अभावरूपता को बताया जाता, जबकि बताई गई है सृष्टिरूपता। इसलिये वहाँ सृष्टि करने वाला ब्रह्म ही प्राण शब्द का तात्पर्य है। 'न सत् तत् न असत् उच्यते' वैसे ही गीतास्मृति भी बताती है कि तत् न सत् अर्थात् न वह कार्य है और न असत् अर्थात् न वह कारण है। सत् है और असत् नहीं, यह मतलब नहीं। अर्थात् न कार्य और न कार्य का कारण है। कार्य कारण का अभाव बताया। इस प्रकार ब्रह्म का प्रतिपादन किया होता यदि सृष्टिशक्ति से रहित ब्रह्म उनका तात्पर्य होता।

किंच यदि मानोगे कि प्रलय काल में यह जगत् या सुषुप्ति में जीव सद् ब्रह्म में निर्बीज रूप से लीन हो जाते हैं तो महाप्रलय में जो लीन हुए हैं और सुषुप्ति काल के अन्दर जो सत् के साथ जीव एक हुए हैं उनका पुनरुत्थान कैसे होगा? यदि महाप्रलय की लीनावस्था में बीज मौजूद ही नहीं है तो बाद में सृष्टि कैसे होगी, फिर वापिस कैसे जायेंगे? इसी प्रकार सुषुप्ति में निर्बीजावस्था में चले जायेंगे तो फिर उठेंगे कैसे? महाप्रलय के बाद जितने जीव हैं सब बाहर आ जाते हैं, नहीं तो साधना की जरूरत ही नहीं रहेगी

और सब मुक्त हो जायेंगे! यदि ब्रह्म में लीन होकर फिर भी वापिस आते हैं तो मुक्त पुरुष का भी फिर जन्म होने लग जायेगा, मुक्त होना व्यर्थ हो जायेगा। कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि वैकुण्ठ गोलोक आदि में जायेंगे और उसके बाद फिर अगली बार लीलासहचर उत्पन्न हो जायेंगे, वैष्णव ऐसा मानते हैं। आधुनिकों में स्वामी दयानंद भी ऐसा ही मानते हैं कि मुक्त महाप्रलय तक स्वातंत्र्यावस्था में रहता है और अगली सृष्टि में फिर पैदा हो जाता है। प्राचीन में वैष्णव आदि की कल्पना है और उन्हीं को मानकर स्वामी दयानन्द ने भी यही कल्पना की है। श्रुति स्पष्ट कहती है कि मुक्त की पुनरुत्पत्ति नहीं होती क्योंकि तब तो मोक्ष स्वर्ग जैसा रह जायेगा, मुक्ति में वैशिष्ट्य ही नहीं रहेगा। ये सब दोष आते हैं, इसलिये कह दिया 'निर्बीजतयैव चेत्सति लीनानां सम्पन्नानां सुषुप्तप्रलययोः पुनरुत्थानानुपपत्तिः स्यात्। मुक्तानां च पुनरुत्पत्तिप्रसंगः, बीजाभावाविशेषात्।' बीज का अभाव सब जगह एक जैसा है। इसलिये जहाँ सत् ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति बताई है वहाँ भी सत् ब्रह्म में बीज की उपस्थिति है।

इतना ही नहीं, कहते हैं कि श्रुति ने जो ब्रह्मज्ञान का विधान किया है, वह भी बेकार हो जायेगा क्योंकि अगर बीज है ही नहीं, जाग्रत् स्वप्न में केवल कार्य है, कारण है ही नहीं, तो फिर कारण अज्ञान को जलाने की क्या जरूरत पड़ेगी? बीज जलाओगे नहीं तो ज्ञानसे क्या जलाओगे? फिर तो साधना करना व्यर्थ हो जायेगा। ज्ञान से जलाने के योग्य बीज अज्ञान है। उस अज्ञान के अभाव में ज्ञान भी निरर्थक हो जायेगा, बिना किसी प्रयोजन का हो जायेगा। इसलिये कहा 'ज्ञानदाह्यबीजाभावे च ज्ञानानर्थक्यप्रसंगः। तस्मात्सबीजत्वाभ्युपगमेनैव सतः प्राणत्वव्यपदेशः सर्वश्रुतिषु च कारणत्वव्यपदेशः।' उपर्युक्त कारणों से स्पष्ट है कि प्राणशब्द से बीज सहित ही सद्ब्रह्म कहा जाता है अर्थात् सृष्टि को उत्पन्न करने की शक्ति के साथ ही है। इसी प्रकार प्राण, सत्, ब्रह्म आदि शब्दों से वेदों में जहाँ ब्रह्म को जगत् का कारण बताया है वह बीजता को लेकर है। मायाशबल, अज्ञान को लेकर ही, कारण बनता है, शुद्ध ब्रह्म कारण नहीं बन सकता।

'अतएव 'अक्षरात्परतः परः' 'सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः' 'यतो वाचो निवर्तन्ते' 'नेति नेति' इत्यादिना बीजत्वापनयनेन व्यपदेशः।' क्योंकि अनादि अनिर्वचनीय अज्ञान से शबल ब्रह्म ही कारणरूप से विवक्षित होता है इसीलिये अनेक श्रुतियों ने कारणत्व का निषेध कर परिशुद्ध ब्रह्म की बात कही। अक्षर अर्थात् अव्याकृत कार्य की अपेक्षा परे है और अव्याकृत से भी जो परे है वह परमात्मा है। 'परतः अक्षरात् परः' ऐसा अन्वय है। दीखने वाले जगत् से माया परे और उससे परे परमात्मा हुआ। वह बाहर अर्थात् कार्य और आभ्यंतर अर्थात् कारण दोनों कल्पनाओं का अधिष्ठान जो चिद्धातु है वह अज कहा जाता है क्योंकि जब वह कार्यकारण का अधिष्ठान है तो वह न कार्य हो सकता है, न कारण। 'यतो वाचो निवर्तन्ते' और 'नेति नेति' का तात्पर्य पहले बता ही दिया है। यहाँ बीजवत्ता को हटाकर सुषुप्ति से परे उसे बताया। वह कार्य-कारण का अधिष्ठान

और वाणी से परे है, यह कहा। जहाँ कहीं यह कहा जाता है कि ब्रह्म सिद्ध है, तो किसी कल्पित असिद्धि को लेकर ही उसे सिद्ध कहते हैं। वह असिद्धि माया शक्ति है। जहाँ सृष्टि-शक्ति बतानी है वहाँ माया शक्ति विवक्षित है। परमात्मा माया शक्ति से परे है यह तभी कह सकते हैं जब उसमें माया शक्ति हो, नहीं तो कहना बेकार हो जायेगा।

'तामबीजावस्थां तस्यैव प्राज्ञशब्दवाच्यस्य तुरीयत्वेन देहादिसम्बन्धरहितां पारमार्थिकीं पृथग्वक्ष्यति।' शंका होती है कि यह तो आप कहीं-कहीं का प्रकरण ले रहे हैं, यहाँ तो श्रुति उसे सर्वेश्वर सर्वज्ञ ही कहती है। समाधान है कि ऐसा नहीं, यहाँ तो अबीज अवस्था को बताना है। अभी आगे का प्रकरण बाँचा कहाँ है? जो यह सर्वेश्वर बीजावस्था वाला है, उस प्राज्ञशब्दवाच्य को ही तुरीय रूप से अलग बतायेंगे। वह जो तुरीयरूपता होगी उसके अन्दर शरीर, इन्द्रियाँ, मन किसी का सम्बन्ध नहीं रहता है, वही पारमार्थिक है अर्थात् सच्ची है। बीजत्व के निरास से सिद्ध ब्रह्म का उपदेश किया जाता है और बीज को लेकर उसी को शबल ब्रह्म कहा जाता है। यों दो तात्पर्य हो गये। 'बीजावस्थापि न किंचिदवेदिषमित्युत्थितस्य प्रत्ययदर्शनाद्देहेऽनुभूयत एवेति 'त्रिधा देहे व्यवस्थित' इत्युच्यते।' शंका होगी कि यह जो आपने बात कही शबल और शुद्ध की, यह आचार्य गौडपाद ने क्यों नहीं कही? उन्होंने तो केवल यही कहकर छोड़ दिया। 'आकाशे च हृदि प्राज्ञस्त्रिधा'। यहाँ शबल और शुद्ध का भेद करके परिहार किया, मूल में आचार्य गौडपाद ने ऐसा क्यों नहीं कहा? किन्तु यह शंका ठीक नहीं क्योंकि उन्होंने 'देहे व्यवस्थितः' 'देहे' पद लगा रखा है। जब तक देह में हो तब तक ये तीन अवस्थायें हैं। इसका मतलब है कि देहातिरिक्त अवस्था आगे बतानी है। जब कहते हैं 'जब तक शरीर में हो तब तक तीन अवस्थायें हैं' तो अर्थात् आता है कि शरीर से अलग होने पर कोई चौथी अवस्था है। यहाँ जो मूलकार ने 'देहे' कहा था उसी को भाष्यकार ने स्पष्ट कर दिया। इसमें अनुभव का प्रमाण दे देते हैं कि बीजावस्था का अनुभव भी है। अभी तक तो श्रुति का प्रमाण ही दिया। उठकर आदमी कहता है 'नाहं किंचित् अवेदिषम्' सोकर उठकर सभी कहते हैं कि मैंने कुछ नहीं जाना। 'नहीं जाना' अर्थात् अज्ञान, वहाँ के अज्ञान रूपी बीज का परामर्श प्रत्येक व्यक्ति खुद कर रहा है। अज्ञान तो अनुभवसिद्ध है, केवल श्रुति युक्ति सिद्ध नहीं। सुषुप्ति से उठकर खुद ही कह रहा है। गाँव का गँवार भी यही कहेगा कि 'मैंने वहाँ कुछ नहीं जाना।' इसलिये यह सबको अनुभवसिद्ध है। प्रत्यय अर्थात् अनुभव, देह के अन्दर इसका अनुभव होता ही है। श्रुति, स्मृति, युक्ति और अनुभव प्रमाण हो गया तो फिर अब संदेह की बात नहीं रह गई।।२।।

●

कारिका के अन्दर उपनिषद् से एक विलक्षण बात बताई। उपनिषद् के अन्दर जो विभिन्न अवस्थायें थीं उन्हें कारिकाकार ने जाग्रत् काल में ही स्वप्न और सुषुप्ति के निदर्शन से बता दिया। यह विलक्षणता हुई। अब उसी के भोग और तृप्ति भी तीन प्रकार के बतायेंगे।

विश्वो हि स्थूलभुङ्नित्यं तैजसः प्रविविक्तभुक् ।
आनन्दभुक्तथा प्राज्ञस्त्रिधा भोगं निबोधत ।।३।।

'स्थूलभुक् विश्वः' स्थूल पदार्थों का जो भोग करने वाला है, वह विश्व है जाग्रत् का अभिमानी है। यहाँ भोगों का निरूपण करते हैं। जाग्रत् काल में पदार्थभोग स्थूल भी होता है सूक्ष्म भी होता है। स्थूल भोग जहाँ पदार्थ स्थूल हों। ये भोग पशुओं के अधिक नजदीक होते हैं। जैसे रोटी खाना आदि स्थूल भोग हैं। इसमें पशु और मानव की समान प्रवृत्ति होती है। किसी सुन्दर दृश्य को देखना, सुन्दर संगीत को सुनना, यह सूक्ष्म भोग हो जायेगा। यहाँ मनुष्य पशु से दूर होकर देवताओं के नजदीक पहुँचता है। इसीलिये शतपथ ब्राह्मण कहता है 'देवाः न खादन्ति, न पिबन्ति' अर्थात् स्थूल भोग जहाँ सर्वथा ही नहीं हो, उसे देव कहा गया है। यहाँ दो प्रकार के भोगों का वर्णन करते हैं। स्थूल भोग वे जो केवल देह से सम्बन्धित होते हैं और सूक्ष्म भोग वे जो बुद्धि से सम्बन्धित होते हैं, भावना से सम्बन्धित होते हैं, जिनका भोग जितना सीखोगे उतना ज्यादा आयेगा। रोटी खाकर पेट भरने के लिये किसी को कुछ सीखना नहीं पड़ता। लेकिन भोजन करने के अन्दर यदि विशिष्ट स्वाद का निर्माण करना है तो उसे सीखना पड़ता है। नहीं तो साधारण आदमी को बढ़िया भोजन बनाकर दो तो वह उसको मिला-जुलाकर एक कर कहेगा 'सब एक ही चीज है, क्या फरक पड़ता है?' स्थूल पदार्थ का भोग वह जहाँ केवल पदार्थ का भोग है। वहाँ पदार्थों के वर्गीकरण, विश्लेषण, भिन्न-भिन्न प्रकार से उनको समझना इत्यादि बुद्धि और भावना की कोई आवश्यकता नहीं है। यह ठीक है कि मनुष्य तो बीच की कड़ी है, देव-भाव भी उसमें है, पशुभाव भी है, मनुष्य की क्रियाओं में सर्वथा देवभाव हो जाये, स्थूल भाव सर्वथा हट जाये यह भी नहीं हो सकता और कितना भी मूर्ख मनुष्य हो, वह पशु हो जाये यह भी नहीं होता है। मानवीय भोगों में, अर्थात् मनुष्य जो भोग करेगा, उनमें दोनों अंश मिले हुए होंगे लेकिन कोई ज्यादा और कोई कम। क्योंकि सूक्ष्म शरीर में संस्कार रहते हैं इसलिये किन्हीं संस्कारों की अपेक्षा न होना स्थूलता है। सर्वथा संस्कार-अजन्यता नहीं समझना, क्योंकि संस्कार-जन्यता तो स्थूल भोगों में भी रहेगी। जिस चीज के संस्कार नहीं होंगे उसका भोग नहीं होगा। स्थूल भोग संस्कार सापेक्ष नहीं होंगे, संस्कार के परिवर्तन से भेद नहीं आयेगा। लेकिन सूक्ष्म भोगों में भेद आ जायेगा। गाँव का मनुष्य खूब चाकचिक्य वाले, चमकते हुए कपड़ों को देखकर समझता है 'ये बड़े सुन्दर हैं'। संस्कार आने पर उसी को हल्के रंग (pastal shade or soft colour) अच्छे लगने लगते हैं। स्थूल आदमी समझता है कि जितना हल्ला गुल्ला मचे उतना अच्छा हो रहा है। हम दिल्ली में रहते हैं तो वहाँ पंजाबी लोगों का कहना होता है कि बड़ी रौनक लगी है। जहाँ भीड़-भड़क्का हल्ला-गुल्ला हो रहा है वहाँ उन्हें रौनक लगती है। जहाँ दो चार व्यक्ति शांति से बैठकर कोई विचार कर रहे हों तो कहते हैं कि सूना पड़ा है, रौनक नहीं है। उस हल्ले गुल्ले में चाहे एक दूसरे को गालियाँ दे रहे हों, कोई हर्जा नहीं।

'तैजसः प्रविविक्तभुक्' यह जो भगवान् गौडपाद का तात्पर्य है, उससे श्रुति ने क्यों प्रविविक्त का प्रयोग किया, यह स्पष्ट हो जायेगा। प्रविविक्त का अर्थ है अलग किया। उपनिषद् में स्वप्न अवस्था में जाने पर स्थूल पदार्थ अलग हो जाते हैं लेकिन कारिका में जाग्रत् अवस्था में ही तीनों को लेने से प्रविविक्त स्पष्ट हो जाता है। प्रकृति के अन्दर जाग्रत् अवस्था के पदार्थों में तो सब चीजें मिली हुई हैं। उनमें से कुछ चीजों का चयन करना और कुछ को अलग करना, इसी से सौन्दर्य इत्यादि जितने भी सूक्ष्म भोग हैं उनका निर्माण होता है। हम लोग जब सूक्ष्म भोग करते हैं तब उसमें कोई नई चीज बनाते नहीं हैं, जैसे बगीचा लगाते नहीं हैं, कहने को कहते हैं कि बगीचा लगाते हैं, क्योंकि बगीचा तो जंगल में भी बनता ही है, उसके लिये हमारी जरूरत नहीं है। हमारी जरूरत है कि बगीचे के अन्दर के स्वाभाविक झाड़ झंखार, इधर उधर की बेकार चीजें, डालियों का इधर उधर अनियमित बढ़ जाना इत्यादि सबकी छटाई करना। वह असली काम है। बाकी तो पेड़ पौधे अपने आप बढ़ जायेंगे। उसके लिये ज्यादा परिश्रम की आवश्यकता नहीं है। जो जंगल के रूप में बढ़ता है, उसमें से प्रविविक्त करके कुछ रखा, कुछ को हटा दिया। ऐसे ही हमारे अंतःकरण में रात दिन पदार्थ तो आते ही रहते हैं। अब हम उसमें से कुछ चीजों की छटाई करके जो संस्कार खराब हैं, बेकार हैं उनको हटा देते हैं और जो अच्छे हैं उन्हें रख लेते हैं। मनुष्य को स्वभाव से जो चीज सामने आई, उसे खाना प्राप्त हो गया। तुम उसे शाकाहारी बना दो, यह विधि हमारे यहाँ नहीं है। विधि तो यह है कि मांस खाना प्राप्त हुआ, उसका निषेध करेंगे कि मांस मत खाओ, क्योंकि स्वभाव से प्राप्त हुआ। यही संस्कार है और कुछ नहीं।

छोटा बच्चा होता है, बिना नहाये भी खाता है, नहाकर भी खाता है। घर वालों के साथ बैठकर भी खाता है और सड़क पर खड़े होकर भी ख़ाता है। यह नहीं कि वह घर में नहीं खाता। अब उसका यज्ञोपवीत संस्कार हुआ तो हमने प्रविविक्त कर दिया कि घर में ही बैठकर ही खाना, सड़क पर मत खाना। पहले भी घर में खाता ही था लेकिन अब सड़क पर खाने को काट कर अलग कर दिया। नहाकर पहले भी खाता था, बिना नहाये भी खाता था लेकिन अब प्रविविक्त कर दिया कि अब बिना नहाये मत खाना। मीमांसा में इसका बहुत तरह से विचार आता है। इसकी एक प्रकार से परिसंख्यान विधि में गतार्थता होती है। इस बात को न समझने के कारण लोग शास्त्रों का अर्थ उलटा पुलटा समझ लेते हैं। जहाँ निषेध में तात्पर्य होता है वहाँ नहीं समझ पाते हैं और विधि में लगाते हैं। जैसे मान लो कोई आदमी रोज मांस खाता है उससे कहते हैं कि सोमवार भगवान् शंकर का दिन है, इसलिये सोमवार को मत खाओ, बाकी दिन खा लो। कहने वाले का तात्पर्य बाकी दिन खाओ, यह नहीं है। इसका मतलब कोई यह समझ ले कि हम नहीं खाते थे लेकिन उन्होंने कहा तो खाने लग जायें तो गलत होगा क्योंकि यह परिसंख्यान है। 'सोमवार को नहीं खाओ', यह कहा गया है, 'और दिनों में खाना' यह नहीं कहा जा रहा है।

मनु का एक वाक्य है, वह इस परिसंख्यान विधि को न समझने के कारण बहुत से लोग उद्धृत करते हैं 'न मांसभक्षणे दोषः' जितने मांस खाने वाले, शराब पीने वाले लोग हैं, वे कहते हैं कि मनु ने कहा है इसलिये इनके खाने पीने में दोष नहीं। किस प्रकरण में कहा है, यह उन्हें पता नहीं। पहले उन्होंने कुछ मांसों का निषेध किया। उसके बाद जो बचे हुए मांस मद्य हैं, उन्हें लेकर कहा कि जो बचे हुए हैं उन्हें खाये। वह सामान्य निषेध के बाद आया हुआ प्रकरण है। उसमें सामान्य रूप से सर्वथा मांस खाने का निषेध भी मनु ने किया। यह जो परिसंख्यान विधि हमारे शास्त्रों में है, उसे न समझकर व्यवहार में भी हम रोज गड़बड़ी करते रहते हैं और शास्त्र का अर्थ करने में भी गड़बड़ी करते हैं। बच्चा नहीं मानता है तो कह देते हैं कि बाजार की चाकलेट खा ले, बाकी दही बड़े आदि मत खाना। तात्पर्य है कि चाकलेट तो अच्छी तरह से पैक होकर आती है, उसे खाने से पेट खराब होने की सम्भावना कम है लेकिन दही बड़े खुले रखे रहते हैं, उन्हें खाने से पेट जरूर खराब हो जायेगा। इसलिये यह विधि चाकलेट खाने में नहीं है। जितने भी हमारे संस्कार हैं, वे चाहे कला के हों, संगीत के हों, खाने पीने के संस्कार हों, वे सब स्वभाव से सब चीजों के प्राप्त होने पर उसमें परिसंख्यान विधि के द्वारा धीरे धीरे परिष्कार करके सूक्ष्म भोगों के लिये तैयारी करना है। इसी प्रकार प्रविविक्त का अर्थ कारिकाकार के अर्थ में स्पष्ट हो जाता है।

एक स्थूल पदार्थों के भोग हुए जहाँ पदार्थ की परतंत्रता प्रधान है और एक सूक्ष्म पदार्थों का भोग हुआ जहाँ जिसमें संस्कार रहेंगे उस मन की प्रधानता है। तीसरे वे हैं जहाँ विषय और मन दोनों के अभाव का भोग है। 'आनंदभुक् तथा प्राज्ञः' स्थूल भोग हों, चाहे सूक्ष्म भोग हों, भोग के अंत में एक क्षण ऐसा आता है जहाँ भुज्यमान पदार्थ का भान नहीं रह जाता, स्वयं भोक्ता का भान नहीं रह जाता, दोनों वृत्तियाँ लीन होकर केवल आनंदमात्र रह जाता है। बहुत दिनों के बाद बढ़िया कलकत्ते का बागबाजार का रसगुल्ला मिला हो तो पहले तो डिब्बा देखते ही मनुष्य के मन में मोद हो जाता है। संस्कृत में सब अलग-अलग नाम हैं। हिन्दी में एक से ही काम चला लेते हैं। इष्ट दर्शन से जो सुख होता है, उसे मोद कहते हैं। अभी यह भी पता नहीं कि वह डिब्बा घर के लिये लाया है या हमें खिलायेगा। उसने लाकर हमारे हाथ में वह डिब्बा रख दिया तो प्रमोद होता है। इष्ट वस्तु की प्राप्ति से प्रमोद होता है। 'मोदो दक्षिणः पक्षः। प्रमोद उत्तरः पक्षः'। अब उसके बाद जब रसगुल्ले को मुँह में रखते हैं उस समय में मनुष्य को सुख होता है, वह विषयजन्य सुख है। उस विषयजन्य सुख के ठीक बाद खाने के साथ ही बड़ा मजा आया, उस क्षण में न रसगुल्ले का और न खाने का भान है। आदमी की आँख भी बन्द हो जाती है और उसमें मग्न हो जाता है। इस अवस्था में न स्थूल का और न सूक्ष्म का भोग है। विषय के न रहने से जो भोग होता है वह आनन्दभुक् है। जाग्रत् काल में जब जब भोग हुआ करे, तब तब इन तीनों का विचार रखना चाहिये।

जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति में स्वभाव से जो होता है उसमें तो निबोधत कहने की जरूरत ही नहीं है, वह तो अपने आप होता ही है। जाग्रत् काल में जब तीनों को देखने लगेंगे तब उसका अभ्यास दृढ होगा।।३।।

●

अब इन तीनों से होने वाली तृप्ति को बताते हैं।

स्थूलं तर्पयते विश्वं प्रविविक्तं तु तैजसम् ।
आनन्दश्च तथा प्राज्ञं त्रिधा तृप्तिं निबोधत ।।४।।

स्थूल भोग विश्व की तृप्ति करते हैं, जाग्रत् के अभिमानी की तृप्ति करते हैं। जाग्रत् के अभिमान में स्थूल देह का अभिमान प्रधान रहेगा। स्थूल भोग स्थूल जाग्रत् देह को तृप्त करते हैं। खाने पीने से देह की तृप्ति होती है, मन की तृप्ति नहीं होती। इसीलिये किसी ईसाई लेखक ने कहा है कि एक आदमी को केवल भोजन के जरिये ज़िन्दा नहीं रख सकते। उस जिन्दा शब्द को सुनकर आजकल के महाभोगी लोग कहते हैं क्या रोटी के बिना जिन्दा कोई रह सकता है? यह लेखक ने नहीं कहा। उसका मतलब है कि मानव जीवन केवल स्थूल भोगों के द्वारा, रोटी आदि के द्वारा नहीं है। उसने कहा है कि मनुष्य केवल रोटी से जीवित नहीं रह सकता। गाय भैंस तो जिन्दा रहते ही हैं। उनके लिये यह थोड़े ही है कि उन्हें संगीत सुनाओ या कला प्रदर्शन करो। इसलिये जब तक मनुष्य में संस्कारावबोध नहीं आता वह मनुष्य नहीं कहा जा सकता चाहे कितना ही खिला पिला कर खुश करो। एक बार एक हब्शी नीग्रो मिला था। गुलामी प्रथा समाप्त होने पर वह स्वतंत्र बना। वह बता रहा था कि मेरा काम एक साँड का था। यहाँ लोग कहते हैं कि हरिजनों के साथ बहुत अत्याचार हुआ पर हिन्दू धर्म ने कभी गुलामी नहीं रखी। कम से कम दस हजार वर्षों से स्मृति भी नहीं है कि हमारे यहाँ कोई गुलाम होते थे। वह नीग्रो जहाँ काम करता था, वहाँ हब्शिने भी काम करने वाली होती थीं और उनका विवाह नहीं होता था। वहाँ एक तगड़े हब्शी को रखकर इसी काम के लिये प्रयोग किया जाता था कि आगे वह दूसरे हब्शी पैदा करे। वह काफी हृष्टपुष्ट था। यह पशुओं का काम है। मन में कोई भाव ही नहीं। हिन्दू इसकी कभी कल्पना भी नहीं कर सकता है। थोड़े से स्पर्शास्पर्श को लेकर लोग न जाने कितनी कल्पनायें कर लेते हैं, कोई ठिकाना नहीं है। स्थूल पदार्थ स्थूल देहाभिमान को अधिकतर तृप्त करते हैं। 'अधिकतर' इतना तो समझ ही लेना क्योंकि स्थूल देह का अभिमान होगा तो अंदर सूक्ष्म-शरीर अंतःकरण भी बैठा ही है, लेकिन प्रधान रूप से स्थूल शरीर की ही तृप्ति होती है।

जो जितना सूक्ष्म विचार वाला होता है इसलिये उसे उतना ही स्थूल पदार्थों की कम आवश्यकता होती है। हम लोग जो योगाभ्यास इत्यादि में बार बार अल्प भोजन आदि पर जोर देते हैं, आधा पेट भोजन करना चाहिये, ज्यादा नहीं, उसका मूल कारण यही है। जितना स्थूल देह के अन्दर थकावट लाओगे, स्थूल देह उतना ही कार्य करने

में अशक्त होगा। सूक्ष्म शरीर काम नहीं कर सकेगा। स्थूल भोग के द्वारा विश्व अर्थात् जाग्रत् अभिमानी की, देह-अभिमान की तृप्ति होती है। सूक्ष्म भोगों के द्वारा सूक्ष्म अभिमानी की तृप्ति होती है। देवताओं के भोग सूक्ष्म हुए, इसीलिये उन्हें देव कहते हैं क्योंकि देवता तो हैं ही तेजःस्वरूप। तैजस उनका शरीर मानते हैं। यहाँ भी तात्पर्य यही है कि सूक्ष्म भोगों के द्वारा जो अपने अंदर ज्ञान की, भावना की तेजस्विता बढ़ती है, स्थूलभुक् व्यक्ति में यह तेजस्विता नहीं होती है। इसलिये वह रात दिन सोचता रहता है कि हमारी बाह्य भोगों की उपलब्धि कैसे बढ़े। एक आदमी को कहते हो कि 'तुम्हें अभी दो सौ रुपया महीना मिलता है, हम तुम्हें पाँच सौ रुपया महीना देंगे, सारी सुविधायें भी उपलब्ध करायेंगे और आगे और भी देंगे लेकिन एक बात है कि हम जो बात कहें तुम उसमें 'हाँ जी' कर देना।' स्थूल तृप्ति वाला झट मान जायेगा, स्वीकार कर लेगा। सूक्ष्म तृप्ति वाला कहेगा, 'ऐसा नहीं हो सकता। सूर्य है तुम कहो चन्द्रमा है तो हाँ कैसे करें?' यथाकथंचित् उस समय पाँच सौ के लोभ को नियंत्रित नहीं करके मान भी लेगा तो छह महीने में उसकी नौकरी छूट जानी है क्योंकि हर पाँचवें सातवें दिन उसे उबकाई आयेगी कि कहाँ फँस गया। दो चार बार रुककर एक बार जरूर बोलेगा कि 'आप यह क्या बेवकूफी की बात कर रहे हो।' उससे नहीं रहा जायेगा। लेकिन जिसमें यह सूक्ष्मता नहीं है, उसे कोई फरक नहीं पड़ता। बीरबल की कथा सुन ही रखी है। बादशाह अकबर ने कहा 'बैगन अच्छा होता है।' बीरबल ने कहा 'हाँ जी, ऊपर ताज होता है।' फिर बादशाह ने कहा 'बैगन खराब होता है।' बीरबल ने कहा 'इसीलिये काला होता है।' बादशाह ने पूछा कि बात कैसे बदली। बीरबल ने कहा 'नौकर मैं आपका हूँ, बैंगन का थोड़े ही हूँ।' सूक्ष्म तृप्ति वाला इसे सहन नहीं कर सकता। वह कहेगा 'भूखा रह जाऊँगा, जंगल में चला जाऊँगा, गंगा जी का जल पी लूँगा लेकिन इन मंदमति मूर्ख लोगों की बातों को कैसे हाँ करूँ?' इसलिये जितना जितना सूक्ष्म सूक्ष्मतर होते जाओगे उतनी उतनी अपनी तेजस्विता बढ़ेगी।

यह याद रखना कि जो लोग स्वयं तेजहीन होते हैं वे दूसरों की तेजस्विता को पसन्द नहीं करते। यह एक सामान्य नियम है। एक विद्वान् होता है वह चाहता है कि हमारे पास रहने वाला खूब विद्वत्ता को प्राप्त करे। अपने से ज्यादा विद्वत्ता वाले को देखकर वह खुश होता है। मूर्ख उससे ठीक विपरीत होता है। वह हमेशा सोचता है कि बुद्धिमानों को कैसे हटाकर यहाँ से दूर करूँ, वे उसे खटकते रहते हैं। तेजस्वी व्यक्ति को यह भय नहीं होता कि कोई मेरा कुछ कर सकता है, असली तेजस्विता यह है। बड़ी से बड़ी परिस्थिति में जानता है कि मेरा तेज मेरे पास, तुम्हारा तुम्हारे पास है। किसी व्यक्ति को यदि पीछे खींचना चाहोगे तो उससे पीछे खड़ा रहना पड़ेगा। वह सोचता है कि मैं किसी को पीछे खींचूँगा तो मैं उसके पीछे हो जाऊँगा। इसलिये उसे वह कभी प्रिय नहीं रहता। जो स्थूलभुक् होता है उसी को ऐसी चीजें प्रिय हो पाती हैं। तेजस्विता के अन्दर इसीलिये ईर्ष्या कम होती है। व्यवहार में देखोगे कि दो धनिकों में जितनी ईर्ष्या होती है कि 'उसके

पास धन ज्यादा, हमारे पास कम', उतनी ईर्ष्या दो विद्वानों में नहीं होती है। यदि कभी होती है तो वहाँ भी धनप्रयुक्त होती है। अगर तुम्हारी हमारी योग्यता एक जैसी है और तुम हेड आफ द डिपार्टमेण्ट 'विभागाध्यक्ष' बन गये और हम नहीं बने तो वहाँ ईर्ष्या धनप्रयुक्त है। यदि धन वाले अंश को छोड़ दो तो वहाँ भी ईर्ष्या का कोई कारण नहीं है। मद्रास विश्वविद्यालय का एक प्रोफेसर और दिल्ली विश्वविद्यालय का एक रीडर, दोनों में धन प्रयुक्त ईर्ष्या भी नहीं है। इसलिये विद्या प्रयुक्त ईर्ष्या नहीं होती, बात समझने की प्रवृत्ति होती है। लेकिन धनी यहाँ का और मद्रास का भी बैठेगा तो ईर्ष्या होगी कि वहाँ टैक्सेशन कम है, अपने भी वहाँ एक दुकान खोले। यह स्थूल सूक्ष्म का भेद हमेशा रहता है।

'आनन्दश्च तथा प्राज्ञम्'। आनंद न स्थूल की और न सूक्ष्म की तृप्ति करेगा। वह केवल प्रज्ञा की तृप्ति करेगा अर्थात् उस आनंद के द्वारा मनुष्य का जो एक भाव विषय-आश्रय को लेकर है, उसकी निवृत्ति का पोषण करेगा। जितना जितना कार्यकारणभाव से रहित आनंद को ग्रहण करते चले जाओगे, उतनी प्राज्ञतृप्ति होगी। इसीलिये बार-बार कहते हैं कि समाधि का अभ्यास करो। वह इसलिये कि समाधि के अभ्यास में कार्य-कारणभाव नहीं जैसा रहता है। बुद्धिमान् पुरुष विषय भोगकाल में भी यही करता है। विज्ञान भैरव में कहा है कि शरीर, इन्द्रिय और विषय का सम्बन्ध हमेशा होना है 'विषयेन्द्रियसम्बन्धः सामान्यः सर्वदेहिनाम्' विषय, इन्द्रिय का संयोग तो जितने शरीरधारी हैं सबका होना है। साधक की, योगी की विशेषता है कि सम्बन्ध काल में जो आनंद की वृत्ति होती है जहाँ विषय आश्रय निकल जाता है, उसके विषय में वह अवधान अर्थात् ध्यान रखता है, उसको वह पकड़ता रहता है। वह सामान्य व्यवहारों के अन्दर भी बीच-बीच में विषय-आश्रय को खत्म करने वाले आत्मा को पकड़ता है। समाधि के अन्दर सामान्य रूप से विषय-आश्रय के अभाव की प्रतीति होती है। यदि ज्ञानी की पंचम षष्ठ भूमिका देखोगे, जैसी योगवाशिष्ठ इत्यादि में बतायी हैं, तो बाहर से लगेगा कि सुषुप्ति बढ़ रही है क्योंकि होश धीरे धीरे कम होता है। सप्तम भूमिका में तो दूसरे के द्वारा उत्थापन होना भी कठिन हो जाता है। बाहर से सुषुप्ति लगती है लेकिन वहाँ प्रज्ञा बढ़ रही है। अतः इस तीन प्रकार की तृप्तियों को भी भली प्रकार से ध्यानपूर्वक जाग्रत् काल में अनुभव करना चाहिये।

भाष्य में कहा है 'उक्तार्थौ श्लोकौ' ऊपर के श्लोक स्पष्ट हैं, इसलिये उनके व्याख्यान की अपेक्षा नहीं है। श्लोक का उच्चारण करने मात्र से ही अर्थ का बोध हो जाता है।।४।।

●

प्रकृत जो भोक्ता और भोग्य पदार्थ हैं इनके ज्ञान का अवान्तर फल क्या है? प्रधान फल तो बता दिया और आगे फिर तुरीय के विचार में बतायेंगे ही। लेकिन इनका अवांतर

फल बताते हैं। अवांतर फल का मतलब यह है : आम का पेड़ बोने वाले की वास्तविक इच्छा है कि आम खाने को मिलें लेकिन पेड़ बोया जायेगा तो छाया तो मिलेगी ही। फल मिलेगा, वह मुख्य हुआ लेकिन अवांतर फल छाया हो गई। एक कार्य को करने में जो मुख्य फल है, उसकी प्राप्ति के साथ जो अन्य फल मिल जाते हैं उन्हें अवान्तर फल कहते हैं। हरिद्वार के ब्रह्मकुण्ड में जाकर गंगा दशहरे के दिन गोता लगाओ, जिस दिन भगवती गंगा का अवतरण हुआ, तो महत् पुण्य की प्राप्ति होगी अनेक जन्मों के पाप निवृत्त होंगे, लेकिन इसके साथ ही साथ नहाने से शरीर में जो ठण्डक आयेगी वह अवान्तर फल है। मुख्य फल पाप-निवृत्ति है लेकिन अवान्तर फल भी लाभदायक हो जाता है। इसी प्रकार यहाँ बताये भोक्ता और भोग्य पदार्थद्वय के विचार का अवान्तर फल कहते हैं।

त्रिषु धामसु यद्भोज्यं भोक्ता यश्च प्रकीर्तितः ।
वेदैतदुभयं यस्तु स भुञ्जानो न लिप्यते ।।५।।

तीनों धामों में अर्थात् ठिकानों में जो भोज्य अर्थात् बाह्य पदार्थ और जो भोक्ता कहा गया विश्व, तैजस और प्राज्ञ, इन दोनों को स्वरूप से समझ लेता है। ठीक-ठीक समझ लेता है कि भोक्ता और भोग्य का क्या सम्बन्ध है और क्या स्वरूप है, कहाँ स्थूल, कहाँ सूक्ष्म। 'वेद' का अर्थ केवल एक बार सुनना नहीं वरन् उसका बार-बार अभ्यास करके इस स्थिति में पहुँच जाये कि हर समय यह भान बना रहे कि इस समय यह स्थूल भोग का हिस्सा है, यह सूक्ष्म भोग का हिस्सा है, यह स्थूल भोक्ता का और यह सूक्ष्म भोक्ता का हिस्सा है, अथवा यह स्थूल सूक्ष्म दोनों वाला है, यह दोनों से रहित है। अभी तो हर समय इनमें घपला बनता रहता है, पता ही नहीं लगता कि कहाँ सूक्ष्म और कहाँ स्थूल है। इन दोनों को जो ठीक प्रकार से समझना है। अर्थात् जैसे किसी ने समझ लिया कि यह चीज सोना है, और यह चीज चाँदी है, तो इसका मतलब है कि जब सोना सामने आये तो जानेगा कि यह सोना है। कोई कहे 'मैं सोना चाँदी समझता तो खूब हूँ लेकिन सामने क्या है, यह पता नहीं।' तो कहोगे 'सामने की चीज का पता नहीं तो फिर क्या समझा?' समझने का मतलब है कि चीज सामने आते ही खट अवबोध हो जाना कि यह ऐसी है। इन दोनों को जो समझ लेता है, संसार में सब पदार्थों का भोग करते हुए भी उसे कभी भोग का लेप नहीं होता अर्थात् पुण्य पाप के स्पर्श से रहित हो जाता है। इससे अलेपवाद की प्राप्ति हो जाती है। इसलिये यह इसका अवान्तर फल हुआ क्योंकि यह परम फल नहीं, वह तो आगे तुरीय में बतायेंगे। इतना भी यदि किसी ने समझ लिया तो उसे फिर कभी भी कर्म लेपों का स्पर्श नहीं होता, पाप पुण्य उसे स्पर्श नहीं करेंगे।

अवान्तर फल भी कई लोगों को बड़ा प्रिय लगता है। ईशावास्य उपनिषद् में भी कहा है 'न कर्म लिप्यते नरे'। लेकिन कब? 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः'

'कुर्वन् एव' अर्थात् किसी प्रकार से उसके फल की भावना ही न रहे। करते हुए ही, और कोई भावना नहीं कि इस कर्म का क्या फल होगा, क्या नहीं होगा। प्राभाकर सिद्धान्त फल की अभिलाषा की जड को खोदने के लिये 'कर्म का फल है ही नहीं, यह मानकर चलो' ऐसा कहता है।

भाष्य में श्लोक को स्पष्ट करते हैं 'त्रिषु धामसु जाग्रदादिषु स्थूलप्रविविक्तानन्दाख्यं भोज्यमेकं त्रिधाभूतम्'। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीन धाम हो गये। कारिका में था 'यद् भोज्यम्' उस भोज्य का ही नाम ले लिया 'स्थूलप्रविविक्तानन्दाख्यं भोज्यमेकम्' स्थूल, प्रविविक्त, आनंद नाम का भोज्य हो गया। नाम लेकर बता दिया। 'एकं त्रिधाभूतम्' ये तीनों अलग अलग नहीं हैं। है तो यह एक ही। एक ही अर्थात् भोग्यता रूपी चेतना वाले ये सब हैं। भोग्य रूप से ये एक हैं। 'एकम्' अर्थात् भोग्य रूप से एक होते हुए भी व्यवहार में समझने के लिये इसे तीन रूप में समझना चाहिये।

मूल में था 'भोक्ता यश्च प्रकीर्तितः' उसका मतलब स्पष्ट कर दिया 'यश्च विश्वतैजसप्राज्ञाख्यो भोक्तैकः सोऽहमित्येकत्वेन प्रतिसंधानाद् द्रष्टृत्वाविशेषाच्च प्रकीर्तितः।' विश्व, तैजस, प्राज्ञ नाम का जो भोक्ता है वह कैसा है और वह भी एक कैसे है? 'सोहम् इति एकत्वेन प्रतिसंधानात्' आदमी कहता है कि 'जो मैं सो रहा था वही मैं अब जग रहा हूँ, जो मैं सो रहा था, वही स्वप्न देख रहा था। जो मैं स्वप्न देख रहा था वही मैं अब जग रहा हूँ।' जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति तीनों की अनुभूति एक ही व्यक्ति करता है। ऐसा नहीं कि किसी दूसरे ने जाग्रत् देखा, सुषुप्ति किसी दूसरे ने देखी। इस प्रकार प्रतिसंधान करता है और इस प्रतिसंधान का कोई बाधक प्रमाण नहीं है। कोई भी प्रमाण नहीं जिससे यह सिद्ध कर सको कि 'जो याद करता है वही मैं हूँ' यह झूठ है। ज्ञान होने पर विचार करना पड़ेगा कि ज्ञान का विषय झूठा भी हो सकता है, सच्चा भी हो सकता है। कई बार रस्सी में साँप दीखता है। लेकिन 'मैं ही सोया था, मैं ही जगा हूँ' इसका बाधक, विरोधी प्रमाण कोई नहीं है। इसलिये तीनों में रहने वाला वह एक ही है।

यह विचार आने से आदमी के स्वप्न कम होने लगते हैं। स्वप्न का कारण क्या है? जाग्रत् में दुनिया-दिखावे के लिये आदमी वासनायें दबाता रहता है। वे स्वप्न में प्रकट होती हैं। जाग्रत् में हम धर्मात्मा हैं लेकिन अंदर से अधर्मात्मा हैं, तो वह अन्दर वाली जितना अधर्म है, वह स्वप्न में खुलकर आता है। तब पता लगता है कि 'चाहे स्वप्न में हमने चोरी की या जाग्रत् में, की तो हमने ही', तब स्वप्न की वासनाओं का भोग निवृत्त होने लगता है। समाज व्यवस्था चलाने के लिये हम व्यक्तियों का नाश इसी बूते पर करते हैं। हम अपने बच्चे को कहते हैं कि 'चाचा जी का काम गलत है, लेकिन चाचा जी का कहना मान क्योंकि समाज व्यवस्था चलानी है। वे हमें पाँच सौ रुपया महीना देते हैं, करते तो वह ब्लेकमार्किटिंग ही हैं, लेकिन कहना मान' यही सारे व्यवहारों का बीज होता है। बच्चा पढ़ रहा था, तीन दिन बाद उसके इम्तिहान हैं, अकस्मात् घर

में मेहमान आ गये, उससे कहते हो कमरा खाली कर दो। वह कहता है कि 'तुम तो कहते थे कि अकेले बैठकर पढ़ना।' माँ समझती है कि उससे कमरा खाली कराना गलत है, मेहमान बिना चिट्ठी दिये आ गये हैं, यह भी समझ रही है कि बच्चे को कमरे से नहीं हटाना चाहिये, लेकिन समाज व्यवस्था के नाम से कराती है। जैसे घर में वैसे ही बड़े-बड़े देशों में, राष्ट्रों में चलता रहता है। कहते हैं 'समाज को व्यवस्थित रखना है इसलिये व्यक्तियों पर अत्याचार करें तो नहीं डरना अन्यथा समाज खत्म हो जायेगा। उसे ठीक रखना है।' समाज-व्यवस्था के नाम से जो कहा या किया जाता है यह तब हटे जब यह समझ लिया जाये कि वस्तुतः दोनों में अभेद है। इसलिये पहला असर भोक्ता भोग्य के एकत्व के ज्ञान से यह होगा।

मध्य काल में इस प्रकार की कुछ भूल हुई। लोगों ने कहा कि स्वप्न में मन में जो पाप किया जाता है, वह पाप होता ही नहीं। मध्य काल में एक ऐसी विचारधारा लोगों ने चलाई जिसने कहा कि यह कलिकाल है, इसमें मन के पाप से पाप नहीं लगता। यह कहने का नतीजा तुरंत हुआ कि मन के पाप का अभिवर्द्धन होने लगा। उसका नतीजा भी वही होना हुआ कि अंततोगत्वा अपने आप वे पाप बाहर भी प्रकट होने लग जायेंगे। वास्तविक बात वही है जैसी वशिष्ठ जी कहते हैं 'मनसैव कृतं राम न शरीरकृतं कृतम्' शरीर के पाप से कोई पाप नहीं होता है, मन से जो पाप कियां जाता है वही पाप है। वैसे दोनों ही पक्ष किसी भाव पर जोर देने के लिये हैं। शरीर से पाप न करो, यह व्यवस्थावादी कहेगा। मन से पाप न करो, यह अध्यात्मवादी कहेगा। शरीर से भूल हो गई, कोई हर्जा नहीं, मन को पकड़ो, यह अध्यात्मवादी ने माना कि मन से किया हुआ पाप ही पाप है। व्यवस्थावादी कहता है कि शरीर से किया हुआ पाप ही पाप है। वास्तविकता तो यह है कि दोनों से किया हुआ पाप ही है। जितना जितना इस बात पर जोर देते जाओगे उतना उतना मन का तनाव खत्म होता जायेगा। वासनायें शून्य होती चली जायेंगी। इसलिये कहा 'एकः सोहमित्येकत्वेन प्रतिसन्धानात्'। इस प्रकार प्रतिसंधान करने पर पता लगेगा कि भोक्ता भोग्य एक ही हैं।

दूसरा हेतु देते हैं 'द्रष्टृत्वाविशेषात् च' अज्ञान और उसके कार्य के प्रति प्राज्ञ तैजस और विश्व के अन्दर द्रष्टृता एक जैसी ही है। जैसे वहाँ भोग्यपने की एकता थी, वैसे ही यहाँ द्रष्टापने की एकता है। सोहम् वाला हेतु भाष्यकारों ने ऊपर से दे दिया। सुषुप्ति के अन्दर अज्ञान का द्रष्टा है, स्वप्नकाल के अन्दर सूक्ष्म पदार्थों का द्रष्टा, जाग्रत् काल में स्थूल पदार्थों का द्रष्टा; द्रष्टा तीनों जगह एक जैसा है, इसलिये भी एकता स्पष्ट है। द्रष्टा अलग अलग है इसमें भी कोई प्रमाण नहीं है।

'यो वेदैतदुभयं भोज्यभोक्तृतयाऽनेकधा भिन्नं स भुञ्जानो न लिप्यते' इसके द्वारा भगवान् भाष्यकार एक बड़ी लम्बी बात कह देते हैं 'अनेकधाभिन्नम्'। पहले तो जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति के अन्दर भोज्य और भोक्ता एक रहे, इसका पता लगा। अब जरा विचार

करो। जाग्रत् के और स्वप्न के भोग या भोग्य पदार्थ दोनों भिन्न होने पर भी भोग्य हैं इसलिये एक हैं, तो फिर हरि के भोग्य पदार्थ और केवलराम के भोग्य पदार्थ भी एक ही हुए। पहले तो अपने जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति में पता लगता है कि भोग्य अलग-अलग होने पर भी भोग्यत्व रूप से एक हैं। जब वह विचार दृढ हो जाता है तो पता लगता है कि यावत् ब्रह्माण्ड में जहाँ भी भोग्य पदार्थ हैं वे सब भोग्य रूप से एक हैं। जैसे जो कैमिस्ट होता है वह सोने के एक परमाणु को लेकर उसके गुणों का पूरा पता लगाता है। जब पता लग गया तो यह नहीं कहता कि मेरी प्रयोगशाला में रखे हुए सोने में ये गुण हैं, वरन् कहता है कि सोना रूपी पदार्थ में ही ये गुण हैं। वह पदार्थ चन्द्रमा से उठाकर लाओगे तो भी यही गुण मिलेंगे। यही सोने का ज्ञान है। सोने की परीक्षा कर लेने के कारण जब कभी सोना सामने आता है, उसके गुणों का पता है। यह नहीं पूछना कि चन्द्रमा में कितना सोना है, क्योंकि परिमाण का दूसरा प्रश्न है। है या नहीं, यह भी पता नहीं, लेकिन यही सोना है, यह पता है। इसी प्रकार अपने देह में जब प्रयोग करके मनुष्य ने भोक्ता भोग्य आदि की एकता का पता लगा लिया तो उसे मालूम पड़ जाता है कि संसार में कहीं भी भोग्य है तो इस प्रकार का है। यह शरीर या पिण्ड हमारे लिये प्रयोगशाला हो गई। इसमें प्रयोग करके चीजों का परीक्षण हो जायेगा और उसके बाद यावत् संसार में जो कुछ भी है उन सबका ज्ञान हो जाता है। इसलिये कहा 'अनेकधाभिन्नम्'। जब भोग्य भोक्ता का पता अपने अन्दर लग गया तो यदि कोई पूछेगा कि विष्णु का भोग कैसा है तो तुरंत कहेंगे कि इन तीन से अभिन्न है; या विश्व के रूप में, या तैजस के रूप में या प्राज्ञ के रूप में वे भी भोग करते हैं। इसलिये अनेक प्रकार से भिन्न हुआ भी एक है।

इसीलिये वह किसी भोग से लिप्त नहीं होता। क्यों नहीं लिप्त होता? क्योंकि उसने भोक्ता की जाति को जान लिया। भोक्ता की एकता है। जैसे जाग्रत् के भोग स्वप्न के भोगों से अलग हैं लेकिन दोनों का भोक्ता एक, वैसे ही हरिराम और केवलराम के भोग सर्वथा अलग होने पर भी भोक्ता दोनों में एक ही है, उसमें भेद नहीं है। इसी काल में अरेबिया में बैठकर एक ही भोक्ता गोमांस खा रहा है और इसी काल में काशी के अन्दर बैठकर गोरक्षा के लिये प्राण दे रहा है। दोनों काम करने वाला भोक्ता एक है। इसलिये कहा कि अनंतकोटि ब्रह्माण्ड में जहाँ कहीं कुछ हो रहा है, उसको करने वाला भोक्ता एक ही है। जैसे भोज्य एक वैसे ही भोक्ता एक। इसीलिये उसे लेप नहीं होता है। उसे पता है कि एक साथ ही सभी चीजें हो रही हैं, फिर वह किससे लिप्त हो? उसी को भाष्यकार स्पष्ट करते हैं कि क्यों भोग्यप्रयुक्त दोष उसे नहीं होता? 'भोज्यस्य सर्वस्यैकस्य भोक्तुर्भोज्यत्वात्' संसार में जितने भी भोज्य हैं, अनंतकोटि ब्रह्माण्ड में जहाँ जहाँ भोग्य पदार्थ हैं उन सबका भोग एक भोक्ता ही कर रहा है और भिन्न भिन्न शरीरों में, भिन्न भिन्न इन्द्रियों में बैठा हुआ ही कर रहा है। गाली जीभ देती है, जूते

सिर खाता है लेकिन गाली देने वाला मैं और जूते खाने की दर्द को उठाने वाला मैं एक है, तो एकता बनी रही या नहीं? ऐसे ही किसी ने गाली दी और किसी को जूता पड़ा। अदालत में कोई कहे कि गाली केवलराम ने दी, जूते हरि को मारे तो सुनवाई हो सकती है। और यदि कहो कि गाली मेरी जीभ ने दी, जूते सिर पर क्यों मारे, तो पुलिस वाले कहेंगे 'दो डण्डे और मारेंगे, गाली दी क्यों?' जैसे यहाँ भोग की उपाधि बदलने से भोक्ता नहीं बदला वैसे ही भिन्न भिन्न शरीर और मन की उपाधियों के बदलने से भी भोक्ता नहीं बदला, एक ही है। संसार में अनंतकोटि ब्रह्माण्ड में जितने भोग्य हैं उन सबका एक ही भोक्ता है।

'नहि यस्य यो विषयः स तेन हीयते वर्धते वा।' सारे भोग्य को एक ही समझता है, फिर भी भोग करते हुए भोग-प्रयुक्त दोष वाला क्यों नहीं होता है? जिसका जो विषय होता है वह उससे न बढ़ता है और न घटता है। उससे उसमें कोई फरक नहीं पड़ता। दृष्टांत दिया 'न हि अग्निः स्वविषयं दग्ध्वा काष्ठादि, तद्वत्।' अग्नि अपने विषय लकड़ी को जलाती है, अग्नि लकड़ी को जलाकर के क्या कभी घटती या बढ़ती है? अग्नि जैसी है वैसी की वैसी ही रहेगी। कोई कहे कि यह अग्नि बड़ी महिमावाली है, इसने हजार किलोग्राम लकड़ी को जला दिया और यह अग्नि कमजोर है क्योंकि इसने पच्चीस किलो लकड़ी को ही जलाया तो बात व्यर्थ है। अग्नि में ऐसा कोई हानि या वर्धन नहीं माना जायेगा क्योंकि पच्चीस किलो लकड़ी थी तो उसे जला दिया, हजार किलो थी तो उसे जला दिया। इससे लकड़ी के अन्दर कोई वैशिष्ट्य या हेयत्व नहीं आ गया। उसी प्रकार भोक्ता का काम है कि जो भोज्य सामने आया, उसे भोज्य बना दिया। ब्रह्मा विष्णु के देह के सामने जो भोज्य आया तो उसे वहाँ भोक्ता ने प्रदीप्त कर दिया, और हमारे सामने जो भोज्य आया, उसे हमने प्रदीप्त कर दिया, भोक्ता एक ही है। इन उपाधियों में बैठकर एक ही भोक्ता ने इसे भोग्य बना लिया। घोर जंगल में रहने वाले शेर के सामने जो आया, भोक्ता ने उसे भोग्य बना लिया। रघुवंश में बड़े सुन्दर ढंग से इसी बात को बताया है। शेर जब गाय को दबोचता है तो उस समय कहता है कि भगवान् शंकर ने इस देवदारु के रक्षण में मुझे खड़ा कर रखा है। मैंने उनसे कहा कि 'यहाँ खड़ा रहूँगा तो बिना कुछ खाये पिये इसकी रक्षा कैसे करूँगा?' तब उन्होंने मुझे कहा कि 'जो प्राणी इधर से निकले उसे खा लेना। इसलिये मैं गाय का भोग कर रहा हूँ।' इसके द्वारा बता रहे हैं कि जिस भोक्ता के सामने जो भोज्य आता है वह भोक्ता भोज्य को प्रकाशित करता है। इसलिये जैसे अग्नि को कोई दोष नहीं, उसके सामने जो आयेगा, उसे जला देगी, यह उसका काम हुआ, इससे न अग्नि का घटाव है और न बढ़ाव है; इसी प्रकार भोक्ता जब जिस भोज्य को प्रकाशित करता है, उससे न वह घटता है और न बढ़ता है, वैसा ही रहता है। इसलिये 'स भुंजानो न लिप्यते'।।५।।

सर्वत्र भोज्यों का एक ही भोक्ता है और एक ही भोज्य सारे भोक्ताओं का है, इस दृष्टि को समझने के बाद कर्म-फल के भोग की प्राप्ति नहीं होती, यह बताने के बाद मूल मंत्र में 'एषः योनिः सर्वस्य' कहा था, अब उसका विचार चलता है।

प्रभवः सर्वभावानां सतामिति विनिश्चयः ।
सर्वं जनयति प्राणश्चेतोंऽशून्पुरुषः पृथक् ।।६।।

प्राज्ञ ही प्रपंच का कारण है यह जो प्रतिज्ञा की थी, इसमें संदेह होता है कि प्राज्ञरूप परमेश्वर से उत्पन्न होने वाला जगत् सत् है या असत् है? सत् कारण या असत् कारण? यह विचार आता है। प्राज्ञरूपी ईश्वर से जगत् उत्पन्न हुआ यह अतिधन्य वेद ने 'एष योनिः' से कह दिया। लेकिन आगे यह विचार करना शेष रहा कि यह जो जगत् उत्पन्न हुआ यह सत् है या असत् है? इस विषय में दार्शनिकों का बहुत बड़ा मतभेद है। मतभेद का कारण क्या होता है? भिन्न भिन्न अनुभूतियों को लेकर व्यवस्था बनानी पड़ती है। दो तरह की चीजें लोक में देखने में आती हैं। धागे से कपड़ा हुआ, यह भी प्रत्यक्ष-सिद्ध है। धागे से जब कपड़ा बनता है तो धागा नष्ट नहीं होता और कपड़ा बन जाता है। दूसरी तरफ दूध से दही बना, लेकिन दूध नष्ट हो गया तब दही बना। यह इसलिये कहते हैं कि जब दार्शनिक मतभेदों का विचार आता है तो कई बार अविचारशील लोग दो बातें समझ लेते हैं कि या तो वे मानते हैं कि इन्हें तो बाल की खाल उखाड़नी है, बिना मतलब परेशान करते हैं, इसमें कुछ नहीं रखा है; या यह मान लेते हैं कि वे भ्रान्ति में पड़े हुए हैं। यदि हमने कह दिया कि अमुक बात वैशेषिक की ठीक नहीं तो लोग समझते हैं कि कणाद महर्षि ठीक समझते ही नहीं थे। वेदांत का सिद्धान्त है 'नहि ते मुनयो भ्रान्ताः' मननशील कणाद आदि दार्शनिक लोग कभी भी भ्रांत नहीं हुआ करते, उनका सारा ज्ञान निर्भ्रांत है। और न वे मतभेद के लिये मतभेद की सृष्टि करते हैं। फिर क्या है? भिन्न भिन्न चीजों की व्यवस्था करना दार्शनिक का काम है। जब व्यवस्था करने जाओगे तो उसमें भिन्न भिन्न कोटि की चीजें आयेंगी और उसके अनुसार सोचना पड़ेगा। सोचने के प्रकार में एक को प्रधान और एक को गौण करना पड़ेगा। इसी का नाम व्यवस्था है।

सबको, सारे अनुभवों को समान रूप से मानना केवल वेदांत में है। और इसीलिये वेदांत व्यवस्था-शास्त्र नहीं, ज्ञापकशास्त्र है। वेदांत और दूसरे दर्शनों में यह आधारभूत भेद है। दूसरे दर्शन कुछ न कुछ जगत् की व्यवस्था बनाते हैं। वेदांत अंतिम दर्शन है। वह कहता है कि आज तक जितनी व्यवस्थायें बनी उन सबमें कहीं न कहीं त्रुटि रह जाती है। इसलिये वेदांत शास्त्र व्यवस्थापक शास्त्र नहीं, उल्टा वेदांतशास्त्र मानकर चलता है कि व्यवस्था बन ही नहीं सकती। इस पर कई बार लोग प्रश्न यह कर लेते हैं कि यदि व्यवस्था बन नहीं सकती तो फिर आगे क्या करें? वेदांत का कहना है कि ज़िस व्यवस्था

को तुम अब तक मानते रहे या जो व्यवस्था तुमको रुचिकर हो, उसके अनुसार चलो, उसमें हमारा कोई आग्रह नहीं। व्यवस्था बनाना असम्भव है, इस बात को समझकर अपनी स्वतंत्र इच्छा से तुम्हारी जो मर्जी हो सो व्यवस्था मानो क्योंकि अनंत व्यवस्थायें हो सकती हैं, दोष वाली सब हैं। अगर तुमने धागे से कपड़ा बना इस बात को प्रधान मान लिया तो धागा रहते हुए कपड़ा बन गया; अगर तुमने दूध से दही बनना प्रधान मान लिया तो दूध नष्ट होकर दही बना। अब यदि दूध और दही को प्रधान मानोगे तो धागे के नष्ट होने से कपड़ा पैदा हुआ, यह मानना पड़ेगा। जब यह मानना पड़ेगा तब विचित्र परिस्थिति बनती है। सौ धागों का एक कपड़ा है और उसमें से एक धागा तुमने निकाल दिया तो मानना पड़ेगा कि सौ धागों वाला कपड़ा नष्ट हो गया और एक नया निन्यानबे धागों वाला कपड़ा पैदा हो गया! यह कहते ही लोगों को खटकेगा कि ऐसा कैसे मान लें? एक धागा निकलने से ऐसा नहीं हो सकता। लेकिन यदि एक जगह तुमने कार्य-कारण-भाव माना और दूसरी जगह उसे लगाया तो वही बात हो जायेगी। और अगर तुमने माना कि नहीं जी, जैसे धागा रहते हुए ही कपड़ा बन जाता है वैसे ही यहाँ भी मानेंगे, तो फिर वहाँ भी मानना पड़ेगा कि दूध किसी रूप में बना ही रहा और दही हो गया। लेकिन यह वहाँ नहीं जँचेगा। इस पर कुछ लोग कहते हैं कि कहीं कुछ मान लो, कहीं कुछ मान लो। इसी का नाम अव्यवस्था है।

अव्यवस्था का क्या मतलब है? एक सज्जन शिक्षा विभाग के बहुत बड़े अधिकारी हमको एक बार बता रहे थे कि हमारे पास एक अध्यापक एक परीक्षा पुस्तिका लेकर आया और बोला 'यह लड़का है, इसको कितने नम्बर दें?' मैंने पूछा 'क्या बात है?' उन्होंने कहा 'एक भी सवाल का जवाब इसमें ठीक नहीं। पूछा कुछ गया, लिखा कुछ है।' शून्य देने वाली परिस्थिति थी। मैंने कहा 'फिर हमारे पास क्यों लेकर आये?' उन्होंने कहा 'यह अमुक मंत्री का लड़का है, इसलिये लेकर आया हूँ। बाद में यदि आप कहेंगे कि ऐसा करो तो फिर हमें अपनी लेखनी बदलनी पड़ेगी। इसलिये सोचा कि आप ही कर दें।' हमने कहा— 'इसे मेरे पास छोड़ दो।' मैं मंत्री के पास उसे लेकर पहुँचा और पूछा 'लड़के ऐसा ऐसा जवाब लिखते हैं, इनके बारे में क्या करना चाहिये।' मंत्री जी ने कहा— 'ऐसे लड़कों को बिल्कुल फेल कर देना चाहिये, शिक्षा के स्तर को ठीक रखना चाहिये।' जब वे तीस चालीस मिनट तक अपनी सारी बात कह चुके तो मैंने उनसे कहा 'यह कापी आपके साहबजादे की है।' यह सुनते ही कहते हैं— 'अरे जी! इसको कौन सी नौकरी करनी है। यह तो कहीं मंत्री बन जायेगा। इसे प्रथम श्रेणी तो दे ही दीजिये।' इसी का नाम अव्यवस्था है। व्यवस्था का मतलब है कि तब सबको प्रथम श्रेणी दो। यह हम वेदांतियों की व्यवस्था है। हम लोग कभी किसी को फेल करने में विश्वास नहीं करते क्योंकि जिस व्यक्ति के पास जैसा औजार है वह उसका वैसा प्रयोग करे, यही प्रथम श्रेणी है। जिसकी जितनी मन-बुद्धि की शक्ति होगी, वह वैसा ही करेगा।

कई बार लोग कहते हैं कि कई लोग आलसी होते हैं। आलस्य ही उनका स्वभाव है, क्या करोगे? उस आलस्य के साथ उनकी प्रथम श्रेणी है। इसलिये वेदांत तो हमेशा सबको प्रथम श्रेणी में पास करता है। दूसरी व्यवस्था हो सकती है कि ऐसा नहीं, तुमने जो स्टैण्डर्ड, मापदण्ड नियत किया, उसके अनुसार नम्बर दो। अव्यवस्था यह है कि कभी कुछ और कभी कुछ मान लिया। इसी प्रकार से कभी मान लो कपड़े का एक धागा निकलने पर कपड़ा वही बना रहा और कभी माना कि दूध में से मिठास निकाला तो बदल गया। यह अव्यवस्था है। वेदांती कहता है कि इससे यही पता लगता है कि कोई व्यवस्था बनाना सम्भव नहीं है। इसलिये किसी भी एक व्यवस्था से जीवन निर्वाह कर लो, उसमें कुछ आता जाता नहीं है। कुछ भी मान लो।

इस संदेह पर एक निर्धारण करने के लिये आचार्य गौडपाद प्रवृत्त होते हैं 'सर्वभावानां सतां प्रभवः'। पुरुष तमःप्रधान उपाधि लेकर सारे अचेतन जगत् को उत्पन्न करता है, यह है स्थिति। केवल पुरुष जगत् की उत्पत्ति का कारण बन नहीं सकता क्योंकि उसमें किसी प्रकार का भेद नहीं। इसलिये जगत् की उत्पत्ति का कारण केवल आत्मा नहीं बन सकता। भेद लाने के लिये कुछ न कुछ भेद वाली चीज होगी तभी भेद उत्पन्न हो सकता है, नहीं तो कैसे होगा? अभेद वाला आत्मा, इसलिये भेद वाला अनात्मा अपने आप हो गया। इसलिये आत्मा को अनात्मा के सहारे ही सारे जगत् को उत्पन्न करना पड़ेगा। आत्मा चेतन होने से उत्पन्न कर सकता है। अनात्मा स्वरूप से जड होने से पैदा नहीं कर सकता। अनात्मा पैदा होने वाली चीज है, आत्मा पैदा करने वाली चीज है। अनात्मा चलने वाली चीज है, आत्मा चलाने वाली चीज है। आत्मा जानने वाली चीज है, अनात्मा जानी जाने वाली चीज है। आत्मा इच्छा करने वाली चीज है, अनात्मा इच्छा का विषय बनने वाली चीज है। इसी को भगवान् भाष्यकार ने बिल्कुल स्पष्ट करने के लिये युष्मत् अस्मत् से ब्रह्मसूत्रभाष्य के प्रारंभ में कह दिया। जहाँ जहाँ 'मैं' के साथ अभिन्न सम्बन्ध हो, वहाँ वहाँ आत्मा, और जहाँ जहाँ मैं का विरोधी सामने 'तुम' हो वह अनात्मा। अब यहाँ भी हिन्दी वालों को एक कठिनाई हो जाती है क्योंकि चेतन को ही हिन्दी वाले तुम कहते हैं। हिन्दी में 'तुम' दीवाल वगैरा को नहीं कहते। यद्यपि कई बार ऐसा प्रयोग हो जाता है लेकिन प्रायः नहीं करते। पदार्थों के लिये 'यह' शब्द का प्रयोग हिन्दी वाले करते हैं। 'यह' कहते ही 'तुम' और 'वह' को अलग कर देते हो। 'वह' कहते ही 'यह' को अलग कर देते हो। 'यह' जो सामने हो और 'वह' जो दूर, इन दोनों को मिलाकर कहने वाला कोई शब्द हिन्दी में है ही नहीं। इसलिये बड़ी कठिनाई पड़ जाती है क्योंकि अस्मत् का विरोधी कैसे कहें? एक मैं और दूसरा मैं से भिन्न। यह और वह मिला हुआ जो कुछ है वह सब अनात्मा, 'मैं' से भिन्न हो गया। युष्मत् अस्मत् को लेकर सारी प्रवृत्तियाँ होती हैं। पुरुष सारे चेतनों का, सारे जडों का कारण हो गया।

एकमात्र आत्मा ही किसी न किसी अनात्मा की उपाधि को लेकर कारण हुआ, क्योंकि बिना उपाधि के द्वैत की सृष्टि नहीं हो सकती। इसको ऐसा समझो कि मिट्टी से घड़ा बिना पानी के नहीं बन सकता। जब मिट्टी को पानी से गूँथ कर पहले चिकना बना लो, तभी घड़ा बन सकता है, इसके बिना नहीं। लेकिन क्या जल का कारणता में कोई साक्षात् विनियोग है? मिट्टी थी, तब घड़ा नहीं था और मिट्टी में पानी नहीं था। घड़ा बन गया तब भी घड़े में पानी नहीं है, मिट्टी है। घड़े में भी केवल मिट्टी ही मिट्टी है। इन दोनों अवस्थाओं को देखने वाले को यह पता ही नहीं लग सकता कि बीच में पानी डालकर मिट्टी को चिकना बनाकर यह घड़ा बना है। फिर उसे आंवे में डालकर सुखा दिया गया। यह केवल घड़ा देखकर पता नहीं लग सकता है। एक कहानी है, सच्ची झूठी भगवान् जाने। एक सज्जन यहाँ से अमरीका जाकर जलेबी बनाकर बेचने लगे। वह बहुतों को पसन्द आई। किसी ने उनसे कहा 'मैं भी यह काम करना चाहता हूँ तुम इसकी जानकारी मुझे बेच दो, कितने में बेचोगे?' उसने कहा 'एक लाख रुपये लूँगा।' उसने कहा 'एक लाख दे दूँगा लेकिन मशीनरी आदि सब मुझको चलाना समझा देना।' उसने मशीनरी के नाम पर एक तवी और साफी पकड़ा दी। उसने कहा 'मशीन भी दो, इससे वह चीज कैसे बनेगी? उसमें रस कैसे भरते हो? कोई इंजेक्टर या जैट होगा जिससे उसमें रस घुसाते होगे।' तब उसने कहा 'तुम्हें तकनीकी ज्ञान देते हैं। इसे इसमें बनाकर चासनी में डाल दोगे तो अपने आप उसमें रस भर जायेगा।' जिसने जलेबी बनते नहीं देखी उसके मन में बड़ी भारी जिज्ञासा होती है कि उसके अंदर रस कैसे पहुँचता है। ठीक इसी प्रकार जिसने घड़ा बनते नहीं देखा उसको यदि कहो कि यह पानी से बना है तो उसकी समझ में बात नहीं आती। पानी का विनियोग न कारण काल में और न कार्य काल में है, बीच में है। इसी को संस्कृत में द्वार कारण कहते हैं। जैसे दरवाजा न अंदर और न बाहर कह सकते हैं, लेकिन दोनों को मिलाने वाला है, वैसे ही न कार्य में और न कारण में उसका विनियोग है, लेकिन उसके बिना कार्य नहीं होता। ऐसे ही आत्मा अखण्ड चिन्मात्र है। घड़े का ज्ञान भी चिन्मात्र ही है। जब घड़े को देखते हो तो घड़े का ज्ञान है ही। जिसको तुम जगत् कहते हो, उसका ज्ञान ही तो है, सिवाय ज्ञान के कुछ नजर नहीं आ रहा है। इसको लेकर बौद्ध लोगों को भ्रम हो गया कि इसलिये ज्ञान ही ज्ञान है। जैसे घड़े को देखकर यह समझना कि मिट्टी ही मिट्टी है, बीच में और कोई कारण नहीं है। इसी दृष्टि से उन लोगों ने ज्ञान से अतिरिक्त पदार्थों की सत्ता ही नहीं मानी। वेदांती कहता है कि ज्ञान से अतिरिक्त पदार्थों की सत्ता न हो तो ज्ञान पैदा कैसे हो? इसलिये यहाँ तक ठीक है कि प्रारंभ में भी ज्ञान, अंत में भी ज्ञान लेकिन बीच में कुछ न कुछ घटना हुई है जिसके कारण तुम्हारा अखण्ड ज्ञान घट-ज्ञान पट-ज्ञान, मठ-ज्ञान हो गया। कुछ हुआ जरूर है। वह जो 'कुछ हुआ' है और समझ में आता नहीं कि क्या हुआ है, उसी को वेदान्ती अविद्या कहता है। अविद्या का क्या मतलब? वेद कहता है पहले सन्मात्र, चिन्मात्र था। हमारे अनुभव में घट-पट आदि रूप का ज्ञान

आ रहा है। अखण्ड चिन्मात्र में घट-ज्ञान कैसे बना, यह समझने का कोई तरीका नहीं है। यह समझने का तरीका नहीं इसी का नाम अविद्या है। हमने घड़ा देखा, कुम्हार ने कहा कि मैंने मिट्टी से बनाया और समझ में भी बात आती है क्योंकि घड़े में भी मिट्टी दीख रही है। इससे पता लगा कि पहले मिट्टी ही थी और अंत में घड़ा बनने पर भी घड़े में मिट्टी ही नजर आ रही है। मिट्टी लेकर उसी आकार का लोंदा बनाना शुरू किया लेकिन मिट्टी गिर जाती है। ऐसे घड़ा बनने का कोई तरीका नहीं तो मानना पड़ेगा कि कुम्हार ने किसी चीज का प्रयोग किया है जिसके बारे में कुछ पता नहीं। इसी प्रकार वेद ने कहा चिन्मात्र था, हमको अनुभव में आ रहा है विशिष्ट चेतन, तो बीच में कुछ एक चीज जरूर हुई है जो हमें नजर नहीं आ रही है। वह क्या चीज है जो हमें कभी समझ में आने वाली नहीं है? यही अविद्या है और कुछ नहीं है।

वह समझ में आने वाली नहीं, यह तुमने कैसे निर्णय किया? यह प्रश्न उठता है। वेदांती कहता है कि बाकी सब बताने का प्रयत्न कर रहे हैं कि एक अनेक कैसे बना; लेकिन वह एक अनेक कैसे बना, इसमें कणाद, गौतम, कपिल, पतंजलि, जैमिनी आदि सब का मत अलग अलग है। यह आस्तिकों का मतभेद हुआ। दूसरी तरफ सौत्रान्तिक, वैभाषिक, योगाचार, माध्यमिक, श्वेताम्बरी, दिगम्बरी, चार्वाकों का अलग अलग मत है और आधुनिक पाश्चात्य दार्शनिकों का अलग अलग मत है। एक से अनेक कैसे बना? इसके विषय में सबका मतभेद है। हम यह मानते हैं कि ये सारे के सारे बड़े विद्वान् कोई बेवकूफ नहीं हैं। यदि कोई कारण होता तो इनमें से तत्त्व निर्णय हो गया होता! लेकिन आज तक कोई निर्णय नहीं हुआ। आज भी नैयायिक और सांख्यवादी वैसा ही शास्त्रार्थ करते हैं जैसा हजार साल पहले करते थे और कोई नहीं कह सकता कि मेरा निर्णय सबको स्वीकार हो गया। हम इन सब विद्वानों का भरोसा करते हैं। सब मिलकर बताते हैं 'अजातिं ख्यापयन्ति ते'। यह बताते हैं कि इसका पता लग ही नहीं सकता। इसका पता कुम्हार परमेश्वर को है, वही जाने, अपने पास कोई तरीका नहीं है। अनुभव से बात भी ठीक है कि जिसने कभी मिट्टी से घड़ा बनते नहीं देखा, उससे कहो कि मिट्टी से बना है तो वह सौ साल भी सोचता रहे तो पता नहीं लग सकता। परमात्मा ने सृष्टि कैसे की इसका ज्ञान होना सम्भव नहीं। इसलिये इसके ज्ञान का प्रयत्न करना बेकार है। बाकी सबने प्रयत्न कर लिया, इसलिये हमने निर्णय कर लिया कि इसका पता नहीं लग सकता। इसी का नाम अविद्या है। इसलिये कह दिया 'सर्वभावानां प्रभवः सताम्।'

भगवान् गौडपादाचार्य ने सभी भाव पदार्थों को कहा, अभाव पदार्थों को उन्होंने नहीं लिया। वह यह मानकर कि अभाव पदार्थ की उत्पत्ति मानो, नहीं मानो, कोई फरक नहीं पड़ता। पदार्थ की प्रतीति और अप्रतीति दो ही सामने आती हैं। पदार्थ की अप्रतीति से हम पदार्थ के अभाव को विचार से लाते हैं। यदि पदार्थ होता तो मुझे प्रतीत होता — इसी पर अभाव को सिद्ध करते हो। विचार की दृष्टि से कहो तो यह कैसी दुर्बल-सी

युक्ति है। जैसे हम कहें कि दिल्ली में राष्ट्रपति भवन नहीं है, होता तो मुझे दीखता। मेरे को चेहरा दीख रहा है, इस बारे में निश्चय से कह सकते हैं कि वहाँ कुछ है तब चेहरा दीख रहा है। लेकिन चेहरा नहीं दीख रहा है, इतने मात्र से है ही नहीं, यह नहीं कह सकते। दूरी कारण हो सकती है, व्यक्ति पीछे बैठा हुआ हो सकता है, आँख में धुँधलापना हो तो नजर नहीं आ सकता; न दीखने के हजारों कारण हो सकते हैं। इसलिये भाव-पदार्थों की उत्पत्ति को लेकर ही चले। जितने भाव हैं, वे सारे के सारे विद्यमान हैं, होना मात्र ही है। जो चीज वर्तमान न हो उसकी यदि उत्पत्ति हो तो खरगोश के सींग पैदा हो जाने चाहिये! तिल से तेल बना, तेल तिल में नजर नहीं आया लेकिन पहले मौजूद था तभी निकल आया। सोने से गहना बना, वहाँ नजर नहीं आया था लेकिन यदि कहो कि सोने में गहना नहीं था और बन गया, तो कपड़े में गहना नहीं है, उसका गहना बनाकर दिखाओ। इसलिये जितने भी भाव पदार्थ हैं वे सारे के सारे सत् हैं। प्रकट हों, अप्रकट हों यह भेद तो मान लेंगे। कोई चीज हमारे सामने प्रकट और कोई चीज अप्रकट हो जाती है। लेकिन वह चीज थी ही नहीं और पैदा हो गई, यह असम्भव कल्पना है। 'सर्वभावानां प्रभवः इति विनिश्चयः' विचार से यह निश्चय हो जाता है।

भाष्य में इसी को स्पष्ट करते हैं 'सतां विद्यमानानां स्वेनाविद्याकृतनामरूपमायास्वरूपेण सर्वभावानां विश्वतैजसप्राज्ञभेदानां प्रभव उत्पत्तिः।' 'सताम्' का अर्थ कर दिया जो पहले से मौजूद है या विद्यमान है। किस प्रकार विद्यमान है? 'अविद्याकृतनामरूपमायास्वरूपेण' अर्थात् अविद्या के द्वारा ही नामरूप की प्रतीति होती है। यदि हमको आत्मविषयक अविद्या न होती तो हमको नामरूप की प्रतीति कहाँ से होती। संसार का अधिष्ठान सद्रूप परमात्मा है। इसीलिये सारे पदार्थ सद्रूप हैं क्योंकि सद्रूप अधिष्ठान में कल्पित हैं। जैसे रस्सी जितनी मोटी होगी उतना ही मोटा साँप दीखेगा। वैसे ही परमात्मा चूँकि सद्रूप है इसलिये सारा जगत् सद्रूप ही दीखता है। जो भी चीज दीखती है, वह सद्रूप से दीखती है, घड़ा है, कपड़ा है, लड्डू है। कोई चीज आज तक बिना 'है' वाली नहीं दीखी। अब हमको यदि 'है' अधिष्ठान दीख जाये, रस्सी दीख जाये उसके मोटेपन के साथ, तो फिर साँप आदि नहीं रहेंगे। उसी प्रकार सब पदार्थों के अन्दर 'है' रूप से परमात्मा की विद्यमानता दीख रही है। यदि उस 'है' की तरफ दृष्टि चली जाये तो फिर नामरूप की दृष्टि हट जायेगी।

एक बात ख्याल रखना कि नामरूप हट जायेंगे यह नहीं कह रहे हैं। यह गलती प्रायः लोग कर जाते हैं। नामरूप नहीं दीखेंगे, यह नहीं कह रहे हैं। जैसे सुनार अंधा नहीं हो जायेगा कि उसे गहना न दीखे, लेकिन सुनार की दृष्टि में कीमत सोने की है, गहने की नहीं क्योंकि जानता है कि सोना है; जो मर्जी सो गहना बना लेंगे। उसको भी गहना दीखता है, वह भी अपनी घर वाली को सोने का बिस्कुट या पासा थोड़े ही पहनाता है। वह भी गहना ही बनाकर देता है, लेकिन जानता है कि कीमत सोने की है। इसी प्रकार से 'है' की तरफ दृष्टि जाने से नामरूप कहीं चले नहीं जायेंगे, लेकिन कीमत 'है'

की दीखेगी। अभी कीमत नामरूप की है, 'है' की नहीं। यह कीमत न देखने के कारण सबसे बड़ा नुकसान यह होता है कि हम अपनी जिन्दगी को बेकार कर रहे हैं। संसार में सबसे बड़ा धन क्या है? विचार करके देखो। मैं चेतन हूँ, मैं ज्ञान स्वरूप हूँ, पहले मैं हूँ तो बाकी सारे धन हैं। यदि कोई हमसे कहे कि 'आपको हम आज सारी दुनिया का छत्रपति राजा बनाते हैं, रूस, चीन, भारत सारे देश का अकेला ही राजा तुम्हें बनाते हैं, लेकिन एक शर्त पर कि आपकी गर्दन काट देंगे, उसके बाद आप ही राजा रहेंगे!' कहोगे कि 'इससे तो चने खाकर रह जायेंगे। जिन्दा तो रहें। जब हम ही न रहे तो राजपने का क्या करें?' कीमत एकमात्र 'है' की है, मैं हूँ। किन्तु उस 'है' की तरफ दृष्टि छोड़ देते हैं। कहते हैं वह तो है ही, इसकी क्या चिंता करें? कीमत देते हैं कि मैं लखपति हूँ, मैं बलवान् हूँ, मैं ध्यानी, मैं जपी हूँ, मैं अग्निहोत्री हूँ, मैं दानी हूँ, मैं मंत्री हूँ, मैं राष्ट्रपति हूँ इत्यादि। इन सब पर जोर देते हुए यह होता है कि 'मैं हूँ' का भाव ही नहीं रहता, उसकी तरफ ख्याल ही नहीं रहता, वह चला गया-सा रहता है। 'है' समझने के बाद राष्ट्रपति हो तो राष्ट्रपति बने रहोगे, उसमें क्या होना है, लेकिन जानोगे कि मैं हूँ तब राष्ट्रपति का महत्व है, नहीं तो क्या महत्व है। सारे काम करते हुए, सब कुछ होते हुए, यदि वह 'मैं हूँ' के भाव को बनाकर रख सको तो देखोगे कि एक विलक्षण आनंद आयेगा। जो आने जाने वाली चीजे हैं, जिनको हमने महत्व दे रखा है, उनकी खास कीमत नहीं है। जितनी जितनी मैं की चेतना, सन्मात्र की चेतना आती जायेगी उतनी उतनी इनकी कीमत घटने लगेगी।

कई बार प्रश्न होता है कि इनकी कीमत घट जायेगी तो आदमी क्या करेगा? विचार करो तो सारे दुष्कर्मों की प्रवृत्ति का हेतु क्या है? 'मैं हूँ' यह दुष्कर्म की अपेक्षा नहीं करता। दुष्कर्म करने के लिये कुछ न कुछ बनना पड़ेगा। 'मैं रेल का यात्री हूँ इसलिये मुझे रेल की सीट के लिये पाँच रुपये घूस देना है।' रेल के यात्री बनोगे तो घूस देने की सोचोगे। मैं हूँ, रेलयात्री हूँ तो हूँ और यात्री नहीं हूँ तो हूँ, रेल में लम्बा लेटा हुआ हूँ तो हूँ और चारों तरफ से भीड़ से दब रहा हूँ तो भी हूँ ही। ऊपर रखे हुए बड़े-बड़े बक्सों की टक्कर सिर में लग रही है तो क्या मेरे होने में फरक पड़ गया? मैं तो वैसा ही हूँ। 'मैं हूँ' में कोई फरक नहीं पड़ता। लेट गया तो कोई विशेषता नहीं आ गई। सारे दुष्कर्मों में प्रवृत्ति तब है जब मैं के ऊपर कुछ लादते हो। जहाँ वह गया वहाँ मनुष्य की सहज स्वाभाविकी प्रवृत्ति होती है। एक नियम यहाँ याद रखना कि सहज स्वाभाविकी प्रवृत्ति कभी पाप नहीं होती। पाप प्रारंभ ही वहाँ से होता है जहाँ तुम्हारे अन्दर राग द्वेष का बीज आया। भगवान् ने इसीलिये कहा 'तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ।' राग द्वेष से रहित होकर तुम जो कार्य करोगे, वह सहज स्वाभाविक कार्य कभी पाप नहीं होगा। पाप प्रयत्नपूर्वक करना पड़ता है, पुण्य बिना प्रयत्न के होता है। लोगों ने उलटा समझ रखा है कि पुण्य वह जिसे मेहनत से किया जाये और पाप वह जो बिना मेहनत

से हो जाये। बात बिल्कुल उलटी है। झूठ बोलने के लिये सोचना पड़ता है कि क्या बोलें, सत्य के लिये नहीं सोचना पड़ता। किसी प्राणी की हिंसा के लिये सोचना पड़ता है कि रात में यह बारह बजे निकलेगा, उस समय पिस्तौल भरकर जाऊँगा, फिर पिस्तौल को कहाँ फेंकूँ, यह सब सोचना पड़ता है। किसी को न मारने के लिये कुछ नहीं सोचना पड़ता। जितने भी पुण्यकर्म हैं वे जीव के सहज स्वाभाविक कर्म हैं। वेद आदि शास्त्रों में केवल सहारा देने के लिये उन्हें बता दिया है। इसीलिये भगवान् ने अर्जुन से कहा कि 'सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्' जो सहजकर्म हैं वे यदि दोष वाले भी प्रतीत होते हैं तो नहीं छोड़ने चाहिये। जैसे अर्जुन को लग रहा था कि भीष्म, द्रोण इत्यादि को मारना दोष वाला कर्म है और जंगल में जाकर भीख माँगकर खाना अच्छा कर्म है। भगवान् ने कहा कि यह तुम्हारा सहज कर्म नहीं है। यह तो केवल जब सामने भीष्म द्रोण इत्यादि दीखे तब तेरे मन में आया है, तू तो यहाँ लड़ने के लिये तैयार होकर आया था। इसलिये दोष दीखने पर भी अपने सहज कर्म को न छोड़। भिक्षाटन की बात, तुझे इस समय बड़ी अच्छी लग रही है, लेकिन जन्म भर तो राज्य किया और अब भिक्षा करने के लिये कहीं पहुँचा और किसी ने कहा 'बड़ा तगड़ा हृष्टपुष्ट दीखता है, भीख माँगते शर्म नहीं आती?' तब तू कहेगा 'मैं अर्जुन हूँ।' वह कहेगा 'अर्जुन होता तो भीख माँगता फिरता?' फिर भिक्षा न माँगकर धनुष उठा लेगा। वह तो जहाँ सहज स्वाभाविक होता है, बचपन से ही चला आया हो वहाँ हो सकता है। जैसे ब्राह्मण चार घरों में एकादशी के लिये गया, दो घर वालों ने सीधा पेटिया दिया, दो घर वालों ने कहा आगे जाओ और पंडित जी ने सोचा कि कोई बात नहीं। अर्जुन! ऐसा तुमसे नहीं हो सकता। इसलिये जो भी कर्म करोगे उसमें दोष की प्रतीति किसी अन्य दृष्टि से चाहे हो जाये, लेकिन उसे छोड़ो नहीं क्योंकि वह सहज है। सहज कर्म जिस प्राणी का जो है, उससे उसे पाप नहीं हुआ करता। दूसरों की दृष्टि से उसमें चाहे पाप बना रहे लेकिन स्वकीय दृष्टि से नहीं है। इसीलिये कहते हैं कि मैं हूँ इस सहज भाव को छोड़कर जब दूसरे भाव का आपादन कर दिया, तभी दोषों में प्रवृत्ति होगी।

ये सारे भाव-पदार्थ कैसे हैं? अविद्या के द्वारा बनाये हुए विद्यमान ही हैं। ये नाम रूप कहीं गये हुए नहीं रहते हैं, हमेशा ही अविद्या के अन्दर पड़े रहते हैं। किसी काल में कोई नाम रूप, किसी काल में कोई और नाम रूप सामने आ जाता है। क्यों और कैसे आता है, विवेचन बेकार है। समझाने को कोई कहेगा अदृष्ट से कोई परमाणु से कोई कहेगा प्रकृति के विकार होकर, कोई कहेगा प्रारब्ध से, कोई कहेगा ईश्वरेच्छा से सामने आते हैं। कई कारण हो सकते हैं। इनमें से कभी कोई प्रधान होगा कभी कोई और इसलिये निश्चय होने वाला नहीं है। इसलिये वेदांती तो केवल इतना ही मानता है कि जिस समय जो भाव सामने आ गया वह उसका प्रकट रूप है और बाकी सब उसमें उस समय में अप्रकट हैं। मौजूद सारे के सारे हैं। कोई चीज ऐसी नहीं कि मौजूद

नहीं। किसी समय कुछ, किसी समय कुछ प्रकट हो गया, बस इतना ही अन्तर है। ये मायामय आरोपित स्वरूप कहे जाते हैं। इसी को मायामय कहते हैं। इसलिये कहते हैं 'मायास्वरूपेण' रहते हैं। माया अर्थात् विचार करने से जो सिद्ध न हो। मा अर्थात् नहीं और या अर्थात् जो। जब तक विचार न करो तब तक है और जहाँ विचार किया वहाँ वह नहीं रहती। जैसे पी.सी. सरकार या और कोई जादूगर हो जिसने हाथ घुमाया और नीचे किया तो भस्मी गिर गई। विचार करोगे तो पता लगेगा कि किसी चीज से कोई चीज उत्पन्न हो सकती है, आकाश से नहीं गिर सकती। जब तक विचार न करो तब तक भ्रम होता रहता है। एक बार यहाँ कोई आया, वह अपनी उंगली से दूध टपकाता है, दाढ़ी से भी दूध टपकाता है। यहाँ पर एक दो जने और थे, कहने लगे 'यह बड़ा सिद्ध है।' हमने कहा 'सिद्ध तो है लेकिन इसकी अपनी माया है। सचमुच दूध होता तो फिर यह दिखाने के बाद तुमसे एक रुपया क्यों माँग रहा है। वही बता रहा है कि कहीं न कहीं गड़बड़ है।' इसके अन्दर ज्यादा जाने की जरूरत नहीं है। हमारे यहाँ मारवाड़ी में कहते हैं कि किसी की 'छेह' नहीं लेनी चाहिये। कोई चीज कोई दिखा रहा है तो उसके पीछे मत पड़ जाओ। वह उसकी चीज होने से तुमको उसने दिखाया, तुमने उसे एक रुपया दिया, अब पीछे न पड़ो। लोग कहते हैं कि सत्य का निर्णय करो। सत्य का निर्णय करते हैं तो जगत् ही नहीं सिद्ध होता है। जैसे यह मानकर चलते हैं वैसे वह भी मान लो, हर्जा कुछ नहीं है। यह माया है, विचार करने से जो सिद्ध नहीं हो और बिना विचार किये हुए जो वैसी ही दीखती रहे। माया कोई औरत नहीं है जो पकड़कर लोगों को रखती होगी। जिसका विचार न करो तब तक उसकी प्रतीति और विचार करने पर पता लगे कि यह कुछ नहीं है। ऐसे ही मूर्ति में कोई दिखा देता है कि मूर्ति खा लेती है। कई तरह की चीजें लोग दिखाते हैं। कोई दिखाता है कि मूर्त्ति का एक अंग हिलता है। विचार करो कि एक अंग हाथ हिलता है तो मुँह, आँख इत्यादि क्यों नहीं हिलते? अंग हैं तो सब हिलें। अतः यह सब माया है। एक जगह दिखाया कि दूध का भोग लगाये और उसमें से कुछ न कुछ उठ जाये। कहते हैं कि दैवी विभूति है। शास्त्र कहता है 'देवाः न खादन्ति न पिबन्ति' देवता न खाते हैं न पीते हैं! यदि खाते पीते हैं तो उनके विकार के निकलने का स्थान भी होना चाहिये। यदि खाते हैं और आगे का काम नहीं होता है तो कोई न कोई माया है। विचार करो तो पता लगता है। इसका मतलब यह नहीं कि जीवन के रस को छोड़ दो कि कुछ नहीं रखा है। रखा कैसे नहीं है उसने मेहनत से जो कला दिखाई है, उसकी प्रशंसा करो, लेकिन उसे सत्य मानने के भ्रम में नहीं जाना चाहिये। इसलिये कहा यह सब अविद्याकृत है।

प्रायः अविद्या व माया एकार्थक रूप से प्रयुक्त हैं। परवर्ती काल में ईश्वर की उपाधि माया और जीव की उपाधि अविद्या ऐसा भेद किया गया, लेकिन यह भाष्य पंक्ति उसे जड से उखाड़ने वाली है क्योंकि यहाँ अविद्या के लिये ही माया का प्रयोग भगवान्

भाष्यकार ने किया है 'अविद्याकृतनामरूपमायास्वरूपेण'। इसलिये जो लोग मानना चाहते हैं कि जीव व ईश्वर की उपाधि अलग है, उनका यहाँ उत्खात हो गया। अतः इस प्रकार के पक्षों का कोई आधार नहीं है। एक अविद्यापक्ष भगवान् पद्मपादाचार्य और सुरेश्वराचार्यों का ही गरीयान् है। वस्तुतस्तु अखण्ड अद्वैत समझाने के लिये विभिन्न आचार्यों ने विविध पक्षों का प्रणयन किया है। इस दृष्टि से सभी प्रक्रियायें समीचीन हैं। वे सारे भाव कौन से हैं? विश्व, तैजस, प्राज्ञ, जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों काल में जो अनुभव होता है वह सब ले लेना चाहिये। प्रभव मूल का पद था उसी का अर्थ उत्पत्ति कर दिया। 'वक्ष्यति च 'वंध्यापुत्रो न तत्त्वेन मायया वाऽपि जायते' इति।' विद्यमान पदार्थों की ही उत्पत्ति सम्भव है। इस बात को आगे स्वयं कारिकाकार यों कहेंगे कि बाँझ का बेटा न सचमुच और न किसी माया से पैदा हुआ है। जो चीज नहीं है, जैसे बाँझ का बेटा नहीं है, वह माया से भी पैदा नहीं हो सकती। यदि माया से भी पैदा हो गया तो माँ की वंध्यासंज्ञा खत्म हो जायेगी। जो चीज नहीं है वह न सचमुच और न माया से पैदा होती है। जो चीज है वही पैदा हो सकती है। गीता में भी इसी बात को कहा 'नासतो विद्यते भावः नाभावो विद्यते सतः' जो चीज़ नहीं है, वह पैदा नहीं हो सकती और जो चीज़ है वह न रहे यह कभी नहीं हो सकता। असत् का भाव हो जाये और सत् का अभाव हो जाये, यह नहीं हो सकता। इसलिये जो चीज़ है वह हमेशा है ही और जो चीज़ नहीं है वह हमेशा नहीं ही है। बस, है वाली चीज़ जिस समय तुम्हारे सामने आती है तुम उस समय उसे प्रकट होना कहते हो, तुमको लगता है कि वह पैदा हो गई, और जब नहीं दीखी तो कहते हो कि पैदा नहीं हुई। आत्मा का पैदा होना कोई आस्तिक नहीं मानता है, फिर भी कहते हैं शरीर का जन्म हो गया। लोग जन्मगाँठ भी मनाते हैं। किस चीज़ की जन्मगाँठ मनाते हैं? शरीर की बात कर रहे हैं, आत्मा की नहीं। जिस दिन शरीर को पैदा हुआ कहते हैं उससे पहले नौ महीने तक माँ पर बोझा बना बैठा था। आज ही तो पैदा हुआ नहीं है कि तुम जन्मदिन मानते हो। यह नहीं कह सकते कि वह शरीर उसी दिन पैदा हुआ। जिस दिन गर्भधारण हुआ उससे पहले वह आधा बाप के पेट में, आधा माँ के पेट में बैठा था, दोनों में आधा आधा वजन था। यह तो मान लिया कि शरीर की बात कर रहे हैं। माँ बाप के पेट में आने के पहले अनाज रूप में था। अन्न खायेगा तो ही शुक्र शोणित बनेगा। उससे पहले पौधे में था, उससे भी पहले खाद में था, खाद में आने के पहले पानी में, पानी से पहले बादल में था और शास्त्र की दृष्टि से बादल में आने के पहले सूर्य की रश्मियों में था, उससे पहले सूर्य में था। सूर्य में आने से पहले स्वर्ग में था। क्रम है। जब शरीर को जला देंगे तो राख बच जायेगी, वह भी बची हुई है, कहीं गई नहीं। इसलिये आत्मा तो पैदा होता ही नहीं, शरीर को भी विचार करके देखो तो शरीर के पैदा होने का कोई दिन नहीं है। ज्योतिषी इस बात को खूब जानते हैं। मान लो किसी की कुण्डली बनी ही नहीं या गुम हो गई। जब कुण्डली बनवाने के लिये पंडित जी से

कहते हैं तो वे कहते हैं कि इसी समय प्रश्न कर लो। जिस समय प्रश्न किया, उसी प्रश्न को लग्न बनाकर जीवन की बात बता देते हैं; क्योंकि काल को कहीं से पकड़ो, है वह निरंतर। किसी भी एक काल को पकड़कर सारी बातें निकल आयेंगी। उसी को हम जन्मकाल मान लेते हैं। इसी क्षण को मानकर कुण्डली बना देंगे, ऐसा नहीं कि जन्मकाल छूट गया तो अब कुछ नहीं हो सकता, हाथ पैर ठण्डे पड़ जायें। यह इसलिये कहते हैं कि भाव पदार्थ उत्पन्न नहीं होता है, शरीर आदि की भी नित्य सत्ता है।

'यदि ह्यसतामेव जन्म स्याद् ब्रह्मणोऽव्यवहार्यस्य ग्रहणद्वाराभावादसत्त्वप्रसंगः।' जन्म के पहले सब चीज़ें सत्ता रूप में यदि हैं तो फिर कारणव्यापार क्यों किया जाता है? लोग कुछ न कुछ कारण-व्यापार करते हैं, कार्योत्पत्ति के लिये कुछ न कुछ चीजें इकट्ठी करते हैं। वह क्यों किया जाता है? घड़ा बनाने के लिये डण्डा, चक्का, कुम्हार, सब लाओ तब कुम्हार कुछ पैदा करता है। जब पहले से ही घड़ा मौजूद था तो ये सब काम क्यों करते हैं? उसका जवाब देते हैं कि ऐसा नहीं। यदि असत् पदार्थों का जन्म होने लग जायेगा तो फिर ब्रह्म जो अव्यवहार्य है, व्यवहार का अविषय है, उसका भी फिर ग्रहण-द्वार नहीं रह जायेगा और उसके ज्ञान का अभाव हो जायेगा। फिर उसका असत्त्व अर्थात् वह ब्रह्म है ही नहीं, ऐसी प्रसक्ति हो जायेगी। ब्रह्म का ज्ञान तो हमेश़ा सत् रूप से होना है। जैसे घट, पट आदि नाम रूप हैं ऐसे ब्रह्म कोई नाम रूप वाली चीज़ नहीं है। बहुत सी चीज़ें दीखीं उसमें एक ब्रह्म भी है, ऐसा नहीं है। यहाँ तक बताया है 'ब्रह्मार्थो दुर्लभो यस्मात् द्वितीये सति वस्तुनि' यदि कोई एक तिनका भी मिल जाये जो ब्रह्म नहीं हो तो ब्रह्म शब्द की सार्थकता खत्म हो जायेगी क्योंकि ब्रह्म शब्द का अर्थ है सर्वव्यापक। ब्रह्म की प्रतीति पदार्थमात्र में 'है' रूप से है और वह है स्वयं अव्यवहार्य है। व्यवहार का विषय नाम रूप हैं लेकिन ब्रह्म न हो तो सारे व्यवहार मिलकर कुछ नहीं कर सकते क्योंकि नहीं के नहीं रह जायेंगे। ब्रह्मरूपी है के अन्दर सब नामरूप हैं, अतः ब्रह्म का ग्रहण, ज्ञान, हुआ। यदि इसके विपरीत कुछ मानोगे कि नया घड़ा पैदा हुआ और नयी सत्ता उसमें आई तो फिर सभी जगह नयी सत्ता होगी, तो ब्रह्मज्ञान असम्भव हो जायेगा। तब क्या दोष आयेगा? सर्वत्र अनुगतत्व की प्रतीति का क्या करोगे? आज तक तुम्हें घड़ा है, कपड़ा है, इस है के अन्दर क्या कोई फरक नजर आया है? ये घड़ा, कपड़ा इत्यादि पैदा होने वाली चीज़ें हुई लेकिन 'है' में तो कोई फरक नजर नहीं आया। यदि तुम हैकी उत्पत्तियों को मानोगे तो उस 'है' के अन्दर भेदप्रतीति होनी चाहिये थी और होती नहीं है। इसलिये है की उत्पत्ति नहीं मानो। है के अन्दर घड़ा कपड़ा इत्यादि सब कुछ है। जिस काल में जिसकी प्रतीति है, वह है के साथ होकर प्रतीत होगी। उसी को दृष्टांत से कहते हैं 'दृष्टं च रज्जुसर्पादीनामविद्याकृतमायाबीजोत्पन्नानां रज्ज्वाद्यात्मना सत्त्वम्।' रज्जु में जो सर्प या सींप में जो चाँदी दीखती है, वह अविद्याकृत-अज्ञान के द्वारा माया रूप बीज से उत्पन्न हुई है, रस्सी से उत्पन्न हुई है। इसलिये रस्सी और सींप

से उनकी सत्ता है। रज्जुसर्प की सत्ता रस्सी से है। इसलिये रस्सी के अन्दर अविद्याकृत मायाबीज रस्सी के अन्दर ही रहेगा, इसलिये रस्सी में ही सर्प का भ्रम होगा। रस्सी में सर्प का भ्रम होता है, रस्सी में कभी पेड़ का भ्रम नहीं होता। ठूँठ में पुरुष का भ्रम होता है, रस्सी में नहीं, तो मानना पड़ेगा कि रस्सी के अन्दर अविद्याकृत, मायाबीज ऐसा है जो साँप, भूछिद्र, जलधारा इत्यादि रूप में दीखे। रस्सी के अज्ञान मात्र से उत्पन्न होता तो चाहे कुछ उत्पन्न हो जाता। इसलिये निर्णीत है कि रस्सी में इन्हीं चीज़ों का भ्रम हो सकता है। तिल में तेल तो आदमी को जँचता है लेकिन रस्सी में साँप मौजूद नहीं है, फिर भी रस्सी में कल्पित साँप, भूछिद्र, माला इत्यादि बनने की ही शक्ति है। वह रस्सी आदमी नहीं बन सकती। ठूँठ आदमी भूत, चोर बन सकता है, कभी जलधारा नहीं बन जायेगा। इसी प्रकार है रूप से, सत् रूप ब्रह्म से, जगत् अभिन्न हुआ मिल रहा है तो मानना पड़ेगा कि इस है रूप ब्रह्म में जो कुछ आज तक प्रतीत हुआ और होगा वह अभिन्न है। उस ब्रह्म में यह शक्ति है कि आनंद रूप से इस है में प्रतीत हो। इस रूप से ही उसकी सत्ता है।

अब तक विचार किया कि रस्सी में जो सर्प दीखता है, उसकी भी सत्ता वैसी ही है जैसे रस्सी की सत्ता। रस्सी में भी सत्ता परमात्मा से आई और रस्सी में आयी हुई परमात्मसत्ता ही साँप में भी दीखी। रस्सी का व्यवधान, बस इतना अधिक हुआ। यह स्वाभाविक है कि जितना व्यवधान होगा उतना ही उसकी शक्ति में ह्रास होगा। बिजली जहाँ से चलती है वहाँ जितनी शक्ति है उतनी शक्ति आगे चलकर नहीं रहती है। अथवा यदि गेंद दीवाल में मारते हो तो जब दीवाल से गेंद लौटकर आती है तो उसकी लौटाने वाली शक्ति तो तुम्हारी मारने वाली शक्ति है लेकिन लौटते समय उतने वेग से नहीं आयेगी जितने वेग से तुमने फेंकी। दूसरी बार दीवाल से फिर टकराकर आयेगी तो उसमें और कमी होती जायेगी। इसी प्रकार व्यावहारिक सत्ता चूँकि साक्षात् ईश्वसत्ता से आई, इसलिये व्यावहारिक सत्ता तो ब्रह्मज्ञान पर्यन्त बनी रहती है। प्रातिभासिक सत्ता उससे भी कमजोर है, इसलिये ब्रह्मज्ञान से अतिरिक्त ज्ञानों से भी उसकी निवृत्ति हो जाती है। योगवासिष्ठकार के अनुसार तो प्रातिभासिकों में भी प्रातिभासिक सत्ता हो जाती है! सामान्य दृष्टि से त्रिविध सत्ता चलती है। लेकिन योगवाशिष्ठ में ऐसा बहुत विचार किया है। स्वप्न में भी एक स्वप्न आ जाता है। हम सपना देख रहे हैं उसमें एक सपना दीखने लगता है और फिर जग जातें हैं और जगकर दूसरे से कहते हैं कि मैंने आज यह सपना देखा और थोड़ी देर बाद फिर जग जाते हैं तो फिर लगता है कि जिसको कह रहे थे, वह भी सपना ही था! यदि ध्यान देकर देखो तो पता लगेगा कि स्वप्न में जिस सपने को देखा वह प्रातिभासिक की प्रातिभासिक सत्ता हुई, उसकी स्मृति, उसकी वासना स्वप्न की अपेक्षा भी कम रहेगी और स्वप्न की अपेक्षा भी उसका स्थितिकाल कम है। वहाँ तो सात सपनों तक चले गये हैं। वसिष्ठ महर्षि साहित्यिक थे, इसलिये

साहित्यिक ही दृष्टांत देते थे। लीलोपाख्यान में उन्होंने एक ही सपने में सात स्वप्न चलाये हैं। वह हो सकता है हम लोगों की समझ में जल्दी न आये लेकिन सपने में सपने तक का अनुभव तो कइयों ने किया है। हर हालत में वह स्वप्न में स्वप्न चाहे सातवाँ हो, सर्वत्र सत्ता ब्रह्म की ही अनुस्यूत है, उसमें व्यावहारिकत्व या प्रतिभासिकत्व की प्रतीति है। इसलिये जितना जितना व्यवधान बढ़ता जाता है, उतनी ही उसकी दूरी ब्रह्म से अधिक होती जाती है, उतनी ही उतनी उसकी असत्यता होती चली जाती है। लेकिन सत्ता है, इसमें संदेह नहीं।

अब कहते हैं कि अब तक यही कहा कि जगत् सत् से उत्पन्न हुआ है 'प्रभवः सर्वभावानां सतामितिविनिश्चयः।' लेकिन जगत् सत् उपादान वाला है क्यों? 'कल्पितत्वात् रज्जुसर्पवत्' कल्पित होने के कारण, सत् रूपी उपादान से उत्पन्न हुआ, जैसे रस्सी में साँप उत्पन्न हुआ। साध्यविकलत्व दोष की सम्भावना इस दृष्टांत में होती है। सिद्धान्ती ने माना कि रस्सी की सत्ता से सर्प उत्पन्न हुआ, तब ही आपका दृष्टांत बनेगा— जैसे रस्सी की सत्ता से सर्प उत्पन्न है उसी प्रकार ब्रह्म की सत्ता से जगत् उत्पन्न है, यह दृष्टांत हुआ। व्याप्ति बनाई कि जहाँ-जहाँ उत्पत्ति होती है वहाँ-वहाँ कारण की सत्ता से उत्पत्ति होती है। रस्सी की सत्ता से साँप की सत्ता अर्थात् रस्सी की सत्ता से साँप उत्पन्न हुआ इसलिये व्याप्ति यह बनाई गई कि जो चीज़ उत्पन्न होती है, वह कारण की सत्ता से उत्पन्न होती है। सत्ता का मतलब क्या? कारण है तो कार्य उत्पन्न होता है। सीधी सादी बात यह है कि जहाँ जहाँ कारण होता है वहाँ-वहाँ कार्य पैदा होता है। कारण होता है अर्थात् कारण में सत्ता है। कारण की सत्ता से कार्य उत्पन्न हुआ। जहाँ कारण है वहीं कार्य उत्पन्न होता है। यह हमने कहा। अब कोई कहता है कि इसमें साध्यविकलता है अर्थात् कारण की सत्ता ज़रूरी नहीं, उलटा कारण तो असत् हुआ करता है। बीज नष्ट हो गया तब अंकुर उत्पन्न हुआ, यह असत्कारणवादी का दृष्टांत है। नष्ट हो जाना अर्थात् असत् हो जाना। इसलिये उन लोगों का कहना है कि तुमने जो यह कहा कि जहाँ जहाँ कारण होता है वहाँ वहाँ कार्य है, यह व्याप्ति हमको नहीं जँची क्योंकि जहाँ कारण नहीं होता है वहाँ भी कार्य उत्पन्न होता है। दृष्टांत में साध्यविकलता दी गई कि जहाँ-जहाँ कारण है वहाँ-वहाँ कार्य है, ऐसा नहीं, उलटा जहाँ-जहाँ कारण नहीं अथवा कारण का नाश है वहाँ-वहाँ कार्य की उत्पत्ति है। यह शंका है। यह असत् से सत् की उत्पत्ति मानने का सिद्धान्त हुआ। इसीलिये जो लोग ब्रह्म को स्वीकार नहीं करते, वे सब यही कहते हैं।

इसका निराकरण करते हैं 'न हि निरास्पदा रज्जुसर्पमृगतृष्णिकादयः क्वचिदुपलभ्यन्ते केनचित्।' इसमें निरास्पद शब्द समझना थोड़ा कठिन है। नाश का मतलब हुआ ध्वंस अभाव। अभाव (नहींपना) भी कई तरह का हो सकता है। जैसे पैदा होने के पहले बेटा नहीं है, यह एक अभाव है। जब तुम कहते हो कि असत् अंकुर का कारण है तो तुम्हारा मतलब क्या इस असत् से है? क्या तुम्हारे असत् का मतलब पैदा होने के पहले का

अभाव है? वह तो तुम्हारा तात्पर्य नहीं है। एक अभाव अन्योन्याभाव होता है, वह भी वादी को यहाँ विवक्षित नहीं। अत्यंताभाव भी उसे यहाँ मान्य नहीं। तुम कहते हो कि बीज के नाश से, अभाव से, अंकुर उत्पन्न हुआ। यह जो ध्वंसाभाव है यह किसी न किसी भाव पदार्थपूर्वक ही होगा। ध्वंसाभाव बिना भाव के पैदा नहीं हो सकता है। कोई चीज होगी तब ही उसका ध्वंस होगा। वह जो भाव पदार्थ है उसके प्रति फिर ध्वंसाभाव कारण पड़ेगा, क्योंकि असद्वादी सब जगह असत् ही कारण मानेगा। यह अनवस्था हो गई। प्रत्येक असत् के प्रति दूसरा असत् कारण पड़ेगा, उसके प्रति फिर असत् कारण पड़ेगा तो यह अनवस्था दोष हो जायेगा। इसलिये निरास्पद कहा अर्थात् इसका कहीं आस्पद मिलेगा ही नहीं, कहीं बैठने की जगह नहीं मिलेगी। भाष्य में 'हि'-पद कारण को बता रहा है। इस दृष्टि से निरास्पद का मतलब है कि उपादान कारण की अनुवृत्ति दीखनी चाहिये। जो उपादान कारण होता है वह कार्य में अनुवृत्त होता है। जैसे मिट्टी उपादान कारण है तो घड़े में उसका अनुवर्तन है। घड़े में मिट्टी का भाव होता है। सोना उपादान कारण है, गहने में उसका अनुवर्तन है। यदि असत् कारण होता तो लोगों को पदार्थों के अन्दर असत् का अनुवर्तन होना चाहिये था जबकि अनुवर्तन होता है सत् का। यदि 'नहीं है (असत्)' कारण है, तो लोगों की प्रतीति होना चाहिये कि घड़ा नहीं है, आदमी नहीं है, लड्डू नहीं है, यह अनुवर्तन होना चाहिये, लेकिन अनुवर्तन हर ज्ञान में 'है' का हो रहा है। उपादान कारण का अनुवर्तन होता है, है का अनुवर्तन मिलता है, नहीं है का अनुवर्तन नहीं मिलता। ठीक इसी प्रकार बीजनाश को तुमने कारण माना, यह तो ठीक है, लेकिन जब लोगों को पेड़ की इच्छा होती है तो वे बीज के लिये प्रवृत्ति करते हैं, बीजनाश के लिये नहीं। उन्हें प्रतीत होता है कि बीज से पेड़ होगा। प्रत्येक प्राणी यही मानकर चलता है। इसलिये बीज बोने में प्रवृत्ति करते हैं, बीजनाश तो और प्रकार से भी हो सकता था। बीजनाश ही कारण था तो बीज को आग लगा दो तो भी काम हो जायेगा, लेकिन नहीं होता है। सत् की अनुवृत्ति और सत् कारण के लिये ही लोगों की प्रवृत्ति दोनों हेतु हो गये सत् को कारण मानने के। एक— प्रतीति कि हर पदार्थ के साथ 'है' तो दीखता है और 'नहीं है' की प्रतीति नहीं होती है तथा दूसरा हरेक की प्रवृत्ति किसी न किसी कारण के भाव रूप को लेने की होती है, अभाव को लेने की नहीं। इन कारणों से तुम्हारा असत्कारणवाद सिद्ध नहीं होता।

अनुवृत्ति का तात्पर्य क्या है? जैसे धागा माला के दानों में पिरोया हुआ है, इसी को अनुवर्तन या अनुवृत्ति कहते हैं। अथवा हमेशा साथ रहना अनुवृत्ति है। वैसे साथ और अनुवर्तन में थोड़ा सा फरक यह है कि पहले पदार्थ हो तब अनुवर्तन होता है, पहले मणियाँ हो तब पिरोओगे। इसी प्रकार पहले घट और फिर है। इसलिये घड़ा यह ज्ञान होते ही जो तुरंत अनु अर्थात् पीछे ही आकर बैठ जाये, उसे अनुवृत्ति कहते हैं। वृत्ति घट हो गया क्योंकि घड़े की प्रतीति हुई, ज्ञान हुआ और यह प्रतीति होते ही जो आकर

बैठ जाये वह 'है' अनुवृत्त हो गया। ऐसे घड़ा देखते ही 'नहीं है' की प्रतीति नहीं होती। चाहे बहुत लम्बे समय तक विवेचन करते रहो कि घड़ा कुछ नहीं है, घड़ा अणुओं से बना है, लेकिन जहाँ ध्यान जायेगा वहाँ फिर 'घड़ा है' प्रतीति हो जायेगी। इसलिये कहते हैं कि जो हमने विवक्षित दृष्टांत दिया वह यह है कि रस्सी है तो सर्प की प्रतीति है अर्थात् रस्सी रूपी आस्पद या आश्रय सर्प के प्रति कारण पड़ा, रस्सी का नाश कारण नहीं पड़ा। इसी प्रकार बालू है तो उसमें मृगतृष्णिका का जल दीखा। बिना किसी न किसी आश्रय के, बिना किसी न किसी अधिष्ठान के, किसी भाव पदार्थ की उत्पत्ति नहीं। यद्यपि यहाँ मिट्टी, स्वर्ण का दृष्टांत सरलता से दे सकते थे लेकिन भाष्यकार यह कहना चाह रहे हैं कि चूँकि यह असद्वादी की शंका हुई इसलिये जो लोक में असत् पदार्थ करके प्रसिद्ध हैं जैसे रज्जुसर्प आदि, इन्हीं के उदाहरण से समझाना चाहिये। जब झूठे पदार्थ भी सत् कारण से पैदा होते हैं तो सच्चे कार्य, सच्चे पदार्थ, सत् कारण से पैदा होंगे, इसमें तो कहना ही क्या है। चाहे स्वर्ग लोक में चले जाओ, चाहे जितने विलक्षण बुद्धि वाले हो जाओ लेकिन बिना किसी न किसी सत् पदार्थ के कभी असत् की उत्पत्ति नहीं होती।

'यथा रज्ज्वां प्राक्सर्पोत्पत्ते रज्ज्वात्मना सर्पः सन्नेवाऽसीत्।' इसलिये नतीजा यह निकला। रस्सी में सर्प की उत्पत्ति सत् रज्जु से है। यहाँ अविद्यावृत्ति या प्रतीति ही उत्पत्ति है। इसलिये रस्सी में साँप की प्रतीति से पहले साँप रस्सीरूप ही था। साँप में जो सत्ता दीखी वह रस्सी की सत्ता से अभिन्न थी। जैसे यह दृष्टांत है इसी प्रकार से 'एवं सर्वभावानामुत्पत्तेः प्राक्प्राणबीजात्मनैव सत्त्वम्।' संसार में जड चेतन जितने भाव या पदार्थ हैं उन सबकी ही उत्पत्ति होने के पहले प्राण रूपी बीजात्मा रूप से ही उनकी सत्ता थी। सृष्टि का कारण प्राण को ही बता रहे हैं। प्राण की समानता संवर्ग विद्या से बता दी। गहरी नींद में सब चीज़ें प्राण में ही लीन रहती हैं। जो कुछ है वहाँ (गहरी नींद में) सब प्राणरूप में है। उस समय मन, इन्द्रियाँ कोई काम नहीं करते। इसलिये सारी की सारी शक्ति प्राण में बैठी हुई है। यदि वह अंतिम चीज़ वहाँ न होती तो लोग 'राम नाम सत्य' करते हुए ले जाते! इसलिये वापिस प्राण से उत्पन्न होती हुई मानी जायेंगी। 'प्राणशब्दितं बीजम् अज्ञातं ब्रह्म' यहाँ प्राण शब्द से अज्ञात ब्रह्म का ग्रहण है जो इस सारे ब्रह्माण्ड के प्रति कारण है। हमारे शरीर आदि की इन्द्रियाँ आदि तो इस प्राण में लीन हुए, जब महाप्रलय होता है तब ये सारे के सारे परमात्मा के जिस अंश में या बीज में लीन होते हैं, उसी को माया कहते हैं। उस रूप से ही अर्थात् उस बीज रूप से ही उसकी सत्ता है। महाप्रलय काल में सब कुछ परमात्मा से एक हुआ है बीज रूप से, और सृष्टि के समय फिर इस बीज से उत्पन्न हो जाता है।

बीज क्या है? बीज अज्ञात ब्रह्म है। यह बार बार इसलिये कहते हैं कि माया शब्द के विषय में झट लोगों को लगता है कि ब्रह्म से भिन्न कुछ होगा, वैसा कुछ नहीं। अज्ञात ब्रह्म ही माया कहा जाता है। जगत् की उत्पत्ति का कारण अज्ञात ब्रह्म और ब्रह्म ज्ञात

हो गया तो खेल खत्म हो गया। अज्ञात ब्रह्म ही हमारे यहाँ माया शब्द से कहा जाता है। ब्रह्म से अतिरिक्त और कोई कारण नहीं है। जिस प्रकार दूसरे लोग प्रकृति व पुरुष दो को कारण मानते हैं, ऐसा उपनिषदें नहीं बताती। कई बार लोगों को यह शंका होती है कि माया जगत् का कारण आप लोग कैसे मानते हो जबकि आपके वेदान्तसूत्र में जगत् के जन्मादि का हेतु ब्रह्म को कहा है? उस शंका का कारण है कि हम लोग जब माया को जगत् का कारण मानते हैं तो लोग समझते हैं कि माया कोई चीज़ है जिसको हम जगत् का कारण मानते हैं। यदि ऐसा मानते होते तो हमको मायावादी भी कहना ठीक होता। लेकिन उपनिषद् ब्रह्म का लक्षण करती हैं 'यतो वा इमानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्मेति' जिससे यह जगत् उत्पन्न होता है, जिसमें यह रहता है और अंत में जिसमें लीन होता है वह ब्रह्म है। ब्रह्मसूत्र में यही प्रश्न उठा : कहा 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' ब्रह्मज्ञान के लिये प्रयत्न करे। अगला प्रश्न हुआ कि वह ब्रह्म क्या है? उसका जवाब दिया 'जन्माद्यस्य यतः' जिससे यह सृष्टि उत्पन्न होती है और जिसमें लीन होती है वह ब्रह्म है। हम तो ब्रह्म से ही सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और लय मान रहे हैं। हम कब मान रहे हैं माया से सृष्टि स्थिति लय? लेकिन उसी ब्रह्म के ज्ञान के द्वारा जगत्-निवृत्ति बताई जा रही है। ज्ञात ब्रह्म से जगत् की निवृत्ति और ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति; तो कौन से ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति? अज्ञात ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति और ज्ञात ब्रह्म से जगत् की निवृत्ति। ब्रह्म से जगत्-प्रवृत्ति हुई तो वह अज्ञात हुआ। इसलिये हम लोग ब्रह्मवादी हैं, मायावादी नहीं। अज्ञात ब्रह्म को समझने के लिये माया शब्द, अविद्या और अज्ञान शब्दों का प्रयोग कर लेते हैं। यह विषय बृहदारण्यकवार्तिक में बहुत स्पष्ट है। अविद्या या अज्ञान ब्रह्म का ही है। जब कहते हैं अज्ञान से जगत् की उत्पत्ति होती है तब तात्पर्य है अज्ञात ब्रह्म से। हर बार उसे नहीं कहते लेकिन समझना उसे ही है। 'प्राक्प्राणबीजात्मनैव सत्त्वम्।' इस रूप से ही उसकी सत्ता है। 'इत्यतः श्रुतिरपि वक्ति— 'ब्रह्मैवेदम्' 'आत्मैवेदमग्र आसीत्' इति'। यह सारा ही चेतन-अचेतन जगत् उत्पत्ति से पहले अज्ञातरूप से था। इसमें वेदांत कौनसी कठिन बात बता रहा है, सीधी सी बात है। जब तक नहीं जानते तब तक उसका अज्ञान है।

अगला प्रश्न कई बार लोग करते हैं कि इसका अज्ञान कहाँ से आया? यह वैसा ही प्रश्न है जैसे मान लो किसी ने हरिराम को कभी नहीं देखा, सुना ही नहीं कि वह कौन है। उसने पूछा 'हरिराम कौन है?' हमने कहा 'हरिराम यह है।' अगला प्रश्न पूछो कि हरिराम को कब से नहीं जाना, तो कहेगा कि हरिराम को कभी से नहीं जाना। इसी प्रकार जब कोई कहता है कि ब्रह्म का अज्ञान कब से, तो जवाब है कि ब्रह्म का अज्ञान सदा से, अनादि काल से है। अज्ञान को विस्मृति तो कहा नहीं, इसलिये अनादि काल से अज्ञान है, यह सिद्ध थोड़े ही करना पड़ता है। यदि हम कहें कि अमुक सन् से इसको नहीं देखा, नहीं जान रहा हूँ, तो कुछ बोलना भी पड़े। इसलिये सीधी सादी बात है

कि यह सारा चेतन-अचेतन जगत् उत्पत्ति से पहले अज्ञान अवस्था में था, पता नहीं था। इस बात को श्रुति में स्पष्ट शब्द से बताया है। जो कुछ भी तुमको इदंता रूप से अनुभव हो रहा है, वह जब यहाँ साक्षात् उत्पन्न नहीं हुआ था तब तक ब्रह्म ही था। अग्रे अर्थात् सृष्टि के पूर्व आत्मरूप ही था। ये दो श्रुतियाँ बता दीं।

अब अगली पंक्ति का अर्थ करते हैं 'सर्वं जनयति प्राणश्चेतोंशून् अंशव इव रवेः चिदात्मकस्य पुरुषस्य चेतोरूपा जलार्कसमाः प्राज्ञतैजसविश्वभेदेन देवतिर्यगादिदेहभेदेषु विभाव्यमानाश्चेतोंशवो ये तान्।' अंशु किरणों को कहते हैं, इसीलिये सूर्य का एक नाम अंशुमाली, अंशुमान् भी है। जैसे सूर्य की किरणें होती हैं उसी प्रकार परब्रह्म परमात्मा की किरणें ये सारे चेतन जीव हैं। सूर्य प्रकाश करने वाला प्रकाशरूप है तो उससे निकलने वाली किरणें भी प्रकाशरूप हैं। फरक यह है कि सूर्य अनंतकोटि ब्रह्माण्डों को प्रकाशित कर देता है और एक किरण शायद उंगली को प्रकाशित करेगी, बल्कि उसके लिये भी दो चार किरणों की ज़रूरत पड़ सकती है। प्रकाशक तो जैसे सूर्य वैसे ही किरण, लेकिन किरण की शक्ति बहुत कम है और सूर्य की शक्ति अनंत है। सूर्य डूबता है तो किरणें पीछे नहीं छूट जातीं। सूर्य जाता है तो किरणें भी उसमें उपसंहृत हो जाती हैं। इसी प्रकार उस परब्रह्म परमात्मा से अतिरिक्त होकर कोई जीव अपनी सत्ता नहीं रख सकता। ऐसा नहीं हो सकता कि परमेश्वर सो जाये और हम लोग जगते रहें। यह तो हो सकता है कि हम सो जायें, परमेश्वर जगते रहें। अब वही अपने शरीर में समझ लो कि आत्मदेव की किरणें निकलती हैं, आँख, कान, नाक आदि से। जैसे आत्मा का काम जानना है, वैसे ही आँख, कान, नाक आदि भी जान रहे हैं। इसलिये इनको इससे किरणरूपता की प्राप्ति होती है। यह तो हो सकता है कि आँख, कान, नाक बन्द हो जायें और हम जागते रहें। समाधि में आँख, कान आदि सारी इन्द्रियों को और यहाँ तक कि मन को भी नियंत्रित कर लें, वहाँ कोई इन्द्रिय काम नहीं करे फिर भी हम जागते रहें। ये सब सो जायें और हम जागते रहें, यह हो सकता है, लेकिन यह नहीं हो सकता कि हम सो जायें और ये जागते रहें! कोई कहे 'हम तो सो रहे थे लेकिन आँख देखती रही, चोर आया था', तो यह नहीं हो सकता। जैसे इन किरणों के हम छोटे से सूर्य ही हुए वैसे ही हम जीव रूपी किरणों का सूर्य परब्रह्म परमात्मा हो गया। इसलिये यह हो जाता है कि हम सृष्टिकाल में सो जाते हैं और वह जगता रहता है लेकिन महाप्रलय काल में वह सो जाता है तो हम सब भी नहीं रहते। इसलिये जैसे रश्मियाँ सूर्य हैं वैसे ही जीव परब्रह्म परमात्मा है। स्वयं चैतन्यरूप जो पुरुष है, यह उत्तम पुरुष है। पुरुषोत्तम भी उसी को कहते हैं। मैं ही उत्तम पुरुष हूँ। मैं रूप प्रतीति ही उत्तम पुरुष है क्योंकि इसमें चेतनता की प्रतीति स्पष्ट है। इसलिये सर्वत्र व्यापक होकर जो रहने वाला है वही पुरुषोत्तम है। पुरुषों की जाति में श्रेष्ठ, ऐसा मूर्खतापूर्ण अर्थ पुरुषोत्तम का नहीं करना, कई बार लोग ऐसा अर्थ करते हैं कि वह दूसरों से अच्छा है। किन्तु फिर वह व्यापक परमात्मा नहीं

रहेगा, वह हमारी ही जाति का एक बड़ा आदमी होगा। हम पुरुषों में बड़ा राष्ट्रपति, उससे बड़ा संसार का अधिपति, उससे बड़ा इन्द्र इन सबसे बड़ा एक और पुरुषोत्तम हो जायेगा। ऐसा अर्थ करोगे तब तो वह हमारी जाति का हो गया। लेकिन 'यो लोकत्रयमाविश्य' वह पुरुषोत्तम 'मैं' इस रूप से सर्वत्र विद्यमान है, तभी उसकी पुरुषोत्तमता, उत्तम पुरुषता हुई। यह भ्रान्ति कभी नहीं करनी चाहिये कि परमात्मा अनेक पदार्थों में एक पदार्थ है। सारे पदार्थों के रूप में जो भासित हो रहा है वह परमात्मा है। सारे प्राणियों के रूप में जो भासित हो रहा है वह परमात्मा है। तभी तो परमात्मा रहा, नहीं तो हमारी जाति का ही एक दूसरा श्रेष्ठ हो गया।

इसलिये कह दिया 'अंशव इव रवेश्चिदात्मकस्य पुरुषस्य चेतोरूपा' जो चैतन्यात्मक पुरुष, उत्तम पुरुष है उसके हम चेतोरूप अर्थात् चैतन्याभास हैं। वह तो है चैतन्य रूप और हम हैं चैतन्याभास अर्थात् दीखते तो हम भी चैतन्य की तरह हैं, 'मैं आने वाला, मैं जाने वाला, मैं जीव'; लेकिन चैतन्य हैं नहीं, जैसे हेतु की तरह दीखे पर हेतु हो नहीं वह हेत्वाभास, ऐसे चेतन की तरह दीखे लेकिन चेतन न हो वह चिदाभास। उसकी रोशनी है तभी तो चैतन्यरूप हैं। जिस प्रकार आलू पानी के अन्दर खूब नाचता है, लगता है आलू जैसी बढ़िया नाचने वाली चीज नहीं है, बिना पैरों के नाच रहा है! लेकिन जहाँ नीचे से आग हटायी वही आलू हिलता भी नहीं। दीखता है आलू में नाच, लेकिन नाच रही है आलू में बैठी हुई आग। इसी प्रकार से लगता है कि हम लोग सब कुछ कर रहे हैं लेकिन हम लोग कुछ करने योग्य नहीं हैं। वह अंदर बैठकर नाच रहा है और नाच दीख हमारे में रहा है। इसीलिये हम लोग चैतन्याभास हैं। चेतोरूपा कहकर जीव ईश्वर में फरक बता दिया। जब तक ईश्वर का सम्बन्ध हमारे साथ है तब तक तो हम ईश्वर जैसे ही लगते हैं और जिस समय वह सम्बन्ध टूटा वहाँ फिर कुछ नहीं रह जाता। गीता में भगवान् ने भी वही कहा 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया'। उन चैतन्याभासों को उत्तम पुरुष उत्पन्न करता है।

एक शंका यहाँ हुई कि सूर्य से जो रश्मि निकली वह रश्मि सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने से प्रकाश करने वाली कब बनती है? जब किसी त्रसरेणु इत्यादि के ऊपर पड़े। जब तक किसी चीज पर रोशनी न पड़े तब तक नहीं दीखती है, यह रोशनी का नियम है। हम लोगों को यह दीखता है कि हवा में रोशनी दीख रही है, लेकिन हवा में त्रसरेणु हैं उनपर रोशनी पड़ती है तब दीखती है। यदि सर्वथा कुछ न हो तो रोशनी भी नहीं दीखती। इसलिये प्रकाश को देखने के लिये कोई न कोई उपाधि अपेक्षित है। ऐसे सूर्य को देखने के लिये त्रसरेणुओं की जरूरत नहीं पड़ती। सूर्य तब दीखे जब त्रसरेणु हों ऐसी बात नहीं, लेकिन सूर्यरश्मि तब दीखती है जब त्रसरेणु है। उसी प्रकार यदि यह चैतन्याभास है तो किस के ऊपर पड़ता है? वही बता रहे हैं 'जलार्कसमाः' जैसे पानी के अन्दर सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है वैसे ही अंतःकण के अन्दर आकर यह चैतन्य

प्रकाश प्रकाशित होता है। यदि हम लोग वायुमण्डल, स्ट्रेटोस्फीयर, से बहार चले जायें जैसे अंतरिक्ष यात्री गये हैं, तो बाहर जाने पर चारों तरफ अंधेरा दीखता है। जिस यान में बैठकर वे लोग चन्द्रमा या मंगल को जाते हैं, स्ट्रेटोस्फीयर से बाहर जाने पर उनके यान पर प्रकाश पड़ता दीखता है, लेकिन इधर-उधर कुछ नहीं दीखता। उसका कारण यही है कि वहाँ कोई पदार्थ प्रकाश्य नहीं हैं। यह नहीं कि वहाँ सूर्य का प्रकाश चारों तरफ नहीं है, लेकिन प्रकाश होने पर भी त्रसरेणु के अभाव में वह प्रकाश दीखता नहीं है। ठीक इसी प्रकार से जो परमात्मा प्रकाश सर्वव्यापक है वह सर्वव्यापक होने पर भी जब तक अंतःकरण के ऊपर नहीं पड़ता तब तक नहीं दीखता है।

परमात्मा का प्रकाश तो इस कुर्सी के ऊपर भी है लेकिन कुर्सी को कहाँ होता है कि 'मैं हूँ'। 'मैं हूँ'-पना इसमें नहीं है। अंतःकरण है तो 'मै हूँ'-पना है। अपने आपको जानना और दूसरे को जानना, यह जो कार्य है, यह अंतःकरण में जब उसका प्रतिबिम्ब पड़ेगा तभी होगा, दूसरी जगह नहीं। जैसे जल के अन्दर जब सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ेगा तब तो सूर्य का प्रतिबिम्ब दीखेगा। पड़ने को तो सीमेण्ट पर भी सूर्य की रोशनी पड़ रही है। यदि कहो कि अंतःकरण में ही क्यों यह गुण है? तो पदार्थों का अपना-अपना धर्म होता है। जैसे काँच में मुँह क्यों दीखता है, मिट्टी की दीवाल में क्यों नहीं दीखता? यह प्रश्न व्यर्थ है क्योंकि वह उसका स्वभाव या धर्म नहीं है। इसी प्रकार लोहे को गरम करो तो लोहा चम चम करके लाल चमकने लगता है। पानी को जितना गरम करो, वह लाल नहीं चमकेगा। पानी गर्मी को तो ग्रहण कर लेता है लेकिन प्रकाश को अग्नि से नहीं ग्रहण कर सकता। इसी प्रकार जो जड पदार्थ कहे जाते हैं, ये ब्रह्म से सत्ता तो ले लेते हैं इसलिये 'यह है' ऐसी प्रतीति तो होती है, लेकिन ये उसकी ज्ञानरूपता को नहीं लेते। सत्ता को लिया, ज्ञानरूपता को नहीं लिया। अंतःकरण में यह शक्ति है कि यह सत्ता के साथ ज्ञानरूपता को भी ले लेता है। इसलिये अंतःकरण ज्ञानरूप होकर व्यवहार करता है। बाकी चीज़ों में केवल सत्ता काम करती है। अब अंतःकरण की जो शांत अवस्था है, वृत्तिशून्य अवस्था है उसमें एक और ताकत है। वह ब्रह्म के आनंद रूप को भी ग्रहण कर लेती है। इसीलिये अंतःकरण में ज्ञान अवस्था तो हमेशा रहेगी लेकिन आनंद अवस्था हमेशा नहीं रहती है। जब जब अंतःकरण वृत्तिशून्य शान्त अवस्था में होगा तब तब आनंद होगा, बाकी समय उसका नाम निशान भी नहीं, अंतःकरण ज्ञानरूपता को ग्रहण करके भी आनंदरूपता को ग्रहण नहीं कर पाता। आनंदरूपता को वृत्तिशून्यता होने पर ग्रहण करता है। यह उसके अन्दर क्रमशः भेद हो गया। इसलिये भगवान् भाष्यकार ने यहाँ जलार्कसम का दृष्टांत दिया।

यह अंतःकरण तीन प्रकार से व्यवहार करने वाला हो गया। जब इन्द्रियों के द्वारा बाहर व्यवहार करता है तब उसे विश्व नाम से कह देते हैं। जब बाहर के पदार्थों को ग्रहण न कर अंदर ही अंदर चिंतन करता है तो तैजस और जब कोई करण नहीं रहा

तो प्राज्ञ कह दिया जाता है। अब भाष्यकार कहते हैं कि प्राज्ञ तैजस विश्व से सब जगह समझना कि जितने शरीरभेद हैं, चाहे ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, कोई हो, वे सारे के सारे उस परब्रह्म परमात्मतत्त्व के एक प्रकाश को एक उपाधि के अन्दर प्रकट करते हैं। उनकी उपाधि बहुत बड़ी होती है, हमारी उपाधि बहुत छोटी होती है, यह बात दूसरी है, इसलिये देव तिर्यक् कह दिया। चाहे देवता हो, चाहे छोटी सी चींटी हो, इन सब देहों के अन्दर प्राज्ञ, तैजस, विश्व रूप से भिन्न होकर प्रकाश रूप से स्थित होने वाला तो एक सूर्य परब्रह्म परमात्मा ही है। जैसे चाण्डाल के घड़े में प्रतिबिम्बित होने वाला सूर्य और गंगोत्री के शुद्ध जल में प्रतिबिम्बित होने वाला सूर्य एक ही है, दो नहीं है। यह याद रखोगे तो भागवत की यह पंक्ति ठीक समझ में आयेगी 'प्रणमेद् दण्डवद् भूमौ अश्वचाण्डालगोखरान्' अश्व, चाण्डाल, गौ, गधा सबको दण्डवत् प्रणाम करो। ऐसा नहीं कि गधा और गौ एक ही हैं। ऐसा उलटा अर्थ नहीं समझ लेना। लेकिन गधे में रहने वाला परमात्मतत्त्व और गाय में रहने वाला परमात्मतत्त्व अभिन्न है। जैसे मल से युक्त गंदी नाली का पानी तो नहीं पी सकते, लेकिन उसमें प्रतिबिम्बित वह सूर्य ही हो रहा है जो गंगोत्री में प्रतिबिम्बित हो रहा है। सूर्य को पहचानने में भूल नहीं होती। उसी प्रकार गंगोत्री के शुद्ध ज़ल को पी तो सकते हो, यह फरक रहो लेकिन उसमें प्रकाशित होने वाला प्रतिबिम्बित सूर्य कोई दूसरा हो, ऐसा नहीं, वह तो सर्वत्र एक ही है।

मूर्ख के अन्दर भी ज्ञान का प्रकाश वैसा ही है जैसा महापंडित के अन्दर, ज्ञान में कोई भेद नहीं है, उपाधि का भेद है। किसी की बुद्धि धीमी और किसी की तेज है, लेकिन जिस समय बुद्धि की वृत्ति बनती है, एक जैसी ही बनती है। अन्यत्र यह शंका किसी ने उठाई है कि यह ब्रह्मज्ञान तो प्राचीन ऋषियों को जो महातपस्वी महासत्वगुणी होते थे, उनको होता होगा, आजकल के कलियुग में जन्म लेने वाले अपवित्र लोगों को ब्रह्मज्ञान कैसे हो सकता है? इस शंका का जवाब भगवान् भाष्यकार देते हैं कि जैसे वसिष्ठ, विश्वामित्र का ब्रह्मज्ञान, वैसे ही आज के ब्रह्मज्ञानी का ब्रह्मज्ञान, दोनों में कोई भेद नहीं। तपस्या आदि का फल है कि वे शाप-अनुग्रह में समर्थ थे, यह फरक तो हो सकता है, लेकिन जब ब्रह्माकार वृत्ति बनकर ब्रह्मज्ञान हुआ तो दोनों के ज्ञानों में कोई फरक नहीं है। जैसे किसी ने पूछा कि फाउण्टेन पैन कैसे भरना है? उसको एक बार समझा दिया तो उसकी समझ में आ जाता है। एक बार हमको किसी ने एक फाउण्टेन पैन दिया और कहा कि इसे स्याही में रख दीजिये तो भर जाता है। हम खुश हुए कि भरने का टण्टा नहीं करना पड़ेगा। हमने उसे काफी देर तक स्याही में रखा, लेकिन नहीं भरा गया। फिर रखा, टेढ़ा मेढ़ा सब करके देख लिया लेकिन अंततोगत्वा रख दिया कि नहीं भरेगा। फिर वे सज्जन आये तो हमने पूछा कि 'यह पैन तो गड़बड़ है, खोलकर भी देख लिया लेकिन स्याही भरने का उपाय नहीं दीखता।' तब उन्होंने बताया कि इस पैन के मुँह को, निब वाले हिस्से को, स्याही में डालोगे तो नहीं भरेगा, उसकी

दुम को डालोगे तो भरेगा! हम निब वाले हिस्से से ही भरने की कोशिश करते रहे थे। हो सकता है कि किसी दूसरे व्यक्ति को यह प्रक्रिया समझने में और ज्यादा समय लगे, लेकिन जब समझ में आयेगा तो ज्ञान में कोई फरक नहीं होना है। जब तक हमारी समझ में नहीं आया तो पंद्रह दिन तक हज़ार तरह से कोशिश करते रहे, कुछ नहीं हुआ। लेकिन समझ में आने के बाद हमारे में और उस जानकार व्यक्ति में कुछ फरक नहीं रह गया, उसके पहले चाहे जितना फरक रहा हो। कोई कहे कि 'उसका तो बहुत पुराना ज्ञान है, उसने हज़ारों पैनों का प्रयोग किया, आपको एक ही पैन का ज्ञान है, आप ठीक नहीं समझे' तो यह नहीं माना जा सकता। दूसरी तरह के पैनों के बारे में उसका ज्ञान रहो, लेकिन इसके बारे में ज्ञान दोनों का एक जैसा ही है, इसमें कोई संदेह की बात नहीं है। इसी प्रकार ब्रह्मविषयक ज्ञान जब हमको तत्त्वमस्यादि महावाक्य से हुआ तो उस ज्ञान में हमारे में और वसिष्ठ जी में कोई फरक नहीं है क्योंकि चीज़ समझ ली। लेकिन वह महातपस्वी थे, शाप अनुग्रह आदि उनके पास और चीज़े थीं, वे हमारे पास न हों, यह दूसरी बात है लेकिन ब्रह्मज्ञान तो वैसा ही है। इसलिये देव, तिर्यक् आदि जितने शरीरों के भेद हैं वे विभाव्यमान हैं। उनका विभावन करते रहो, चाहे जितने भेद हों कोई घबराने की जरूरत नहीं है। वे सारे उसी परब्रह्म परमात्मा की किरणें हैं। भेदबुद्धि केवल उपाधि से है। उपाधि को छोड़कर कोई भेदक प्रत्यय नहीं है।

ये अलग अलग हुए क्यों हैं? एक ही शरीर भगवान् बना लेते, इतने काहे के लिये बनाये? 'पृथग्विषयभावविलक्षणान्' जीव की पृथक्ता के अन्दर हेतु दिया कि एक साथ एक विषय के प्रति एक अंतःकरण अनेक दृष्टि वाला नहीं बन सकता है। इसलिये पृथक् पृथक् विषय और पृथक् पृथक् भावों की ज़रूरत है। जैसे चार औरते हुई, ये अलग-अलग विषय हुए और एक ही औरत के अन्दर यह मेरी माँ, यह मेरी बेटी, यह मेरी बहन इत्यादि भाव अलग हो गये। विषय भिन्न-भिन्न हैं, भाव भिन्न-भिन्न हैं, यह अनंत सृष्टि के अंदर हेतु है। उसने अनेक जीवों की सृष्टि क्यों की, इसमें यह हेतु दे दिया। 'अग्निविस्फुलिंगवत्सलक्षणाञ्जलार्कवच्च जीवलक्षणांस्त्वितरान् सर्वभावान्प्राणो बीजात्मा जनयति 'यथोर्णनाभिः' 'यथाग्नेर्विस्फुलिंगाः' इत्यादिश्रुतेः।।' अग्नि से चिनगारियाँ निकलती हैं, जैसे वे अग्नि से समान जाति की हैं, वैसे ही यहाँ भी एक समान जाति हो गई, उसी लक्षण वाले दोनों हैं जैसे जल में सूर्य। यही जीवों का लक्षण अर्थात् स्वरूप है। जैसे जीव बनाये, वैसे ही दूसरे सारे जड पदार्थ भी समझ लेना। 'सर्वभावान्प्राणो बीजात्मा जनयति' वह जो प्राण है वही बीज है और वही सबको उत्पन्न करता है जैसे मकड़ी अपने जाले को उत्पन्न करती है और जैसे अग्नि से चिनगारियाँ निकलती हैं। ये मुण्डक और बृहदारण्यक श्रुतियों के प्रमाण से ऊपर कहे हुए पुरुष को स्पष्ट कर दिया।।६।।

अब तक विचार किया कि जैसे अग्नि से चिनगारियाँ निकलती हैं, वैसे ही परमात्मा से जीव होते हैं। जैसे अग्नि में चिनगारी और दावाग्नि दोनों भाव कल्पित हैं बड़ी उपाधि को देखकर उसे दावाग्नि कह दिया और छोटी उपाधि को देखकर उसे चिनगारी कह दिया जबकि अग्नि में कोई फरक नहीं है, इसी प्रकार यहाँ बड़ी उपाधि को देखकर देवता कह दिया, मध्यम उपाधि को देखकर मनुष्य और छोटी उपाधि को देखकर पशु कह दिया, उपाधिगत भेद है वस्तुगत भेद नहीं है। इस जीव की उत्पत्ति को ठीक प्रकार न समझने के कारण ही कुछ विचारकों ने जीव को सादि माना और ईश्वर से उत्पन्न होने वाला माना। वस्तुतः उत्पत्ति का तात्पर्य प्रतीतिमात्र है उससे अतिरिक्त नहीं। जिन्होंने ईश्वर से इस जगत् और जीव की उत्पत्ति मानी वे क्या सोचते हैं? उसके बारे में आगे बताते हैं

विभूतिं प्रसवं त्वन्ये मन्यन्ते सृष्टिचिन्तकाः ।
स्वप्नमायासरूपेति सृष्टिरन्यैर्विकल्पिता ।।७।।

इसमें 'अन्ये' के द्वारा बताया कि वे वेदांत विचार को ठीक प्रकार से नहीं समझते हैं। वेदांतशास्त्र ब्रह्मशास्त्र हुआ, ब्रह्मशास्त्र में प्रवृत्ति करके भी जो इसके रहस्य को नहीं समझते वे 'अन्य' हैं। न समझने में हेतु वैराग्य का अभाव है। इसीलिये जो उस आत्मतत्त्व को नहीं जानता है उसी को उपनिषदों में कृपण कहा है। जो उस तत्त्व का साक्षात्कार किये बिना मर जाता है वह कृपण है ऐसा बृहदारण्यक उपनिषद् में बताया। 'कृपणधीः परिणाममुदीक्षते' संक्षेपशारीरक में भी उसे कृपण बुद्धि वाला कहा। क्यों ऐसा कहा? कंजूस व्यक्ति धन के लोभ के कारण डाक्टर के पास भी नहीं जाता, सोचता है कि डाक्टर के पास जायेंगे तो खर्चा हो जायेगा। नीलकण्ठ दीक्षित ने कृपण का दृष्टांत देते हुए कहा है कि कृपण कैसा होता है? 'भैषज्येषु च लंघनम्' दवाई में उन्हें हमेशा लंघन अच्छा लगता है। कभी कोई रोग हो तो कहते हैं 'लंघनं परमौषधम्' कुछ मत खाओ, बस यही परम औषधि है। 'यज्ञानां जपयज्ञस्तु' यज्ञों में उन्हें जपयज्ञ अच्छा लगता है क्योंकि दूसरे यज्ञों में कुछ खर्च करना पड़ता है। 'वर्तते लोभशालिनाम्' लोभशालियों को यही अच्छा लगता है। एक आदमी लोभी था। लोग कहते थे कि यह कभी किसी को कुछ नहीं देता है। उसने कहा कि 'लोग मेरे को व्यर्थ बदनाम करते हैं कि कुछ नहीं देता हूँ। सवेरे झाड़ू देता हूँ, माँगने वालों को धक्का देता हूँ, ठाकुर जी के सामने धोक देता हूँ, पाग में पेच देता हूँ आदि कई चीज़ें देता हूँ। फिर भी लोग मुझे बदनाम करते हैं।' इसी प्रकार जगत् के बारे में विचार होकर जब जगत् की असत्यता सिद्ध होती है तो कृपण बुद्धि वाला असत्यता से प्रयुक्त वैराग्य के अभाव में किसी न किसी प्रकार जगत् की सत्ता मानना चाहता है और इस सत्ता मानने के कारण ही तत्त्व का साक्षात्कार नहीं कर पाता।

अगर आधुनिक भाषा में कहें तो पक्षपाती मन वाला (biased mind) जो व्यक्ति होता है वह वैज्ञानिक सत्य का उद्घाटन नहीं कर सकता। जो पहले ही किसी आग्रह वाला बन जाता है— उसे आग्रह, राग, आसक्ति किसी नाम से कहो, एक ही चीज़ है— वही पक्षपाती है। मन में यदि किसी प्रकार का आग्रह आ गया तो वह फिर सत्य का दर्शन नहीं करने देता। हम लोग प्रायः यही गलती करते हैं कि तत्त्व-विवेचन करते हुए पहले यह मान लेते हैं कि नतीजा यह निकले तो मेरे मन का होगा। यह सोचकर फिर विचार करना प्रारंभ करते हैं या शास्त्र पढ़ना प्रारंभ करते हैं कि ऐसा इसमें से निकलना चाहिये। इसी से तत्त्व-दर्शन नहीं हो पाता। तत्त्व-दर्शन के लिये मन में किसी प्रकार का पूर्वाग्रह (preconceived notion) नहीं होना चाहिये। अच्छा वैज्ञानिक जानना चाहता है कि वहाँ क्या है। वह चीज़ मन के लायक, मन के विरुद्ध निकले, हम जो मानते रहे हैं उससे बिल्कुल विपरीत निकले, इन चीज़ो में वैज्ञानिक का आग्रह नहीं है। बल्कि जो सत्य है, वह हमारे सामने आये। हमारी बात या हमारा सिद्धान्त सत्य है यह आग्रह है, और जो सत्य है वह हमारा सिद्धान्त है यह वस्तुतः अनाग्रह है। संसार की सत्यता किसी न किसी प्रकार से बनी रहे, यह आग्रह हमें तत्त्वदर्शन नहीं करने देता। संसार सत्य सिद्ध होगा तो मान लेंगे और असत्य सिद्ध होगा तो मान लेंगे, यह विवेकी की दृष्टि हुई। जिस संसार में रात दिन रहना है, व्यवहार करना है, उसे असत्य मानेंगे तो कैसे चलेगा?— यह आग्रह है। नहीं चलेगा तो न चलो, हमें तो तत्त्व की दृष्टि करनी है कि वास्तविकता क्या है?

वेदांतों ने तो प्रतिपादन किया कि जैसे सूर्य और उसकी रश्मि केवल उपाधिभेद से भिन्न हैं वस्तुतः एक ही हैं, वैसे ही परमेश्वर और जीव भी उपाधिभेद से भिन्न हैं, वस्तुतः अभिन्न हैं, एक ही हैं। लेकिन जो संसार-सत्यत्ववादी हुए उन्होंने इससे जीव की उत्पत्ति मान ली। पांचरात्र आगम वासुदेव से संकर्षण उत्पन्न हुए, संकर्षण से प्रद्युम्न और प्रद्युम्न से अनिरुद्ध उत्पन्न हुए, ऐसा मानते हैं। वासुदेव परमेश्वर से ही संकर्षण जीव उत्पन्न हुआ, उससे फिर आगे प्रद्युम्न अर्थात् मन उत्पन्न हुआ, ऐसी प्रक्रिया उन्होंने मान ली। उन्हीं का मत 'अन्य' के द्वारा बताते हैं। यद्यपि ये भी विचारशील हैं तथापि संसार को सत्य मानने के कारण 'अन्ये' कहे गये। इसलिये उनका विशेषण दिया 'सृष्टिचिन्तकाः', सृष्टि की चिन्ता में जो लगा रहे वही सृष्टिचिंतक है। वस्तुतः दार्शनिक को वेदांत का तत्त्वचिंतक बनना चाहिये लेकिन वैराग्य के अभाव में सृष्टिचिंतक बन जाता है। जो सृष्टि की चिंता करने लगते हैं, वे क्या मानते हैं? 'विभूतिं प्रसवं मन्यन्ते' वे मानते हैं कि यह जो संसार है, यह परमेश्वर की विभूति है, परमेश्वर का ऐश्वर्य है। वे भी अपने मन लायक कहीं से श्लोक उठा लेते हैं 'यद् यद् विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंशसंभवम्'।।१०-४१।। भगवान् ने कहा है इसलिये हमारी बात सिद्ध हो गई। किस प्रकरण में क्या कहा है, इससे कोई मतलब नहीं।

यह जो सृष्टि है, जीव और जगत् यह परमेश्वर की विभूति है अर्थात् परमेश्वर का ऐश्वर्य है। अब यदि उससे आगे पूछ लो कि कोई आदमी झोपड़ी बनाकर उसमें रहे और मान लो ऐसे सौ झोपड़े भी उसने बना लिये जहाँ एक तरफ गंदी नाली बह रही है, दूसरी तरफ कूड़ा-कचरा रखा हुआ है, उसके अन्दर वह रहे तो क्या उसको तुम बड़ा आदमी मानोगे? या जो दो कमरे का फ्लैट चाणक्यपुरी में बनाकर रहता है, उसे बड़ा मानोगे? उसके पास चाहे दो ही कमरे हैं लेकिन बढ़िया नगरी में रह रहा है तो उसी को बड़ा मानेंगे। इसी प्रकार से जब विश्व ब्रह्माण्ड में देखते हैं तो चारों तरफ दुःख ही दुःख देखने में आता है। यदि यह जगत् परमेश्वर का 'ऐश्वर्य' है तो वह बेचारा बड़ा ही गरीब है कि संसार को बनाया और दुःखी बनाया। दो-चार सुखी बाकी सब दुःखी ही दुःखी हैं। यह कैसा ऐश्वर्य बनाया? इससे अच्छा तो वह इतना बड़ा विस्तार न करता, दो चार रूप ही लेकर सुख से तो रहता। विचारशील को तो यह बात खटक जायेगी कि यह काहे की विभूति या ऐश्वर्य है, केवल संख्या बढ़ाने से थोड़े ही ऐश्वर्य हो जायेगा। सृष्टि-चिंतक मानते हैं कि यह सृष्टि परमेश्वर के ऐश्वर्य-प्रख्यापन के लिये है।

'सृष्टिचिंतकाः' में बहुवचन तात्पर्य वाला है। यह वैभव कैसा है, इसके बारे में पुनः भिन्न भिन्न दार्शनिकों ने भिन्न भिन्न दृष्टि अपनाई है। कोई कहता है कि देखो उसने नक्षत्र तारे आदि बनाये, यह कितना बड़ा उसका ऐश्वर्य है और यह दुःख तो हम लोगों ने अपने राग-द्वेष से बना लिया है। हम लोगों के राग-द्वेष उसने शुरू किये या हमने किये? हमने किये तो उसने हमको बनाया नहीं, हम पहले से हैं, और उसने किये तो वही दोष वैसा का वैसा आ गया। परमेश्वर के ऐश्वर्य के विषय में भी फिर जिज्ञासा होती है कि उसका कितना ऐश्वर्य, कितनी कीर्ति मानी जाये। इस विषय में अनेक मतभेद हैं। यहाँ साक्षत् ईश्वर का नाम नहीं लिया है, यद्यपि भाष्य में कहा गया है। वह इसलिये कि मीमांसक इत्यादि ईश्वर को न मानकर भी इसको ऐश्वर्यरूप ही मानते हैं। बहुत से लोग इसे ईश्वर का वैभव नहीं मानते। वे कहते हैं कि यह सृष्टि कर्म का वैभव है। शुभ अशुभ कर्म करके यह संसार उत्पन्न होता है। आधुनिक लोग भी बहुत से ऐसा ही मानते हैं 'देखो मनुष्य ने कितनी उन्नति की, अमरीका में, रूस में कैसी उन्नति हो गई, कैसा समाज बन गया।' यहाँ ईश्वर का ऐश्वर्य या वैभव न मानकर कर्म का वैभव मान लिया। उनका कहना है कि प्रयत्न किया तब तो इतनी सब उन्नति हुई। उनसे कहो कि 'ठीक है कि अमरीका ने खूब ऐश्वर्य बढ़ा लिया लेकिन जो गुण्डागर्दी (gangsterism) चला, उसकी ज़िम्मेदारी भी लेते हो?' तो कहते हैं 'वह सब जाने दो।' कर्म से यदि उन्नति हुई तो वह भी तो देखो। रूस के अन्दर खूब समाज व्यवस्था हुई लेकिन वहाँ जो बड़े से बड़े नोबल प्राइज़ जीतने वाले लोग हैं, वे नोबल प्राइज़ लेने नहीं जा सकते, दुनिया उन्हें बहुत बड़ा मानती है। लेकिन वहाँ की सरकार सोचती है कि लेने जायेंगे तो पता नहीं वापिस भी

आयेंगे या नहीं। यह कैसी समाज व्यवस्था है? कर्म के विचार में दोनों एक साथ ही आने पड़ेंगे। 'मीठा मीठा गप्प और कड़वा कड़वा थू' वाला हिसाब नहीं चलेगा। हिन्दुस्तान के अन्दर जितनी गरीबी, स्लम, हरिजनों का पिछड़ापन है उन सबका कारण तुम लोग, जनता, लेकिन दिल्ली में जितने मकान बन गये, फैक्ट्रियाँ खुल गयीं, उसका कारण सरकार। एक का कारण कोई और दूसरे का कारण कोई और ही! ऐसा ठीक नहीं, कारण बनेगा तो दोनों का, नहीं तो दोनों का नहीं। जैसे ये कर्म की व्यवस्था मानते हैं वैसे ही कर्म की व्यवस्था वे लोग स्वर्ग आदि में मानते हैं कि देखो कर्म की महिमा, आदमी ब्रह्म बन जाता है। सौ अश्वमेध करके इन्द्र बन जाता है, यह कर्म की महिमा है। चाहे इहलौकिक, चाहे पारलौकिक कर्म का वैभव मानें, हर हालत में सृष्टि को वे ऐश्वर्य समझते हैं, इसकी असली रूपता का ग्रहण नहीं करना चाहते।

यह एक मत हुआ जिसको भगवान् भाष्यकार इस प्रकार बताते हैं 'विभूतिर्विस्तार ईश्वरस्य सृष्टिरिति सृष्टिचिन्तका मन्यन्ते न तु परमार्थचिन्तकानां सृष्टावादर इत्यर्थः।' विभूति का अर्थ कर दिया विस्तार। किस का विस्तार है? परमेश्वर ने विस्तार किया, यही सृष्टि है। अपने एश्वर्य का ख्यापन करने के लिये कि मेरा कितना महत् ऐश्वर्य है। एक शंका आगे आयेगी 'क्रीडार्थमिति चापरे' उसका जवाब यहाँ समझ लो, वहाँ फिर समझ लेना। कोई आदमी अपने गुण का ख्यापन कब करता है? जब उसे अपने आप से संतोष नहीं होता। जिस आदमी को जितना ज्ञान होता जाता है, उतना ही उसके अन्दर मान आता जाता है। जिस आदमी में जितना ज्ञान कम होता है वह उतना ही ज्यादा बोलता है, यह स्वाभाविक नियम है। छोटा बच्चा जब पहले पहल सीखता है कि नमक का रसायनशास्त्र में नाम सोडियम क्लोराइड है तो घर में आकर माँ से कहता है 'मुझे सोडियम क्लोराइड दो।' माँ पूछती है— 'क्या दूँ?' कहता है 'सोडियम क्लोराइड दो। अरे! तुम्हें पता नहीं? नमक को कहते हैं।' लेकिन जो कैमिस्ट्री का नोबल लारियेट है क्या वह इस प्रकार अण्डबण्ड बात बोलेगा? नहीं। इसी प्रकार जब पहले पहल ब्रह्मविद्या समझाते हैं कि यह शरीर अनात्मा है और फिर उससे पूछते हैं कि तुम्हारा नाम क्या है? तो वह कहेगा 'इस शरीर को लोग केशव कहते हैं।' याज्ञवल्क्य महर्षि जाकर जनक के सामने खड़े होते हैं। जनक कहते हैं— 'क्या ब्रह्मविद्या जानते हो।' वे जवाब देते हैं 'गोकामा वयम्' मैं गौएँ चाहता था, इसलिये आ गया।' उन्हें भय नहीं कि मैं कहूँ कि मैं कामना वाला नहीं, नहीं तो सर्टिफिकेट छिन जायेगा कि मैं ब्रह्मवेत्ता नहीं। जैसे बच्चा सोडियम क्लोराइड घर पर आकर बोलता है, वैसे ही वह बोलता है कि इस शरीर को केशव कहते हैं। पैदा होने से पहले का नाम तुम्हें तो क्या तुम्हारे बाप को भी पता नहीं, तुमसे पहले जन्म का नाम पूछेंगे क्यों? पूछने का मतलब ही है कि इस शरीर का नाम पूछ रहे हैं। ख्यापन अपने ज्ञान का मनुष्य तब करता है जब अंदर कुछ असंतोष हो। किसी भी गुण को लो। ब्राह्मणों में एक उक्ति प्रसिद्ध है। ब्राह्मण गरीब होते हैं।

एक ब्राह्मण को किसी ने एक अंगूठी दी। एक दिन न्यात हुई। न्यात में जब लड्डू परोसे तो वही हाथ सामने कर के कहे 'लड्डू लेंगे?' जिससे सामने वाला अँगूठी देख ले। एक दो बार ऐसा हुआ तो वहाँ एक ब्राह्मण ने बाजूबंद पहन रखा था। अब जब वह अगली बार परोसने आया और फिर अपना वही अँगूठी वाला हाथ दिखाकर पूछा 'लड्डू लेंगे?' तो उसने अपना बाजूबन्द दिखाकर कहा 'नहीं लेंगे।' ख्यापन हमेशा अंदर की कमी को बताता है। अगर ईश्वर ने इस जगत् का निर्माण अपने ऐश्वर्य के ख्यापन के लिये किया तो इससे सिद्ध होता है कि उस ईश्वर में कोई कमी थी, कुछ असंतोष था। असंतोष वाला और न्यूनता का अनुभव करने वाला तो हमारी ही जाति का कोई एक विशिष्ट हो सकता है; हम से ज्यादा ताकत हो, यह दूसरी बात है, लेकिन जैसा हम नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त सच्चिदानंद रूप परमात्मा को समझते हैं, वैसा वह सिद्ध नहीं होगा इसलिये कहा 'विभूतिर्विस्तार ईश्वरस्य सृष्टिरिति सृष्टिचिन्तका मन्यन्ते।'

'न तु परमार्थचिन्तकानां सृष्टावादर इत्यर्थः।' जो परमार्थचिंतक, परम प्रयोजन या परम तात्पर्य समझने वाले हैं, जिनकी वास्तविक स्थिति है, उनको सृष्टि में आदर नहीं अर्थात् सृष्टि की व्यवस्था ज़रूर बनानी है उनका ऐसा आग्रह नहीं। जो चीज़ जैसी है वैसी ही वे ग्रहण करना चाहते हैं, तत्त्व को समझना चाहते हैं। इसलिये जो परमार्थचिंतक होते हैं उनका सृष्टि में आदर नहीं होता। आदर, अर्थात् इसकी व्यवस्था कुछ ज़रूर बननी चाहिये ऐसी उनकी दृष्टि नहीं होती है। व्यवस्था है तो उसे समझ लेंगे, नहीं है तो नहीं है इस बात को समझ लेंगे। ''इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' इति श्रुतेः। न हि मायाविनं सूत्रमाकाशे निक्षिप्य तेन सायुधमारुह्य चक्षुर्गोचरतामतीत्य युद्धेन खण्डशश्छिन्नं पतितं पुनरुत्थितं च पश्यतां तत्कृतमायादिसतत्त्वचिन्तायामादरो भवति।' इन्द्र माया से अनेक रूपों को धारण करता है, प्राप्त कर लेता है। माया को कारण साक्षात् वेद कह रहा है। एक दृष्टांत सुनाते हैं। पहले यह खेल बहुत हुआ करता था। अंग्रेजों ने संस्मरणों में इसका वर्णन किया है। मायावी या ऐन्द्रजालिक होता है जो जादू दिखाता है। वह पहले धागा लेता है और उसे आकाश में फेंक देता है। फिर उसी धागे से अस्त्र शस्त्र लेकर ऊपर चढ़ जाता है, चढ़ते चढ़ते ऊपर चला जाता है। तब दिखाई नहीं देता मानो स्वर्ग को चला गया। फिर ऊपर से टुकड़े टुकड़े होकर उसके अंग नीचे गिरते हैं। फिर थोड़ी देर के बाद वह उतर आता है। यह सारा खेल देखकर 'तत्कृतमायादिसतत्त्वचिन्तायामादरो भवति।' इसने कैसे यह सब दिखा दिया, कैसे हो गया, क्या कार्य-कारण-भाव है? इसमें कोई आदर भाव नहीं होता, क्योंकि जानते हैं कि यह उसकी माया है, खेल है। पी॰ सी॰ सरकार एक जादूगर था। वह एक बार दिल्ली में आया। वह लड़की को दो टुकड़ों में काट देता था। यह जानना थोड़े ही चाहते हो कि कैसे काटा, क्योंकि पता है कि उसकी अपनी माया है। खेल देखने पहुँचते हैं तो इसलिये थोड़े ही पहुँचते हैं कि उसमें आग्रह करें कि कैसे हुआ, हो ही नहीं सकता। हो सकता होता तो वहाँ काहे को दिखाता। दिखा रहा है तो कोई उसकी कला है जिसके द्वारा दिखा देता है।

जो प्रामाण्य-चिंतक लोग होते हैं, वे सृष्टि है, दीख रही है, इतने मात्र से इसमें ज़रूर किसी प्रकार की व्यवस्था होगी, ऐसी मान्यता नहीं रखते। उस मायावी के द्वारा की हुई जो वह माया है उसमें किसी प्रकार की व्यवस्था बननी ही चाहिये, ऐसी चिंता नहीं करते। लोग तो यहाँ तक चिंता करते हैं कि ज्ञान हो जाने से सृष्टि की प्रतीति नहीं होगी और धीरे धीरे सबको ज्ञान हो जायेगा तो फिर दुनिया का क्या होगा? जब हम उनसे कहते हैं 'दूसरे से तुम्हें जलन क्यों, सब मुक्त हो जायेंगे तो इसमें तुम्हारा हर्जा क्या है?' तब वे कहते हैं 'फिर इस दुनिया का क्या बनेगा?' यह जो मन के अन्दर बैठा हुआ है वह मनुष्य को तत्त्व-चिंतन से गिरा देता है, तत्त्वचिंतन में स्थिर नहीं रहने देता। ऐसा नहीं समझ लेना कि केवल तत्त्वचिंतन में लोगों की ऐसी शंका है, लोग कई बार कहते हैं कि अगर सब लोग पढ़ जायेंगे तो फिर मजदूरी कौन करेगा? ऐसा प्रश्न करते हैं। हम कहते हैं, 'तुम कर लेना।' अगर सब पढ़ जायेंगे और मजदूरी के बिना काम चले तो प्रसन्नता होनी चाहिये कि दूसरों को मेहनत नहीं करनी पड़ेगी। इसी प्रकार की यह शंका है कि सबकी मुक्ति हो जायेगी तो फिर बंधन में कौन रहेगा? यही शंका है। जो केवल तत्त्व को समझने वाले प्रामाण्य-चिंतक हैं वे इस प्रकार से नहीं सोचते।

'तथैवायं मायाविनः सूत्रप्रसारणसमः सुषुप्तस्वप्नादिविकासस्तदारूढमायाविसमश्च तत्स्थः प्राज्ञतैजसादिः, सूत्रतदारूढाभ्याम् अन्यः परमार्थमायावी।' जैसे यह दृष्टांत है, वैसे ही यह जो तुम्हारा आत्मा है, यह भी एक मायावी है। जैसे माया में समझ में कुछ नहीं आता, दीखता है, ऐसे ही जब हम इस संसार के अनुभवों की व्यवस्था बनाना चाहें तो कुछ समझ में नहीं आता, बस प्रतीत हो रहा है, इतना ही समझ में आता है। जितनी व्यवस्था बनाओ सबमें दोष ही दोष निकलते हैं। इससे पूर्व भी संकेत से बता दिया था, आगे विस्तार से इसी को बताना है। खास यही बात माण्डूक्य कारिका में बतानी है कि जितनी सम्भव व्यवस्थायें हैं उन सबमें क्या दोष हैं। जब सब सम्भव व्यवस्थाओं के अन्दर दोष हुआ तो अपने आप सिद्ध हो गया कि इस सृष्टि के विषय में कुछ भी कहा नहीं जा सकता। यह अनिर्वचनीय वाद है। व्यवहार चलाने के लिये कुछ भी मान लो लेकिन पारमार्थिक दृष्टि से कुछ भी नहीं बनता। जैसी भी व्यवस्था बनाओ, उसमें दोष निकल ही आयेंगे। इसलिये कह दिया कि यह तुम्हारा आत्मा मायावी है, यही वेदांत का सिद्धान्त है। 'स्वशक्त्या नटवद् ब्रह्म कारणम्' जैसे नट अपनी शक्ति से खेल दिखाता है ऐसे ही तुम अपने आपको अपना खेल दिखा देते हो। जैसे वह धागे आदि को फैलाता है, वैसे ही तुम भी अपना बाजार स्वप्न, सुषुप्ति जाग्रत् का फैलाते हो। कभी एक को बटोर कर दूसरा फैलाते हो। जैसे वह धागा खेल दिखाने के बाद उस आदमी के पास नहीं दीखता, उसी प्रकार जब यहाँ तुम जाग्रत् को समाप्त करके स्वप्न में जाते हो तो उसका ठिकाना नहीं मिलता। सुषुप्ति में दोनों का ठिकाना नहीं मिलता। यदि सच्चा होता तो कुछ कहीं होता तो सही। यह तुम्हारी माया है, चीजें निरवशेष खत्म

होती रहती हैं। स्वप्न में कितनी बड़ी दुनिया बन गई, और वहाँ से निकले तो कुछ भी नहीं। जाग्रत् में भी तो साठ सत्तर साल तक सारे काम फैलाते हो। यह मेरा बेटा, यह मेरे बेटे का बेटा, यह मेरी बेटी का जवाई, यह मेरी बेटी के जवाई का बाप। क्या क्या कल्पनायें करते रहते हैं। उसके बाद जहाँ सौ साल पूरे हुए, आजकल तो वह भी टेढ़ा मामला है, जाने के बाद क्या कुछ सावशेष है? कुछ बचा हुआ नहीं है। जो सृष्टि में दृढ आग्रह वाले हैं वे मानते हैं कि यह सब मेरे बिना नहीं चल सकता।

महात्माओं में एक कथा प्रसिद्ध है। एक आदमी को गुरु बराबर कहा करता था 'यह सब चिंता छोड़, भजन में मन लगा।' उसने पूछा— 'कैसे भजन में लगूँ। मुझे घर की सारी व्यवस्था करनी पड़ती है। मैं न करूँ तो घर वाले मर जायेंगे।' महात्मा ने कहा 'तू साल भर के लिये तीर्थयात्रा को जा।' वह चला गया। दो तीन महीने बाद महात्मा उसके घर पहुँचे और उसकी घरवाली से कहा 'बड़ी बुरी खबर आई है। वह ब्रह्मकुण्ड में नहा रहा था। उसका पैर फिसल गया और मर गया। उसका तेरहवाँ भी हो गया है।' महात्मा ने अपने सब शिष्यों को इकट्ठा करके कहा 'वह मेरे कहने से तीर्थयात्रा करने गया था और मेरा बड़ा प्रिय भक्त था, तुम लोग मिलकर कुछ इंतजाम कर देना।' किसी ने कहा मैं कपड़े पहुँचा दूँगा, किसी ने कहा मैं गेहूँ पहुँचा दूँगा, इस प्रकार सबने काम बाँट लिया। जब चार पाँच महीने हो गये तो एक दिन महात्मा जी ने फिर उसके घर जाकर उसकी घर वाली से कहा 'वह मरा लेकिन उसके प्राण तुम्हारे में रह गये, इसलिये उसकी सद्गति नहीं हुई। वह प्रेत बन गया है। कभी आये जाये तो जरा सावधान रहना।' थोड़े दिन में उसकी यात्रा खत्म हुई तो साल भर बाद वापिस आया और सीधे महात्मा जी के पास पहुँचा। बारह बजे का समय था। आकर नमस्कार किया और कहा 'बड़े आनन्द से यात्रा हो गई, अब घर जाऊँ।' महात्मा ने कहा 'अभी मुहूर्त ठीक नहीं, अभी यहीं भोजन करके आराम करो, रात में चले जाना।' रात के दस बजे घर पहुँचा तो नीचे से आवाज दी। उसकी घरवाली ने देखकर ऊपर से ही कह दिया 'जा यहाँ से, हमको महात्मा जी सब बता गये हैं। जिन्दे जी तो कोई सुख नहीं दिया अब फिर दुःख देने पहुँच गया।' लड़के कहने लगे 'नहीं जायेगा तो पत्थर मारेंगे।' वह उन्हें काफी समझाता रहा। अंत में उसकी पत्नी ने कहा 'वैसे तो हमें पता है कि तू मरा हुआ है और प्रेत बन कर आया है, लेकिन यदि जिन्दा भी हो तो भी यहाँ से चले जाओ। जब से गये हो यहाँ हम लोगों की सारी व्यवस्था ढंग से हुई है। तुम्हारे काल में कभी चद्दर थी तो धोती नहीं थी, कभी एक तारीख को सामान के लिये कहती थी तो नौ तारीख तक सामान लाते थे। कभी दाल नहीं तो कभी चावल नहीं। अब एक तारीख को ही सब सामान पहुँच जाता है। इसलिये यदि जिन्दा है तो भी चला जा।' वह फिर महात्मा के पास पहुँचा और सारी बात सुनाई तो महात्मा ने कहा 'क्या हुआ? तू तो कहता था कि मेरे बिना कैसे चलेगा। अरे! जितने लोग हैं सब अपना प्रारब्ध लेकर आये हैं, उसी से होता है।

यह ठीक है कि जहाँ बैठे हो अपना कर्म करो, लेकिन अपने अन्दर यह अभिमान छोड़ दो कि मेरे बिना काम नहीं चलेगा।'

यह जो तुम पचास साठ साल का विस्तार मानते हो, यह सब मायावी करता है। यह तुम्हारी माया का ही फैलाव है। तुम चले जाते हो तो भी कुछ नहीं होता। जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति के अन्दर हमेशा ही तुम अपने धागे को छिपा लेते हो और यहाँ फिर छिपाकर चले जाते हो। कहाँ गये, क्या गये, कुछ पता नहीं चलता। यहाँ कितनी बातें करते हैं। कहते हैं 'तू मेरी प्राणों से प्यारी है।' मर के जाने के बाद कोई टेलीफोन तक नहीं करता, चिट्ठी भी नहीं भेजता। यह मेरी पत्नी, यह मेरी माँ, ये मेरे दामाद, ये मेरे दामाद के माँ बाप; यह तो उसने माया का फैलाव किया था और वह बेचारा चल दिया, तुम पीछे दुःखी होते रहो। सूत्र पर चढ़े हुए मायावी की जगह प्राज्ञ तैजस आदि हो गये। सूत्र उपाधि और उपाधि में चढ़ा हुआ चिदाभास। जो मायावी है, माया दिखाने वाला है, वह दोनों के अन्दर है। 'स एव भूमिष्ठो मायाच्छन्नोऽदृश्यमान एव स्थितो यथा तथा तुरीयाख्यं परमार्थतत्त्वम्।' वही भूमिष्ठ है। जब जादू का मज़ा न लेना हो तो उसका उपाय बता रहे हैं। कहीं कोई जादू दिखाये तो वह जो दिखा रहा है उसको न देखकर उसके ऊपर नजर रखो। कई तरह के जादूगर हैं, जैसे अंगूठी निकालकर दिखायेगा, कोई हाथ से भस्मी निकालकर देगा। लोग देखते उसी को हैं जो हाथ निकालकर दिखाता है। लेकिन उस मायावी पर दृष्टि जमाओ तो मजा किरकिरा हो जाता है क्योंकि उसे दीख जाता है कि कहाँ से क्या चीज निकल रही है। इसमें आनंद गड़बड़ हो जाता है। जादूगर जो भूमि पर स्थित है, उसपर नजर रखो तो न वह सूत्र और न सूत्र पर चढ़ता दिखाई देगा। जिसने उधर से नजर हटाई नहीं, मायावी पर नजर कायम कर ली, मायावी कहे भी कि सूत की तरफ देखो तो उधर न देखकर मायावी को ही देखता रहे, तो उसे कुछ नहीं दिखाई देगा। या आजकल की माया सिनेमा समझ लो। सिनेमा के अन्दर सब कुछ कब दीखता है? जब सिनेमा देखने वाला फिल्म और लाइट की तरफ अपनी पीठ रखे । कोई कहे कि सच्ची रोशनी तो उधर है। उधर देखोगे तो कुछ नहीं दीखेगा। उधर से नजर हटाओ तो सारा खेल दीखता है। वह जो भूमि पर खड़ा हुआ अपने आपको मायाच्छन्न किये हुए है, वह जब तक अदृश्यमान खड़ा रहे तभी काम बनता है। वह दृश्यमान हुआ तो सब गया।

'तथा तुरीयाख्यं परमार्थतत्त्वम्' वैसे ही जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति, विश्व तैजस प्राज्ञ इनसे अस्पृष्ट जो तुरीय आत्मतत्त्व है, उसकी तरफ नजर रखने वाले के लिये सब खेल समाप्त हो जाता है। 'अतस्तच्चिन्तायामेवादरः' अतः अर्थात् माया की निवृत्ति का हेतु होने से उस परमार्थ-तत्त्व की चिंता में आदर होना उचित है। जो मोक्ष की इच्छा वाला है, संसार बंधन से मुक्त होना चाहता है, उसका आदर परमार्थतत्त्वचिंतन में ही रहता है, सृष्टिचिंतन में नहीं। भाष्यकारों ने आर्यों का यही लक्षण योगवासिष्ठ के अनुसार कर दिया है।

'मुमुक्षूणामार्याणां न निष्प्रयोजनायां सृष्टावादर इत्यतः सृष्टिचिन्तकानामेवैते विकल्पा इत्याह— स्वप्नमायासरूपेति।' जो तत्त्वचिंता में आदर करे, वही आर्य है। जो तत्त्वचिन्ता में आदर न करे वह अनार्य है। जो एक जातिवाचक आर्य अनार्य शब्द को रूढ कर दिया गया है वह अपने प्राचीन शास्त्रों में उस दृष्टि से प्रयुक्त नहीं है। योगवासिष्ठ में इसका इसी अर्थ में प्रयोग है, उसी को समझना चाहिये। यही आर्य, श्रेष्ठ पुरुष का लक्षण है। जो ऐसा नहीं वह अनार्य है। जो तत्त्वचिंतन में आग्रह वाला न होकर सृष्टि-चिंतन में लगा रहे, वही अनार्य है। आर्य शब्द 'इण गतौ' धातु से बनता है इसलिये आर्य का मतलब होता है जिसके पास आया जाये। आदमी उसके पास जाता है जिसको किसी तत्त्व का ज्ञान हो। इसीलिये आर्य शब्द श्रेष्ठ पुरुषों के लिये परवर्ती काल में रूढ हो गया। इसी दृष्टि से मनु स्मृति के अन्दर कहा है—

'एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।।'

इस देश के अन्दर उत्पन्न हुए लोगों का आदर्श ऐसा हो कि जिससे पृथ्वी के सारे मनुष्य शिक्षा लें। यह आर्यता है। उसी की टीका के अन्दर टीकाकार ने एक बड़ी प्रधान बात बताई है। एतद्देश का मतलब वहाँ ब्रह्मावर्त है। गंगा यमुना के मध्य की वेदी को ब्रह्मावर्त कहते हैं। उसी को वहाँ 'एतद्देश' कहा है। मनुस्मृति काल में सब लोग तत्त्व चिंतन में लगे रहते थे। लेकिन टीकाकार के समय में युग परिवर्तन हो गया था। वह बड़ी प्रधान बात यह कहते हैं कि जहाँ इस प्रकार के तत्त्वचिंतक लोग ही बहुतायत से रहते हों, वह यदि म्लेच्छ भूमि भी है तो आर्य भूमि है और यदि गंगा यमुना के मध्य में भी लोग तत्त्वचिंतक होकर न रहते हों तो वह अनार्य भूमि है। ब्रह्मावर्त देश को बताते हुए वे कहते हैं कि गंगा यमुना के मध्य भाग को जो ब्रह्मावर्त कहा है, वह निर्देश मात्र के लिये है, नियम के लिये नहीं; अर्थात् इस प्रकार का देश जहाँ भी हो वही ब्रह्मावर्त देश है। नियमन के लिये नहीं कि गंगा और यमुना के बीच में ही हो। आवर्त भ्रमर को कहते हैं जो नदी के बीच में पड़ जाता है। इसलिये ब्रह्मावर्त का मतलब है कि जहाँ ब्रह्मविषयक ही चिंतन का आवर्तन होता रहे। इसलिये यह ब्रह्मावर्त देश है। केवल गंगा जमुना के मध्य भागमात्र को नहीं लेना। टीकाकार की बात प्रधान इसलिये है कि आज के युग में समस्या आ जाती है कि कई बार हम लोग प्रदेश मात्र को अर्थ समझ लेते हैं। यह तो आदर्श का केवल अभिमान है। उस आदर्श का यदि पालन होता है तब तो उस भूमि का कुछ महत्व है। यह नहीं कि उस भूमि पर चोर डकैत हों और मानते रहो कि यह तीर्थ ही है। यह प्राचीनों का दृष्टिकोण नहीं। देश को अच्छा और बुरा बनाने वाला तो वहाँ का आदर्श है। इसीलिये भाष्यकारों ने 'आर्याणां मुमुक्षूणाम्' कहा।

जिसका कोई प्रयोजन नहीं, अर्थात् जिसको जानकर कोई अपना या दूसरे का लाभ नहीं, वह सारा निष्प्रयोजन होता है। किसी चीज के ज्ञान से अपना लाभ हो तो भी ठीक और दूसरे का लाभ हो तो भी ठीक, लेकिन जिसमें दोनों का लाभ नहीं, वह निष्प्रयोजन चीज है। सृष्टि के विषय में इसीलिये आदर नहीं कि सृष्टिचिंतन का कोई लाभ न अपने को और न दूसरे को है। चिंतन करके यदि इसका तत्त्वनिर्णय हितकर होता तो अपने भी इसका चिंतन करके लाभ कर सकते थे और हो सकता है दूसरे का भी लाभ कर सकते थे। लेकिन चूँकि इसका निर्णय नहीं हो सकता इसलिये इसके विषय में चिंतन निष्प्रयोजन है। प्रतीतिमात्र को ही देख सकते हैं, और कुछ नहीं कर सकते। निष्प्रयोजनता की यहाँ तो प्रतिज्ञा की, आगे कहेंगे कि हम जितना सृष्टि के विषय में चिंतन करते हैं वह कैसे गलत सिद्ध होता है। 'इत्यतः सृष्टिचिन्तकानामेवैते विकल्पाः' इसलिये सृष्टि के विषय में जो चिंतन करते हैं वे ही इस प्रकार विकल्प करते हैं।

एक विकल्प वैभव हो गया, दूसरा विकल्प 'स्वप्नमायासरूपेति' है। कुछ लोगों ने परमेश्वर का ऐश्वर्य अथवा कर्म का ऐश्वर्य मान लिया। उनका आग्रह है कि संसार सत्य है। ऐसे ही दूसरे लोग बौद्ध आदि हैं जिनका आग्रह है कि संसार असत्य है। वे भी सृष्टि के चिंतक हुए क्योंकि वे कहते हैं कि संसार के बारे में कुछ पता लग सकता है। एक संसार को सच्चा कहते हैं दूसरे उसे असत्य कह रहे हैं। वेदांती का कहना है कि इसका निर्णय कभी नहीं हो सकता कि यह सत्य है या असत्य है। इसमें कुछ लक्षण सत्य के, कुछ असत्य के मिलते हैं 'सच्चेत् न विनश्येद् असच्चेद् न प्रतीयेत' यदि सर्वथा असत्य होता तो दीखता कैसे है और सर्वथा सत्य होता तो नष्ट कैसे होता है? इसलिये यह जैसा है, वैसा देखते जाओ। इसके सत्य असत्य का निर्णय न आज तक हुआ और न होगा। जो दूसरे हैं अर्थात् जो संसार की असत्यता पर जोर देने वाले हैं वे कहते हैं कि स्वप्न की तरह यह संसार है, सर्वथा स्वप्न के जैसा ही है। ये लोग स्वप्न को केवल दृष्टांत नहीं मानते। दृष्टांत तो हम लोग भी मानते हैं, संसार को स्वप्न की जाति का मानते हैं। जैसे स्वप्न में बिना पदार्थों के ज्ञान वैसे ही जाग्रत् में हो जाता है। भाष्यकार एक जगह लिखते हैं कि संसार को स्वप्न समझने वाले वैसे ही हुए कि किसी के घर भिक्षा करने गये, उसका सारा भोजन खा गये और फिर कहे कि खाने वाला कहाँ है। इसी प्रकार समग्र व्यवहार करते हुए यह कहना कि स्वप्न है, यह नहीं जँचता। स्वप्न की तरह है, यह तो ठीक है क्योंकि जैसे स्वप्न में वैसे ही यहाँ भी दीखता है। लेकिन यह स्वप्न नहीं। स्वप्न में तुम्हारे संस्कार कारण पड़े, जाग्रत् में संस्कार कहाँ से लाओगे? अगर कहो कि पूर्व संस्कारों से प्रतीत होता है तो नई प्रतीति कैसे होती है? जो था ही नहीं उसके संस्कार कहाँ से आ गये? कुक्कुटाण्ड न्याय से यदि अनादि मानोगे कि अण्डे से मुर्गी और मुर्गी से अण्डा, ऐसे ही कर्म से संस्कार और संस्कारों से फिर कर्म, तो यह भी अंध-परम्परा है। इसलिये संसार स्वप्न नहीं है।

तीसरा कहता है कि यह संसार माया स्वरूप है। ऐसी प्रसिद्धि है कि विशिष्ट मणि इत्यादि होते हैं, उनको कोई आदमी मुख में ले तो वह व्यक्ति लुप्त हो जाता है, या आकाशगमन आदि करने लगता है। कुछ मंत्र इत्यादि के बारे में प्रसिद्धि है कि उनके प्रयोग से तिरोहित हो जाते हैं, आकाश गमन आदि कर लेते हैं, वहाँ रहते हुए भी नहीं दीखते। बेताल पच्चीसी में ऐसी बहुत सी कहानियाँ आती हैं। उसी प्रकार इन लोगों का कहना है कि परमेश्वर में कोई माया नाम की चीज बैठी हुई है जिससे परमेश्वर में ऐसी शक्ति है कि उस के बल से यह सृष्टि हो जाती है। परमेश्वर की सत् शक्ति है, सचमुच उसमें कुछ ताकत है जो इसे बना देती है। वेदांत का कहना है कि तुम अपनी नजर यदि बाजीगर के ऊपर से नहीं हटाते तो बाजीगर सिर से चोटी तक पसीना निकाल दे तो भी तुम्हें कुछ नहीं दीख सकता। आजकल के बाजीगर कुछ चतुर होते हैं जो पहले ही प्रतिज्ञा नहीं करते कि कुछ दिखायेंगे। पी. सी. सरकार इत्यादि ऐसे जादूगर हैं जो पहले ही कह देते हैं कि कुछ दिखाने जा रहे हैं। आजकल के बाजीगर उसका 'सिद्धि' नाम लेते हैं, तमाशा नहीं दिखाते हैं। इधर उधर की बात करके तुम्हारा ध्यान उधर हुआ तो खट दिखा देंगे। आदमी उस समय सावधान नहीं होता। बहुत साल पहले किसी जगह एक फोटोग्राफर के यहाँ जाने की जरूरत पड़ी। वहाँ वह पहले चाय आदि पिलाता रहा और आधे घण्टे बाद कहा 'जाइये' हमने उनसे कहा 'फोटो उतार लो, कहीं किसी काम से भेजनी है।' तब उसने कहा 'मैंने तो आपके नौ फोटो उतार लिये हैं।' हमने पूछा 'तुमने हमसे कहा नहीं।' क्योंकि हम तो सोच रहे थे कि यह कुछ करेगा, रैडी कहेगा तब फोटो आयेगी। उसने बताया कि हम स्वाभाविक चित्र (natural photo) लेते हैं, इसलिये मैंने नौ भंगिमाओं में ले लिये हैं, उनमें से जो अच्छा होगा, उसे बड़ा करेंगे। जैसे यहाँ हमको पता नहीं चला कि कब फोटो ले लिया, ऐसे ही आजकल के बाजीगर मौका ही नहीं देते कि नजर टिकाकर बैठो। लेकिन मानना पड़ेगा कि शक्तिविशेष है जिससे वे दिखाते हैं। उसमें सत्यता कुछ नहीं है। माया स्वप्न के दृष्टांत हम लोग भी देते हैं लेकिन हमारा तात्पर्य है कि कुछ ऐसी चीज है जिसको शक्ति केवल दिखा देती है, वह क्या है आगे बतायेंगे। लेकिन इससे वह चीज सत्य हो, यह सिद्ध नहीं होता। इसलिये कहा 'सृष्टिरन्यैर्विकल्पिता' 'अन्ये' अर्थात् वे भी पारमार्थिक चिंतक नहीं हैं क्योंकि जो पारमार्थिक तत्त्व चिंतक हैं, वे न संसार को स्वप्न कह सकते हैं और न संसार को किसी माया या प्रकृति का कार्य कह सकते हैं।।७।।

●

इच्छामात्रं प्रभोः सृष्टिरिति सृष्टौ विनिश्चिताः ।
कालात्प्रसूतिं भूतानां मन्यन्ते कालचिन्तकाः ।।८।।

तीसरे कहते हैं कि वह प्रभु इच्छामात्र करता है और उसकी इच्छा करना ही सृष्टि का हो जाना है। उसने इच्छा की 'मैं बहुत हो जाऊँ' और हो गया। जैसे वैभव मानने वाले को कुछ प्रमाण और स्वप्न मानने वाले को कुछ प्रमाण मिल जाते हैं ऐसे ही इसको

भी मिल जाता है 'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय' उसने ईक्षण किया, इच्छा की। वेद आदि शास्त्रों से पता लगता है कि परमेश्वर ने इच्छा से सृष्टि कर ली। वे कहते हैं कि परमेश्वर सत्यसंकल्प है इस कारण उसने जैसे ही इच्छा की, इच्छामात्र से ही सृष्टि हो गई। विचार करके देखो तो वह भी बात बनती नहीं है। सत्यसंकल्पता का मतलब होता है कि कुछ पदार्थ पहले हो और वह सत्यसंकल्प के कारण सामने आ जाये। चाहे तुम जैसे सत्यसंकल्प वाले बन जाओ लेकिन क्या कभी तुम्हारी सत्यसंकल्पता से चार बराबर भुजाओं वाला गोल चक्र अर्थात् वर्गात्मक वृत्त (square circle) बन सकता है? यह कभी नहीं हो सकता, असम्भव है। इसलिये यदि यह कहते हो कि सत्यसंकल्प का मतलब है कि जो संकल्प करे वह सत्य हो जाये तो यह बनता नहीं। उसमें भी कुछ न कुछ नियम मानने पड़ेंगे। इसलिये इच्छा मात्र से भी सृष्टि नहीं हुआ करती है। ऐसी बहुत सी चीजे हैं जो किसी तरह से नहीं कर सकते। एक के ऊपर चाहे जितनी पावर रेज़ कर दो, एक को एक से चाहे जितनी बार गुणा कर दो, क्या उसे बढ़ा सकते हो? कुछ भी करो, वह एक ही रहेगा। परमेश्वर क्या ऐसा कर सकता है कि एक का वर्ग या घन तीन हो जाये? नहीं हो सकता। इन सब कारणों से सिद्ध होता है इच्छामात्र से सृष्टि नहीं होती है। जो चीज है उसकी इच्छा करो तो प्रकट हो सकती है। जो चीज हो ही नहीं, उसकी इच्छा करने से कुछ नहीं होना है। इसलिये परमेश्वर यदि सत्यसंकल्प भी है तो उन्हीं चीजों का संकल्प करेगा जो पहले से हैं अतः वह सब का स्रष्टा कहाँ हुआ?

दूसरी बात, यदि कहते हो कि वह इच्छा मात्र से सृष्टि करता है तो उसमें दृष्टांत कहाँ से लाओगे? जो भी घड़ा इत्यादि बनाने वाला है वह केवल इच्छा से थोड़े ही बना लेता हैं। उसके पहले उसे कुछ न कुछ कार्य करना पड़ता है। लोक में कुलाल आदि संकल्प मात्र से घट आदि कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकता है। संकल्प उसमें एक कारण पड़ता है, इतना ही है। यदि तुम सृष्टि का कर्ता परमेश्वर को मानते हो और कहते हो कि वह केवल संकल्प से सृष्टि करता है तो नहीं बनेगा क्योंकि दृष्टांत कहाँ दिखाओगे? बिना दृष्टांत के यत्किंचित् मानना है तो वह फिर अंधविश्वास है।

इतना ही नहीं अगर विचार करके देखो तो कुम्हार जब घड़ा बनाता है और उसकी इच्छा करता है तो इच्छा के पहले कहीं उसने घड़ा देखा है। जिस चीज का कभी अनुभव नहीं होता, जिसके बारे में कुछ पता न हो, उसकी इच्छा नहीं होती। ईश्वर ने कहाँ सृष्टि देखी थी जिसे देखकर सृष्टि करने की इच्छा हुई? किसी न किसी नामरूप को अन्दर ही अन्दर स्मरण करके फिर बाहर निर्माण करने में प्रवृत्ति होती है। वह इच्छा मात्र से सृष्टि में नहीं बनेगा।

'इति सृष्टौ विनिश्चिताः' सृष्टि के विषय में कुछ लोग ऐसा निश्चय करके बैठे रहते हैं कि भगवान् अचिन्त्य है। ऐसा है तो सृष्टि का विचार छोड़ो। जोर देकर कहते हो कि इच्छा से सृष्टि की, तो मतलब है कि चिन्त्य मान रहे हो। वेदांती तो सीधी सादी बात कहता है कि कुछ पता नहीं कि क्यों हुई। दोनों नहीं कर सकते कि एक तरफ परमेश्वर

को कहो कि वह अचिन्त्य शक्ति वाला है, अतुलित है, और फिर कहो कि इच्छा से भी की, क्योंकि तब तो चिंत्य शक्ति वाला हो गया।

'कालात्प्रसूतिं भूतानां मन्यन्ते कालचिन्तकाः' कुछ लोग काल को कारण मानते हैं कि समय के अनुसार ही सब चीजें होती रहती हैं। प्राचीन काल में भी काल को कारण मानने वाले प्रधान थे। इसलिये श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी सबसे पहले काल को ही कारण कहा है। प्रश्न किया कि सृष्टि का कारण कौन है? तो सबसे पहले कालवादी ही खड़ा हुआ। इसलिये काल को कारण मानने वाले पहले से ही बहुत रहे हैं। आज भी प्रायः लोग कहते हैं कि समय की बात है। पूछते हैं कि राष्ट्र की स्थिति ऐसी क्यों? कहते हैं 'समय की बात है।' कहते हैं आजकल इसका सितारा चढ़ा हुआ है। सितारा क्या होता है भगवान् जाने। हमारे आलस्य की बात है, स्वार्थ की बात है, यह कहने में दुःख होता है। इसलिये काल पर ही छोड़ दो। काल की कारणता मानने वाले भी रहे हैं। इसीलिये ज्योतिषशास्त्र खूब चमकता रहता है क्योंकि वह हर चीज में काल को ही कारण बताता है। राहु की दशा आ गई, इसलिये पैर खराब हुआ। इसलिये काल से सृष्टि कालचिंतक मानते हैं जो काल का चिंतन करते रहते हैं। यहाँ तो केवल चार मत बताये हैं, कुछ आगे जाकर इसमें बहुत से मत इन्हें बताने हैं कि लोग और कैसी कैसी कल्पनायें करते रहते हैं। अंत में उन सब कल्पनाओं का निराकरण करना है। यह सब द्वितीय प्रकरण में बतायेंगे। यह सृष्टि के कारण को, उपादान कारण को लेकर विवेचन हुआ। हर हालत में सिद्ध यह करना है कि सृष्टि का न कोई प्रयोजन और न कोई कारण सिद्ध होता है। इसलिये यह तो जैसा है वैसा ही है। इसमें जो प्रयोजन तुम डालोगे, वही सृष्टि का प्रयोजन हो जायेगा और जो व्यवस्था डालोगे वही व्यवस्था बन जायेगी। व्यवस्था और प्रयोजन चेतन का धर्म है, जड का नहीं। हम लोग समझते हैं कि द्रव्य में कुछ नियम हैं, सृष्टि में कुछ नियम हैं। सृष्टि में कुछ नियमन नहीं होता, वह तो अनियमन है। लेकिन सृष्टि के अन्दर प्रयोजन और नियमन चेतन आत्मा प्रक्षिप्त करता है।

ग्रीक पुराणों में इसे बड़े सुन्दर ढंग से बताया है कि केआस नाम का एक राजा था। वह देवताओं का राजा था। बाद में ज्योस ने उसे अपदस्थ करके अपना शासन कायम किया। यद्यपि केआस से ही ज्योस पैदा हुआ था तथापि उसे हटाकर स्वयं गद्दी पर बैठा। केआस नाम स्पष्ट है कि सृष्टि में अव्यवस्था ही अव्यवस्था है। इन अव्यवस्थित पदार्थों को उपादान बनाकर जीव रूपी चेतन उत्पन्न हुआ अर्थात् उन्हीं अव्यवस्थित पदार्थों से जो चेतन जीवभाव को प्राप्त हुआ, वही फिर सृष्टि के अन्दर कुछ न कुछ व्यवस्था का निर्माण करता है। इसलिये व्यवस्था चेतन बनाता है, जड पदार्थों की कोई व्यवस्था नहीं है। अब चूँकि उनमें स्वरूप में व्यवस्था नहीं है, इसलिये जितनी भी कोशिश करो, कहीं न कहीं, कोई न कोई चीज रह जायेगी क्योंकि सभी पदार्थ अव्यवस्थित हैं। लेकिन व्यवस्थित करना अपने को ही है, दूसरा कोई नहीं है।।८।।

अब तक कुछ विकल्पों को देखकर बताया कि सृष्टि की कारणता किस प्रकार से कुछ लोग मानते हैं। अब सृष्टि के प्रयोजन को वे लोग जैसा मानते हैं, उसका संकेत (Tileological arguments) करेंगे। किसी से पूछें 'आप यहाँ कैसे आये?' तो 'कैसे' के दो अर्थ हो सकते हैं, मोटर से आये या किसी प्रयोजन को लेकर आये। इसी प्रकार सृष्टि कैसे हुई? इसमें या प्रयोजनीयता का प्रश्न हो सकता है या उपादान-निमित्त का प्रश्न हो सकता है। उपादान-निमित्त का विचार करके अब प्रयोजनीयता को बताते हैं।

भोगार्थं सृष्टिरित्यन्ये क्रीडार्थमिति चापरे ।
देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा ।।९।।

'अन्ये' अर्थात् कुछ विचारक लोग ऐसे हैं जो कहते हैं 'यथा तथा वा अस्तु सृष्टिः, तस्यास्तु किं प्रयोजनम् इत्यत्र विकल्पद्वयम्', जिस किसी प्रकार से सृष्टि हुई हो, उसका विचार बेकार है। हमको सृष्टि मिल रही है, कैसे हुई, इसका विचार करके क्या होगा, यह तो काकदंत परीक्षा की तरह बेकार है। हमारे शरीर के कपड़े में रास्ते चलते हुए दाग लग गया। यह दाग कैसे लगा, मोटर से लगा, साइकिल से लगा, बैलगाड़ी से या कादे से लगा, जिस किसी प्रकार से लगा हो, उसका विचार छोड़ो। इसको कैसे साफ किया जाये, यह विचारणीय है। ऐसा भी कुछ लोगों का विचार होता है। कुछ लोग कारणता को प्रधान मानते हैं और कुछ लोग प्रयोजन को प्रधान मानते हैं। जो प्रयोजन को प्रधान मानते हैं उनमें से कुछ का कहना है कि जीवों के भोग करने के लिये यह सृष्टि है। इस सारी सृष्टि का उद्देश्य जीव का भोग है। चार्वाकों की दृष्टि में और यदि सच्ची बात पूछो तो संसार में अधिकतर लोगों की दृष्टि में यही सृष्टि का प्रयोजन है। अधिकतर लोग मानते हैं कि सृष्टि का प्रयोजन भोग ही है। बातें चाहे बड़ी बड़ी कर लें, लेकिन मानते हैं कि अधिक से अधिक सुख-भोग कैसे किया जाये यही सृष्टि का उद्देश्य है। सारे बड़े बड़े लोग देश की उन्नति में लगे हुए हैं! उन्नति अर्थात् देश के लोगों के पास भोग कैसे बढ़ें। इस पर बड़े बड़े आँकड़े (statistics) छापते हैं। कहीं यह भी छपता है कि पहले इतने लोग सत्य बोलते थे, अब उनकी इतनी संख्या अधिक हो गई? या पहले लोग क्रोधी थे, अब क्रोध वालों की संख्या इतने प्रतिशत हो गई? इसकी गणना कोई नहीं करता। ये सारे के सारे इस उन्नति में लगे हैं कि पहले इतने रैफ्रिज्रेटर बनते थे और अब इतने हो गये। पहले इतनी सड़कें थी अब इतनी बढ़ गई। भोग ही इन लोगों की दृष्टि में सृष्टि का उद्देश्य हुआ। कभी-कभी हमको इस बात पर हँसी आती है कि बीच बीच में लोग कहते हैं कि 'आने वाली पीढ़ियों के लिये तुम भोग त्याग करो। तुम अभी भोग त्याग करोगे तो आगे आने वाली पीढ़ियों को ज्यादा भोग मिलेंगे।' प्रश्न है कि जब हमारे भोग त्यागने से उन्हें भोग मिलना है तो हम ही भोग क्यों न कर लें? आने वाली पीढ़ियों को कुछ और मिलता तो हम छोड़ देते। महाराज भर्तृहरिने एक जगह बड़े साहित्यिक ढंग से कहा है कि लोग कहते हैं कि जंगल में जाकर

तपस्या करो, तपस्या से पुण्य होगा, पुण्य से स्वर्ग मिलेगा और उसमें अप्सराओं की प्राप्ति होगी। कहते हैं कि यदि हमें यहीं अप्सरायें मिल रही हों तो वहाँ कौन जाये? जिसको न मिलें, वह जाये। यदि यही पदार्थ वहाँ भी मिलने हैं तो क्या फायदा?

कुछ लोग जो ऐसे नहीं हैं, कुछ सूक्ष्म विचारक ऐसे हैं, जिन्होंने यहाँ से तो भोगों को हटाया और भोग को हटाकर स्वर्ग में, वैकुण्ठ लोक में ले गये कि वहाँ जाकर भोग मिलेंगे, उनके अनुसार सृष्टि का प्रयोजन है धर्म करके आगे सुख भोगना। है उनका भी उद्देश्य भोग ही, यद्यपि इहलौकिक की जगह पारलौकिक सुख माने। कुछ लोग कर्मपरिपाक के लिये भी भोग बताते हैं। दक्षिण भारत में जो शैव सिद्धान्ती हैं उनका यही कहना है कि सृष्टि होगी तब इसमें भोग होगा, भोग होने से ज़ीवों का पाप कम होगा, पाप कम होगा तो उन्हें भक्ति की प्राप्ति होकर मुक्ति होगी। उनका कर्मपरिपाक है कि जीवों के कर्म को पकाने के लिये यह सृष्टि है। यह भी एक सिद्धान्त है। सृष्टि का उद्देश्य उनके यहाँ भी भोग ही रहा। बाइबल में तो सृष्टि बनाकर गोड मनुष्य से कहता ही यह है कि यह सब सृष्टि तुम्हारे लिये की गई। इसी को लेकर वे कहते हैं कि भगवान् ने बकरे, भेड़ें बनाई और कहा कि ये सब तुम्हारे भोगों के लिये हैं, इसलिये हम खाते हैं क्योंकि हमारे गोड ने ऐसा कहा है। वे भी भोगपरक ही सृष्टि को मानते हैं। बहिश्त में जाकर भी हूरें मिलेंगी। कुराण में शराब पीना मना किया गया है, बहिश्त में शराब की पूरी एक नदी मिलेगी, इसलिये हमने यहाँ शराब पीना छोड़ रखा है। ये सब भोग को ही उद्देश्य मानते हैं। इन सबको यहाँ समझ लेना।

'अपरे' अर्थात् हम लोगों के ही एकदेशी मानते हैं कि परमेश्वर ने यह सृष्टि अपने खेल के लिये की। रामानुज, वल्लभ, मध्व, निम्बार्क, आदि सभी वैष्णवाचार्य इसी पक्ष को लेते हैं। ये अपने ही एकदेशी हुए। कहीं कहीं ब्रह्मसूत्रों में भी इस प्रकार के शब्दों से भ्रान्ति हो जाती है क्योंकि वहाँ सूत्र आया 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्' लीला और क्रीडा एकार्थक शब्द हैं। इसलिये हम में से एकदेशी क्रीडा के लिये सृष्टि मानते हैं। जो जो दोष वहाँ ईक्षण में दिये थे वे सारे यहाँ भी समझ लेना। खेल कोई तब खेलता है जब जिस स्थिति में हो उससे ऊबे। ऊबता वही है जिसको अपने आप से संतोष न हो। इसलिये यह क्रीडा वाला पक्ष संगत नहीं होता। इतना ही नहीं, खेल भी उसने बहुत विचित्र खेला! जैसे कोई छोटा बच्चा महामूर्ख, वज्रमूर्ख होता है, उसका खेल होता है कि चींटियों की पंक्तियाँ जा रही होती हैं तो उसमें कांटे खोबता रहता है। बच्चों को इसमें मजा आता है। माँ बाप को डाँटना पड़ता है कि यह बुरी बात है। ऐसे ही परमेश्वर ने जो खेल किया वह ऐसा कि हम जीवों को रात-दिन दुःख से खोबता रहता है। दिन भर में एक दो चीजें सुख की और बाकी सब दुःख ही दुःख की होती हैं। यदि उसने क्रीडा के लिये भी सृष्टि की तो यह कोई भले आदमी की क्रीडा नहीं है। यह भी सबको दुःखी करने वाली विलक्षण क्रीडा माननी पड़ेगी। इसलिये खेल के लिये भी

सृष्टि मानने से परमेश्वर में दोष आता है। यह नहीं कह सकते कि परमेश्वर ने तो सृष्टि अच्छी बनाई थी तुमने राग-द्वेष से इतना बिगाड़ दिया; क्योंकि प्रश्न होगा कि राग-द्वेष उसने दिये या कहीं और से आये? फिर क्रीडा उसका प्रयोजन नहीं रहेगा। यदि उसने क्रीडा के लिये किया तो फिर राग द्वेष बनाये ही क्यों? भाष्यकार कहते हैं— 'भोगार्थं क्रीडार्थमिति चान्ये सृष्टिं मन्यन्ते।' दूसरे लोग सृष्टि को भोगार्थ या क्रीडार्थ मानते हैं।

'अनयोः पक्षयोः दूषणम्' इन दोनों पक्षों के दूषण बताते हैं। 'देवस्यैष स्वभावोयम्' हम वेदांतियों का सिद्धान्त तो है कि उस परब्रह्म परमात्मदेव का यह स्वभाव है। जैसे रस्सी के अज्ञात होने से रस्सी का स्वभाव है सर्प की तरह प्रतीत होना। रस्सी सर्प बनाती नहीं, रस्सी तो जैसी है वैसी ही बनी रहती है। लेकिन रस्सी का स्वभाव है कि मंदांधकार में अज्ञात होकर सर्प, जलधारा, माला, बैल के मूत्र की धारा इत्यादि रूप में प्रतीत हो। रस्सी ने न सर्प बनाया, न रस्सी सर्प बनी। रस्सी तो जैसी है वैसी ही अविकृत है। इसी प्रकार ब्रह्म का स्वभाव है कि अज्ञात होने पर अनंत रूपों से दीखे। उन्होंने सृष्टि बनाई नहीं और न वह सृष्टि रूप में बने। कहने को तो कह दिया जाता है कि रस्सी सर्प बन गई या रस्सी के कारण सर्प बना। ऐसा कहते हैं, लेकिन वस्तुतः सर्प के प्रति कारण रस्सी नहीं, रस्सी का अज्ञान है। रस्सी को नहीं जाना तो सर्प की प्रतीति है। उसी प्रकार जगत् के प्रति कारण ब्रह्म नहीं ब्रह्म का अज्ञान है। यदि ब्रह्म को जान लिया होता तो यह सृष्टि की प्रतीति न होती। ब्रह्म को नहीं जाना इसीलिये वह इन अनंत रूपों में प्रतीत हो रहा है। अगला प्रश्न होता है कि ब्रह्म को किसने नहीं जाना? हमने अर्थात् जीव ने नहीं जाना। यह नहीं कि ब्रह्म को किसी दूसरे ने नहीं जाना। कब से नहीं जाना? अनादि काल से, हमेशा से नहीं जाना। जैसे यदि किसी व्यक्ति से पूछें 'तुम हर्बट हम्फ्री को जानते हो?' तो वह कहता है 'नहीं जानता।' अगला प्रश्न पूछें 'कब से नहीं जानते?' तो वह कहेगा 'हमेशा से नहीं जानता। इस नाम का कभी कोई आदमी नहीं मिला।' इसी प्रकार परमेश्वर को कब से नहीं जाना? अब तक नहीं जाना, यह प्रत्यक्ष-सिद्ध है। उसको जान लोगे तो अज्ञान नष्ट हो जायेगा। अज्ञान नष्ट हुआ तो जगत् की प्रतीति गई। यह प्रतीति गई तो जगत् के अंतःपाती तुम्हारे शरीर, मन भी गये। शरीर मन के सिवाय तुम कुछ हो ही नहीं। केवल ब्रह्मरूप ही रह जाओगे। इसलिये यह उस परब्रह्म परमात्म-देव का स्वभाव है। जैसे अग्नि क्यों जलती है? इसका जवाब सिवाय इसके कि अग्नि का स्वभाव ही जलना है, और कुछ नहीं हो सकता। 'स्वस्य भावः स्वभावः'।

इसी स्वभाव को प्राचीन शास्त्रों में कहीं प्रकृति शब्द से, कहीं अन्य शब्दों से कह दिया। वस्तुतः जो जिस चीज का स्वभाव है, वह बदलता नहीं, वैसा ही रहता है और स्वभाव के विषय में यह प्रश्न नहीं बनता कि ऐसा क्यों? आचार्य विद्यारण्य स्वामी से एक जगह कोई पूछता है कि आखिर ऐसा परमेश्वर का स्वभाव क्यों कि अज्ञात हुआ संसार रूप में प्रतीत हो? आचार्य जवाब देते हैं कि तुम्हारा यह स्वभाव क्यों है कि तुम

हर बात में 'क्यों' पूछते हो? जैसे तुम्हारा स्वभाव क्यों पूछना, ऐसे ही उनका स्वभाव है संसार रूप में प्रतीत होना! स्वभाव में प्रश्न नहीं हुआ करता। उस परब्रह्म परमात्म देव का यह स्वभाव है। उस स्वभाव को 'अयं स्वभावः' से कह दिया। जो चीज सामने अपरोक्ष होती है उसे 'यह' कहते हैं। यह जो उसका स्वभाव है यह नैसर्गिक है अर्थात् स्वाभाविक रूप से है। अपने को प्रत्यक्ष हो रहा है, इसमें कोई कल्पना करने की जरूरत नहीं है। बाकी चाहे जितनी कल्पनायें करते जाओ लेकिन उनका अंत नहीं आता। किसी काल में परमाणु को लेकर चले, अपने यहाँ भी कणाद महर्षि और पाश्चात्य देशों में भी ऐसे दार्शनिक हुए जो परमाणु को कारण मानते थे। परमाणु गया तो इलैक्ट्रोन्स, प्रोटोन्स आये। इलैक्ट्रोन्स, प्रोटोन्स भी गये तो केवल शक्ति रही। अब शक्ति कितने दिन रहेगी, यह भी नहीं कह सकते। जितना विचार करते जाओ उतना आगे होता चला जायेगा। जब इतनी दूर जाकर कहना यही है कि यह स्वाभाविक है तो शुरू में ही क्यों न मान लें। अंत में जाकर कहोगे कि परमाणु का यह स्वभाव है। पृथ्वी के परमाणुओं में गंध क्यों होती है? उसका स्वभाव है। प्याज के छोटे टुकड़े, उनके परमाणु, फिर उनमें गंधतन्मात्रा, इतना द्रविड प्राणायाम करके यही तो कहना है कि प्याज का स्वभाव गंध वाला होना है, छुट्टी हुई। सारी बातों का अंत आगे जाकर तुम्हें स्वभाव पक्ष को लेना ही पड़ता है तो पहले ही ले लो। 'अयम्' यह नैसर्गिक अपरोक्ष को बताने वाला शब्द है।

बाकी जितने मत हमने बताये हैं उनमें दोष क्या है? 'आप्तकामस्य का स्पृहा' परमेश्वर को सभी सिद्धान्त आप्तकाम मानते हैं। जो कुछ उनकी कामना है वह पूर्ण है। कोई भी ऐसा नहीं है जो यह मानता हो कि परमेश्वर चाहता तो बहुत कुछ है लेकिन बेचारा गरीब कुछ कर नहीं पाता। यदि और कोई भी कारणवाद लेते हो तो परमेश्वर की आप्तकामता सिद्ध नहीं हो सकती। बुद्ध ने जो दोष परमेश्वर के ऊपर दिया था वह सब इन हेतुओं को लेकर दिया था, क्योंकि बुद्ध ईश्वर को नहीं मानता। वह कहता है कि ईश्वर भला भी है और शक्तिमान् भी है और तुम्हारे कहने से पता लगता है कि वह सर्वकल्याणगुणसम्पन्न है और सर्वशक्तिमान् है। अब यदि वह भला है तो स्वाभाविक है कि वह सबको सुखी करना चाहेगा। यह भले आदमी का लक्षण होता है। सब सुखी दीख नहीं रहे हैं तो या तो वह सकलकल्याणगुणसम्पन्न नहीं है, लोगों को सुखी नहीं करना चाहता, या वह सर्वशक्तिमान् नहीं है। ऐसा तो है नहीं कि चाहता तो है लेकिन बेचारा गरीब क्या करे! कोई उससे भी बड़ा बैठा हुआ है जिसने नियम बना रखा है और उसे उस नियम के अनुसार चलना पड़ता है और वह कहता है 'मैं क्या करूँ? कर्म तुम्हारे खोटे हैं।' विचार करो; बहुत बड़ा आदमी हो और उसकी फैक्ट्री में हजारों आदमी काम कर रहे हों। उनमें दो चार कम काम करने वाले होते हैं, वह उन्हें भी बोनस दे देता है, किसी अंधे को भी टाइपिस्ट रख लेता है, गलती करने पर भी उसे रख लेता

है, बेचारा कहाँ जायेगा। इसी प्रकार परमेश्वर के ऊपर कोई शासन करने वाला नहीं है तो हमारे कर्मों को क्षमा कर देंगे, हमें सुख देंगे। यदि नहीं, तो स्वतंत्र नहीं। हमसे जरा ज्यादा ताकत वाला हुआ। फिर उसकी आराधना, पूजा इत्यादि क्यों करें, सवेरे शाम घड़ी घण्टा काहे को बजाते रहें? बौद्ध की यह शंका वास्तविक है।

इसका निराकरण होता है तो इस स्वभाववाद का आलम्बन करके होता है। अगर ब्रह्म में अन्य किसी प्रकार से स्रष्टृत्व कर्तृत्व प्रयोजनत्व आदि कल्पित करेंगे तब यह दोष आयेगा। ब्रह्म अज्ञात हुआ जगत् रूप में स्वभाव से प्रतीत होता है, उसने कुछ किया नहीं, कुछ बनाया नहीं। संस्कारों से तुम कल्पना करते चले गये वैसी ही तुमको प्रतीति होती चली गई। यह स्वभाववाद मानने पर उसमें किसी प्रकार का कोई दोष नहीं आयेगा। पहले बताया था कि अव्यवस्था जगत् का रूप है, चेतन उसमें व्यवस्था का आपादन करता रहता है। कैसे? यह जवाब है, इसलिये कि अज्ञात ब्रह्म होने के कारण अज्ञान से उत्पन्न यह सब कुछ अव्यवस्थित है। अब उसमें तुमने यह कल्पना कर ली कि हर कार्य का कारण होता है। संसार में अधिकतर कार्यों के कारण का पता नहीं लगता है लेकिन हमने यह तय कर लिया कि हर कार्य का कारण मानें ही। याद यह रखना कि अनुभव यह कहता है कि अधिकतर कार्यों का कारण किसी को पता नहीं। जिबन के बारे में कहा जाता है कि उसने रोमन साम्राज्य के उत्थान-पतन का इतिहास लिखा। वह एक दूसरा इतिहास लिख रहा था। ऊपर बैठा हुआ था। नीचे अकस्मात् हल्ला गुल्ला मचा, झाँक कर देखा कि किसी को कोई छुरा मार गया था। उतरकर नीचे आया, पुलिस पहुँची। वह भी पुलिस के साथ पता लगाने लगा, स्वाभाविक है। साल भर तक वह और पुलिस सब मेहनत करते रहे लेकिन मारने वाले का कुछ पता नहीं लगा। आगे का इतिहास, जो वह लिख रहा था, उसने नहीं लिखा। उसने कहा कि मेरे दरवाजे के नीचे कोई एक आदमी को छुरा मारकर भागा सो तो पता लगा नहीं और मैं कह रहा हूँ कि आज से हजार साल पहले का रोमन ऐम्पायर कैसे बना! इसी प्रकार एक दिन बैंगन खाते हैं कुछ नहीं होता, दूसरे दिन खाने पर वायु भर जाती है और तीसरे दिन अतिसार (diarrhea) हो जाता है। फिर भी मानते हैं कि वैद्य जी को दिखायें, उन्हें पता होगा। अनुभव करते हैं, बड़ा भरोसा करके डिस्पैन्सरी जाते हैं, पता लगता है कि वैद्य जी नहीं हैं। पूछते हैं कि क्यों नहीं आये? पता लगता है कि उनकी तबियत खराब है। जब उनकी ही तबियत खराब होती है तो उनका क्या भरोसा करें? अधिकतर संसार के व्यवहारों में कारणों का पता नहीं, लेकिन व्यवस्था बनाने के लिये हमने आंतरिक दृढ निश्चय कर लिया, axiomatic assertion कर लिया कि जहाँ जहाँ कार्य होगा वहाँ वहाँ कारण अवश्य है। यह व्यवस्था हम बनाते हैं, व्यवस्था जगत् में नहीं मिलती है।

इसी प्रकार देश-काल की व्यवस्था बना लेते हैं। काल की कल्पना का मतलब होता है कि एक ही देश में दो घटनायें जिस से सम्भव होती हैं। जैसे इस कुर्सी पर हम बैठे हुए हैं। थोड़ी देर बाद तुम्हारा अनुभव होता है कि इस कुर्सी पर कोई नहीं बैठा हुआ है। दो अनुभव हुए, एक कुर्सी पर 'देखा' और एक 'नहीं देखा'। तब व्यवस्था बनाते हो कि जरूर काल बीता होगा। यही काल का लक्षण हुआ, और कुछ नहीं। घड़ी चलती है तो वहाँ भी पहले काँटा एक पर था, फिर दो पर गया तो मानते हो कि एक घण्टा बीत गया। तुमने मान लिया कि इतने देश भेद को पाँच मिनट कहेंगे। यदि काँटा हो ही नहीं तो वहाँ कालभेद कैसे है? सूर्य को देखते हो तो वहाँ देशभेद से कालभेद मानते हो, पहले सूर्य यहाँ दिखाई दिया और अब यहाँ दिखाई दिया तो छह घण्टे बीत गये, यहाँ दीखा तो बारह घण्टें बीत गये। तारे, नक्षत्र, चन्द्रमा, सब जगह यही होता है। काल का मतलब है एक देश में दो घटनाओं को सम्भव करने वाली चीज। अगला प्रश्न है कि देश क्या है? तुमको दो आदमी एक साथ ही दीख रहे हैं। एक काल में दो घटनाओं को संभव करने वाली चीज देश हुआ। दो घटनायें इकट्ठे होंगी तो अलग अलग देश में ही होंगी। एक साथ एक देश में दो घटनायें नहीं हो सकतीं। एक साथ तुमको दो आदमियों का अनुभव हो रहा है तो तुमको पता है कि एक साथ एक ही जगह में दो आदमियों का अनुभव नहीं होगा। इसलिये मानेंगे कि एक दाहिने है और एक बायें है। एक साथ अर्थात् एक काल में दो घटनाओं का निरूपण करने वाला, दो घटनाओं को सम्भव करने वाला देश है। भिन्न देश होगा, तभी यह सम्भव है। काल देश से सिद्ध और देश काल से सिद्ध तो यह अन्योन्याश्रय दोष होता है। देश के बिना काल का ग्रहण नहीं और काल के बिना देश का ग्रहण नहीं। इसलिये दोनों को विचारपूर्वक देखो तो दोनों सम्भव नहीं। फिर भी हम मानकर चलते हैं। दिशा हम मानकर चलते हैं। जिधर सूर्य उदय हुआ, वह पूर्व दिशा है। यह हमने लक्षण कर लिया। किसी देशविशेष को नहीं कह सकते कि यह पूर्व में है या पश्चिम में। पहले बताना पड़ेगा कहाँ से? तब पूर्व पश्चिम कह सकते हैं। जो चीज सापेक्ष होती है, वह कल्पित होती है। लेकिन ये सब चीजें हमने मान रखी हैं। सापेक्ष कल्पित है इसका मतलब है कि जिससे सापेक्ष है, उसकी सिद्धि हो तब चीज होगी अतः उसकी स्वतंत्र सत्ता कहाँ हुई? अपेक्षित की सिद्धि के अधीन होने से असिद्ध होगी। जैसे रस्सी की सत्ता से सर्प सिद्ध हुआ तो सर्प कल्पित है।

विचार करके देखो तो यह सब व्यवस्था बनाने का काम हम चेतनों का है। इसीलिये जिस व्यवस्था को चेतन बनायेगा, वह उतनी ही सुव्यवस्थित होगी और जिस व्यवस्था को जितना संसार के, प्रकृति के, अनुकूल पाओगे वह उतनी ही अव्यवस्थित होगी। इसी से वेदांत का रहस्य खुलेगा। संसार में सबसे पुष्ट विज्ञान गणित है। सबसे सुन्दर और व्यवस्थित विज्ञान कोई है तो वह गणित है क्योंकि गणित का प्रकृति से कोई सम्बन्ध

नहीं है, वह सर्वथा कल्पित है। एक और एक दो होते हैं, इसका मतलब है कि दो चीजें सर्वथा एक जैसी हों और वे आपस में मिलें तब दो हो। जाकर आम, नारंगियाँ इत्यादि जितनी प्रकृति की चीजें हैं उन्हें देख लो, दो चीजें कभी बिल्कुल एक जैसी नहीं मिलेंगी, कोई न कोई फरक रहेगा ही, और अगर फरक है तो एक और एक दो हो नहीं सकते। एक पाव का एक सेव और सवा पाव का दूसरा सेव, दोनों मिलकर दो नहीं हो सकते, सवा दो होंगे। सबसे ज्यादा व्यवस्थित हमने अपना विज्ञान किया जहाँ हमने पदार्थों की कोई चिंता नहीं की। पदार्थ जैसा भी हो, हम अपना नियम बनायेंगे। हमने कहा रेखा वह है जिसमें लम्बाई हो और चौड़ाई न हो। किसी से कहो कि ऐसी रेखा कहीं देखी, सुनी या समझी है? कहते हैं यह रेखागणित का सिद्धान्त है। जितनी रेखायें बनाओगे उसमें चौड़ाई जरूर होगी। लेकिन हम ऐसा मानेंगे कि रेखा में चौड़ाई होती नहीं है। कभी सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि उसकी तुम केवल कल्पना कर रहे हो। एक त्रिकोण होता है जो तीन रेखाओं से मिलकर बनता है। उन तीन कोनों का अगर जोड़ करो तो एक सौ अस्सी डिग्री होता है। किसी से कहें कि इस ब्रह्माण्ड में कहीं सीधी रेखा खीच सकते हो? मोटाई की बात नहीं कह रहे हैं, सीधा खींचने की बात कह रहे हैं। पृथ्वी के ऊपर जितनी सावधानी से कागज रखो, जब पृथ्वी ही गोल है तो सीधी रेखा कैसे खींच सकते हो? प्रयोग करना हो तो एक गोल गेंद लेना और उसपर सीधा कागज रखने का प्रयत्न करना। कभी नहीं हो सकता। अगर यह विचार करो कि पृथ्वी को छोड़कर राकेट में बैठकर इस वायुमण्डल के बाहर जायेंगे और चन्द्रमा में जाकर एक त्रिकोण बना देंगे, तो यह भी सम्भव नहीं क्योंकि यह सारा ब्रह्माण्ड ही अण्डाकार (elliptical) है। वहाँ भी सीधी जगह नहीं मिलेगी। इसलिये वहाँ भी सीधी रेखा नहीं बननी है। कहोगे— 'जाने दो, यह हमारा गणित है। हमारा मतलब है कि यदि तीन सीधी रेखायें खींची जा सकें और वे फिर आपस में मिली हुई होती और उनके कोनों को नापा जाता तो १८० डिग्री ही होता है।' होता है या नहीं होता है, इससे कोई मतलब नहीं। जहाँ चेतन का सम्बन्ध होगा वहाँ व्यवस्था अधिक होती जायेगी। जितना प्रकृति के नजदीक जाओगे, अव्यवस्था मिलेगी।

अंग्रेजों ने एक नियम किया या रोम वालो ने किया या जिसने भी किया, कि हम साल में ३६५ दिन मानेंगे। चौथे साल में एक दिन अधिक मानेंगे। उनका कैलेण्डर बड़ा व्यवस्थित है क्योंकि उन्हें प्रकृति का कोई चक्कर नहीं। पृथ्वी सूर्य के चारों तरफ ३६५ दिन में घूमती नहीं और ३६५१/४ दिन में भी घूमती नहीं कि चार साल बाद एक दिन ज्यादा होकर हिसाब हो जाये। अगर कभी भी हिसाब लगाओ तो पता चलेगा कि सैकेण्ड से भी छोटे हिस्सों में जाना पड़ेगा इसलिये वर्ष का फल ठीक ठीक नहीं मिलना है। लेकिन उनका नियम है कि जनवरी ३१ दिन की मानेंगे। उन्हें कोई कठिनाई नहीं, बड़ा व्यवस्थित ढंग है। हम लोगों ने प्रकृति को लिया और कहा कि हम पूर्णिमा

से पूर्णिमा तक एक महीना मानेंगे। वह तो चन्द्रमा है, कभी २८ दिन में, कभी २९ दिन में और कभी तीस दिन में पूरा चक्र करेगा। हमने विचार किया क्या करें? १२ डिग्री एक तिथि का भाग मान लेंगे। लेकिन कभी कम और कभी ज्यादा होने से किसी समय तिथि क्षय हो जाती है और किसी समय तिथि बढ़ जाती है। फिर कहते हैं कि अंग्रेजों का कैलेण्डर बड़ा अच्छा है। अपनी तो कभी तिथि टूटे, कभी बढे, झंझट बना रहता है। इसी प्रकार दूसरा सौर मास मान लिया। दोनों को साथ बैठाने लगे, जिस संक्रान्ति में जो चन्द्रमा का महीना है वह अलग जा पड़ा तो एक अधिक मास आता है जिसमें सन्क्रान्ति आती नहीं। इसलिये हमारे यहाँ तेरह महीने का साल भी होता है। लोग कहते हैं आपके यहाँ तेरह महीने का साल कैसे होता है? भूल वहाँ हुई जहाँ प्रकृति को देखने लगे। इससे कुछ हिसाब मिलना नहीं। और वह हमने इसलिये किया कि जिससे याद रहे कि प्रकृति अव्यवस्थित है। कितनी भी कोशिश करो प्रकृति में कभी व्यवस्था बनने वाली नहीं। इसलिये कहा— 'आप्तकामस्य का स्पृहा'। जितने भी कारण मानोगे सबमें दोष आयेंगे क्योंकि वहाँ कर्तृत्व चेतन के अन्दर मान लिया। अज्ञानसिद्ध नहीं माना तो ज्ञानपूर्वक होने से ज्ञानपूर्वक दीखना चाहिये था, लेकिन वह है नहीं।

हमने कार्यकारण माना तो कल्पना की कि अमुक क्यों बड़े घर में पैदा हुआ? जरूर पुण्य कर्म किये होंगे। यहाँ तो सत्यता का विचार हो रहा है। तुम लोग जैसा मानते हो मानते रहना। कारण हमने मान लिया कि यह बड़े घर में पैदा हुआ है तो जरूर पुण्य कर्म किये होंगे। आगे उसका चरित्र देखना शुरू किया तो पहले के पुण्य कर्मों के तो अच्छे संस्कार होने चाहिये जहाँ उसके कर्म देखने लगे तो पता चला कि चोरबाजारी वह करे, करों की चोरी (tax evasion) वह करे, झूठ बोलने में वह आगे, दूसरों का पैसा मार लेने में उसे संकोच नहीं होता। मन में प्रश्न होता है कि यदि पुण्य कर्मों से आये हैं तो पुण्य के संस्कारों से यहाँ प्रवृत्ति भी पुण्य की होनी चाहिये थी पुण्य कर्मों के कारण पाप में प्रवृत्ति कहाँ से रहेगी? विचित्र जगत् है, इसका कारण कुछ समझ में नहीं आता भगवान् जाने। वेदांती कहता है कि पहले ही समझ लो कि भगवान् जाने। पहले उसका पूर्व जन्म मानो, फिर कर्म मानो, फिर उन कर्मों के संस्कार मानो, अंत में हथियार तो डालने ही हैं। इसी प्रकार कोई गरीब घर में पैदा हुआ तो जरूर पाप किये हैं। देखते हैं कि वहाँ रैदास निकल आये। कर्म उसने अच्छे कर लिये। कैसे समझ में बात आये? वेदान्ती यह नहीं कहता कि कर्म-सिद्धान्त न मानो। वह तो कहता है कि इतना परिश्रम करके हथियार छोड़ने ही हैं तो हम पहले ही हथियार छोड़ देते हैं। हम तो पूर्व जन्म है इस, और नहीं हैं इस आग्रह को नहीं रखते हैं। हम कहते हैं कि इस संसार को किसी तरह नहीं समझ सकते। इसलिये हथियार डाल दो कि समझना सम्भव नहीं। अगर नहीं दिल मानता तो निश्चय होने तक गुत्थी सुलझाते रहो। एक गोरख-धंधा आता है, उसे सुलझाने की बहुत कोशिश करते हैं, जब नहीं सुलझता तो फेंक

देते हैं। देश, काल, कार्य-कारण-भाव इत्यादि जितनी व्यवस्थायें हैं, ये सब मनुष्य सृष्टि को समझने के लिये बनाता है।

काल का विचार दूसरे ढंग से भी बता दें। आधुनिक दृष्टि से ऐसे ऐसे नक्षत्र नीहारिकायें हैं जहाँ से यहाँ प्रकाश पहुँचने में हजार साल लगते हैं, अर्थत् यदि वे नक्षत्र आज नष्ट हो जायें तो एक हजार साल तक वे नक्षत्र हमें वहीं दीखते रहेंगे, हजार साल तक वह नक्षत्र हमें प्रत्यक्ष दीखेगा। प्रत्यक्ष वह चीज हुआ करती है जो वर्तमान हो। वहाँ नक्षत्र है नहीं और हमको दीख रहा है जबकि हमको तो उसके न होने का पता हजार साल बाद लगेगा। हमारे लिये जब वह वर्तमान है तभी जो चेतन प्राणी उसके निकट हैं उनके लिये भूत हो गया। हम से भी आगे कुछ नक्षत्र होंगे, यदि वहाँ कोई चेतन प्राणी हैं और वह प्रकाश वहाँ और पाँच सौ साल तक चलता रहेगा तो जब हमें वहाँ टूटा दीखेगा उन्हें उससे पाँच सौ साल बाद तक भी दीखता रहेगा। इसलिये हमारे लिये भूत और वहाँ वालों के लिये भविष्य हो गया।

इसी प्रकार देश के विचार से भी यही समझ आयेगा। जिस कल्पना को तुम्हारी आँख एक देश में ग्रहण करती है वह अनेक देश में हो जाता है। इसका प्रयोग सातवें आठवें दर्जे में लोग दिखाते हैं। एक चक्र लेते हैं और उसमें एक निश्चित परिमाण से वे सातों रंग लगा देते हैं— वायलेट, इंडिगो, ब्ल्यू, ग्रीन, यैलो, आरेन्ज, रेड (VIBGYOR)। उसको आँखों से देखो तो तुमको वहाँ सात रंग बिल्कुल साफ दिखाई देते हैं। अब उस चक्र को घुमाते रहो तो उसमें कोई रंग स्वाभाविक नहीं लगता। जहाँ तेजी से घुमाया, वहाँ तुम्हें सफेद रंग दीखता है। ऐसा क्यों? क्योंकि तुम देश का ग्रहण नहीं कर पा रहे हो। वह इतनी जल्दी घूम रहा है कि देशभेद ग्रहण न करने से वह सफेद दीखने लगा। जैसे वहाँ, वैसे ही यहाँ जिन देशभेदों को तुम ग्रहण नहीं कर पाते हो उन्हें एक देश मानते हो। तुम सुई की नोक को एक देश मानते हो। कभी मौका मिले तो उस छेद को माइक्रोस्कोप रखकर देखना, तब वह इतना चौड़ा हो जाता है कि आँख से नहीं दिखाई देता है! अपने को लगता है वह एक देश है क्योंकि अपनी आँख जिसको ग्रहण करेगी उसी को एक देश मानेंगे। इसलिये यह सब व्यवस्था बनती नहीं।

देश, काल, कार्य-कारण को लेकर सब व्यवस्था बनाते हैं और जब यही अव्यवस्थित हैं तो इनके आधार पर बनी हुई सभी व्यवस्थायें तो अव्यवस्थित हैं ही। इसलिये कहा कि वह जो परब्रह्म परमात्मदेव है उसकी आप्तकामता को यदि मानते हो तो उसमें स्पृहा नहीं बनेगी। इसलिये ये सब हेतु भी नहीं बनेंगे। इसलिये कह दिया 'अनयोः पक्षयोर्दूषणं देवस्यैष स्वभावोऽयमिति देवस्य स्वभावपक्षमाश्रित्य, सर्वेषां वा पक्षाणाम् आप्तकामस्य का स्पृहेति' उस परब्रह्म परमात्मदेव के स्वभाव-पक्ष का आश्रयण किया। स्वभाव पक्ष का मतलब उलटा नहीं कि उसका स्वभाव सृष्टि करना है क्योंकि ऐसा मानने पर तो उसमें सारे दोष आ जायेंगे। उसका स्वभाव तो दुःख देने वाला हो जायेगा। ब्रह्म का स्वभाव है कि जब वह अज्ञात होता है तो संसार रूप में प्रतीत होता

है। जैसे रस्सी का स्वभाव है। यही भगवान् भाष्यकार कहते हैं 'नहि रज्ज्वादीनाम-विद्यास्वभावव्यतिरेकेण सर्पाद्याभासत्वे कारणं शक्यं वक्तुम्।' रस्सी इत्यादियों का अविद्यास्वभाव को छोड़कर और कोई भी कारण सर्प आदि की प्रतीति में कहना सम्भव नहीं। बाकी जितने कारण बताओगे वे सब वस्तुतः नहीं बनेंगे। सभी पक्षों के अन्दर एक जैसे ही दोष मिल जाते हैं। 'आत्मनः आकाशस्संभूतः' श्रुति बताती है कि आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ। विचार से सर्वत्र समझ लेना कि अज्ञानविशिष्ट अर्थात् अज्ञात आत्मा से उत्पत्ति हुई। इस प्रकार अज्ञान की कारणता आ जाती है। यहाँ जो 'आप्तकामस्य का स्पृहा' से उसकी आप्तकामता कही उसे स्वयं श्रुति अगले मंत्र में स्पष्ट रूप से बतायेगी।।६।।

●

सप्तम मन्त्र

नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपंचोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते, स आत्मा स विज्ञेयः ।।७।।

यह जो आप्तकाम देव है, उसका वास्तविक स्वरूप तुरीय है जो आत्मा का चतुर्थ पाद है। उसे बताते हैं। तीन पाद प्रतीतिमात्र हो गये और यह उसका अधिष्ठान हो गया। आत्मा के तीन पाद बताकर तो चतुष्पाद की प्रतिज्ञा पूरी नहीं हुई थी, इसलिये इसे बताना जरूरी है। वह अंतःप्रज्ञ नहीं, बहिष्प्रज्ञ नहीं, उभयतःप्रज्ञ नहीं है, इत्यादि। कहोगे कि यह तो कोई बताने का तरीका नहीं हुआ। चार आदमियों का तुम्हें वर्णन करना हो और हरेक को यह बता दो कि यह यह नहीं और यह यह नहीं। जैसे एक प्रसिद्ध कहानी है कि किसी ने एक से पूछा '२६ नं. शंकरी टोला जाना है, कहाँ है?' उसने कहा— 'पुलिस चौकी के सामने।' उसने कहा 'मैं यहाँ नया आया हूँ पुलिस चौकी कहाँ है?' उसने कहा '२६ नं. शंकरी टोला के सामने।' फिर पूछा 'मैं बिल्कुल नया हूँ, दोनों कहाँ हैं सही सही बताओ?' उसने कहा— 'एक दूसरे के आमने सामने'। ठीक इस प्रकार चार आदमियों के वर्णन में कहने लग जाओ कि यह ये तीन नहीं और यह ये तीन नहीं तो क्या पता लगेगा? इसी प्रकार पहले सीधी सादी बात बताओ, वहाँ असली चीज क्या है? आप यह क्या कहने लगे 'न अंतःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं न उभयतः प्रज्ञम्' इत्यादि। उन सबसे वह अलग है, यह तो जानते ही हैं, तभी चतुर्थ है। बताने तो चतुर्थ को प्रवृत्त हुए और बताने लगे कि वह ये तीन नहीं है। यह तो फालतू की बात लगती है।

इस निषेध के द्वारा श्रुति क्या कह रही है? निषेध का प्रयोग वहीं किया जाता है जहाँ किसी वस्तु की सत्यता का बोध कराना हो। जैसे रस्सी में साँप दीख रहा हो तो यह कहना आवश्यक हो जाता है कि यह साँप नहीं है। वहाँ 'नहीं है' का मतलब है

कि जब तुम्हें दीख रहा है तब भी नहीं है। चार आदमियों को यह कहना कि यह ये तीन नहीं है, व्यर्थ हो सकता है क्योंकि चतुर्थ को बता रहे हैं तो ये तीन नहीं हैं, यह तो हम वैसे ही जानते हैं। लेकिन यदि यह कहते हैं कि यह साँप नहीं है, तो इसका मतलब होता है कि यह साँप तीन कालों में नहीं। प्रतीति होते काल में भी नहीं है। तभी निषेध का तात्पर्य वास्तविक बनेगा। यह जो 'न अन्तःप्रज्ञम्' कहकर अधिष्ठान तत्त्व, तुरीय तत्त्व, को बताना है वह यह कहने के लिये कि अन्तःप्रज्ञ जब तुमको प्रतीत हो रहा था तब भी उससे भिन्न नहीं था। बहिष्प्रज्ञ जब तुम्हें प्रतीत हो रहा था तब भी तुरीय से भिन्न नहीं है। यह त्रैकालिक अत्यंताभाव बताने वाला निषेध वाक्य है। 'नेति नेति' इत्यादि सभी श्रुतियों का यही तात्पर्य है। यह नहीं कि थोड़े समय के लिये था, वरन् बिल्कुल है ही नहीं। यह यहाँ निषेध का तात्पर्य है। नहीं तो निषेध बेकार हो जाता है। पहले निषेध कर दिया कि वह अन्तःप्रज्ञ नहीं है। पहले स्वप्न को अन्तःप्रज्ञ बताया था इसलिये जो स्वप्न आदि की कल्पना है वह भी सारी की सारी इसके अन्दर वास्तविक नहीं है। मानसवासना का जो विलास है, उसके दर्शन की लालसा ही अंतःप्रज्ञ को पैदा करती है, प्रतीति कराती है। 'न बहिष्प्रज्ञम्' अर्थात् न इन्द्रियों के द्वारा कोई बाह्य पदार्थ है जिनको ग्रहण करने के लिये प्रवृत्त होकर बहिष्प्रज्ञा उत्पन्न हो।

'न उभयतः प्रज्ञम्' जाग्रत् स्वप्न के बीच में अंतरालावस्था भी होती है। कई बार ऐसा अनुभव होता है कि जाग्रत् पूरा हुआ नहीं और स्वप्न रहा नहीं। खासकर किसी नये स्थान में जाने पर यह अनुभव कई बार अपने को प्रत्यक्ष हो जाता है। पुरानी जगह में तो आँख खुलते ही झट पता लग जाता है कि यहाँ स्विच है, वहाँ दरवाजा है और वहाँ लघुशंका जाना है। किसी नये स्थान में जाने पर स्वप्न से तो उठ गये लेकिन अवबोध नहीं रहता कि हम कहाँ हैं? फिर ध्यान आया कि अच्छा आज आगरे आये हुए हैं, फिर सारी कल्पनायें होती जायेंगी कि इधर दरवाजा है, उधर स्विच है। फिर जब दस पाँच दिन वहाँ रह जाते हैं तो कुछ नहीं होगा। प्रायः जो नई जगह में नींद नहीं आती है, उसका भी कारण यही है। मनुष्य को नींद वहाँ ज्यादा आती है जहाँ बिल्कुल तनावरहित हो। नींद इत्यादि की जितनी दवाईयाँ लोग लेते हैं, वे भी इसलिये कि आदमी के मन में तनाव कम हो जाये तो नींद आ जाती है। नये स्थान में अन्दर का मन जरा जगा रहता है कि न जाने क्या परिस्थिति आये! इसलिये नई जगह में नींद नहीं आती। यह जो अंतरालावस्था है, यह एक तरह की अवबोधशून्यावस्था है। इसे 'नोभयतः प्रज्ञम्' कह दिया। इतना याद रखना कि उस दशा को पकड़ने के लिये ध्यान या चिंतन करने का विधान अनेक ग्रन्थों में मिलता है कि उस अन्तरालावस्था को पकड़ने से मनुष्य निर्विषयक आत्मा को सरलता से पकड़ सकता है। इस दृष्टि से उसकी उपादेयता है। लेकिन उसे कहीं सचमुच ब्रह्म नहीं समझ लेना! पकड़ने के लिये मार्ग तो बन जाता है। स्वप्न में सर्वथा वासना की प्रधानता और जाग्रत् में इन्द्रियों की प्रधानता है लेकिन अन्तरालावस्था में चूँकि वासना और इन्द्रिय दोनों उद्बुद्ध नहीं इसलिये अन्तरालावस्था

में ज्ञान करने में सुभीता होता है। लेकिन वहाँ भी बीजावस्था पड़ी हुई है। इसलिये वह भी सच्ची अवस्था नहीं। प्रायः सम्प्रज्ञात से असम्प्रज्ञात समाधि में यही होता है कि मध्य स्थिति में साधक अटक जाता है और असम्प्रज्ञात समाधि में नहीं पहुँच पाता। वह वास्तविक नहीं है, इसलिये कहा भी है कि 'नास्वादयेद् रसं तत्र निःसंगः प्रज्ञया भवेत्' इसलिये वह सावधानी की अवस्था है। बहुत सों को तो सम्प्रज्ञात समाधि ही दूर है क्योंकि कम से कम तीन घण्टे तक एक आसन में बैठने का अभ्यास ही बहुतों को नहीं होता। आसन सिद्धि न हो तो क्या सम्प्रज्ञात समाधि लगनी है? फिर असम्प्रज्ञात समाधि तो होनी कहाँ से है?

वह न प्रज्ञानघन है जहाँ ज्ञानमात्र का बोध हो। यह पहले सुषुप्ति के वर्णन में कह आये हैं कि क्यों उसे प्रज्ञानघन कहते हैं। न निर्विकल्प बुद्धि से रहित है और सविकल्प बुद्धि से रहित भी नहीं है। कुछ लोग अभावाद्वैती होते हैं। एक भावाद्वैत भी होता है, किसी एक भाव को लेकर उसका अद्वैत भी हो जाता है। आजकल तो भूताद्वैत का प्रचार बहुत है। जितने कम्युनिस्ट (materialists) हैं वे भी अद्वैतवादी हैं लेकिन भूताद्वैती हैं। वे कहते हैं कि अनूभूयमान ही सत्य है। वे पंचमहाभूत न मानकर इलेक्ट्रो-मैग्नेटिक शक्ति मान लेते हैं, वही एकमात्र अद्वैत है। Mind is an epiphenomenon of matter अर्थात् भूतों से एक विशेष प्रकार की किरण निकल गई तो मन हो गया। समुद्र में जोर की हिलोरें निकलीं, झाग बन गई और उसमें जीवनशक्ति (Life force) अपने आपको क्रियाशील (work) करती हुई आ जाती है। इन सबका बीज वही है। बौद्ध भी अद्वैत वादी हैं वे शून्याद्वैतवादी हैं। उनका कहना है कि सब चीजों की अभाव में समाप्ति होती है, इसलिये अद्वैतवादी वे भी हैं। भावना का अद्वैत सूर आदि ने बताया है कि गोपिकायें जहाँ देखती थीं उन्हें श्याम ही श्याम नजर आता था। सब चीजों में श्याम ही नजर आना भावनाद्वैत है। इसी प्रकार अनेक भक्त दूसरी जगह भी हुए हैं, उनका भी ऐसा अनुभव है। औपनिषद सिद्धान्त पूर्णाद्वैतवादी है। इस सबका सिद्धान्त यह है कि असम्प्रज्ञात समाधि में जाने से पहले जैसी वृत्ति बनाओगे वैसा अद्वैत का अनुभव हो जायेगा। श्यामाकारा वृत्ति बनाओगे तो श्याम से अभेद होकर भावाद्वैत का अनुभव हो जायेगा और अभावाकार वृत्ति बनाओगे तो अभावाद्वैत का अनुभव हो जायेगा। इसलिये जैसी वृत्ति बनाओगे सम्प्रज्ञात से असम्प्रज्ञात में जाकर वैसे ही अद्वैत की प्रतीति होगी।

अंतःप्रज्ञ से मानस वासना आदि विलास-दर्शन का निषेध किया और बहिष्प्रज्ञ के द्वारा इन्द्रिय आदि की विषयता का निषेध किया, उभयतःप्रज्ञ से अंतरालावस्था का और प्रज्ञानघन से सुषुप्ति का निषेध किया। न प्रज्ञ से निर्विकल्पबोधरहितता बताई और न अप्रज्ञ से बोधाभावरूपता का निषेध कर दिया।

वह परमात्मतत्त्व फिर कैसा है? आगे श्रुति कहती है 'अदृष्टम्' अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाणों के द्वारा उसको ग्रहण नहीं किया जा सकता। पाँचो ज्ञानेन्द्रियों का वह विषय नहीं क्योंकि

ज्ञानेन्द्रियाँ रूप, रस, शब्द, स्पर्श, गंध गुणों को ग्रहण करती हैं। इन गुणों से रहित होने के कारण इन्द्रियाँ वहाँ प्रविष्ट नहीं हो सकतीं। जैसे वायु में रूप नहीं तो वायु का ज्ञान आँख से नहीं। जिस चीज़ में जो गुण नहीं होगा उस गुण को ग्रहण करने वाली इन्द्रिय वहाँ जाकर बेकार हो जाती है। इसी को कहा जाता है कि इन्द्रियाँ वहाँ जाकर लौट आती हैं। इन्द्रियों का जाना क्या है, जो लौट आये? इन्द्रियाँ उसको ग्रहण नहीं करतीं, यही तात्पर्य है। इसलिये अदृष्टम् पाँच ज्ञानेन्द्रियों से, प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा उसका ज्ञान नहीं हो सकता। अव्यवहार्यम्—रूप रस आदि गुण रहित होने के कारण वह अव्यवहार्य है। व्यवहार का मतलब होता है आदान और प्रदान या लेना देना। किसी को ज्ञान देते हो, उससे ज्ञान लेते हो, यह भी व्यवहार है। किसी से धन लेते हो, किसी को देते हो, किसी से लड़की लेते हो, किसी को लड़की देते हो, यह सब व्यवहार है। वह परब्रह्म परमात्मतत्त्व व्यवहार के अयोग्य है क्योंकि किसी को दे नहीं सकता क्योंकि आत्मरूप होने से सबके पास है। किसी से ले नहीं सकता क्योंकि सब उसका स्वरूप है। इसलिये ब्रह्म अव्यवहार्य है, आदान प्रदान से रहित है। आदान प्रदान ही व्यवहार है। उलटा नहीं समझना कि उससे व्यवहार नहीं। उससे तो सारे व्यवहार हैं लेकिन उसका व्यवहार नहीं। वह न हो तो कोई व्यवहार नहीं हो सकता। ब्रह्म है तो सारे व्यवहार होते हैं। अंतःकरण चलता है, प्राण चलते हैं। क्यों चलते हैं? वह है तो चलते हैं। वह नहीं रहता तब जो दो पैरों पर चलता था, वही आठ पैरों पर भी भारी लगता है। चार आदमी उठाकर ले जाते हैं तो कहते हैं कि कंधा दुखता है, मदद करो। दिल्ली में तो जिसने पहले उठा लिया, उठा लिया, बाकी सब पीछे चलते हैं ताकि जल्दी कोई कंधा लगाने को बुला न ले! दो पैरों पर चलने वाला आठ पैरों पर बोझा लग रहा है क्योंकि आत्मतत्त्व नहीं रहा। इसलिये सारा व्यवहार उससे परन्तु उसका व्यवहार नहीं। वह सर्वव्यापक और सबका स्वरूप होने से आदान प्रदान उससे नहीं कर सकते। यही उसका अव्यवहार्य रूप है।

'अग्राह्यम्' अर्थात् प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के द्वारा भी उसका ग्रहण नहीं। अदृष्ट से कहा था कि इन्द्रियों से उसका ग्रहण नहीं। मन में शंका हो सकती है कि उसका ज्ञान इन्द्रियों से नहीं तो अनुमान इत्यादि से उसका ज्ञान हो जाता होगा। इसलिये कहा अग्राह्य अर्थात् दूसरे प्रमाणों से भी उसका ग्रहण नहीं। दूसरे प्रमाणों से उसका ग्रहण क्यों नहीं? आगे हेतु दिया 'अलक्षणम्' जब तक कोई लक्षण अर्थात् लिंग न हो तब तक न अनुमान काम करेगा और न कोई दूसरा प्रमाण काम करेगा। धुएँ को देखोगे तब आगे आग का अनुमान करोगे। उस ब्रह्म तत्त्व का कोई चिह्न ही नहीं तो फिर उसके लिये अनुमान प्रमाण कैसे जायेगा? इसलिये परमात्मतत्त्व के विषय मे सब जगह खचाखच चलने वाली अनुमान रूपी तलवार है, वह काम नहीं करती। 'तर्काप्रतिष्ठानात्' तर्क की प्रतिष्ठा इसीलिये आत्मतत्त्व में नहीं है। प्रत्यक्ष से ग्रहण नहीं और अनुमान के साथ ही अर्थापत्ति

आदि सब समझ लेना। अर्थापत्ति भी एक तरह से अनुमान ही है। इन सब प्रमाणों से भी उसका ग्रहण नहीं हो सकता। इसलिये कह दिया अग्राह्य है क्योंकि अलक्षण है। उसका कोई चिह्न नहीं। सर्वथा चिह्नशून्य है।

कहो कि सम्भवतः ध्यान धारणा से उसकी प्राप्ति हो जाये? इसलिये आगे कहा 'अचिंत्यम्' उसका निषेध किया कि वह अचिन्त्य है। वह आत्मतत्त्व किसी भी प्रकार से अंतःकरण का विषय बन ही नहीं सकता क्योंकि सारी चिंताओं से निर्मुक्त है। उसका चिंतन किया ही नहीं जा सकता। जैसे वह इन्द्रियों का विषय नहीं और अन्य प्रमाणों का विषय नहीं, वैसे ही अंतःकरण का भी विषय नहीं। अंतःकरण भी उसकी तरफ नहीं जा सकता। इसलिये अचिन्त्य है। एक महात्मा थे, उनके पास जाकर कोई कहता था कि महराज! आप और बातें सुनाते हो, कुछ ब्रह्म की बात भी सुनाओ। पंजाब के लोग पूछते हैं 'महाराज! कुछ दस्सो।' वह महात्मा बाकी बातें तो करते रहें लेकिन वह ब्रह्म की बात पूछे तो चुप हो जायें। दो चार बार ऐसा हुआ तो उसने फिर कहा कि आप उपदेश के समय चुप हो जाते हो, बाकी बोलते रहते हो। महात्मा ने कहा 'तुम पूछते हो तो उपदेश दे तो देता हूँ।' उसने कहा— 'कहाँ उपदेश देते हो? आप तो चुप हो जाते हो।' तब महात्मा ने कहा 'ब्रह्म को तो मौन से ही बताया जा सकता है। तुम्हें ब्रह्म को मुख से बोलने की जब सोचने लगता हूँ तो ब्रह्म मेरा ही खो जाता है, तुम्हें क्या बताऊँ? शब्द सोचा कि ब्रह्म का उपदेश तुम्हारे को देना है, लेकिन ब्रह्म शब्द का विषय नहीं, इसलिये ब्रह्म का ख्याल आयेगा नहीं, दूसरा शब्द ख्याल आने लगेगा।' इसलिये वह अचिन्त्य है। अचिन्त्य होने से ही अव्यपदेश्य है। उसका व्यपदेश, अर्थात् उपदेश नहीं किया जा सकता। वह अंतःकरण का ही जब विषय नहीं तो उसका उपदेश कैसे किया जा सकता है?

कहोगे 'हम समझ गये कि आपका ब्रह्म कुछ नहीं है जो न दिया जा सके, न लिया जा सके, न बताया जा सके, न जाना जा सके, वह बेकार है।' इसलिये कहा 'एकात्मप्रत्ययसारम्' उसमें प्रमाण देते हैं कि जो एकमात्र आत्मा का प्रवाह, एकात्मप्रत्यय है, उसके अन्दर इसका स्पष्ट भान हो रहा है। इसे पकड़ने जाओ तो पकड़ में नहीं आयेगा। लेकिन सब कुछ पकड़ना जब छोड़ दोगे तब जो तुम्हारा आत्मप्रत्यय बच जाता है, बस वही है। जिस प्रकार बक्से को खाली करते करते अंत में बक्से में केवल पोल (आकाश) बच जायेगी, उसको खाली करने का कोई तरीका नहीं। उसी प्रकार जब अपने अंतःकरण इत्यादि सब धर्मों को तुम खाली कर देते हो तो जो बच जाता है, सारे निषेधों का अवधिभूत जो बच जाता है, वही एकात्मप्रत्ययसार है। प्रत्यय अर्थात् सारे ज्ञानों का सार वही है। जहाँ कहीं ज्ञान होता है उसमें सार तो वह ब्रह्मरूप ज्ञान है और बाकी चीज़ें कल्पित हैं। एकात्मप्रत्ययसार शून्य रूप नहीं है। शंका होगी कि सारे ज्ञानों का सार है तो बहुत ही झंझट होती होगी? इसलिये कह दिया 'प्रपंचोपशमम्' जहाँ उस आत्मप्रत्यय को पकड़ा तो फिर यह समग्र प्रपंच रूपी तृष्णा निवृत्त हो जाती है। जैसे कहते हो कि 'हम भी इस

गाड़ी में बैठ जायें, ज़रा जगह कर लो।' जगह के लिये किसी 'जगह एण्ड कंपनी' से आर्डर करके नहीं मंगवाते हो! जगह तो वहाँ पहले ही है। जिस जगह को तुमने दूसरी चीज़ों से घेर रखा है उन्हें हटाओ तो जगह तो वहाँ है ही। तीन तगड़े आदमी एक सीट पर बैठे हैं, उन्होंने अपने शरीरों को इधर उधर कर लिया, जगह तो वहाँ पहले ही थी। जगह कर लो का मतलब है कि जगह को घेरने वाली चीज़ों को हटा दो। इसी प्रकार तुम्हारे आत्मस्वरूप पर जो यह प्रपंच की तृष्णा है इसके द्वारा वहाँ मौजूद आत्मप्रत्यय भी लगता है कि नहीं है। जैसे ही अविद्या तृष्णा से हट गये, वह स्वतः प्रकट हो गया। जैसे जगह बनाना, अर्थात् जगह से अतिरिक्त चीज़ों को हटाना, ऐसे उसको पकड़ना अर्थात् जो चीज़ें पकड़ी हुई हैं उनको हटाना।

प्रपंच का उपशम कब तक करें? उसकी अवधि बता दी 'शान्तम्' किसी चीज़ को पहले हटाते हो और अंत में वह चीज़ हटी हुई स्वाभाविक हो जाती है। हमारे यहाँ एक बिल्ली आया करती थी। महात्मा लोग उसे भात आदि डाल देते थे। हमने एक दो बार मना भी किया 'ऐसा मत करो, यह बेचारी प्राणी है।' लेकिन नहीं माने। एक दिन बीस तीस किलो दूध मँगाया हुआ था, उसकी तो बेचारी की आदत हुई, उसने उस दूध में मुँह डाल दिया। अब उन महात्माओं को गुस्सा आया। उसको मारा। जिन्होंने पहले चावल खिलाये उन्होंने ही मारा। यह संसार का रूप है। मार खाने के बाद उसका आना छूट गया। कुछ दिनों के बाद हमने पूछा 'वह बिल्ली दिखाई नहीं दी। क्या बात है?' तब उन्होंने बताया कि उस दिन उसको खूब मारा, उसके बाद नहीं आई। हमने कहा, 'तुमसे पहले ही कहा था कि आदत न बिगाड़ो, वह बेचारी चूहे खा लेगी। वह दूध देखकर अविद्या तृष्णा से रहित हो जाये, ऐसी कोई वेदांत तो वह पढ़ी नहीं है।' प्रपंचोपशम के अन्दर तो प्रपंच का भान है, और तब उपशमता है। प्रपंचोपशम की अवधि तब तक है जब वह शांत हो, स्वरूपभूत हो।

यह जो प्रपंचोपशम शांत स्वरूप है, इसी को शिव कहते हैं। वैदिक साहित्य में शिव का मतलब यही है। सारे प्रपंच की निवृत्ति-स्वरूप जो अधिष्ठान कारण है उसी को वैदिक साहित्य में शिव तत्त्व कहा जाता है। जिसे हमारे यहाँ त्रिरत्न कहा है वे शिव, शक्ति और विष्णु हैं। अधिष्ठान तत्त्व को शिव कहते हैं। सारे जगत् रूप में जो उपादान कारण बनता है उसे विष्णु और जिस परब्रह्म परमात्मतत्त्व की इच्छा के द्वारा इसकी प्रवृत्ति होती है, उसको शक्ति या निमित्त कारण कहते हैं। एक अखण्ड शिव में ही शक्ति और विष्णु दोनों कारणता कल्पित हैं। इसी दृष्टि से विष्णु और शक्ति को एक माना गया है। कई जगह विष्णु को शक्तिरूप माना है, पुराणों ने उसी को बताने के लिये भगवान् विष्णु का मोहिनी अवतार भी बता दिया है। कहीं शक्ति रूप बताने के लिये भगवान् ने गीता में एक को परा प्रकृति और दूसरे को अपरा प्रकृति कह दिया। परा प्रकृति को ही शिव तत्त्व, अपरा प्रकृति को ही विष्णु तत्त्व कहा जाता है और दोनों का जो अधिष्ठान

है, वही शिव तत्त्व कहा जाता है। पुराणों के अन्दर यद्यपि इसी तत्त्व का प्रतिपादन करने के लिये कुछ कहानियों का रूप लेने से तरह तरह की कल्पनायें लोग कर लेते हैं, तथापि वस्तुतः इन्हीं को त्रिरत्न कहते हैं। अधिष्ठान कारण उपादानत्व उपाधि कल्पित कर ले तो विष्णुरूपता। 'यज्ञो वै विष्णुः' यह श्रुति वाक्य है। उसके अन्दर निमित्त कारणता कल्पित की, तो शक्ति है। वस्तुतः अधिष्ठान अभिन्ननिमित्तोपादानकारण है। उस शिव तत्त्व का यहाँ वर्णन कर दिया।

यह तत्त्व कैसा है 'अद्वैतम्' द्वैत की प्राप्ति हुई— विष्णु और शक्ति; उपादान और निमित्त कारण। अद्वैत के द्वारा बताया कि विष्णु और शक्ति दोनों ही शिव से अलग नहीं हैं, एकरूप ही हैं। इसीलिये उसको अद्वैत कह दिया। शक्तिरूपी निमित्त कारण अर्थात् द्रष्टा जीव, और उपादान कारण विष्णु अर्थात् दृश्य; द्रष्टा और दृश्य ही द्वैत है जब द्रष्टा और दृश्य दोनों लीन होकर दर्शनमात्र रह गया, उस समय द्रष्टा-दृश्य भाव नहीं, वही शिव है। इसीलिये कहा 'शिवम् अद्वैतम्' अर्थात् द्रष्टा-दृश्य भाव से, विष्णु -शक्ति से, पराप्रकृति-अपराप्रकृति दोनों से भिन्न चिन्मात्र स्वरूप।

यही आत्मा का चतुर्थ पाद है। चतुर्थ कहते ही कोई यह न समझ ले कि दूसरे तीनों से यह अलग है। इसलिये पहले के जितने मंत्र थे, उनके अन्दर तो सीधा कहा था 'प्राज्ञस्तृतीयः पादः' प्राज्ञ यह तीसरा पाद है, 'तैजसो द्वितीयः पादः' और 'वैश्वानरः प्रथमः पादः' ऐसे ही यहाँ भी 'चतुर्थः पादः' कहना चाहिये था, लेकिन यह न कहकर 'चतुर्थं मन्यन्ते' कहा है। वस्तुतः तो इन तीन के रूप में प्रतीत होने वाला ही चतुर्थ है, चतुर्थ इन तीन से भिन्न कोई चीज़ नहीं है। इसलिये चतुर्थ है ऐसा न कहकर 'चतुर्थम् मन्यन्ते' कहा। जब तक इसके स्वरूप को नहीं समझते हैं तब तक लोग इसको चतुर्थ मानते हैं, वस्तुतः यह चतुर्थ नहीं है। इन तीन रूपों को धारण करने वाला, इन तीन रूपों में प्रतीत होने वाला जो, वही चतुर्थ या तुरीय कहा जाता है। 'स आत्मा' वही स्वरूप है, 'स विज्ञेयः' वही जानने के योग्य है। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' यह श्रुति भी यही बता रही है कि वही विज्ञेय अर्थात् साक्षात् कर्त्तव्य है, उसी का साक्षात्कार करना चाहिये। जो चीज़ सर्वश्रेष्ठ होती है उसी को लोग दर्शनीय या साक्षात् करने के योग्य मानते हैं। जैसे आगरे जाओ तो ताजमहल ज़रूर देखना, दिल्ली जाओ तो कुतुबमीनार के पास अशोक की लाट ज़रूर देखना हज़ारों साल से ऊपर हो गये, वह लोहा खराब नहीं हुआ, आज का विज्ञान भी वैसा लोहा नहीं बना सका। उसके टुकड़े भी ले गये लेकिन कुछ पता नहीं लगा पाये कि क्या है। इसलिये कहते हैं कि उसे ज़रूर देखना। इसी प्रकार यहाँ श्रुति तो कह रही है कि 'स आत्मा स विज्ञेयः' अनुभव करने योग्य है तो यह आत्मतत्त्व है, बाकी जितने अनुभव करने हैं, वे सब बेकार हैं, क्योंकि उन अनुभवों को करके अनुभवों की परम्परा समाप्त नहीं होती। उनको जानकर जानना समाप्त नहीं होता। जहाँ इस आत्मतत्त्व को जाना, वहाँ फिर और कुछ जानना बाकी नहीं रहता। जानने

का काम खत्म हो जाता है। 'एकस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' जहाँ इस आत्मतत्त्व को जान लिया जाता है वहाँ 'अश्रुतं श्रुतं भवति, अमतं मतं भवति, अविज्ञातं विज्ञातं भवति' श्रुति कहती है कि जो कभी नहीं सुना, वह सुना हुआ हो जाता है, जिसके बारे में कभी मनन नहीं किया हो, वह मनन किया हुआ हो जाता है, जिसका कभी अनुभव नहीं किया हो, उसका अनुभव हो जाता है। इस आत्मतत्त्व को जानने पर बाकी सब चीज़ें उसी के अन्दर आ जाती हैं। इसीलिये कह दिया 'स आत्मा स विज्ञेयः'। ऋषियों के जीवन में यही देखा जाता है। आजकल जिन चीज़ों को करोड़ों रुपया खर्च करके बड़ी भारी लेबोरेट्री बनाकर पता लगाया जाता है, ऋषियों ने बिना किसी लैबोरेट्री के पता लगया तो इसी से लगा लिया।

निषेधमुख से तुरीय का प्रतिपादन किया जा सकता है, विधिमुख से नहीं। इसी बात को अब आगे बताना है। यह जो क्रम से प्राप्त चतुर्थ पाद है, इसे कहते हैं 'चतुर्थः पादः क्रमप्राप्तो वक्तव्य इत्याह—नान्तःप्रज्ञमित्यादिना। सर्वशब्दप्रवृत्तिनिमित्तशून्यत्वात्तस्य शब्दानभिधेयत्वमिति विशेषप्रतिषेधेनैव च तुरीयं निर्दिदिक्षति। शून्यमेव तर्हि तत्? न।' तीनों पादों में जो व्याख्यान किया उसके निषेध से चतुर्थ पाद का प्रतिपादन क्यों करना पड़ता है? सारे शब्दों की प्रवृत्ति का जो कारण अर्थात् निमित्त, उससे रहित जो होता है, उसके लिये निषेध ही उपाय है। शब्दों की प्रवृत्ति के चार निमित्त हुआ करते हैं— गुण, क्रिया, सम्बन्ध और जाति। किसी भी शब्द को कहीं पर तब ले जा सकते हो जब ये चार चीज़े हों। जैसे कहते हो कि यह ब्राह्मण है तो दूसरे को ज्ञान हो जाता है क्योंकि उसने दूसरे ब्राह्मणों को देखकर ब्राह्मणत्व जाति का पता लगा रखा है। वह ब्राह्मणत्व जाति इस मनुष्य में है इसलिये जब कहा जाता है कि यह ब्राह्मण है तो ज्ञान हो जाता है। कोई भी यदि एक जाति वाला पदार्थ है और तुमने उस जाति को दूसरी जगह अनुभव कर रखा है तो शब्दप्रवृत्ति बन जाती है। जिसने शहर देख रखा है उसे जब कहते हैं कि न्यूयार्क एक शहर है तो उसे उस शहर के बारे में ज्ञान हो गया। इसी प्रकार क्रिया से शब्दप्रवृत्ति होती है। यह आदमी रसोइया है। रसोई रूपी क्रिया का ज्ञान है अतः जब कहा रसोइया है तो पता लग गया कि क्या करता है। क्रिया से शब्द की प्रवृत्ति हो गई। गुण से भी होती है। तुमने एक व्यक्ति को शान्त देख रखा है। जब कहा कि यह शान्त है तो चूँकि शान्ति तुमने दूसरी जगह देख रखी है, इसलिये इस शब्द-प्रवृत्ति से ज्ञान हो गया। सम्बन्ध से प्रवृत्ति होती है। यह देवीराम का पोता है। देवीराम का तुम्हें ज्ञान है तो उनके सम्बन्ध से इसका ज्ञान हो गया। शब्द की प्रवृत्ति इन चार चीज़ों को लेकर होती है। पाँचवाँ कोई प्रकार शब्द-प्रवृत्ति का नहीं।

शब्द-प्रवृत्ति का मतलब यह नहीं कि जो मर्जी सो नाम रख लो, उससे ज्ञान नहीं होगा। जैसे पूछा 'क्या देखकर आये?' कहो— 'टटरम टट देखकर आये।' इससे कोई ज्ञान नहीं होगा। यह परमात्मा के विषय में समझना इसलिये ज़रूरी है कि परमेश्वर तुम्हारी अनुभूति का साक्षात् विषय तो है नहीं कि 'टटरम टट' कह दो। जब लोग कह देते हैं

कि उसी को राम, उसी को रहीम, अल्लाह, गोड कहा तो एक ही बात है, तब वे मानते हैं कि एक चीज़ है जिसका यह नाम रख देते हैं। अतः जिसकी जो मर्ज़ी सो नाम रखो। गोड कहने वाले के मन में इन चार में से कोई एक चीज़ है जिससे शब्द-प्रवृत्ति करेगा। अल्लाह कहने वाले के मन में कोई दूसरी बात, रहीम कहने वाले के मन में कोई तीसरी बात और राम कहने वाले के मन में कोई चौथा ही प्रवृत्तिनिमित्त है। यह मान लेना गलत है कि शब्दों का अर्थ एक ही है। एक कैसे हुआ? शब्दप्रवृत्ति के तो चार निमित्त हुए। जब जब शब्द-प्रवृत्ति होगी तब तब इन चार को कहना पड़ेगा। नहीं तो शब्द-प्रवृत्ति नहीं होगी। अब यदि वे अपना लक्षण एक जैसा करें तब पता लगे कि जिसको यह गोड कहते हैं उसे वह अल्लाह कहता भी है या नहीं। लोग दृष्टांत देते हैं कि पानी कह दिया, आब् कह दिया क्या फरक पड़ता है, पीने का ही तो पदार्थ है। किन्तु ऐसे परमात्मा कोई दृष्ट पदार्थ थोड़े है कि जो मर्ज़ी सो नाम रख दो और वह भी बिना प्रवृत्तिनिमित्त का निर्धारण किये। पीने के भाग पर हमने ज़ोर दिया तो हमने उसे पानीय कहा 'पातुं योग्यं पानीयम्'। प्रवाह के ऊपर ज़ोर दिया तो हमने उसे सलिल कहा। चीज़ को साफ़ करने वाला होने से उसे वाटर कहा। जर्मन में वाटर का उच्चारण ही वासर है। इसलिये 'वाश' अर्थात् धोना (wash)। उसी का बाद में अपभ्रंश हो गया 'वाटर'। प्रत्येक शब्द्र की प्रवृत्ति का कोई कारण होता है तभी उसका पता लगता है कि क्यों ऐसा कहा गया। यहाँ कह रहे हैं कि चारों से रहित होने से परमेश्वर किसी शब्द-प्रवृत्ति का विषय नहीं।

एक तरह की कई चीज़ें हों, जैसे कई ब्राह्मण हों तो उनमें रहने वाली ब्राह्मणत्व जाति हो। जो कइयों में रहे उसका नाम जाति। महात्मा गाँधी को जाति नहीं कह सकते क्योंकि एक हुए। ऐसे ही परमात्मा यदि अनेक होते तो उनकी जाति हो जाती। तब तो कह देते कि तुमने जिसका अनुभव गोड से किया, उसी जाति का हमारा भी परमात्मा समझ लो। जिस जाति का राम है उसी जाति वाला रहीम समझ लो। परमात्मा यदि अनेक होते तो जाति से उसका ग्रहण किया जा सकता था। किन्तु वह एक है इसलिये उसकी कोई जाति नहीं। परमात्मा गुणों से रहित होने के कारण शब्द की गुणजन्य भी प्रवृत्ति नहीं। सब क्रियाओं का अभाव होने से क्रियाजन्य प्रवृत्ति भी उसमें नहीं हो सकती। सभी सम्बन्धों से रहित है, इसलिये सम्बन्ध से प्रवृत्ति नहीं। 'सर्वशब्दप्रवृत्तिनिमित्तशून्यत्वात्' सारे शब्दों की प्रवृत्ति के जो निमित्त हैं, उनसे रहित होने के कारण शब्द के द्वारा उसका अभिधान किया ही नहीं जा सकता, शब्द के द्वारा उसे बता ही नहीं सकते।

कहोगे कि फिर शब्दों की प्रवृत्ति परमात्मा के विषय में क्यों करते हैं? परमात्मा में शब्द की प्रवृत्ति नहीं, इस रूप से उसका निर्देश संभव है। जो शब्द प्राप्त होते हैं उनकी फिर व्यवस्था कर ली जाती है। जैसे कह दिया जाता है कि दूज का चन्द्रमा देख लो। दूसरा कहता है मेरे को नहीं दीख रहा है। उससे कहते हैं कि सामने पीपल की दो शाखायें दीख रही हैं, इनके बीच में चन्द्रमा है, देख लो। कहने वाला भी जानता

है और सुनने वाला भी जानता है कि शाखाओं के बीच में चन्द्रमा नहीं है। फिर भी वहाँ दो शाखायें प्राप्त हो गई, उनके सहारे से चन्द्रमा दीख गया। कोई यह भ्रम कर ले कि 'दो शाखाओं के बीच में चन्द्रमा है, जाकर उसे पकड़कर घर में ले आयें' तो मूर्ख ही माना जायेगा। इसी प्रकार भिन्न भिन्न समाज में रहने वालों के मन में उसकी तरफ वृत्ति ले जाने के लिये कोई शब्द कारण बन जाता है। जैसे हमने व्यापक आकाश को देख रखा है। विष्णु शब्द का अर्थ होता है सर्वव्यापक। विष्णु शब्द सर्वव्यापक को ग्रहण करेगा। व्यापकता को तुमने आकाश में देख रखा है। अब कहा जाता है कि यदि आकाश से भी अधिक व्यापक चीज़ का चिंतन करोगे तो वह तत्त्व प्रकट हो जायेगा। विष्णु की तरफ, व्यापकता की तरफ चित्त ले जाने से शब्द उपयोगी हो गया। जैसे दो शाखाओं के बीच में चित्त ले जाने से चन्द्रमा का ग्रहण हो जायेगा, वैसे ही आकाश से भी व्यापक भाव की तरफ जाओगे तो तत्त्व का ग्रहण हो जायेगा। यह उसका स्वरूप बताने का ढंग हो गया। जहाँ राम नाम का संस्कार है वहाँ कहा कि हृदय में रमण करने वाले राम हैं। यह समझ कर अपने हृदय के अन्दर तुम वृत्ति ले जाओगे। हृदय थोड़े ही परमात्मा है, लेकिन हृदय में एकाग्र करने से, बाकी उपाधियों के हट जाने से तुम्हें तत्त्व-दर्शन हो जायेगा। यह नहीं कि सब जगह यही कहो कि दो शाखाओं के बीच में चन्द्रमा देखो। यह भ्रम नहीं करना कि महाराज ने कहा है, ढूढें, उसके बीच में होगा! वहाँ बैठे थे तो उन दो शाखाओं में कह दिया। दूसरी जगह त्रिशूल दीख रहा है तो कहेंगे कि त्रिशूल के ऊपर चन्द्रमा दीख रहा है। इसी प्रकार जिस समाज के अन्दर लोगों के मन में जिस शब्द को लेकर परमात्माभिमुखी प्रवृत्ति बन जाये उस शब्द का सहारा लेकर प्रतिपादन कर देते हैं। लेकिन जैसे चन्द्रमा न दो शाखाओं के बीच में है और न त्रिशूल के ऊपर, ऐसे ही किसी भी नाम के द्वारा उसका प्रतिपादन सम्भव नहीं। शब्द के द्वारा अनभिधेय है, शब्द की वाच्यता का वह कभी विषय नहीं हो सकता। वाच्यत्व वहाँ कभी सम्भव नहीं हो सकता। 'इति विशेषप्रतिषेधेनैव च तुरीयं निर्दिदिक्षति।' इसलिये विशेष का अर्थात् जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति का जो प्रतिषेध या निषेध है उसके द्वारा उसका निर्देश करते हैं। वह यह नहीं है, यह नहीं है, जो बच जायेगा, वह वह है।

किसी ने कहा 'शून्यमेव तर्हि तत्।' केवल नहीं नहीं करते हो तो क्या अभावरूप ही है? उसे शून्य ही मान लो? शून्यवादी यही कहता है कि वहाँ किसी चीज़ का अनुभव नहीं तो वही नहीं! जितने भी शून्यवादी हैं उनकी चिंतन प्रणाली यह है कि उसका अनुभव नहीं तो वह नहीं। इस ढंग से चलते हैं। लेकिन जिस कमरे में नृत्य हो रहा है और दीपक जल रहा है, वहाँ दीपक नर्तकी को भी दिखाता है, वहाँ बैठे हुए दूसरे सभ्यों को भी दिखाता है, रंगशाला को भी दिखाता है, सब चीज़ों को दीपक ही दिखा रहा है। 'नृत्यशालास्थितो दीपः प्रभुं सभ्यांश्च नर्तकीं। दीपयेदविशेषेण तदभावेऽपि दीप्यते।' उसके बाद नृत्य खत्म हो गया, सब बाहर निकल गये। अब वहाँ नर्तकी, प्रभु, सभ्य कोई

नहीं है, तो क्या दीपक बुझ गया? कुछ नहीं है तो भी प्रकाश तो कर ही रहा है। कोई कहे कि वहाँ कुछ है ही नहीं तो प्रकाश क्यों कर रहा है? वह उसका स्वभाव है। इसी प्रकार सारे निषेधों का अवधिभूत, सब चीज़ों का निषेध कर देने पर भी जिसका निषेध न किया जा सके, वही आत्मा का स्वरूप है। वह शून्यस्वरूप नहीं हो सकता, क्योंकि सब निषेधों का जो अधिष्ठान है, वह शून्य कैसे हो? कुछ लोग अनुमान कर देंगें कि वहाँ कुछ होता तो भान होता, नहीं है तो इसलिये भान नहीं होता है। लेकिन यह अनुमान ठीक नहीं होगा। 'मिथ्याविकल्पस्य निर्निमित्तत्वानुपपत्तेः।' यह अनुमान तुम नहीं कर सकते कि वहाँ नहीं मिला तो नहीं है। 'विमतं सदधिष्ठानं कल्पितत्वात् रज्जुसर्पादिवत्' यह अनुमान हो जायेगा कि जहाँ कहीं किसी चीज़ का ज्ञान होता है और वह चीज़ नहीं होती है तो उसका कोई न कोई अधिष्ठान अवश्य होता है। जहाँ तुम्हें मिट्टी में घड़ा दीख रहा है वहाँ तो संदेह ही नहीं है क्योंकि वहाँ तो घड़े को फोड़ोगे तो मिट्टी बचेगी। गहने को गलाओगे तो सोने का टुकड़ा बचेगा। जहाँ परिणामी चीज़ है वहाँ नष्ट करने पर कुछ बच जाता है। इसलिये वहाँ तो कह ही नहीं सकते कि कुछ नहीं बचेगा। गहना गलने पर कुछ नहीं बचेगा, यह नहीं कह सकते क्योंकि सोना बचेगा। घड़ा फोड़ने पर मिट्टी बचेगी। जहाँ तो सचमुच कोई चीज़ बनी हुई है वहाँ तो प्रत्यक्ष ही दीखता है कि कुछ बचता है। इसलिये शून्यवादी, असद्वादी रस्सी में साँप को पकड़ता है। वह कहता है कि जब प्रकाश आया तो साँप सर्वथा खत्म हो गया। साँप के कोई टुकड़े नहीं बच गये। इसलिये वे उस स्थल को पकड़ते हैं। सीपी में चाँदी दीखी, फिर पास जाकर देखा तो कुछ नहीं। निरवशेष नाश में यह दृष्टांत देते हैं। मृगी का जल दीख रहा था, वहाँ पहुँचे तो पानी की एक भी बूँद नहीं है। इसी प्रकार वह कहता है कि जब यह जगत् नहीं रहेगा तो कुछ नहीं बचेगा। इस दृष्टान्त को शून्यवादी बौद्ध ने पकड़ा। लगती यह बड़ी बुद्धिमत्ता की बात है कि इसी प्रकार संसार का निरवशेष नाश हो जायेगा, कुछ नहीं बचेगा।

वेदांती ने कहा कि यह तू कैसे कहता है कि कुछ नहीं बचा? साँप नहीं बचा यह ठीक है। यह बता कि तेरे को साँप कितना लम्बा दीखा था? जितनी लम्बी रस्सी। साँप कितना मोटा दीखा था? जितनी मोटी रस्सी। साँप किस शकल का दीखा? जिस शकल की रस्सी। फिर तू कैसे कहता है कि साँप का कुछ नहीं बचा? लम्बाई मोटाई शकल सब बच गये, रस्सी के रूप में बच गये। साँप सर्वथा नहीं बचा, यह नहीं कह सकते। साँप का जो अधिष्ठान है जिसमें साँप की कल्पना हुई थी, उसमें जो 'यह' वाला हिस्सा है, 'यह साँप', 'यह रस्सी', यह 'यह' पहले भी था, अब भी है, यह नहीं उड़ा। तुमने केवल साँप के कुछ धर्मों की कल्पना कर ली थी, वे नहीं रहे। रस्सी रूप में तो वह रह गया! ऐसे ही सीपी में जहाँ तुमको चाँदी दीखी, वहाँ भी समझ लेना, जितनी बड़ी, जिस शकल की चाँदी दीखी थी, वह आयाम वह शकल सीपं में मौजूद हैं। चाँदी सर्वथा नष्ट हो गई, ऐसा नहीं है। इसलिये निरवशेष नाश कहीं होता ही नहीं।

प्रायः वेदांती रस्सी सर्प में अधिष्ठान की बात करते हैं। लोग शंका कर लेते हैं कि उपनिषदों में जगत् की उत्पत्ति वैसे बताई है जैसे मिट्टी से बर्तन बनते हैं, जैसे लोहे से लोहे के औजार बनते हैं, जेसे सोने से गहने बनते हैं। वेदों के अन्दर जहाँ कहीं सृष्टि-प्रक्रिया कही है वहाँ ये दृष्टांत दिये हैं। फिर वेदांती बार-बार रस्सी साँप के दृष्टांत को क्यों लेता है? उसको इसलिये लेना पड़ता है कि जिस समय वेदांत दर्शन के ऊपर भाष्य लिखने में प्रवृत्ति हुई उस समय सबसे प्रबल बौद्ध बैठा था, उसका कहना ही यह होता था कि यह दृष्टांत तो ठीक है लेकिन संसार लोहे के औजारों की तरह नहीं बना है। रस्सी में साँप की तरह बना है। इसलिये शून्य ही शून्य है, क्योंकि साँप खत्म हो जाता है। इसलिये वेदांती कहता है कि तुमने जो रस्सी में साँप का दृष्टांत दिया, वहाँ भी निरवशेष नाश नहीं है। वहाँ भी अधिष्ठान बच गया। 'कुछ नहीं' कैसे मान लें? 'मिथ्याविकल्पस्य निर्निमित्तत्वानुपपत्तेः' जितने मिथ्या विकल्प तुम कर रहे हो, ये सब किसी न किसी अधिष्ठान वाले हैं जैसे चाँदी इत्यादि तुमने जितने दृष्टांत दिये, सबमें तुमको क्या कभी किसी अधिष्ठान के बिना किसी चीज़ की भ्रांति हुई है? कोई चीज़ नहीं हो और भ्रम हो, यह कभी नहीं हुआ करता। एक चीज है और जो है वह दीखे ही नहीं, यह नहीं हुआ करता। इसलिये शून्य की सिद्धि नहीं हो सकती। निर्निमित्तत्व, निरधिष्ठानत्व अर्थात् अधिष्ठान वहाँ न हो, यह नहीं हो सकता। अधिष्ठान तो हमेशा होगा ही।

'नहि रजतसर्पपुरुषमृगतृष्णिकादिविकल्पाः शुक्तिकारज्जुस्थाणूषरव्यतिरेकेणाऽवस्त्वास्पदाः शक्याः कल्पयितुम्' बौद्ध के दृष्टांत इस एक वाक्य में कह दिये। रजत सीप में, सर्प रस्सी में, पुरुष ठूँठ में, मृगतृष्णा बालू में कल्पित हैं। इन सब विकल्पों में थोड़ा भेद देखना। रजत की भ्रांति वहाँ होती है जहाँ रोशनी ज्यादा होती है। सीप के ऊपर तेज़ रोशनी पड़े तो चम चम करती है। तेज़ रोशनी में भी भ्रांति हुआ करती है। सर्प का दृष्टांत मंदांधकार में बनेगा। केवल सर्प को कहते हैं तो लोग कई बात कहते हैं कि आप सर्प को कहते हैं वह तो अंधकार में दीखता है, यहाँ तो रोशनी है। इसलिये दूसरा दृष्टांत शुक्तिरजत का दिया कि जहाँ खूब तेज़ रोशनी होती है वहाँ भी भ्रम होता है। रजत व सर्प इन दोनों के संदेह की निवृत्ति के लिये होते हैं। ठूँठ में पुरुष वहाँ दीखता है जहाँ चन्द्रमा की ज्योत्स्ना पड़ रही होती है। दूर से स्थाणु पुरुष दीख जाता है। एक तेज़ रोशनी, एक मंद रोशनी और एक ठीक रोशनी में भ्रम होता है। चन्द्रमा की रोशनी ठीक है, न ज्यादा तेज और न मन्द। रजत सर्प नीचे पड़े हुए प्रतीत होते हैं। इसमें कई लोगों की शंका रह जाती है कि वह तो ज़मीन से एक होने के कारण चाक्षुषी वृत्ति उसे ठीक से ग्रहण नहीं कर सकती। आदमी आमने सामने हो तो साफ दीखता है। उसकी निवृत्ति के लिये ठूँठ-पुरुष का दृष्टांत हो गया। चौथा दृष्टांत मृगतृष्णा वहाँ दीखती है जहाँ ऊषर भूमि हो। यहाँ बहुतेरों में कल्पना है। स्थाणु, रस्सी, सींप, एक हैं लेकिन जहाँ पर मृगतृष्णा दीखती है वहाँ छोटे छोटे बालू के कण होते हैं और कई प्रकार के

होते हैं। यहाँ वस्तु-ऐक्य नहीं, अनेक वस्तुओं के अन्दर मिलकर एक ही कल्पना बन रही है। इसलिये इन दृष्टांतभेदों में कारण हैं। हर हालत में ये जितने भी विकल्प हैं, वे सीप, रज्जु, स्थाणु आदि किसी अधिष्ठान में दीखते हैं। बिना किसी वस्तु का आश्रय लिये हुए ये प्रतीत होते हों ऐसी कल्पना नहीं कर सकते। इसलिये कहते हैं कि जो तुमने शून्यवाद माना, यह नहीं हो सकता। कोई न कोई अधिष्ठान मानना ही पड़ेगा। बस वह अधिष्ठान ब्रह्म है।

अगला विचार होता है कि वह अधिष्ठान ब्रह्म कौन है? जिस चीज़ को कभी नहीं निकाल सकते, वह इन सबको निकालने वाला है। ये सब नहीं हैं, इन सबको जो जानने वाला है, वही अधिष्ठान होगा। जो कह रहा है, जो इन सबको हटा रहा है कि 'यह नहीं यह नहीं', वही बचा हुआ है, वही आत्मा है, वही ब्रह्म है। यही आत्मस्वरूप का प्रतिपादन हुआ।

'एवं तर्हि प्राणादिसर्वविकल्पास्पदत्वात्तुरीयस्य शब्दवाच्यत्वमिति न प्रतिषेधैः प्रत्याय्यत्वमुदकाधारादेरिव घटादेः?' शंका करते हैं कि यदि तुरीय की अधिष्ठानता तुमको स्वीकृत है तो अधिष्ठानरूप से वह वाच्य क्यों न हो? जल का अधिष्ठान घट, इस रूप से घट का व्यपदेश हो सकता है, घट को शब्द से बताया जा सकता है। शब्दप्रवृत्ति के चार हेतु बताये थे। उन चार हेतुओं में सम्बन्ध रूपी हेतु मिल गया। गुण, क्रिया, जाति न मिलने पर भी सम्बन्ध मिल गया। जिस तरह घट को बताया जा सकता है कि घट जल का आधार है, ठीक इसी प्रकार ब्रह्म जगत् का आधार है इस रूप से ब्रह्म का प्रतिपादन शब्द के द्वारा हो जायेगा। और यदि ब्रह्म किसी भी शब्द का वाच्य हो गया, तो तुमने जो प्रतिज्ञा की कि ब्रह्म शब्द से नहीं कहा जा सकता, वह खण्डित हो गई। यह शंका होती है। यह समस्या हमेशा से है। एक सम्प्रदाय है जो अपने को 'अनामी' सम्प्रदाय कहता है। ब्रह्म का नाम नहीं तो 'अनामी' यही उसका नाम हो गया! किसी भी तरह यदि उसके विषय में शब्द की प्रवृत्ति है तो वह शब्द का विषय नहीं यह नहीं कह सकते, और यदि शब्द की सर्वथा प्रवृत्ति नहीं तो उपदेश का अविषय होने के कारण उसकी सत्ता सिद्ध नहीं। दोनों तरह से वादी मानता है कि यदि ब्रह्म को कह सकते हो तो यह नहीं कहो कि यह अव्यपदेश्य है, और यदि नहीं कह सकते हो तो तुम्हारा यह सब कहना बेकार है। प्राण आदि जितने भी विकल्प हैं उन सब विकल्पों का वह आस्पद है अर्थात् आधार है, सारी जगत्-प्रतीति का आधार ब्रह्म है, यह जब आपने मान लिया तो वह तुरीय शब्द का वाच्य हो गया, सारे जगत् का वह अधिष्ठान है, ऐसा कहो। फिर आप उसे निषेध वाक्यों से क्यों बता रहे हैं कि वह अंतःप्रज्ञ नहीं, बहिष्प्रज्ञ नहीं? सीधा कहो कि वह सारे जगत् का अधिष्ठान है। तब शब्दवाच्यता हो गई। घट आदि का व्यपदेश करते ही हैं, घट कैसा है? 'उदकाधारादेरिव घटादेः' जिसमें पानी भरकर लाते हो उसे घट कहते हैं। यह थोड़े ही कहना पड़ता है कि यह कपड़ा नहीं, यह पत्ता

नहीं; सीधा ही बताया जाता है कि यह घड़ा है जिसमें पानी भरा जाता है। इसी प्रकार जिसमें प्राण आदि सब विकल्प रहते हैं, वह ब्रह्म है।

इसके उत्तर में कहते हैं कि तुम हमारा मतलब नहीं समझे। 'न, प्राणादि-विकल्पस्यासत्त्वाच्छुक्तिकादिष्विव रजतादेः। न हि सदसतोः सम्बन्धः शब्दप्रवृत्ति-निमित्तभागवस्तुत्वात्।' आधार दो तरह के हैं— एक समान सत्ता वाला और एक विषम सत्ता वाला। घड़े में पानी भरते हो तो घड़ा और पानी दोनों व्यावहारिक हैं, दोनों से व्यवहार होता है। यह एक तरह की अधिष्ठानता है। दूसरी प्रातिभासिककी अधिष्ठानता है। सींप में चाँदी दीखती है तो चाँदी सींप में दीखती है इसलिये सींप चाँदी का अधिष्ठान है, लेकिन प्रातिभासिकका अधिष्ठान है। सींप से तो व्यवहार हो जाता है, सींप के बटन बना लेते हैं, लेकिन सींप से जो चाँदी दीखी, उसका निर्यात करके क्या कुछ रुपया मिलेगा? किसी को कहो 'हमारे पास बहुत चाँदी है, सारी बेच देंगे, इसके बदले में एक चौथाई मूल्य दे देना।' तो कोई एक धेला देने वाला नहीं है क्योंकि चाँदी का व्यवहार नहीं, केवल प्रतिभास या प्रतीति ही है। सींप का तो व्यवहार है। चीज़ दो प्रकार से रहती है— एक समान सत्ता वाली और एक भिन्न सत्ता वाली। यदि हमने यह कहा होता कि जैसे पानी घड़े में रहता है वैसे जगत् और परमात्मा की समान सत्ता है तो हमारे ऊपर दोष आता। तब तो वाच्यता हो जाती। ब्रह्म को एतद् रूप से बता सकते थे। कल्पित को लेकर तो निषेध मुख से ही प्रतिपादन हो सकता है, विधिमुख से नहीं। परमात्मा की और जगत् की एक जैसी सत्ता नहीं।

आचार्यों ने इसमें एक बड़ा सुन्दर दृष्टांत दिया है। एक बार ब्राह्मणकुलप्रसूत एक अच्छी लड़की थी। उसके पिता ने एक लड़के को देखकर निर्णय किया कि यद्यपि इस लड़के के माँ बाप तो नहीं हैं, गरीब भी है, तथापि पढ़ा लिखा है अतः अपनी लड़की इसे ब्याह दें। ब्राह्मणों के यहाँ पढ़ा लिखा ही कीमत वाला समझा जाता है। आजकल तो सभी बनिये हो रहे हैं, इसलिये ब्राह्मण भी पैसे की तरफ दृष्टि करने लग गये। पहले ब्राह्मण में कुंकुम कन्या से ब्याह हो जाता था। उन्होंने देखा कि पढ़ा लिखा ब्राह्मण है तो सोचा ब्याह कर देना चाहिये। उस लड़के के चाचा आदि रिश्तेदार प्रसन्न हो गये कि अच्छे घर में ब्याह हो जायेगा। लेकिन वे थे जरा माडर्न। जब ब्याह के लिये आकर बैठे तो गोत्रोच्चार में पंडित जी ने पूछा 'आपका गोत्र क्या है?' वे माडर्न थे, जानते थे कि गोत्र बताना चाहिये लेकिन गोत्र पता था नहीं। आजकल बहुत से ब्राह्मण हैं जिनसे पूछो 'तुम्हारा वेद और गोत्र क्या है?' कहते हैं 'पता नहीं'। उन लड़के वालों ने सोचा ब्याह बांधकर लाये हैं, गोत्र नहीं बतायेंगे तो बदनामी होगी। लड़की वालों से ही पूछा 'आपका गोत्र क्या है?' उन्होंने बताया— 'काश्यप'। लड़के वाले कहने लगे— 'जो तुम्हारा गोत्र वही हमारा गोत्र है!' लड़की वालों ने उन्हें वहाँ से भगा दिया। एक गोत्र में कैसे ब्याह होगा?

ठीक इसी प्रकार संसार की सत्ता वाले कहते हैं कि हमारी और परमात्मा की सत्ता एक जैसी है। यदि जगत् की और परमात्मा की सत्ता एक जैसी हो तो परमात्मा को हम मानें काहे के लिये? सारे जगत् का कारण जो परमात्मा उसकी भी वैसी ही सत्ता और जगत् की भी वैसी ही सत्ता! यदि हमने समान सत्ता मानी होती तब तो तुम जल के आधार घट की तरह ब्रह्म का प्रतिपादन संभव है, ऐसा दोष देते। समान सत्ता हमने नहीं मानी, इसलिये यह जो दोष तुम देते हो ठीक नहीं। प्राण आदि विकल्पों की निजी कोई सत्ता नहीं। जितना संसार का व्यवहार है वह परमेश्वर की सत्ता को लेकर प्रवृत्त है, उसकी अपनी कोई सत्ता नहीं है। विचार करके देखने पर पता लगता है कि सबसे बड़ी अपनी सत्ता का प्रतिपादक जीव ही है। 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।।' सबसे ज्यादा सत्ता वाला जीव ही संसार में है। जब सबसे बड़ी सत्ता वाले जीव के लिये ही परमेश्वर कह रहे हैं कि जैसे खेल दिखाने वाला खिलौनों को नचाता है, वैसे मैं उसे नचा रहा हूँ, जब उसकी ही कोई सत्ता सिद्ध नहीं है, तो दूसरे पत्थर आदि अपनी क्या स्वतंत्र सत्ता सिद्ध करेंगे? इसलिये प्राणादि विकल्पों की अपनी कोई सत्ता नहीं। 'असत्त्वात्' का मतलब शून्यरूप नहीं लेना। वे स्वकीय सत्ता से रहित हैं। उनकी अपनी सत्ता नहीं, परमेश्वर की सत्ता से सत्ता वाले हैं। इसलिये अवस्तु हैं।

जब वह अवस्तु है तो तत्प्रतियोगी अधिष्ठान भी तात्त्विक नहीं रहेगा चूँकि जो स्वयं अवस्तु हुआ, उसका अधिष्ठान भी अवस्तु होगा। जैसे चाँदी का अधिष्ठान सीपी है, उसी प्रकार। सत् और असत् दोनों मिल जाते होंगे और आपस में सम्बन्ध कर लेते होंगे ऐसा नहीं। सत् और असत् के सम्बन्ध को नहीं बता सकते। सत् और असत् का जो सम्बन्ध किसी भी प्रमाण का विषय नहीं, उसको कैसे बताओगे? सत् असत् का सम्बन्ध कैसे होगा? वह सत् में हो नहीं सकता, असत् में भी हो नहीं सकता। इसलिये सत्-असत् का सम्बन्ध प्रतीत होते हुए भी असत् ही है। वह शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त नहीं बन सकेगा क्योंकि यह सम्बन्ध असत् है। यह पहले विकल्प का जवाब दे दिया।

'नापि प्रमाणान्तरविषयत्वं स्वरूपेण गवादिवद्, आत्मनो निरुपाधिकत्वात्।' दूसरे प्रमाणों से आत्मा का ज्ञान हो जाये और उसे रूढि से बता दें यह भी सम्भव नहीं। यह भी शब्दविषयताका एक तरीका होता है। बहुत सी चीज़ें ऐसी होती हैं जिनकी जाति गुण क्रिया का ज्ञान न होने पर भी रूढि से शब्द निश्चित कर लिया जाता है कि इसे डपित्थ या कपित्थ कहेंगे। प्रायः आजकल लोग जो नाम रखते हैं, वे भी रूढि से ही हैं। किसी का नाम नयनसुख और होता वह अंधा है। किसी का नाम लखपतिराम और भूखा मर रहा होता है। यहाँ जाति, गुण, क्रिया से कुछ नहीं कह सकते, केवल रूढिमात्र है। इसी प्रकार ब्रह्म के अन्दर गुण, क्रिया, जाति, सम्बन्ध न होने पर भी ब्रह्म को रूढि से मान लो कि 'यह ब्रह्म कहा जायेगा', तो ऐसा भी संभव नहीं। रूढि से नाम तब पड़ता है

जब प्रमाणान्तर से विषय ज्ञात हो। आँख से एक आदमी दीखा तो उसका नाम रूढि से रख दो। आजकल व्यवहार के अन्दर भी बहुत से नाम रूढि से रखते हैं। जैसे इंजिनियर का नाम हिन्दी में अभियंता रखा है। अभियंता का मतलब होता है सामने से आने वाला कोई आदमी या कोई चीज़। अब इंजिनियर का यह नाम न जाति से, न गुण से और न क्रियासे है, केवल रूढि से है। याद कर लो कि अभियंता का मतलब इंजिनियर। जिसे इंजिनियर का पता है नहीं, उसे अभियन्ता इस शब्द से कैसे अर्थबोध होगा? जो सामने इंजिनियर दीख रहा है उसे रूढि से अभियन्ता कह सकते हो। प्रमाणान्तर से ज्ञात हुआ पदार्थ इस प्रकार शब्द से सम्बद्ध होता है। वह पदार्थ प्रत्यक्ष, अनुमान आदि किसी से भी ज्ञात हो जाना चाहिये। दूसरे प्रमाण से जिस चीज़ को जान लिया उस जानी हुई चीज़ का रूढि से नाम हो जायेगा। लेकिन जो चीज़ किसी दूसरे प्रमाण से जानी न जा सके उसका रूढि नाम रखने का कोई मतलब नहीं होता। ब्रह्म प्रमाणान्तर का विषय नहीं। गो सामने खड़ी है तो बता सकते हो कि इसका नाम गाय है। जैसे प्रमाण से उपलब्ध गाय में व्यपदेश हो जाता है कि इसे गाय मान लो, वैसे ही प्रमाणान्तर से ब्रह्म ज्ञात होता तो कहते कि इसको आज से ब्रह्म कहेंगे। यह प्रमाणान्तर अविषयता लोगों को बहुत दुःख देती है। यदि ब्रह्म इसी प्रकार प्रमाणान्तर का विषय होता तो भिन्न भिंन्न भाषाओं में हम ब्रह्म के नामान्तर भी मान लेते कि किसी भाषा में गोड, किसी भाषा में जिहोवा किसी में अल्लाह और किसी भाषा में राम कहते हैं। जब वह निरुपाधिक अर्थात् सारे विशेषणों से रहित होने के कारण प्रमाणांतर का विषय नहीं तो उसका रूढि नाम हो ही नहीं सकता।

'गवादिवन्नापि जातिमत्वमद्वितीयत्वेन सामान्यविशेषाभावात्। नापि क्रियावत्त्वं पाचकादिवदविक्रियत्वात्। नापि गुणवत्त्वं नीलादिवन्निर्गुणत्वात्'। आत्मा गो इत्यादि की तरह जाति वाला नहीं है इसलिये जाति-नाम से काम नहीं चलेगा। अद्वितीय होने से न उसमें सामान्य और न विशेष भाव है। न उसके अन्दर क्रिया है। जैसे किसी को रसोइया कहें तो क्रिया से व्यपदेश हो गया, ऐसे नहीं हो सकता क्योंकि उसमें क्रिया की किसी प्रकार सम्भावना नहीं। विकारी होगा तो मरने वाला हो जायेगा। न वह गुण वाला है जैसे नील आदि। वह तो निर्गुण है। इसलिये उसमें कोई शब्दप्रवृत्ति हो ही नहीं सकती। ऊपर जो चार हेतु कहे थे, वे यहाँ इकट्ठे करके भाष्यकारों ने कह दिये। 'अतो नाभिधानेन निर्देशमर्हति।' इसलिये यह सिद्ध हुआ कि वाच्यत्व की वहाँ प्राप्ति नहीं होने से शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त किसी भी तरह से नहीं मिलता। अतः शब्द की समग्र प्रवृत्ति की यहाँ उपलब्धि न होने से अभिधान अर्थात् नाम या शब्द के द्वारा उसका उपदेश नहीं दिया जा सकता।

कहोगे कि तुम्हारा ब्रह्म फिर बिल्कुल बेकार है। इसका उपदेश कोई दे नहीं सकता; केवल 'यह नहीं, यह नहीं' करने से क्या होगा? इसकी जगह विशिष्ट जाति आदि वाला

जिसके अन्दर कुछ विशेष गुण हुआ करते हैं, ऐसे किसी राजा की उपासना की जाये तो उससे कुछ फल भी मिले। प्रधानमंत्री की उपासना करें तो कुछ फल भी मिले! ब्रह्म से तो कुछ नहीं मिलता है क्योंकि उपदेश आदि नहीं हो सकता। 'शशविषाणादिसमत्वान्निरर्थकत्वं तर्हि?' शशविषाण अर्थात् खरगोश के सींग का जैसे किसी भी प्रकार से उपदेश नहीं दिया जा सकता, उसी प्रकार ब्रह्म व्यर्थ है। इसके बारे में विचार करना इसको प्राप्त करने का प्रयत्न करना बेकार है। यह शंका प्रायः मन में आ जाती है। 'निर्गुणं निष्कलं शान्तं निरवद्यं निरंजनम्' यों निषेधोपदेश का फायदा कुछ नहीं। साधु शांतिनाथ जी ने अपने ग्रंथ 'प्राच्य प्राचीन दर्शन समीक्षा' के अन्त में लिखा है कि सब पढ़कर एक निष्कर्ष निकला कि यह सब कुछ समझ में नहीं आता कि ब्रह्म का क्या रूप है; बस यही एक अंतिम निष्कर्ष है। यह अपना अंतिम निर्णय वहाँ उन्होंने निकाला। उसी प्रकार से ये वादी कहते हैं कि ब्रह्म का व्यपदेश नहीं हो सकता। मन से उसका चिंतन नहीं हो सकता। इन्द्रियों से उसका ज्ञान नहीं हो सकता तो उसका करेंगे क्या? है, तो भी फायदा कुछ नहीं। इससे तो अच्छा किसी राजा की उपासना करनी चाहिये, जो कुछ फल मिले। इसलिये यह निरर्थक है, इसका कोई प्रयोजन नहीं है।

कहते हैं ऐसा नहीं, इसका लाभ है। यह लाभ का वाक्य याद कर लेना। यह लाभ चाहिये तो आगे की ब्रह्मविद्या का लाभ है, नहीं तो कुछ नहीं। 'न। आत्मत्वावगमे तुरीयस्यानात्मतृष्णाव्यावृत्तिहेतुत्वाच्छुक्तिकावगम इव रजततृष्णायाः।' यह चाँदी है यह तुमको सींप देखकर प्रतीत हो रहा है। तुमने सींप का दर्शन किया तो उस चाँदी को लेने की इच्छा निवृत्त हो गई। इसके सिवाय क्या और कुछ फल भी होता है? कोई कहे कि अच्छी भली चाँदी दीख रही थी, तुमने पास ले जाकर सींप दिखाई, फायदा क्या? कोई कहे कि पहले दस लाख की चीज़ पड़ी थी, वह बेचते तो कुछ फायदा होता; तुमने तो सारा नुक्सान कर दिया? तुम्हारे सींप के ज्ञान कराने से सिवाय चाँदी की तृष्णा हट जाने के और कोई लाभ नहीं है। इसी प्रकार जो संसार के यावत् पदार्थों की तृष्णा से हटना चाहे वह ब्रह्मज्ञान करे। जो संसार की तृष्णा वाला हो, वह इस शास्त्र से दूर रहे। उसको तो दुःख ही दुःख होना है क्योंकि पहले कुछ तो था, अब वह भी गया। एक दिन दिल्ली में ऐसे ही बातचीत हो रही थी। किसी ने हमसे कहा 'आज तो आपने अमुक चीज़ भी विचार से हटा दी'। हमारे एक अच्छे वेदांती हैं, उन्होंने कहा 'स्वामी जी की बात ज्यादा नहीं सुनना, नहीं तो अन्त में तुम्हारे अहम् को ही उड़ा देंगे। अभी तो बाहर की ही चीज़ उड़ी है'। बात बिल्कुल ठीक है। पहले घट पट आदि को असत्य कहेंगे, अन्त में अन्तःकरण को असत्य कहेंगे और फिर अन्तःकरण की अहंकारात्मिका वृत्ति को असत्य बतायेंगे। संसार में तृष्णा वाले का यह मार्ग नहीं। जो सत्य का प्रेमी है जो जानना चाहता है कि वहाँ सींप है या चाँदी उसके लिये यह विद्या है। जो कहता है 'चाँदी देखकर प्रसन्नता होती है काहे को सींप दिखाओ?' उसके लिये यह मार्ग नहीं

है। यह तो सत्यान्वेषक के लिये है। आत्मतत्त्व का ज्ञान हो जाने से तुरीय ब्रह्म मैं हूँ, यही अवगति है। इसी प्रकार जब साक्षात्कार होता है तो समग्र अनात्म पदार्थों की तृष्णा हट जाती है। तृष्णा ही सारे दुःखों का बीज है।

इसी को बौद्ध लोग तन्ना कहते हैं। तन्ना पाली भाषा का शब्द है। बौद्ध बार बार कहता है कि जब तक तन्ना की निवृत्ति नहीं तब तक कभी दुःखनिवृत्ति नहीं होगी। इसलिये तृष्णा की निवृत्ति होनी है। सारी की सारी आधुनिक पाश्चात्य विचारधारा चाहे हेगेल की हो, चाहे मार्क्स की वे विचारधारायें हमको बताती हैं कि तृष्णा बढ़े, वह उतना उन्नत है। एक बार किसी ने बीकानेर में किसी बहुत बड़े नेता से पूछा 'पहले यहाँ लोग शांत रहते थे। जब से यह स्वतन्त्रता आई है तभी से यह ऊधमबाजी बढ़ी है।' उन्होंने कहा 'यह ऊधमबाजी बढ़ी इसी से पता लगता है कि उन्नति हो रही है! आप लोगों के मन में कामनायें नहीं थी, आप शान्त रहते थे तो उन्नत कहाँ थे?' पहले अशान्ति पैदा कराओ और फिर कहो कि ज्यादा ऊधम न करो! जैसे राजस्थान के अन्दर तथाकथित स्वतन्त्रता आने के पहले सारा काम हिन्दी भाषा में होता था। स्वतन्त्रता आने के बाद हिन्दी को हटाकर अंग्रेजी लाई गई और अब कहते हैं कि 'पच्चीस साल बाद हम हिन्दी लाने जा रहे हैं'। लोग भी कहते हैं कि 'बड़ा अच्छा कर रहे हैं। अपनी देशी भाषा आ रही है'। इसी प्रकार २७ साल तक अशान्ति का उपदेश देने के बाद अब कहते हैं कि हम शान्ति लाने जा रहे हैं। पहले अशान्ति लाए काहे को ?

महात्माओं में एक कथा प्रसिद्ध है कि एक महात्मा किसी के घर भिक्षा लेने गए। भिक्षा मांगी तो घर की बहू ने आकर कहा 'जाओ-जाओ, हमारे यहाँ भिक्षा नहीं मिलती।' महात्मा चल दिये। अकस्मात् एक बुढ़िया ने पीछे से आवाज़ दी 'ओ महात्मा जी, इधर आओ।' महात्मा ने सोचा बुढ़िया आस्था वाली होगी, बड़ी आशा से वापिस आये कि भिक्षा मिल जायेगी। बुढ़िया ने पूछा 'क्या बात है?' कहा 'भिक्षा की दृष्टि से आये थे।' बुढ़िया बोली 'हमारे यहाँ कोई मुफ्त का पैसा पड़ा है जो भिक्षा दें, जा भाग यहाँ से।' महात्मा ने कहा 'यह तो पहले ही बहू ने कहा था।' बुढ़िया ने कहा 'बहू घर की मालकिन थोड़े ही है, ना करने वाली वह कौन होती है? ना तो मैं करूंगी!' इसी प्रकार आज के राजनेता कहते हैं 'पहले के राजा तुम्हें शान्त बनाने वाले कौन होते हैं? यह तो हम शान्त करते हैं। चुपचाप बैठे रहो, समालोचना मत करो। यह अधिकार तो हमारा है।'

तृष्णा का अभिवर्द्धन करना पाश्चात्य संस्कृति का दृष्टिकोण है। तृष्णा की निवृत्ति इष्ट है तो शास्त्र सार्थक है और तृष्णा का वर्द्धन इष्ट है तो यह शास्त्र उसका मार्ग बताने वाला नहीं है। तृष्णाओं की किंचित् निवृत्ति तो पदार्थों के विचार से भी हो जाती है। जैसे किसी को समझा दिया कि एयरकंडिशनर लगाओगे, बिजली नहीं चलेगी तो दुःख होगा, रेफ्रिज्रेटर लगाओगे, इतना पैसा कमाओगे तो दुःख होगा, तो भी विवेकी की तृष्णा घटती है। इसलिये तृष्णाओं को थोड़ा-बहुत तो यह विचार हटा सकता है; लेकिन घड़े

के पानी की इच्छा नहीं हटने वाली। यदि निश्चय कर भी लिया 'कर गुजरान गरीबी में', तो उसके लिये भी दाल रोटी तो चाहिये ही। आत्म-ज्ञान सभी तृष्णाओं को निवृत्त कर देगा। किसी भी विषय की कोई तृष्णा उत्पन्न ही नहीं होगी। यही कह दिया 'तुरीयावगमस्य सर्वाकांक्षानिवर्तकत्वात्'। यही तुरीयज्ञान का प्रयोजन है। जैसे सींप के जानने से चाँदी की तृष्णा हट जाती है, नहीं तो बनी रहती है।

'नहि तुरीयस्याऽत्मत्वावगमे सत्यविद्यातृष्णादिदोषाणां सम्भवोस्ति'। मैं ही तुरीय ब्रह्म हूँ, ऐसा जिसने आत्मा का ज्ञान कर लिया उसकी तृष्णा समाप्त है। अविद्या से उत्पन्न होने वाली तृष्णा हुई, जब वह अविद्या ही निवृत्त हो गई तो तृष्णा समाप्त होनी ही है। अविद्या निवृत्त होना ही तुरीय की प्राप्ति है। अविद्या अर्थात् 'मैं अव्यापक हूँ' यही समझना तो अविद्या है। जब अव्यापक हूँ तो कर्ता भोक्ता हूँ। 'मैं व्यापक हूँ' यही विद्या है। कण-कण और क्षण-क्षण के अन्दर मेरी ही सत्ता विद्यमान है। ब्रह्म सुनते सुनते लोग ब्रह्म कि एक कल्पना (mental image) बना लेते हैं। ब्रह्म अर्थात् व्यापक। जितनी जितनी अपनी व्यापकता स्फुट हो जाती है उतनी ब्रह्मभाव की प्राप्ति है। जितना जितना अपने को परिच्छिन्न करते जाते हो उतना ब्रह्म से दूर होते चले जाते हो। अन्यत्र भगवान् भाष्यकार लिखते हैं 'भुक्तिवत्' जैसे भोजन करते हो तो एक एक कौर में भूख मिटती जाती है वैसे ही जितना जितना व्यापकता का अनुभव होकर तृष्णा हटती जाती है, ब्रह्मभाव की प्राप्ति है। जहाँ जहाँ अपने को अव्यापक समझोगे वहाँ वहाँ तृष्णा होगी। अपनी लड़की गहने पहनकर निकलती है तो क्या माँ के मन में तृष्णा होती है कि मैं छीनकर पहन लूँ? उलटा लड़की कहती है कि 'तू पहन ले' तो वह कहती है 'मैं बुड्ढी हो गई, तू ही पहन।' क्योंकि लड़की के साथ आत्मत्वावगति है, व्यापकभाव है। जितना जितना व्यापकभाव बढ़ता जायेगा उतना उतना जो जो पदार्थ का सेवन कर रहा है, उसके प्रति तृष्णा नहीं होगी। उलटा मन में होगा कि इसके द्वारा मेरा ही भोग हो रहा है। जितना जितना अव्यापक भाव होता जायेगा, उतना ही उतना तृष्णा बढ़ती चली जायेगी। किसी युग के अन्दर नेताओं का जनता के साथ व्यापक भाव था तो हमेशा जनता के बीच में प्रसन्नता होती थी। आधुनिक युग के अन्दर जनता को हटाने के लिये जितनी पुलिस, मिलिट्री हो वह उतना ही प्रिय नेता होता है। नेता वह नहीं जिससे जनता मिल सके, बल्कि जिसके साथ हमेशा पुलिस मिलिट्री के आदमी और सफेदपोश सिपाही हों। वही जनता में प्रियता वाला आजकल है। विचार कर देखो तो यह अव्यापक भाव है। निरंतर सोच रहे हैं कि जनता मुझे मार डालेगी, यह सीधी सी बात है। लोग कहते हैं कि कोई एक गुण्डा भी मार सकता है। वह तो पहले भी मार सकता था। आज ही इतना भय कहाँ से आ गया? जितना जितना व्यापक भाव बढ़ता जायेगा मनुष्य के अन्दर यह वृत्ति पकती जायेगी और जितना जितना अव्यापक, परिच्छिन्न, भाव आयेगा, उतना ही उससे दूर होते चले जाओगे। जब तक लोगों के साथ मिलकर चलते थे तब तक तृष्णा नहीं

थी कि 'सब काम मैं ही करूँ और सब मेरी ही बात मानें', और अब 'मेरे और मेरे कुटुम्ब के सिवाय और किसी को कुछ न मिल जाये' इसी तृष्णा के कारण परिच्छिन्नता है। यदि व्यवहार में भी देखोगे तो चाहे घर का, चाहे देश का व्यवहार हो नियम वही है कि जहाँ जहाँ तृष्णा की निवृत्ति है वहाँ व्यापकभाव है। आत्मावगति से सारे जगत् के साथ अपना सम्बन्ध हो गया, तृष्णा निवृत्त हो गई क्योंकि वह जानता है कि इन समग्र अन्तःकरणों में मेरा ही प्रतिबिम्ब पड़ रहा है। वे सारे कल्पित हैं, मेरी ही सत्ता सारे पदार्थों में है, वे सारे पदार्थ कल्पित हैं। कल्पित-रूप से मेरे से भिन्न नहीं और वस्तुतः हैं ही नहीं। इसलिये अविद्या का अर्थ है द्वैतबुद्धि।

'न च तुरीयस्याऽत्मत्वानवगमे कारणमस्ति'। किसी के मन में यह शंका हो सकती है कि बात तो बहुत अच्छी कही है लेकिन ऐसा होता नहीं होगा। यह शंका प्राचीनों की भी थी और आधुनिक काल में भी होती है कि ऐसा हो नहीं सकता। इसलिये टीकाकार कहते हैं 'विद्वदनुभवेन साधयति', विद्वान् के अनुभव से ही इसको सिद्ध करते हैं। यह बताओ कि तुरीय-आत्मता का तुमको ज्ञान नहीं होता, इसमें कारण क्या है? ऐसा विद्वानों का साक्षात् अनुभव है कि तृष्णा द्वैत की निवृत्ति से निवृत्त हो जाती है। एक बार एक महात्मा बैठे हुए थे, उधर से एक आदमी निकला। उस आदमी ने सोचा महात्मा को कुछ दें। यह सोचकर उसने महात्मा को एक अशर्फी दी। वे मस्ती में बैठे थे, कहा 'मुझे काहे को देता है, किसी गरीब को देना।' उसने देखा कि इनकी कुटिया भी चू रही है, लंगोटी पहने हुए बैठे हैं, अंदर कोई खास खाने पीने की चीज़ भी नहीं दिख रही है। महात्मा से कहा 'आपको कुछ ज़रूरत होगी।' महात्मा ने कहा— 'सवेरे का भोजन कर लिया है इसलिये हो गई ज़रूरत पूरी। किसी गरीब को देना।' उसने कहा— 'आप से ज्यादा गरीब नज़र नहीं आता है।' महात्मा ने कहा कि 'मैं गरीब नहीं हूँ, मैं बढ़िया माल खाकर बैठा हूँ।' राजा की सवारी जाते देखकर महात्मा ने उस आदमी से कहा 'वह कंगला जा रहा है, उसे दे दे।' उसने सोचा— 'गजब हो गया, वहाँ तो राजा हाथी के ऊपर जा रहा है राजा के साथ छड़ी छत्र जा रहे हैं वह कैसे कंगला है?' फिर भी वहाँ पहुँचा और अशर्फी दिखाई। राजा ने सोचा कि नज़राना पेश कर रहा है। हाथी बैठाकर राजा ने उससे अशर्फी ले ली। वह सोचने लगा— 'बात तो महात्मा ने ठीक कही, है तो यह पूरा कंगला!' इसी प्रकार यहाँ जो तृष्णा की निवृत्ति हो जाती है, यह विद्वानों का अनुभव है। इसलिये अविद्या रूप तृष्णा की निवृत्ति के हमारे अनुभव का तुम कैसे निराकरण करोगे, इसमें क्या प्रमाण दोगे।

'सर्वोपनिषदां तादर्थ्येनोपक्षयात्'। उपनिषदों का प्रमाण देते हुए कहते हैं कि केवल विद्वानों का अनुभव ही प्रमाण नहीं अगर ऐसा न होता तो सारी उपनिषद् बेकार हो जातीं। सारी उपनिषदों का तात्पर्य यही है। विद्वान् को लेकर कोई कह सकता है कि वह कोई सिद्धि होगी जिससे तृष्णा निवृत्त हो गई, लेकिन यह नियम कैसे कि सबकी

तृष्णा आत्मज्ञान से निवृत्त हो जायेगी? इसलिये बताया कि इसमें विद्वान् का अनुभव प्रमाण भी है और उपनिषदें बता रही हैं कि आत्मज्ञान सबके काम की चीज़ है। उसी के अन्दर कई औपनिषद प्रमाण बोल दिये 'तत्त्वमसि' हे शिष्य तू ही परब्रह्म परमात्मरूप है। जिसको तुम अपनी आत्मा समझते हो वही ब्रह्म है। 'तत् सत्यं स आत्मा' वह सत्य है और वही आत्मा है। 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' जिसको देखने के लिये किसी दूसरे साधन की जरूरत नहीं पड़ती वही ब्रह्म है। वही बाहर और वही अन्दर है 'स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः'। 'आत्मैवेदं सर्वम्' जिस किसी चीज़ को तुम इदं-रूप से देख रहे हो वह सब आत्मा ही है। इसी प्रकार सब उपनिषद् इसी में गतार्थ हैं कि मनुष्य के अज्ञान को हटाकर उसकी तृष्णा को खत्म करें।

'सोयमात्मा परमार्थापरमार्थरूपश्चतुष्पादित्युक्तस्तस्यापरमार्थरूपमविद्याकृतं रज्जु-सर्पादिसममुक्तं पादत्रयलक्षणं बीजांकुरस्थानीयम्'। वही जो यह आत्मा है, यह परमार्थ और अपरमार्थ रूप है। एक व्यावहारिक रूप ज्ञान होने के पहले और दूसरा जो ज्ञान होने के बाद भी रहेगा। ज्ञान होने के पहले अपरमार्थरूप और ज्ञान होने के बाद परमार्थरूप। जिस समय में सींप में चाँदी दीख रही है उस समय भी सींप वहाँ वैसी की वैसी है। सींप तो सींपज्ञान में भी है और चाँदी केवल चाँदी के ज्ञान काल में है, आगे पीछे नहीं। या रस्सी में साँप समझ लो। रस्सी तो साँप देखते काल में भी है और साँप जितने काल तक दीखता है, तब तक है आगे पीछे नहीं। इसी प्रकार परमार्थ रूप तो अपना बना ही रहता है, ज्ञान होने के बाद अपरमार्थ रूप नहीं रह जाता। ज्ञान होने के पहले परमार्थ रूप दीखता नहीं है, पर उसमें कोई फरक नहीं आता। इस प्रकार आत्मा के चार पैर बताये। उसका जो अपरमार्थ रूप है, वह अविद्या के द्वारा प्रतीत होता है जैसे रस्सी में साँप। वह तीन पाद वाला पहले बता दिया। वह कैसा है? 'बीजांकुरस्थानीयम्' बीज सुषुप्ति हो गई और जाग्रत्-स्वप्न अंकुर हो गये, क्योंकि सुषुप्ति में बीजावस्था में रहता है और जाग्रत्-स्वप्न में बाहर आ जाता है।

'अथेदानीमबीजात्मकं परमार्थस्वरूपं रज्जुस्थानीयं सर्पादिस्थानीयोक्तस्थानत्रय-निराकरणेनाह— नान्तःप्रज्ञमित्यादि।' अथ अनन्तरं अर्थात् बीज-अंकुर रूप बताकर , अपारमार्थिक रूप बताने के बाद। बीज हेतु है और अंकुर हेतुमत् हुआ। अब इसके आगे वाली बात बताते है। अब जिस तुरीय को बताते हैं वह न किसी का कार्य, न किसी का कारण है। वह तो एकमात्र अखण्ड है। बीज अंकुर दोनों भावों से रहित, कार्य-कारणविनिर्मुक्त है। अबीजात्मक का मतलब अंकुरात्मक नहीं समझना वरन् दोनों से निर्मुक्त है। वह परमार्थ स्वरूप हो गया। जो कार्य-कारण से रहित है वही परमार्थ स्वरूप है। रस्सी सर्प का कारण नहीं है। सर्प का कारण रस्सी का अज्ञान है। रस्सी के ज्ञान से सर्प की निवृत्ति और रस्सी के अज्ञान से सर्प की प्रतीति। रस्सी तो ज्ञान और अज्ञान दोनों अवस्थाओं में एक जैसी है। ऐसे ही अपने अखण्ड चिन्मात्र रूप के अज्ञान से जगत् की प्रतीति और अपने अखण्ड चिन्मात्र रूप के ज्ञान से जगत् की निवृत्ति; लेकिन

वह जो अपना अखण्ड रूप है वह ज्ञान अज्ञान दोनों का समर्थक है, दोनों में से किसी का विरोधी नहीं।

आत्मा से अभिन्न जो ब्रह्म है वह किसी का विरोधी नहीं। कई बार लोग कहते हैं 'कोई पाप करता है तो उसी समय उसका हाथ क्यों नहीं कट जाता, तुरंत वज्र क्यों नहीं पड़ जाता? परमात्मा होता तो उसी समय उन्हें दण्ड देता!' लेकिन परमात्मा ही तो चोर से चोरी भी करवा रहा है, वह कैसे दण्ड दे? परमात्मा सारी अर्हाओं से, सारे मूल्यों से रहित है। एक उपाधि में एक अर्हा और दूसरी उपाधि में उस अर्हा का अभाव रहेगा। ब्रह्म दोनों के प्रति एक जैसा है, उसमें कोई फरक नहीं आता। सन् पचास के पहले यदि कोई हिन्दू औरत अपने पति को छोड़ देती थी तो उसे भ्रष्टा माना जाता था। सन् पचास के बाद पति को छोड़ना कानून से जायज चीज़ है। अब उसे भ्रष्टा नहीं कह सकते। समाज का नियम है कि कानून बनाकर तुम्हारे मकान को ले लिया जाये तो जायज है, भ्रष्टाचार नहीं, और बिना कानून के रात बेरात कोई बर्तन ले जाये तो कानून के खिलाफ है, चोरी है। इसी प्रकार आज पति को छोड़ना भ्रष्टाचार नहीं है। यह समाज की मान्यता हुई। अब विचार करो कि समाज की इस दृष्टि के प्रति निरपेक्षता किस की है? आत्मा की निरपेक्षता है। उसके अन्दर कोई फरक नहीं आया। अर्हायें बनाई जाती हैं और अर्हाशून्यता भी बनाई जाती है। अर्हाओं को लेकर, मूल्यों को लेकर ही तुम्हारे सारे समाज में किसी चीज़ को अच्छा और किसी को बुरा मानते हैं। ब्रह्म की दृष्टि में कोई अर्हा है नहीं क्योंकि वह किसी एक सामाजिक मान्यता को लेकर चलता नहीं। वह अपरिणामी है और ये सब परिणामी हैं। इसीलिये कहा कि वह अबीजात्मक है। तुम्हारा बन्धन और तुम्हारा मोक्ष दोनों को करने वाला वही है। सप्तशती में कहा है कि वही बंधन और वही मोक्ष का कारण है 'ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा। बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति'। 'सैषा प्रसन्ना वरदा नृणां भवति मुक्तये'। दोनों को करने वाला वही एक ज्ञान है। ब्रह्म के अज्ञान से, चित्शक्ति के अज्ञान से मोह आदि की प्रवृत्ति और चित्शक्ति के ज्ञान से मोह आदि की निवृत्ति है। वह स्वयं दोनों के प्रति निरपेक्ष है। उससे जो तुम लेना चाहो ले लो। इसीलिये उसे अबीजात्मक कहा। आगे जो इसमें चतुर्थ अध्याय आयेगा उसमें इस अबीजात्मक को ही सारी युक्तियों से सिद्ध करना है।

वेदांती को छोड़कर बाकी सब केवल बीज रूपी परमात्मा तक पहुँच पाते हैं। सारे जगत् का नियामक, सारे जगत् को चलाने वाला जो परमात्मा, इस बीज तक तो पहुँच पाते हैं लेकिन इस अबीज रूप को नहीं समझ पाते। जब तक अबीज को नहीं पकड़ेंगे तब तक दुःख नहीं हटेगा क्योंकि परमात्मा को जगत् का कारण मानोगे और परमात्मा के तुम सहयोगी बनोगे सोचोगे कि परमात्मा जो चाहता है वह हम करें। परमात्मा क्या चाहता है, यह तुम किसी न किसी एक उपाधि से निर्णय करके दुनिया का सुधार करने चलोगे। सारी दुनिया के सुधार का बीज यही है। हमने अपनी कल्पना से एक परमात्मा

को बना लिया और उस परमात्मा की यह अर्हायें हैं ये भी मान लिया। इसको मानकर सारी दुनिया हमारी बात माने! जैसे हम सबको मनाने चले वैसे ही वे भी मनाने चले। हम कहेंगे 'सनातनी बनो', वे कहेंगे 'तुम मुसलमान बनो'। बहुत साल पहले की बात है एक बड़ा अच्छा लड़का था। उसने कलकत्ता विश्वविद्यालय से बी. एस-सी. आनर्स किया और उसे स्वर्ण पदक मिला। पहले वह सेंट ज़ेवियर में पढ़ता था। वहाँ के फादर ने निर्णय किया कि किसी प्रकार इसे ईसाई बना लें। उसे तरह तरह के प्रलोभन दिये, वह कन्नी काटना चाहे, न बनना चाहे, लेकिन कालेज में भी उसे जाना रहा। दो चार महीने बच गये थे। उसने सोचा कि इसको छोड़ूँ यह भी ठीक नहीं। उसने किसी बुद्धिमान् महात्मा से सलाह ली। यह फादर कैथोलिक था। उस महात्मा ने उससे कहा कि अब की बार तुम अपने फादर को कहना 'मैं ईसाई बनना तो चाहता हूँ लेकिन मैथोडिस्ट चर्च में प्रवेश लेने का विचार कर रहा हूँ। ईसाई बनने की सोच रहा हूँ लेकिन पहले निर्णय तो कर लूँ कि कैथोलिक बनूँ या मैथोडिस्ट बनूँ।' ईसाई भी शिया सुन्नी की तरह खूब झगड़ा करते हैं। उसने वही जाकर कहा तो यह सुनते ही वह फादर गलियाँ देने लगा 'मैथोडिस्ट भी कोई चर्च है, वह बहुत खराब है।' अब हिन्दुओं को गाली देना तो बन्द हो गया। इसी प्रकार हम कहेंगे तुम सनातनी बनो, दूसरे कहेंगे मुसलमान बनो, तीसरे कहेंगे दोनों का झगड़ा बन्द करो, ईसाई बन जाओ। हम यदि किसी कल्पना में बँधे रहना चाहेंगे तो यह दुःख नहीं हटना है। जिसने अबीज स्थानीय परमात्मा को समझ लिया वह तत्तद् उपाधि से सारे व्यवहार करते हुए स्वयं निरुपाधिक को पकड़ने वाला है अतः उसे कुछ चिंता नहीं क्योंकि जानता है कि अबीजावस्था सच्ची है और बाकी सारी बीज वाली अवस्थायें हैं। व्यवहार में चाहे कुछ करता रहे लेकिन वह आग्रहरहित हो जाता है क्योंकि जानता है कि ये तो रस्सी में साँप की तरह हैं। इसे आग्रह नहीं कि सबको साँप या माला या जलधारा ही दीखे!

इसलिये कह दिया कि तीनों स्थानों का निरादर (निराकरण) करना हमको इष्ट है, किसी नई बात को तुम्हारे ऊपर बैठाना इष्ट नहीं। जो कल्पनायें तुमने कर रखी हैं उन्हें छोड़कर अपने स्वरूप को देखो। उसके बाद तुम्हारी तृष्णायें निवृत्त हो जायेंगी। फिर व्यवहार के लिये तुम कल्पना कोई करना चाहते हो तो जानकर करो कि इसके लिये यह कल्पना करनी है, सच्ची मानकर नहीं। खेलने के लिये कुछ नियम बना लो, लेकिन वे नियम ऐसे नहीं कि सब मानें। जैसे दक्षिण भारत में कबड्डी दूसरे ढंग से और अपने यहाँ दूसरे ढंग से खेलते हैं। अपने यहाँ जो मरने वाला अंतिम रह जाता है वह चुप हो जाता है, उनके यहाँ ऐसा नहीं होता। कहीं शतरंज खेलते हैं तो बादशाह और बीबी के सामने वाला दो पैर चलता है, कोई कहता है जितने मोहरे हैं सब दो पैर चलें। कोई कहता है घोड़ा इधर रखो, कोई कहता है उधर रखो। जहाँ जिस देश में जैसा खेल का नियम हो वैसा खेल लेंगे, उसमें कोई आग्रह नहीं। इसी प्रकार व्यवहार के लिये नियम

बनाओ लेकिन जानकर बनाओ कि हमारे द्वारा कल्पित नियम हैं। यथासंभव जो नियम अच्छे लगें, उनके अनुसार समाज चला लो। लेकिन वह परमात्मा अबीजस्थानीय है, इन तीनों स्थानों के निराकरण में हमारा तात्पर्य है, किसी नई चीज को लादने में नहीं।

'नन्वात्मनश्चतुष्पात्त्वं प्रतिज्ञाय पादत्रयकथनेनैव चतुर्थस्यान्तःप्रज्ञादिभ्योऽन्यत्वे सिद्धे नान्तःप्रज्ञमित्यादिप्रतिषेधोऽनर्थकः?' अब कोई पूछता है कि आत्मा के चार पैर कहे और तीन पैर बता दिये तो अपने आप ही सब समझ लेंगे कि तीन पैरों से भिन्न चौथा पैर है। तीन से भिन्न चौथा अपने आप सिद्ध हो जायेगा। फिर मुख से कहना कि वह ये तीन नहीं है, अनर्थक अर्थात् निष्प्रयोजन है, कहना आवश्यक नहीं। जवाब देते हैं कि ऐसा नहीं 'न। सर्पादिविकल्पप्रतिषेधेनैव रज्जुस्वरूपप्रतिपत्तिवत्त्यवस्थस्यैवात्मनस्तुरीयत्वेन प्रतिपिपादयिषितत्त्वात्।' यों बताने की सार्थकता है। जिसको सर्प इत्यादि की प्रतीति रस्सी में हो रही है, उसको 'यह सर्प नहीं है' इतना कहने से ही भय आदि की निवृत्ति हो जाती है। इसी प्रकार जो संसार के शोक-मोह में पड़ा हुआ है उसको 'शोक मोह वाली जाग्रत्-स्वप्न आदि अवस्थायें तुम्हारा वास्तविक स्वरूप नहीं है' इसके प्रतिपादन मात्र से ही शान्ति हो नहीं जाती है, आगे 'मेरा असली स्वरूप क्या?' इसकी जिज्ञासा रहती है। लोग पहले यह समझते हैं कि मेरे बाप दादा परदादा सभी शोक-मोह-ग्रस्त होकर दुःखी होते रहे और इसलिये इसके सिवाय दूसरा मार्ग ही नहीं है। साधारण मनुष्य की प्रतीति ही यह है कि संसार है तो दुःखरूप, लेकिन इसको छोड़कर जायें कहाँ, और है कौन सी जगह जहाँ जायें? जब उसे कहा जाता है कि यह तुम्हारा सच्चा स्वरूप नहीं है, तब उसे पता चलता है कि यह छूट सकता है तब आगे छूटने के उपाय में प्रवृत्ति करेगा। इसलिये जैसे सर्प आदि विकल्पों का प्रतिषेध करने से मनुष्य रज्जुस्वरूप की प्राप्ति की तरफ जाता है, उसी प्रकार तीन अवस्थाओं वाला जो आत्मा है उसकी तुरीयरूपता के प्रतिपादन करने की इच्छा से ही उसका प्रतिषेध या निषेध किया जाता है। यदि उसका निषेध नहीं किया जायेगा तो यह समझने पर भी कि इन तीन पादों से भिन्न चतुर्थ पाद तुरीय है, उसकी प्रतीति रह जायेगी कि तीन पादों से भिन्न चतुर्थ पाद है। घण्टा दो घण्टा जब समाधि का अभ्यास करेंगे, उस काल में इस दुःख से दूर होकर बैठ सकेंगे, लेकिन तीन पाद तो रह ही जायेंगे, यह इसका तात्पर्य हो जायेगा। न्याय की भाषा में तीन से यह भिन्न दो प्रकार का हो सकता है। या तो तीनों का इसमें अत्यंताभाव है या तीनों का इसमें अन्योन्याभाव है। अन्योन्याभाव अर्थात् जैसे घड़ा कपड़ा नहीं, कपड़ा घड़ा नहीं, अर्थात् अन्य का अन्य में अभाव। इसी प्रकार जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीन को संसारी अवस्था में एक कर लिया। संसारी-अवस्था ब्रह्म-अवस्था में नहीं और ब्रह्म-अवस्था संसारी-अवस्था में नहीं। इस प्रकार चतुर्थत्व की प्राप्ति हो जायेगी जब तक यह न कहा जाये कि इन तीनों का चतुर्थ में अत्यंताभाव है। जब तक इस बात को मनुष्य नहीं समझता कि तीनों वास्तव में है ही नहीं, तब तक समझेगा कि घण्टा दो घण्टा बैठकर

समाधि लगायेंगे, उतनी देर तक सुख हो जायेगा, उसके बाद करना तो यही है। बाकी बीस बाइस घण्टे यही करते रहेंगे। शोक-मोह आदि की निवृत्ति स्वरूपगत निवृत्ति नहीं समझ में आयेगी जब तक यह प्रतिषेध नहीं हो जायेगा। यही बंधन प्रायः चलता रहता है क्योंकि मनुष्य इस अत्यंताभाव को नहीं समझता। तुरीय पादत्रय से विलक्षण नहीं है बल्कि तीनों अवस्थायें कभी भी किसी भी काल में जहाँ उत्पन्न नहीं होतीं, वह तुरीय है 'तुरीयं ब्रह्म स्वरूपम्'। इसीलिये तुरीय शब्द अर्थवान् हो गया।

यह प्रतिपादन कैसे? 'तत्त्वमसीतिवत्' जैसे 'तत्त्वमसि' विधि मुख से प्रवृत्त होता है। केवल यदि कह दें 'तू' तो अल्पज्ञ अल्पशक्तिमान् जीव की, और यदि केवल 'तत्' वह कह दें तो सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् की प्रतीति हो जाती। जब 'तत्त्वमसि' कहा तो उसे पता लगा कि सर्वज्ञता अल्पज्ञता दोनों से रहित मेरा स्वरूप है। जैसे वहाँ किसी एक के कहने से गतार्थता नहीं होती, उसी प्रकार यहाँ भी यदि केवल तुरीय का वर्णन करते तो मनुष्य को भ्रम रह जाता कि जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति की तरह तुरीय है, इसीलिये निषेध करना आवश्यक हो गया। यहाँ भाष्यकारों ने निषेध का जो तात्पर्य बत्ताया है वही निषेध का तात्पर्य सर्वत्र वेदांत दृष्टि से समझना। यद्यपि वेदांती का कहना यह है कि जगत् तीन काल में कभी उत्पन्न हुआ नहीं, सिद्धान्त तो यह बताता है, तथापि सबसे पहले क्या करते हैं? जगत् का कारण प्रकृति नहीं, जगत् का कारण चांस देवता भी नहीं। यदृच्छा (chance) भी एक देवता हो गया है और आजकल की वर्तमान सरकार उसी देवता का सबसे ज्यादा प्रचार लाट्री नाम से करती है क्योंकि चांस का प्रचार करने से लोगों में आलस्य होता है और उस पर अत्याचार करो तो उसे डण्डे खाने की आदत हो जाती है। इसलिये यह चांस का प्रचार चल गया है कि उनका काम चलता रहे। बहुत से लोग सृष्टि के प्रति इस यदृच्छा को कारण मान लेते हैं। इन सब कारणों का निषेध वेदांती इसलिये करता है कि इन सबका निषेध करके बताना है कि जगत् का कारण एकमात्र चेतन तत्त्व है। यदि केवल कहें कि जगत् का कारण चेतन तत्त्व है तो मनुष्य समझेगा कि चेतन तो है लेकिन और भी कोई कारण होगा। दो साथ चल जाते होंगे। जैसे लड़की और लड़का दो मिलकर पुत्र के कारण हैं। कुछ लोग कई देवताओं को साथ चलाते हैं। कोई उनसे कहे कि 'लड़का ढूँढ़ें?' तो कहते हैं कि 'हरेक लड़की अपने साथ लेकर ही आती है, क्या ढूँढना है।' फिर दो दिन बाद किसी से पूछ रहे होते हैं कि अमुक का लड़का विलायत गया था, उसकी शादी की कहीं बातचीत तो नहीं चल रही है! यदि लिखा ही हुआ है और लड़की साथ लेकर आती है तो चिंता काहे की कर रहे हो? फिर उसके चार दिन बाद जन्मपत्री लेकर आते हैं कि मिलती है या नहीं। जब तुम्हारे ही कहने के अनुसार पहले से ही मिला हुआ है तो मिलाकर क्या करोगे? जो लिखा है हो जायेगा।

इस प्रकार कई कारणों की प्राप्ति साथ ही साथ होती रहती है। इसलिये पहली ज़रूरत होती है यह बताने की कि बाकी सब कारण नहीं हैं। चेतन से भिन्न जब सब कारणों का निराकरण हो गया जब पता लगा कि एकमात्र चेतन ही जगत् का कारण है तो अगला प्रश्न आयेगा कि वह चेतन कौन है? तब कहेंगे कि वह तुम हो। एकमात्र तुम ही समग्र जगत् के कारण हो। जहाँ जहाँ हम लोग अन्य चीज़ों का निषेध करते हैं वहाँ निषेध का तात्पर्य किसी एक चीज़ को ठीक प्रकार से बताने में है क्योंकि उसके निषेध के बिना उस चीज़ को ठीक तरह से समझाया नहीं जा सकता। यदि केवल तुरीय का वर्णन करते तो जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति भी हैं, और तुरीय भी है, ऐसी प्रतीति हो जाती, जैसे जगत्कारण में लोगों को प्रतीति हो जाती है कि चेतन भी कारण है और साथ में परमाणु भी कारण तो हैं ही। काल आदि अन्य अन्य कारणों की किंचित् प्राप्ति भी हो जाती है। उसको हटाना जरूरी होता है।

इस निषेध मुख से घबराना नहीं चाहिये। लोग उलटा अर्थ समझ लेते हैं कि किसी का किसी से राग-द्वेष होगा तब उसका खण्डन करते हैं। जैसे दस चीज़ें एक साथ हैं तब उसका नाम 'प्राचीन औषधि' है। डॉक्टर क्या करता है? अधिकतर डॉक्टरों की औषधियाँ कोई नवीन नहीं हैं, केवल यदि पैनिसिलिन, एण्टीबायोटिक्स ग्रुप को छोड़ दो, तो बाकी औषधियों में कोई बहुत बड़ा आविष्कार औषधिविज्ञान ने नहीं किया। बहुत से लोग समझते हैं कि दवाई नई होती होगी। औषधिविज्ञान ने केवल इतना किया है कि प्रत्येक औषधि के जितने कार्यकारी तत्त्व हो सकते हैं, उनको अलग अलग करके यह पता लगाया कि कौन सा कार्यकारी तत्त्व किस रोग में फायदा करता है। दस चीज़ें मिली हुई थीं, उनमें से एक किसी एक रोग के लिये काम करती है और बाकी नौ किसी दूसरे के लिये काम करती हैं। रसायनविज्ञान के प्रयोग से हम लोगों ने इस बात का पता लगाया कि इस रोग के लिये यह चीज़ कारगर है, बाकी नौ वहाँ हैं, लेकिन इसके काम की नहीं। इसका लाभ यह हुआ कि किसी को कितनी दवाई देनी है, उसका भी नियंत्रण हो जाता है। जहाँ सब दवाइयाँ मिली हुई होती हैं वहाँ जब भैषज्यसंग्रह (फार्माकोपिया) को देखते हैं तो पता लगता है कि एक ही दवाई सिर दर्द में, रक्तशोधन में काम करती है, हृदय को मज़बूत भी करती है और टाइफाइड में भी फायदा पहुँचाती है, अग्नि संदीपन भी करती है। दवाई एक उसमें पच्चीस चीज़ें हैं। यह वैद्यजी को भी पता नहीं कि कौन सी चीज कौन सी दवाई किस रोग के लिये कारगर है; इसलिये सब मिलाजुला कर चलता है। उसमें काम करने वाला तत्त्व अलग नहीं किया गया है। इसी प्रकार जगत्-कारणत्व इत्यादि विचार करने में जब तक परिशोधन करके देख नहीं लिया जाता कि वास्तविक कारण कौन-सा है, तब तक सब चीज़ें इकट्ठी हो जाती हैं और वास्तविक कारणता का पता नहीं लगता। इसलिये कहा 'तत्त्वमसीतिवत्' तत् त्वं दोनों का परिशोधन आवश्यक हो जाता है।

'यदि हि त्र्यवस्थात्मविलक्षणं तुरीयमन्यत्तत्प्रतिपत्तिद्वाराभावाच्छास्त्रोपदेशानर्थक्यं शून्यतापत्तिर्वा।' इस प्रकार स्थानत्रयविशिष्ट जो आत्मा है, इसकी जब तुरीयता बताई तो मन में इच्छा होती है कि तुरीय का कोई विशिष्ट लक्षण बताओ, तीन से भिन्न कोई उसकी अवस्था बताओ। यह साधारण आदमी के मन में बैठा रहता है। सोने का मतलब आदमी समझता है कि या सोने के पासे को, या सोने के बिस्कुट को, या सील को सोना कहते होंगे। किसी न किसी आकार वाली चीज़ को दिखाकर कहो कि यह सोना है। लेकिन पासा, बिस्कुट, सील, तीनों ही सोना नहीं। ये तो सोने की एक एक शकलें हैं। इसी प्रकार कड़ा, बाजूबन्द, करधनी, पायजेब भी सोने की एक एक शकलें हैं। इनमें से कोई भी शकल सोने की नहीं है। यदि कोई कहे कि 'ऐसा है तो हमको वह शकल दिखाओ जो सोने की असली शकल है', तो कुछ नहीं दिखा सकते। इन सबको देखकर तुमको ज्ञान होता है कि सोना इस प्रकार का पीला होता है, कसौटी पर यह रंग देता है। सोने का लक्षण तो यही है। किसी एक शकल को सोना नहीं कह सकते। इसी प्रकार मनुष्य कहता है कि हमको परमात्मा का रूप बताओ कि उसका क्या रूप है। संसार के यावत् पदार्थों को देखो, उनमें जो सब जगह एक जैसा है, वही परमात्मा है। यह ज़रूरी नहीं कि सोने की सारी शकलें दीखें तभी परीक्षा हो, पाँच सात शकलें देखने से परीक्षा हो गयी, अगली बार नये रूप में सोना आयेगा तो भी पहचान लेंगे कि यह सोना है। इसी प्रकार सच्चिदानंद का जब अनुभव कर लिया तो संसार के यावत् पदार्थों में या उसकी सद्रूपता, या चिद्रूपता या आनंदरूपता को देखोगे तो पहचान लोगे कि यह परमात्मा का स्वरूप है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तीनों अवस्थाओं से विलक्षण, भिन्न करके कोई तुरीय को अन्य चतुर्थ चीज देख या कह सकें कि 'यह तुरीय है,' ऐसा नहीं है। जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति में ही तुमको तुरीय को पहचानना है। इन तीनों से भिन्न कोई चतुर्थ चीज़ नहीं जहाँ जाकर इसका पता लगना है। इसलिये कह दिया 'प्रतिपत्तिद्वाराभावात्'।

कोई कहता है कि यदि ऐसा ही है तो फिर हम जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिको जानते ही हैं, फिर तो हमने ब्रह्म को जान लिया। कहते हैं नहीं, जाना इसलिये नहीं कि तुमने अभी सब पदार्थों की भिन्नता को तो जाना है, पदार्थों की अभिन्नता को नहीं जाना है। अपने सुख को तो जानते हैं और दुःख को भी जानते हैं, लेकिन सुख और दुःख के अन्दर कोई एक समान रहने वाली चीज़ है, उसको कहाँ जानते हैं? भगवान् ने कहा 'सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ। ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि।' सुख और दुःख दोनों में कोई सम्बन्ध है, उसको समझ करके ऐसा कहा। उलटा नहीं समझ लेना कि उसको सुख और दुःख का भान नहीं होता है। कुछ लोगों को ऐसा भ्रम हो जाता है कि उसको सुख दुःख एक जैसा दीखता है। किसी आदमी की आँख तेज हो जायेगी तो क्या उसको अंधकार दीखेगा या चीज़ और स्पष्ट रूप से दीखने लग जायेगी? इसी

प्रकार सुख दुःख साधारण आदमी को ही दीख रहे हैं, और अलग अलग दीख रहे हैं, ज्ञानी को यदि एक जैसे दीखने लगे तो फिर वैसा हो जायेगा कि डाक्टर के पास गये तो आँख ठीक कराने के लिये और फुड़वा कर आये! पहले तो सुख दुःख अलग अलग दीखते थे और अब एक दीखने लग गये। पैर में काँटा लगेगा, पता नहीं लगेगा और घाव हो जायेगा, गैंगरीन होगा और वह मर जायेगा। जब पता लगेगा कि यह दुःखरूप है तब तो उसे हटायेगा। इसलिये तात्पर्य है कि सुख दुःख दोनों में कोई एक सम तत्त्व है, उसका नाम भी गीता में बता दिया 'निर्दोषं हि समं ब्रह्म', सुख दुःख दोनों में ज्ञान है। ब्रह्म अर्थात् ज्ञान; सुख दुःख एक नहीं है, बल्कि सुख का भी ज्ञान ही होता है और दुःख का भी ज्ञान ही होता है। ज्ञान सुख दुःख दोनों में एक जैसा है। बिना ज्ञान के न दुःख की और न सुख की सिद्धि है। इसी प्रकार भगवान् ने कहा 'लाभालाभौ समे कृत्वा' लाभ और अलाभ के अन्दर भी एक सम तत्त्व है, उसे देखना है। लाभ देह आदि संघात को होता है। शरीर आदि को कोई न कोई चीज़ मिलेगी। इसी प्रकार यदि कोई चीज़ नहीं मिलेगी तो शरीर आदि संघात को नहीं मिलेगी। लाभ अलाभ में सम होने का मतलब है कि इस समानता को जानना कि लाभ अलाभ शरीर आदियों को होता है, आत्मा को नहीं होता। यह नहीं कि लाभ को अलाभ और अलाभ को लाभ समझ लो। वैसे ही 'जयाजयौ' जय और पराजय है। जय किस की होती है? नाम की जय होती है और किसी की जय नहीं होती। मनुष्य का नाम ही जीतता है। ऐसा नहीं कि हर बार जीतने से कोई खास चीज़ मिल जाती हो। कई बार दो भाई जब मुकदमा लड़ते हैं तो हम कहते हैं 'मुकदमा छोड़ दो।' कहते हैं कि 'हम अपने अधिकार को कैसे छोड़ दें?' हम कहते हैं 'अधिकार तो मुकदमा करके भी छोड़ोगे। केवल इतना ही है कि अधिकार वाली सम्पत्ति वकील साहब के नाम करना चाहते हो या भाई के पास छोड़ना चाहते हो। तुम्हें नहीं मिलेगी तो भाई के पास रहेगी। तुम्हारे पास तो किसी हालत में नहीं रहनी। या फिर वकील के पास जायेगी।' जय-पराजय में तुम्हें कुछ नहीं मिलता, केवल नाम मिलता है। अब इन दोनों में एकता देखनी है कि नाम की ही जय पराजय होती है, उससे अपना कुछ नहीं।

जब इन तीनों दोषों को छोड़ दो तब मनुष्य धर्मयुद्ध कर सकता है 'ततो युद्धाय युज्यस्व' जो यह देखेगा कि यह काम हम करने जा रहे हैं, हारेंगे या जीतेंगे, वह धर्मयुद्ध नहीं कर सकता क्योंकि धर्मयुद्ध के अन्दर नुक्सान ही ज्यादा होना है, फायदा तो किसी को ही हुआ करता है। जय अजय को देखने वाले से धर्मयुद्ध नहीं होना। क्योंकि जय चाहने वाला तो कहेगा कि जो चल रहा है उसका साथ दो। जिस काल में जो आगे आयेगा उसका साथ दे देगा। आज इसकी जय, कल उसकी जय कर देगा। जो इस सम तत्त्व को समझा रहेगा कि जय अजय में कुछ नहीं रखा है, कोई फायदा नुकसान नहीं है वही धर्म की ओर स्थिर रह सकता है। विचार करके देखो : अगर इस समय

नेहरू जी भी पैदा हुए होंगे, पैदा भारत में ही हुए होंगे क्योंकि ऐसे ही संस्कारों वाले वे रहे। दस बारह साल के बच्चे होंगे। अभी १५ अगस्त आ रही है, उस दिन बच्चों को लेकर जायेंगे; उसमें वे भी 'नेहरू जी की जय' बोल रहे होंगे और मन में सोच रहे होंगे कि कितने बड़े आदमी थे, मैं भी वैसा होता तो कितना अच्छा होता! इसलिये जय पराजय नाम की होती है, व्यक्ति तो चला जाता है। जिसको इस बात का ज्ञान है वह फिर जय पराजय की दृष्टि नहीं रखता, वह देखता है कि जो चीज़ ठीक है उसी को करना है। यह समता का अनुभव एक अनुस्यूत तत्त्व है।

जो जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति को जानता है, क्या तीनों में अनुस्यूत तत्त्व को जानता है? नहीं जानता। इसलिये जो समझता हो कि तीन से भिन्न तुरीय नहीं और तीन को जान रहा हूँ; तो वह नहीं जान रहा है। शास्त्र के द्वारा ही इसका ज्ञान हो सकता है, और किसी उपाय से नहीं क्योंकि शास्त्र इन तीनों के अन्दर जो उपाधि वाला अंश है, उसको हटाकर जो वास्तविक अंश है उसको तुम्हें कह देगा। यही शास्त्र का काम है। शास्त्र ज्ञापक है। तुम विशिष्ट को तो जान रहे हो, दो चीज़ें मिली हुई जान रहे हो, लेकिन कौन सी चीज तत्त्व है, उसे नहीं जान रहे हो। उपाधि को हटाकर असली चीज़ का प्रतिपादन कर देना शास्त्र का तात्पर्य है। अगर ऐसा नहीं करोगे तो शून्यता का आपादन हो जायेगा। विशिष्ट को जानने वाला विशिष्ट को हटाकर शून्य समझ लेगा कि वहाँ कुछ है ही नहीं। खुद तो या विशिष्ट का या शून्य का ज्ञान होगा। जब तक अलग अलग करके नहीं बताया जाये तब तक सर्वव्यापक तत्त्व का ज्ञान नहीं होगा। शून्यता की आपत्ति होने पर मनुष्य सोचता है कि 'कमाओ खाओ जिन्दगी निकालो। ये आदर्श सब शून्य हैं। बड़े बड़ो ने दुःख ही दुःख देखा, दूसरे ही आगे बढ़ रहे हैं। धर्म आदि की बात कुछ समझ में नहीं आती। इसलिये बस रोटी कमाओ, बच्चे पैदा करो और उनका पालन पोषण करो।'— यह जीवन की शून्यता है। अतः इस शून्यता से बचकर शास्त्र के सहारे वास्तविकता को समझना बहुत ज़रूरी है।

'रज्जुरिव सर्पादिभिर्विकल्प्यमाना स्थानत्रयेप्यात्मैक एवान्तःप्रज्ञादित्वेन विकल्प्यते यदा तदान्तःप्रज्ञत्वादिप्रतिषेधविज्ञानप्रमाणसमकालमेवात्मन्यनर्थप्रपंचनिवृत्तिलक्षणफलं परिसमाप्तम्' शास्त्र के द्वारा जब बता दिया जायेगा तब फिर यह शून्यतापत्ति नहीं होगी कि जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति तीनों अध्यासों को हटाकर इनका अधिष्ठान कोई नहीं और जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति से विशिष्ट रूप ही है, शुद्ध चेतन रूप से, तुरीय रूप से कुछ नहीं। इन भ्रमों से जब बच गये तब यह पता लगेगा कि जैसे रस्सी में सर्प आदि की विकल्पनायें होती रहती हैं वैसे ही तीनों स्थानों के अन्दर अर्थात् जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति के अन्दर आत्मा एक ही बना रहता है। शंकावादी के हृदय में बात यह है कि भेदपक्ष में दोष हो सकता है लेकिन अभेदपक्ष को कैसे बनाओगे? उसका जवाब दे दिया कि जैसे सर्प, जलधारा आदि विकल्पों का अधिष्ठान एक रस्सी ही है वैसे ही जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति

का अधिष्ठान एक तुरीय आत्मा ही है। वह अंतःप्रज्ञत्व इत्यादि अनेक रूपों में अवभास रहा है, प्रतीत हो रहा है। उनके निषेध करने का तात्पर्य यह नहीं कि वह नहीं है, बल्कि उन सबका अधिष्ठान एक वह ही है, वह आत्मा है जिसमें यह सब एक जैसा कल्पित है। वह अंतःप्रज्ञत्व आदि रूप से विकल्पित होता है।

यह वेदांतपक्ष में एक बहुत बड़ी प्रतिज्ञा है। अंतःप्रज्ञत्व आदि का प्रतिषेध किया गया और उसका अनुभव पैदा हो गया! अनुभवपूर्वक ज्ञान ही विज्ञान हो गया। जैसे ही यह अनुभव वेदवाक्यरूप प्रमाकरण से उत्पन्न हुआ कि अंतःप्रज्ञ आदि नहीं हैं, तो 'समकालमेवात्मनि अनर्थप्रपंचनिवृत्तिलक्षणफलम्' उसी समय अनर्थ समाप्त है। यह नहीं कि ज्ञान आज हुआ और उसके तीन साल बाद अनर्थ निवृत्त होगा, या अगले जन्म में, या मरते क्षण में, या मरने के बाद होगा, ऐसा नहीं है। जैसे ही इसके प्रतिषेध का अनुभव उत्पन्न होता है, उत्पन्न होने के साथ ही अनर्थ-प्रपंच की निवृत्ति सद्यः हो जाती है। इसीलिये आत्मज्ञानी समाज के लिये सबसे बड़ा खतरा है। ऐटम बम इतना बड़ा खतरा नहीं है। यदि तुम्हारे पास ऐटम बम होगा और किसी एक जगह फेंकोगे तो सरकार का एक शहर या एक मकान नष्ट हो जायेगा लेकिन आत्मज्ञानी सबसे बड़ा खतरा इसीलिये है कि वह सारे समाज को खत्म करने की शक्ति रखता है। वह उस शक्ति को प्राप्त किये हुए है जिससे उसका तुम कुछ बिगाड़ नहीं सकते। तुम्हारे शरीर मन बुद्धि को ही और इनके सम्बन्धियों को ही नियंत्रण में लेकर तुम्हारे ऊपर समाज राज्य इत्यादि सब शासन करते हैं। जिसने इन रूपों को छोड़ दिया उसको तुम किससे दबाओगे? समाज जो कुछ भी प्रलोभन देकर उसे नियंत्रण में लायेगा, वह उसको लुब्ध करता है नहीं। वह व्यक्ति चूँकि सर्वथा स्वतंत्र हो जाता है इसलिये वह सबसे बड़ा भयंकर होता है। शुकदेव को भी लोग पत्थर ही मारते थे। आत्मज्ञानी को दूसरे समझें तब ज्ञान संतोषप्रद हो, ऐसा नहीं है। वह तो उसे स्वयं में पूर्णता प्रदान कर रहा है। इसलिये जैसे ही अनुभव रूप से ज्ञान प्रमा उत्पन्न हुई उसी समय अनर्थ-प्रपंच-निवृत्तिरूपी जो फल है, उसे तुरंत सिद्ध हो जाता है, देरी नहीं लगती।

'तुरीयाधिगमे प्रमाणान्तरं साधनान्तरं वा न मृग्यम्।' इसीलिये कहते हैं कि तुरीय के अधिगम के लिये अर्थात् साक्षात्कार के लिये अन्य प्रमाण या साधन नहीं चाहिये। एक शंका यह आती है कि शब्द से संसृष्ट ज्ञान होता है और संसृष्ट ज्ञान परोक्ष ज्ञान हुआ करता है। जब किसी चीज़ को शब्द से कहोगे तो चीज़ों का सम्बन्ध बताने के लिये ही शब्दों की प्रवृत्ति होगी जैसे 'राम ने रावण को मारा', यह वाक्य हुआ। 'राम ने' में राम का सम्बन्ध मारने के साथ बता रहे हैं अर्थात् राम मारने की क्रिया का कर्त्ता है। 'रावण को' में रावण और मरने का सम्बन्ध बताया जा रहा है। राम रावण का सम्बन्ध बताया जा रहा है। जब किसी वाक्य को बोलोगे तो ज्ञान संसृष्ट अर्थात् दो चीजों के सम्बन्ध को बताने वाला होता है, इसलिये वह परोक्ष ज्ञान होता है, अपरोक्ष नहीं होता।

अखण्डब्रह्म का ज्ञान असंसृष्ट ज्ञान है क्योंकि उसके ज्ञान से बाकी सब अनर्थक ज्ञानों की निवृत्ति हो जाती है। शंका यह होती है कि ऐसी परिस्थिति में जबकि असंसृष्ट अखण्ड ब्रह्म है तो शब्द से उसका ज्ञान कैसे हो सकेगा? इसलिये उसके ज्ञान के लिये कोई दूसरा प्रमाण मानो, शब्द प्रमाण से काम नहीं चलेगा। किंतु ऐसी बात नहीं है। शब्द विषय के अनुसार संसृष्ट या अखण्ड दोनों पदार्थों को बता देता है। जैसे कलकत्ते में हमने एक लखपति सेठ जी को देखा, लखपति नहीं करोड़पति समझो क्योंकि अब लखपति बहुत हो गये हैं! वह खूब हृष्ट-पुष्ट मोटे-तगड़े थे। दो साल बाद उन्हें दिल्ली की सड़क पर फटे चीथड़ो में फटे हाल देखा। कलकत्ते में जिस सेठ का ज्ञान हुआ था वह मोटा और करोड़पति था, दो साल पहले वाला था और कलकत्ते वाला था। अब जिस सेठ का ज्ञान हो रहा है, वह खखपति कंगला, फटे चीथड़े वाला, दिल्ली वाला और दो साल बाद वाला है। ये दो ज्ञान हुए। चेहरा देखकर मन में कुछ संदेह हुआ, ज़रा पास जाकर कहा 'आपका नाम बैकुण्ठनाथ जी तो नहीं है?' वह बेचारा चमक कर देखता है, रोने लगता है। नाम तो यही है। उसका रोना देखकर और निश्चय होता है, पूछते हैं 'मुझे पहचाना?' कहता है— 'हाँ जी।' अब और निश्चय हो गया। अब विचार करो कि 'मैं ही वैकुण्ठनाथ हूँ' जब उसने वाक्य कहा तो ऐसे असंसृष्ट पदार्थ का ज्ञान हुआ जो न कलकत्ते वाला सेठ है और न दिल्ली वाला कंगला है, न कलकत्ते वाला करोड़पति है और न दिल्ली वाला खखपति है। न कलकत्ते वाला मोटा और न दिल्ली वाला दुबला है। न दो साल पहले वाला और न अब वाला है। बल्कि 'मैं ही वैकुण्ठनाथ हूँ' इस शब्द से एक ऐसी चीज़ का ज्ञान हुआ जो इन दोनों में अनुस्यूत है। असंसृष्ट ज्ञान शब्द से हो गया। इसलिये यह नियम नहीं कि शब्द से संसृष्ट ज्ञान ही हो, असंसृष्ट ज्ञान भी होता है। शब्द विषय के अनुसार ज्ञान करा देता है। ब्रह्म तत्त्व चूँकि असंसृष्ट है, इसलिये ज्ञान भी असंसृष्ट होता है, इसलिये अपरोक्ष हो जाता है। इसलिये उस तुरीय को जानने के लिये और किसी नये प्रमाण को ढूँढने की ज़रूरत नहीं।

किसी ने कहा कि प्रमाणान्तर न सही, लेकिन कोई साधनांतर होता होगा? समझ के अतिरिक्त कुछ और प्रसंख्यान आदि होगा? बार बार उस चीज़ को करते करते ज्ञान होगा? कई लोगों के मन में यह भ्रम बैठा रहता है कि एक बार समझने से नहीं होता, वह तो कई बार समझोगे तब होगा। ऐसा नहीं, समझ तो हुई और हुई, नहीं तो नहीं। समझ के अन्दर 'कई बार' अर्थात् प्रसंख्यान नहीं हुआ करता। जैसे 'मैं कौन हूँ' इसका कोई प्रसंख्यान नहीं करना पड़ता। 'मैं केवलराम हूँ' इसके प्रसंख्यान की ज़रूरत नहीं और प्रसंख्यान करते रहो तो यह ज्ञान होता भी नहीं। हम लोगों ने जो जन्मना जाति मानी, उसका कारण यह सिद्धान्त भी है, बाकी जो भी कारण हो। बचपने से जब तुमने एक ही चीज़ को समझ लिया कि 'मैं ब्राह्मण हूँ त्याग करना मेरा स्वभाव होना चाहिये, वेदाध्ययन ही मेरा अंलकार हो सकता है, शास्त्रार्थ में जीतना ही मेरी जीत है।' बचपन

से यही संस्कार पड़े तो तुमको दृढ बोध होता है कि यही मेरा कर्त्तव्य है। अब हमने कहा कि हम जन्म से जाति नहीं मानेंगे। बड़े होकर निश्चय करना कि हम ब्राह्मण बनें या क्षत्रिय बनें। बड़े हुए तो पहले निश्चय किया कि क्षत्रिय बनूँ, आई. ए. एस. की परीक्षा दी और फेल हो गये। अब निश्चय किया कि बनिये बनें, प्राइवेट कंपनी में अर्जी भेजी। वहाँ भी नौकरी नहीं मिली तो अंततोगत्वा ब्राह्मण ही सही; अध्यापक बन गये ब्राह्मण बन गये। अब उसके अन्दर दृढ बोध तो है नहीं कि ब्राह्मण ही रहना है। कक्षा में पढ़ाने जाते हैं, तो थोड़ी सी भी पढ़ाई करके नहीं जाते क्योंकि चार जगह और अर्जियाँ दे रखी हैं, कहीं क्षत्रिय के लिये और कहीं वैश्य के काम के लिये। इसलिये कर्त्तव्यबोध नहीं हो पाता कि यही मेरा कर्त्तव्य है। यदि समझ में है कि 'मैं ब्राह्मण हूँ, इसलिये मुझे करना ही यह है' तब तो मनुष्य उसमें विशेषता प्राप्त करेगा। जन्मना जाति मानने का एक प्रमुख कारण कर्त्तव्य का अवबोध है। और भी कई कारण हैं। लेकिन मुख्य कारण यही है।

बहुत साल पहले सन् ४२ में पर्लहार्बर पर अटैक हुआ तो वहाँ जितने जापानी थे उन सबको जेल में डाल दिया गया था और जो दस पाँच बचे हुए थे उनपर निरंतर निगरानी रखी जा रही थी। थे वे सारे के सारे अमेरिकन नागरिक। फिर ऐसा क्यों किया गया? यह सोचकर कि अमेरिकन सिटिज़न होने पर भी लड़ाई जापान से हो रही है, इसलिये उनकी हमदर्दी जापान की तरफ होगी। एकाध की न भी हो, लेकिन अधिकतर की हमदर्दी जापान के साथ होने की सम्भावना है, यह स्वाभाविक है। अतः सावधानी बरती गई। ऐसे ही एक हमारे स्वामी जी हैं, नाम नहीं बतायेंगे। उन्होंने अमरीका में बहुत प्रापर्टी ली है उनकी भी वहाँ की नागरिकता हो गई है। कुछ दिन पहले मिले तो हमने उनसे पूछा 'आपने अमरीका की सिटिज़नशिप ले ली है, एक बात ईमानदारी से बताओ, कभी अगर अमरीका से लड़ाई हो जाये तो क्या दिल से अमरीका की मदद करोगे?' कहने लगे—'लड़ाई नहीं हो सकती, आप भी कैसी बात कर रहे हैं।' हमने कहा— 'अगर हो जाये तो?' कहने लगे 'तो यही चाहेंगे कि हिन्दुस्तान ही जीते।' हमने कहा— 'फिर आपने वहाँ के संविधान की कसम कैसे खा ली? तब कहने लगे 'इसके बिना वहाँ सम्पत्ति नहीं रख सकते और उन लोगों पर विश्वास करें तो न जाने कब धोखा दे दें। इसलिये ऐसा करना पड़ा।' जैसे हमारा हृदय वैसा ही सबका समझना चाहिये। जापानी चाहे जितने अमरीकन बनकर रहें, हमदर्दी जापान के साथ कर सकते हैं। कारण क्या है? जो आदमी अमरीका में ही पैदा हुआ उसकी तो जन्म से ही अमरीकन नागरिकता है, इसलिये उसे एक ही संस्कार है कि 'मैं अमरीकन हूँ इसलिये इस देश की उन्नति, इस देश की रक्षा मेरा कर्त्तव्य है', यही उसका संस्कार है। जिसने अपने जीवन में अमरीकन नागरिकता का चुनाव किया है उसको पहले पच्चीस साल तो यह अवबोध रहा कि 'मैं हिन्दुस्तानी हूँ' और फिर एक दिन यह अवबोध है कि 'मैं अमरीकन हूँ।' इससे हृदय में कभी भी कर्त्तव्य की दृढता नहीं आ सकती। इसलिये जन्म से जाति मानने का एक

बड़ा कारण है कि लोगों को अपने कर्म के प्रति निष्ठा तभी पैदा हो सकती है, अन्यथा नहीं।

हमारे शास्त्रकार बड़े सूक्ष्म विचार वाले थे। वेदों के अन्दर एक जगह संकल्प लेने का प्रसंग आया। उसके अन्दर कहा 'योऽसौ सोऽहं यजामि' अर्थात् 'जो मैं हूँ, हे परमेश्वर! वह मैं आपकी पूजा करता हूँ।' यह क्यों? कहना चाहिये कि मैं अमुक का बेटा, अमुक गोत्रोत्पन्न हूँ, यही स्मृतियों में प्रसिद्ध है। स्मृति में कहा वह तो ठीक है, लेकिन यह श्रौत कर्म है, इसके अन्दर तो सत्य ही बोलना पड़ता है। अनादि काल से आज तक अनेकों पीढ़ियों की गोत्र परम्परा एक बड़े पतले धागे के ऊपर है और वह है स्त्री जाति की विश्वसनीयता। इस पर सारा गोत्र अटका हुआ है। और इन हज़ारों पीढ़ियों के अन्दर वह धागा वैसा ही विश्वसनीय रहा है, यह नहीं कह सकते। यदि कहीं भी कुछ हो गया हो तो गोत्र और कर्म बदल गया या नहीं? बड़े स्पष्ट विचारक हमारे ऋषि थे, इसलिये कहते हैं 'योऽसौ सोऽहं यजामि' वैदिक कर्म में सत्य संकल्प करना है इसलिये 'हे परमेश्वर! मैं कौन हूँ, यह मैं नहीं जानता। जो मैं हूँ वही आपकी आराधना करता हूँ।' इतना स्वतंत्र और शुद्ध विचार करने वाले वैदिक लोग मानते हों कि जन्म से ही जाति का निर्माण सचमुच है, ऐसा नहीं; लेकिन जानते थे कि व्यवहार तुम्हें चलाना है, कर्त्तव्यबुद्धि लोगों में उत्पन्न करनी है तो शुरु से ही करनी पड़ेगी। ऊपर से यह कर्त्तव्य लाओगे तो आदमी हमेशा सोचता रहेगा और उसमें परिवर्तन होता रहेगा।

प्रसंख्यान समझ का नहीं हुआ करता। 'मैं ब्राह्मण हूँ' यह समझ में आ गया तो आ गया। हिसाब करोगे तो कभी नहीं होगा। इसी प्रकार अपना जो स्वस्वरूप है, ब्रह्मस्वरूप है, वह किसी प्रसंख्यान की आवश्यकता नहीं रखता। अपने आत्मस्वरूप को समझा तो समझा, नहीं तो नहीं। एक चित्र आता था जिसमें एक तरफ देखने वाले को राम और दूसरी तरफ से देखने वाले को कृष्ण दीखता था। उस चित्र में यदि पहले तुम्हें राम दीख रहा हो और दूसरा कहे कि 'इसमें कृष्ण भी है', तो तुम काफी कोशिश करो तो भी तुम्हें कृष्ण नहीं दीखता। देखते देखते एक ऐसी स्थिति आती है कि अकस्मात् दीख जाता है, किसी को दो घण्टे पहले और किसी को दो घण्टे बाद। लेकिन जब कृष्ण का चित्र दीख जाता है तो यह भी उतना ही स्पष्ट दीखता है जितना राम दीख रहा था। एक कहता है कि 'यह देखो कलंगी', तो दूसरा कहता है 'मुझे धनुष का ऊपर का हिस्सा दीख रहा है।' इसी प्रकार जब तक संसार के स्वरूप को देख रहे हैं तब तक 'आत्मस्वरूप देखो, देखो', कहते रहते हैं, फिर सामने वाला कहता है 'दीख तो संसार ही रहा है।' लेकिन जिस समय दीख जायेगा उसके बाद उसका प्रसंख्यान नहीं करना पड़ेगा। फिर तो लगेगा कि इतने बेवकूफ कैसे थे? पहले कैसे नहीं देखा? इसलिये कहा कि किसी साधनान्तर का अन्वेषण करना आवश्यक नहीं है।

'रज्जुसर्पविवेकसमकाल इव रज्ज्वां सर्पनिवृत्तिफले सति रज्ज्वधिगमस्य। येषां पुनस्तमोपनयव्यतिरेकेण घटाधिगमे प्रमाणं व्याप्रियते तेषां छेद्यावयवसंबन्धवियोग-व्यतिरेकेणान्यतरावयवेऽपि च्छिदिर्व्याप्रियत इत्युक्तं स्यात्।' जैसे रस्सी-सर्प को जब मनुष्य विवेक के द्वारा अलग अलग करके जान लेता है तो उसी समय रज्जु में से सर्पनिवृत्तिरूपी फल उसे मिल जाता है। घड़ा अंधकार के कारण नहीं दीख रहा है, अकस्मात् बिजली आते ही घड़ा दीख जाता है। कोई कहे ऐसा थोड़े ही है; बिजली आने के थोड़ी देर बाद घड़ा दीखेगा। जो ऐसा मानेंगे तो उन्हें यह दोष आ जायेगा : हमने पेड़ को काट तो दिया, ऊपर की शाखा और जड़ के सम्बन्ध को विच्छिन्न कर दिया, फिर भी पेड़ गिरा नहीं। कहो तो कहते हैं 'थोड़ा काल लगेगा, इतने साल से पेड़ लगा हुआ था। हमें तो कटाई के पाँच रुपये दे दो, हमने काम कर दिया।' क्या दे दोगे? छेद्य अवयवसम्बन्ध टूटने से भिन्न और कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। जैसे वह नहीं हो सकता, वैसे ही ज्ञान आते ही अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है। ज्ञान हो जाये और अज्ञान धीरे धीर हटे, ऐसा नहीं हो सकता। ज्ञान हो गया तो अज्ञान हट गया, नहीं हटा तो ज्ञान हुआ ही नहीं है।

प्रमाण का प्रयोजन क्या है? अज्ञान की निवृत्ति करना ही प्रमाण का प्रयोजन है। जैसे प्रकाश का प्रयोजन अंधकार को हटाना है। अंधकार के हट जाने पर जो पदार्थ जैसा है उसकी प्रतीति स्वतः हो जाती है। इसलिये प्रकाश का काम अंधकार को नष्ट करना है। इसी प्रकार प्रमाण का काम अज्ञान को नष्ट करना है। अज्ञान के नष्ट होने पर जो चीज जैसी है वैसी ही स्वतः प्रकट हो जाती है। यह सर्वत्र समझना। यह मेरा और यह तेरा, यह भाव ही अज्ञान है। जब यह अज्ञान निवृत्त हो जाता है तब मनुष्य जो करेगा वह धर्म होगा। जब तक शरीर के साथ मैं और मेरा-पना बना हुआ है तब तक यह कहना पड़ता है कि यह करो और यह मत करो। जब शरीर में से मैं और मेरा पना निकल गया तो फिर क्या करना चाहिये, इसका उपदेश उसको नहीं देना पड़ता। उलटा वह जो कर रहा है उसको देखकर ही ज्ञान होता है कि धर्म किस को कहते हैं। धर्म के प्रति कौन-सा अज्ञान कारण पड़ता है? शरीर के प्रति मैं और मेरा भाव ही मनुष्य से अधर्म कराता है। इसलिये भगवान् वेदव्यास ने कहा 'किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा' जिसने आत्मज्ञान प्राप्त नहीं किया उससे बड़ा और चोर कौन होगा और उस चोर ने कौन सी चोरी नहीं कर ली! अर्थात् उसने सब पाप इकट्ठे ही कर लिये। अज्ञाननिवर्त्तक ही प्रमाण है।

'यदा पुनर्घटतमसोः विवेककरणे प्रवृत्तं प्रमाणम्' घड़े को अंधकार ने ढक रखा है इसीलिये वह घट व्यवहार के अयोग्य है। व्यवहार जैसे पानी पीना हो और घड़ा वहाँ रखा भी है, लेकिन अंधकार से समावृत हो तो भी काम नहीं बनता। जैसे ही अंधकार

को हटाया जाता है वैसे ही उस घड़े के अन्दर व्यवहार-योग्यता आ जाती है। घड़े में व्यवहार-योग्यता प्रकाश नहीं लायेगा। अंधकार से जो उसकी व्यवहार योग्यता निकल गई है वह उस अंधकार के दूर होने से फिर आई। अर्थात् जिस समय में तुम व्यवहार नहीं कर पा रहे थे उस समय में भी उसकी व्यवहार-योग्यता कहीं गई नहीं थी, प्रतिबद्ध हो गई थी। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों की प्रवृत्ति का हेतु इस प्रकार अज्ञान निवृत्ति ही है। इस प्रकार से घड़े और अंधकार का विवेक करने में अर्थात् अलग करने में प्रवृत्त हुआ जो प्रमाण है वह 'अनुपादित्सिततमोनिवृत्तिफलावसानम्' जो अनिष्ट अप्रमेय तम है उसकी निवृत्तिरूप फल उत्पन्न कर कृतकार्य हो जाता है। अनुपादित्सित का मतलब है अनिष्ट। तुम्हारे तम की निवृत्ति ही लक्षण या स्वरूप है जिस फल का वह प्रमाण से उत्पन्न हो गया तब घटका ज्ञान अर्थात् हो गया, बलात् हो गया। वह प्रमाण का फल नहीं है।

प्रकाश द्वारा घड़े के ज्ञान को प्राप्त करने की, घड़े के ज्ञान को या घड़े की व्यवहार-योग्यता को उत्पन्न करने की इच्छा नहीं है, प्रकाश के द्वारा अंधकार निवृत्ति करने मात्र की इच्छा है। लेकिन जब हम प्रकाश करेंगे और अंधकार हटेगा तो घड़े की व्यवहार-योग्यता स्वतः प्रकट होगी। उसको हम रोक नहीं सकते। घड़े में व्यवहार-योग्यता हम लाने को प्रवृत्त नहीं होते हैं। इसी प्रकार प्रत्यक्ष आदि प्रमाण के द्वारा हम केवल अज्ञान को हटाने में प्रवृत्त होते हैं। आगे पदार्थ जैसा है वह तो स्वतः भान होता है। घड़े और तुम्हारे बीच में अज्ञान का पर्दा है। 'घट मुझे अज्ञात है', 'मैं घड़े को नहीं जान रहा हूँ' अर्थात् घड़े के और मेरे बीच में अज्ञान का पर्दा है। आँख के द्वारा अंतःकरण की वृत्ति वहाँ पहुँचकर केवल इस अज्ञान के पर्दे को नष्ट करेगी। घड़े तक जब आँख जाती है तो केवल घड़े और तुम्हारे बीच के आवरण को, अज्ञान को ध्वंस कर देती है। घड़ा तो स्वयं अपने आप जाना जाता है। अर्थात् जैसे ही वृत्ति वहाँ पहुँची, सर्वव्यापक आत्मा का प्रतिबिम्ब उसमें पड़ा और उस प्रतिबिम्ब के द्वारा उसमें प्रकाश हो गया। जिस प्रकार काँच को लेकर यदि हम सड़क पर चल रहे हैं तो काँच के अंदर जो प्रतिबिम्बित सूर्य है, उसको साथ लेकर नहीं चलना पड़ता; नहीं तो बड़ा मुश्किल हो जाये, क्योंकि सूर्य का बहुत बोझा है, उसे कैसे लेकर जायेंगे! जहाँ जायेंगे सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ता ही जायेगा। इसी प्रकार जहाँ जहाँ घटाकार वृत्ति बनी वहाँ वहाँ चेतन का प्रतिबिम्ब पड़ा और चिदाभास के द्वारा घट का प्रकाश हो गया। वृत्ति का काम केवल अज्ञान को नष्ट करना है। जानने का काम तो चेतन स्वयं कर लेता है। चिदाभास के द्वारा नहीं जान रहे थे तो घड़ा व्यवहार-अयोग्य था और हमने उसमें व्यवहार योग्यता लाई, ऐसा कुछ नहीं है।

अन्य सब चीज़ों को जानने के लिये तो चेतन आवश्यक है, चिदाभास के द्वारा जानना होता है, लेकिन चेतन को स्वयं जानने के लिये क्या चिदाभास की ज़रूरत पड़ेगी? घट, पट आदि को तो चिदाभास जानेगा लेकिन चित् अपने को चिदाभास से थोड़े ही जानेगा। इसलिये चित् को जानने के लिये तो केवल अज्ञान को नष्ट करने वाली वृत्ति

मात्र की जरूरत पड़ेगी। इसी को पारिभाषिक शब्द में कहेंगे कि अन्यत्र तो वृत्तिव्याप्ति और फलव्याप्ति दोनों चाहियें लेकिन आत्मज्ञान में केवल वृत्तिव्याप्ति चाहिये, फलव्याप्ति की आवश्यकता ही नहीं है। इसीलिये जब गरु-वेदान्तवाक्यरूप प्रमाण के द्वारा अज्ञान को नष्ट कर दिया तो चेतन स्वयं अपने को कैसे जानता है— यह प्रश्न बेकार हो गया। अज्ञान के कारण नहीं जान रहा था। अब वृत्ति से अज्ञान दूर हो गया, अज्ञान का अभाव हो गया। यह नहीं कहा कि ज्ञान हो गया; यदि उसका ज्ञान होगा तो वह ज्ञेय और हम ज्ञाता हो जायेंगे और ज्ञेय जड, मिथ्या, परिच्छिन्न बेकार हो जायेगा। केवल अज्ञान हट जायेगा, अज्ञान हटने के बाद वह ज्ञानस्वरूप जैसा है, जैसा था, वैसा ही बना रहेगा। जिस प्रकार घड़े के ऊपर अंधकार आने के पहले जैसे घड़ा था, अंधकार निवृत्ति होने के बाद घड़ा वैसा ही बना रहेगा। प्रकाश ने आकर घड़े में किसी अतिशयता का आपादन नहीं किया, केवल रुकावट को दूर कर दिया। इसलिये कहा कि घट-संवेदना प्रमाण का फल नहीं। जिस प्रकार से छिदि (काटने) की क्रिया, जिस वृक्ष को काट रहे हैं उसके अवयवों को एक दूसरे से वियुक्त करने में ही गतार्थ है। कुल्हाड़ी से पेड़ के जो आपस में संयुक्त हुए अवयव हैं उनका तुम संयोग नष्ट कर देते हो, उन्हें वियुक्त कर देते हो। जब वह संयोग दूर हो जाता है तो फिर दोनों टुकड़े अलग स्वतः हो जाते हैं। तुम तो केवल दो अवयवों के संयोग को दूर कर देते हो, वह दूर होने पर पेड़ के ऊपर का और निचला हिस्सा वियुक्त तो स्वयं हो जाता है। यह नहीं कि संयोग हटाने के बाद वियोग लाने के लिये कुछ और करना पड़ता है। 'छिदिरिव च्छेद्यावयवसंबन्धविवेककरणे प्रवृत्ता' छिदि क्रिया छेद्य वृक्ष के अवयव-सम्बन्धों को अलग करने में प्रवृत्त हुई। 'तदवयवद्वैधीभावफलावसाना' उसके जो दो टुकड़े होकर गिर गये, यह फल स्वतः उत्पन्न हो जाता है। 'तदा नान्तरीयकं घटविज्ञानं, न तत्प्रमाणफलम्।' जबकि यह बात है तो प्रमाण के व्यापार का अर्थात् प्रमाण का फल घट का विज्ञान नहीं हुआ।

एक प्रश्न होगा कि 'संयोग हटाया' और 'वियोग किया' इसमें कहने का ही अन्तर लगता है, बात में क्या विशेषता आ गयी? अन्तर आता है। एक नियम है 'नास्त्यकृतः कृतेन'— सीमित क्रिया से असीम फल नहीं मिलता। सीमित, परिच्छिन्न क्रिया का फल भी परिच्छिन्न ही हो सकता है। यदि वियोग तुम्हारी क्रिया से उत्पन्न हो तो वह भी सीमित होगा अर्थात् अलग हुए टुकड़े अपने-आप जुड़ने लग जायेंगे! यह कभी होना नहीं। हाँ संयोग हटना ध्वंस होने से स्थायी हो यह संगत है। भावकार्य तो तारतम्य वाला होता है, साधनों के फर्क से उसमें भी विशेषता आ जाती है। ध्वंस ऐसा नहीं।

इसलिये यदि यह हम मान लेते कि छिदि क्रिया से वियोग उत्पन्न हुआ तो वह वियोग सीमित हो जाता। छिदि क्रिया ने संयोग का प्रध्वंसाभाव किया, संयोगनाश अनंत होता है, संयोगनाश से वियोग पैदा नहीं हुआ। सीमित संयोग के कारण वह वियोग नहीं-सा था। जब उस सीमित संयोग को सीमित क्रिया ने खत्म कर दिया तो जो असली

स्वरूप था वह प्रकट हो गया। दृष्टान्त और स्पष्ट समझ लो। नियम यह होगा कि जितना काम होगा तदनुकूल फल होना चाहिये। तुमने यदि ९६० मिनट काम किया तो सीमित क्रिया हुई ससीम क्रिया से अनन्त फल कैसे पैदा होगा? क्रियाओं की घटा-बढ़ी से फल में भेद होना चाहिये। सीमित क्रिया से अनन्त फल मिलेगा तो वह नहीं हो पायेगा। मोटे तने को १९२० मिनट में काटा तो काम दुगना हुआ, उसका भी फल अनन्त और ९६० मिनट में कटने वाले का फल भी अनन्त, यह नहीं हो सकता। इसलिये असीमित फल सीमित क्रिया से उत्पन्न नहीं मान सकते। जिसे तुम असीमित कह रहे हो, वही वास्तविक स्थिति है। वहाँ किसी संयोग द्वारा, किसी ऊर्जा-बन्धन (energy bond) द्वारा वे हिस्से मिले हुए हैं, स्वभाव से तो वे वियुक्त ही हैं। वह बन्धन सीमित चीज है। उस पर सीमित क्रिया की तो वह सीमित बन्धन खुल गया, वियोग रूप स्वभाव प्रकट हो गया। वह अनन्त है, इसमें कोई हर्जा नहीं। तुमने जहाँ १९२० मिनट काम किया वहाँ जो ऐनर्जी उसे साथ रख रही थी, वह दुगनी चौगुनी थी, तो उसके लिये दुगनी चौगुनी क्रिया करनी पड़ी। उसको इकट्ठा करने वाली चीज़ सीमित है, इसलिये उसे सीमित चीज़ से हटा सकते हो।

अब दार्ष्टान्त में समझो : ब्रह्मज्ञान से जो मोक्ष होता है, वह मोक्ष असीमित है। ऐसा नहीं होता कि मुक्ति होने के बाद दस हज़ार साल तक मुक्ति रहेगी और फिर बद्ध हो जाओगे। मुक्त हो गये सो हो गये। इसलिये मुक्ति अनन्त फल है। यदि किसी क्रिया से मुक्ति होने वाली होती तो सीमा वाली या ससीम होती और है असीम। इसलिये मानना पड़ेगा कि मुक्ति आत्मा का स्वभाव है। सीमित अज्ञान के द्वारा वह स्वभाव ढका हुआ है। अज्ञान सीमित हुआ, उसको नष्ट करने के लिये उत्पन्न किया गया वृत्तिज्ञान भी सीमित ही है। सीमित प्रमाण के द्वारा सीमित अज्ञान नष्ट किया गया तो उसका असीम स्वरूप, शुद्ध स्वरूप अपने आप प्रकट हो गया। कहने में ऐसा लगता है कि दो हिस्से हो गये कहो या संयोगनाश हो गया कहो तो बात एक ही है, लेकिन ऐसा नहीं है। अनन्त फल उपपन्न करना है। भगवान् ने भी इसीलिये लम्बा चौड़ा शब्दप्रयोग किया 'तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।' (गीता ६-२३) दुःखवियोग सीधा न कहकर दुःखसंयोगवियोग कहा। वही यहाँ कह दिया कि 'नान्तरीयकं घटविज्ञानं, न तत्प्रमाणफलम्'। प्रमातृव्यापार अस्थिर होने पर भी आत्मा की स्थायिता को प्रकट कर देता है, अभिव्यक्त कर देता है।

'न च तद्वदप्यात्मन्यध्यारोपितान्तःप्रज्ञत्वादिविवेककरणे प्रवृत्तस्य प्रतिषेधविज्ञानप्रमाणस्यानुपादित्सितान्तःप्रज्ञत्वादिनिवृत्तिव्यतिरेकेण तुरीये व्यापारोपपत्तिः।' आत्मा में अध्यारोपित अन्तःप्रज्ञत्व आदि का जब विवेक करते हैं अर्थात् अलग करते हैं, तब वह विवेककरण ही पर्याप्त है, तुरीयज्ञान के लिये अन्य व्यापार जरूरी नहीं। फलव्याप्ति की अपेक्षा नहीं, इसी को स्पष्ट कर रहे हैं। घट आदि जड पदार्थों को तो ज्ञान होने के लिये ज्ञानरूप

परमात्मा की अपेक्षा है, लेकिन आत्मा जो स्वयं ही चेतन रूप है, एकमात्र ज्ञान ही ज्ञान से भरा हुआ है, उसके लिये संवित् को उत्पन्न करने के लिये सिवाय आरोपित धर्म को हटाने के और कोई व्यापार की अपेक्षा नहीं। जैसे घड़ा देखने के लिये आँख का मोतियाबिन्द हटाना पर्याप्त नहीं है, आँख का मोतियाबिन्द हटकर सूर्य का प्रकाश होगा तभी घट दीखेगा। इसलिये घड़े को देखने के लिये मोतियाबिन्द भी हटाना चाहिये और सूर्य का प्रकाश भी होना चाहिये। लेकिन सूर्य को देखने के लिये मोतियाबिंद हटाना ही पर्याप्त है, सूर्य को देखने के लिये और किसी चीज़ के जलने की जरूरत नहीं। इसी प्रकार आत्मा ज्ञानस्वरूप होने के कारण इसको जानने के लिये किसी ज्ञाता की ज़रूरत नहीं है। यह शंका बार बार मनुष्य के मन में आती है कि जब सब निवृत्त हो जायेगा तो फिर ज्ञान हमको कैसे होगा? इसके पेट में बैठा हुआ है कि ज्ञान भी दूसरे पदार्थों की तरह जड है। कई बार लोग पूछते हैं कि समाधि में क्या पता लगता है? उनसे कहते हैं कि 'कुछ' पता नहीं लगता है। 'कुछ' पता लग रहा हो तो समाधि कहाँ है, फिर तो बाह्य पदार्थों की प्रतीति हो रही है। कुछ पता नहीं तो क्या जड हैं? यही भ्रम है। क्योंकि संसार में जड ही जड पदार्थ अब तक दीखे हैं, इसलिये लगता है कि ज्ञानरूप ब्रह्म भी जड ही होगा! बाकी सब निवृत्त हो जाता है तो अज्ञान के हटने पर वह तो स्वतः प्रभासित हो रहा है, प्रकाशित हो रहा है। उसके लिये फिर और किसी साधन की अपेक्षा नहीं। इसीलिये कह दिया कि ऐसा होने पर भी आत्मा में अध्यारोपित जो अन्तःप्रज्ञत्व आदि धर्म हैं उनका निषेध करने से अन्य कोई व्यापार निषेधप्रमाण का अर्थात् 'नान्तःप्रज्ञम्' आदि वाक्य का नहीं जिससे तुरीय का ज्ञान हो। अर्थात् जाग्रत् आदि अवस्थाओं से जब उसे अलग करने में प्रवृत्त हुए तो किस से? 'नान्तःप्रज्ञम्' आदि वेदवाक्य प्रतिषेध (निषेध) वाक्य उसमें प्रमाण हो गये। निषेध करना ही इष्ट हो गया। आरोपित की निवृत्ति ही करनी है, और कुछ नहीं करना है। इसलिये जिसको उत्पन्न करने की इच्छा नहीं, ऐसे अन्तःप्रज्ञत्व आदि की निवृत्ति के अतिरिक्त और कोई भी तुरीय में अन्य व्यापार की उपपत्ति नहीं। आये हुए अन्तःप्रज्ञत्व आदि जो अज्ञान से जन्य हैं, केवल उनके निषेध से ही ज्ञान हो जाता है, उसको बताने के लिये और किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं।

यहाँ जो व्यापारान्तर की कल्पना है उसी को आगे चलकर तीसरे अध्याय में कहेंगे कि वही मनुष्य के आत्मज्ञान का अन्तिम प्रतिबन्धक है। 'समं प्राप्तं न चालयेत्' जिस समय सब विषय निवृत्त होकर केवल शुद्ध चिन्मात्र रह जाता है तो फिर आदमी सोचता है कि अब इसके आगे और क्या है? बस इस वृत्ति से ही वहाँ स्थिर नहीं रहता। अन्तिम बन्धन यही है। सब निवृत्त होने के बाद कुछ और होता होगा, यह सोचता है। जैसे किसी आदमी का रोग निवृत्त हो जाता है लेकिन रोग निवृत्त होने के बाद भी यदि उसके मन में यह बहम बैठा रहे कि अभी रोग गया नहीं, तो यही रोग-निवृत्ति का प्रतिबन्धक बन जाता है। रोग तो निवृत्त हो जाता है लेकिन रोग निवृत्ति से अधिक कुछ और है, यह

प्रतिबन्धक बन जाता है। खासकर ज्यादा प्रेम करने वाले जब मिलेंगे तो कहेंगे 'अभी वह बात आई नहीं, चेहरे में अभी चमक नहीं आई!' बस वह कभी ठीक होने वाला नहीं है, क्योंकि यह तो अब सम्भव नहीं कि हमेशा आदमी लाल बम ही बना रहे। ठीक इसी प्रकार 'समप्राप्तम्' सर्वथा निर्विषय की प्राप्ति होने पर समझते हैं कि यहाँ कुछ पकड़ में आया नहीं तो कुछ और होगा। इसीलिये प्रश्नोपनिषद् में गुरु उपदेश समाप्त करते हुए कहते हैं 'नातः परं वेदित्व्यं हि किंचित्' इसके आगे और कुछ नहीं है। याज्ञवल्क्य ने भी कहा 'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि' जो प्राप्त होना था हो गया, आगे कुछ नहीं है। नहीं तो, 'आगे कुछ और होगा', इसी में जीव लगा रहेगा।

'अन्तःप्रज्ञत्वादिनिवृत्तिसमकालमेव प्रमातृत्वादिभेदनिवृत्तेः।' अन्तःप्रज्ञत्व आदि की निवृत्ति होने के साथ ही उसी समय प्रमातृ आदि भेद की भी निवृत्ति हो जाती है। इसलिये उसके बाद किसका ज्ञान और कौन जाने? ज्ञान का विषय वहाँ नहीं। 'कौन जाने?' यह ज्ञाता का निषेध है, ज्ञान का निषेध नहीं है। ज्ञान तो वहाँ बना हुआ है। लेकिन किसी चीज़ का ज्ञान नहीं है, और किसी को वह ज्ञान नहीं है। केवल ज्ञानमात्र है। 'तथा च वक्ष्यति— 'ज्ञाते द्वैतं न विद्यते' (मा. का. १.१८) इति।' इस प्रकार आश्रय के अभाव से आश्रित प्रमाण का अभाव हो जाता है। ज्ञान का आश्रय प्रमाता है। ज्ञान जानने वाले में या प्रमाता में रहेगा। जब जानने वाला हट गया, आश्रय नहीं रहा, तो फिर उसमें आश्रित प्रमाण कहाँ से रहेगा? इसीलिये ब्रह्मज्ञान होने के बाद जो कुछ लोग कहते हैं कि बार बार ब्रह्मज्ञान को सोचते रहो, वह बिल्कुल बेकार की बात है। ज्ञान के पहले जितनी मर्ज़ी मेहनत कर लो, निषेध नहीं करते, लेकिन ज्ञान होने के साथ ही ज्ञाता खत्म हो जाता है। लेकिन वह ज्ञान किसमें रहेगा? स्वरूप-ज्ञान नहीं, वृत्तिज्ञान। मैं को ही तो 'मैं ब्रह्म हूँ' ज्ञान होगा और 'मैं ब्रह्म' ज्ञान होते ही मैं को खत्म हो जाना है। फिर यह 'मैं हूँ' का ज्ञान किसके पास रहेगा? इसका उलटा मतलब यह नहीं कि फिर मेरे को ज्ञान नहीं तो मैं ब्रह्म नहीं रहा; वह तो आश्रय न होने के कारण प्रमाण वहाँ नहीं रह पा रहा है। आश्रयाभाव से आश्रित प्रमाण का अभाव हो जाता है, और यह 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक वृत्ति बनते ही हो जाता है। इसलिये आगे कहेंगे 'ज्ञाते द्वैतं न विद्यते' अहं ब्रह्मास्मि इत्याकारक ज्ञान हो जाने पर प्रमाता-प्रमाण का द्वैत नहीं रह जाता।

एक बार जिसको ब्रह्माकारवृत्ति बनी तो ज्ञानाधीन द्वैतनिवृत्ति से अवच्छिन्न जो क्षण, द्वैत की निवृत्ति का जो क्षण उससे अगले क्षण वृत्ति रह नहीं सकती। एक ही क्षण ब्रह्माकार वृत्ति रहती है और रहने के साथ ही द्वैतनिवृत्ति कर देती है। यह करते ही उसका ही आश्रय खत्म हो जाता है। जैसे लकड़ी में आग लगा दी तो वह आग लकड़ी को जलाती है। जब वह लकड़ी जल गई तो फिर आग कहाँ रही? सर्वव्यापक आग से एक हो गई। नहीं रही—ऐसा नहीं, अन्यथा सैकेण्ड ला आफ थर्मोडायनेमिक्स का विरोध होगा जिसमें शक्ति का सर्वथा ध्वंस असंभव माना है (Second law of thermodynamics,

conservation of energy)। इसलिये जब तक उसका आश्रय लकड़ी था तब तक वह अग्नि प्रकट थी, अब जो आश्रय था वह चला गया, आश्रय चले जाने से आश्रित व्यापक भाव में लीन हो गया। इसी प्रकार ब्रह्माकार वृत्ति उत्पन्न हुई और उत्पन्न होने के साथ ही उसने द्वैत को हटाया। द्वैत के अन्तःपाती मैंपना हुआ, मैंपना चला गया तो अब वह वृत्तिरूपी ज्ञान कहाँ रह सकता है? अपने आप खत्म हो गया। पुनः उस व्यापक अग्नि को दूसरी लकड़ी में प्रकट कर सकते हो। इसी प्रकार यदि उस वृत्ति को फिर देखना है तो फिर किसी दूसरे अहम् में देखना पड़ेगा। पूर्व वाले अहम् में तो वह वृत्ति फिर होने वाली नहीं है क्योंकि वह अहम् तो रहेगा ही नहीं। लेकिन इतने मात्र से वह ज्ञान अस्थिर है ऐसा नहीं, बल्कि वह ज्ञानस्वरूप से स्थित है। वह स्वरूपज्ञान है, वृत्तिज्ञान नहीं। वृत्तिज्ञान के अन्दर तो 'किस का' और 'किससे' होता है। स्वरूपज्ञान में 'किसीको' नहीं जानते, केवल जानना ही जानना रह जाता है। 'ज्ञानस्य द्वैतनिवृत्तिक्षणव्यतिरेकेण क्षणान्तरानवस्थानाता्।' ज्ञानस्य अर्थात् वृत्तिज्ञानस्य; वृत्तिज्ञान द्वैतनिवृत्ति के क्षण को छोड़कर दूसरे क्षण में नहीं रह सकता। बार बार ब्रह्मज्ञान करने की कौन कहे, ब्रह्मज्ञान तो दो क्षण भी नहीं रहेगा, होते ही उसने सारे अज्ञान को खतम कर दिया तो फिर वह कहाँ रहेगा? जो कहता है कि ब्रह्मज्ञान बार-बार सोचते रहो वह उसे जानता नहीं। वह बार-बार सोचने की चीज़ नहीं है।

कहीं कहीं शास्त्रों ने कहा है कि अभ्यास करना चाहिये। वहाँ तात्पर्य क्या है? 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' का सीधा अर्थ तो ब्रह्मज्ञान की इच्छा है, लेकिन इच्छा से वहाँ उपलक्षणा प्रयत्न की की जाती है अर्थात् ब्रह्मज्ञान के लिये यत्न करे। उसी प्रकार जहाँ कहते हैं कि ब्रह्मज्ञान में लगे रहो तो उसका मतलब है कि ब्रह्म का ज्ञान करने की कोशिश बराबर करते रहो। ज्ञान हो गया तो फिर नहीं दोहराना पड़ता। वह तो होते ही वृत्ति निवृत्त हो जाती है।

'अवस्थाने चानवस्थाप्रसगाद् द्वैतानिवृत्तिः' अब भाष्यकार बड़ी कड़ी बात कहते हैं। किसी ने शंका की कि ज्ञान द्वैत को हटा देगा, यह तो मान लिया लेकिन खुद को अर्थात् ज्ञान को, वृत्तिज्ञान को भी हटा देगा यह कैसे मान रहे हैं? निवर्त्य और निवर्त्तक, जिसे हटाया गया और हटाने वाला, एक ही वस्तु कैसे हो सकती है? हटाने वाला वृत्ति ज्ञान, हटने वाला अज्ञान हो यह तो ठीक है। किन्तु निवर्त्य-निवर्तक-भाव एक में ही कैसे होगा? इसलिये ज्ञान को निवृत्त करने वाला कोई जब तक न आये तब तक ज्ञान को बना रहना पड़ेगा। इसका उत्तर भाष्यकार ने दिया कि यदि किसी निवर्तक की इन्तजार करते हुए ज्ञान बना रहे तो उस निवर्तक को निवृत्त होने के लिये अन्य निवर्तक की ज़रूरत पड़ेगी और इस प्रकार अनन्त निवर्तकों की कल्पना होगी। यही अनवस्था है, और 'मूलहानि करी अनवस्था' अर्थात् अनवस्था होगी तो प्रथम निवर्तक अर्थात् ज्ञान भी अपने निवर्त्य की, अज्ञान की, निवृत्ति करने में सक्षम नहीं होगा। किन्तु व्यवहार में यह अनवस्था नहीं है। रोशनी आते ही घड़े को जान लिया। यदि कहो कि प्रकाश

का कुछ और प्रयोजन है, केवल अंधकार नहीं हटाता घड़े की जानकारी कराता है, जानकारी का प्रयोजन उसमें पानी भरकर लाना है , फिर वह पानी पीने के लिये, पीना फिर किसके लिये? यों अनवस्था होती है। इसलिये जो चीज़ जितना कार्य करती है, उतने से उसका प्रयोजन समाप्त हो गया। उसके बाद यदि कुछ होता है तो वह उस का प्रयोजन नहीं है। अंधकार को दूर प्रकाश ने कर दिया यही प्रकाश का प्रयोजन है। अब तुम्हें चीज़ का ज्ञान हुआ और तुम्हें पानी पीने की इच्छा है तो भरने जाओ लेकिन उसका कारण, तुम्हारी पानी लाने की इच्छा का कारण, प्रकाश नहीं। किसी को रोग हुआ तो रोग-निवृत्ति करना औषधि का प्रयोजन हुआ। मान लो कोई व्यक्ति तुम्हारे पास आया, उसके पैर में गोली लगी हुई है, तुमने गोली निकाल दी, तुम डॉक्टर हुए। वह भाग गया। पुलिस वाले आकर कहते हैं 'तुमने उसके भागने में मदद की।' लेकिन उनका यह कहना गलत है। तुमने उसे भागने में मदद नहीं की, तुमने तो उसके आये हुए रोग को निवृत्त किया। भागने का काम उसने खुद किया। उससे तुम्हारा सम्बन्ध नहीं। तुम्हारा प्रयोजन तो केवल गोली निकालना था। यह सर्वत्र नियम याद रखना कि जिस कार्य के करने को जो चीज़ प्रवृत्त हुई उसके बाद जो कार्य होता है उसका कारण दूसरा होता है। उसका कारण मूल कारण नहीं। प्रकाश होने के बाद घड़े के ज्ञान से जिसको प्यास होती है, वह भरने जाता है, जिसको प्यास नहीं वह नहीं जाता। प्रकाश को उसके लिये कारण नहीं मान सकते। गोली निकालने पर जिसकी भागने की इच्छा होती है, वह भागता है। अगर यह हो कि गोली निकालते ही सब भागें, तब तो भागने में कारण गोली निकालना हो सकता था। इसी प्रकार जब द्वैत की निवृत्ति हो गई तो द्वैत निवृत्ति होने के बाद कोई व्यक्ति प्राचीन समाज का संरक्षण कर सकता है, कोई व्यक्ति नवीन समाज का निर्माण कर सकता है, कोई व्यक्ति दस हज़ार आदमियों के साथ रह सकता है, और कोई व्यक्ति सबको छोड़कर केदारनाथ में एकांत में जाकर बैठ सकता है। ये कोई ज्ञान के फल नहीं हैं। ज्ञान का फल तो केवल द्वैत की निवृत्ति हो गया। उसके बाद उसकी अपनी इच्छा अथवा ईश्वर का आदेश अथवा उसका प्रारब्ध, कोई भी कारण मानो। हम लोग जब कहते हैं कि ज्ञान के बाद कोई कर्त्तव्य उसे नहीं तो हमारा मतलब है कि ज्ञान उसके सिर पर कर्त्तव्य का प्रापण नहीं कराता, अर्थात् किसी कर्त्तव्य की प्राप्ति नहीं कराता। वह तो केवल अज्ञान को हटा देता है। अज्ञान को हटाने के बाद उसकी अपनी ज्ञान-इच्छा-क्रिया-शक्ति से जो कार्य होगा सो होगा, उसके लिये कोई नियम नहीं कर सकते हो। नियम है तो फिर द्वैत कहाँ से निवृत्त होना है? इसलिये द्वैत की निवृत्ति को छोड़कर और कोई ब्रह्मज्ञान का फल नहीं।

'तस्मात्प्रतिषेधविज्ञानप्रमाणव्यापारसमकालैवाऽऽत्मन्यध्यारोपितान्तःप्रज्ञत्वाद्यनर्थनिवृत्तिः इति सिद्धम्।' 'तस्मात्' अर्थात् ज्ञान का जन्म से अतिरिक्त और कोई व्यापार नहीं, और उसके जन्म का भी मतलब है कि द्वैत का निषेध, उसी में वह समाप्त हो जाता है इसलिये

निषेध का अनुभव कराने वाले प्रमाण हैं। उसने जिस समय कोई भी चेष्टा की उसी समय आत्मा में अध्यारोपित, भ्रम से कल्पित जाग्रत् आदि अवस्थायें जो अनर्थरूप थीं, वह अनर्थप्रपंच निवृत्त हो गया। 'अयमेव हि नोनर्थो यत्संसार्यात्मदर्शनम्' नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव हुआ आत्मा लेकिन उसमें अनित्य अशुद्ध अबुद्ध अमुक्त का भाव करते हैं, यही अनर्थ है। लोग समझते हैं कि अनर्थ कोई ऊपर से आने वाली चीज़ है। इससे बड़ा और क्या अनर्थ होगा कि नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव साढ़े तीन हाथ के टट्टी पेशाब के थैले में बैठकर उसके साथ एक बना हुआ है? एक महात्मा ने किसी को बहुत समझाया लेकिन किसी तरह उसे ज्ञान नहीं हो रहा था। उससे कहा कि अब तुझे एक कहानी बताते हैं। एक राजा शिकार खेलते खेलते रास्ता भूल गया। रात को १२ बजे तक भटकता हुआ एक जगह पहुँचा जहाँ हल्की सी रोशनी थी। वह चाण्डालों की एक बस्ती थी। उसे चारों तरफ से बदबू आ रही थी, कहीं मलमूत्र पड़ा हुआ, कहीं कटे बकरे पड़े हुए थे और वह सब वहाँ सड़ रहा था। उसने इधर उधर देखा कि कहीं और कोई जगह नज़र आये तो वहाँ चला जाऊँ, लेकिन कहीं कुछ नजर नहीं आया। अंत में सोचा कि जंगली जानवरों से बचने का तरीका तो आखिर आदमी का साथ ही ठीक है। उनसे कहा की 'मुझे रात भर यहाँ रहने दो।' उन्होंने देखा कि बड़ा प्रतापी लग रहा है। उससे कहा 'जाओ जाओ यहाँ से, कोई जगह नहीं है। तू तो यहाँ जम कर बैठ जायेगा तो हम क्या करेंगे?' उसने कहा 'मेरी नाक फटी जा रही है, मैं बहुत बड़ा आदमी हूँ, साधारण आदमी नहीं अमुक देश का राजा हूँ।' उन लोगों ने उसे वहाँ रख लिया। भूखा तो था ही, कहने लगा 'कुछ खाने को दो'। उन्होंने जो खाने को दिया उसे देखकर उसे उबकाई आये लेकिन भूख के मारे खा गया और वहीं सो गया। सवेरे नौ बजे तक सोया रहा। उन लोगों ने कहा 'नौ बज गये उठो।' कहने लगा 'और सोने दो।' अब रात भर वहाँ रहने से धीरे धीरे बदबू में रहने का स्वभाव हो गया था। नींद में पड़ा रहा, उसमें तमोगुण का प्रवेश हो गया था। वे लोग कहें जाओ लेकिन वह जाये नहीं। दो चार दिन बाद वहीं एक लड़की के साथ उसका प्रेम हो गया और वहाँ ब्याह करके टिक गया। उन लोगों ने भी सोचा इसका ब्याह हो गया, इसलिये रहने दिया जाये, कोई हर्जा नहीं। यह सुनकर उसने महात्मा से कहा 'आप गप्प सुना रहे हो। ऐसा कोई नहीं कर सकता, उसका नाम बताओ।' महात्मा ने कहा— 'तू ही वह राजा है। है तो तू नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव ब्रह्मस्वरूप, और यहाँ टट्टी पेशाब के थैले में थोड़ा सा व्यवहार करने को आया तो ऐसा जमकर बैठा है कि महीनों से सुना रहा हूँ फिर भी तू कहता है कि आखिर संसार तो है ही। और इसके अन्दर रहने वाली बुद्धि से ब्याह भी कर लिया है। इसलिये मन की वृत्तियों को ही अपना स्वरूप समझता है क्योंकि ब्याह करके एक हो गया। बुद्धि कहती है सुखी तो कहता है 'मैं सुखी', बुद्धि दुःखी तो कहता है 'मैं दुःखी'। विचार करो इस शरीर रूपी थैले में आकर यह बैठ गया तो इससे ज्यादा

और क्या इसकी दुर्गति हो सकती है? छोटा सा फोड़ा निकल गया या कुछ चार छह अंगुलियाँ कोढ़ से गिर गई तो लोग कहते हैं कि महान् दुःखी है। रात-दिन इस टट्टी पेशाब के थैले में, शरीर में बैठकर दुःखी नहीं होता! चार अंगुलियाँ कोढ़ में गल गई तो क्या बिगड़ा? सारा जहाँ बिगड़ा हुआ था वहाँ थोड़ा और सही। 'अयमेव हि नोनर्थो यत्संसार्यात्मदर्शनम्'।

इसलिये कहा कि यह अनर्थ निवृत्ति इष्ट है। 'नान्तःप्रज्ञमिति तैजसप्रतिषेधः। न बहिष्प्रज्ञमिति विश्वप्रतिषेधः। नोभयतःप्रज्ञमिति जाग्रत्स्वप्नयोरन्तरालावस्थाप्रतिषेधः। न प्रज्ञानघनमिति सुषुप्तावस्थाप्रतिषेधः।' मूल श्रुति का अर्थ कर दिया। 'नान्तःप्रज्ञम्' के द्वारा तैजस का निषेध 'न बहिष्प्रज्ञम्' से जाग्रत् का अर्थात् विश्व का प्रतिषेध, 'न उभयतःप्रज्ञम्' से जाग्रत्-स्वप्न की अन्तरालावस्था का निषेध, 'न प्रज्ञानघनम्' से सुषुप्ति का निषेध कर दिया चूँकि वहाँ बीज भाव का अविवेक है, 'बीजभावाविवेकरूपत्वात्। न प्रज्ञमिति युगपत्सर्वविषयप्रज्ञातृत्त्वप्रतिषेधः। नाप्रज्ञमित्यचैतन्यप्रतिषेधः।' 'न प्रज्ञम्' द्वारा एक साथ सारे विषयों के प्रज्ञातापने का निषेध कर दिया और 'न अप्रज्ञम्' के द्वारा कहा कि वह जडरूप नहीं है। यह मूल श्रुति का अर्थ कर दिया।

तुरीय का ज्ञान जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति के द्वार से होता है। जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति के बिना तुरीय मौजूद रहते हुए भी ज्ञात नहीं हो सकता। अज्ञात ब्रह्म बन्धन का कारण और ज्ञात ब्रह्म मोक्ष का कारण है। अज्ञात ब्रह्म से जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति रूपी बन्धन है। ज्ञात ब्रह्म से मोक्ष अर्थात् जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति की निवृत्ति। जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति के द्वारा ही उसकी निवृत्ति सम्भव है इसलिये उसके सिवाय और कोई दूसरा द्वार नहीं है।

'कथं पुनरन्तःप्रज्ञत्वादीनामात्मनि गम्यमानानां रज्ज्वादौ सर्पादिवत्प्रतिषेधादसत्त्वं गम्यत इत्युच्यते।' रस्सी इत्यादि के अन्दर सर्प की जो प्रतीति है वह भ्रम से होती है इसलिये निषेध के द्वारा उसका ज्ञान हो जायेगा। लेकिन अन्तःप्रज्ञ इत्यादि अर्थात् स्वप्न आदि आत्मा में प्रतीत होते हैं, आत्मा में जाने जाते हैं अर्थात् आत्मा में इनका ज्ञान प्रमाण से होता है। रस्सी में साँप तो प्रमाणसिद्ध नहीं है, पर आत्मा में जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति की प्रतीति प्रमाणसिद्ध है। वादी का प्रश्न यह है कि आत्मा में जाग्रत् आदि प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, अर्थापत्ति आदि सभी प्रमाणों से सिद्ध होते हैं इसलिये अन्तःप्रज्ञ इत्यादि का प्रतिषेध अर्थात् निषेध ठीक नहीं। प्रमाणसिद्ध चीज़ को अप्रमाणसिद्ध के साथ नहीं मिलाना चाहिये। रस्सी में सर्प आदि अप्रमाणसिद्ध है और आत्मा में जाग्रत् आदि प्रमाणसिद्ध हैं। इसलिये जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति तुरीय में नहीं, इस प्रकार कहने का मतलब यही हो सकता है कि जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति की प्रतीति आत्मा में है और तुरीय उससे भिन्न कोई आत्मा है। यह शंका ठीक से समझना। प्रश्नकर्ता का कहना है कि जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति की प्रतीति आत्मा में प्रमाण सिद्ध है। अतः जब तक ये प्रमाणसिद्ध नहीं हैं यह न बताया जा सके तब तक उसकी शंका वैसी ही बनी रहेगी।

उसी का जवाब देते हैं 'ज्ञस्वरूपाविशेषेऽपीतरेतरव्यभिचाराद्।' असत्य का निश्चित कारण क्या होता है अथवा किस चीज़ को निश्चित रूप से असत्य कह सकते हैं? अदालत में भी किसको झूठा गवाह मानते हैं? जो अपनी बात बदलता है। अभी कुछ कहा, थोड़ी देर बाद कुछ और कह दिया, फिर और कुछ ही कह दिया, इससे वह झूठा सिद्ध होता है। असत्य के लिये सबसे पहली चीज़ है बदल जाना। अब जितने ये जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति हैं ये सब असत्य हैं, व्यभिचारी होने के कारण। 'विमतम् असत्यं व्यभिचारित्वात्संप्रतिपन्नवत्' जाग्रत् आदि व्यभिचारी होने से असत्य हैं, यह प्रमाण से सिद्ध होता है। प्रत्यक्ष से भी यही सिद्ध होता है कि जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति आते हैं और चले जाते हैं। स्वप्न में भी फिर भिन्न भिन्न स्वप्न; पहले एक तरह का फिर दूसरी तरह और फिर तीसरी तरह का स्वप्न आता है और चला जाता है। जाग्रत् में भी भिन्न-भिन्न हैं। कई लोग कहते हैं कि सोकर उठते हैं तब तो जाग्रत् में यही रहता है। जाग्रत् की अवधि क्या है? स्वप्न तो कोई पाँच मिनट का कोई दो मिनट का होता है। ऐसे ही जाग्रत् सौ साल का है। जैसे एक स्वप्न को छोड़कर आये तो फिर उस स्वप्न में नहीं जा सकते इसीलिये झूठा मानते हो। ऐसे ही आज से पचास साल पहले वाला जो जाग्रत् छोड़ आये, पचास साल बाद यहाँ से छोड़कर जाओगे तो क्या वह वापिस आ जायेगा? पहले तो आयेगा नहीं और आयेगा तो लोग भाटे मारेंगे कि भूत होकर कहाँ से आ गया? जैसे स्वप्न पाँच-दस मिनट का, वैसे जाग्रत् सौ साल तक रहता है। न स्वप्न वापिस आना है, न यह जाग्रत् वापिस आना है। वहाँ भी स्वप्न-जाति मानेगे कि एक स्वप्न नहीं तो दूसरा आयेगा, वैसे ही यहाँ भी एक शरीर नहीं तो दूसरा शरीर मिला, ऐसे जाग्रत् अवस्था की जाति लेकर तो एक कह सकते हो, लेकिन यह नहीं कह सकते कि यही जाग्रत् वापिस आयेगा। पहले तो जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति व्यभिचारी हैं, फिर स्वप्न स्वप्न में व्यभिचारी है क्योंकि एक गया, दूसरा आया, वह भी एक जैसा नहीं। ऐसे ही जाग्रत् भी एक जैसा नहीं। अब और आगे चलो। जैसे जाग्रत् में एक चीज़ ली और वह भी बदल गई, ऐसे एक ही स्वप्न में चीज़ें बदल जाती हैं। एक जैसी नहीं रहती। स्वप्न में भी पहले गाय दस किलो दूध देने वाली रही है, फिर उसे आबू में ले आते हैं तो धीरे धीरे उसका दूध तीन किलो रह जाता है। कहते हैं 'क्या बात हुई?' 'पहाड़ है, ठण्ड गाय को बर्दाश्त नहीं होती'। स्वप्न के अन्दर भी एक पदार्थ एक जैसा नहीं, जाग्रत् के अन्दर भी पदार्थ एक जैसा नहीं। पहले यहाँ सामने खाली ज़मीन बड़ी सुन्दर थी, बगीचा लगा सकते थे, अब उस पर पत्थर उठा दिये तो उसे मन्दिर कह दिया। जाग्रत् के अन्दर एक जाग्रत् और उस एक में भी तो चीज़ें बदलती जाती हैं। जो इतनी निरंतर बदलने वाली स्थितियाँ हैं उनको कोई अत्यन्त अंधविश्वासी ही सत्य मानकर बैठेगा! संसार को सत्य मानने के लिये जबर्दस्त अन्धविश्वास चाहिये। एक भी प्रमाण संसार की सत्यता में कोई नहीं दे सकता। इसलिये महानास्तिक भी जीवन के कई क्षणों

में कहता है कि यह सब तो चलाचली का मेला है, सब झूठा है, कौन किसका है। कोई ऐसा नास्तिक नहीं मिलेगा जो जीवन में दो चार बार इस अनुभव को न समझे, क्योंकि संसार का स्वरूप ही यह है चाहे जितना सत्य मानो। सम्प्रतिपन्न रस्सी में कभी साँप, कभी जलधारा, कभी बैल का मूत्र, कभी माला कभी भूछिद्र आदि भिन्न-भिन्न चीज़ें दीखती हैं, तो मानना पड़ता है कि ये सब असत्य हैं।

'ज्ञस्वरूपाविशेषेऽपि' अर्थात् ज्ञानरूपता तो बदलती नहीं। यह विशेषण क्यों दिया? सब कुछ बदलता है, सब कुछ व्यभिचारी है, यह कहने पर किसी को कहीं शून्यवाद न समझ में आ जाये इसलिये। सब झूठा है तो बस फिर कुछ भी सत्य नहीं है, यह सहज लगता है। ध्यान से देखो, कौन सी चीज़ नहीं बदलती? जाग्रत् में जाग्रत् का ज्ञान, स्वप्न में स्वप्न का ज्ञान, सुषुप्ति में सुषुप्ति का ज्ञान, एक स्वप्न से दूसरे में जाओ तो वहाँ ज्ञान, एक जाग्रत् से दूसरे में जाओ तो वहाँ भी ज्ञान, यहाँ सामने पहले खाली ज़मीन थी तो उसका भी ज्ञान अब सामने दीवाल खड़ी हो गई तो इसका भी ज्ञान; एक चीज़ जो कभी नहीं बदलती, वह ज्ञान ही है। वह सच्ची हो गई क्योंकि वह अव्यभिचारी है, नहीं बदलने वाली है, और बाकी सब बदलने वाली होने से असत्य हो गई। 'अविशेषे' अर्थात् 'अव्यभिचारे' यही उसकी अविशेषता है। बाकी जो चीज़ें या अवस्थायें दीख रही हैं, वे सब इतरेतर-व्यभिचारी हैं। अन्तःप्रज्ञ का बहिष्प्रज्ञ से व्यभिचार और बहिष्प्रज्ञ का अन्तःप्रज्ञ से व्यभिचार। जैसे रस्सी के अन्दर सर्प, जलधारा इत्यादि विकल्प प्रतीत होते हैं वैसे ही यहाँ हैं। इसीलिये सर्वत्र अव्यभिचारी ज्ञान हो गया। अनुमान भी कर लेना कि ज्ञानरूपी आत्मा सत्य है क्योंकि अव्यभिचारी है, जैसे रस्सी। रस्सी नहीं बदलती है, इसलिये वह सत्य है। सर्प जलधारा इत्यादि बदलते हैं इसलिये असत्य हैं। इसी प्रकार ज्ञानरूप आत्मा नहीं बदलता है तो सत्य है और जाग्रत् आदि अवस्थायें बदलती हैं तो झूठी हैं। इसलिये सर्वत्र ज्ञानस्वरूप की सत्यता सिद्ध हो गई। जब वह सत्य सिद्ध हो गया तो वही सारी कल्पनाओं का अधिष्ठान सिद्ध हो गया। आत्मा में ही सारी कल्पनायें उठती हैं और आत्मा में ही सारी लीन हो जाती हैं। वह आत्मा सत्य है 'तत्सत्यं स आत्मा। तत्त्वमसि श्वेतकेतो।' वही आत्मा है वही सत्य है और हे श्वेतकेतु! वही तू है। आत्मा कहने से आदमी समझता है कि आत्मा कहीं ऊपर बैठा होगा! वह ऊपर नहीं, वह तो पुरुषोत्तम है। उत्तम पुरुष मैं को कहते हैं। प्रथम पुरुष 'वह', मध्यम पुरुष 'तुम' और उत्तम पुरुष हुआ 'मैं'। आत्मा को ही पुरुषोत्तम कहते हैं। इसलिये कह दिया कि वही सर्व कल्पनाओं का अधिष्ठान होने के कारण सत्य है।

'सत्य' के बारे में एक बात समझ लेना, वैसे दूसरे प्रकरण में इसे विस्तार से बतायेंगे। शेर यदि तुम्हारे यहाँ खाने आये तो उसे मांस खिलाना पड़ेगा, बकरी यदि खाने आये तो उसे घास और मनुष्य आये तो उसे दाल भात खिलाना पड़ेगा। यही

व्यवस्थित व्यवहार हुआ। उलटा नहीं कि मनुष्य आये तो मांस परोसो, शेर आये तो उसे घास और बकरी को दाल-भात खिलाने की सोचो! जो जैसा है वैसा ही उसके साथ व्यवहार करना है। इसी प्रकार जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति के अन्दर होने वाला व्यवहार है। जैसे जाग्रत्-स्वप्न मिथ्या वैसे ही उनका व्यवहार मिथ्या और जिन चीज़ों से व्यवहार करोगे वे मिथ्या ही होंगी। वहाँ बीच में सत्यता लाओगे तो काम नहीं होना है। जब जाग्रत् आदि के व्यवहार न करके उसके अन्दर होने वाले ज्ञानस्वरूप को, अधिष्ठान को पकड़ते हो, तो फिर उससे व्यवहार की मत सोचो, दोनों अलग अलग चीज़ें हुई। व्यवहार के लिये मिथ्या की ज़रूरत है और मोक्ष के लिये सत्य की ज़रूरत है। चाहते हैं कि व्यवहार के सामने तो सत्य का टुकड़ा डाला जाये; व्यवहार में कहते हैं कि सब के साथ समानता ले आओ। व्यवहार में समानता लाओगे तो वही होगा कि शेर को घास और आदमी को मांस दो। व्यवहार में यही समानता हो सकती है कि शेर से शेर का, मनुष्य से मनुष्य का व्यवहार करो। शेर आयेगा तो दौड़ना पड़ेगा। जहाँ तक सर्वत्र ज्ञानस्वरूपता की बात है तो शेर के पास जाओगे तो भी ज्ञान होगा, जब वह जबड़ा मारेगा और चीरेगा तो भी ज्ञान ही होगा! ज्ञानस्वरूपता तो वहाँ अविशिष्ट ही रहेगी लेकिन इसे लेकर यदि तुम शेर के पास वैसे जाओ जैसे अपने माता-पिता के पास तो तुम्हारी बुद्धि मूर्खताभरी हुई मानी जायेगी। ज्ञानस्वरूप का व्यभिचार तो वहाँ भी नहीं है लेकिन जिसके साथ जो व्यवहार करना चाहिये था वह नहीं किया। तुम्हारा दोष नहीं तुम तो ज्ञानस्वरूप हो, तुम्हारी बुद्धि गलत है। मनुष्य मिलने आये और उससे भागे तो मूर्ख माने जाओगे। भाष्यकारों ने इसीलिये गीता भाष्य में एक जगह यह प्रश्न उठाया है। गीता में भगवान् ने तो कह दिया कि मनुष्य एकांत में रहे, लोगों से दूर रहे। भगवान् ने तो इतना ही कहा। ऊपर से भाष्यकार कहते हैं कि यहाँ लोगों से दूर रहने का मतलब है कि प्राकृत संसारी लोगों से दूर रहे, संसार में आसक्ति वालों से दूर रहे। जो संस्कार वाले लोग हैं, परमात्मा के मार्ग में चलने वाले लोग हैं, उनसे दूर न रहे, क्योंकि उनके साथ रहना तो तुम्हारे लिये उपादेय है, तुमको परमात्ममार्ग में ले जाने का साधन है। कई लोग कुछ कुसंस्कारियों के साथ रहकर दुःखी हुए तो कहते हैं कि एकांत में जाकर जंगल में रहेंगे, यह मूर्खता का लक्षण है। दुःख का कारण तो कुसंस्कारी है, यह नहीं की सभी कुसंस्कारी हैं। गलती ढूँढने की है, ढूँढना चाहिये था सज्जनों को, ढूँढा दुर्जनों को तो दुःखी हुए। यह सर्वत्र याद रखना कि व्यवहार स्वयं मिथ्या है और मिथ्या व्यवहार मिथ्या पदार्थों से ही होगा। उसके बीच में सत्यत्व नहीं आयेगा और सत्य के बीच में मिथ्या नहीं आयेगा।

कई बार लोग पूछते हैं कि ज्ञान होने के बाद मनुष्य क्या करता है? कुछ नहीं करता। ज्ञान होने के बाद करे तो उसका ज्ञान बेकार गया। लोग सोचते हैं कि कुछ तो करता ही होगा। बैठा रहता होगा, लेट जाता होगा, चुप रहता होगा। बात करना, लेटना,

चुप होना आदि सब कर्म हैं। यह सब वह कुछ नहीं करता। न वह बात करता है, न वह चुप रहता है, न लेटता है, न चलता है, क्योंकि वह जानता है कि लेटने में जैसा ज्ञान है वैसा ही चलने में भी है। ज्ञानरूप अविशेष है। ज्ञान से पूर्व जैसा उसका व्यवहार था तदनुकूल व्यवहार चलता रहेगा। ज्ञान के पूर्व डाक्टर है तो ज्ञान के बाद भी डाक्टरी करेगा, ज्ञान के पूर्व संस्कृत पढ़ता पढ़ाता था तो ज्ञान के बाद भी संस्कृत ही पढ़ेगा। ज्ञान के पहले अंग्रेज़ी बोलता था तो ज्ञान के बाद भी अंग्रेज़ी ही बोलेगा। ज्ञान के बाद कोई यह नहीं होना है कि उसे संस्कृत की जगह अंग्रेज़ी या अंग्रेज़ी की जगह फ्रैन्च बोलना आ जाये। इसलिये जैसी उसकी ज्ञान से पहले संस्कार, प्रारब्ध आदि से प्रवृत्ति थी, वैसी ही ज्ञान के बाद रहेगी, उसमें परिवर्तन नहीं आयेगा। परिवर्तन केवल इसमें आयेगा कि अज्ञान और अज्ञानप्रयुक्त जो कामनायें थी वे नष्ट हो जायेंगी। अज्ञान अर्थात् अपने आपको मिथ्या संसार से एक जाति का समझता था, तादात्म्य सम्बन्ध वाला समझता था, वह नहीं होना है। जो तादात्म्य सम्बन्ध के कारण ही कमनायें उत्पन्न हो रही थीं, वे कामनायें अब उसमें नहीं रहेंगी। शुरू में इसी को तृष्णा कहा था, कामना तृष्णा एकार्थक शब्द हैं। निवृत्ति कामनाओं की, अविद्या की होनी है। यह हट जायेंगी। ज्ञान का फल व्यवहार में अन्तर नहीं है। यहाँ तो केवल सत्यता और असत्यता का विचार था, यह द्वितीय अध्याय में आने वाली शंका है जिसका यहाँ संकेत कर दिया।

अब कोई शून्यवादी का अनुयायी बीच में बोलता है कि जाग्रत् स्वप्न के अन्दर ज्ञान रहता है, यह तुम्हारी बात तो हमने मानी लेकिन 'सुषुप्ते व्यभिचरति इति चेत्?' गहरी नींद में तो ज्ञान नहीं रहता। इसलिये ज्ञान भी आने-जाने वाला है, इसलिये यह भी मिथ्या है। समाधान है कि सुषुप्ति में भी व्यवहार होता है। 'न, सुषुप्तस्यानुभूयमानत्वात्।' सुषुप्ति में ज्ञान नहीं रहता यह तू कैसे कहता है? सोकर जब लोग उठते हैं तो सब कहते हैं कि बड़े आनन्द से सोये। क्या लोग झूठ बोलते हैं? इसका मतलब है कि आनन्द को जान रहे थे। दूसरी बात कहता है कि मैंने वहाँ कुछ नहीं जाना। इस वाक्य को ठीक से समझना। 'मैंने वहाँ कुछ नहीं जाना' यह जानकर बोल रहे हो या बिना जाने? जानकर बोल रहे हो तो वहाँ ज्ञान तो था, बिना जानकर बोलोगे तो प्रमाण ही नहीं होगा! वहाँ कुछ नहीं था तो कुछ नहीं को जाना, यह बात दूसरी है। जैसे कोई कहे कि इस कमरे में कुछ नहीं है, तो इसका मतलब यह नहीं कि तुम्हारी आँख फूटी हुई है। कमरे में कोई चीज़ हो और फिर कोई कहे कि इस कमरे में कुछ नहीं है, तब तो संदेह होगा कि इसकी आँख में मोतियाबिन्द उतर आया होगा। लेकिन कुछ नहीं है और जानते हैं कि कुछ नहीं है, तो आँख खराब नहीं है। ऐसे ही सुषुप्ति में कुछ नहीं था उसी को याद करके कह रहे हैं कि कुछ नहीं जाना। इसलिये जाना कि कुछ नहीं था, होता तो जानते। अतः कह दिया कि यह जो सुषुप्ति अवस्था है, इसके अन्दर स्फुरणरूपता वैसी ही है। इसी विषय में श्रुति का प्रमाण भी दे देते हैं 'न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते'

जानने वाले या अनुभव करने वाले की जो अनुभव करने की शक्ति है, वह कभी भी लुप्त नहीं होती क्योंकि अविनाशी है। सामने कोई चीज़ हुई तो अनुभव किया, कुछ नहीं है तो भी शक्ति तो उसमें है ही, कहीं गई नहीं। जैसे यहाँ हम हैं तो इसका मतलब यह नहीं कि हमारी बालटी उठाने की शक्ति नहीं है। अभी काम नहीं है तो बैठे हैं, शक्ति तो अपने अन्दर ही है। इसी प्रकार अनुभव करने वाले की शक्ति, 'अनुभव करना', हमेशा रहेगी कहीं जाने वाली नहीं है।

'अत एव अदृष्टम्'। निषेध शास्त्र की आलोचना के द्वारा तुरीय की निर्विशेषता सिद्ध हो जाने पर तुरीय की निर्विशेषता के कारण ही उसकी अदृश्यता स्पष्ट है। अब तक यह सिद्ध किया कि तुरीय निर्विशेष है अर्थात् अव्यभिचारी है, उसी को हेतु करके कहते हैं कि इसीलिये वह अदृष्ट है अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों का विषय नहीं है। यह विलक्षण हेतु भाष्यकारों ने बताया है, लेकिन है बड़ा सत्य। ज्ञानेन्द्रिय हमेशा किसी चीज़ के परिवर्तन को ही देख सकती है, अपरिवर्तन वाली चीज़ को नहीं। यही ज्ञानेन्द्रियों का स्वभाव है।

हमने इसका अनुभव किया है। आबू से दिल्ली जाना पड़ता है। दिल्ली में जब आश्रम बनाया था तो वहाँ शान्ति थी जैसे यहाँ शान्ति है। लेकिन पच्चीस सालों में बहुत परिवर्तन हो गया शहर बढ़ गये। फिर आश्रम के सामने सड़क बन गयी, उसपर ट्रक चलने लगे। फिर वह ट्रंक रूट बन गया। बसें आने जाने लगीं, वहाँ खड़ी होने लगीं। अब महाशोर की जगह हो गई। वहाँ जाते हैं तो पहले रात-भर नींद नहीं आती; थोड़ा सा नींद का झोंका आया तो झट किसी ट्रक के हार्न की आवाज़ आ जाती है। कुछ न कुछ होता रहता है। फिर पाँच सात दिन बाद नींद आने लगती है, महीना भर रह जाते हैं तो रात में खुर्राटे भरते हैं, कोई कठिनाई नहीं होती। कारण यह है कि बराबर सुनते रहने से कुछ दिन बाद उसे ग्रहण नहीं करते। उसका अपने मानस जगत् पर क्या प्रभाव पड़ता है, वह विषय दूसरा है लेकिन अभ्यास तो हो ही जाता है। जर्मनी में लोगों ने इस बात का प्रयोग किया है कि आजकल के बच्चे बात क्यों नहीं मानते। उन्होंने पाया कि अमुक डैसिबल (आवाज का मापदण्ड) या अमुक तादाद की आवाज से ज्यादा आवाज़ जब किसी शहर या गाँव में होने लगती है तो वहाँ धीरे धीरे बच्चे बड़ों की बात नहीं मानते। कारण यह है कि उतने डैसिबल से ज्यादा आवाज़ होने पर मनुष्य का मन पहले चेतन और फिर अचेतन अवस्था में बार बार कहता है 'मत सुनो मत सुनो'। तभी उसकी आदत पड़ेगी। इसके द्वारा कान न सुनने का अभ्यास डालता है। इस निरंतर अभ्यास (continuous suggestion) से, आधुनिक भाषा में संस्कार अवचेतन में चला गया और हमारी भाषा में चित्त में चला गया। अब जब बड़ा आदमी कहता है कि 'अमुक काम करना', तो वह उसी 'मत सुनो' के संस्कार से बड़ों की बात नहीं मानता। जितना शोर बढ़ेगा मनुष्य इस प्रकार का बनता है, उन्होंने यह पता लगाया। इसीलिये अपने ऋषि लोग गुरुकुल शहरों से अतिदूर बनाते थे जहाँ कोई शोर न हो। आजकल लोग

कहते हैं कि दिल्ली में ही युनिवर्सिटी बनाओ, बड़ा अच्छा रहेगा, आराम से रहेंगे। फिर कहेंगे लड़के शोर करते हैं, उन्हें धर्म सिखाओ। अब उन्हें क्या सिखावें? वे तो पहले ही कह रहे हैं 'मत सुनो'। इससे अच्छा तो बैठकर आत्मचिंतन ही करें, उनको सुनाकर क्या फायदा होगा?

यह ज्ञानेन्द्रियों की स्थिति है : परिवर्तन होने पर ज्ञानेन्द्रियाँ पदार्थों को ग्रहण कर सकती हैं, निरंतर एक स्थिति रहे तो ग्रहण नहीं कर पातीं। फिर दिल्ली से जब वापिस आबू में आ जाते हैं तो पहले पाँच सात दिन बड़ी प्रसन्नता होती है कि बड़ी शान्ति है। फिर कुछ दिन बाद सामने से दो तीन घण्टे में एक मोटर निकल जाती है तो लगता है कि आबू में भी शान्ति नहीं रह गई। पहले पाँच सात दिन चूँकि वह हल्ला सुन रखा था तो शान्ति लग रही थी। अब शान्ति का अभ्यास हो गया तो एक मोटर ही इतना दुःख देने लगी। ज्ञानेन्द्रियों का स्वभाव है कि परिवर्तन को देख सकती हैं निरंतर एक स्थिति को नहीं देख सकती। यही बात रोशनी इत्यादि सबमें है। पहले हम लोगों को एक ढिबरी कहीं मिल जाती थी, उससे देखते थे तो लगता था कि बड़ी रोशनी होती है, बड़े आदमियों की चीज़ है। पहले एक छोटे से दिये से पढ़ना लिखना, सीना पिरोना हो जाता था, और लालटेन से देखकर तो खूब रोशनी लगती थी। अब घर घर लालटेनें हो गई, फिर वह दिया कहीं जलाकर रखो तो नहीं दीखता। अब तो जमाना कहीं का कहीं पहुँच गया है! गाँवों में बिजली आ गई, पच्चीस नम्बर के लट्टू से नहीं दीखता तो सौ नम्बर का लगाओ। बढ़िया से बढ़िया कपड़ा पहन लो पाँच सात दिन शरीर हल्का लगता है। फिर आदत हो जाती है तो हल्केपने का बोध नहीं रहता। इसी से भगवान् भाष्यकारों ने निर्विशेषत्व को हेतु बना लिया। निर्विशेष या न बदलने वाला होने से ब्रह्म ज्ञानेन्द्रियों का अविषय है। ज्ञानेन्द्रियाँ उसको इसलिये विषय नहीं कर सकतीं क्योंकि एक जैसा है, बदलता नहीं है।

'यस्माददृष्टं तस्मादव्यवहार्यम्।' जो चीज़ ज्ञानेन्द्रियों का विषय होती है वही अर्थक्रियाकारी होती है। अर्थ कहते हैं प्रयोजन को। किसी व्यवहार में लाने लायक होना अर्थक्रियाकारिता है। अर्थक्रियाकारिता उसमें रहेगी जो चीज़ ज्ञानेन्द्रियों का विषय होगी, उसी से कोई प्रयोजन सिद्ध कर सकते हैं। जो ज्ञानेन्द्रियों का विषय नहीं उससे कभी कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। ऐसे समझ लो कि दूध से दही बनाने के लिये दूध भी चाहिये और समय भी चाहिये। बिना दूध के भी दही नहीं बनता और बिना समय के भी नहीं बनेगा। लेकिन सभी लोगों को दही जमाने के लिये दूध लाकर जामन डालते देखा है, ढाई घण्टे लाते नहीं देखते, क्योंकि समय ज्ञानेन्द्रियों का विषय नहीं उसमें अर्थक्रियाकारिता नहीं, तुम उससे कुछ नहीं कर सकते। तुम तो जामन डालकर माला जप सकते हो कि ढाई घण्टे में दही जमेगा। काल की कार्यकारिता (कारणता) तो है लेकिन अर्थक्रियाकारिता नहीं। दूध निकालते हैं, चूल्हे के पास रखते हैं, गर्मी की

अर्थक्रियाकारिता है, जामन की अर्थक्रियाकारिता है, दीखती है। लेकिन पाँच मिनट में ही ढाई घण्टे निकल जायें, ऐसी कोई दवाई नहीं है। जो चीज दृष्ट होती है उसकी अर्थक्रियाकारिता होती है। ब्रह्म अदृष्ट होने से अर्थक्रियाकारिता वाला नहीं है। अर्थक्रियाकारिता नहीं, इसीलिये अग्राह्य है, कर्मेन्द्रियों के द्वारा उसका ग्रहण नहीं बन सकता 'अग्राह्यं कर्मेन्द्रियैः'।

'अलक्षणमलिंगमित्येतदननुमेयमित्यर्थः।' आगे श्रुति ने कहा था 'अलक्षणम्' उसका कोई लक्षण नहीं है। लक्षण नहीं, यह कहने से कोई कहेगा 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' जो सत्य ज्ञान, आनन्द, अनन्त हो, यही ब्रह्म का लक्षण है। इसलिये अलक्षण का मतलब वह लक्षण नहीं बल्कि अलिंग है। कोई ऐसा व्याप्य-व्यापक-भाव वाला लिंग नहीं जिससे ब्रह्म का पता लगे। जैसे धुआँ अग्नि का लिंग है, धुआँ देखने से पता लगता है कि वहाँ आग है। इस प्रकार कोई ऐसी चीज़ नहीं जिसको देखने से ब्रह्म का पता लगे। अर्थात् वह अनुमान का विषय नहीं। इसलिये अलक्षणम् का मतलब है कि वह अनुमान का विषय नहीं है, अलिंग है। ब्रह्म प्रत्यक्ष का विषय नहीं क्योंकि ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रियों का विषय नहीं और अनुमान का विषय भी नहीं, उससे भी ब्रह्म का पता नहीं लग सकता।

'अत एव अचिन्त्यम्' कहते हैं कि है तो सही उसका लिंग 'को हि एवान्यात्कः प्राण्यात्' वह नहीं होता तो प्राणों में प्राणन क्रिया कैसे हो? यह सारी प्राणन की क्रिया प्रत्यक्ष दीखती है। आत्मा है तभी तो दीखती है। व्यवहार में प्राण को ही आत्मा का लिंग मानते हैं। जीवात्मा अभी गया या नहीं यह पता लगाने के लिये नब्ज देखना, साँस चलना देखना किसी न किसी प्रकार प्राणनक्रिया को देखकर पता लगता है कि आत्मा है या नहीं। यह रहते हुए कैसे कह रहे हो कि वह अनुमेय नहीं है? अतः अनुमेय नहीं है इसका मतलब यह है कि अनुमान के द्वारा उसका ज्ञान नहीं है। यह तो समझ लिया कि जहाँ प्राण होता है वहाँ आत्मा होता है लेकिन वह आत्मा होता कैसा है— यह प्राण देखकर पता नहीं लगता। इसलिये वह अननुमेय है। अनुमान से उसका ज्ञान होता नहीं। केवल आत्मा आत्मा शब्द कहने से क्या होगा? प्राण देखकर उसका पता तो नहीं लगता। क्योंकि धुएँ को पहले आग के साथ कहीं देखा है इसलिये व्याप्ति-ग्रह हो गया, इसलिये दूसरी जगह धुआँ देखकर अग्नि का ग्रहण हो गया। ऐसे ही श्रुति ने कह दिया कि प्राण जहाँ चलें वहाँ आत्मा है। लेकिन पहले आत्मा का दर्शन तो किया नहीं जो प्राण को देखकर पता लगे कि आत्मा कैसा है। व्याप्तिग्रह के बिना जो अनुमान किया जाता है उसे अनुमानाभास कहते हैं। लगता तो अनुमान की तरह है लेकिन सच्चा अनुमान नहीं है। सच्चा अनुमान तब हो जब उस चीज़ का सही ज्ञान हो। इसलिये कह दिया 'अचित्यम्' अर्थात् प्रत्यक्षानुमानाविषयत्व होने के कारण अचिन्त्य है।

शब्द से ज्ञान हो जाता होगा? कहते हैं 'अत एवाव्यपदेश्यं शब्दैः' शब्द के द्वारा भी उसका व्यपदेश नहीं किया जा सकता। शब्द के द्वारा क्यों नहीं किया जा सकता?

जैसे पहले व्याप्तिग्रह हो तब उस चीज़ का ज्ञान हो, ऐसे ही पहले शब्द के अर्थ को तुमने कहीं देखा हो, तब उसका ज्ञान हो। तुमने बिल्ली देखी है और फिर हम तुमसे कहते हैं कि बिल्ली दूध ले गई तो तुम्हारी समझ आ गया। यहाँ तक कि यदि हम कहते हैं कैट (cat) मायने बिल्ली, तो समझ में आ जायेगा क्योंकि देखी हुई है। जिसने बिल्ली को नहीं देखा हो उसे कहें कि बिल्ली दूध ले गयी, या कैट (cat) मायने बिल्ली, तो ज्ञान नहीं होना है। ऐसे में शब्द से होने वाला ज्ञान आभास कहा जाता है। शब्द से भी कई बार आभास उत्पन्न हो जाता है। प्रत्यक्ष अनुमान के आभास की अपेक्षा हम लोग शब्दाभास में ज्यादा फँसते रहते हैं। किसी चीज़ को समझने के लिये एक शब्द बनाया। धीरे धीरे वह शब्द ऐसा दृढ रूढ हो जाता है कि उस शब्द को देखकर 'इसका अर्थ क्या है'— इस पर कभी विचार ही नहीं करते! जैसे आजकल लोग कहते हैं कि राष्ट्रभक्ति होनी चाहिये। हम उनसे पूछते हैं 'राष्ट्र क्या है?' कहते हैं 'यह मत पूछो केवल भक्ति किये जाओ'। राष्ट्र आँख से तो दीखता नहीं है, अनुमान उसका कर नहीं पा रहे हैं। फिर किसको राष्ट्र या देश मानते हो?

एक शब्द बना लिया, उस शब्द के अन्दर फँसे हुए हैं, उससे नहीं निकल पाते। कहते हैं कि लोगों की गरीबी दूर करनी चाहिये। उनसे पूछते हैं 'गरीबी का लक्षण करो, किसको गरीब कहोगे।' वे कोई लक्षण गरीबी का नहीं कर सकते, लेकिन मानते हैं कि गरीबी एक चीज़ है जो दूर करनी चाहिये। बड़ी अच्छी बात है। गरीबी कहाँ रहती है? विवेक से पता लगता है कि मन में रहती है। कल ही यहाँ कोई सुना रहा था कि बहुत हीरे पन्नों वाला हैदराबाद का नवाब था और सड़े बैंगनों की सब्जी खाता था। वह बेचारा गरीब था या अमीर था? सड़े बैंगन खाने वालों की गरीबी दूर करना चाहते हो? यदि कहो कि उसके चारों तरफ हीरे पन्ने थे इसलिये अमीर था तो फिर रिज़र्व बैंक में काम करने वाला कम्पोज़िटर या नोट छापने वाला अमीर है क्योंकि उसके चारों तरफ भी नोटों की गड्डियाँ लगी रहती हैं! इसलिये गरीबी मन में रहती है। जब तक मन से गरीबी नहीं हटाओगे तब तक चारों तरफ चीज़ें रखने से कुछ नहीं होना है। मन से गरीबी हटेगी तो होगा कि इच्छा नहीं है। 'जाको कछु न चाहिए सो जग शहंशाह।' विचार से यह पता लगेगा। नहीं तो सब लगे हुए हैं गरीबी हटाने के लिये। जितना हटाते हैं, उतनी माँगें बढ़ती जाती हैं, गरीबी बढ़ती जाती है। जिस ज़माने में बीस रुपये मिलते थे उस ज़माने में घर आये अभ्यागत को भोजन कराने से सुख होता था। अब बीस रुपये की जगह बीस हजार हो गये तो सब कहते हैं, 'जी क्या बतायें, पूरा नहीं पड़ता, किसी तरह गुज़ारा निकाल रहे हैं!' बाकी किसी दूसरे अभ्यागत को जाने दो रिश्तेदार आ जायें तो उनकी छाती धुड़क धुड़क करने लगती है कि कब जायें। लोग कहते हैं गरीबी हट रही है, हमको दीख रहा है कि गरीबी बढ़ रही है। शब्द मनुष्य को बड़े भ्रमों में डालता है।

इसी प्रकार जब कह देते हैं 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' तो बहुत से लोग बड़े खुश हो जाते हैं कि ब्रह्म का ज्ञान हो गया। सत्य ज्ञान आनन्द अनन्त, यही तो ब्रह्म है। पंचदशीकार ने इसका बड़ा सुन्दर दृष्टांत दिया है। एक आदमी को पूछा— 'चारों वेदों को जानते हो?' उसने कहा— 'चारों वेदों को जानता हूँ।' 'अच्छा, चारों को जानते हो तो उनके बारे में क्या जानते हो, क्या सारी संहिता जानते हो?' 'वेद चार हैं इस बात को जानता हूँ ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद!' जैसे उसका हाल ठीक इसी प्रकार अनेक लोग शब्दों के द्वारा ब्रह्म को जान लेते हैं। ब्रह्म को कैसे जानते हो? कहते हैं 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' यही ब्रह्म है। शब्द के द्वारा ज्ञान तब होता है जब पहले शब्द के साथ पदार्थ का सम्बन्ध देखा हुआ हो। तब तो शब्द से ज्ञान होगा, नहीं तो ज्ञानाभास होगा। जिस प्रकार अनुमान का विषय ब्रह्म नहीं, वैसे ही ब्रह्म का उपदेश किसी शब्द से नहीं किया जा सकता क्योंकि पहले से देखा तो है नहीं। इसलिये उसका शब्द से भी ज्ञान नहीं कराया जा सकता।

'एकात्मप्रत्ययसारं जाग्रदादिस्थानेष्वेकोऽयमात्मेत्यव्यभिचारी यः प्रत्ययस्तेनानुसरणीयम्।' फिर उसके ज्ञान का प्रकार क्या है? वह एकात्मप्रत्ययसार है। जो जाग्रत् आदि तीनों स्थानों में, तीनों अवस्थाओं में रहने वाला है, वह यह आत्मा है। यह जो उसकी अव्यभिचारिता है, जो प्रत्यय है, उस अव्यभिचारिता पर नजर टिकाने से धीरे धीरे उसका ज्ञान हो जायेगा। सब समय में, सब अवस्थाओं के अन्दर ज्ञान का एकरूप प्रवाह चल रहा है। अब तक ध्यान पदार्थों पर दिया है, पदार्थों का ज्ञान जब होता है तो उनके साथ ज्ञान भी होता तो है ही, लेकिन अब तक पदार्थों पर ही ध्यान देते रहे हो, ज्ञान पर ध्यान दिया नहीं है। अब धीरे धीरे केवल जो चेतना है, केवल जो ज्ञान है उसकी तरफ दृष्टि करते चले जाओ। वह नहीं बदलने वाला है! धीरे धीरे एक समय आयेगा कि पदार्थ तो रह नहीं जायेगा, ज्ञान रह जायेगा। यह अभ्यास करना है। हर परिस्थिति में अपनी चेतना को पूर्ण जाग्रत् रखो, किसी भी पदार्थ को चेतना पर हावी मत होने दो। अभी पदार्थ चेतना पर हावी हो जाता है। पदार्थ आयेगा, जायेगा, चेतना को पदार्थ प्रकट ही करेगा। लेकिन उन पदार्थों से चेतना को प्रकटित होने दो। यह जो निरंतर सब समय अपनी चेतना की जागृति है, बस यही उसको पकड़ने का साधन है। इसके लिये शुरू शुरू में कुछ काम कम करना पड़ता है। जो अत्यधिक काम में व्यस्त रहेगा उसके सामने एक के बाद एक पदार्थ आते रहेंगे, इसलिये शुरू में अभ्यासी को कामों को कम करके ज्ञान को पकड़ना है। लेकिन जब धीरे धीरे अभ्यास हो जायेगा तो कोई फरक नहीं पड़ेगा। चाहे जितने पदार्थ आते-जाते रहें, ज्ञान जागृत रहेगा। शुरू में जौहरी रत्न की परीक्षा के लिये आँख में लेंस लगाकर देखता है। लेकिन जब पक्का जौहरी बन जाता है तो रास्ते चलते हुए भी हीरा देखकर कहता है कि बीस पच्चीस हजार का है। ठीक इसी प्रकार इसमें हो जाता है।

'अथवैक आत्मप्रत्ययः सारं प्रमाणं यस्य तुरीयस्याधिगमे तत्तुरीयमेकात्मप्रत्ययसारम्। 'आत्मेत्येवोपासीत' इति श्रुतेः।' परोक्षार्थविषयता से आत्मज्ञान का तरीका बताया, परोक्ष जाग्रत् आदि, उसमें होने वाला ज्ञान है। उन परोक्ष ज्ञानों को पकड़कर ज्ञान को पकड़ना है। यह एक उपाय बता दिया। अब दूसरा उपाय बताते हैं कि एक ही आत्मप्रत्यय है जो संसार को अपने अंदर लीन कर लेता है। 'अत सातत्यगमने' से आत्मा शब्द निष्पन्न हुआ है। आत्मा मायने 'यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह। यच्चास्य सन्ततो भावः तस्मादात्मेति गीयते।' गहरी नींद में आँख, कान आदि कुछ नहीं रहते। आत्मा इन सबको सुषुप्ति में अपने में लीन कर लेता है। जाग्रत् के अनुभवों के संस्कार लेकर वह स्वप्न के अन्दर कुछ नई चीज़ों को बना लेता है और जाग्रत् काल में परमेश्वर के बनाये हुए पदार्थों को खाता है। इन तीनों को करने वाला वह है। जाग्रत् में बाह्य पदार्थों को जो ग्रहण करता है, वही फिर उनसे स्वप्न में अपनी दुनिया बनाता है और वही सुषुप्ति में उन सबको अपने में लीन कर लेता है। जाग्रत् में आने पर फिर सारी इन्द्रियाँ बाहर निकालकर व्यवहार कर लेता है, वह आत्मा है। एकात्मप्रत्ययसार का दूसरा अर्थ हुआ यह जो निरंतर रहने वाला आत्मा है। पहले तो घट पट आदि ज्ञान में घट पट को छोड़कर ज्ञान की दृष्टि करनी है। यहाँ दूसरी साधना बता रहे हैं कि अपना जो निरंतर रहने वाला आत्मा का भाव है उसको पकड़कर रखना। इसलिये यह उसकी अपरोक्षता हो गई।

यह आत्मा किसी ज्ञानेन्द्रिय का विषय नहीं क्योंकि सारी ज्ञानेन्द्रियों को व सारी कर्मेन्द्रियों को चलाने वाला है। किसी अनुमान का विषय नहीं क्योंकि अनुमान को करने वाला है तो अनुमान का विषय कैसे बने? किसी चिंतन का विषय नहीं क्योंकि चिंतन को करने वाला है। किसी शब्द का विषय नहीं क्योंकि शब्द को जानने वाला है। यह जो आत्मा की नित्य निरंतर चेतन-स्वरूपता है, यह अपरोक्ष रूप से अनुभव देखना, यह दूसरा उपाय है। मोटी भाषा में इसी को 'मैं' की साधना समझ लो। 'मैं' हमेशा सब अवस्थाओं में अखंडित रहता है, यह दृष्टि बनानी है। मैं के सामने पदार्थ आयेगा, पदार्थ से तादात्म्य न कर लो। घुटने में दर्द होगा तो घुटने से तादात्म्य नहीं करोगे। घुटने का दर्द दस साल पहले नहीं था, वही मैं आज घुटने के दर्द को देख रहा हूँ और बीस साल बाद शरीर चला जायेगा तो घुटने का दर्द तो क्या घुटना ही निवृत्त हो जायेगा! घुटने की ठीक स्थिति में, दर्द की स्थिति में जो मैं और बाद वाली स्थिति में जो मैं, वही मैं सर्वत्र एक जैसा हूँ। एक में पदार्थों की व्यभिचारिता और दूसरे में वृत्तियों की व्यभिचारिता है। इसलिये एकात्मप्रत्यय तुरीय के ज्ञान के लिए सार अर्थात् प्रमाण है। वही तुरीय एकात्मप्रत्ययसार हो गया। इसमें बृहदारण्यक श्रुति का प्रमाण दिया 'आत्मेत्येवोपासीत' इसी अपने आत्मतत्त्व की उपासना करे। जैसे तेल की धारा बहती है, बीच में कोई दूसरी चीज़ नहीं आती, इसी प्रकार आत्मा की धारा निरंतर बहती रहे। दूसरी चीज़ शरीर आदि का तादात्म्य बनकर आयेगी, उसे न आने दो, आत्मा की ही उपासना करे, शरीर आदियों को बीच में न घुसने दे।

एक शंका होती है कि अंतःप्रज्ञ और बहिष्प्रज्ञ आदि के निषेध से जब सारे प्रपंच का निषेध हो गया तो अलग से प्रपंचोपशम विशेषण क्यों दिया गया? नियम यह है कि कोई बात जितनी कहनी हो उससे अधिक कहना भी दोष है। अर्थात् हम लोगों के प्राचीन मत में विज्ञापन ही इस बात में प्रमाण है कि तुम्हारा माल खराब है। यह हम लोगों का दृष्टिकोण है। यदि कोई व्यक्ति कहता है कि 'मैनें आप लोगों का फायदा किया' तो उसका कहना ही इस बात में प्रमाण है कि उसने नुकसान किया। दूसरा कहे 'तुमने फायदा किया', तब तो तुम कह सकते हो 'चलो भगवान् की कृपा से हो गया,' या 'मेरे को भगवान् ने निमित्त बनाया।' लेकिन स्वयं अपने मुख से यह कहना 'मैंने यह काम बड़ा अच्छा किया', यह विज्ञापन ही इसमें प्रमाण है कि खराब किया। यहाँ नियम किया गया कि 'नापृष्टः कस्यचित् ब्रूयात् न चान्यायेन पृच्छतः।' जब तक कोई आदमी आकर किसी बात को पूछे नहीं, जिज्ञासा प्रकट न करे तब तक जबर्दस्ती उसे अपना उपदेश नहीं देना चाहिये। अर्जुन पर भगवान् का बड़ा प्रेम था, स्वयं कहते हैं 'प्रियोसि मे सखा चेति' इतना प्रेम होने पर भी जब तक अर्जुन ने पूछा नहीं 'शिष्यस्तेहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्' 'तुम बताओ कि हमारे कल्याण की चीज क्या है' तब तक भगवान् ने कभी उपदेश नहीं दिया। कारण है कि हम यह उचित नहीं मानते कि अपना प्रचार खुद ही किया जाये या जो सुनना नहीं चाहता उसे सुनाया जाये। पाश्चात्य संस्कृति ठीक इससे विपरीत है। जो जितना हल्ला गुल्ला मचा सके, अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बन सके, उसे उतना श्रेष्ठ समझो। लोग खुद अपना प्रचार करते हैं। आज के युग में समग्र प्रचार के साधन कुछ लोग अपने हाथ में कर लेते हैं। प्रचार के साधन हैं बहुत ज्यादा जैसे रेडियो, टेलिविज़न, अखबार, मैगेज़ीन, पैम्फलेट्स् आदि ये सारे प्रचार के साधन कुछ लोगों के हाथ में होते हैं। यदि हम प्रचार के साधन से किसी को समझाने जायेंगे तो हम नहीं सफल हो सकेंगे क्योंकि उतने साधन हमारे पास हो नहीं सकते, प्राप्त ही नहीं करने दिये जायेंगे। लेकिन एक बात जब हरेक को समझा दी जायेगी कि जो प्रचार करे, उसको तुम महाझूठा समझो, यह एक नियम याद रखो, तो जिसके द्वारा वे हमारा सोचना नियन्त्रित करते हैं, अपना मत हम पर आरोपित करते हैं, (brain washing), उस साधन को हमने रोक दिया। एक बच्चा है जो पहले किसी ईसाई स्कूल में पढ़ता था। वे लोग ईसाइयत की बड़ाई और हिन्दूओं की निंदा करें। उस पर अपने संस्कार डालते रहे। एक बार हमने उसे पूछा कि जब वे अपनी प्रार्थना कराते हैं तब तुम क्या करते हो? उसने कहा 'मैं उनकी प्रार्थना तो नहीं करता लेकिन मन में कहता रहता हूँ 'तुम्हारे देवता ठुड्ढ, तुम्हारे देवता ठुड्ढ!' जब जब कोई प्रचार की चीज़ सामने आये तब तब यह सोचो कि यह प्रचार ही बता रहा है कि ये महा झूठे हैं तभी परमतप्रवेश (brain wash) से बच सकते हो। अगर कहीं उनकी बात सुनने और उसका अर्थ समझने में लग गये तो जैसे आँधी के समय पैर टिक नहीं पाते, ऐसे उड़ जाओगे।

अतः प्रश्न है कि एक बार 'नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्' के द्वारा सबका निषेध तो कर दिया फिर उसके बाद ऊपर से प्रपंचोपशम क्यों कहा? बात तो एक कही लेकिन दो प्रकार से क्यों कही? उत्तर है कि ये अलग अलग निषेध हैं। अंतःप्रज्ञत्व आदि का निषेध, इस उपनिषद् में प्रारंभ में ही बताया था कि, स्थानी को बताने वाला है अर्थात् अंतःप्रज्ञा मे जाने वाला जीव निषिद्ध है। अंतःप्रज्ञ से अंतःप्रज्ञ की अवस्था को नहीं कहा था। शुरू के छह मंत्रों में यह बता दिया था। स्थानी का मतलब माना था कि स्थान से जो अपने में आई हुई किसी विशेषता को समझता है, किसी पद पर बैठने के बाद जो समझता है कि मेरे अंदर कुछ विशेषता आ गई, वह। इस अभिमान का प्रतिषेध 'नान्तःप्रज्ञम्' इत्यादि से बता दिया कि किसी भी पद या स्थान पर पहुँचकर अपना स्वरूप अपरिवर्तित रहता है, कभी अपना स्वरूप नहीं बदलता। ठीक उसी प्रकार समझ लेना चाहिये कि किसी दूसरे का स्वरूप भी नहीं बदलता क्योंकि जैसे हम जीव वैसे ही वह जीव। यह नहीं कि किसी स्थान पर पहुँचने से उसमें कोई वैशिष्ट्य आ गया। स्थानी के धर्म का निषेध किया। प्रपंचोपशम से जो निषेध किया, वह स्थान-धर्म का है, इसलिये यह उससे भिन्न है।

शांत का मतलब क्या है? यह आगे बताना है। उस शांत को ही बताने के लिये पहले 'प्रपंचोपशमं शान्तं शिवमद्वैतम्' कह रहे हैं। यहाँ स्थान-धर्म के अभाव का मतलब क्या है? अंतःस्थ पदार्थ को जानते समय जो तुम्हारे में तत्प्रयुक्त अभिमान आया, तुम स्थानी और तुम्हारे कारण उस स्थान में जो वैशिष्ट्य आया, वह स्थान-धर्म है। यहाँ श्रुति इन दोनों दोषों की निवृत्ति बता रही है क्योंकि दोनों प्रकार के भ्रम होते हैं। एक भ्रम हुआ कि स्थान पर पहुँच कर स्थानाभिमानिता की प्राप्ति से हमारे में वैशिष्ट्य आ गया, और दूसरा भ्रम हुआ कि इस स्थान पर हम आ गये तो इस स्थान का वैशिष्ट्य हो गया। यह भी एक भ्रान्ति होती है। इस भ्रान्ति का कारण मनुष्य समझता है कि यदि मैं इस स्थान या पद पर नहीं रहा तो यह स्थान भ्रष्ट हो जायेगा, केवल मेरे रहने से ही ठीक रहेगा। पिता यही समझता है कि मैं गद्दी को छोड़कर लड़के को सम्भाल दूँगा तो वह नहीं चला सकता। इस स्थान पर मेरे बैठने से ही, मुझ एक व्यक्ति के पहुँचने से ही इसका वैशिष्ट्य है। वहाँ से लेकर ऊपर तक सर्वत्र यही समझ लेना चाहिये और इन दो प्रकार के भ्रमों से दूर रहना चाहिये। पद पर आने से हमारे में और हमारे बैठ जाने से पद का कोई वैशिष्ट्य नहीं। इसलिये इसका प्रपंचोपशम के द्वारा अलग निषेध किया 'प्रपंचोपशममिति जाग्रदादिस्थानधर्माभाव उच्यते।' जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति के अन्दर हमारे जाने से कुछ वैशिष्ट्य आया, ऐसा भी नहीं। स्थान और स्थानी दोनों धर्मों का अभाव है। पारिभाषिक भाषा में कहते हैं कि यह अन्योन्याध्यास का निषेध है अर्थात् स्थानी का स्थान में अध्यास और स्थान का स्थानी में अध्यास दोनों का निषेध है। विश्व

तैजस प्राज्ञ और विश्व तैजस प्राज्ञ के अन्दर जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति का अध्यास, दोनों झूठे हैं, मिथ्या हैं, भ्रान्ति हैं।

जब इस प्रकार के अध्यास निवृत्त हो जाते हैं तभी मनुष्य शांत होता है अर्थात् राग द्वेष से रहित शमगुणयुक्त शान्त होता है। शम मायने राग द्वेष से रहित होना। किसी न किसी स्थान या स्थानी को पकड़कर ही राग द्वेष होते हैं। जब अपने को किसी स्थान या पद वाला मानोगे तभी राग होगा। जैसे मान लो हमने मान लिया कि मैं ब्राह्मण हूँ, तब दूसरे ब्राह्मण के प्रति राग होगा। यदि मैंनें मान लिया कि मैं चमार हूँ तो मुझे दूसरे चमारों के प्रति राग होगा। एक कथा प्रसिद्ध है। काशी में काशीकरवत नाम का एक स्थान है जिसके बारे में यह प्रसिद्धि थी, तुलसीदास जी ने भी रामचरित मानस में यह लिखा है, कि वहाँ आत्महत्या करने से अपने मन की कामना पूर्ण होती है। वहाँ एक लम्बी तलवार लटकी थी, ऊपर से आदमी गिरता था और अंदर ही अंदर के रास्ते से लाश गंगा जी में चली जाती थी। यद्यपि काशीखण्ड, स्कन्दपुराण आदि में कहीं इसका उल्लेख नहीं है, लेकिन प्रसिद्ध है। वैसे जो लोग अपनी कामना-पूर्ति करना चाहते होंगे वे तो करते ही रहे होंगे, लेकिन बहुत बार यह सोचकर कि बुड्ढे माँ-बाप को कौन खिलाये पिलाये, उन्हें वहीं मोक्ष दिला देते थे। पण्डे को दो चार रुपये दे दिये जिससे वह आगे शिकायत न करे। लार्ड विंग्टन ने इसे बन्द किया, मन्दिर तो अब भी है। एक बार एक चमार वहाँ गया। लोगों ने कहा कि तुम्हारी जो कामना होगी सो पूरी हो जायेगी, काशी करवत लो। उसने सोचा कि बुड्ढा हो गया हूँ, इसलिये यह ठीक है लेकिन कामना क्या करूँ? ब्राह्मण बनना ठीक है, लोग खूब निमंत्रण देंगे, बढ़िया माल खाने को मिलने लगेगा, लोग पूजा करेंगे, चरण धोयेंगे, बड़ा मज़ा आयेगा। फिर सोचा कि ब्राह्मण तो बनूँगा लेकिन सवेरे चार बजे उठना पड़ेगा, कभी भूख लग रही होगी तो किसी के हाथ की चीज़ नहीं खा सकूँगा। जब गुरुजी कुछ याद करने को देंगे और याद नहीं होगा तो 'खण्डिकोपाध्यायः चपेटां ददाति!' यह तो बड़ी झंझट की बात है। व्रत करो, अनुष्ठान करो आदि महान् झंझट है। बनना चाहिये तो क्षत्रिय बनना चाहिये। फेंटा बाँधकर तुर्रा लगाकर ठाठ से घोड़े पर बैठेंगे, लोग सलाम करेंगे, जय-जयकार होगी, यही बढ़िया चीज़ है, ब्राह्मण बनने में तो झंझट ही है। सोचने लगा कि कहीं लड़ाई हो गई तो खचाखच तलवारें चलेंगी, और कहीं अपनी ही गर्दन पर किसी ने चला दी तो बड़ी झंझट की बात होगी। दुनिया में सार है तो बनिया ही है, बनिया बनना चाहिये। ठाठ से तोंद फुलाकर गद्दी पर बैठो। ब्राह्मण क्षत्रिय को भी पैसा चाहिये तो सेठ जी, सेठ जी करते हैं। न ब्राह्मण की तरह सवेरे उठने का झंझट और न क्षत्रिय की तरह लड़ने मरने की झंझट होगी। बनिया बनना बढ़िया है। फिर सोचने लगा कि कभी कभी दूसरों को रुपया दो, खेती न हो और घाटा हो जाये तो रात भर चिंता के मारे परेशान रहना पढ़ता है कि अब कहाँ से पैसा आयेगा? व्यवस्था कैसे होगी? एक पैसे की भी कमी हो जाये तो रात भर तेल

का दिया जलाकर बनिया बैठकर हिसाब मिलाता रहता है, तब तक इन्कमटेक्स का झंझट नहीं आया था, आजकल तो वह भी बड़ी झंझट का काम है, लोग उसी से डरते रहते हैं। इसलिये अपने तो चमार ही बढ़िया हैं। न सवेरे उठने की झंझट, न लिखने-पढ़ने की ज़रूरत, न मरने का डर, न धन की चिंता, न रातभर हिसाब मिलाने का सिर दर्द। जब मर्ज़ी उठो, दो जूते गाँठो तो काम चल गया। अंत में उसने यही निश्चय किया कि इससे बढ़िया और कोई काम नहीं, अपने चमार ही अच्छे हैं। कहा— 'पंडित जी मैनें निश्चय कर लिया कि अपने को तो चमार ही बनना है।' पंडित जी ने कहा— 'भाग यहाँ से, चमार बनने के लिये काशीकरवत दिलायेंगे!'

विचार की बात यह है कि मनुष्य जिस चीज़ के साथ अपना अध्यास कर लेता है, उसी के बारे में राग हो जाता है। 'मैं ब्राह्मण हूँ 'यह अगर उसने अपना स्थानी धर्म बना लिया तो ब्राह्मणत्व धर्म के प्रति राग और 'मैं चमार हूँ' तो दूसरे चमारों के प्रति, चमार के धर्मों के प्रति राग होगा। उसी तरह सारी प्रवृत्ति हो जाती है। जब ये दोनों अध्यास हट गये तो फिर उसे न किसी के प्रति राग और न किसी के प्रति द्वेष रह जाता है। वह फिर अविक्रिय कूटस्थ भाव को प्राप्त हो जाता है। इसलिये कहा 'अतएव शान्तमविक्रियं शिवम्।' प्रपंचोपशम होने के कारण ही वह शान्त है और वही शिव है। उसी को वेदों में शिव तत्त्व कहा है। पहले भी बताया था कि कूटस्थ अधिष्ठान को ही वेदों में शिव नाम से कहा गया है। उसी को कहते हैं 'यतोऽद्वैतं भेदविकल्परहितम्' शिवभाव विकल्प से रहित होता है। इसीलिये प्राचीन काल से ही शिव की मूर्ति भी बनाते हैं तो उसमें कोई भी किसी प्रकार के चेहरे इत्यादि की कल्पना नहीं करते। 'आकाशं लिंगमित्याहुः पृथिवी तस्य पीठिका।' किसी खुले स्थान में खड़े होकर आकाश को देखो तो आकाश लिंगाकार ही दीखेगा। यद्यपि आकाश की कोई शक्ल नहीं है लेकिन मनुष्य की आँख से सीमित होकर वह लिंगाकार (elliptical) ही दीखेगा। जहाँ तक आँख पहुँचेगी, आकाश वैसा दीखेगा। उसी को शिव का प्रतीक बना लिया। विचारशील के लिये आकाश ही वस्तुतः अद्वितीय भाव को व्यवहार में प्रकट करता है। आकाश के अन्दर कितना भी पानी बरसे आकाश को गीला नहीं कर सकता, कितनी भी धूप पड़ जाये आकाश को सुखा नहीं सकती। वैसा का वैसा अविक्रिय कूटस्थ बना रहता है। चूँकि वहाँ द्वैत का अभाव है, इसलिये शिव है।

'चतुर्थम् मन्यन्ते' यही चतुर्थ और यही तुरीय है। श्रुति ने यह नहीं कहा कि चतुर्थ है। 'मन्यन्ते' कहा है अर्थात् मनन करने वाले समझने के लिये मानते हैं। 'प्रतीयमानपादत्रयवैलक्षण्यात्।' मन्यन्ते का कारण दिया कि प्रतीयमान जो तीन पाद जाग्रत् आदि हैं, उनसे विलक्षण है अर्थात् यह कभी भी प्रतीत नहीं होता। जाग्रत् आदि तीनों की प्रतीति कराने वाला है लेकिन स्वयं कभी भी प्रतीत नहीं होता। यही उसकी विलक्षणता है। 'स आत्मा स विज्ञेय इति प्रतीयमानसर्पभूछिद्रदण्डादिव्यतिरिक्ता यथा रज्जुस्तथा

तत्त्वमसीत्यादिवाक्यार्थ आत्मा।' वही आत्मा है, वही विज्ञेय है। प्रतीयमान सर्प, भूछिद्र आदि सबसे व्यतिरिक्त जैसे रस्सी होती है, वस्तुतस्तु रस्सी ही इन सब आकारों में दीख रही है लेकिन इन सबसे भिन्न रस्सी है, उसी प्रकार यहाँ भी तुरीय ही यद्यपि जाग्रत् आदि रूप में दीख रहा है लेकिन फिर भी तुरीय जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति से भिन्न समझने के लिये कहा जाता है। रस्सी से भिन्न सर्प, भूछिद्र, दण्ड इत्यादि नहीं हैं, क्योंकि रस्सी हटने पर वहाँ कुछ नहीं है। लेकिन फिर भी समझाने के लिये कहना पड़ेगा कि इन सबसे रस्सी भिन्न है चूँकि ये सब प्रतीत होते हैं और रस्सी वहाँ अधिष्ठान है। 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों का तात्पर्यविषयभूत अर्थ आत्मा है।

'अदृष्टो द्रष्टा' इस बृहदारण्यक श्रुति ने उसी आत्मा को स्पष्ट कह दिया कि आत्मा अदृष्ट है, खुद कभी नहीं देखा जा सकता। वह सबको देखने वाला है लेकिन उसको कभी कोई नहीं देख सकता। वह सबको समझता है, उसको कोई नहीं समझ सकता। वह सबका अनुभव करता है लेकिन उसका अनुभव कोई नहीं कर सकता। वह सबको सुनता है लेकिन उसको कोई नहीं सुनता "न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते' इत्यादिभिरुक्तः' द्रष्टा की दृष्टि का कभी विपरिलोप नहीं होता। वही जानने के योग्य है 'यः स विज्ञेय इति भूतपूर्वगत्या ज्ञाते द्वैताभावः'। ज्ञात अर्थात् विद्या अवस्था में ज्ञान हो जाने पर द्वैत का अभाव होता है। इसका मतलब ऐसा नहीं है कि पहले भाव है, बल्कि भूतपूर्व गति से कह दिया जाता है कि जो अब तक हमको द्वैत दीखता था वह अब ज्ञान हो जाने पर नहीं रहा। वस्तुतस्तु निश्चय होता है कि जब मेरे को दीख रहा था तब भी नहीं था। जैसे जब कहते हो 'मैं स्वप्न देख रहा था, अब जग गया', उसका तात्पर्य यह है कि स्वप्न जब दीख रहा था तब भी स्वप्न के पदार्थ नहीं थे। निश्चय यही है, फि भी दूसरे को समझाने के लिये कहना पड़ता है 'स्वप्न देख रहे थे, कोई शेर आया इसलिये चिल्ला पड़े थे, अब जग गये, शेर नहीं रहा।' उसी प्रकार दूसरे को समझाने के लिये कह देते हैं 'जब तक मेरे अन्दर अज्ञान था तब तक मैं शोक मोह में पड़ा हुआ था। अब ज्ञान हो जाने पर शोक मोह हट गया।' वस्तुतः उसका ज्ञान है कि जिस समय शोक मोह वाला अपने को समझ रहा था उस समय भी नहीं था। ज्ञान के द्वारा उसका कारण अज्ञान भी अपनीत हो जाता है। केवल द्वैत ही नहीं, द्वैत का कारण अज्ञान भी हट जाता है। यह सातवें मंत्र की व्याख्या हो गई। अब इसपर कारिकायें चलेंगी।।७।।

●

सप्तम मन्त्र पर कारिकायें

निवृत्तेः सर्वदुःखानामीशानः प्रभुरव्ययः।
अद्वैतः सर्वभावानां देवस्तुर्यो विभुः स्मृतः।।१०।।

'अत्रैते श्लोका भवन्ति' सातवे मंत्र के विषय में ये श्लोक हैं। 'तुर्यो विभुः' अर्थात् चतुर्थ तुरीय को यहाँ विभु शब्द से कहा। 'विविधाकारेण भवति इति विभुः' विविध प्रकार से जो चीज है उसे विभु कहते हैं। यह तुरीय जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति आकारों से होता है इसीलिये इसे विभु शब्द से कहा गया। अथवा 'विविधं अस्मात् भवति इति विभुः' अर्थात् उससे विविध बाहर निकलते हैं इसलिये विभु है। जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति उसमें से निकलते हैं, इसलिये भी उसे विभु कहा जा सकता है। दोनों में थोड़ा सा सूक्ष्म फरक है। उससे जाग्रत् आदि होते हैं इसमें कार्यकारणभाव अर्थात् परिणामवाद की प्राप्ति है। वह स्वयं ही जाग्रत् आदि रूप में होता है, यह विवर्तवाद है अर्थात् कार्यकारणभाव से रहित दृष्टि है। दोनों ही दृष्टियाँ साथ ही साथ चलती हैं। वेदांतों में हमेशा समझना कि सगुण और निर्गुण दोनों में वेदांतों का तात्पर्य साथ ही साथ चलता रहता है। जिसके विवेक वैराग्य तीव्र हों, उसके लिये वही निर्गुण ब्रह्म का रूप है और जिसके विवेक वैराग्य में कमी होती है उसके लिये वही सगुण ब्रह्म हो जाता है। कई जगह बता देते हैं, कई जगह नहीं बताते, लेकिन साथ ही साथ दोनों चलते हैं। इसलिये तुरीय ही विभु है। 'सर्वदुःखानां निवृत्तेः' आध्यात्मिक आधिदैविक और आधिभौतिक जितने भी दुःख हैं, उन सबका जो कारण अज्ञान है, यह उसकी निवृत्तिरूप है। तुरीय निवृत्तिरूप होने के कारण सारे ही दुःख निवृत्त हो जाते हैं। इसलिये यहाँ निवृत्ति का मतलब यह नहीं कि दुःख तो हैं लेकिन हट गये और कहीं अन्यत्र रह गये, बल्कि उसका जो कारण अज्ञान है उस अज्ञान को हटाना है। यही दोनों में फरक है। एक कारण को हटाता है और दूसरा केवल एक जगह से हटाकर दूसरी जगह कर देता है।

जैसे पहले बताया था कि गरीबी का अधिष्ठान मन है। इसलिये यदि मन में से गरीबी को हटाया तब तो गरीबी हटी और यदि एक को गरीब बनाकर दूसरे की गरीबी हटा दी तो गरीबी हटी कहाँ, वैसी की वैसी बनी रही। गाँवों में ऐसा होता था कि अपने घर का कूड़ा कचरा साफ करके दूसरे के घर के सामने डाल देंगे और सामने वाला अपने घर का कूड़ा कचरा साफ करके फिर उसी के मकान के आगे डाल देगा! इसी प्रकार हम अपने लड़के को कहते थे कि सामने वाले मकान की दीवाल के आगे टट्टी जाना; वही शिक्षा सामने वाला अपने लड़के को देता था। जैसे ये अपठित लोग करते थे वैसे ही मार्क्स ने वर्ग संघर्ष (Class-struggle) चलाया। वह जरा पढ़ा-लिखा था इसलिये युक्तियाँ दे दी कि क्यों अपना कूड़ा कचरा एक दूसरे के ऊपर फेंकना चाहिये। बात वही है। इसलिये जिस चीज का जो अधिवास है, वहाँ से जब उसे हटाओगे तभी हटेगी। गरीबी हटाने का मतलब है 'मुझे नहीं चाहिये' क्योंकि गरीबी का आवास ही है 'मुझे चाहिये'। 'मुझे नहीं चाहिये', जिसे यह सिखा दिया तो उसकी गरीबी मिट गई। इसके लिये दूसरे को भी गरीब बनाने की जरूरत नहीं। ऐसे ही सब इच्छा करें कि मुझे नहीं चाहिये।

हमारे यहाँ गरीबी हटाने का एक महत्वपूर्ण दृष्टांत राजा रघु का है। राजा रघु ने सर्वमेध याग किया जिसमें अपना सब कुछ दान कर दिया जाता है। उसी काल में एक ब्राह्मण अपने गुरु जी से कहता है कि आप मुझ से कुछ दक्षिणा लें। गुरु ने समझाया 'मैं जानता हूँ कि तेरा बाप भी गरीब है, इसलिये तू क्या दक्षिणा देगा, रहने दे।' वह समझा नहीं। राजा आदि के लड़कों को देखकर वह भी कहने लगा 'जरूर कुछ दक्षिणा लीजिये।' जब समझाने पर भी नहीं समझा तो गुरु जी को गुस्सा आया, कहा 'मैंने तुझे चौदह विद्यायें सिखाई हैं, इसलिये चौदह करोड़ रुपये ले आ।' लेकिन जब उसका मुँह छोटा सा देखा तो कहा कि राजा रघु से ले आ। वह सर्वस्व दान कर रहे हैं। वह ब्रह्मचारी राजा रघु के यहाँ पहुँचा। राजा मिट्टी के बर्तन लेकर संध्या के लिये बैठा था। राजा को इस प्रकार संध्या करते देखा तो वहाँ से वापिस जाने लगा। राजा ने इशारे से उसे रोका, कहा 'कैसे आया?' वह कहने लगा 'किसी मतलब से आया था लेकिन अब कोई फायदा नहीं।' राजा रघु ने दो तीन बार पूछा कि आखिर क्या चाहिये था? तब उसने कहा 'आपके पास पहले ही यह मिट्टी का कुल्हड़ रह गया है तो अब आपसे कुछ माँगना बेकार है। मैं आया था चौदह करोड़ की इच्छा से क्योंकि इस प्रकार से गुरुदक्षिणा देनी थी।' राजा ने कहा 'अभी तो मेरे पास नहीं है लेकिन दो चार दिन रुक जाओ, व्यवस्था बना दूँगा।'

राजा विचार करने लगा कि कहाँ से रुपया लाया जाये। अभी इस यज्ञ के निमित्त से प्रजा से कर वसूल कर ही लिया गया है, इसलिये फिर वसूल करूँगा तो प्रजा के प्रति अन्याय होगा। वह आधुनिक टैक्सेशन के तरीके से सोचने वाला नहीं था कि जब तक मर न जाये तब तक नहीं छोड़ेंगे; और अब तो मरने के बाद भी नहीं छोड़ते, मरने के बाद भी कर (death duty) लेते हैं! लेकिन राजा रघु ने सोचा कि ऐसा तो नहीं कर सकता। अंत में विचार किया कि देवराज इंद्र से धन वसूल किया जाये। रात में सारथि को हुक्म दिया कि कल प्रातःकाल इन्द्र पर आक्रमण करके वहाँ से रुपया लाना है। इन्द्र को पता लग गया, उन्होंने कहा यह ठीक नहीं। इसलिये इन्द्र ने रात में ही स्वर्ण की वृष्टि कर दी।

प्रातःकाल राजा रघु ने देखा कि सारा आँगन सोने से भरा हुआ था। उन्होंने प्रातःकाल उठकर इन्द्र को अग्निहोत्र से विशेष आहुतियाँ दीं कि उन्होंने कृपा करके दे दिया। ब्रह्मचारी को दिखाकर कहा 'ले जाओ।' उसने चौदह करोड़ गिन लिये। राजा ने कहा 'तुम्हारे निमित्त से यह धन आया है, इसलिये सारा ले जाओ।' उसने कहा 'मैं क्यों ले जाऊँ? मुझे तो चौदह करोड़ रुपये चाहिये थे सो मैंने ले लिये।' राजा ने विचार किया कि ब्राह्मण के निमित्त से आया धन अपने पास रखूँ, यह ठीक नहीं। आजकल का झगड़ा है कि मैं लूँ, मैं लूँ और तब झगड़ा था कि मैं नहीं लूँ, मैं नहीं लूँ। अंत में महर्षि वशिष्ठ को बुलाया। उन्होंने कहा कि दोनों का कहना ठीक है। ब्रह्मचारी क्यों ले जाये? उसके गुरु ने चौदह करोड़ ही माँगे हैं। राजा भी क्यों रखे? ब्राह्मण के निमित्त से आया है। ऐसा करो कि हिमालय की उपत्यका में शेष स्वर्ण गाड़ दो, भविष्य में काम आयेगा।

तब का गड़ा हुआ धन, युधिष्ठिर ने जब राजसूय यज्ञ किया, उस समय काम आया। गरीबी को हटाने का मतलब है कि मुझे नहीं चाहिये। जहाँ यह वृत्ति पैदा हुई कि तुम्हारी गरीबी हटी और दूसरे में भी 'मुझे नहीं चाहिये' की वृत्ति रहेगी। झगड़े का कारण ही नहीं रहा। जो जिसका स्थान है, उसे जब तक वहाँ से नहीं हटाओगे तब तक वह निवृत्त नहीं होगा क्योंकि वही अधिष्ठान है। इस प्रकार स्थूल सूक्ष्म आदि शरीरों के साथ तादात्म्य ही दुःखों का कारण है। इसलिये आध्यात्मिक आधिदैविक आधिभौतिक आदि भेदभिन्न दुःखों का कारण जो अविद्या है, उस अविद्या की निवृत्ति से ही सारे दुःखों की निवृत्ति होगी।

'ईशानः प्रभुः अव्ययः' इस निवृत्ति से ही उसकी सामर्थ्य है। ईशान का मतलब शासन करना होता है। एक शासन दूसरे के ऊपर करना पड़ता है, और एक शासन सामर्थ्य मात्र से होता है। चुम्बक पत्थर समग्र लोहे के टुकड़ों को शासन में रखता है। सब उसके चारों तरफ घिरे बैठे रहते हैं। चुम्बक पत्थर जबर्दस्ती पकड़कर किसी को नहीं खींचता। उसमें ऐसी सामर्थ्य है कि अपने आप सब खिंचें आते हैं। दीपक कहीं भुनगों को, शलभों को निमंत्रण नहीं देने जाता कि मेरे पास आना, लेकिन सब उसके पास दौड़े चले जाते हैं। सामर्थ्य भी एक तरह का शासन है। यहाँ जो कहा 'निवृत्तेः सर्वदुःखानामीशानः' तो यहाँ सर्वदुःखनिवृत्ति ईशानरूप से है। यही उसकी शासनवत्ता है। किसी दूसरे पर शासन नहीं करता है बल्कि सारे दुःखों की निवृत्ति हो जाने से सब आनंद उसके पास खिचे हुए रहते हैं, अपने आप मौजूद रहते हैं। इस ईशानता को कुछ दृष्टांत रूप से तैत्तिरीय उपनिषद् में बताया गया है। यहाँ तो संकेत ही किया है, वहाँ आनंदमीमांसा की गई है। उसमें कहा गया है कि यदि एक व्यक्ति जवान उम्र का हो, साधु चरित्र वाला हो, पढ़ा लिखा हो, शरीर में बल वाला हो, इत्यादि सब गुणों से अवभासित व्यक्ति हो और सारी पृथ्वी पर उसका राज्य हो, असपत्न राज्य हो अर्थात् कोई विरोधी न हो, और धन-धान्य से भरा हुआ हो, तो जितना सुख उस व्यक्ति को होगा उस सुख को एक इकाई माना। फिर उससे आगे उस काल में भी दशमलव प्रणाली (decimal system) से गिनाते गये कि गंधर्वों को सुख उससे सौ गुना, देवगंधर्वों को उससे सौ गुना, पितृलोक वालों को उससे सौ गुना ज्यादा सुख, आजान देवों को उससे ज्यादा सौ गुना सुख; इस इस प्रकार से बताते चले गये। लेकिन सर्वत्र एक चीज जोड़ते गये 'श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य' जिसको इस स्थिति से वैराग्य है, जिसको उसकी कामना नहीं है और जो अपने स्वरूप को जानने वाला है, उसको वह आनन्द बिना उस चीज के ही उपलब्ध है।

लोक में भी यही बात है कि जिसको जो चीज अच्छी न लगे, जिसको जिस चीज की जरूरत नहीं है, वह चाहे जितनी पड़ी रहे, उसके लिये उसकी प्रवृत्ति नहीं होती। कोई मुफ्त भी दे तो नहीं लेगा, कहेगा 'हमें नहीं चाहिये।' बढ़िया से बढ़िया अल्सीशियन कुत्ता सामने हो, जिसके संस्कार हों कि कुत्ता चाण्डाल योनि का है, स्पर्श करेगा तो

नहाना पड़ेगा, उसे कहो कि 'विलायती है ले जाओ', तो क्या वह ले आयेगा? जिसको नहीं चाहिये उसकी प्रवृत्ति नहीं और जिसको चाहिये, वह ले लेगा। 'श्रोत्रियस्य च अकामहतस्य' सर्वत्र एक विशेषण देते गये। यहाँ भी अपनी अविद्या निवृत्त होकर सारे दुःखों की निवृत्ति होती है। उसको समग्र आनंद स्वभाव से उपलब्ध है, सामर्थ्य से उपलब्ध है। इसीलिये उसका व्याख्यान ईशान हो गया और वह प्रभु है, दुःख-निवृत्ति के प्रति नित्य सामर्थ्य वाला।

फिर वह कैसा है? 'अव्ययः' अपने स्वरूप से कभी विरत नहीं होता। कई बार ऐसा होता है कि मान लो इस समय भोजन कर लिया तो इस समय तो और कुछ खाने की इच्छा नहीं है, फिर भी आदमी उस चीज को रख लेता है कि फिर काम आयेगी। हम लोग प्राचीन दृष्टि वाले तो प्रतीकों में सोचते हैं। ऐसे हमने लोभ का प्रतीक एक चीज को मान रखा है। पहले घर में कोई चीज बढ़िया बने, तो कुछ ज्यादा तो बननी ही हुई। इसका मतलब है कि घर के नौकर चाकर सबको मिलेगी। अब रेफ्रिजेटर में रख देते हैं कि शाम को फिर काम आयेगी। कौन नौकरों का ख्याल करे? यह सोचकर कि चलो अभी तो फालतू बच ही गयी है, बाद में काम आयेगी, हर चीज रख लेते हैं। लेकिन मान लो कि ऐसा पेट भरा है कि जन्म भर कभी भी मुँह में कुछ रख ही नहीं सकते तो कोई चीज बचाकर नहीं रखोगे। इसी प्रकार यदि अविद्या की निवृत्ति तात्कालिक ही हो, दुःख लौटना संभव हो, तब तो निवृत्ति नहीं हो पायेगी। इसलिये कहा कि एक बार जिसकी यह अविद्या निवृत्त हो गई तो फिर आने वाली नहीं है क्योंकि यह अनादि सांत है, सादि नहीं है। इसलिये फिर अज्ञान आ जायेगा, ऐसा नहीं हो सकता। 'अद्वैतः सर्वभावानां देवः' सारे भावों के अन्दर यह जो स्थिति है यही उसके अद्वैत स्वरूप को बताने वाली है। यही उसकी अद्वितीयता है।

भाष्य में स्पष्ट किया है 'प्राज्ञतैजसविश्वलक्षणानां सर्वदुःखानां निवृत्तेरीशानस्तुरीय आत्मा' प्राज्ञ, तैजस, विश्व अथवा सुषुप्ति-स्वप्न-जाग्रत् ही सारे दुःखों का चिह्न है। यही दुःख का लक्षण है। इन तीनों में ही दुःख होना है, इनके निवृत्तिरूप होने के कारण ही तुरीय आत्मा को यहाँ ईशान शब्द से कहा। निवृत्ति-रूपता ही उसका सामर्थ्य है। ईशान शब्द के प्रयोग से बाह्य शासन झट प्राप्त हो जाता है कि सारे दुःखों की निवृत्ति हो जाने से वह दूसरों पर नियंत्रण करता होगा। कहीं यह भ्रम इस शब्द में न हो जाये कि वह शासन करता है या नियंत्रण करता है, इसलिये प्रभु पद दे दिया।

प्रभु और ईशान का भेद हिन्दी वाले प्रायः नहीं करते हैं। बिना कुछ किये हुए जिसके कारण लोग ठीक काम करें, उसे प्रभु कहा जाता है और दूसरे के ऊपर अपना नियंत्रण करके जो दूसरों को नियंत्रित करता है उसे ईशान कहते हैं। 'ईशान इत्यस्य पदस्य व्याख्यानं प्रभुरिति।' इसलिये पति को प्रभु कहा है। कहीं पति को ईशान नहीं कहा है, उसका कारण यही है। पति का शासन ऐसा होना चाहिये, उसका ऐसा प्रेम

होना चाहिये कि जिससे पत्नी स्वतः उस सामर्थ्य के कारण अभिभूत रहे, नियमबद्ध रहे। यह नहीं कि वह डण्डा लेकर पिल पड़े जैसे मध्यकाल वाले मानते थे कि मारपीटकर ठीक रखना चाहिये। आजकल लोग गाली गुप्ता से ठीक रखते हैं। एक कानूनी गाली गुप्ता है जिसका नाम तलाक है। कहता है 'मेरी बात नहीं मानेगी तो तलाक दे दूँगा।' फिर शासन कहाँ रहा? इसलिये पति को प्रभु पद से अनेक जगह स्मरण किया गया है लेकिन कहीं पर भी उसे बाह्य शासक ईशान रूप से नहीं कहा गया है। 'दुःखनिवृत्तिं प्रति प्रभुर्भवतीत्यर्थः।' दुःखनिवृत्ति के प्रति प्रभु हो जाता है, ऐसा अर्थ है। 'तद्विज्ञाननिमित्तत्वाद् दुःखनिवृत्तेः।' सर्वदुःखनिवृत्ति कैसे हो जाती है? उस परमात्मस्वरूप के अनुभव के निमित्त से समग्र दुःखों की निवृत्ति हो जाती है। उसके अनुभव के अभाव में दुःख था, उसका अनुभव हो जाने पर निवृत्त हो जाता है।

'अव्ययो न व्येति स्वरूपान्न व्यभिचरतीति यावत्' जो स्वरूप से कभी भी व्यभिचार को या परिवर्तन को प्राप्त नहीं होता। लगता तो है कि जाग्रत् आदि में जा रहा है, लेकिन स्वरूप से जाग्रत् उसमें आकर निकल जाता है, वह वैसा का वैसा बना रहता है। उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। कभी भी अनुभव करो तो ऐसा लगता है कि बचपना आया था, जवानी आई थी, बुढ़ापा आया है। अपने में कोई परिवर्तन नहीं लगता। आदमी चलता है, फिर घुटने में दर्द होने लगता है। तब याद आता है कि जब अच्छा था तो घोड़े की तरह चलता था। साँस फूलने लगती है तो जानता है कि जवानी में खूब तगड़ा था। शरीर आदि का विकार आने पर लगता है कि बुढ़ापा आ गया लेकिन अंदर से शरीर आदि उपाधि को बिना देखे स्वतः अनुभव नहीं होता। इसीलिये सबसे ज्यादा डाक्टरों की कमाई बुड्ढों से होती है। बुड्ढे डाक्टर के पास ज्यादा जाते हैं। वे समझते हैं कि घुटना-दर्द आदि कोई रोग है। बुद्धिमान् जानता है कि ये रोग नहीं है, बुढ़ापा आया है। साँस फूलेगी, चला नहीं जायेगा, घुटने में दर्द होगा, वह यह जानता है। जो बुद्धिमान् नहीं होता उसको डाक्टर कहता है 'तेरे को ठीक कर दूँ,' और वह भी सोचता है कि जवान हो जाऊँगा। हर हालत में यह मानता है कि शरीर बुड्ढा हो गया है, डाक्टर की दवाई मिल जायेगी तो मैं पहले के जैसा जवान हो जाऊँगा। अपने में वृद्धावस्था नहीं, साधन में वृद्धावस्था लग रही है। इसलिये जाग्रत् आदि आते जाते हैं, व्यभिचार को प्राप्त होते हैं लेकिन वह वैसा का वैसा अव्यय रूप बना रहता है।

'एतत् कुतः?' किसी ने शंका की कि ऐसा कैसे बना रहता है, यह भी बदल जाया करे। 'यस्माद्द्वैतः सर्वभावानां रज्जुसर्पवन्मृषात्वात्' यह इसलिये नहीं बदलता है कि सारे भावों का इसके साथ अद्वैत है। दूसरा जब कोई हो तो उसके कारण किसी चीज में कोई परिवर्तन आता है। जो अकेला अद्वैत हो, उसके अन्दर कोई परिवर्तन कैसे होगा? बिना किसी द्वितीय के परिवर्तन सम्भव नहीं। विश्व, तैजस, प्राज्ञ आदि सब दृश्यमान हैं, और तुरीय अद्वितीय है। ये सारे भाव उसके बिना नहीं रह सकते, संसार का कोई पदार्थ आत्मा

के बिना नहीं रह सकता। इसलिये जैसे रस्सी सर्प इत्यादि बिना अधिष्ठान रस्सी के नहीं रह सकते इसलिये मिथ्या हैं, ऐसे ही ये पदार्थ बिना ज्ञान के सिद्ध नहीं हो सकते या बिना सत्ता के नहीं रहते हैं इसलिये सभी सच्चिदानंद ब्रह्म से अभिन्न हैं।

'स एष देवः' वही यह देव है, जिसे यहाँ शिव नाम से कहा गया। श्रुति में जिसको शिव कहा, यहाँ उसे देव कहा। 'द्योतनात् देवः' वह इन सारी चीज़ों का प्रकाशन करता है, उसके कारण सारी चीजें प्रकट होती हैं, इसलिये देव है। वही तुरीय चतुर्थ, विभु और व्यापी कहा जाता है। 'द्योतनात्तुरीयश्चतुर्थो विभुर्व्यापी स्मृतः'।।१०।।

●

कार्यकारणबद्धौ ताविष्येते विश्वतैजसौ ।
प्राज्ञः कारणबद्धस्तु द्वौ तौ तुर्ये न सिद्ध्यतः ।।११।।

जाग्रत्-स्वप्न के अभिमानी जो विश्व और तैजस हैं उनके ऊपर दो प्रकार की साँकल है— एक कार्य और दूसरा कारण। कार्य अर्थात् अविद्या की विक्षेप शक्ति और कारण अर्थात् आवरण शक्ति। अज्ञान में यही दो शक्तियाँ हैं। हमारी कही हुई बात यदि तुम नहीं समझते हो अर्थात् उस बात का अज्ञान रहता है तो दो सम्भावनायें होती हैं। या तो जो हमने कहा है तुमने समझा नहीं और या जो हमने तुमसे कहा उसे तुमने उलटा समझ लिया। उलटा समझना विक्षेप और न समझना आवरण कहा जाता है। इसी प्रकार परब्रह्म परमात्म-तत्त्व का जो अज्ञान, ब्रह्म को न जानना है, यह आवरण है जो सुषुप्ति में रहता है। वहाँ केवल कुछ नहीं जानता है। जाग्रत् व स्वप्न में आवरण से साथ विक्षेप भी रहता है; अर्थात् साथ में यह भी रहता है कि हम जानते हैं। मनुष्यशरीर को देखते हुए निश्चय रखता है कि संसार को हम जान रहे हैं, कुछ जान रहे हैं, यही तो परमात्मा हो सकता है। जो कुछ है सो यही है। यह जो विक्षेप शक्ति है इसी को कार्य शक्ति और आवरण शक्ति को कारण शक्ति कहते हैं। जाग्रत् और स्वप्न काल में दोनों बंधन रहते हैं। ब्रह्म को नहीं जानते और ब्रह्म की जगह पर इस संसार को जानते हैं। भाँग और शराब के नशे में यही फरक है। भाँग या कोई भी मादक द्रव्य आवरण ले आता है। दोनों नशे एक जैसे होने पर भी शराब में दोष ज्यादा बताया है। उसका कारण यह है कि भाँग प्रायः आवरण तो कर देती है, आदमी पड़ जायेगा, लेकिन विक्षेप नहीं करती। शराब में आवरण और विक्षेप दोनों हो जाते हैं। इधर उधर लोगों को गाली देना, नाचना, हुड़दंग करना, यह सब शराबी करेगा। भाँग पीने वाले को थोड़ा सा मीठा मिल जाये तो ठीक, नहीं तो उसके लिये वह हुड़दंग नहीं कर सकता। भँगेड़ी से कहें 'यहाँ से दो मील दूर चले जाओ मिठाई मिलेगी?' तो वह कहेगा 'यहीं गुड़ दे दो।' मिठाई भी उसे प्रवृत्ति नहीं करा सकती। इसलिये भाँग में आवरण शक्ति प्रबल है और विक्षेप शक्ति नहीं लेकिन शराब में दोनों हैं। इसीलिये शास्त्रों ने शराब को ज्यादा बुरा बताया। इसी

प्रकार विश्व और तैजस के अन्दर ये दोनों शक्तियाँ हैं और प्राज्ञ जो सुषुप्ति-अभिमानी है उसमें तो केवल आवरण शक्ति ही काम करती है क्योंकि वहाँ और किसी चीज का भान नहीं है। ये कार्य और कारण या विक्षेप और आवरण दोनों ही तुरीय ब्रह्म में नहीं हैं। स्वरूप का आवरण और विक्षेप दोनों नहीं हैं।

'विश्वादीनां सामान्यविशेषभावो निरूप्यते तुर्ययाथात्म्यावधारणार्थम्।' विश्व, तैजस और प्राज्ञ के अन्दर क्या समानता और क्या विशेषता हैं? समानता यह है कि कारण तीनों में रहेगा और कार्य विश्व-तैजस में रहेगा। इसका निरूपण करते हैं ताकि तुरीय के रूप को समझा जा सके। 'कार्यं क्रियते इति फलभावः।' कार्य का यहाँ क्या मतलब है? प्रायः किसी से कोई चीज पैदा हो, उसे कार्य कहते हैं। यहाँ तो केवल जो किया जाता है, इस प्रकार के फल-भाव को कार्य शब्द से कहा गया। 'कारणं करोतीति बीजभावः' जो करता है वह कारण है। जो किया जाता है वह कार्य हो गया। कार्य फल, और कारण बीज हो गया। यहाँ कार्य कारण से फल-बीज को लेना। 'तत्त्वा-ग्रहणान्यथाग्रहणाभ्यां बीजफलभावाभ्यां तौ यथोक्तौ विश्वतैजसौ बद्धौ संगृहीताविष्येते।' उसी को स्पष्ट कर देते हैं कि तत्त्व का अग्रहण अर्थात् ब्रह्म रूपी तत्त्व का अज्ञान, जिसको आवरण कहा, और अन्यथाग्रहण अर्थात् विक्षेप, यही बीजभाव और फलभाव है। उलटा समझना फल हो गया क्योंकि उसे नहीं समझा। यही इसमें कार्य-कारण-भाव है।

एक शंका कोई कर सकता है कि सीधा ही कार्यकारण को ले लेते, यह जो बीज और फल में इनके लक्षण को लेकर बताया इसमें क्या हेतु है? माया की दो शक्तियों में से एक को सच्चा कारण और एक को सच्चा कार्य नहीं कह सकते। माया की चूँकि दोनों शक्तियाँ हैं इसलिये उनमें वास्तविक कार्य-कारण-भाव का आपादन नहीं कर सकते क्योंकि एक ही चीज है। इस प्रकार का कार्य-कारण-भाव लोकसिद्ध भी हो जाता है। जैसे आम तो एक अखण्ड चीज हुई। जब आम कहते हो तो आम की टहनी, आम का तना, आम का पत्ता, फल, फूल, जड़, छाल सभी आम से ग्रहण हुए। यद्यपि आम शब्द कहने से आम की सब शक्तियाँ ग्रहण हो गईं, फिर भी व्यवहार की दृष्टि से कह सकते हो कि आम की गुठली आम के फल या पत्ते के प्रति कारण है। धागा कपड़े के प्रति कारण है और आम की गुठली आम के फल के प्रति कारण है। दोनों में फरक है, क्योंकि धागा कपड़ा अलग चीजें हैं, ऐसे गुठली और फल अलग चीजें नहीं हैं। बाजार में पाँच किलो आम लेकर आते हो और साथ में गुठली ले आते हो। गुठली फल के भाव ही बिकती है। यहाँ दोनों में भेद नहीं है। ऐसे धागे-कपड़े का ऐसा नहीं है कि धागे खरीदने गये तो कपड़ा दे दिया, या कपड़ा खरीदने गये तो कहा 'ये फिनले के धागे हैं ले जाओ।' यहाँ बीज-फल-भाव अर्थ इसलिये करना पड़ा कि जो किया जाये और जो करे इस अर्थ में यहाँ कार्य कारण हैं। यही विश्व और तैजस का संग्रह यहाँ हो गया। प्राज्ञ अर्थात् जो सुषुप्ति का अभिमानी है उसमें केवल बीजभाव ही है। तत्त्व

का प्रतिबोध न होना रूप बीज ही प्राज्ञ में निमित्त है। 'ततो द्वौ तौ बीजफलभावौ तत्त्वाग्रहणान्यथाग्रहणे तुर्ये न सिद्ध्यतो न विद्येते न संभवत इत्यर्थः।' यह बीज-भाव और फल-भाव दोनों ही, तत्त्व का अग्रहण और अन्यथा ग्रहण दोनों तुरीय में सिद्ध नहीं होते उसमें सम्भव ही नहीं हैं।।११।।

●

अब सुषुप्ति के अनुभव और तुरीय के अनुभव का भेद बताते हैं। जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति के अन्दर तत्त्व का अज्ञान और तुरीय के अन्दर तत्त्व का ज्ञान, यह तो स्वरूप से भेद बताया। अब अनुभव का भेद बताते हैं।

नाऽऽत्मानं न परांश्चैव न सत्यं नापि चानृतम्।
प्राज्ञः किंचन संवेत्ति तुर्यं सत्सर्वदृक्सदा ।।१२।।

आत्मा प्राज्ञ अर्थात् सुषुप्ति अवस्था में अपने आपको भी नहीं जानता। इसीलिये गहरी नींद से उठकर अपना अनुभव यह नहीं बताता कि मैंने अपने आपको जाना, उलटा यह कहता है कि मैंने कुछ नहीं जाना। और अपने से भिन्न बाह्य जगत् और मानसिक जगत् को भी नहीं जानता। जाग्रत् काल में बाह्य जगत् को जानता है और स्वप्न काल में मानसिक अर्थात् अंतर्जगत् को जानता है। सुषुप्तिकाल में इन दोनों जगत् को नहीं जानता; न अपने आपको न बाह्यांतर जगत् को जानता है। उस काल में उसको यह भी पता नहीं लगता कि सत्य क्या है और यह भी पता नहीं लगता कि अनृत क्या है। सुषुप्ति काल में सत्य अनृत दोनों का पता नहीं। अनृत का मतलब है कि जो चीज जैसी न हो उससे भिन्न रूप से उसको जानना, और सत्य का मतलब है कि जो चीज जैसी हो उसे तद्रूप जानना। सुषुप्ति में न उसे यह पता लगता है कि कौन सी चीज का स्वरूप क्या है, और न यह पता लगता है कि स्वरूप से भिन्न क्या है। जाग्रत् स्वप्न के अन्दर अपने आपका अनृत ग्रहण होता है, होता कुछ है और जान कुछ लेता है; है ब्रह्म और जान रहा है जगत्। प्राज्ञ या सुषुप्ति अवस्था में इन सब चीजों को सुषुप्ति का अभिमान करने वाला जीव नहीं जानता।

सुषुप्ति के इस अभिमान से सर्वथा भिन्न तुरीय या समाधि का अनुभव है। तुरीय तो सद् ब्रह्म का ही अनुभव कर रहा है। वह तुरीय सदा ही सर्वदृक् है। प्राज्ञ सुषुप्ति काल में न अपने को जानता है न दूसरे को और समाधि काल में अर्थात् तुरीय के अनुभव में सब कुछ जानता है। सब कुछ जानता है का मतलब उलटा नहीं समझ लेना कि जैसे स्वप्न-जाग्रत् में जानता है वैसा जानता है। जाग्रत्-स्वप्न में तो पदार्थों का विशेष ज्ञान है। यदि पदार्थों का विशेष ज्ञान रह जायेगा तो फिर जाग्रत् से वह अनुभव भिन्न नहीं रहेगा। इसलिये जो सर्व हो फिर वही दृक् हो अर्थात् अपने दृक् आत्मा को ही, अपनी दृष्टि रूप आत्मा को ही सर्वरूप से जानता है। ऐसा नहीं कि वह तुरीय अवस्था में संसार

की बातों को ही जानता रहे। बहुत से लोग ऐसा समझते हैं कि मेरा लड़का खो गया है, महात्मा सर्वज्ञ होते हैं, समाधि लगाकर बता देंगे कि वह कहाँ है! महात्मा पुलिस नहीं बन जाता। अपने दृक् रूप की सर्वरूपता को वह जानता है।

भाष्य में इसको स्पष्ट किया है 'कथं पुनः कारणबद्धत्वं प्राज्ञस्य तुरीये वा तत्त्वाग्रहणान्यथाग्रहणलक्षणौ बन्धौ न सिध्यत इति?' प्राज्ञ की कारणबद्धता का प्रतिपादन करने के लिये यह श्लोक प्रवृत्त हुआ। प्राज्ञ की कारणबद्धता क्यों मानते हो? सुषुप्ति में ही ब्रह्मस्थिति मान लो, वहाँ आनंद पूरा होता है, सबको सुलभ होता है, कोई साधना का टण्टा भी नहीं करना पड़ेगा। और तत्त्व का अग्रहण यानी अज्ञान और अन्यथा-ग्रहण यानी तत्त्व से भिन्न का ज्ञान, ये दोनों तुरीय में क्यों नहीं मानते? 'मैं आत्मा को नहीं जानता, ब्रह्म को नहीं जानता,' यह जो ज्ञान हो रहा है इसी का नाम तत्त्व का अज्ञान है। अज्ञान का मतलब ज्ञान का अभाव वेदांत शास्त्र में नहीं क्योंकि ज्ञान का अभाव कभी नहीं रहा करता, 'मैं नहीं जानता हूँ' इस ज्ञान का नाम ही अज्ञान है। इसलिये मैं आत्मा को नहीं जानता या ब्रह्म को नहीं जानता, यह तत्त्व का अज्ञान हुआ। मैं संसार के पदार्थों को, घड़े, कपड़े इत्यादि को जानता हूँ, यह अन्यथा-ग्रहण हुआ, इसे अन्यथा ग्रहण क्यों कहते हैं? घड़ा है, कपड़ा है, लड्डू है, पेड़ा है, इन अनुभवों में है का अनुभव तो करता है लेकिन घड़ा, कपड़ा, लड्डू, पेड़ा ही इसके ध्यान में आता है, 'है' ध्यान में नहीं आता। इसलिये उसे अन्यथाग्रहण कहा।

विचारशील तो सब चीजों में है-पना देखेगा, इसलिये उसे पकड़ेगा लेकिन अन्यथाग्रहण यह हो गया कि 'है' क्या है, इसका तो विचार ही नहीं करता, घड़े, कपड़े इत्यादि का विचार करता रहता है। इसी प्रकार आत्मा चेतन है, ज्ञानस्वरूप है इसलिये हमेशा ज्ञानस्वरूपता का अनुभव तो कर रहा है लेकिन करते हुए भी उस ज्ञानस्वरूपता को न पकड़कर ज्ञान के विषयों को पकड़ता रहता है। किसी आदमी से कोई जाकर नहीं पूछता कि तू सुखी है या दुःखी है, आजकल यही होता है। आजकल आंकड़े (Statistics) नाम की चीज छापते हैं कि पहले लोगों के पास पाँच हजार रेफ्रिजेटर थे और अब लोगों के पास दस हजार रेफ्रिजेटर हो गये तो सुख दुगना हो गया। किसी से जाकर कोई नहीं पूछता 'तू सुखी हुआ या नहीं?' यह मान लेते हैं कि रेफ्रिजेटर बढ़ गये तो सुखी हो गये। वह सुखी है या नहीं यह तो उससे पूछने से पता लगेगा। तुम चाहे दुनियाभर की चीजें दे दो, उससे क्या होना है। इसलिये ज्ञान की तरफ नहीं, ज्ञान के विषयों की तरफ ध्यान है। यह अन्यथाग्रहण है। तत्त्व-अग्रहण और अन्यथाग्रहण दोनों तुरीय में नहीं। तत्त्व का ज्ञान न होना और अन्यथा ज्ञान होने का नाम ही बंधन है, और कोई साँकल आदि का बंधन नहीं पड़ा हुआ है! आदमी कहता है 'मेरा बंधन कब निवृत्त होगा?' जहाँ तत्त्व-अज्ञान और अन्यथाज्ञान हटा उसी का नाम तत्त्व-ज्ञान और उसी का नाम बंधननिवृत्ति है।

'यस्मादात्मविलक्षणमविद्याबीजप्रसूतं बाह्यं द्वैतं प्राज्ञो न किंचन संवेत्ति, यथा विश्वतैजसौ, ततश्चासौ तत्त्वाग्रहणेन तमसान्यथाग्रहणबीजभूतेन बद्धो भवति।' प्राज्ञ कारणबद्ध क्यों है? यह बताते हैं। जितना भी बाह्य द्वैत है, वह आत्मा से विलक्षण है, आत्मा से भिन्न है। आत्मा से विपरीत लक्षण वाला होने से इसको विलक्षण कहा। यह नहीं कि आत्मा से भिन्न इसकी सत्ता है। सत्ता तो इसकी आत्मा से भिन्न नहीं है लेकिन इसका लक्षण विपरीत है। जैसे काँच में जब अपना मुख दीखता है तो वह मुँह अपने मुँह से भिन्न किसी दूसरे का मुँह नहीं है, लेकिन मेरे मुँह से उसका लक्षण भिन्न है या विपरीत है। हम पूर्व को मुँह करके खड़े हैं तो अंदर वाला पश्चिम को मुँह करके खड़ा है, यानी उल्टा खड़ा है। इसी प्रकार जो अपना दायाँ हिस्सा वह उसका बायाँ हिस्सा हो जाता है। ये सब विपरीत लक्षण हैं, जबकि प्रतिबिंब हमसे भिन्न नहीं है। इसी प्रकार अनात्मा का लक्षण आत्मा से भिन्न है यानी उल्टा है लेकिन उस अनात्मा की अपनी कोई सत्ता नहीं है, वह सत्ताशून्य है।

आत्मा से विपरीत लक्षण वाला है तो फिर इस संसार की प्रतीति कैसे है? यह अविद्याबीजप्रसूत है, अज्ञान रूपी बीज से अर्थात् कारण से ही सारे पैदा हुए हैं। एक चीज को न जानने से कितना नुकसान हो सकता है यह इसमें स्पष्ट है। सनातन धर्म ने इसीलिये सबसे ज्यादा जोर ज्ञान के ऊपर दिया। अपने यहाँ जो आस्तिक दर्शन हैं, उनमें कुछ विषयों में मतभेद भी है, लेकिन नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्व-मीमांसा, उत्तर-मीमांसा छहों यह मानते हैं कि अज्ञान से ही बंधन है। इस विषय में कोई मतभेद नहीं। इतना ही नहीं यह भी मानते हैं कि आत्मा के अज्ञान से ही बंधन है और आत्मा के ज्ञान से ही मोक्ष होता है, यह भी उनका निश्चित सिद्धांत है। आत्मा सर्वव्यापक है इसमें भी उनमें से किसी को संदेह नहीं। फरक इसमें है कि आत्मा का ज्ञान किस प्रकार हो। न्याय वैशेषिक यह मानते हैं कि अनात्म-पदार्थों को समझ लो तो फिर अनात्म-पदार्थों से विलक्षण, भिन्न, जो आत्मा है वह समझ में आ जायेगा। आत्मा को आँख, कान, नाक इत्यादि ग्रहण नहीं कर सकते, श्रुति ही इसका निषेध कर देती है। फिर आत्मा को कैसे समझें? तो वे कहते हैं कि संसार के रूप को ठीक तरह से समझो, जब उसे ठीक तरह से समझ लोगे तो उसमें सात पदार्थ, उन सात पदार्थों के अन्दर एक द्रव्य, और द्रव्य फिर नौ प्रकार के, उनमें आठ द्रव्यों से भिन्न नौवाँ द्रव्य आत्मा है। इस प्रकार आत्मा का ज्ञान हो जायेगा।

सांख्य और योग वालों ने दूसरा विचार किया। जैसे न्याय वैशेषिक साथ साथ चलते हैं, ऐसे ही सांख्य और योग साथ साथ चलते हैं। वैशेषिक ने पदार्थ-मीमांसा की जिसे समझने के लिये युक्ति बताने का कार्य न्याय ने किया। इसी प्रकार सांख्य उस तत्त्व को बताता है और योग उसे प्राप्त करने का तरीका बताता है। सांख्य ने कहा कि दुनिया भर की चीजों को कहाँ तक जान पाओगे! वस्तुतः जो चीज हमारे सामने आती है वह

मन है। इसलिये सत्त्वपुरुष-अन्यताख्याति से ही काम चल जायेगा। सत्त्व अर्थात् अंतःकरण से आत्मा भिन्न है। मन की वृत्ति से आत्मा अलग है, इतना समझो। न्याय वैशेषिक ने अलगाव से आत्मा माना कि सारे अनात्माओं से भिन्न आत्मा को समझो। सांख्य योग वालों ने कहा कि सारे अनात्माओं को समझने की जरूरत नहीं, मन ही बंधन करने वाला है इसलिये मन से भिन्न आत्मा को जान लो तो काम बन जायेगा। अब मन से आत्मा को भिन्न कैसे किया जाये? तो योग ने उसका उपाय बताया। तरीके में फरक है, सिद्धांत एक है।

वेदांती ने कहा— हे योगियो! यह जो तुम मन नियंत्रित करने को कह रहे हो, यह भी कोई सीधा काम नहीं है। इसके अन्दर एक एक वासना के साथ इतनी वासनायें एकत्रित हैं कि यह खुद अनन्त बन गया है। भगवान् गौडपाद आगे कहेंगे 'कुशा के अग्र-भाग से समुद्र को एक एक बूँद पानी हटाकर सुखाने की तरह जब मन की वासनायें निवृत्त हों तब मन शांत हो सकता है।' नहीं तो चाहे जितना योगाभ्यास कर लो, सौ पचास साल बाद उठोगे तो मन फिर वैसा का वैसा मिलेगा। जैसे नैयायिक का सारे संसार को जानना असम्भव, वैसे ही यहाँ मन को मारना भी असम्भव है। इसलिये वेदांती ने कहा कि श्रुति के प्रमाण से, वेद के प्रमाण से उस आत्मा के स्वरूप को जान लो। जब वेद के प्रमाण से जानकर तुमको ज्ञान उत्पन्न हो गया तो काम बन गया। हर हालत में आत्मा के ज्ञान से मोक्ष होता है, इसके विषय में किसी आस्तिक दर्शन का मतभेद नहीं। आत्मज्ञान कैसे किया जाये, इसके बारे में विचारों में मतभेद है। भारत को छोड़कर और किसी भी देश के मतमतांतरों के अन्दर ज्ञान का इतना महत्त्व प्रतिपादित नहीं है। ज्ञान के ऊपर पूरा जोर देना लोग नहीं मानते। वे लोग मानते हैं कि कुछ मतों को रट लो और उसको पूरा कह दो कि हम इसे मानते हैं तो हो गया काम। 'कहा क्या, यह चीज इसके बारे में हमारी समझ में नहीं आई'— यह शांति से पूछोगे तो कहेंगे 'समझ में तो हमारे भी नहीं आई, लेकिन जैसे हम मानते हैं तुम भी मान लो।' उनके धर्मग्रन्थों का मतलब उनसे ही पूछते हैं तो कहते हैं 'हमारे बड़े बुजुर्ग हो गये हैं, उन्हें पता होगा, मतलब हम भी नहीं जानते, लेकिन मानते रहोगे तो काम हो जायेगा!' अपने चूँकि अविद्या-बीज से प्रसूत मानते हैं, इसलिये अज्ञान ही कारण है बाह्य द्वैत का।

'प्राज्ञो न किंचन संवेत्ति' प्राज्ञ अर्थात् सुषुप्ति अवस्था में कुछ भी नहीं जानते। व्यतिरेकी दृष्टांत दिया जैसे विश्व और तैजस अर्थात् जाग्रत् और स्वप्न में जाना जाता है वैसे सुषुप्ति में नहीं जाना जाता। इसीलिये ही प्राज्ञ का किसी प्रकार से अंदर और बाहर का विज्ञान या अनुभव नहीं है। इसलिये ही इसमें तत्त्व का अज्ञान रूपी जो तम या अंधकार है, उससे यह बंधन में आ जाता है। जैसे अपने यहाँ बैठे हैं, आँख भी ठीक है, सब कुछ ठीक है, लेकिन रोशनी न रह जाये तो उस अंधकार के कारण अपनी आँख होते हुए भी अपने को फायदा नहीं पहुँचाती है। रोशनी आने पर चीजें भी पैदा

नहीं होती। रोशनी किसी चीज को दिखाती भी नहीं है, देखने का काम भी हम लोगों को ही करना है, आँख वालों को करना है। रोशनी यह सम्भव कर देती है कि जो चीज जैसी है वैसी दीख जाये। इसी प्रकार ब्रह्म जैसा है वैसा ही रहेगा। यह नहीं कि ब्रह्माकार वृत्ति बनेगी तब ब्रह्म पैदा हो जायेगा। हम जानें न जानें, ब्रह्म तो वैसा है ही, नित्य है। ऐसा भी नहीं कि अशुद्ध है और हम साधना करेंगे तो शुद्ध होगा। वह तो नित्य शुद्ध स्वरूप है ही। ब्रह्माकार वृत्ति जड होकर उसे जान भी नहीं सकती। जानने का काम भी हमें ही करना है। लेकिन ब्रह्माकार वृत्ति बनने से हम उसे जान सकते हैं, इतना ही होता है। जैसे रोशनी के आने पर उपस्थित पदार्थों को तो आँख से ही जानते हैं, रोशनी उसे सम्भव कर देती है। इसलिये तत्त्व का अज्ञान ही अंधकार है, तमोरूप है।

इस अंधकार को क्यों माना? हमको ब्रह्म नहीं दीख रहा है। 'अन्यथाग्रहणबीजभूतेन' यह कार्यलिंगक अनुमान कर दिया। कार्य को देखकर कारण का अनुमान होता है। जैसे अगर हमको घड़ा दिखाई दिया तो पता लगा कि इसको किसी कुम्हार ने मिट्टी से बनाया है, नहीं तो आया कहाँ से। यह कार्यलिंगक अनुमान हुआ। किसी चित्र को देखकर कार्यलिंगक अनुमान हुआ कि किसी ने रंग इत्यादि से इसे बनाया है। इसी प्रकार यह जो संसार का अन्यथा ग्रहण हो रहा है, है ब्रह्म और ग्रहण जगत् का हो रहा है, तो ब्रह्म का अज्ञान है, तभी न जगत् का ग्रहण हो रहा है। यदि ब्रह्म को जान लिया होता तो जगत् का ज्ञान कहाँ से होता? बस इसी से सिद्ध हो जाता है कि परमात्मा को नहीं जाना तो जगत् को जान रहे हैं। इसके द्वारा ही बंधन में पड़े रहते हैं। जब तक इस अन्यथाग्रहण को नहीं हटाते तब तक काम बनता नहीं, क्योंकि ध्यान उस केन्द्र की तरफ जायेगा ही नहीं। ब्रह्म की तरफ ध्यान जाने के लिये अन्यथाग्रहण को हटाना जरूरी हो जाता है।

'यस्मात्तुरीयं तत्सर्वदृक्सदा तुरीयादन्यस्य अभावात्सर्वदा सदैवेति सर्वं च तद् दृक्चेति सर्वदृक् तस्मान्न तत्त्वाग्रहणलक्षणं बीजम्।' इससे भिन्न तुरीय सत् है। तुरीय हमेशा सर्वदृक् है। जाग्रत् स्वप्न में भी तुरीय के कारण ही पदार्थों की सत्ता और ज्ञानरूपता होती है। वे तुरीय से भिन्न तो कभी हो ही नहीं सकते। इसलिये वह सर्वदा सद् रूप ही है। एक शंका मन में आ सकती है कि जब सर्व को जनता है तो जाग्रत् जैसा होगा। किन्तु ऐसा नहीं है। जो सर्वरूप हो और दृक् रूप हो, वह सर्वदृक् है। उसको किसी प्रकार की परिच्छिन्नता का बोध नहीं और ज्ञानस्वरूपता है। अपरिच्छिन्न ज्ञान ही सर्वदृक् का मतलब है। हम लोगों को ज्ञान में हमेशा परिच्छिन्नता का अनुभव होता है कि यह जाना, और इससे परे नहीं जाना। जितना भी वैज्ञानिक आविष्कार होता है, उतना ही पता लगता है कि हमारा अज्ञान कितने विषयों का है। जितना जितना ज्यादा जाना उतना ही अपने अज्ञान का पता लगता है कि कितना नहीं जानते! कम जानने वालों को अपने अज्ञान का पता नहीं लगता है। एक वैज्ञानिक लेखक ने एक जगह लिखा है कि पहले

जब तक हमको रोग के विषय में यही ज्ञान था कि बुखार आता और नहीं आता है, तब तक हमें पक्का ज्ञान था कि इसे बुखार आया या नहीं आया। अब जब ज्ञान बढ़ा तो कई तरह के बुखार हो गये। उन कई तरह के बुखारों में एक ठण्डा बुखार होता है जिसमें तापमान बढ़ता नहीं और बुखार भी है। नतीजा यह हुआ कि हमें पता नहीं लगता, इसलिये उसका निदान हमारे पास कहाँ से हो? बुखार है लेकिन कैसा बुखार है, इन्फैक्शनल है, बैक्टीरियल है, फिर बैक्टीरियल में कौन सा बुखार है, इसका पता नहीं लगता है। अपने घरों पर बुड्ढी औरतें कह देती हैं, 'बुखार है तू जुशांदा ले ले, ठीक हो जायेगा।' कभी ठीक भी हो जायेगा कभी नहीं भी होगा। जितना जतना मनुष्य का ज्ञान बढ़ता है, उतना ही उतना उसे पता लगता है कि हमारा अज्ञान कितना बड़ा है। तुरीय अवस्था के अन्दर अपरिच्छिन्न ज्ञान का बोध होता है। इस ज्ञान से परे कुछ और अज्ञानरूप है, ऐसा नहीं रहता। बल्कि जो कुछ भी ज्ञानस्वरूप है वह सर्वरूप हो गया। इसलिये वहाँ तत्त्व का अज्ञान रूपी बीज या कारण नहीं रहता, उस तुरीय अवस्था के अन्दर परिपूर्णतत्त्व के अज्ञान से प्रसूत जो जगत् का अन्यथा ग्रहण है, उसका भी इसीलिये अभाव हो जाता है।

'तत्र तत्प्रसूतस्यान्यथाग्रहणस्याप्यत एवाभावो, न हि सवितरि सदा प्रकाशात्मके तद्विरुद्धमप्रकाशनमन्यथा प्रकाशनं वा संभवति।' सूर्य सदा प्रकाशित हो रहा है। हम लोगों को लगता है कि सूर्य अस्त हो गया या राहु ने सूर्य को ग्रस्त कर लिया। न सूर्य अस्त होता है, न रात सूर्य को ढाँक सकती है और न राहु से सूर्य ग्रस्त होता है। सूर्य तो प्रकाशरूप है। हम लोगों के सामने राहु के आ जाने या सामने सूर्य न रहने से हम समझते हैं कि सूर्य अस्त हो गया। लेकिन सूर्य तो हमेशा ही प्रकाश रूप है। इसीलिये अगर राहु से परे चले जायें तो वहाँ सूर्य दिखाई देता है। प्रकाश से भिन्न अर्थात् अंधकाररूप सूर्य नहीं हो सकता। सूर्य प्रकाश से भिन्न कोई चीज हो, यह सम्भव नहीं। वह तो केवल प्रकाशरूप ही रहेगा। इसी बात को वेद भी कहता है 'न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते' द्रष्टा की जो दृष्टि है, वह कहीं जाती नहीं है। जब किसी चीज को नहीं देख रहा है तो लगता है कि दृष्टि उसकी कहीं चली गई लेकिन जाती नहीं। अंधकार हो गया तो अपनी दृष्टि नहीं देख पा रही है इसका मतलब यह नहीं कि हम अंधे हो गये हैं। चूँकि वहाँ अंधकार है इसलिये दृष्टि काम नहीं कर पा रही है, लेकिन शक्ति वहीं है। इसी प्रकार तुरीय के अन्दर द्रष्टा की दृष्टि की शक्ति कहीं नहीं जाती। वहाँ विषय नहीं है इसलिये प्रकाश किसका करे? सुषुप्ति के अन्दर अज्ञान है इसलिये अज्ञान का प्रकाश कर देती है। इसीलिये उठकर कहता है कि मैंने कुछ नहीं जाना, इस बात को जाना। लेकिन समाधि के अन्दर वह 'कुछ नहीं' भी नहीं रहा। इसलिये वहाँ तो किसी प्रकार से तुरीय की दृष्टि 'काम' नहीं कर रही है। इसको लेकर कई बार लोग सोच लेते हैं कि वहाँ कुछ नहीं होगा। श्रुति ने कहा ऐसा नहीं, बल्कि द्रष्टा की दृष्टि कहीं नहीं जाती 'अविनाशित्वात्' क्योंकि वह अविनाशी है, वह उसका स्वरूप है।

'अथवा जाग्रत्स्वप्नयोः सर्वभूतावस्थः सर्ववस्तुदृगाभासस्तुरीय एवेति सर्वदृक्सदा।' या इसको दूसरी तरह से समझा जा सकता है। जाग्रत् और स्वप्न में ही सारे भूत रहते हैं। इसलिये जितने भी पदार्थ हैं वे वहाँ दृगाभास हैं, दीखते तो हैं लेकिन आभास रूप हैं। वस्तुतः वहाँ दृगाभास है तो दृक् भी है ही। जैसे हमको अगर किसी आदमी का दर्पण में प्रतिबिम्ब दीख रहा है तो उससे ही पता लग जाता है कि वह आदमी चाहे नहीं दीख रहा है, लेकिन है वहाँ जरूर। उसी प्रकार जाग्रत् स्वप्न के अन्दर भी सारे भूत, सारे प्राणी रहते हुए सब वस्तुओं को जब देखते हैं, तो चेतन के प्रकाश में देखते हैं, बिना ज्ञान-प्रकाश के किसी चीज का अनुभव नहीं। इसलिये जाग्रत्-स्वप्न काल में दृगाभास और वस्तुएँ हैं। इससे पता लगता है कि ज्ञानरूपता, तुरीयरूपता उस समय भी वैसी ही है। इसलिये जाग्रत् स्वप्न का व्यवहार करते हुए भी वह दृक्-रूपता को नहीं छोड़ता, वैसा ही बना रहता है। इसमें यह श्रुति अनुकूल पड़ जायेगी 'नान्यदतोस्ति द्रष्टृ' यह जो देखने वाला आत्मा है इससे भिन्न और कोई द्रष्टा नहीं। दृष्टि से काम करते समय भी वह आत्मा ही काम कर रहा है।।१२।।

●

द्वैतस्याग्रहणं तुल्यमुभयोः प्राज्ञतुर्ययोः।
बीजनिद्रायुतः प्राज्ञः सा च तुर्ये न विद्यते ।।१३।।

दोनों का भेद बताकर अब कुछ तुल्यता भी बताते हैं। दोनों में समानता क्या है? प्राज्ञ, सुषुप्ति का अधिष्ठान, और तुरीय, दोनों के अन्दर द्वैत का ग्रहण नहीं है। हम लोगों को तो हमेशा द्रष्टा और दृश्य का भेद ही समझ में आता है। दीखने वाला अलग और जो देख रहा है वह अलग है। सुषुप्ति में यह भेद नहीं रहता। इसलिये सुषुप्ति में अज्ञान अपने से भिन्न नहीं दीखता। 'यह आनंद है और मैं देखने वाला हूँ' ऐसा भी नहीं। आनंद के साथ अभिन्न हुआ सोया, ऐसा अनुभव होता है। इसी प्रकार तुरीय के अन्दर है। प्राज्ञ और तुरीय दोनों के अन्दर द्वैत का ग्रहण न होना एक जैसा है। यह दोनों की समानता हो गई। दोनों में द्वैत का अग्रहण एक जैसा है लेकिन सुषुप्ति के अन्दर बीज निद्रा पड़ी हुई है। बीज निद्रा अर्थात् अज्ञान से हम सुषुप्ति में जाते हैं। अपने को पता नहीं लगता कि सुषुप्ति में कब गये। इसलिये अज्ञानरूप बीज वहाँ बैठा ही रहता है। वहाँ द्वैत का बोध नहीं हटा। तुरीय में ज्ञान-पूर्वक गये।

दो तरह के लोग आजकल लाट्री में रुपया लगाते हैं। एक तो सोचता है कि लाट्री में हमारा नम्बर आयेगा इसलिये आँख मूँद कर नम्बर लगा दो। आ गया तो लखपति बन भी जाते हैं नहीं तो जन्म भर एक एक रुपया लगाते लगाते पांच सात हजार खो देते हैं और अंत में हाथ कुछ नहीं आता। इसी प्रकार एक सज्जन को एक बार एक रुपया लगाने से डेढ़ सौ रुपया मिल गया तो बड़ा खुश हो गया। हमने उससे कहा

कि अब लाट्री ने तुम्हारा बण्टा ढार कर देना है। लाख दो लाख आ जाते तो अच्छा होता। डेढ़ सौ से चाट पड़ गई है तो अब जब तक घर भर को लगा नहीं दोगे तो संतोष नहीं होगा। सोचते रहोगे कि अब आया अब आया। वह नम्बर कैसे आता है? अज्ञानपूर्वक ही आता है। उसको पता नहीं कि अमुक नम्बर ही आ जायेगा। अज्ञानपूर्वक आने वाला होने से वह नुकसान का कारण होता है। कभी ठीक भी हो जाता है लेकिन फायदा कुछ नहीं। दूसरे बड़े-बड़े लाट्री वाले होते हैं; उनके मालिक को पता होता है कि कौन सा नम्बर निकलना होता है। वे अपने किसी रिश्तेदार को कहते हैं कि तुम अमुक नम्बर को लगा देना। विदेशों में इसका एक पूरा व्यापार होता है जिसे कसीनो कहते हैं। वे ज्ञानपूर्वक करते हैं। अतः कमा जाते हैं। युधिष्ठिर को शकुनि ने ऐसे ही हराया था। उसके पासे ऐसे थे जिनसे जो वह चाहे, करे। युधिष्ठिर अपने धर्म में ही फँसा हुआ था। अज्ञानपूर्वक करने वाले को तो कभी कदाचित् फायदा हो गया, नहीं तो प्रायः नुकसान होगा। ज्ञानपूर्वक करने वाले को हमेशा लाभ ही होगा।

इसी प्रकार हम लोग भी सुषुप्ति में जाते हैं तो 'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति।' द्वैतनिवृति होती है लेकिन अज्ञानपूर्वक होती है। पता नहीं लगता, इसलिये जब चाहें तब निवृत्ति नहीं कर सकते। तुरीय में जाकर अपने को पता लगता है इसलिये जब चाहें तब द्वैत निवृत्त किया जा सकता है क्योंकि कारण बीजनिद्रा हट चुकी है। प्रारब्ध के कारण जगत् प्रतीति होते हुए भी दुःख का भान हुआ तो फिर समाधि में चले गये। दुःख का काल निकल गया तो व्यवहार में आ गये। सुषुप्ति में बीजरूपी निद्रा पड़ी हुई है और तुरीय अवस्था में बीजनिद्रा नहीं रह जाती। यही दोनों में फरक है। द्वैत-अग्रहण समाधि और सुषुप्ति में एक जैसा लेकिन एक में अज्ञान बैठा हुआ है, दूसरे में निवृत्त हो गया है। यही भेद हो गया।

भाष्य में इसे स्पष्ट किया है 'निमित्तान्तरप्राप्ताशंकानिवृत्त्यर्थोयं श्लोकः।' निमित्तान्तर अर्थात् अनुमानप्रयुक्त या अनुमान के द्वारा यदि कोई व्यक्ति तुरीय में भी कारणबद्धता की शंका कर ले तो उसके समाधान के लिये यह श्लोक है। यह शंका बहुतों ने की है। इसलिये बहुत से लोग तुरीय से संतुष्ट न रहकर तुरीयातीत अवस्था बताते हैं। और किसी ने तो तुरीयातीतातीत की कल्पना कर ली है! चाहे जितना आगे लगाते चलो, तुरीय है एक ही। जैसे पहले अपने यहाँ महात्मा को श्री १०८ लिखते थे; किसी ने सोचा एक मीड़ा (शून्य) बीच में और लगा दो तो १००८ लिखने लगे, उससे भी संतोष नहीं हुआ तो अनंतश्री और ऊपर से लिखने लगे। अष्टोत्तरशत का कोई तात्पर्य था जिसको लेकर महात्मा को १०८ कहते थे। जिसने १०८ चीजों पर नियंत्रण कर लिया हो वह श्री १०८। १२ गुणा ९ करके १०८ बन जाता है। ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि मिलकर बारह हुए और उसमें आने वाले तीन गुण तथा तीन अवस्थाओं को लेकर १०८ हो जाते हैं। जिसने इन्हें वश में कर लिया उसे श्री १०८

लिखते थे। लोगों को यह भूल गया कि क्यों लिखते हैं, केवल यही याद रहा कि संख्या जितनी बड़ी हो उतना अच्छा है! ऐसे ही तुरीय जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति का अधिष्ठान है। अगर उससे भिन्न कोई चतुर्थ होता तो पाँचवें, छठे की कल्पना कर लेते। अधिष्ठान में क्या कल्पना करोगे? वह स्वयं अतीत है। लेकिन उन्होंने चौथा गलती से मान लिया और आगे कल्पना हो गई। इसी प्रकार यहाँ अनुमानप्रयुक्त शंका कोई कर ले कि तुरीय में कारणबद्धता मान लो कि आगे कुछ होगा। इसी की निवृत्ति के लिये यह श्लोक बनाया।

शंका निवृत्त कैसे हो? भाष्यकार लिखते हैं 'द्वैताग्रहणस्य तुल्यत्वात्कारणबद्धत्वं प्राज्ञस्यैव न तुरीयस्येति प्राप्ताऽऽशंका निवर्त्यते।' द्वैत-अग्रहण की तुल्यता होने पर अर्थात् द्वैत का ज्ञान न होने पर कारणबद्धता प्राज्ञ में ही है। अर्थात् 'विमतं कारणबद्धं द्वैताग्रहणवत्त्वात्प्राज्ञवत्' यह उसका अनुमान था। जो अनुमान से सिद्ध करना चाहता था वह कहता है कि तुरीय भी कारणबद्ध है क्योंकि द्वैत का वहाँ अग्रहण है, अज्ञान है; सुषुप्ति-अभिमानी की तरह। जहाँ जहाँ द्वैत का ज्ञान नहीं होता वहाँ कारणबद्धता होती है, जैसे प्राज्ञ में। चूँकि तुरीय में भी द्वैत का अग्रहण है तो वह भी कारणबद्ध है। यह अनुमान पूर्वपक्षी ने कर लिया। उसी का उत्तर दिया कि इसके अन्दर जो हेतु तुमने द्वैताग्रहणवत्त्व बनाया वह हेतु ठीक नहीं है क्योंकि जहाँ अज्ञानपूर्वक द्वैत अग्रहण होता है वहाँ कारणबद्धता होती है और जहाँ वह अज्ञानपूर्वक नहीं होता है वहाँ कारणबद्धता नहीं होती। इसलिये कहा 'यस्माद् बीजनिद्रायुतस्तत्त्वाप्रतिबोधो निद्रा।' बीज निद्रा से युक्त तत्त्व का अप्रतिबोध या तत्व का अज्ञान निद्रा है। 'सैव च विशेषप्रतिबोधप्रसवस्य बीजम्।' तत्त्व का जो अप्रतिबोध या ज्ञान न होना है वही घट पट आदि के प्रतिबोध अर्थात् विशेष अनुभव की उत्पत्ति का बीज है। रज्जु को जब नहीं जानोगे तब सर्प, दण्ड, जलधारा इत्यादि की कल्पना होगी। रस्सी सामने दीख रही है तो सर्प, जलधारा इत्यादि की कल्पना हो ही नहीं सकती। 'सा बीजनिद्रा' इसी को बीज निद्रा कह दिया। 'तया युतः प्राज्ञः' उससे जो युक्त होता है उसी को प्राज्ञ कहते हैं। प्राज्ञ के बाद भावी प्रबोध होता है। सुषुप्ति के बाद जब आदमी उठता है तो विशेष पदार्थों का बोध होता है। इस कार्य से मानना पड़ता है कि सुषुप्ति के अन्दर कारण था। सुषुप्ति के अन्दर साक्षात् कारण का ग्रहण नहीं है लेकिन कार्य की उत्पत्ति को देखकर कारण का अनुमान करना पड़ता है क्योंकि बिना कारण में शक्ति हुए कार्य उत्पन्न नहीं कर सकता।

'सदा दृक्स्वभावत्वात्तत्त्वाप्रतिबोधलक्षणनिद्रा तुरीये न विद्यते।' तुरीय की तो हमेशा ही दृक्स्वभावता होने से तत्त्व का अज्ञानरूप बीजनिद्रा उसके लिये सम्भव ही नहीं है। इसलिये तुरीय विशुद्ध चिद्धातु है, यह सदा के द्वारा कहा। इससे बताया कि 'द्वैताग्रहणवत्त्व' यह हेतु कालात्ययापदिष्ट है, पक्षमें है ही नहीं। तुरीय में अग्रहण नहीं तो द्वैताग्रहण भी नहीं ही है। अतः इस हेतु से तुरीय को कारणबद्ध समझना असम्भव है। प्राज्ञ का द्वैताग्रहण विशेषग्रहण का नियत पूर्वभावी है। जबकि तुरीय का ऐसा नहीं,

यह तो हेतु में उपाधि दी थी। अब यह भी बता दिया कि यह हेतु तुरीय में उपस्थित भी नहीं। 'अतो न कारणबन्धस्तस्मिन्नित्यभिप्रायः।' कारण बीज का बंधन उसमें नहीं है, यह अभिप्राय है।।१३।।

●

स्वप्ननिद्रायुतावाद्यौ प्राज्ञस्त्वस्वप्ननिद्रया।
न निद्रां नैव च स्वप्नं तुर्ये पश्यन्ति निश्चिताः ।।१४।।

जाग्रत् और स्वप्न काल के अन्दर स्वप्न और निद्रा दोनों रहते हैं। इसका क्या अर्थ है? स्वयं आगे बतायेंगे। जहाँ पदार्थों के द्वैत का अनुभव है उसको ही स्वप्न कहते हैं। स्वप्न शब्द का मतलब जो चीज़ जैसी न हो उस चीज़ को वैसा समझना है और जो चीज़ जैसी हो उसको वैसा समझना प्रबोध है। इसलिये केवल लेटकर ही स्वप्न देखते हों, ऐसा नहीं बल्कि जब-जब पदार्थ जैसा है वैसा नहीं देखते तो लोक में भी कह देते हैं 'सपना देख रहा है क्या?' किसी को कहें कि एक गिलास पानी ले आना और वह उसकी जगह चक्कू लेकर आ जाये तो कहते हैं 'क्या सपना देख रहा है?' अर्थात् जो बात कही गई उसे नहीं सुना। इसलिये जो चीज़ जैसी न हो उसे उस रूप से ग्रहण करना स्वप्न कहा जाता है और जो चीज़ जैसी हो उसे उसी रूप से ग्रहण करना प्रबोध या जागना कहा जाता है। अब भगवान् गौडपादाचार्य का यह कहना है कि ब्रह्म है और हम उसको संसार रूप में देख रहे हैं। इसलिये संसार भी स्वप्न ही है। है तो वहाँ ब्रह्म और देख रहे हैं द्वैत-प्रपंच, इसलिये यह भी स्वप्न ही है। कई बार मनुष्य के मन में यह शंका होती है कि सबको कैसे एक जैसा दीख रहा है? विचार करके देखो तो पता लगता है कि लाहौर में खड़े होकर हमने प्रतिज्ञा की 'हम स्वतंत्रता प्राप्त करेंगे।' जब स्वतंत्रता प्राप्त की तो क्या लाहौर हमारे साथ था? इसलिये मानना पड़ेगा कि जो प्रतिज्ञा की और जो मिला वे सर्वथा भिन्न चीज़ें हैं। प्रतिज्ञा कुछ की, लिया कुछ और। फिर भी हम बहम करके बैठे हुए हैं कि स्वतंत्रता मिल गई। इसको स्वप्न कहेंगे या प्रबोध कहेंगे? प्रबोध वाला कहेगा कि जो प्रतिज्ञा की वह नहीं मिला, उसका नाम हमने स्वतंत्रता दिया था। सब धर्म वाले मिलकर रह सकते हैं, यह था धर्मनिरपेक्षता का आधार। यह हमारी प्रतिज्ञा थी कि अंग्रेजों के कारण हिन्दू मुसलमान झगड़ते हैं, वे नहीं रहेंगे तो हम शांति से रहेंगे। न तो वह विचार-धारा चली क्योंकि मुसलमानों को हम साथ नहीं रख सके, वे अलग हो गये, और अंग्रेजों के जाने के बाद भी झगड़ा ही चल रहा है बल्कि ज्यादा ही चल रहा है। इतने पर भी यह मानना कि साथ रह सकते हैं और अंग्रेजों के कारण झगड़ा होता है, यह स्वप्न है या जाग्रत्? जिन व्यवहारों को हम समझते हैं कि हम जगकर कर रहे हैं वहाँ भी जगे हुए हैं कहाँ? स्वप्न ही तो ले रहे हैं। अपने मन की कल्पनाओं में द्वैत रहता है और वास्तविकता कहो तो कहते हैं 'बोलो नहीं जी, यह कोई कहने की

बात है! हमको अपने स्वप्न में जीते रहने दो।' यह नहीं कि ब्रह्म को ही हम अतत्त्वभाव से ग्रहण कर रहे हैं वरन् रात दिन स्वप्न ही देखते रहते हैं और उनको सत्य मानते रहते हैं कि ये ही सच्चे हैं। इसलिये भगवान् गौडपाद कहते हैं कि जिसको तुम जाग्रत् समझते हो वह भी विचार की दृष्टि से स्वप्न है।

आधुनिक लोग प्रायः कह देते हैं कि वेदान्तियों ने जगत् को स्वप्न कह कहकर सबको अकर्मण्य बना दिया। हम तो स्वप्न कहकर उन्हें जगने को कह रहे हैं, अकर्मण्य तो तुम बनने को कह रहे हो क्योंकि तुम यह मानते हो कि कर्म न करना श्रेष्ठ है। कर्म उद्देश्य के लिये प्रवृत्ति कराता है। जो कर्त्ता को इष्टतम हो, वह कर्म है, यह भगवान् पाणिनि ने व्याकरण की दृष्टि से कर्म का लक्षण किया। जब तुम इष्टतम चीजों को न करके अवसरवादी (opportunist) बनते जाते हो और कहते हो कि कर्म कर रहे हो, तब असल में तो तुम अकर्मण्य हो। कहते हो 'यह इष्टतम तो नहीं है लेकिन फिर भी कर रहे हैं क्योंकि कर्म करना है।' लेकिन कर्म कहाँ कर रहे हो? वेदांत और भगवान् गौडपाद यह कहते हैं कि जो तुमको इष्टतम है वही करो, अपने स्वप्नों में न रहो, जगो। यदि तुमको किसी इष्टतम पदार्थ के अन्दर दोष दिखाई दे जाये तो उसे छोड़ने का पौरुष करो। कभी ऐसा होता है कि हम जिसको इष्टतम समझ रहे हैं वह बलवत् अनिष्ट से अनुविद्ध हो। जैसे मान लो सामने लड्डू रखा हुआ है, उसे खाने के लिये हम प्रवृत्त हुए, चूँकि इष्टतम है। तब तक हमें किसी ने कह दिया और ज्ञान हो गया कि इसमें जहर पड़ा हुआ है, मत खाओ। बलवत्-अनिष्ट-अनुविद्धता आ गई। बल वाले अनिष्ट की प्राप्ति हुई तो तुम कहोगे कि 'हमें यह लड्डू नहीं खाना है।' यह कोई नहीं कहता है कि जिसे तुम इष्टतम समझो उसमें बलवत् अनिष्ट का प्रवेश हो जाने पर भी करो। लेकिन जाग्रत् वाला कहेगा कि यहाँ बलवत् अनिष्ट का अनुवेध आने के कारण इसे छोड़ दिया। स्वप्न वाला कहेगा कि इष्टतम तो आज भी हमको वही है लेकिन उसके लिये काम नहीं करेंगे, काम तो किसी दूसरे के लिये करेंगे। इसी अवस्था को स्वप्नावस्था कहते हैं। जब तक यह स्वप्नावस्था रहती है तब तक मनुष्य तत्त्व से दूर बना रहता है, तत्त्व के साथ उसका सम्बन्ध नहीं हो सकता।

जगत् को स्वप्नरूप बताकर भगवान् गौडपाद यह कहना चाहते हैं कि मन कोई ऐसी चीज़ नहीं है कि सवेरे दो घण्टा तो कहो कि हमें तत्त्व-विचार करना है और बाकी बीस घण्टे कहो कि हम बिना तत्त्व-विचार के रह जायेंगे। यह सनातन धर्म की आधारशिला है। बाकी जितने मज़हब हैं वे कहते हैं कि तुम दो चार घण्टा ध्यान भजन जप आदि कर लो, जो भी तुम्हें करना हो सो कर लो, उसके बाद संसार का व्यवहार करो। लेकिन दोनों का कोई सम्बन्ध नहीं है। सनातन धर्म यह नहीं मानता है। सनातन धर्म कहता है 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य' जो तुम्हारा कर्म है, जो तुम कर रहे हो वह हमेशा तुम्हारी पूजा हो रही है। किस की पूजा हो रही है?— यह तुम्हारे ऊपर निर्भर करता है। शुभ कर्मों

के द्वारा परमात्मा की पूजा होती रहेगी और अशुभ कर्मों के द्वारा शैतान की पूजी होती रहेगी। जो भी कर्म करोगे उससे या देवपूजन होगा या असुरपूजन होगा। बहुत साल पहले अमरीका में दर्शन के एक बहुत बड़े विद्वान् थे, जिनका नाम था डॉ. ब्राइटमैन जो फिलासफिकल कान्फ्रेन्स के पांच छह साल तक प्रैज़िडेण्ट रहे। एक बार वहाँ चुनाव हो रहा था। उनसे किसी ने पूछा 'आप किस को वोट देंगे?' कहने लगे 'मैं हमेशा नार्मन थाम्स को वोट देता हूँ।' वह सोशलिस्ट था और हमेशा हारता था। उसको आश्चर्य हुआ, पूछा 'आप भी जानते हैं कि वह हमेशा हारता है, फिर भी आप उसे वोट देंगे?' तब उन्होंने कहा 'जिसको वोट दूँगा, वह जीतकर जो करेगा, उसके पुण्य-पाप का भागी मैं हूँ और डेमोक्रेट व रिपब्लिकन दोनों पार्टी चोर हैं, यह भी जानता हूँ। इसलिये इन दोनों में किसी को भी वोट दूँ और जीत गया तो उसके पाप-पुण्य का बोझा मेरे ऊपर पड़ना है अतः उसका प्रायश्चित्त मुझे करना पड़ेगा। नार्मन को कभी जीतना नहीं, बात भी वह कोई झूठी नहीं कहता, सच कहता है। जीतकर गलत करे, ठीक करे यह विषय दूसरा है। जीतना उसे है नहीं, इसलिये हम उसके जिम्मेवार नहीं। मैं स्वयं जनतंत्र में विश्वास करता हूँ, यदि वोट न दूँ तो भी पाप है। इसलिये जो सच्ची बात कह रहा है और जीतने की सम्भावना नहीं, मैं उसका समर्थन करता हूँ।' यह एक दृष्टिकोण है कि यदि हम कोई चीज़ करने जा रहे हैं तो हम या देव-उपासना कर रहे हैं या असुर-उपासना कर रहे हैं। जहाँ गलत चीज़ का समर्थन किया तो वह असुर-उपासना और ठीक चीज़ का समर्थन किया तो देव-उपासना हो गई। जीवन को भागों में नहीं बाँट सकते, यह हमारा सिद्धान्त है।

यदि मन को चाहते हो कि चार घण्टे तत्त्व चिंतन में लगायें तो बाकी सारे व्यवहारों में भी तत्त्व की दृष्टि रखनी पड़ेगी। सारा व्यवहार तत्त्व दृष्टि से करते हो या नहीं— यह ध्यान रखना पड़ेगा। स्वप्न के द्वारा यही कहते हैं कि जगत् में व्यवहार काल में स्वप्न देखते रहोगे तो ध्यान काल में भी स्वप्न ही देखते रहोगे। तत्त्व मीमांसा में नहीं जा पाओगे। जैसे बहुत से लोग भगवान् कृष्ण की कल्पना करते हैं तो कैसी कल्पना करते हैं? सोलह या अट्ठारह साल के भगवान् चौदह पन्द्रह साल की लड़कियों के साथ रास लीला कर रहे हैं। हमने तो कहीं कहीं भगवान् का बीस साल का चित्र भी देखा है। उसे देखकर भक्त लोग खूब झाँकियाँ मन में करते रहेंगे और खूब प्रशंसा करेंगे। क्या स्थिति है, बता देते हैं, कोई बुरा नहीं मानना। जब हमसे कोई उनके बारे में पूछता है तो हम कहते हैं कि स्वप्न देखते हैं। फिर लोग कहते हैं 'आप ऐसा क्यों कहते हैं, महाराज!' हम उनसे कहते हैं कि भागवत में तो लिखा है कि भगवान् सात साल के थे जब उन्होंने रासलीला की। सात साल के उस बच्चे को यदि तुम सोलह या अट्ठारह साल का देखते हो तो भगवान् को नहीं देख रहे हो, स्वप्न देख रहे हो। देखे जाओ

जो मर्जी सो। इसलिये भगवान् गौडपाद कह रहे हैं कि सब समय जाग्रत् रहने का अभ्यास करना चाहिये। नहीं तो यह जाग्रत् भी एक स्वप्न ही है

'प्राज्ञस्त्वस्वप्ननिद्रया' प्राज्ञ अवस्था जो सुषुप्ति की है उसमें भी निद्रा तो है लेकिन स्वप्न नहीं है अर्थात् अपने से भिन्न द्वैत का अनुभव नहीं है। 'न निद्रां नैव च स्वप्नं तुर्ये पश्यन्ति निश्चिताः' तुरीय अवस्था अर्थात् चतुर्थ अवस्था के अन्दर जाने के बाद, समाधि के अन्दर, न निद्रा अर्थात् न सुषुप्ति की तरह तत्त्व का अज्ञान रहता है, और न स्वप्न रह जाता है। 'पश्यन्ति'; यद्यपि पाणिनि व्याकरण ने तो दृशि धातु को किन्हीं रूपों में पश्य आदेश कर दिया है लेकिन आधुनिक दृष्टि से जो व्याकरणों का अध्ययन इण्डो जर्मन भाषाओं को लेकर होता है उसमें सिद्ध करते हैं कि दोनों अलग धातु हैं। पश्य धातु का अर्थ था आँखों से स्पर्श करना। बाद में पश्य धातु के कुछ लकारों का प्रयोग संस्कृत में नहीं रह गया इसलिये दृशि धातु को पश्य आदेश उन लकारों में कर देते हैं। जब कभी प्राचीन ग्रन्थों को देखते हैं तो कई जगह यह देखने को मिलता है कि जहाँ वे किसी विशेष चीज़ को कहना चाहते हैं वहाँ 'पश्यन्ति' का प्रयोग करते हैं। 'परा पश्यन्ती मध्यमा वैखरी' में दृश् धातु का प्रयोग नहीं समझना है, वहाँ भी पश्य को लेना है कि परावाक् से जब आगे जाते हैं और स्पन्द उत्पन्न होता है वह पश्यन्ती है। इस प्रकार विशिष्ट अर्थों में इसका प्रयोग प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। यहाँ भी पश्यन्ति के द्वारा भगवान् गौडपाद यह बताना चाहते हैं कि मनुष्य की उसके अन्दर स्थिति हो जाती है अर्थात दृढ ज्ञान हो जाता है। उसी को स्पष्ट करने के लिये कह दिया 'तुर्ये पश्यन्ति निश्चिताः'।

वह दृढ ज्ञान किससे होता है? 'निश्चिताः' अर्थात् असम्भावना और विपरीतभावना से रहित जिनका निश्चय हो गया ऐसे ब्रह्मवेत्ता लोग। पहले पहल जब मनुष्य इसका अनुभव करता है तो अनुभव तो हो जाता है लेकिन उसके असम्भावना और विपरीतभावना रूपी दो दोष बच जाते हैं। असम्भावना अर्थात् क्या यह हो सकता है? यह बड़ा भारी आश्चर्य होता है। विवेक-चूडामणि में भगवान् भाष्यकार लिखते हैं कि उस समय का अनुभव क्या है? 'क्व गतं केन वा नीतं कुत्र लीनमिदं जगत्। अधुनैव मया दृष्टं नास्ति किं महदद्भुतम्।' यह सारा संसार अभी तो मुझे स्पष्ट दीख रहा था, यह सब गया कहाँ, कौन इसे उठा ले गया? इतना बड़ा जो अनादि काल से दीखने वाला संसार, इसे कौन ले गया? इसका अनुभव सम्भव है तुम लोगों ने भी कभी कभी किया हो। घोर जंगल के अन्दर जा रहे हो, चारों तरफ काँटों की झाड़ियाँ तुम्हारे शरीर को काट रही हैं और ऐसे समय में शेर गरज कर तुम्हारे ऊपर उछलता है और तुम सर्वथा निढाल होकर कहते हो 'यह खा ले' और उसी समय आँख खुल जाती है! मिनट दो मिनट तक देखते ही रहते हो कि यह सारा जंगल, सारे काँटे और वह शेर कहाँ चला गया? अभी अनुभव हो रहा था, इस सबका क्या हो गया? जैसे उठने पर यह बोध होता है ठीक इसी प्रकार जब ज्ञान के उस अनुभव का स्पर्श करके आते हैं तो पहले उसे लगता है कि हो क्या

गया? जिसको मैं देख रहा था वह सब चला कहाँ गया? इसी के अन्दर असम्भावना का बीज है कि क्या यह सम्भव है? क्या स्वप्न देखा था? सत्य देख तो लिया, लेकिन क्योंकि उसका ज्ञान इतना नवीन है इसलिये मन में आता है कि कहीं ऐसा तो नहीं कि यह ज्ञान स्वप्न हो और वही संसार सच्चा हो! फिर मनुष्य बार-बार मनन करता है, युक्तियों से विचार करता है।श्रुति ने तो कह दिया, निश्चय हो गया, लेकिन युक्ति कहती है कि इतने बड़े संसार की व्यवस्था कैसे बन गई? तब मननकाल में युक्तियों से विचार कर के उसे निश्चय होता है कि प्रमेय जैसा मैंने समझा है, वैसा ही है। उसके बाद भी कभी कभी विपरीतभावना हो जाती है। यह भी एक दोष है। जिस प्रकार अपने को निश्चित पता हो कि यह पूर्व दिशा है, फिर भी रास्ते चलते हुए अकस्मात् लगता है कि उधर पूर्व दिशा है। एक क्षण बाद देखते हैं कि यह नहीं, पूर्व तो इधर है। लेकिन क्षण भर के लिये उधर पूर्व लग गया। खासकर जब नीचे से ऊपर आबू पर आते हो तो कई बार ऐसी परिस्थिति आती है कि जाने वाली मोटर और ऊपर से आने वाली मोटर दोनों समानांतर (parallel) चल रही होती हैं जिधर से तुम्हारी मोटर उधर ही उसकी है। ऐसा थोड़ी देर तक लगता है, लेकिन फिर कोण को देखकर निश्चय हो जाता है। एक क्षण को भ्रम हो जाता है। इसी प्रकार अनादि संस्कारों के कारण फिर विपरीतभावना उत्पन्न हो जाती है। जितना जितना मनन के द्वारा पूर्व संस्कारों से रहित निदिध्यासन करते जाओगे उतनी ही दृढ भावना होती जायेगी। जिन ब्रह्मवेत्ताओं ने असम्भावना और विपरीतभावना दोनों को सर्वथा छोड़कर निश्चय कर लिया वे इस प्रकार तुरीय का अनुभव करते हैं, स्पर्श करते हैं।

भाष्य में इसे स्पष्ट किया है 'स्वप्नोऽन्यथाग्रहणं सर्प इव रज्ज्वाम्।' कारिका के स्वप्न शब्द का भाष्यकार स्वयं अर्थ कर रहे हैं। स्वप्न अर्थात् अन्यथा ग्रहण, जो चीज जैसी न हो, उसे भिन्न प्रकार से जानना स्वप्न है। जैसे रस्सी के अन्दर मनुष्य सर्प देखता है तो यही उसका स्वप्न है। दूसरा शब्द निद्रा था। 'निद्रोक्ता तत्त्वाप्रतिबोधलक्षणं तम इति।' निद्रा यहाँ तत्त्व के अप्रतिबोध को कह रहे हैं। पहले भी तम शब्द का प्रयोग किया था क्योंकि ऋग्वेद के अन्दर प्रायः तम शब्द का प्रयोग किया गया 'तमआसीत् तमसा गुळमग्रे।' 'ताभ्यां स्वप्ननिद्राभ्यां युक्तौ विश्वतैजसौ' स्वप्न और निद्रा दोनों से युक्त विश्व और तैजस हैं। इसीलिये उन्हें कार्य-कारण दोनों से बद्ध बताया गया 'अतस्तौ कार्यकारणबद्धावित्युक्तौ। प्राज्ञस्तु स्वप्नवर्जितकेवलयैव निद्रया युत इति कारणबद्ध इत्युक्तम्।' प्राज्ञ अर्थात् सुषुप्ति-अभिमानी, स्वप्न से रहित, अन्यथा-ग्रहण से रहित है, उसे केवल निद्रा है अर्थात् केवल तत्त्व का अज्ञान है। इसलिये उसे केवल कारणबद्ध कह दिया। 'नोभयं पश्यन्ति तुरीये निश्चिता ब्रह्मविदो विरुद्धत्वात् सवितरीव तमः' वे जो निश्चित ब्रह्मवेत्ता लोग हैं इन दोनों को तुरीय के अन्दर, नहीं देखते हैं क्योंकि ये विरुद्ध हैं। अधिष्ठान साक्षात्कार से अध्यस्त की अवस्थिति विरुद्ध है। हमको रस्सी का साक्षात्कार

है और सर्प से डर लग रहा है, ये दोनों बातें बनती नहीं। इसी को विरुद्ध कहते हैं। यदि हमने रस्सी का ज्ञान कर लिया तो सर्प का भय उससे विरुद्ध पड़ेगा। रस्सी को जान रहे हैं और सर्प से डर रहे हैं, यह गलत बात है। कोई कहता है कि हम भगवान् को मानते हैं और भगवान् पुण्य पाप का फल देता है, यह भी मानते हैं लेकिन आज के जमाने में बिना पाप के, बिना घूस के, बिना झूठ के काम नहीं चल सकता। तो या तो वे भगवान् को शुभ कर्म का फल देने में असमर्थ मानते हैं या वे जो कह रहे हैं कि घूस देने से काम चलता है, वह हमको धोखा देने को कह रहे हैं। दोनों बातें साथ नहीं हो सकतीं। यदि भगवान् सामर्थ्य वाला है तो घूस सामर्थ्य वाली नहीं हो सकती और यदि घूस सामर्थ्य वाली है तो भगवान् सामर्थ्य वाले नहीं हो सकते। इसी प्रकार लोग कहते हैं कि 'जानते तो हम हैं कि सब मैं एक ही आत्मा हूँ लेकिन क्या करें, व्यवहार तो इस ढंग का ही कर पाते हैं।' कारण यह है कि वे जानते नहीं हैं। छोटी छोटी चीजों से लोग बिना मतलब का भय खाते रहते हैं। इस भय का बीज है परमात्मा में विश्वास का न होना। वैसे ही यहाँ जिसको आत्मतत्त्व का अनुभव है वह तो अनात्मपदार्थों की तृष्णा वाला कभी नहीं हो सकता और जिसमें अनात्मपदार्थों की तृष्णा है वह आत्मज्ञान वाला कभी नहीं हो सकता क्योंकि दोनों विरुद्ध हैं।

यदि कहो 'हम आत्मा को भी जानते हैं और साथ में अनात्म पदार्थों की तृष्णा भी कर रहे हैं, रस्सी को भी जानते हैं और सर्प से डर के मारे भाग भी रहे हैं।' तो यह संगत नहीं। दोनों में एक सच्ची अनुभूति है और दूसरी झूठी है। कौन सी सच्ची है इसमें वह खुद प्रमाण है। यह भी हो सकता है कि उसकी सच्ची अनुभूति रस्सी है लेकिन वैसे ही चाह रहा था कि यहाँ से भागे। किसी भक्त ने अपने यहाँ दो चार दिन बढ़िया भिक्षा करवाई, अब साधु चाह रहा है कि भागे वहाँ से क्योंकि ज्यादा दिन किसी एक जगह रहना ठीक नहीं। भक्त रोज पैर पकड़ लेता है कि नहीं जाने देंगे। अब जैसे ही रस्सी में साँप दीखा तो झट कमण्डलु उठाया और भागा वहाँ से। उसे निश्चय है कि रस्सी है, लेकिन मौका है यहाँ से भागने का। दूसरा जानेगा कि सर्प समझ रहे हैं। यह हो सकता है, लेकिन दोनों साथ नहीं हो सकते। दोनों में से एक सच्चा है और दूसरा झूठा है। यह स्वसंवेद्य है। दोनों में एक सत्य है दूसरा क्रीडा है क्योंकि विरुद्ध होने के कारण दोनों सत्य नहीं हो सकते।

'सवितरीव तमः' जैसे सूर्य में अंधकार नहीं रह सकता। सूर्य में उल्लू को अंधकार दीखता है। भगवान् सुरेश्वराचार्य लिखते हैं 'काकोलूकनिशेवायम्' ज्ञानी और अज्ञानी की कौए और उल्लू की स्थिति है। कौए को रात में नहीं दीखता है, दिन में दीखता है। उल्लू को दिन में नहीं दीखता, रात में दीखता है। जैसे दोनों विरुद्ध दृष्टि वाले हैं, ठीक इसी प्रकार तत्त्वज्ञानी और अतत्त्वज्ञानी के विषय में हो जाता है। सूर्य के अन्दर उल्लू के द्वारा अंधकार देखा जाता है और कौए के द्वारा प्रकाश देखा जाता है। इनमें

से एक सच्चा और एक झूठा है। यह नहीं हो सकता कि उल्लू ही दोनों चीजों को देख ले या कौआ ही दोनों चीजें देख ले। जैसे सूर्य उल्लू को एक साथ ही अंधकाररूप और उसी समय कौए को प्रकाशरूप दीख रहा है, ठीक इसी प्रकार एक समय में ही ज्ञानी को जब केवल ब्रह्मरूपता दीख रही है उसी समय अज्ञानी को वहाँ विषयरूपता दीख रही है, कालांतर में नहीं। आज उसे दीखा और कल उसे दीखा ऐसा नहीं। एक साथ ही दीख रहा है। इनमें से एक सत्य है, एक झूठा है। जैसे वहाँ कौए का ज्ञान सत्य है और उल्लू का ज्ञान झूठा है, उसी प्रकार यहाँ कल्पित होने के कारण अविद्या वालों को संसार में द्वैत दीखता है वह झूठा और जिनको प्रकाशरूपता, ज्ञानरूपता दीखती है वह सच्चा है।

अगला प्रश्न होता है कि दोनों में निर्णय कैसे किया जाये? दीखता तो दोनों को है। आधुनिक सिद्धान्त वाले कहेंगे कि वोट ले लो और जिस विषय में ज्यादा वोट मिल जायें वह सच्चा है! बहुत से ऐसे विद्वान् हैं जो कहते हैं कि न्याय शास्त्र को कितने वोट मिल सकते हैं। यदि उसकी बात को ज्यादा वोट नहीं मिल सकते तो जो अधिक वोट ले वह ठीक है। न्याय-शास्त्री चाहे ठीक कहे लेकिन वोट नहीं तो ठीक नहीं। ऐसी परीक्षा में तो हम हार जायेंगे। शास्त्र कहता है 'स यदि एको भवति पंक्तिपावनो भवति' यदि एक भी हो तो सारी पंक्ति को शुद्ध कर लेता है। वोट तो अविद्या वालों को ही ज्यादा मिलने हैं, इसलिये पहले ही हार मान लेते हैं। लेकिन हम लोगों का कहना यह है कि सत्यता का निर्णायक यह नहीं। महात्माओं में एक कहानी प्रसिद्ध है कि एक बार हंस उड़कर जा रहा था, गर्मी का मौसम था, मानसरोवर की तरफ जा रहा था। एक जगह वटवृक्ष देखकर सोचा कि थोड़ा आराम कर लें। वहाँ बैठ गया और उसके मुँह से निकला कि गर्मी और सूर्य की रोशनी ने मुझे झुलसा दिया। एक उल्लू भी वहीं बैठा था, उसने यह सुना तो कहा 'क्यों झूठ बोलता है? गर्मी तो हमको भी लग रही है लेकिन चिलचिलाता सूर्य है, यह कहकर हमें बेवकूफ बनाता है?' हंस ने कहा 'यह सूर्य तुम्हें नहीं दिखाई देता?' उस उल्लू ने दूसरे उल्लू से कहा 'देखो यह झूठी बात बोलता है।' हंस ने कहा 'बताओ तो सही कि यह सूर्य तुम्हें नहीं दीख रहा है क्या?' दूसरे उल्लू कहने लगे 'आँख तुम्हारी गड़बड़ है।' इतने में और उल्लू इकट्ठे हो गये और कहने लगे 'यह झूठा बोला है, इसे ठीक करो।' सबने मिलकर हंस को पीटा कि यह हमारी संस्कृति को खराब कर रहा है। हमको कभी नहीं दीखा, हमारे बाप दादा को कभी नहीं दीखा, यह कहता है सूर्य दीख रहा है! हंस वहाँ से उड़ा कि कहाँ आकर फँस गया।

इसी प्रकार यदि इनको प्रमाण मानोगे तो काम नहीं चलेगा। सूर्य की प्रकाशरूपता को विचार से सिद्ध करना पड़ेगा। सत्य और मिथ्या का लक्षण होता है कि जो चीज विचार से सिद्ध होती है, युक्ति से, विवेक से, प्रमाण से सिद्ध होती है वह सत्य होती

है और जो बिना विवेक के प्रतीत होती है वह असत्य होती है। रस्सी में साँप दीखा जरूर लेकिन पास जाकर, चारों तरफ दरवाजा बन्द इत्यादि देखकर युक्ति से निश्चय हुआ कि साँप नहीं था। वैसे ही यदि प्रत्यक्ष आदि सभी प्रमाणों से हम सिद्ध कर सकें कि वस्तुतः अद्वितीय आत्म-तत्त्व है तो वह सत्य है चाहे कितने लोगों को वह अन्यथा दीखता हो। शास्त्रकारों ने इसीलिये इतने ग्रन्थों का निर्माण किया, केवल यह मानकर चुप नहीं बैठ गये कि अद्वितीय तत्त्व को मान लो। प्रत्यक्ष, अनुमान, श्रुति, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि सभी प्रमाणों से सिद्ध किया कि प्रमाणसिद्ध अद्वैत है और अविचारसिद्ध द्वैत है। जैसे सूर्य के अन्दर अंधकार दीखने पर भी अंधकार नहीं रहता है वैसे ही यहाँ है। इसलिये तुरीय कार्य कारण से बद्ध नहीं है।।१४।।

●

'कदा तुरीये निश्चितो भवतीत्युच्यते' आगे प्रश्न होता है कि कब ऐसा समय आयेगा कि जब इस प्रकार का निश्चय होगा? उसे अगले श्लोक में कहते हैं

अन्यथा गृह्णतः स्वप्नो निद्रा तत्त्वमजानतः।
विपर्यासे तयोः क्षीणे तुरीयं पदमश्नुते ।।१५।।

अन्यथाग्रहण का नाम ही है स्वप्न। अन्यथाग्रहण करते हुए वह जो तत्त्व है उसी को स्वप्न कहा जाता है। तत्त्व एक ही है लेकिन उसी तत्त्व को जब हम अन्य रूप से ग्रहण करते हैं तब उसी को स्वप्नावस्था कहा जाता है। तत्त्व की ही स्वप्नावस्था है क्योंकि उसका अन्यथाग्रहण किया जाता है। जिस समय में तत्त्व को नहीं जान रहे होते हैं उस समय उसी को निद्रा अवस्था में कहा जाता है। उन दोनों का यह विपर्यास नष्ट हो जाता है तब तुरीय पद को प्राप्त कर लेता है।

'स्वप्नजागरितयोरन्यथा रज्ज्वां सर्प इव गृह्णतस्तत्त्वं स्वप्नो भवति।' स्वप्न और जाग्रत् दोनों अवस्थाओं के अन्दर; अन्यथा का दृष्टांत दिया जैसे रस्सी में साँप। है वहाँ रस्सी लेकिन अन्यथा ग्रहण करके उसे सर्प देख रहे हैं। यही अन्य प्रकार से उसका ग्रहण करना है। कई बार लोग कह देते हैं कि रस्सी सर्प का ही दृष्टांत वेदांती क्यों देते हैं? एक ही दृष्टांत हम लोग इसलिये देते हैं कि जिसमें मनुष्य को समझने में दिक्कत न हो। आजकल चाल है कि हर चीज में लोगों को विभिन्नता (variety) पसन्द है, इसलिये दस तरह के दृष्टांत दो तो अच्छा मानते हैं। जैसे आजकल जितने सिनेमा आते हैं वे सब एकरूप हैं। एक लड़का और एक लड़की मुहब्बत नाम के रोग में फँसते हैं और या ब्याह हो जाता है या नहीं होता है। इसके सिवाय कोई दूसरी चीज बाइस्कोप में आनी न हुई। उसमें केवल खेलने वाला, कपड़ा आदि बदल जायेगा। किसी में कोई नाचेगा, किसी में कोई बंदूक चलायेगा, कोई किसी में मरेगा, होना यही है कि कहीं ब्याह होगा, कहीं नहीं होगा, बाकी सब वरायटी है। कहते हैं कि खेलने वाले बदल गये तो खेल

दूसरा हो गया। हमारे यहाँ ऐसा नहीं मानते। हमारे यहाँ तो यह मानते हैं कि यदि एक दृष्टांत से दूसरे दृष्टांत में जाओ तो इसका कारण बताना पड़ेगा कि क्यों दृष्टांत बदला। जैसे कहीं दृष्टांत देंगे 'जैसे सीप में चाँदी दीखती हैं'। ऐसा नहीं कि चाहे सीप में चाँदी कह दें, चाहे रस्सी में साँप कह दें। जहाँ हमें कहना पड़ेगा कि तत्त्व के अग्रहण की प्रधानता है अर्थात् चक्षु से पूरा देख नहीं पा रहे हैं, वहाँ तो हम रस्सी में साँप का दृष्टांत देंगे, और जहाँ हमें चाकचिक्य दिखाना है, नेत्र दृष्टि नहीं दिखानी है, प्रकाश वहाँ पूरा है लेकिन पदार्थ में चमक ज्यादा होने से उसे वैसा ग्रहण कर रहे हैं, तब दृष्टांतांतर देंगे। हर जगह दृष्टांत बदलने पर प्रश्न उठता है कि दृष्टांत क्यों बदल दिया।

और दृष्टांत वह देना पड़ता है जो सर्वमान्य हो और सीधी तरह से समझ में आये। दृष्टांत ऐसा न हो कि जो स्वयं ही समझने में मुश्किल पड़े। आजकल कई बार ऐसा हो जाता है कि मनुष्य दार्ष्टान्त तो समझ लेता है लेकिन दृष्टांत इतना कठिन बन जाता है कि वही नहीं समझ पाता है। पुराणों में यह बहुत ही जगह है। उन्होंने दृष्टांत बनाया और यह स्थिति हो गई कि आधे पौराणिकों को ही नहीं पता कि पुराण की कथा क्या है, क्या बता रहे हैं। जैसे हिरण्यकशिपु की कथा आती है। कशिपु का मतलब तकिया है। इसलिये स्वर्ण का तकिया बनाकर सोने वाला हिरण्यकशिपु है। बहुतों को पता ही नहीं है क्योंकि कभी सोचते ही नहीं कि यह नाम आस पास कहीं सुनाई नहीं देता है तो कहाँ से आया। ऐसा हो जाता है। ठीक इसी प्रकार हम लोगों के ग्रन्थों में मतभेद न हो जाये, इसलिये दृष्टांत को स्पष्ट रखते हैं। हम कहते हैं कि टट्टी पेशाब के थैले रूपी शरीर में तुम्हें इतनी रमणीकता का बोध कैसे हो रहा है कि यह बड़ा सुन्दर शरीर है? दिल्ली में ऐसे लोग हैं जो कहते हैं कि इस लड़की से ब्याह नहीं करेंगे क्योंकि सुन्दर नहीं है। वह क्या रोग होता है, यह हमारी समझ में नहीं आया। चमड़े के नीचे हड्डी मांस के सिवाय कुछ नहीं मिलना है। वह चमड़ी तो एक मिलिमीटर का सौवाँ हिस्सा है और उसके अन्दर सारा माल एक जैसा है! उतने मात्र को लेकर कितना भ्रम लोगों को होता है, यह दिल्ली में लोगों को देखें तो पता लगता है। अब अगर यह दृष्टांत देते हैं कि रस्सी में साँप की तरह मिथ्या है तो नहीं जँचेगा, झट अनुभवगम्य नहीं होगा, क्योंकि उन्हें दृढ निश्चय है कि शरीर सुन्दर तो होता ही है, फिर आप कैसे कहते हैं कि सुन्दर नहीं होता? इसलिये उन्हें उसी प्रकार का दृष्टांत देना पड़ता है कि इस टट्टी पेशाब के थैले में सुन्दरत्व की दृष्टि व्यर्थ है।

महात्माओं में एक कथा प्रसिद्ध है कि एक राजा के लड़के ने निश्चय किया कि मुझे अमुक सेठ की लड़की से ब्याह करना है। यह सोचकर वह दुबला होता जाये और बात बताये नहीं। मध्यस्थों ने राजा से बात की तो राजा ने कहा कि सेठ को बुलाओ। उसके बाद से सेठ दुबला होने लगा, उसने सोचा कि ना करूँगा तो राजा मारेगा और हाँ करूँगा तो जात वाले बाहर कर देंगे। अंत में जब समय नजदीक आने लगा तो सेठ

ने अपनी लड़की से कहा कि 'यह परेशानी है, तेरे को जो करना हो सो कर।' लड़की ने कहा 'यह बात तो आप मेरे से पहले ही कह देते।' लड़की ने उस लड़के को कहला दिया कि सात दिन बाद मेरे पास आये। यह खबर भेजकर उसने जमाल घोटा ले लिया। उसे दस्त शुरू हो गये और उसने बड़ी बड़ी हंडियाँ मँगा ली। जितना दस्त होता गया, वह सब उन हंडियों में भरती गई। सात दिन में उसकी हड्डी हड्डी निकल आई। हंडियाँ सब भर कर रखी हुई थीं। सात दिन बाद राजा के लड़के ने आकर उसकी भयंकर सूरत देखी तो पूछा 'यह क्या हुआ?' उस लड़की ने कहा 'मैं वही हूँ, मेरे में कोई फरक नहीं आया है।' उसने कहा 'तुम्हारा वह सौन्दर्य था?' लड़की ने कहा 'उसकी बात पूछते हो तो वह उन मटकों में भरा है, देख लो। उसके साथ ब्याह करना है तो वहाँ है।' राजकुमार ने सोचा कि क्या बात होगी, ढक्कन हटाया तो उसके होश ठीक हो गये।

वास्तविकता तो यही है। लेकिन इस बात को समझाने के लिये बड़ा प्रयत्न करना पड़ता है। इसलिये रस्सी में साँप का दृष्टांत देकर समझाना पड़ता है। इसलिये कहा 'निद्रा तत्त्वमजानतस्तिसृष्ववस्थासु तुल्या।' तत्त्व का अज्ञानरूपी निद्रा तीनों अवस्थाओं में एक जैसी है, अन्यथाग्रहण में भेद है। 'स्वप्ननिद्रयोस्तुल्यत्वाद्विश्वतैजसयोरेकराशित्वम्' इसी प्रकार विश्व और तैजस अर्थात् जाग्रत् और स्वप्न को हम एक राशि करके ही चला लेते हैं अर्थात् इकट्ठा करके बोल देंगे, क्योंकि स्वप्न व निद्रा वाला होना रूप से तुल्यता उनमें आ गई। 'अन्यथाग्रहणप्राधान्याच्च गुणभूता निद्रेति तस्मिन्विपर्यासः स्वप्नः' अन्यथाग्रहण प्रधान होने के कारण निद्रा गुणभूत है और उस गुणभूत निद्रा के अन्दर विपर्यास का नाम स्वप्न हो गया। 'तृतीये तु स्थाने तत्त्वाज्ञानलक्षणो निद्रैव केवला विपर्यासः।' तृतीय स्थान सुषुप्ति का स्थान है, वहाँ अज्ञान लक्षण वाली निद्रा— केवल इतना ही विपर्यास है। 'अतस्तयोः कार्यकारणस्थानयोरन्यथाग्रहणाग्रहणलक्षणविपर्यासे कार्यकारणबन्धरूपे परमार्थतत्त्वप्रतिबोधतः क्षीणे तुरीयं पदमश्नुते।' ये दोनों कार्य और कारण स्थान वाले या रूप वाले हो गये। अन्यथाग्रहण और अग्रहण इसका लक्षण हो गया। एक कार्य रूप से और एक कारण रूप से बाँधता है। जब परमार्थ तत्त्व का ज्ञान हो जाता है तो ये दोनों ही बंधन नष्ट हो जाते हैं ये काम नहीं करेंगे, क्योंकि जब अधिष्ठान को जान लिया तो न अग्रहण और न अन्यथा ग्रहण तंग कर सकते हैं। तब तुरीय पद को प्राप्त कर लेता है। यहाँ 'अश्नुते' पद का प्रयोग किया। 'अश्नुते' का अर्थ असली है 'व्याप्नोति' व्याप्त करता है। इसलिये उस तुरीय अवस्था के अन्दर वह व्यापक भाव को प्राप्त कर लेता है। अर्थात् देश-काल-वस्तु तीनों परिच्छेदों से रहित हो जाता है। 'तदोभयलक्षणं बन्धरूपं तत्रापश्यंस्तुरीये निश्चितो भवतीत्यर्थः' इस प्रकार उभय-लक्षण जो बंधरूप है उसे वहाँ नहीं देखते हुए तुरीय के विषय में निश्चय हो जाता है, उसका निश्चय दृढ हो जाता है, विपर्यास नष्ट हो जाता है।।१५।।

●

अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते।
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा ।।१६।।

पंद्रहवें श्लोक में बताया 'तयोः क्षीणे विपर्यासे तुरीयं पदमश्नुते' जब जाग्रत् और स्वप्न में होने वाले तत्त्व का अन्यथाग्रहण और सुषुप्ति में होने वाले तत्त्व का अग्रहण या अज्ञान, दोनों विपर्यास यानी विपरीत ज्ञान नष्ट हो जाते हैं तब तुरीय की प्राप्ति होती है। अब वह तत्त्व का प्रतिबोध विपर्यास के क्षय का हेतु कब होता है— यह शंका मन में उठती है, उसका जवाब देते हैं।

'यदा' का अर्थ यहाँ 'यस्याम् अवस्थायाम्' ग्रहण करना 'यस्मिन् काले' नहीं, क्योंकि जिस क्षण ज्ञान होता है उसके बाद तो कालातीत अवस्था है, ज्ञान के बाद काल नहीं रहता है। जिस प्रकार जिसने सिनेमा को ठीक से देख लिया है उसके लिये सिनेमा में काल नहीं है। फिल्म का निदेशक (Director) बीच बीच की फिल्म दिखाने को कह देता है। कभी कहता है 'जहाँ चोर को पकड़ने जा रहे हैं, वह दृश्य दिखाओ,' फिर कहता है 'जरा और पीछे की तरफ चलो, जहाँ चोर भागा था वह दिखाओ।' इसलिये सिनेमा में काल नहीं होता। या अपने यहाँ टेप रिकार्डर में ऐसा होता रहता है कि पहले वाला हिस्सा फिर से बजाकर देखें तो सही। इसी प्रकार सृष्टि के आदि क्षण में परमात्मा का जो अखण्ड संकल्प हुआ उस अखण्ड संकल्प को लेकर काल से अतीतावस्था है। उस अखण्ड को नहीं देखोगे तब तक काल है। उस अखण्ड को देखने के बाद काल नहीं, कालातीत अवस्था है। ज्ञान होने के प्रथम क्षण में काल से परिच्छिन्न अवस्था है क्योंकि जब तक अंतःकरण है तब तक मन है और तब तक बिना काल के हम कुछ सोच ही नहीं सकते। प्रधान रूप से इसीलिये उपनिषदों में जगत्कारण बताते हुए प्रजापति को संवत्सर रूप ही बताया है। संवत्सर ही हमारे यहाँ काल का प्रतीक है। काल को ही प्रधान कारण बताया। जहाँ निषेध करना होता है वहाँ भी सबसे पहले काल की कारणता का ही निषेध करते हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी 'कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा' में काल को बताकर निषेध किया। इस माण्डूक्य कारिका में भी थोड़े श्लोक पहले जहाँ कारणता का निषेध किया था वहाँ सबसे पहले काल को ही लिया था 'कालात्प्रसूतिं भूतानां मन्यन्ते कालचिन्तकाः।' मन बिना काल के कभी भी नहीं सोच सकता। ज्ञान के बाद कालातीत अवस्था और ज्ञान के पूर्व क्षण में काल से परिच्छिन्न अवस्था है।

अब ज्ञान वाले क्षण को क्या कहा जाये? क्षण का मतलब यहाँ केवल सेकेण्ड या आधा सेकेण्ड नहीं समझना, चूँकि वेदान्त के अन्दर हर चीज में सापेक्षवाद है। इसलिये क्षण कितना लम्बा होगा यह इस पर निर्भर करता है कि काल का परिमाण कितना लम्बा है। लोक में भी यही बात है। कहीं पर तुम साल भर रहकर जाते हो तो तुम यह कहते हो कि यहाँ साल भर रहे। कोई कहे 'नहीं जी, आप तेरह तारीख को बारह बजे आये थे और बारह तारीख को एक बजे जा रहे हो इसलिये एक साल और एक घण्टा रहे,'

तो लोग हँस पड़ेंगे। साल भर रहने के बाद एक घण्टे को गिना नहीं जा सकता। इसलिये वहाँ एक घण्टा क्षण जैसा ही है। उसकी गिनती नहीं। और किसी से मिलने के लिये गये, उसने तुम्हें दस मिनट का समय दिया था लेकिन वहाँ जाकर उसने एक घण्टा बात कर ली तो तुम कहते हो 'उन्होंने बड़ी कृपा करके हमें बहुत समय दिया?' वहाँ एक घण्टा बड़ा लम्बा काल हो गया क्योंकि दस मिनट की तुलना में छह गुना ज्यादा समय दे दिया। वहाँ नहीं कह सकते कि क्षणभर ही बात की थी। इसलिये वेदांत का सापेक्षवाद कहता है कि क्षण इस पर निर्भर करेगा कि काल का परिमाण क्या है। भगवान् भाष्यकार ने छांदोग्य उपनिषद् में जीवन्मुक्ति प्रकरण में इस पर विचार किया। अनादिकाल से हम काल में पड़े हुए हैं, यह भी बहुत लम्बा समय है, न जाने कब से पड़े हुए हैं। ज्ञानोत्तर काल में अनंतकाल तक हमें कालातीत अवस्था में रहना है, यदि काल वाले की दृष्टि से कहना चाहो तो यह कह सकते हो। केवल ज्ञान का क्षण तदनुकूल ही है। इसलिये किसी की दस साल तक ज्ञान की स्थिति, किसी की तीन साल तक और किसी की दो चार महीने तक भी ज्ञान की स्थिति रह सकती है। इस दृष्टि से वह सारा का सारा क्षण ही हुआ। यहाँ क्षण वह हुआ जब अंतःकरण में से काल के संस्कार नहीं धुले हैं और ब्रह्म की वृत्ति के कारण कालातीत के संस्कार भी पड़े हुए हैं। इसलिये अंतःकरण में दो विपरीत संस्कार बने रहते हैं— प्राचीन संस्कार काल परिच्छिन्नता के और नवीन संस्कार कालातीत के। जब तक अंतःकरण रहेगा तब तक यह ज्ञान की अवस्था बनी रहेगी। अंततोगत्वा जब अंतःकरण खत्म हो जायेगा- अंतःकरण खत्म होने को ही संसारके लोग कहेंगे कि मर गया--- तब वास्तविक कालातीत अवस्था हो जायेगी। अभी तो जब तक अंतःकरण की प्रतीति है तब तक दोनों संस्कार पड़ते रहेंगे। प्राचीन काल के संस्कार उद्बुद्ध होंगे तो कालपरिच्छिन्नता का बोध होगा।

इसी दृष्टि से ज्ञानी जब संसार का व्यवहार करता है तो उसे हमेशा हँसी आती है क्योंकि व्यवहार करते समय वह यह कहेगा भी 'मैं तुमसे कल मिलूँगा' और कहते हुए ही उसे हँसी आती है कि कल तो अभी ही है। 'कल मिलूँगा' का मतलब क्या है? कल कोई आने वाली चीज थोड़े ही है, मन की एक संकल्पना (conception) ही तो है। व्यवहार करते हुए ही उसे बाध का अनुभव होता है, वही उसे जीवन्मुक्ति का आनंद देता है। लोग सोचते हैं कि जीवन्मुक्ति में क्या आनंद होता होगा। जीवन्मुक्ति का आनंद हर समय रसगुल्ला खाने का ही मिलता हो, ऐसा नहीं है। उसको तो केवल जो यह एक तरह का विरोधाभास (contradiction) है, उसपर हँसी आती है। संसार में मनुष्य को कोई भी अच्छा मजाक सुनाओ तो वह जितना ठठाकर हँसता है, उतना मजा रसगुल्ला खाकर भी नहीं आता; बड़े से बड़ा सुख होने पर भी उतनी प्रसन्नता नहीं होती जो एक मजाक को सुनकर होती है, इसमें एक विरोधाभास की प्रतीति होती है। कोई आदमी खूब स्टार्च लगा हुआ पैण्ट कोट पहने हुए, टाई पहने हुए, ठाठ से छाती निकाले हुए,

जूता भी खूब चमचम करता हुआ पालिश किया हुआ पहने हुए जा रहा हो और केले के छिलके पर उसका पैर पड़कर वह धड़ाम से गिर पड़े तो देखने वाले को हँसी आ जाती है क्योंकि विरोधाभास है कि एक तरफ तो उसके अंदर इतना अभिमान और एक तरफ देखो मनुष्य कितना कमजोर है। यह विरोधाभास ही हँसी का कारण बनता है। जितने मजाक होते हैं यदि उनके हृदय में घुसो तो वह विरोधाभास ही है जिससे हँसी आयेगी। कोई वृद्ध लट्ठी टेकर रास्ता न देखते हुए चल रहा है और अकस्मात् गिर पड़ता तो उसके गिरने पर किसी को हँसी नहीं आयेगी, उसकी मदद करने को आदमी दौड़ता है और छाती में चोट लगती है कि बेचारे को चोट लग गई। ज्ञानी को प्रतिक्षण इस विरोधाभास का आनंद आता रहता है क्योंकि वह देखता है कि वास्तविकता क्या है और हो क्या रहा है। अपने देह मन में भी और दूसरों के देह मन में भी वह विरोधाभास उसके अन्दर एक अद्भुत आनंद को पैदा करता रहता है। इसी को ज्ञानकाल कहते हैं क्योंकि दोनों (पूर्वोत्तर क्षण) उसके सामने हैं। इसलिये उसका नाम जीवन्मुक्ति रख दिया। मुक्ति का मतलब है कि शरीर आदि बंधन से, अंतःकरण से निवृत्त होना चाहिये, और जीवन का मतलब हुआ शरीर मन में बैठकर अनुभव करना। इसलिये ज्ञान काल में जीवन भी है और मुक्ति भी है। यही विरोधाभास हो गया। इसलिये इस कालवाचक यदा शब्द को लेकर ज्ञान काल को हम लोग काल न कहकर अवस्था कहते हैं क्योंकि काल कहने से फिर कालपरिच्छिन्न या कालातीत दोनों मानो और ये दोनों लक्षण वहाँ जाते नहीं। इसलिये उसे हम स्थिति कहते हैं।

जिस स्थिति में 'अनादिमायया सुप्तः जीवः' के द्वारा जीव का स्वरूप बता दिया कि जीव अनादि माया से सोया हुआ है। अनादि का मतलब क्या है? अनादि भी वस्तुतः कालवाचक शब्द नहीं है क्योंकि आगे स्वयं भगवान् गौडपादाचार्य ही एक कारिका में कहेंगे 'आदिर्न विद्यते यस्य तस्य ह्यादिर्न विद्यते' (४-२३)। 'आदिः कारणम्,' लोक में भी आदि शब्द कारण में प्रसिद्ध है। अंग्रेजी में भी कहते हैं कि इस चीज का आदि (origin) क्या है अर्थात् कारण क्या है। अनादि का मतलब कारणरहित है। माया का कोई कारण नहीं है। माया है परमेश्वर की शक्ति। शक्ति का मतलब है कि कार्य देखकर जिसका अनुमान किया जाये। इसीलिये भगवान् भाष्यकार लिखते हैं 'कार्यानुमेया' कार्य के द्वारा ही उसका अनुमान किया जाता है। अब जो स्वयं ही कार्य के द्वारा अनुमित हो, उसके कारण का प्रश्न ही बेकार हो जायेगा।

यह थोड़ा सा कठिन है लेकिन आगे यह विषय आयेगा, इसलिये अभी समझोगे तो आगे का ग्रन्थ स्पष्ट होगा। किसी चीज को देखने पर उसके कारण की जिज्ञासा होती है। कोई चीज देखोगे तभी तो कारण पूछोगे। किसी बाँझ के लड़के के जन्म की तारीख तो नहीं पूछते हैं क्योंकि जहाँ लड़का दीख ही नहीं रहा है उसका जन्मदिन क्यों पूछोगे! इसलिये किसी भी चीज का अनुभव होने पर उसके कारण की जिज्ञासा होती है। संसार

रूपी कार्य को देखकर जिज्ञासा होती है कि इसका कारण क्या है? जितने सम्भव कारण हम सोच सकते हैं, उनमें से कोई जगत् का कारण विवेकी के सामने ठहरता नहीं, सबमें दोष मिलता है। जब सब में दोष मिलता है तब उसे यह मानना पड़ता है कि इसके कारण को हम नहीं बता सकते। लेकिन जगत् उत्पन्न होता है तो जरूर किसी कारण से उत्पन्न होता है अर्थात् जगत् में उत्पन्न होने की शक्ति है, यही मानना पड़ेगा और कोई उपाय नहीं है। शक्ति का मतलब यहाँ ऊर्जा (energy) नहीं समझना। यदि समझना चाहो तो समझना कि यदि कहीं गतिज ऊर्जा (kinetic energy) है तो स्थितिज ऊर्जा (potential energy) रही होगी, यह समझने के लिये पीछे की तरफ जाना पड़ेगा, इसलिये शक्ति कार्य के द्वारा अनुमेय है। शक्ति प्रत्यक्ष का विषय नहीं। आगे प्रश्न ही नहीं बनता कि शक्ति का क्या कारण है? कार्य की अन्यथा अनुपपत्ति जब मान गये तो उसके लिये आगे क्या कारण ढूँढोगे? वह स्वयं ही सबका कारण है। जब हम कहते हैं कि माया का कोई कारण नहीं है, माया की आदिता नहीं है तो कई बार लोगों को लगता है कि माया कभी तो पैदा होती होगी, आपको पता नहीं है। लोग प्रमातृ-दोष मानते हैं। शक्ति का कोई कारण जरूर होगा या इसका आदि जरूर होगा, पता नहीं है ऐसा वे समझते हैं। अनादिता प्रमातृगत दोष नहीं। पदार्थों के स्वरूप को बता रहे हैं। जैसे कोई पूछे कि 'हवा का क्या रंग है?' हम जवाब देते हैं कि हवा का रंग नहीं है। अगर पूछने वाला इसका मतलब यह सोचे कि इनकी आँख कमजोर है, इनको वायु में रंग नहीं दीख रहा है तो उसकी सोच गलत है। हम यह सत्य बात कह रहे हैं, जहाँ जो चीज नहीं है उसका निषेध सत्य हुआ करता है। इसी प्रकार माया का कारण या माया की आदिता नहीं है, इसका मतलब यह नहीं कि हमको पता नहीं लगा। हमको पता है कि उसकी आदिता है ही नहीं। कई बार लोग कह देते हैं कि माया की आदिता का पता नहीं लगा इसलिये अनादिता मानो लेकिन नहीं पता लगा तो आगे ढूँढो। पता नहीं लगा का मतलब ही है कि उसकी आदिता है। इसलिये हम यह नहीं कहते कि पता नहीं लगा, बल्कि यह कि उसका आदि है ही नहीं। वह अनादि अर्थात् कारणरहित शक्ति है। कार्य दीख रहा है इसलिये यह मानना पड़ता है कि शक्ति अवश्य है नहीं तो कार्य उत्पन्न कहाँ से होता? यही जीव का लक्षण हुआ जो अनादि माया से सुप्त है।

वह 'प्रबुध्यते' उठता है अर्थात् उठाया जाता है। जब तक कोई उठाये नहीं तब तक सोया व्यक्ति उठेगा कैसे। जहाँ स्वयं उठता है वहाँ भी उसका कारण स्वप्न सुषुप्ति के प्रारब्ध की समाप्ति और जाग्रत् के प्रारब्ध की उदयरूपता है। देखने को लगता है कि स्वयं उठा लेकिन कई बार तो संकल्प के कारण उठता है। अधिकतर तो मनुष्य के मन में किसी कार्य का संकल्प होता है कि यह काम मुझे करना है, इसलिये उठता है। कदाचित् उठने का कारण अभ्यास भी होता है। उसमें भी है कि सवेरे तीन बजे उठने का अभ्यास है तो उठता है। रेल में चल रहे हैं, तीन बजे उठने का कोई प्रयोजन नहीं

लेकिन फिर भी तीन बजे के बाद नींद नहीं आयेगी, इधर से उधर पसवारे पलटता रहेगा। जहाँ ये दोनों नहीं हों, वहाँ मानना पड़ता है कि सुषुप्ति स्वप्न के प्रारब्ध की समाप्ति होकर जाग्रत् का प्रारब्ध उदय हो गया तो आदमी जाग गया। कई कारण हो सकते हैं। हर हालत में सोया हुआ प्राणी किसी न किसी कारण से उठेगा, बिना कारण नहीं।

वैसे ही यहाँ जब मनुष्य को तत्त्वज्ञान होगा तो किसी न किसी के कराने से ही होगा, स्वयं नहीं। तत्त्वज्ञान अपने अन्दर से कभी नहीं होगा, कोई न कोई निमित्त बनेगा। यह जरूरी नहीं कि हमेशा शब्द ही निमित्त हो लेकिन किसी न किसी प्रकार से नवीन ज्ञान का संचार आयेगा। मन के द्वारा भी संचार आता है। अति प्राचीन काल में यही प्रधान था। इसीलिये 'मौनव्याख्याप्रकटितपरब्रह्मतत्त्वम्' मौन के द्वारा परब्रह्म तत्त्व को प्रकट किया जाता है। मौन का मतलब चुप बैठना नहीं। आजकल लोग समझते हैं मौन मायने मुँह बंद कर देना। उसे भगवान् भाष्यकार मूर्खों का मौन कहते हैं 'गिरा मौनं तु बालानां प्रयुक्तं ब्रह्मवादिभिः' बच्चा शोर मचाये तो कहते हैं 'चुप बैठ जा।' इसी प्रकार जब शुरू का साधक बकर बकर करता है तो कहते हैं 'तीन दिन का मौन रखो।' इसलिये यह मौन मूर्खों के लिये है। मौन का मतलब है 'मुनेर्भावः मौनम्' संस्कृत में मुनि अर्थात् मनन करने वाला उसका जो भाव है उसे मौन कहते हैं। अपने मन के द्वारा दूसरे के मन में प्रविष्ट होकर ज्ञान का प्रवेश कराना मौन है। तभी कहा 'प्रकटितपरब्रह्मतत्त्वम्।' मौन तो कोई भी बैठता है, बहुत से प्राणी मौन बैठते हैं, उनके पास जाओगे तो ज्ञान नहीं होगा। कई बार लोग कहते हैं कि गुरु कुछ नहीं करता है, हम गये हमें ज्ञान हो गया। ऐसा नहीं होता है। कई बार ऐसा अनुभव करोगे कि तुम्हारे मन में चार शंकायें रखी हैं और तुम किसी महापुरुष के पास चले गये। वहाँ तुमसे कोई बात भी नहीं करता, हो सकता है वे किसी काम में मशगूल थे या हो सकता है कि किसी दूसरे विषय में बातचीत कर रहे हों, तुमसे कोई बातचीत नहीं हुई, लेकिन वहाँ बैठे बैठे तुम्हारी दो तीन शंकाओं का जवाब आ गया। कई बार आश्चर्य होता है कि वहाँ गये थे, उन्होंने कहा कुछ नहीं लेकिन शंका का जवाब हो गया! तुमको लगता है कि कुछ नहीं कहा लेकिन तुम्हारे मन से उन्होंने शंका ग्रहण करके मन में ही उसके जवाब का संचार कर दिया। यह मौन व्याख्या है।

उसकी अपेक्षा फिर 'दीक्षां मे दिश चाक्षुषीं सकरुणाम्' दूसरा प्रकार भगवान् भाष्यकारों ने कहा कि आँख के द्वारा आँख में प्रविष्ट होकर जीव को ज्ञान दिया जाता है। भगवान् भाष्यकारों की प्रधान रूप से चाक्षुषी दीक्षा थी। जगह जगह उन्होंने उसका ज्यादा प्रयोग किया है। उसी का वर्णन भी ज्यादा करते हैं। जब मनुष्य का मन स्थूल हो जाता है तो उसमें स्पन्दन देने से तत्त्व-निष्ठा नहीं हो पाती, इसलिये फिर चक्षु का आधार लेना पड़ता है। इसी में पहले आया था 'दक्षिणाक्षिमुखे विश्वः' उस विश्व के द्वारा ही प्रवेश होता है। महाभारत में सुलभा और जनक का संवाद इसी प्रकार हुआ

था। सुलभा ने नेत्र के द्वारा जनक के अन्दर प्रवेश करके वहीं जनक से वार्ता की है, बाहर नहीं। उसके बाद फिर स्थूल शब्द का प्रयोग आता है। कुछ लोगों का यह कहना है कि स्पार्शी के बाद शाब्दी दीक्षा आती है और अधिकतर लोगों का तथा वेदांत के अन्दर सिद्धान्त है कि पहले शाब्दी और तब स्पार्शी है। स्पर्श के द्वारा भी दूसरे में ज्ञान का प्रवेश कराया जाता है और शब्द के द्वारा भी। यह कुछ ऐसा भेद है कि कुछ लोग मानते हैं कि स्पर्श प्रधान है और शब्द उसके बाद है और कुछ मानते हैं कि शब्द प्रधान और स्पर्श उसके बाद। हमको ऐसा लगता है कि इसका कुछ सम्बन्ध प्रत्येक व्यक्ति के संस्कार के साथ है क्योंकि हम लोग भी जब इसका प्रयोग करके देखते हैं तो यह पाते हैं कि जिनकी तो मन की चेतना अधिक होती है उनको स्पर्श ज्ञान जल्दी होता है और जिनकी बुद्धि की चेतना अधिक होती है उन्हें शाब्द ज्ञान जल्दी होता है। लेकिन हर हालत में इन कई प्रकारों में से किसी न किसी प्रकार से जब तक ज्ञान का उद्बोधन नहीं होगा, वह उद्बुद्ध नहीं होगा। किसी भी प्रकार से उद्बोधन हो, उठेगा तो ज्ञान खुद ही लेकिन बिना उठाये नहीं उठता। इसलिये कहा 'प्रबुध्यते'।

भगवान् भाष्यकार दूसरी जगह कहते हैं कि जैसे कीचड़ में फँसा व्यक्ति कीचड़ से निकलेगा लेकिन कोई न कोई सहारा उसे मिलेगा तब, क्योंकि कीचड़ के अन्दर तो जितना पैर मारेगा उतना और फँसेगा, निकल नहीं सकता। इसी प्रकार इस संसार के कीचड़ से निकलने का प्रयत्न अहम् को लेकर करोगे और वह अहम् ही बंधन है। इसलिये जितना छूटने के लिये हाथ पैर मारते चले जाओ उतना अहम् ही बढ़ता चला जाता है। इसलिये जब तक वह अहम् छूटे नहीं तब तक काम नहीं होता। इसीलिये अन्य के सहारे की आवश्यकता पड़ती है क्योंकि उस सहारे से अहम् छूट जाता है। क्यों हमारे शास्त्र सवेरे से शाम तक जीवन भर की सब चर्या बताते थे? कारण यह है कि अहम् से यदि हम प्रवृत्ति करेंगे तो हमारा अहंकार बढ़ेगा। शास्त्र कहता है 'ब्राह्मे मुहूर्त्ते चोत्थाय' ब्रह्म मुहूर्त में उठो। इसमें यह नहीं कि मैं उठ रहा हूँ बल्कि यह भावना है कि शास्त्र कह रहा है, इसलिये मुझे उठना है। तब अहम् नहीं बढ़ेगा। शास्त्र कहता है कि ब्राह्मण को अध्ययन अध्यापन करना चाहिये, इसलिये करते हो तो अपना अहम् नहीं बढ़ेगा। मैं बुद्धिमान् हूँ, पढ़ा लिखा हूँ, इसलिये मैं अध्ययन अध्यापन करूँगा, तब मैं ब्राह्मण हो गया, यह अहम् हो गया कि अपने आपको माना कि मैं योग्य हूँ। शास्त्र कहता है कि मैं क्षत्रिय हूँ इसलिये मुझे क्षत्रिय का काम करना है तब तो अहम् घटेगा और मैं बड़ा बहादुर हूँ, कसरत करता हूँ, बंदूक चला सकता हूँ इसलिये मुझे क्षत्रिय का काम करना है, तो अहम् बढ़ेगा।

जितनी शास्त्रीय मर्यादायें हैं ये हमारे अन्दर से इस अहम् को हटाने के लिये हैं। ऐसा नहीं कि ये केवल सामाजिक व्यवस्था हों। लोग समझते हैं कि वर्णाश्रम व्यवस्था केवल सामाजिक है। आगे तीसरे अध्याय में कहेंगे 'आश्रमास्त्रिविधा हीनमध्यमोत्कृष्ट-

दृष्टयः'। वर्णाश्रमव्यवस्था केवल सामाजिक चीज नहीं है। सामाजिक विभाजन तो संसार में सब जगह है। जहाँ विभाजन रहित कहते हो वहाँ भी रेड आर्मी, कोआपरेटिव मैनेजर इत्यादि विभाग हैं ही। वहाँ भी जो साइबीरिया के अन्दर भेज दिये जाते हैं वे हरिजन ही हैं, ऐसा नहीं कि वहाँ हरिजन हैं ही नहीं। इसलिये समाज की व्यवस्था और समाज व्यवस्था को चलाने वाले तो सभी जगह हैं। उससे वर्णाश्रम व्यवस्था में कोई विलक्षणता नहीं आती। बचपन में सब जगह लोग पढ़ते हैं, जवानी में सभी काम करते हैं और बुढ़ापे में सब रिटायर होते हैं। सिर्फ समाज चलाने के लिये वर्ण-आश्रम की व्यवस्था करने की आवश्यकता क्या थी, इतनी मर्यादायें बनाना बेकार था; यह तो सर्वत्र सहज स्वाभाविक है। अतः वर्ण-आश्रम व्यवस्था यह बताने के लिये है कि हम अहंतापूर्वक कर्म न करें। जब हम नियत कर्म में प्रवृत्त होते हैं तो हमारी अहंता बढ़ नहीं सकती क्योंकि वह प्रश्न ही सामने नहीं आता। स्वयं अपने आप प्रयत्न करने में चूँकि प्रयत्न करने वाले का अहम् बढ़ता है, इसलिये उससे कभी निकल नहीं सकते। जब हम दूसरे के अनुसार चल रहे हैं तो फिर उस अहम् को बढ़ने का मौका नहीं मिलता। तभी उससे निकल सकते हैं। इसीलिये कहा 'प्रबुध्यते'। नहीं तो और किसी शब्द का प्रयोग कर लेते।

जब ऐसा होता है तो क्या होता है? जब उसे जगाया गया, कहा गया कि तू ब्रह्मरूप कालातीत साक्षी है, तब अनादि माया से जगा तो जगने के साथ ही जानता है 'अजम् अनिद्रम् अस्वप्नम् अद्वैतम्'। सद्यः बोध होता है कि मैं जन्मरहित हूँ। ऐसा क्यों होता है? यह विचार करना कि जन्म शब्द का अर्थ क्या है? जो चीज पहले न हो और फिर होवे उसका नाम जन्म है, उसी को प्रादुर्भाव कहते हो। जो चीज पहले से ही हो उसका जन्म थोड़े ही कहते हो! आकाश का जन्म कोई नहीं कहता क्योंकि पहले से ही है। अब मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, क्योंकि यही उसे तत्त्वमसि से प्रबोध कराया कि तू ब्रह्म ही है। ज्ञान के जन्म का मतलब हुआ कि पहले ज्ञान न हो और फिर पैदा हो। पहले ज्ञान नहीं था इस बात का ज्ञान है या नहीं? यदि पहले ज्ञान नहीं था इस बात का ज्ञान है तो ज्ञानरूप वहाँ तुम थे, तब तुम्हें पता है कि वहाँ ज्ञान नहीं था। ज्ञान तो फिर भी रह गया। और यदि कहते हो कि ऐसा नहीं, पता नहीं था कि वहाँ ज्ञान है, तो फिर कैसे कहते हो कि वहाँ ज्ञान नहीं था? ज्ञान नहीं था अर्थात् पारिभाषिक भाषा में ज्ञान का प्रागभाव कभी सिद्ध कर ही नहीं सकते, अंधविश्वास से मान लो तो बात दूसरी है। इसीलिये मेरा जन्म नहीं हो सकता। तुमने देखा मेरे शरीर का जन्म, उसको मैं मना नहीं कर रहा हूँ। मेरे को तो तुमने आज तक देखा नहीं। तुमने मेरा शरीर और मेरे शरीर से होने वाली क्रियाओं को देखा। मेरे को तुमने देखा नहीं, फिर तुम तो कह नहीं सकते कि मेरा जन्म हुआ या नहीं।

मैं ही अपने आप का अनुभव कर रहा हूँ। इसलिये मैं हूँ, इसमें प्रमाण मैं, बाकी दुनिया की बात हम नहीं कर रहे हैं, केवल अपनी बात कर रहे हैं। मैं हूँ इस विषय

में सिवाय मेरे और कोई प्रमाण नहीं। बाकी यदि कोई कहता है तो धोखाधड़ी है। एक बार दक्षिण भारत में मोपला विद्रोह हुआ, केरल में नेपाल की सेना भेज दी गई। उन्होंने आन्दोलनकारियों को बुरी तरह से मारा। वहाँ इतनी लाशें गिरीं कि सोचा गया सबको ले जाकर जला देना चाहिये नहीं तो हल्ला मचेगा। उन लाशों को मालगाड़ी में भरकर, अर्नाकुलम में जहाँ बहुत गड्ढे थे, जाकर डाल देते थे और पेट्रोल छिड़क कर सबको जला देते थे। ऊपर से ऐसे ही निर्देश थे। वहाँ से अर्नाकुलम पहुँचने में दो तीन दिन लग जाते थे क्योंकि मालगाड़ियों में लाशें भेजी जाती थीं। वे तो सबको मरा हुआ समझ कर भेज देते थे। उनमें से कई जीवित भी होते थे। डाक्टरों ने जल्दी से देखा और मरा हुआ कहकर भेज दिया। वहाँ जब मालगाड़ी खोलते थे तो दो-चार ऐसे निकलते थे जो कहते थे 'मेरे को मत जलाओ मैं जिन्दा हूँ।' अब फौज तो फौज रही; फौजी कहे 'एक हजार रुपया महीना पाने वाले सिविल सर्जन का सर्टिफिकेट है कि तू मर गया है, उसकी बात मानें या तुझ मूर्ख की बात मानें?' यह कहकर उसको भी आग में झोंक देते थे! डाक्टर का सर्टिफिकेट ही ठीक हुआ! लेकिन 'मैं हूँ' इस विषय में किसी भी सिविल सर्जन का सर्टिफिकेट काम नहीं कर सकता। यह नहीं कि वह मरा हुआ था, क्योंकि 'मैं हूँ' इसका प्रत्यक्ष-ज्ञान सिवाय मैं के और कहीं नहीं। बाकी जगह तो अनुमान लगाते हैं। जिसको तुम कभी नहीं जानते उसके जन्म की बात तुम नहीं कर सकते। यदि मैं कहता हूँ कि मेरा जन्म हुआ तो इसका मतलब हुआ कि मैं उस काल के पहले नहीं था, इस बात का ज्ञान मेरे को है। यदि यह ज्ञान था तो मैं वहाँ था ही। इसलिये जैसे ही मनुष्य को अपने स्वरूप का ज्ञान होता है, वह जानता है कि मैं सर्वथा जन्म रहित हूँ। मेरा जन्म असम्भव है, मैं कभी भी उत्पन्न नहीं हुआ। मैं तो नित्य हूँ।

मुझे पहले तत्त्वज्ञान नहीं था और अब हो गया, ऐसी बात नहीं है। जब मैं अपने आपको अज्ञानी समझ रहा था तब भी ज्ञानस्वरूप तो मैं ही था, और कौन था? मैं अज्ञानी हूँ इस बात को मैं ही प्रकाशित कर रहा था। मैं ही जान रहा था या दूसरा? कई बार ऐसा होता है कि बहुत बड़ा विद्वान् है और चुप चाप बैठा हुआ है। दूसरा समझता है कि मूर्ख है। एक बार बहुत बड़ा मूदड़ा केस हुआ था। वह बीकानेर का आदमी था। उसने कुछ रुपयों का गमन किया था। एक जगह बैठे हुए थे, बातें हो रही थीं कि किस किस प्रकार से क्या क्या हुआ। एक व्यक्ति बड़े विस्तार से सारी बातें बता रहा था। हम लोग भी बीच बीच में बड़ी रुचि से पूछते रहे। जब वह सुना-सुनू कर चला गया तो दूसरे एक सज्जन वहाँ बैठे रहे। थोड़ी देर बाद बाकी लोग भी सब चले गये थे, हम पाँच-चार लोग अकेले हो गये तो वह सज्जन कहने लगे 'वह जितनी बातें बता गया है, सब उसने झूठी कही हैं, उसमें एक भी बात सच्ची नहीं।' किसी ने कहा कि उसको कुछ पता लगा होगा तभी कहता होगा। तब उन्होंने कहा 'मैं उस समय स्टेट बैंक का मैनेजिंग डायरेक्टर था, उसकी सारी फाइल मेरे हाथ से निकली हुई है, मेरे मार्फत ही

सारा काम हुआ था। इसलिये उन्होंने जितनी बातें कहीं सब गलत थीं।' हमने कहा 'फिर आपने टोका क्यों नहीं?' उन्होंने कहा 'मैं क्यों टोकता? वह फिर आगे कुछ पूछता, मुझे बताना थोड़े ही है।' बाकी सब तो यह मानकर चले गये कि इस व्यक्ति के सिवाय किसी को कुछ पता नहीं और जिसको पता था वह बेवकूफ के जैसे बैठे रहे! अपना अज्ञान किसी दूसरे से प्रकाशित नहीं, अपने ही ज्ञान से प्रकाशित है। 'मैं अज्ञानी हूँ' इस बात को जानने वाला मैं ज्ञानस्वरूप ही तो हूँ। जब मैं अपने को अज्ञानी समझता था वास्तव में तब भी मैं अज्ञानी नहीं था। मैं ज्ञानरूप न होता तो इस अज्ञान को कौन जानता? उसका अनुभव यह नहीं है कि मैं अज्ञानी था अब ज्ञानी हो गया, बल्कि यह है कि मैं कभी अज्ञानी था ही नहीं।

'अस्वप्नम्' जो कुछ मैं स्वप्न में देख रहा था वह अन्यथाग्रहण था। वहाँ जो कुछ द्वैत ग्रहण कर रहे थे, वह द्वैत या अन्यथाग्रहण किस के कारण था? मन के कारण था, और किसी के कारण नहीं था। मन परिच्छिन्न था और मन की परिच्छिन्नता को लेकर ही मुझे लग रहा था कि मैं किसी दूसरे को देख रहा हूँ। परिच्छिन्नता कारण थी। यह जरा सूक्ष्म चीज है, ठीक से समझना। वेदांती एक बात कहता है जिसको बहुत से लोग केवल दार्शनिक दृष्टि से पकड़ते हैं कि व्यवस्था बनाता है। जब विषय का ज्ञान होता है तब होता क्या है? वेदांत का कहना है कि विषय का अधिष्ठान जो चेतन और अंतःकरण का अधिष्ठान जो चेतन, इन दोनों की एकता ही विषय का ज्ञान है। विषय के साथ अंतःकरण की वृत्ति एक हो जाती है। दोनों के चेतन की एकता है। यद्यपि यह एक दार्शनिक दृष्टि से सोच रहे हैं कि विषय का ज्ञान कैसा है तथापि इसका जीवन से सम्बन्ध है। भारत के साहित्य को पढ़ते समय हम लोग एक बड़ी भूल करते हैं कि यह मानकर चलते हैं कि जैसे विदेशी दार्शनिक वैसे ही हमारे दार्शनिक हैं। यह हम लोगों में बड़ा भ्रम है। इसी तरह मान बैठते हैं कि जैसे विदेशी धर्म, ऐसे ही हमारा धर्म है। इसलिये उनके धर्म में कोई खराबी है तो हमारे में भी जरूर होनी चाहिये! विदेशी दर्शनों के जो दार्शनिक हुए हैं वे बुद्धि और मन को सीकर एक नहीं करते। यह विचित्र चीज है। जैसे कैण्ट ने यह सिद्ध किया कि देश काल और कार्य-कारण-भाव गलत है। यह सिद्ध करने वाला कैण्ट ही फिर अपने Criticism of Modern Religion के अन्दर जर्मनी के बिस्मार्क को भी बहुत बड़ा मान लेता है! मानता है कि जर्मानिक स्टेट् परमेश्वर का अंतिम संकल्प है, उससे श्रेष्ठ कुछ नहीं! इन विरोधों को देखकर हँसी आती है कि बात तो ये बड़ी दर्शन की करते हैं और अंत में इन बातों पर उतर आते हैं। कारण यह है कि हृदय और मन एक नहीं हैं। मन उनका खिंचता है संसार की तरफ, बुद्धि की उड़ान भरते हैं लेकिन उड़ नहीं पाते इसलिये खिंचकर नीचे आ जाते हैं। जितने पाश्चात्य दर्शनों को देखो सबमें यही विरोध देखने में आता है। केवल ग्रीक फिलासफी के प्लाटो और साक्रिटीज को छोड़कर। नीत्शे को हमेशा बहम रहता था कि मेरा सिर काँच का बना हुआ है इसलिये

कहीं टक्कर लगकर टूट न जाये! सुपरमैन की थ्योरी लिखने वाला और इस प्रकार की कल्पनाओं में फँसा हुआ है!

एक बड़ी मजे की बात हुई थी जो द्वितीय विश्व महायुद्ध के तुरंत बाद की घटना है। डा. ब्राइटमैन संसार सत्यत्ववादी (Personalist School of Thought) थे। युद्ध के बाद अमरीका में फिलासफिकल कान्फ्रैन्स हुई। उसमें उनकी तरफ का सुझाव था कि जर्मन स्कालर्स को बुलाया जाये। आदर्शवादी विचारधारा (Idealistic School of Thought) वालों ने इसका विरोध किया कि वे तो हमारे दुश्मन हैं, उन्हें कैसे बुला लें? तब उन्होंने अपने वक्तव्य में लिखा कि 'मैं पर्सनलिस्ट हूँ, इसलिये मैं दुश्मनी मानूँ तो बात ठीक हो सकती है, तुम तो आदर्शवादी (Idealist) होकर सारे संसार को एक मानते हो और अभी तक तुम्हारी दुश्मनी की भावना नहीं गयी, यह क्या मुर्खता हुई!' वे लोग कहने लगे 'वह दूसरी बात है लेकिन दुश्मन तो दुश्मन ही है।' इसपर वह खूब हँसे। यह है दोनों के अन्दर सामरस्य का न होना।

हमारे जितने दार्शनिक थे, उनमें ऐसा कोई नहीं। उन्होंने चाहे गलत लिखा, चाहे ठीक, लेकिन साधना की भूमि पर जिस चीज को वे अपने अनुभव में नहीं लाये, वह कभी दूसरे को नहीं कहते थे। कई बार लोग हम लोगों से भी प्रश्न पूछ लेते हैं कि 'स्वामी जी आप अपना अनुभव बताइये।' वे ऐसा मानते हैं कि यदि हम कहें कि मैंने यह अनुभव किया तो मेरा अनुभव है और यदि कहें कि ऐसा होता है तो लगता है, मानो किसी दूसरे की बात कर रहे हैं। हम लोगों का कहना यह है कि जितनी बात का अनुभव न करो उसे कभी मुँह से उच्चरित ही न करो। पहले अनुभव में लाओ, फिर बोलो; नहीं तो मत बोलो। किताब तो रखी ही है, व्याकरण पढ़कर उसका अर्थ तो हम ही लगा लेंगे। लेकिन उसका जो विज्ञान, अनुभवपूर्ण अर्थ है, उसके लिये ही गुरु से सुनना है। अतः सुनायेंगे ही उस बात को जो अनुभव की हो। हमारे लेखक बार-बार 'मैं मैं' नहीं करते। जब वे किसी चीज को कहते हैं तो कहते बड़े युक्तिपूर्ण ढंग (Logical way) से हैं, लेकिन है उसके अन्दर उनका अनुभव ही।

प्रमाता चैतन्य और विषय चैतन्य की एकता यहाँ इस अनुभूति का आधार है जिसे यहाँ अस्वप्न कह रहे हैं। विचार की दृष्टि से देखते हैं तो केवल यह हो रहा है कि हमको एक ज्ञान हो रहा है जो घट रूप से प्रतीत होता है। अनुभव तो इतना ही है, इसके सिवाय और कोई अनुभव नहीं हो रहा है। मन का भी अनुभव हो नहीं रहा है। केवल अनुभव हो रहा है। उस अनुभव में एक प्रकार आया तो हम सोचते हैं कि यह मन का अनुभव है। बचपन से संस्कार डाल दिया गया है, और कुछ नहीं है। यह प्रत्यक्ष में तब समझ में आता है जब अंग्रेजी पढ़े लिखों के मानसिक अनुभव और संस्कृत पढ़ने वालों के अनुभव में अंतर देखते हैं। संस्कृत वालों को मानसिक और बौद्धिक अनुभव अलग अलग होते हैं क्योंकि बचपन से संस्कार पड़े हैं कि संकल्प-विकल्प मन का अनुभव

और निश्चय बुद्धि का अनुभव होता है। अंग्रेजी पढ़ने वाले को संस्कार पड़ा कि माइंड एजिटेट होता और डिटर्मिन करता है। इसलिये उन्हें अलग अलग अनुभूति नहीं होती, एक ही होती है। इसी प्रकार सर्वत्र समझना। जैसा बचपन से हमको समझने का अभ्यास डाल दिया गया है, वैसा ही अभ्यास रहता है। पहले हमारे यहाँ कोई मामी, कोई चाची, कोई ताई और कोई बुआ होती थी। अब यह सब कुछ नहीं होता, एक आंटी होती है। अब वह संस्कार हो गया। पुराने लोग जब कहते हैं 'यह तो तुम्हारी ताई थी, कुछ तो सोचते' हम कहते हैं कि तुमने पहले ही चाची और ताई को आण्टी कर रखा है तो उसके दिमाग में चाची या ताइ के भाव ही नहीं हैं। बाप से छोटी हुई चाची उससे व्यवहार दूसरा करना है, ताई बाप से बड़ी हुई तो उससे व्यवहार दूसरा करना है। जब आंटी का प्रयोग किया तो मन में वे संस्कार ही नहीं होने हैं। जैसे जैसे संस्कारों कीं अनुस्यूतता आती है वैसी ही हमारी सोचने की प्रकृति बनती है। यह स्वाभाविक है।

घटज्ञान हुआ, इतना तो अनुभव है कि हमको एक ज्ञान हुआ और उसमें हमको एक विशिष्ट आकार इत्यादि की प्रतीति हुई। अब उसके बाद देह-धारियों के संस्कार हैं। शरीर में आने का ही एक संस्कार है कि जैसे ही ज्ञान हो वैसे ही हम उसको ज्ञाता और ज्ञेय दो भागों में बाँटें। ज्ञानकाल में ज्ञाता ज्ञेय कुछ नहीं हैं। उसके बाद हमारे शरीर को लेकर जो संस्कार पड़ता है वह कहता है कि किसी ने जाना और किसी को जाना। किसी ने जाना इसको लेकर ज्ञाता और किसी को जाना उसको लेकर विषय या ज्ञेय है। जिसने जाना वह मन हुआ। ये सब संस्कार धीरे धीरे अपने अन्दर आये हुए हैं। इसको हम देह-धारियों के संस्कार इसलिये कहते हैं कि ये पशुओं में भी पाये जाते हैं। जैसे मन बुद्धि का हिन्दू का या भारतीय का संस्कार हुआ। ताई चाची का संस्कार भारतीय का हुआ, विदेशियों का नहीं। यह संस्कारों का, ज्ञाता और ज्ञेय का भेद प्राणिमात्र में, जीवमात्र में है, यह नहीं कि हिन्दू का है, मुसलमान का नहीं। ज्ञाता-ज्ञेय भेद है। ज्ञाता मन वाला है और मन शरीर में रहता है। ये सब संस्कार धीरे धीरे होते हैं। दूसरी तरफ जब हमने शरीर के अन्दर मन को माना तो शरीर से बाहर जितने हुए वे बाह्य विषय हो गये। उन बाह्य विषयों से किसी न किसी प्रकार हमारा सम्बन्ध हो तब ज्ञान हो। जो चीज़ बाहर हुई उसके साथ सम्बन्ध करना पड़ेगा। जैसे तमिलनाडू में हमें राजदूत नहीं भेजना पड़ता। बंगला देश के साथ यह सम्बन्ध करना पड़ता है क्योंकि बंगला देश बाहर और यह अन्दर है। अन्दर और बाहर की कल्पना ही है, क्योंकि सन् ४५ तक वे बाहर थे या अन्दर? बड़े बड़े क्रांतिकारी हुए बंगला देश में, वे सब कौन थे? क्या वे हमसे भिन्न थे या हम ही थे? तब कोई डिप्लोमेटिक रिलेशन नहीं था लेकिन जब वह सम्बन्ध कायम करना पड़ता है। वे भिन्न हो गये, यह कल्पना हो जाती है। विषय बाहर हुआ तो उससे सम्बन्ध कायम करने के लिये कोई न कोई तरीका होगा। उस तरीके के लिये किस की प्रवृत्ति मानें। विषय को तो जड मान रहे हैं। इसलिये विषय तो हमारे साथ

सम्बन्ध करने नहीं आ सकता क्योंकि बेचारा जड हुआ, हम से भिन्न हुआ। हम ही को उस विषय से सम्बन्ध कायम करना पड़ेगा। मन जाने वाला हुआ, वह जिस विषय में पहुँचा उस विषय का ज्ञान हुआ। यह हो गई सब आदमियों के सोचने की प्रक्रिया।

तत्त्वमसि आदि महावाक्य से जब पता लगा कि वह चेतनता ही सर्वव्यापक है तब पता लगा कि एक ज्ञान को ही तो हमने ज्ञाता-ज्ञेय भागों में बाँटा, था तो सर्वप्रथम घटज्ञान। उससे आगे ये जितने कदम उठाये, ये सब अज्ञान के कारण हैं। यह जो हमारे अन्दर बैठा दिया गया कि जहाँ ज्ञान है वहाँ कोई ज्ञाता-ज्ञेय है, बस उसके लिये हमको इतनी बड़ी कल्पना करनी पड़ी। वस्तुतः तो ज्ञानों का प्रवाह सतत चल रहा है। सम्भवतः बुद्ध यही कहना चाहते थे। 'सम्भवतः' इसलिये कि हम लोगों का सिद्धान्त यह है कि बुद्ध को समझने के लिये बौद्धों की मीमांसा ठीक हो सकती है, हमारी नहीं, क्योंकि वे उनकी शिष्यपरम्परा वाले हुए। लेकिन फिर भी समझने की दृष्टि से कह सकते हैं कि बुद्ध यह कहते हैं कि ज्ञान की परम्परा चलती है। उस ज्ञान को वे आत्मा नाम से कहते हैं। इसलिये आत्मा तो बदलने वाला हो गया क्योंकि ज्ञान की संतत परम्परा चल गई। उसी को वे विज्ञान-संतति कहते हैं। ज्ञेय और ज्ञाता कुछ नहीं है, केवल क्षणिक विज्ञान की परम्परा है। यह जितनी बात बुद्ध ने कही उसमें कोई चीज़ विरुद्ध नहीं, लेकिन वह क्या है जो निरंतर बह रहा है— इसका बुद्ध ने प्रतिपादन नहीं किया। जब कभी उनसे यह प्रश्न पूछा गया तो उन्होंने टाला' केवल एक बार उन्होंने रास्ते चलते आनंद से कहा। त्रिपिटक में यह कथा आती है। रास्ते चलते हुए आनंद ने पूछा तो उन्होंने कुछ सूखे पत्र हाथ में लिये और कहा 'आनंद! मेरे हाथ के पत्ते ज्यादा हैं या जंगल के पत्ते ज्यादा हैं?' आनंद ने कहा 'जंगल के ही ज्यादा हैं, इसमें क्या पूछना है!' तब वे बोले 'ऐसे ही जितना मैंने बताया है उससे बहुत ज्यादा ज्ञान मेरे पास है।' इस वाक्य से तो इतना ही हम कह सकते हैं कि हो सकता है कि जो बात उन्होंने नहीं बतायी थी वह यह नित्य ज्ञप्ति है, बताया चाहे जिस कारण से न हो लेकिन जितना उन्होंने कहा उतने से विरोध नहीं है। जितना उन्होंने कहा उसको उनके शिष्य लोग पूरा करने लगे। उनके शिष्य हैं इसलिये यह स्वाभाविक है। जब शिष्यों ने पूरा किया तो उन्होंने कहा कि जो उन्होंने नहीं कहा वह नहीं है। होता तो बताते ही।

ज्ञान का प्रवाह चल रहा है उसके अन्दर ज्ञाता और ज्ञेय, इस द्वैत की कल्पना की जा रही है, यही स्वप्न है। हमको जो प्रवाह प्रतीत हो रहा है उसमें द्वैत कहाँ है? जैसे समुद्र में लहरें प्रतीत हो रही हैं तो द्वैत थोड़े ही है; वैसे ही अखण्ड ज्ञान-समुद्र के अन्दर जगत् की प्रतीति होती है। वह अज्ञान नहीं है, अज्ञान तो वहाँ से शुरु हुआ जहाँ ज्ञाता-ज्ञेय को अलग करके चले। वास्तविकता तो एक ज्ञान-समुद्र के अन्दर केवल चैतन्य ही है। उस चैतन्य के अन्दर जब ज्ञान में दो भेद मान लिये तो उसी बात को दार्शनिक दृष्टि से कहने के लिये कहा प्रमाता चैतन्य और विषय चैतन्य। जानने वाला

और जिसको जान रहे हैं उसका अधिष्ठान चेतन एक होने से ज्ञान होता है। तात्पर्य यह है कि वह है एक, जब तक अज्ञान है तुम उसको दो मान रहे हो, और जहाँ एक मान लिया, काम हो गया अर्थात् अनुभव कर लिया। यही अद्वितीयता है, द्वैत को हटाना रूपी अद्वितीयता नहीं है। अद्वैत स्वरूप को बताता है। ऐसा नहीं की द्वैत है और उसको हमने हटाया। ऐसा नहीं कि यहाँ साँप था और हमने मंत्र जप करके, टोटका करके हटाया, ऐसा कुछ नहीं; साँप था ही नहीं। उसी प्रकार द्वैत था और हमने कुछ साधना करके हटाया, ऐसा कुछ नहीं है। द्वैत था ही नहीं। इसलिये 'बुध्यते तदा' उस अवस्था में इसको ज्ञान हो जाता है।

'अनादिमायया सुप्तः' परमात्मा ही तत्त्व के अग्रहण और अन्यथा ग्रहण के कारण जीवभाव को प्राप्त होता है। अब जीव का ही लक्षण ज़रा विस्तार से करते हैं। 'योऽयं संसारी जीवः' अयम् हमेशा प्रत्यक्ष का निर्देश करता है। हम लोगों को जो नित्य प्रत्यक्ष रहता है वह अपना जीवभाव ही है। वैसे जीव धातु का अर्थ प्राणन है। 'जीवति' अर्थात् प्राण चल रहा है। प्राण का भी जो वास्तविक अर्थ है उसे अंग्रेजी में ऐलान-वाइटल या लाइफ फोर्स कहते हैं। हम लोग गलती से समझ लेते हैं कि साँस प्राण है। प्राण शब्द संस्कृत में प्र पूर्वक अन् धातु से बना है। प्र उपसर्ग है जो शब्द से पहले लगाया जाता है जैसे प्रधान, प्रकृति आदि। शब्द अन है और यह भारोपीय शब्द है क्योंकि इस अन् धातु से ही जीवनार्थक एनिमल, एनिमेट इत्यादि शब्द बने। अन् धातु का अर्थ जीवन है। यह क्रिया को बताता है क्योंकि जीवन का लक्षण क्रिया है। लोक में भी वायु के अन्दर यह प्रसिद्ध इसलिये हुआ कि जब तक मनुष्य में जीवन है, वह प्राणन है, तब तक श्वास प्रश्वास की क्रिया अवश्य चलती है, बाकी क्रियायें चाहे न भी चलें। कई बार प्रश्न हो जाता है कि समाधि में क्या होता है, क्योंकि समाधि में प्राण की गति को रोक लिया जाता है। अपने यहाँ पंचप्राणों में उदान भी एक वायु है। आप लोगों में से बहुत से जब भोजन करते हैं तो पंचप्राणों को आहुति देते हैं 'ॐ प्राणाय स्वाहा, अपानाय स्वाहा, व्यानाय स्वाहा, उदानाय स्वाहा, समानाय स्वाहा।' यह प्रतिदिन भोजन के सामने करने का हवन है। इस हवन में किसी को कोई विरोध नहीं होता। कई लोग कहते हैं कि बाहर की अग्नि में अन्न इत्यादि की बरबादी होती है! लेकिन यहाँ तो अंदर वैश्वानर की अग्नि में डालना है। उन पंचप्राणों में उदान वायु भी आई। उदान वायु शरीर को खड़ा रखती है। यह भी प्राण की एक शक्ति है। जब हमको कभी कोई वज़नदार चीज़ बाल्टी इत्यादी उठानी पड़ती है तो सबसे पहला काम करते हैं साँस को अन्दर खींचकर रोक लेते हैं। वह उदान को शक्ति देने के लिये है। समाधि में यद्यपि हमको बाह्य प्राण की गति नहीं दीख रही है। तथापि सूक्ष्म उदान वहाँ यदि न हो तो समाधि में स्थिर बैठा नहीं रहा जा सकता। वहाँ प्राण की क्रिया प्रत्यक्ष है। कोई अगर समाधि लगाये और लुढ़क जाये तो उसे उठा ले जायेंगे क्योंकि समझ लेंगे कि मर गया। इसलिये

समाधि काल में भी जीवन शक्ति का परिचय देने वाला तो प्राण ही है। बाह्य चलने वाले प्राण से पता नहीं लगता लेकिन उदान रूपी प्राण से पता लगता है कि यह समाधि में बैठा हुआ है।

मनुष्य या प्राणिमात्र में यदि जीवन है तो उसमें क्रिया है। क्रिया ही जीवन की परिचायक है। यद्यपि यह ठीक है कि स्वयं जीवन का परिचय तो ज्ञान से मिलता है, मैं जीवित हूँ या नहीं इसका परिचय तो मुझे ज्ञान से मिल जायेगा तथापि जीवन को प्रकट करने का साधन क्रिया ही है। जहाँ जहाँ क्रिया है वहाँ उसके पीछे प्राणनशक्ति अवश्य है और प्राणन शक्ति हमेशा सप्रयोजन होती है। बिना किसी प्रयोजन या उद्देश्य के जीवन शक्ति नहीं चला करती। संस्कृतज्ञों में कहते हैं 'प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोपि न प्रवर्त्तते', बिना किसी प्रयोजन को सामने रखे हुए मूर्ख से मूर्ख व्यक्ति भी प्रवृत्ति नहीं करता। उसका प्रयोजन गलत हो सकता है, अथवा वह जिस प्रयोजन को चाहता है उसके अनुकूल साधन न जानने के कारण गलत साधन भी अपना सकता है, लेकिन प्रयोजन रहता अवश्य है। प्रयोजन के बिना यह सम्भव नहीं कि प्राणन क्रिया हो। यही जीवन में, ऐलानव्हाइटल या लाइफ फोर्स में और बाह्य क्रियाओं में फरक है।

आधुनिक वैज्ञानिक प्रयत्न यह करना चाहते हैं कि किस प्रकार हम जैविक ऊर्जा, लाइफ फोर्स को, बायालाजिकल ऐनर्जी को रिड्यूस कर सकें रासायनिक (कैमिकल) या भौतिक (फिज़िकल) ऐनर्जी में। वे चाहते हैं कि मनुष्य या प्राणी के जीवन (बायालाजिकल फंक्शनिंग) की व्याख्या (explain) रासायनिक प्रक्रिया (कैमिकल ऐनर्जी या कैमिकल रियैक्शन) के आधार पर करें। वहाँ के जीव वैज्ञानिक चाहते हैं कि किस प्रकार हम मानसिक क्रियाओं को (Psychological action) बायालाजिकल ऐक्शन, जैविक क्रियाओं के द्वारा बता दें। हार्वर्ड यूनिवर्सिटी के एक बड़े अच्छे विद्वान डॉ. गोर्डन ने एक बार कहा कि ऐड्रिनल फंक्शनिंग (अधिवृक्क स्राव) अगर ज्यादा होती है— तिल्ली के ऊपर एक ग्रंथि होती है, उसके अन्दर अगर ज्यादा स्राव (secretions) होता है— तो मनुष्य के अन्दर ईश्वर पर विश्वास हो जाता है। उन्होंने रिसर्च की और पाया की ईश्वर में विश्वास रखने वालों में अनुपाततः ऐड्रिनल फंक्शनिंग ज्यादा होती है। इसलिये ईश्वर पर विश्वास कुछ नहीं है, वह तो उस विशिष्ट स्राव से आदमी को विश्वास हो जाता है! इसका उत्तर सीधा ही है कि यह बिल्कुल ठीक बात है, और आप जैसे नास्तिक बन जाते हैं जब वह फंक्शनिंग कम हो जाती है! ईश्वर है या नहीं, इसका निर्णय कैसे करोगे? तुम कहते हो कि ऐड्रिनल फंक्शनिंग ज्यादा है, और हम कहते हैं कि ईश्वर है लेकिन जिसकी ऐड्रिनल सिक्रीशन कम होती है उसे विश्वास नहीं हो पाता। इससे तत्त्व का निर्णय कैसे होगा कि वह चीज है या नहीं? यहाँ चाह वे यह रहे हैं कि मानसिक स्थिति का किसी तरह से भौतिक या जैविक परिवर्तन कर सकें।

यह नहीं समझना कि हम लोग इसे नहीं जानते थे। आजकल लोग विशेषकर कहते हैं 'महाराज़! किसी को चिंता हो रही है और उसे ट्रांक्विलाइज़र दिया जाये तो शान्ति आ जाती है, अब तो यह सिद्ध हो गया है।' हम कहते हैं तुमने आज सीखा है और हम तो भाँग हज़ारों साल से पीते है! यह नहीं कि हमें चिंता मिटाने का साधन पता नहीं। तुमने गोली बना ली, हमें पीसना पड़ता था। इसका असर नहीं पड़ता ऐसा नहीं है। लेकिन केवल इसके असर से ही होता हो ऐसा भी नहीं है। भगवान् ने गीता में कहा 'यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते' बड़े से बड़े दुःख की स्थिति मौजूद रहते हुए हिलता नहीं। यह उन्होंने नहीं कहा कि दुःख की स्थिति आयेगी तो हम समाधि में बैठ जायेंगे तो हमें दुःख नहीं होगा वरन् दुःख का भोग पूरी तरह से करते काल में ही वह दुःख उसे नहीं हिला पाता। दूसरी जगह भी भगवान् ने कहा 'यथा दीपो निवातस्थो नेंगते सोपमा स्मृता' जब पूरे जोर शोर से हवा चल रही हो तब भी आले में रखा दीपक 'न इंगते' हिलता नहीं जैसे आजकल चाहे जितनी तेज हवा चल रही हो बिजली में कोई घटाबढ़ी नहीं होती। वह उपमा समझनी चाहिये। ट्रांक्विलाइज़र से या भाँग से तुमने अपने को उस दुःख से कुछ देर को हटा दिया तो क्या विशेषता है? दुःख की वृत्ति में रहते हुए अपने विचलित भाव को नियंत्रित करना है; ध्यान, धारणा, भजन इत्यादि के द्वारा उस दुःख का सामना करते हुए विचलित नहीं होना है।

यह जो जीवन क्रिया वाला है, प्राणन वाला है इसको केवल रासायनिक विज्ञान में परिवर्तित नहीं कर सकते। मानस स्थिति भी जीव-विज्ञान में नहीं ला सकते, वह अलग शक्ति है। मन से भी अत्यधिक प्रबल शक्ति वाला आत्मा है। जहाँ मन की शक्ति भी खत्म हो जाती है वहाँ आत्मशक्ति काम करती है, इच्छाशक्ति काम करती है। उसको मन की शक्ति में नहीं ला सकते। मन की शक्तियों का पता लगा लोगे फिर भी आत्मशक्ति का पता नहीं लगा सकोगे।

हमारे एक प्राचीन स्वामी जी थे। बहुत साल पहले की बात है। एक ब्रह्मचारी ने गलती की, नया ब्रह्मचारी था, स्वामी जी उसे जोर से डाँटने लगे, गाली गुप्ता तक करने लगे। कड़ी डाँट सुनकर ब्रह्मचारी काँपने लगा, घबरा गया। जैसे ही उसको घबराया देखा स्वामी जी बिल्कुल शान्त हो गये, गले से चिपटाया, कहा 'घबरा नहीं, कोई बात नहीं, हो ही जाता है।' जब दो तीन मिनट में देखा कि वह शान्त हो गया तो उन्होंने जो अपनी गालियाँ बीच में छोड़ दी थीं, उसी ध्वनि में वहीं से उसे फिर डाँटना शुरू किया। जब पूरी तरह शान्त हो गये तो बाद में हम लोगों ने कहा 'यह आपने क्या किया?' उन्होंने कहा 'गलती के परिमाण में जितना डाँटना है उतना तो डाँटना ही है।' मन में क्रोध है तो है, नहीं है तो नहीं है। यह मन की स्थिति हुई। आत्मा की स्थिति हुई कि एक क्षण में क्रोध पैदा करे और दूसरे क्षण में शान्त कर दे। मन में यह नहीं हो सकता। मन में वेग उठ गया तो जब तक पूरा होकर समाप्त नहीं होगा तब तक काम

नहीं होगा। इसी का वर्णन करते हुए किसी कवि ने भगवान् शंकर की समाधि का वर्णन किया है।

'एकं योगसमाधिना मुकुलितं चक्षुर्द्वितीयं पुनः
पार्वत्या जघनस्थलस्तनतटे शृङ्गारभाराल्लसद्।
अन्यद्दूरनिरस्तचापमदनक्रोधानलोद्दीपितं
शम्भोर्भिन्नरसं समाधिसमये नेत्रत्रयं पातु वः ।।'

भगवान् शंकर समाधि में बैठे हुए हैं। कहानी सब जानते ही हो। कामदेव ने शरसंधान किया। अन्तःकरण के अन्दर वृत्ति उठी। आँखें खुल गई। देखा सामने पार्वती खड़ी हुई हैं क्योंकि उसी को सामने करके कामदेव ने शरसंधान किया था। आँख अभी खुल ही रही है। जैसे काफी देर की शान्ति के बाद उठो तो आँख पर खुमारी रहती है, वैसे ही उनकी एक आँख पर समाधि की खुमारी जमी हुई है, वह शान्त रस को बता रही है। उसी काल में पार्वती के अंगविशेषों के ऊपर दूसरी आँख की दृष्टि पड़ती है वह देखकर रजोगुणी वृत्ति बनाकर श्रृंगार से भर उठी है। दोनों भाव एक साथ ही हैं। साथ में ही विचार आया कि अरे! यदि मेरे मन में ऐसी वृत्ति उठी तो कहीं न कहीं दुश्मन बैठा हुआ है। तीसरी आँख में क्रोध आ गया, तमोगुण आ गया। देखा कामदेव खड़ा है। उसे वहीं भस्म कर दिया। एक साथ ही भगवान् शंकर में सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण, शान्त, उद्दीप्त या श्रृंगार और क्रोध (रौद्र), तीनों रस एक साथ प्रकट हो रहे हैं। यह मन में नहीं हो सकता। मन एक काल में सत्त्वगुणी, दूसरे काल में रजोगुणी और तीसरे काल में तमोगुणी बनेगा। आत्मशक्ति को हम मन के अन्दर नहीं ला सकते। आत्मशक्ति से मन चलेगा, आत्मशक्ति से मन ताकत ग्रहण करेगा लेकिन आत्मशक्ति मन की सब चिन्ताओं से ऊर्ध्व बनी रहेगी। इसी प्रकार मानसिक शक्तियों को भौतिक शरीर (physical energy) ग्रहण करेगा, मन की शक्ति से ही शरीर चलेगा, सारी क्रियायें होंगी, लेकिन मानस शक्ति इन सबसे ऊपर बनी रहेगी। मन शरीर को प्रभावित करता है लेकिन मन उससे ऊपर बना रहता है। इसी प्रकार जो शरीर की जीवनी शक्ति (vitality) है वह रसायनविज्ञान के अन्दर नहीं लायी जा सकती। उसके द्वारा रसायन-विज्ञान प्रभावित हो सकता है, रासायनिक शक्ति को प्रभावित किया जा सकता है, लेकिन वह फिर भी उससे ऊर्ध्व ही रहेगा, उत्कृष्ट ही रहेगा।

यहाँ जीव के द्वारा उसी प्राणशक्ति को कह रहे हैं। 'अयं जीवः' इसलिये उसका प्रत्यक्षेण निर्देश किया कि प्रत्यक्ष रूप से जहाँ क्रिया शक्ति शरीरों के अन्दर उपलब्ध होती है वह जीव ही संसारी है। संसारी का मतलब होती जो सरकता रहे। 'सृ' धातु का अर्थ सरकना होता है। इसी से सरिता नदी को कहते हैं क्योंकि बहती रहती है। संसारी अर्थात् जो भली प्रकार से चलता रहे। जीव शरीर से शरीरान्तर में भी चलता है और

शरीर में रहते हुए भी जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं में भी चलता है और जाग्रत् काल में भी बाल, युवा, पौगण्ड, अधेड़ अवस्थाओं में चलता है। इसलिये निरंतर चलता ही रहता है। संसारी का मतलब केवल एक योनि से दूसरी योनि में जाना ही नहीं, वह तो है ही, लेकिन यहाँ भी संसरण कर ही रहा है। कभी जाग्रत् से स्वप्न में, स्वप्न से सुषुप्ति में और फिर जाग्रत् में चला गया। जाग्रत् काल में भी फिर भिन्न भिन्न अवस्थाओं में चला गया। इसीलिये इसको संसारी जीव कहा कि हमेशा चलता रहता है। जीव प्रयोजन से प्रवृत्ति करता है और बाकी जितनी भौतिक शक्तियाँ हैं वे किसी प्रयोजन से प्रवृत्ति नहीं करती। वे तो एक बँधा हुआ नियम है, उसके अनुसार ही चलेंगी। पानी नीचे को चलेगा तो नीचे को ही चलेगा। आग जलायेगी तो जलायेगी ही, यह बँधा हुआ नियम है। लेकिन जीवन शक्ति ऐसी नहीं है, आँख मीचकर काम नहीं करती है। तुम भोजन करते हो, किसी दिन तुम्हारे रक्त में चीनी कम है तो उस दिन उस भोजन में से वह चीनी ज्यादा निकाल लेता है, और किसी दिन तुम्हारे खून में पहले से चीनी ज्यादा है तो वह उस चीनी को ग्रहण न करके निकाल देता है! यहाँ तक कि यदि तुमने भोजन किया केवल घी का और शरीर में चीनी की ज़रूरत है तो घी के परमाणुओं (molicules) को तोड़कर उनसे फिर कार्बोहाइड्रेट्स चेन (carbohydrates-chain) बना लेता है, और यदि चीनी की ज़रूरत शरीर में नहीं है तो उस घी को सीधा ही फैट (fat) में परिवर्तित करके सेठों की तोंद बना देता है! यह चुनाव है, केवल आँख मीच कर काम नहीं है कि इधर से खाया और उधर काम हो गया। यह प्राणन शक्ति हुई अर्थात् प्रयोजन से प्रवृत्ति हुई।

यह जो सरक रहा है तो किसी प्रयोजन से सरक रहा है, यह निश्चित है क्योंकि जीवन शक्ति है। इस प्रयोजन को बताना ही उपनिषदों का काम है। हम लोग परिवर्तित हो रहे हैं, चल रहे हैं, लेकिन पहुँचना कहाँ है? यही सबसे बड़ी समस्या है। मनुष्य बाकी सब चीज़ों के बारे में विचार करता है लेकिन प्रयोजन को दबाकर रखना चाहता है। जब तक प्रयोजन स्पष्ट नहीं हो जाता कि हमको पहुँचना कहाँ है तब तक चाहे जितना गाड़ी में तुम चलो, कुछ फायदा नहीं है। और होता यही है। आदमी सवेरे से शाम तक काम करता है और उससे कहो कि साल भर काम करते हुए हो गया, यह बताओ कि तुम्हारा प्रयोजन क्या है, उस प्रयोजन के नज़दीक पहुँच रहे हो या नहीं? शास्त्रकारों ने कहा है और यह प्रयोग आप भी करके देख सकते हो: किसी से पूछें कि काहे को काम करता है, शान्ति से क्यों नहीं बैठता? तो कहेगा कि काम नहीं करूँगा तो खाऊँगा क्या? फिर दस पन्द्रह दिन बाद जब वह भोजन करने जा रहा हो तो उससे कहो 'बहुत दिन हो गये खाते हुए, अब छोड़ दो।' तो कहेगा कि 'खाऊँगा नहीं तो काम कैसे करूँगा?' यह आवर्त है, इसी में घूमता रहता है और इसीलिये किसी प्रयोजन को प्राप्त नहीं कर पाता है। उस प्रयोजन को आगे बताते हैं।

प्रयोजन को क्यों नहीं जानता? 'स उभयलक्षणेन तत्त्वाप्रतिबोधरूपेण बीजात्मना अन्यथाग्रहणलक्षणेन च' दो कारणों से प्रयोजन को नहीं जानता। एक तो जो चीज़ सत्य है उसका इसको ज्ञान नहीं। प्रत्येक प्राणी चाहता सत्य को है, इसमें कोई संदेह नहीं। दिल के भीतर तो वह यही चाहता है कि हमें सत्य की प्राप्ति हो। दुनिया भर में रात दिन झूठ बोलने वाले आदमी से भी, जब उसका लड़का झूठ बोलता है तो उसे गुस्सा चढ़ता है। हम कहते हैं कि झूठ बोलते हो तो अच्छी बात होगी, और अच्छी बात है तो तुम्हारा लड़का भी झूठ बोलना सीख रहा है, इसमें बुरा क्या है? ज्यादा से ज्यादा झूठ बोलने वाला भी स्वयं तो सत्य को चाहता है कि मेरे सामने सच्ची बात आये, दूसरों के सामने चाहे जितना झूठ जाये। यह जो सत्य की जिज्ञासा है यह बताती है कि मनुष्य का अपना स्वरूप अवश्य सत्य है नहीं तो नित्य सत्य की अभिलाषा इसे क्यों लगी रहती है, यह क्यों सत्य को जानना चाहता है? यह सत्य तत्त्व अप्रतिबोधरूप बंना हुआ है। इसके प्रबोध का रूप नहीं बना, इसको अनुभव में सिद्ध नहीं करते हैं, यह बीज का रूप है या बीज की जगह है।

दूसरा कारण अन्यथा ग्रहण है 'अन्यथाग्रहणलक्षणेन चानादिकालप्रवृत्तेन मायालक्षणेन स्वप्नेन'। जब बीज से अंकुर और फल भी निकल आये, तब अन्यथाग्रहण हो गया। मनुष्य सत्य का अभिलाषी है और किसी न किसी सत्य का सहारा लिये बिना जी भी नहीं सकता। यह विरोध है; विरोध इसलिये है कि सत्य का पता लगने में समय लगता है और मनुष्य एक क्षण भी किसी न किसी सत्य का सहारा लिये बिना जी नहीं सकता। इसलिये जो चीज़ उसके सामने पहले आ गई उसी को सत्य पकड़कर जीवन निकालना चाहता है। मनुष्य को सबसे पहले अपनी ज्ञानेन्द्रियाँ मिलीं। आँख से देखता है, कान से सुनता है, नाक से सूँघता है। ये पहले उसके सामने आये। विचार करके देखो कि सत्य क्या है? पहले जो इन्द्रियाँ कहती हैं उसे सत्य मान लेता है। यह जो निरंतर सत्य को पकड़ने की इच्छा और सत्य के बिना न जीने जैसी स्थिति का बनना है, यह भी बताता है कि इसका वास्तविक स्वरूप सत्य ही है। चाहे यह मिथ्या को ही सत्य मानकर काम चलाये, लेकिन किसी न किसी को पकड़ना पड़ता है, सहारा लेना पड़ता है। पहले इन्द्रियों के सत्य को पकड़ लिया। इन्द्रियों का सत्य कभी कभी इसको बीच बीच में धोखा दे जाता है। इसने आँख से एक चीज़ देखी और बाद में पता लगा कि जैसा देखा था वैसा नहीं है।

यद्यपि साफ पानी का गिलास देखकर पीने लगा, आधा पिया, तब तक कोई पूछता है 'कैसा पानी पी रहा है?' कहता है 'नलके से लिया है, साफ है।' आबू का मामला, उसने कहा, 'उबाल कर पिया कर क्योंकि यहाँ नक्की से पानी आता है और उसी झील के अन्दर ही सीवर डाल दिये गये हैं, फिल्टर भी बढ़िया नहीं है, इसलिये बिना उबाले पियेगा तो डिसेण्ट्री हो जायेगी।' उसने कहा 'मैंने देख लिया था, कोई कीड़ा दिखाई

नहीं दिया।' कहा, 'ऐसे नहीं दीखेंगे, चलो मेरे साथ।' उसे अस्पताल में ले गया और वहाँ पानी की एक बूँद को अणुवीक्षण यंत्र से दिखाकर कहता है 'देख इसमें अमीबा चलते हुए दिखाई दे रहे हैं। और भी अनेक कीटाणु दिखाई देते हैं।' अब वह सोचता है कि जिस आँख का विश्वास चालीस साल से करता रहा वह वस्तुतः विश्वासी नहीं निकली! अब इसमें दो बातें देखना। वह अमीबा भी आँख से दीखा इसलिये आँख सर्वथा अप्रमाण है ऐसा भी नहीं, और पहले पानी साफ दीखा था इसलिये सर्वथा प्रमाण है ऐसा भी नहीं। तो इस निर्णय पर आता है कि जब तक इन्द्रियों को कोई दूसरा सहारा न मिले तब तक ये विश्वास के योग्य नहीं हैं। अब वह दूसरे सहारे अनुमान और अन्य अन्य चीज़ों को पकड़ता है। हर हालत में अब उसने खुर्दबीन के सत्य को सत्य पकड़ लिया कि इसमें अमीबा दीखते हैं तो ज़रूर अमीबिक डिसैण्ट्री करेंगे। फिर दो चार साल तक उबालकर पानी पीता है। तब तक कोई तीसरा व्यक्ति मिलता है तो वह कहता है 'हमेशा उबालकर पीते पीते तो पेट कमजोर हो जायेगा। फिर एक दिन भी बिना उबला पिया तो बीमार हो जाओगे।' जैसे हम लोग अपनी उम्र में सड़कों पर छोड़ दिये जाते थे बालू के ऊपर खेलने के लिये। गाँव में कौन सी प्ले ग्राउण्ड की ज़मीन हमको खेलने के लिये मिलती! फिर भी हृष्ट-पुष्ट बने रहते थे। और आजकल के बच्चे हैं। जैतून का तेल और न जाने किस किस चीज़ की मालिश करेंगे, और भी न जाने किन किन चीज़ों का प्रयोग शरीर को ठीक रखने के लिये करेंगे, और उसका नतीजा यह है कि एक दिन धूल में चले जाओ तो पित्ती निकल आती है, कहते हैं ऐलर्जी हो गई। हम कहते हैं कि इतना सब करके फायदा क्या हुआ? इससे तो बालू में ही डाल देते, काहे को ऐलर्जी सहनी पड़ती? एक विदेशी अगर एक दिन यहाँ पानी पी ले तो बीमार हो जाता है। इसलिये एक काला पानी आता है जिसे कोका कोला कहते हैं, वे वही पीते रहते हैं। इसलिये जब तीन चार साल उबला पानी पीने के बाद किसी ने कहा 'यह कैसे होगा? ऐसे जीवन नहीं चलता,' तो कहता है 'क्या करूँ?' उससे कहते हैं 'अरे हम सब भी तो पीते हैं, सबको थोड़े ही अमीबिक डिसैण्ट्री होती है। जब शरीर कमज़ोर हो जाता है तब कीटाणुओं का प्रवेश होता है इसलिये शरीर को मजबूत रखो। घी गुड़ का नियम रखो। क्योंकि शास्त्र में लिखा है 'आयुर्वै घृतम्।'' पहला प्रमाण इस प्रमाण से दब गया, अब इसी को सत्य मानकर पकड़ लेता है।

तात्पर्य यह है कि जैसे जैसे जिस काल में जो जो चीज़ मनुष्य को सत्य लगती है उसको पकड़ता है, उसका सहारा लेता है क्योंकि अंन्तिम सत्य का निर्णय होने तक वह चुप बैठकर काम तो चला नहीं सकता। इसी को अन्यथाग्रहण कहते हैं। सत्य को तो पकड़ा नहीं इसलिये सत्य की जगह जो सत्य रूप वाली चीज़ उसके सामने आई उसे उसने पकड़ लिया।

जीव का इस प्रकार का स्वरूप कब से है? 'अनादिकालप्रवृत्तेन मायालक्षणेन' अनादि काल से यही करता रहता है। सत्य का ज्ञान करने के लिये जितना प्रयत्न या पुरुषार्थ है वह करता नहीं, इसलिये सत्य का ज्ञान होता नहीं। सत्य के नाम से जो चीज़ सामने आ जाती है, उपस्थित कर दी जाती है, उसे पकड़ लेता है। अनादि काल से संसार में अनेक व्यक्ति आते गये और हरेक कहता गया 'मेरा सत्य सत्य है इसको ग्रहण कर लो।' सत्य हमेशा अपना हुआ करता है, दूसरे का नहीं। हम कई बार अपने साधकों को कहते हैं कि जब तक तुम्हें यह अनुभव हो कि 'यह भगवान् कृष्ण का वाक्य है' तब तक समझना कि इसमें असत्यता है और जिस दिन यह अनुभव हो जाये कि 'यह मेरा अनुभव है, मैं कहता हूँ', तब ही वह सत्य है। हमारे यहाँ केनोपनिषद् में कथा आती है। गुरु ने उपदेश दिया और फिर पूछा 'समझा?' शिष्य ने कहा 'हाँ जी, आपने यह बात कही।' बात गुरु ने वही कही थी, लेकिन गुरू ने ना कर दिया 'नहीं तू ठीक नहीं समझा।' शिष्य कहता है 'आप चाहे अपनी मानी हुई बात को छोड़ दो लेकिन मैंने इस बात को समझ लिया है।' वहाँ भाष्य में लिखा है 'सिंहवत् जगर्ज' शिष्य शेर की तरह गुरु के सामने गर्जा, कि हो सकता है आप न समझे हों, मैं तो ठीक ही समझा हूँ क्योंकि यह मेरा अनुभव है! जो चीज़ स्वानुभव होती है, समझ लो वह सत्य है। जब तक प्रतीत होता है कि यह किसी दूसरे का अनुभव है तब तक वह वास्तविक सत्य नहीं बनता।

प्रतिदिन हम लोग यही करते रहते हैं, दूसरे के सत्यों को पकड़ते रहते हैं। आजकल की सारी शिक्षा प्रणाली यही है। हमारा जो शिक्षा प्रणाली से विरोध चलता है वह इसी दृष्टि से चलता है। हम लोग मैट्रिक तक पाँच छह किताबें पढ़ते थे और अब पाँचवें दर्ज़े का बच्चा सात आठ किताबें लेकर चलता है। आज का बच्चा कितनी कापियाँ रखता है, और हमने एक स्लेट से सारा विद्यालयकाल निकाल दिया। उन सबमें दूसरों के सत्य को पढ़ाते हैं। आज बच्चे को सूचना-केन्द्र या चलता-फिरता कोश (walking encyclopedia) बनाते हैं। यह कभी नहीं सिखाते कि कैसे सोचना चाहिये, तुम किसी चीज़ के बारे में सोच कर कैसे निर्णय पर पहुँचो; यह नहीं बताते। वास्तविक शिक्षा का मतलब वह होना चाहिये, यह नहीं कि किताबें पकड़ा दो। यह तो सब किताबों में हम आगे पढ़ लेंगे, भाषा जानकर उन बातों को जान लेंगे,लेकिन हमारे अन्दर यदि वह शक्ति बस गई जिससे सत्य मिथ्या का हम अन्वेषण कर सकें, तभी तो हम शिक्षित पुरुष हैं; केवल यह कहना कि उसने यह कहा, दूसरे ने यह कहा— यह शिक्षा नहीं यह तो पता ही नहीं कि तुम्हारा क्या अनुभव है। इसी चीज़ को लेकर कहते हैं कि अनादि काल से मनुष्य दूसरों के सत्यों को पकड़ता रहता है, काम चलाने के लिये इसको सत्य चाहिये, उस सत्य के अन्वेषण के लिये जितना पुरुषार्थ करना चाहिये उतना पुरुषार्थ करना नहीं चाहता है।

खासकर जब हम लोग आजकल बड़े शहरों में कहीं जाते हैं, शास्त्रों की चर्चा पढ़ाते हैं तो लोग कहते हैं 'महाराज! संक्षेप (nutshell) में बता दीजिये कि आप क्या मानते हैं, वही हम मान लेंगे।' हम कहते हैं 'भाई! पुराने ज़माने में एक चक्रवर्त्ति की गणित की पुस्तक आया करती थी। हो सकता है आप लोगों ने भी उससे अभ्यास किया हो। उस के अन्त में बीस पच्चीस पृष्ठों में सारे सवालों के जवाब लिखे हुए होते थे। उन जवाबों को रट भी सकते थे, लिख भी सकते थे और कोई पूछे तो झट जवाब दे भी देते थे। लेकिन फिर भी अध्यापक उस पर ज़ीरो देता था। जब तक यह न बताया जाये कि किस किस कदम (steps) से वहाँ पहुँचे, तब तक ठीक नहीं मानते थे। इसी प्रकार जिस सत्य को तुमने समझा, निर्णय किया और यदि वही बताया लेकिन कदम नहीं सीखे तो परब्रह्म परमात्मा भी तुम्हें मीड़ा (जीरो) ही देगा और गोल मोल संसार के चक्र में चलते रहो। हम जो यहाँ कदम बताते हैं, युक्ति बताते हैं वह इसलिये कि जब इस प्रक्रिया (working) को समझ लोगे तो वह सत्य हमारा कहा हुआ नहीं, तुम्हारा होगा। इसलिये समझो कि किस प्रकार नतीजे पर पहुँचें। इतना ही नहीं, यदि तुमने विचार पूर्वक उससे आगे भी किसी तत्त्व का निर्णय कर लिया तो हमारा तुमसे कोई मतभेद नहीं रहेगा, उलटा हम कहेंगे कि हमें समझाओ, कौन से कदम लिये।' यहाँ मनुष्य चूँकि यह चाहता है कि संक्षेप में मिल जाये इसीलिये अनादि काल से अन्यथाज्ञान चलता रहता है।

'मायालक्षणेन'— इसी का नाम माया है। लोक में प्रायः लोग मानस धोखा धड़ी को माया समझते हैं। इसलिये माया का यह लक्षण याद रखना। अपनी पुरुषार्थहीनता के कारण जो चीज़ जैसी सामने आ गई उसे बिना विचारे वैसा ही सत्य समझ लेने या मान लेने वाली प्रवृत्ति ही माया है। यही एक तरह का स्वप्न है क्योंकि जैसे स्वप्न में विचार काम नहीं करता वैसे ही इसमें विचार काम नहीं करता। स्वप्न को स्पष्ट करते हैं— 'मम अयं पिता' दृढ निश्चय है कि यह मेरा पिता है। उससे पूछो 'पिता कैसे है?' 'हम बचपन से जानते हैं।' 'तुम्हारी क्या उम्र हुई?' पैंतीस साल की। एक साल गर्भ में समझ लो तो छत्तीस साल की उमर हुई। 'क्या छत्तीस साल पहले यह तुम्हारा पिता था?' कहता है 'जाने दीजिये, आप तो बाल की खाल उखाड़ते हैं! बाप तो यही मेरा है।' हम तो सम्बन्ध पूछ रहे हैं कि छत्तीस साल पहले क्या सम्बन्ध था। लेकिन ऐसा अन्यथाग्रहण किया हुआ है कि 'यह मेरा पिता है' और यह मन से नहीं हटाना चाहता। एक सज्जन काशी में आये हुए थे। उस समय हिन्दुस्तान चीन का झगड़ा चल रहा था। उसी विषय में ज्यादा विचार चल रहा था। हमने कहा 'एक बात बताओ, हो सकता है साल दो साल में हम दोनों मर जायें और कोई नियम नहीं कि चीन देश में पैदा न हों, हमारा तो पुनर्जन्मवाद है। पंद्रह साल बाद हम तुम चीन में बैठकर हिन्दुस्तान को वैसी ही गालियाँ देंगे जैसे आज हम चीन वालों को दे रहे हैं! यह ठीक है कि व्यवहार

में तुम कुछ करो, लेकिन यदि इससे कोई तत्त्व-निर्णय करना चाहते हो तो नहीं हो सकता। हमेशा मिथ्या के निर्णय में चलते चले जाओगे। क्रिया द्विष्ट होती है, लोक में भी कहते हैं कि दोनों हाथों से ताली बजती है। इसलिये व्यवहार के बारे में यदि अन्यथाग्रहण करना चाहते हो तो करते रहो, इसमें हमारी ना नहीं है—करोगे ही, ना करेंगे तो किसको सुनना है— लेकिन इतना याद रखना चाहिये कि बीच बीच में विचार जरूर करो कि यह काम चलाने के लिये सत्य मान लिया है, इसमें सत्यत्व है नहीं। यह मेरा पिता है, यह अन्यथाग्रहण है।

'पुत्रोऽयं नप्ता' यह मेरा बेटा है, यह मेरा पोता है। यह सब मनुष्य के मन में चलता रहता है। 'क्षेत्रं पशवोऽहमेषां स्वामी सुखी दुःखी'। यह मेरा खेत है। इसके बारे में तो अब लोगों को कई शंकायें हो गई हैं क्योंकि कुछ लोगों के खेत इधर उधर कर दिये गये हैं। कहते हैं हमारा खेत चला गया। हम कहते हैं कि तुम्हारा होता तो जाता नहीं। चालीस साल से ही तुम्हारा हुआ। क्या उसके पहले था? नहीं था। पहले नहीं था, अब भी नहीं रहा। इसलिये कुछ नहीं हुआ। चालीस साल पहले वाली स्थिति आ गई। ये हमारे पशु हैं। प्राचीन काल में हमारे यहाँ पशु धन माना गया था,घर में दस दस हज़ार गायें होती थीं, खाना पीना अच्छी तरह था। 'पशवः' से केवल पशु नहीं, सभी धन ले लेना। यह सब काम चलाने के लिये मान लो, उसमें कोई हर्ज़ा नहीं। लेकिन यदि अन्यथाग्रहण को छोड़कर सच्ची बात पूछोगे तो मैं इनका मालिक कैसे अपने को कहूँगा? कोई उपाय नहीं जिससे कहोगे। पहले था नहीं, पचास साल बाद रहेगा नहीं, यह भी निश्चित है।

पुराण में कथा आती है कि एक बार देवर्षि नारद और पर्वत दोनों घूमते हुए कहीं जा रहे थे। पर्वत नारद के मामा हैं। एक जगह नारद को हँसी आ गई। पर्वत ने पूछा 'क्या बात है, क्यों हँसे? नारद ने कहा— 'ऐसे ही हँसी आ गई।' आदमी की आदत होती है कि कोई साथ चलने वाला हँसे तो समझता है कि मेरे ही ऊपर हँसता है। इसलिये जब दुबारा पर्वत ने पूछा तो नारद ने कहा— 'वहाँ देखा था न कि एक बकरे ने उस दुकान पर रखे बोरे पर मुँह मारा और दुकानदार ने उसे डण्डा मारा था।' पर्वत ने कहा— 'तुम ऋषि हो, इससे तुम्हें हँसी नहीं आ सकती, इससे तो दुःख ही हो सकता है। फिर हँसे कैसे?' नारद ने कहा 'हँसी का कारण यह है कि यह बकरा इस दुकानदार का बाप है। उसी ने यह दुकान बनाई। जब वह मरा तो मरने के बाद उसके संस्कार चूँकि इसी जगह के थे इसलिये यहीं पैदा हुआ। कर्म तो जानते ही हो लोग जैसे करते हैं। उसे बकरे की योनि मिल गई। लेकिन पूर्व संस्कारों के कारण इस दुकान में जाकर मुँह मारता है। न वह जानता है कि यह मेरी दुकान है और न बेटा जानता है कि यह मेरा बाप है इसीलिये डण्डा मारता है। इसलिये मुझे हँसी आ गई।' यह जो भावना चल रही है कि मैं इनका स्वामी हूँ, इसमें कुछ नहीं।

इसी को लेकर कहता है मैं सुखी, मैं दुःखी। जिसके अन्दर इष्टबुद्धि कर लेगा कि यह मुझे प्रिय है उसकी प्राप्ति पर सुख मानेगा। इष्टबुद्धिमात्रसे ही सुख मानता है, और कुछ नहीं है। एक कड़ी बात कहेंगे कोई बुरा नहीं मानना। हमारे यहाँ पहले लड़की को ब्याहते थे तो देखते थे कि कोई ऐसी समस्या आ जायेगी तो कितने लोग इसका हाथ पकड़ने वाले हैं। घर के अन्दर चार भाई हैं, माता पिता हैं, ताया चाचा हैं। इसलिये इस घर में लड़की को देना चाहिये। कभी कोई मुसीबत आ गई तो सहारा हो जायेगा। उस समय यह प्रिय लगता था। अब हमारे दिल्ली में जब ब्याह होता है तो लोग पूछते हैं 'घर में गैस्ट यानी मेहमान कितने हैं?' यह बिल्कुल सच्ची बात है। हमने पहले-पहल सुना तो नहीं समझे और कहा कि कोई ज्यादा मेहमानदारी तो उनको यहाँ नहीं होती है। तब पता लगा कि गैस्ट के अन्दर सास ससुर, देवर जेठ हैं, ये सब मेहमान हैं। जहाँ ये जितने कम होते हैं, उतना ही वहाँ लड़की की शादी करके लोग प्रसन्न होते हैं। तब से हमने कहा कि यह इष्टबुद्धि का सीधा लक्षण है। हम सोचते थे कि घर में चार जने होंगे तो सहारा होगा और अब लोग सोचते हैं कि चार नहीं हैं तो अच्छा है। इष्टबुद्धि ही हुई। जहाँ जहाँ इष्टबुद्धि होगी, तुम्हारे प्रेम की भावना होगी, वहाँ सुख होगा और जहाँ वह नहीं होगी वहाँ दुःख होगा। इसलिये पदार्थों में सुख दुःख नहीं है। यह भी हमने मान लिया है अन्यथा ग्रहण कर लिया है। अन्यथाग्रहण जैसा अनादि काल से आज तक दण्डा पकड़ा दिया, वह पकड़ लिया; किसी ने दूसरा पकड़ा दिया तो वह पकड़ लिया, विचार नहीं किया कि सच्ची झूठी बात कौन सी है।

'क्षयितोऽहमनेन वर्धितश्च' इस आदमी ने मेरा नुक्सान कर दिया, चाहे उसने फायदा किया हो। प्रसिद्ध कहानी आप लोग जानते हैं। एक राजा का मंत्री था। राजा की अंगुली कट गई। मंत्री ने कहा— 'भगवान् ने जो किया सो अच्छा किया।' राजा को बहुत बुरा लगा। एक बार राजा का अपहरण हुआ और बलि के लिये ले जाया गया। जब बलि चढ़ाने का समय हुआ तो उन लोगों ने कहा कि इसका तो अंग भंग है। छोड़ दिया। उस समय वही कटी अंगुली काम आई। तब लगता था कि इस आदमी ने मेरा नुक्सान कर दिया और फिर लगता है कि इसने मेरा फायदा किया। मान लो तुम्हारे पास दस हज़ार अशर्फियाँ या गिन्नियाँ रखी हुई हैं। रात में चोर आकर उन्हें चोरी कर ले गये तो तुम खूब दुःखी होगे कि चोरों ने हमारे साथ कितना अन्याय किया। हमारी पीढ़ी दर पीढ़ी की कमाई उठा ले गये, इन चोरों का सत्यानाश हो; यही सोचोगे। उसके बाद शाम को तुम्हारे यहाँ रेड हो गई और घर में कोइ चीज़ नहीं पकड़ी गई। वह माल तो सब चोर ले गये थे। तब कहोगे कि भगवान् ने बड़ा अच्छा किया। यदि वे मोहरें पकड़ ली जातीं तो न जाने कैसी जेल भुगतनी पड़ती। इसने मेरा नुक्सान किया— यह भी अन्यथाग्रहण ही है। कुछ पता नहीं, नुक्सान किया या फायदा। इसी प्रकार 'अहं वर्धितश्च' इसने मेरे को बढ़ा दिया, इसने मेरा फायदा किया। 'अनेनेत्येवंप्रकारान्स्वप्नान्स्थानद्वयेपि

पश्यन्सुप्तो' ये सारी भिन्न भिन्न प्रकार की मानसिक स्थितियाँ हैं, ये सब स्वप्न हैं अर्थात् बिना विचार के प्रतीत हो रही हैं। दोनों स्थानों में, जाग्रत्-स्वप्न दोनों में अनुभव एक जैसा है। इसी प्रकार चीज़ें देखता रहता, अनुभव करता हुआ जीव सोया पड़ा रहता है। यह सुप्त व्यक्ति किस प्रकार जगाया जाता है और इसकी तत्त्व की स्थिति कैसे होती है इस पर आगे विचार करेंगे।

संसारी जीव का लक्षण बता दिया और उस अवस्था के अनुभव को भी बताया। संक्षेप में अहम् और मम या मैं और मेरा यही संसार का रूप है। अब उससे जगने का प्रकार बताते हैं 'यदा वेदान्तार्थतत्त्वाभिज्ञेन परमकारुणिकेन गुरुणा नास्येवं त्वं हेतुफलात्मकः किंतु तत्त्वमसीति प्रतिबोध्यमानो यदा तदैवं प्रतिबुध्यते।' 'वेदांतार्थतत्त्वाभिज्ञेन' उसको जगाने वाले को कैसा होना पड़ेगा? वेदांत के अर्थ के तत्त्व की अभिज्ञा करनी पड़ेगी। वेदांत, तत्त्व,अर्थ और अभिज्ञा चार चीज़ों को यहाँ मिलाकर कह दिया। वेदांत शब्द के कई अर्थ हैं। प्रायः लोग यह मान लेते हैं कि वेद के जो अंतिम भाग में आया वह वेदांत है। लेकिन यह बात किसी किसी उपनिषद् पर घटेगी और बहुतों पर नहीं घटेगी। ईशावास्योपनिषद् तो अंत में आ गई, ठीक है। लेकिन केनोपनिषद् तो आठवाँ और नवाँ अध्याय है जबकि ग्रन्थ तो आगे २४ अध्यायों में खत्म होना है। ऐतरेय और तैत्तिरीय दोनों बीच में आती हैं क्योंकि तैत्तिरीय छठा है और दस प्रपाठकों में ग्रन्थ समाप्त होना है। अतः वेदांत का अर्थ वेद के अंत में आने वाला भाग, सिद्ध नहीं होता। इसका वास्तविक अर्थ है वेद का जो रहस्य-भाग है अर्थात् वेद का सिद्धान्त है, वही वेदांत शब्द से कहा जाता है। वेद का अंत अर्थात् वेद के अन्दर जो कुछ कहा गया उसका सिद्धांत है। वस्तुतः सिद्धान्त शब्द का भी अर्थ क्या है? जो सिद्ध हो, जो चीज़ युक्तिपूर्वक निर्णीत हो जाये वह सिद्धान्त हो गया। जब तक निर्णय में कुछ संदेह है तब तक तो कहते हैं कि यह बात सिद्ध हुई। 'यह बात सिद्ध हुई' कहने के बाद मन में यह जिज्ञासा रह जाती है कि इसके आगे कोई और इस पर आक्षेप तो नहीं है? लेकिन यदि यह कह दिया कि अब यह सिद्धान्त है तो फिर आगे पर या मगर नहीं रह सकता है। वह बात खत्म हो जाती है। ठीक इसी अर्थ में वेदांत शब्द है। संस्कृत में राद्धान्त शब्द भी सिद्धान्त की तरह बनता है।

वेद का अर्थ ज्ञान है। मंत्र इत्यादि उस ज्ञान को प्रकट करने के साधन होने से वेद कहे जाते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् के अन्दर इसपर बहुत सूक्ष्म विचार है। जब हम कहते हैं वेद नित्य है तो हमारा मतलब है कि चूँकि आत्मा नित्य है इसलिये आत्मा का ज्ञान भी नित्य हुआ। मंत्रों को फिर कैसे नित्य मानोगे? भाष्यकार कहते हैं मंत्रों की नित्यता यही है कि मंत्र आत्मा के अमुक अमुक ज्ञान को प्रकट करने के साधन हैं। इसलिये वेद का वास्तविक तात्पर्य है ज्ञान। कौन सा ज्ञान? प्रत्यक्ष और अनुमान किसी भी प्रमाण से जो न जाना जा सके, वह ज्ञान है। जिस बात को प्रत्यक्ष और अमुमान से जाना जा

सकता है उस बात के लिये वेद की आवश्यकता नहीं है, उस बात को बताने वाला जो ज्ञान हुआ वह है वेद। इसीलिये वेद की राशि को हम लोगों ने मंत्र नाम दिया। श्लोक भी नहीं कहा, और कोई शब्द गद्य, पद्य कुछ नहीं कहा। यद्यपि उसके विभाजन में गद्य, पद्य सभी आते हैं लेकिन वह सब होने पर भी नाम मंत्र दिया गया। 'मननात् त्रायत इति मंत्रः' उसके ऊपर मनन करने से वह तुम्हारा त्राण करता है। इसके द्वारा यह बताना इष्ट है कि उसमें बताया हुआ तत्त्व प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से पता नहीं लग सकता। जब मन को शांत करके समाधि की तरफ ले जाओगे तभी उसके अन्दर रहने वाला तत्त्व प्रकट होगा। मंत्र को ही परवर्ती काल में, लोगों की समझ में आ जाये, इसलिये 'समाधि-भाषा' भी कहा गया। कह देते हैं कि यह समाधि-भाषा में कहा गया है। समाधि-भाषा का मतलब कोई अलग भाषा (language) नहीं! भाषा वही है जिसे हम जानते हैं लेकिन उसके अर्थ को समझने के लिये चित्त को सर्वथा एकाग्र करके उसके अन्दर प्रविष्ट होना पड़ता है, जिसे अंग्रेज़ी में स्पिरिट (spirit) कहते हैं उसमें जाना पड़ता है। शब्द जो कह रहा है वह तो किसी न किसी ज्ञात पदार्थ को कह रहा है, वाच्य को ही शब्द कह सकता है लेकिन उसके अन्दर किसी और ध्वनि को कहने का प्रयत्न कर रहा है। उस प्रयत्न को समझना मनन करना है। जब मनन किया जाता है तब त्राण करता है। इसलिये उसे मंत्र कहा। इसलिये प्रत्यक्ष और अनुमान से ज़िसका ज्ञान नहीं हो सकता उस ज्ञान को देने वाल वेद हुआ।

वे चीज़ें दो हुई— एक धर्म और एक ब्रह्म। न तो परमात्मा का ज्ञान कभी प्रत्यक्ष अनुमान से हो सकता है और न धर्म का। ये दोनों ही प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के विषय नहीं। धर्म का मतलब हुआ स्वरूप। यहाँ धर्म का मतलब आचार संहिता नहीं समझना। लोक में धर्म का मतलब लोग प्रायः आचारसंहिता समझते हैं। आचारसंहिता में देश काल के अनुरूप व्यवस्था बना लेते हैं। उसको तो स्मृतियाँ बता ही रही है। लेकिन आत्मा का धर्म है क्या? जहाँ आत्मा का विचार करोगे वहाँ विचार करने वाला आत्मा, वह अपने आपको विषय कैसे कर सकता है? जब तक कोई दूसरा उसको निर्देश नहीं करता तब तक वह चीज़ पकड़ में नहीं आती। प्रत्यक्ष और अनुमान से ज्ञात न होने वाला जो धर्म और ब्रह्म है उसका प्रतिपादन करना वेद का कार्य हुआ। धर्म साधन और ब्रह्म साध्य है। आत्मा के धर्मों को समझ कर तदनुकूल कार्य करने का फल ब्रह्म की प्राप्ति होगा। इसलिये धर्म साधन और ब्रह्म साध्य है। ब्रह्म ही इसलिये वेद का सिद्धान्त हुआ। बाकी तो साधन, उसका उपाय हुए। इसी से ब्रह्म को बताने वाला जो खण्ड वेदों में आया, जो साक्षात् ब्रह्म को बताने वाला है, उसे वेदांत कहते हैं क्योंकि वह वेदों का सिद्धान्त हुआ। भगवान् वेद व्यास ने इसीलिये ब्रह्म का लक्षण ही किया 'तत्तु समन्वयात्' ब्रह्म वह है जिसके लिये सारा वेद साक्षात् या परम्परा से काम में आता है। जहाँ ब्रह्म को साक्षात् बताया वह साक्षात् हो गया और जहाँ उसका साधन बताया वह परम्परा से हो गया।

जो वेदांतार्थ ब्रह्म का प्रतिपादक वेद का खण्ड है, वह क्या दूसरे प्रमाणों से विरुद्ध है या अनुकूल है? यह एक बड़ी भारी समस्या है। प्रत्यक्ष से जिसका ज्ञान नहीं हो सकता ऐसे ब्रह्म को या धर्म को बताने के लिये वेद हुआ। यदि प्रत्यक्ष अनुमान से होने वाले ज्ञान और वेद के ज्ञान में विरोध हो जाये तो प्रामाणिकता कहाँ होगी? हम लोगों का सिद्धान्त है कि प्रथम उपस्थित प्रमाण हमेशा प्रत्यक्ष होता है इसलिये प्रत्यक्ष को कोई नहीं काट सकता। भगवान् भाष्यकार लिखते हैं कि सैकड़ों वेदमंत्र भी कह दें कि अग्नि ठण्डी होती है तो अग्नि ठण्डी नहीं हो जायेगी! पहले तो वेद ऐसी बात कहेगा ही नहीं। यदि कोई बात ऐसी वेद में मिल जाये जो प्रत्यक्ष के विरुद्ध हो तो मानना पड़ेगा कि कहने का तात्पर्य कुछ और है। उसी को यहाँ 'अर्थ' पद से कह रहे हैं। वेदांत में जो ब्रह्म तत्त्व बताया गया वह प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से विरुद्ध नहीं है इस बात को समझना आवश्यक है। जो इस बात को नहीं समझ पाता है उसका मनन पूरा नहीं हुआ है और इसीलिये उसकी स्थिति नहीं हो पाती। कई बार लोग कह देते हैं 'समझ लिया आपने जो तत्त्व बताया। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' यही तो तात्पर्य है। फिर उसके बारे में इतना विचार करने से क्या फायदा? उसका ध्यान करने लग जाओ।' किंतु ध्यान तो कर लोगे, अज्ञान कैसे हटेगा? ध्यान में एक गुण है कि जो चीज़ तुम चाहो उसमें स्थिरता आ जाती है। लेकिन ध्यान में एक दोष यह है कि अनुभवकाल और अनुभव के अभाव वाले काल में सामंजस्य नहीं कर पाते। हमने दो घण्टे ब्रह्म का ध्यान किया, हमारा मन अतिशान्त हो गया, यह एक अनुभव; हम व्यवहार करने गये, किसी ने गाली दी, हमको गुस्सा आ गया, यह दूसरा अनुभव। इन दोनों में सामंजस्य कैसे कायम हो? इसलिये यदि केवल समाधि का या ध्यान का सहारा लेते हैं तो जीवन का द्वैत कभी खत्म नहीं हो सकता, विभाजन (dichotomy) बना रहता है। यदि समाधि की तरफ ज्यादा जाता है तब तो व्यवहार काल में अपने को कोसता रहता है; 'क्या करें? असली चीज़ तो वह है लेकिन क्या करें इसके बिना नहीं रह सकता।' अथवा दूसरी चीज़ आती है कि ध्यान काल में उन चीज़ों की याद आती रहती है कि मैनें ऐसा किया था, बुरा किया था, मन को नियंत्रित नहीं कर पाया था आदि। यदि व्यवहार अधिक करेगा और ध्यान कम करेगा तब वह व्यवहार ध्यान काल में दुःख देता रहेगा क्योंकि पता लगता रहेगा कि दिन भर में कितने खोटे काम कर लिये, और यदि ध्यान ज्यादा और व्यवहार कम किया तो ध्यान व्यवहार काल में दुःख देता रहेगा कि वह शांति नहीं, कहाँ फँस गया! दोनों में सामंजस्य कायम नहीं हो सकेगा।

प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से व्यवहार होना हुआ और वेदांत बतायेगा निर्गुण ब्रह्म को। मनन इन दोनों में सामंजस्य कायम करता है। मनन करने से यह पता लगता है कि व्यवहार काल के व्यवहारों का समाधि काल के अनुभव से विरोध नहीं है। यह जब दृढ होगा तभी मनुष्य का ध्यान पक सकेगा। हमारे यहाँ इसीलिये श्रवण मनन निदिध्यासन 'श्रोतव्यो

मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' तीन कदम बताये। वेदांतार्थ के द्वारा कह दिया कि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से जो अनुभव हो रहा है उसके साथ तो ब्रह्म और धर्म का विरोध नहीं है इस बात को समझना।

धर्म के विषय में इसीलिये मनु भी कहते हैं 'युक्तिहीन-विचारेण धर्महानिः प्रजायते' जो आँख मूँदकर किसी धर्म की बात मानकर बिना युक्ति के चलना चाहेगा, वह धर्म की हानि करेगा। कई बार लोग हमसे कहते हैं 'किसी धर्म में पाँच नियम, किसी में दस नियम इत्यादि इस प्रकार की लिस्ट है। आप भी एक ऐसी लिस्ट बना दीजिये कि यह धर्म है; यह मानो तो हिन्दू या सनातनी हो।' इस तत्त्व को समझने के लिये निरुक्त में एक कथा आती है। जब ऋषि लोग यहाँ से जाने लगे, तो मनुष्यों ने ऋषियों के पैर पकड़े कि आप सब चले जायेंगे तो हमें रास्ता कौन दिखायेगा? ऋषियों ने कहा हम तुम्हारे पास एक ऋषि भेजेंगे वह ऋषि तुम्हारे पास रहेगा जो तुम्हारा मार्गदर्शन करता रहेगा। उन्होंने वहाँ जाकर युक्ति नाम के ऋषि को भेजा। इसी दृष्टि से जो हमारा मूल मंत्र है, वह गायत्री है। सनातन धर्म में जब भी किसी का यज्ञोपवीत होता है तो उसे गायत्रीमंत्र देते हैं। गायत्री मंत्र में बुद्धि की प्रार्थना है। हे परमेश्वर! हमारी बुद्धि को प्रवृत्त करो 'यः धियः नः प्रचोदयात्।' इसके पहले आये हुए बाकी पद तो परमेश्वर के विशेषण हो गये। बुद्धि मायने युक्ति। हमारे यहाँ यदि कोई कहे कि सनातन धर्म का नियम क्या? तो अनेक नियमों का चक्र हम देने वाले नहीं, जब हमारे ऋषियों ने ही नहीं दिया तो हम कहाँ से देंगे? हम एक ही बात कहते हैं कि जो चीज़ करो समझकर युक्तिपूर्वक विचार कर करो। किसी काम को करने के बाद जब तक मन में आये कि अरे! यह न करता तो अच्छा था तब तक समझते रहो कि अभी तुम्हारी दृढता नहीं हुई। जिस जिस चीज़ के बारे में मन में आज या दस साल बाद भी आये कि यह न करता तो अच्छा था, वह वह चीज़ गलत है और जिस चीज़ को करके हमेशा दृढता रहती है कि बिल्कुल ठीक किया, उस परिस्थिति में इससे भिन्न और कुछ किया ही नहीं जा सकता था वह उचित है।

हम यह मानते हैं कि अधिकतर लोग इतना साहस करने वाले नहीं होते हैं, इसलिये हमारे स्मृतिकारों ने कहीं कहीं नियम भी गिना दिये हैं; ऐसा नहीं कि उन्होंने नियम गिनाये नहीं, लेकिन नियम-परिगणना में हमारी स्मृतियों का तात्पर्य नहीं है। मनुस्मृति में कहीं दस, कहीं पाँच और कहीं तीन नियम गिना दिये गये हैं कि यही सार है। अन्यत्र भी भिन्न भिन्न जगह भिन्न भिन्न तरीके बताये हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में बताया 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा अनाशकेन।' उधर केनोपनिषद् में 'तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वांगानि सत्यम् आयतनम्।' मुण्डक उपनिषद् में ' सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।' भिन्न भिन्न सूचियाँ दी हुई हैं। उनमें से कोई भी एक लिस्ट लोगे तो धीरे धीरे बाकी सब चीज़ें आ जायेंगी।

लेकिन एक ही लिस्ट नहीं रखी है। वह इसलिये कि यह न मान लेना कि इतना हो गया तो काम हो गया। ये सब तो केवल विचार करने के लिये मदद करते हैं। आवश्यकता युक्ति की है। इसलिये बढ़ाना बुद्धि को है। इसलिये मनु ने कहा 'युक्तिहीनविचारेण धर्महानिः प्रजायते' बिना युक्तिपूर्वक विचार किये तो उलटा धर्म की हानि हो जायेगी।

वेदांत में जिस ब्रह्म का उपदेश दिया गया वह प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से विरुद्ध नहीं। कैसे विरुद्ध नहीं है? इस बात को ठीक समझकर फिर अन्य अनुभवों से विरोध नहीं होता। ऐसा समझ लो कि आँख से तो हमको गुलाबी रंग दीखता है और नाक से हमको गुलाब की खुशबू आती है, स्पर्श से हमको गुलाब के अन्दर मुलायमियत महसूस होती है। मुलायमियत का रंग के साथ आपस में कोई सम्बन्ध नहीं। रंग का खुशबू के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। ये तीनों भिन्न भिन्न ज्ञान हो रहे हैं। लेकिन ये तीनों ज्ञान विरुद्ध नहीं हैं। इस बात को समझोगे तब तक तो गुलाब को समझा है, और यदि इनमें से किसी एक चीज़ को समझा है तो गुलाब को ठीक से समझा नहीं। ऐसा नहीं है कि गुलाब में आँख से देखने पर रंग है, नाक से सूँघने से गंध है, छूने पर मुलायमियत है; ऐसी बात नहीं है, बल्कि गुलाब में तीनों एक साथ हैं। भिन्न भिन्न इन्द्रियों के प्रयोग से उसके विषय में हमारा ज्ञान बदल रहा है। पदार्थ तो जैसा है वैसा एकरूप है। इसी प्रकार परब्रह्म परमात्मा को जब हम इन्द्रियों के द्वारा देखते हैं तब हमको रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श से वह परमात्मा ही प्रतीत हो रहा है। जब हम उसे अनुमान आदि के द्वारा देखते हैं तो उसकी व्यापकता का ज्ञान होता है। वह भी उस परमात्मा का ही ज्ञान हो रहा है। प्रत्येक प्रमाण से परमात्मा का ग्रहण हो रहा है। अब परमात्मा का विरोध नहीं रह गया।

व्यवहार में हमारी गलतियों का बीज ही यह है कि हम व्यवहार को और परमार्थ को अलग समझते हैं। वहीं से भूल प्रारंभ होती है। हमने अपने बेटे को एक बात कही, उसने नहीं मानी। हमको गुस्सा आ गया। हमने कहा 'मेरे घर में रहना हो तो इस नियम से रहो नहीं तो मत रहो।' शाम को मीटिंग है नेशनल इंटिग्रेशन की, वहाँ पहुँचकर कहते हैं 'हर व्यक्ति को विचार और क्रिया का स्वातन्त्र्य दिया जाना चाहिये।' (Each individual must be given independence of thought & action)। उनसे पूछो घर में क्या हुआ? कहते हैं— 'अरे जी वह बात और है।' यह है आंतरिक विरोध। जब विरोध को हटाओगे और सचमुच अपने सिद्धान्त को मानते हो तो बच्चे जब विरोध करेंगे तो तुम्हें प्रसन्नता होगी। बच्चा तुम्हारा जितना विरोध करेगा उतनी तुमको प्रसन्नता होगी क्योंकि वह अपने व्यक्तित्व को मज़बूती से प्रकट (assert) कर रहा है। कहोगे कि ग़लत कर रहा है, किन्तु क्या तुम सर्वज्ञ हो जो जानते हो कि क्या गलत और क्या ठीक है? यहाँ तक तो ठीक है कि तुम अपना अनुभव उसे बताओ, 'मेरे अनुभव से यह चीज़ तुम्हें फायदा पहुँचायेगी' या 'मेरे अनुभव से यह चीज़ तुम्हें नुकसान पहुँचायेगी'; इतना तो

तुम्हारा कर्त्तव्य हुआ, लेकिन आगे तुम कैसे कह सकते हो कि यह चीज़ इसके फायदे की है या नुकसान की है? विश्रवस् और पुलस्त्य दोनों महर्षियों ने रावण को खूब साधना करना सिखाया। मंत्र तंत्र सब इन्हीं दोनों ने उसे सिखाये। नतीजा बेचारे को इतना बड़ा अत्याचारी होना पड़ा! उन्होंने तो अपनी जान सोचा था कि यह सुधर जायेगा, इतनी तपस्या कर रहा है, लेकिन नतीजा क्या हुआ? इससे अच्छा तो कोई उससे तपस्या न कराता तो किसी गाँवड़े में दो चार आदमियों को थप्पड़ मार देता, इतना ही हो सकता था। 'यह चीज़ इसके लिये ठीक है' यह तो सिवाय सर्वज्ञ परमेश्वर के और कोई नहीं जानता। जैसे जैसे यह विचार जागृत होगा, वैसे वैसे विरोध खत्म होने लगेंगे। जैसे पुत्र वैसे नौकर और वैसे ही सब हैं। जितने भी ग़लत काम होते हैं उनका बीज यह है कि व्यवहारकाल को हम परमार्थ काल से भिन्न समझते हैं। उस अनुभूति को जज्ब करके, भली प्रकार हम अपने व्यवहार में रिसने (percolate) नहीं देते।

तब तीसरी चीज़ तत्त्व आई। यह निदिध्यासन अवस्था को बताती है। जब श्रवण मनन पूरा हो गया तब उसमें जो स्थिति है उसी का नाम तत्त्व है। निदिध्यासन कमर कस कर नहीं किया जाता। लोग प्रायः यही गलती निदिध्यासन में करते हैं। अपने आप पर ज़ोर जब लगाओगे तो आत्मा की तरफ कहाँ जाओगे? उलटा आत्मा से दूर जाओगे। जितना अपने आप को शिथिल (release) कर पाओगे उतना तत्त्व में स्थित होते चले जाओगे। अध्यासों को बढ़ा कर ही तो हम परमात्मा से दूर हुए हैं। अनात्म-अध्यासों को लेकर उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इसके लिये तो सर्वथा अहम् को ही जब छोड़ देना है तो आगे प्रयत्न कौन करेगा? यह तत्त्व शब्द से कहा अर्थात् तत्ता, वह जैसा है वैसा है। भगवान् सुरेश्वराचार्य ने इसीलिये निदिध्यासन का अर्थ विज्ञान किया है। उसका कारण है कि ऊपर श्रुति ने कहा 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' और फिर कहा 'दृष्टं श्रुतं मतं विज्ञातं भवति।' बृहदारण्यक उपनिषद् में ऊपर तो कहा कि आत्मा का दर्शन करे, श्रवण करे, मनन करे, निदिध्यासन करे, और उसका अनुवाद नीचे किया कि जिसने आत्मा को देख लिया, सुन लिया, मनन कर लिया और जान लिया। इससे पता लगता है कि निदिध्यासन को ही याज्ञवल्क्य महर्षि विज्ञान शब्द से कहना चाह रहे हैं। जैसे जैसे श्रवण मनन पकता जायेगा और फिर जब अपने को शिथिल करते जाओगे वैसे वैसे निदिध्यासन से तत्त्वरूपता स्थित होती जायेगी। इसलिये यहाँ भाष्य में वेदांतार्थतत्त्व कहा।

जब तत्त्व में भी पूर्णता हो गई तब अभिज्ञा आई अर्थात् पहले का अनुभव और आज का अनुभव दोनों मिलकर एक नवीन ज्ञान होता है। जैसे 'यह वही मांधाता है जो दिल्ली में मेरे को मिला था।' दिल्ली में देखा था और वर्तमान में भी ज्ञान (cognition) हुआ। इन दोनों को मिलाकर एक नया ज्ञान हुआ कि 'यह वही मांधाता है।' गीता में भी भगवान् ने जहाँ अट्ठारहवे अध्याय में अपना अंतिम सिद्धान्त बताया है वहाँ कहा

है 'भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।' 'अभिजानाति' क्रिया है, धातु ज्ञा ही है। जब वेदांतार्थ और तत्त्व तीनों अवस्थायें हो गईं तब अभिज्ञा होती है। किस बात की अभिज्ञा होती है? मैं एक अंतःकरण और शरीर में अपने को बद्ध समझ रहा था। उस अंतःकरण और शरीर से परिश्रम करके आज मुझे पता लगा कि मैं उस अंतःकरण और शरीर में बद्ध नहीं हूँ। इससे जो अभिज्ञा पैदा हुई वह क्या हुई? यह ज़रा हिम्मत की बात है, हिम्मत न हो तो छोड़ देना। उस अंतःकरण और शरीर की बद्धता से छूट गया लेकिन इन सब अंतःकरण और शरीरों में बँधा हुआ कौन हूँ? मैं हूँ। इसका नाम अभिज्ञा है। अभी तक तो मैं अपने को एक शरीर मन में बद्ध समझ रहा था। उससे निकलकर बाहर आया तो पता लगा कि सारे शरीर और अंतःकरणों में बँधा हुआ मैं ही तो हूँ।

यह जो वेदांत-अर्थ-तत्त्व की अभिज्ञा है, यह पता लगने से मनुष्य के मन में परम करुणा होती है। अतः 'वेदान्तार्थतत्त्वाभिज्ञेन परमकारुणिकेन गुरुणा', यह कहा। करुणा दूसरे पर हुआ करती है और परम करुणा स्वयं अपने पर हुआ करती है। जहाँ दूसरे का फायदा करना चाहते हैं वहाँ भी करुणा है। लेकिन वह करुणा अपने हाथ पैर बचाकर करुणा है। परम करुणा वहाँ होती है जहाँ अपने हाथ पैर बचाने वाली बात नहीं रह जाती। दूसरे के घर में अगर आग लगी है तो भी भला आदमी वहाँ मदद करके सामान बाहर निकलवा देता है, लेकिन यदि अपने घर में आग लगी हो तो उस समय झुलसता हुआ भी चीज़ों को बचाने का प्रयत्न कर लेता है। यह इसपर निर्भर करता है कि किस सामान पर उसका मोह है। हमसे तीन पीढ़ी पहले एक मण्डलेश्वर स्वामी जनार्दन गिरिजी महाराज थे। एक बार हरद्वार कुंभ में छावनी में भयंकर आग लगी। उस समय हमारे एक महात्मा स्वामी मोहनपुरी उनकी सेवा में थे। कुंभ में झोपड़ियाँ बनती हैं, उनमें आग जबर्दस्त लगी। उन्होंने उससे कहा 'अंदर से समान ले आ।' उसने कहा 'ले आया।' पूछा 'कहाँ है?' उसने रुपयों वाला बक्सा दिखाकर कहा, यह ले आया। कहने लगे— 'यह ले आया! तेरी बुद्धि में क्या है? अरे! वह किताबें लेकर आ। यह बेकार की चीज़ ले आया, इसमें क्या रखा है?' इतना कहते हुए उन्होंने सोचा यह जाये न जाये, खुद ही दौड़ पड़े। वह बचाने की चीज़ हुई, रुपये पैसे में क्या रखा है! किस चीज़ के ऊपर मनुष्य का प्रेम हो, यह बात दूसरी है। लेकिन करुणा की परमता वहीं होगी जिसके साथ अपना अभेदानुभव हो। ग्रन्थ के साथ अभेदानुभव होना स्वाभाविक है। वर्षों के परिश्रम से चीज़ों को तैयार किया जाता है। यहाँ 'परम' इसलिये कहा कि जब उसे पता लगा कि मैं ही इन सब के अन्दर बँधा हुआ हूँ तो इन सबके प्रति जिस करुणा का उदय हुआ, वह द्वैतभाव की करुणा नहीं है। बिना किसी कारण के ही दुःख हटाने की प्रवृत्ति को ही करुणा कहते हैं। इसको मुक्त करके मुझे कुछ मिलेगा, ऐसा कुछ नहीं है। उसको तो जो मिलना था मिल गया। लेकिन इन सब रूपों में मैं बद्ध हूँ, इसीलिये मुझे इनको

मुक्त करना है, यही गुरु की परम करुणा है। जिसने इस प्रकार की स्थिति प्राप्त नहीं की है वह हमारे यहाँ वेदांत शास्त्रों में गुरु पद का वाच्य नहीं है। यहाँ कोई 'कान फुकौवल' गुरु वाला मामला नहीं है जो यह कहे 'मैं आज से तेरा गुरु हो गया। गुरुपूर्णिमा को पाँच रुपये भेज देना। तू आज से मेरा चेला हो गया।' यहाँ ऐसा कुछ नहीं करना है। यहाँ तो उसके अंतःकरण के अन्दर ज्ञान को उत्पन्न करना है। और अगर उसमें ये सारी चीज़ें नहीं होंगी तो उत्पन्न नहीं कर सकता।

ऐसा परमकारुणिक गुरु क्या उपदेश देगा 'नास्येवं त्वं हेतुफलात्मकः, किंतु तत्त्वमसीति प्रतिबोध्यमानो यदा तदैवं प्रतिबुध्यते।' हे शिष्य! तू हेतु और फल अर्थात् कारण और कार्य से परे है, ये तेरा रूप नहीं हैं। अभी तक तो तुम अपने आपको कार्य-कारण के चक्र में ही समझ रहे हो। इसलिये मैं किसी का कार्य हूँ और किसी का कारण हूँ यही मानते हो। शरीर की दृष्टि से पिता का कार्य हूँ, और पुत्र के प्रति कारण हूँ। मन की दृष्टि से बड़ों के ग्रन्थों को पढ़ा इसलिये वे हमारे मन में प्रविष्ट हुए तो उनका कार्य और हमने उसपर नया विचार करके दूसरों को दिया, उसके प्रति कारण हो गया। पूर्व जन्म के पुण्य पापों के फलस्वरूप मैं कार्य हूँ और अब जो कुछ कर रहा हूँ उसके फलस्वरूप आगे जो शरीर होंगे उनका कारण हूँ। कार्य-कारण की परम्परा वाला ही अपने आपको समझ रहे हो। यह कार्य-कारण-भाव तेरा नहीं है। कार्य-कारण-भाव को लेकर ही तो देश काल की कल्पना है। जो पहले हो वह कारण होता है, जो बाद में हो वह कार्य होता है। अगर कारण-कार्य नहीं तो काल भी नहीं और देश भी नहीं। इसलिये तुम अपने आपको जो कार्य-कारण से बद्ध समझ रहे हो, यह तुम्हारा स्वरूप नहीं है।

फिर कहोगे कि यह कार्य-कारण-भाव कैसे आया? यह कार्य-कारण-भाव माने बिना बंधन शुरू नहीं होता। लोक में भी जब कोई लड़का कोई ठीक काम न करे तो इतना ही कहते हैं कि 'ऐसा किया कर।' लेकिन असली बंधन तब शुरू होता है जब उसका ब्याह हो जाता है। फिर कहते हैं कि तेरी औरत का क्या होगा, तेरे बच्चों का क्या होगा? असली कार्य-कारण-भाव तब से प्रारंभ होता है क्योंकि तब से तुमने यह मान लिया कि अब इनकी जिम्मेवारी हमारी है। यह आज के युग का दृष्टांत दे रहे हैं क्योंकि पहले ऐसा नहीं था। पिता सब कुछ खर्च कर बड़े लड़के को पढ़ा देता था और बड़ा लड़का आगे अपने छोटे भाईयों को पढ़ाना वैसे ही कर्तव्य समझता था जैसे आजकल अपने बच्चों को पढ़ाने में मानते हैं। हमारी समझ में आज तक यह नहीं आया, कि बेटे में प्रेम भाई से अधिक कैसे होता है? भाई में तो उसी माता पिता का खून है जो माता पिता का खून हमारे में है। इसलिये भाई का और हमारा शरीर तो एक उपादान कारण से उत्पन्न हुआ, दोनों में एक ही माता पिता कारण हैं। बेटे के अन्दर तो तुम्हारा आधा खून है और आधा उसका है जिसे बाहर से बाजे गाजे के साथ पकड़ लाये थे। भाई में तो पूरा खून हमारा है और बेटे में आधा है। खून से प्रेम होता है तो प्रेम भाई से होना चाहिये था, बेटे से कैसे हो गया? लेकिन आजकल लोगों को बेटे से प्रेम हो जाता

है, भाई से नहीं रहता। जहाँ हमने अपने मनमें समझा कि यह हमारी जिम्मेवारी है, वहीं से कार्य-कारण-भाव प्रारंभ होता है। इसी प्रकार जब शरीर के साथ हमने कार्य-कारण-भाव माना तब शरीर के बंधन में आये। मन के कार्य-कारण-भाव में स्वयं को माना तो मन के बंधन में आये। इसलिये बंधन का कारण ही कार्य-कारण को स्वीकार करना है। इसलिये कहा कि यह हेतुफलस्वरूपता तुमने मानी है और जब तक यह मान्यता नहीं छोड़ोगे तब तक बंधन नहीं छूटेगा क्योंकि यही बंधन है, और कुछ नहीं है।

संसार का प्रवाह तो जैसा चल रहा है वैसा ही चलता रहता है। तुम्हारे पैदा होने के पहले भी चलता रहा और और तुम्हारे मरने के बाद भी चलता रहेगा। 'मेरे बिना नहीं चलेगा, मैं इसमें कारण हूँ', बस यही बंधन है। 'मैं इसका कारण नहीं हूँ यह तो ऐसे ही चलेगा', यह मानकर स्वतंत्रतापूर्वक जो कार्य किया जाता है उसको बंधन नहीं कहा जाता। पैसे की कमी से पुत्र को नहीं पढ़ा पाये, वहाँ तो बंधन महसूस होता है। पड़ोसी के लड़के को स्कूल नहीं भेज पाये, वह बेचारा गरीब है और अपने पास भी इतना नहीं है— तो देखकर दुःख तो होता है, लेकिन यह प्रतीत नहीं होता कि हाय! मैं अपना कर्त्तव्य नहीं कर पाया। वहाँ बंधन की प्रतीति नहीं है। यदि पैसा होता तो दस बच्चों को पढ़ा लेता, पचास घरों की मदद करता, लेकिन उसके करने में स्वतंत्रता का बोध है। इसलिये जितना कर पाये उतनी प्रसन्नता होती है। पुत्र के प्रति यदि नहीं कर पाते हो तो बंधन की प्रतीति होती है और कर पाते हो तो कोई अधिक आनंद की प्रतीति नहीं होती है, इतना ही है कि मेरी जिम्मेवारी हट गई। इसी प्रकार जब कार्य-कारण-भाव मानस से निकल जाता है तो उसके बाद वह जो करता है वह शरीर-मन के बंधन से रहित होकर स्वतंत्र कार्य करता है। इसीलिये उसके अन्दर आनंद का उद्‌बोध निरंतर बना रहता है क्योंकि वह स्वतंत्र होकर कार्य कर रहा है। जो काम वह नहीं कर पाता है उसमें उसे कोई बंधन का बोध नहीं होता कि हाय! क्यों नहीं कर पाया, क्योंकि जानता है कि संसार का प्रवाह ऐसे ही चलता है, जिसको करना होगा वह आगे कर लेगा।

ब्राह्मण निराश नहीं होता कि मेरा यह विचार किसी ने नहीं माना। वह तो सोचता है कि अनंत काल और अनंत देशों में और कई मेरे इस विचार को मानने वाले होंगे ही। यह तो वृथा अभिमान है कि मेरी बात मानी जाये। विचार में मेरापन भ्रांति है, और कुछ नहीं है। विचार करके देखो तो मार्क्स भी मरा ही है। मरने के बाद कोई ठिकाना है कि वह अमरीका के अन्दर किसी पूँजीपति के घर पैदा नहीं हुआ होगा? और राकफेलर का लड़का होकर गालियाँ दे रहा होगा कि न मार्क्स पैदा हुआ होता और न औद्योगिक साम्राज्यवाद (इंडस्ट्रियल इम्पीरियलिज्म) का नाश हुआ होता! उसे यह पता नहीं कि मैंने ही इतना काण्ड कर रखा है। विचार से पता लगता है कि कोई विचार यदि अच्छा है तो किसी के मन से चले, क्या फरक पड़ता है? मेरे नाम से भी चलेगा तो थोड़े दिन बाद वह नाम मेरा तो रहेगा नहीं, वह तो इस शरीर के साथ खत्म हो जाना है।

चलेगा भी तो शरीर के नाम से चलना है, मेरे नाम से कहाँ चलना है? इसलिय विचार मेरे नाम से चले यह ज़रूरी नहीं और विचार सत्य है तो कभी न कभी फलेगा ही। इसलिये कह दिया 'नास्येवं त्वं हेतुफलात्मकः'। उसके बाद वह जितने भी कार्य करेगा वह सारा स्वतंत्र होकर करेगा, स्वतंत्र क्रियाओं को करेगा, बंधन के कर्मों को नहीं करेगा।

फिर यदि मैं हेतु-फल रूप नहीं हूँ तो क्या हूँ? तुम समझते हो कि मैं कार्य कारण के बीच की कड़ी हूँ, तुम कार्य कारण के बीच की कड़ी नहीं हो। तुम तो वह हो जिसके अन्दर कार्य कारण की समग्र कड़ियाँ गुँथी हुई हैं। मुझ अखण्ड आनंद समुद्र के अन्दर अनेक लहरियाँ उठ रही हैं 'मयि अखण्डसुखाम्बोधौ बहुधा विश्ववीचयः। उत्पद्यन्ते विलीयन्ते मायाभारुतविभ्रमात्।' मुझ अखण्ड आनंद समुद्र के अन्दर अनंत सृष्टियाँ उत्पन्न हो रही हैं फिर विलीन हो रही हैं। मैं तो वह आधार हूँ जिसके अन्दर इन सब कल्पनाओं को किया जा रहा है। वही तो मेरा स्वरूप है। इसलिये कहा कि तुम अपने आपको एक कड़ी समझ रहे हो जबकि सारी कड़ियाँ तुम्हारे अन्दर ही तो मौजूद हैं। इसी बात को हमारे यहाँ पुराण आदि ग्रन्थों के अन्दर दूसरे ढंग से बताया है। रावण मरता है तो रावण की ज्योति भी राम के पैर के नखों में घुस जाती है। कंस मरता है तो कंस की ज्योति भी भगवान् के चरणों में मिल जाती है। शिशुपाल को भगवान् मारते हैं तो उसकी भी ज्योति निकलकर भगवान् के चरणों में मिल जाती है। पुराण दृष्टांत के ढंग से तत्त्व को बताते हैं कि जिनको तुम दुष्ट समझ रहे हो वे भी केवल एकमात्र भगवज्ज्योति से ही प्रकाशित हो रहे हैं। ऐसा नहीं कि राम, कृष्ण भगवान् हों और रावण कोई दूसरा हो। ऐसा होता तो ज्योति उनके चरणों में कैसे मिलती? वे तो केवल खेल करने के लिये दो जने हो गये। जैसे खेल के लिये हम लोग पाली बना लेते हैं। हमारी अपनी ही जमीन, हम उसके मालिक, लेकिन बीच में पाली बनाकर कहते हैं कि यह तुम्हारी पाली और यह मेरी पाली। कबड्डी खेलते हैं या आजकल फुटबाल या क्रिकेट खेलते हैं। जो जीत जाता है वह फिर पाली बदल कर दूसरी पाली में जाता है। अगर बीच में कहो कि 'जमीन मेरी है, मैं इधर ही खड़ा रहूँगा', तो खेल नहीं चलेगा। शतरंज खेल रहे हो, तुम्हारे मोहरे उसके मोहरे हो गये। अब अगर तुम बीच में मोहरा उठाकर कहो कि 'यह मेरा है, मैं बाज़ार से खरीदकर लाया हूँ, जहाँ मर्जी रखूँगा', तो खेल नहीं चलने वाला है। मैं मालिक बना रहा लेकिन खेल काल में वह मोहरा उसी का है, वही चलायेगा। इसी प्रकार एक ने रावण का और एक ने राम का मोहरा उठा लिया। बीच में यह नहीं कह सकते कि रावण भला आदमी क्यों नहीं हो जाता, राम का खेल क्यों नहीं खेलता। खेल तो पूरा होना ही हुआ। यह निश्चय यही बताता है कि चेतन एक है, उसके अन्दर भिन्न भिन्न वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं अथवा भिन्न भिन्न वृत्तियों के अन्दर कार्य-कारण-भाव की कल्पना है। लेकिन वस्तुतः वहाँ सच्चा कार्यकारण नहीं है। यह दार्शनिक दृष्टि से कहा, पुराणों में उसे ज़रा दृष्टांत रूप से बता दिया कि ज्योति उसमें घुस गई। लेकिन तात्पर्य यही है कि वास्तविक कार्यकारणता नहीं है।

प्रतिबोधन कराने से ही प्रतिबोध होता है यह पहले बता आये हैं। जब प्रतिबोध होता है तब फिर ऐसे ही उसका जगना हो जाता है, इसी भाव में जग जाता है। जगना सरल इसलिये है कि यह हमारा वास्तविक स्वरूप है। स्वप्न में आदमी चाहे जितने ज़ोर से चिल्ला रहा हो, जहाँ तुमने उसे हिलाकर जगाया तो फिर बैठकर उसे रटाना नहीं पड़ता, जगते ही वह समझ लेता है कि 'मैं वही हूँ।' जैसे कर्ण था तो कुंती का बेटा लेकिन अपने को समझता था राधा का बेटा, सूतपुत्र। जब उसे सूर्य ने बताया, कुंती ने बताया तो उसे निश्चय हो गया कि 'मैं कुंती का पुत्र हूँ।' बाद में भगवान् ने समझाया तो कहा कि मुझे पता है, पहले सूर्य ने और फिर कुंती ने और अब आप भी कह रहे हैं तो मुझे निश्चय है। क्यों निश्चय हो गया? क्योंकि वह सचमुच कुंती का पुत्र था। कोई कहे कि ८५ से अधिक सालों तक सूतपुत्र मानकर अब पता चला कि कौन्तेय है तो उसे साल-दो साल रटते रहना पड़ेगा कि 'मैं कौंतेय हूँ'; तो यह बात व्यर्थ की है। महाभारत युद्ध में युधिष्ठिर ८५ के थे, कर्ण उनसे पांच साल बड़ा ही था। रटने से अपनी राधेयता का ८५ साल पुराना भ्रम हटेगा, ऐसा नहीं है। कुछ उपदेश करके समझा दिया और विचारने की सामर्थ्य उसमें थी ही, इसलिये उसे झट पता लग गया कि मैं राधा का पुत्र होता तो इतना बड़ा महारथी नहीं हो सकता था। उपदेश मिलने तक समझता था राधा का पुत्र हूँ और उपदेश मिलते ही निश्चय हो गया कि सूर्यपुत्र हूँ, कौन्तेय हूँ। उसी प्रकार इस जीव को जब तक कोई याद नहीं दिलाता कि इन इन्द्रिय मन को चलाने वाली शक्ति रूप से तुम हो, तब तक समझता है कि मैं इनके अधीन हूँ, आँख के मैं अधीन, कान के मैं अधीन हूँ, इसलिये इनके बिना मैं क्या कर सकता हूँ? जब उसे कहते हैं कि तेरे बिना इंनमें किसी में कुछ दम नहीं है तब बात बैठ जाती है कि मेरे बिना मन, आँख इत्यादि इन्द्रियाँ, बुद्धि सभी कुछ नहीं कर सकते। झट निश्चय हो जाता है, फिर रटना नहीं पड़ता। इसलिये कहा 'यदा तदैवं प्रतिबुध्यते।'

'कथम्' जब वह प्रतिबोधन होता है तो उसका प्रकार क्या है? 'नास्मिन्बाह्यमाभ्यन्तरं वा जन्मादिभावविकारोऽस्त्यतोऽजं सबाह्याभ्यन्तरसर्वभावविकारवर्जितमित्यर्थः।' यह बोध होता है कि मुझ ज्ञानस्वरूप के अन्दर ज्ञान से बाहर आज तक कोई चीज़ नहीं रही है। जितनी भी चीज़ें रही हैं सब ज्ञान के अन्दर ही रहीं। घटज्ञान, पटज्ञान आदि का ज्ञान ही है। ज्ञान से बाहर कुछ नहीं क्योंकि अज्ञान भी ज्ञान रूप लेकर आता है। जब आदमी कहता है 'मैं अज्ञानी हूँ' तो इस बात को जान रहा है अतः अज्ञान भी ज्ञान का रूप लेकर आता है। सारे बाह्य अनुभव ज्ञान से बाहर नहीं हैं। जब बाहर के पदार्थ ही ज्ञानातिरिक्त नहीं तो अंदर वाले तो हम जानते ही हैं कि ज्ञानमात्र हैं। सुख-दुःख, यश-अपयश, मान-अपमान, सब ज्ञान रूप से ही रहेंगे। इसी प्रकार जन्म आदि छहों भाव विकार 'जायते अस्ति वर्द्धते परिणमते अपक्षीयते और नश्यति' ज्ञानस्वरूप ही हैं, ज्ञान से बाहर नहीं। चूँकि ज्ञान में जन्म होता है इसलिये ज्ञान का जन्म नहीं। ज्ञान में जन्म

अर्थात् प्रतीत हो रहा है कि जन्म हुआ। ज्ञान में जन्म हुआ तो ज्ञान का जन्म नहीं हुआ। इसलिये सारे भाव विकारों से रहित ज्ञान का स्वरूप— इस रूप से अपने को जान लेता है।

'यस्माज्जन्मादिकारणभूतं नास्मिन्नविद्यातमोबीजं निद्रा विद्यत इत्यनिद्रम्।' चूँकि जन्म आदि कारण और जितनी चीज़ें हैं वे सारी की सारी इसके अन्दर नहीं, इसलिये अविद्या रूपी जो तम बीज है वह भी इसमें नहीं। इसलिये निद्रा रहित होने से ही वह तुरीय अर्थात् स्वप्न-भाव या द्वैतभाव से रहित है। अन्यथाग्रहण तभी होगा जब पहले अपने स्वरूप को भूल जाये। 'अनिद्रं हि तत्तुरीयमत एवास्वप्नम्। तन्निमित्तत्वादन्यथाग्रहणस्य। यस्माच्चानिद्रमस्वप्नं तस्मादजमद्वैतं तुरीयमात्मानं बुध्यते तदा।' चूँकि निद्रा से रहित है अर्थात् तत्त्व के अग्रहण से और स्वप्न अर्थात् तत्त्व के अन्यथा ग्रहण से रहित अज है इसलिये अद्वैत है। वेदांत शास्त्र अपने को कभी भी एकात्मवादी नहीं कहता। यह तो हम लोगों पर ज़बर्दस्ती थोप दिया गया है कि आप एकत्ववादी (Monist) हो। हम लोगों ने आज तक अपने को एकत्ववादी नहीं कहा। इसका मतलब हुआ एक ही ब्रह्म को मानने वाले; ऐसे हम नहीं हैं। क्यों नहीं हैं? यह ठीक से समझना। ब्रह्म एक अखण्ड चिन्मात्र है। एक अखण्ड चिन्मात्र में भेद कहाँ से आयेगा? एक से अनेक की उत्पत्ति कैसे होगी, जब तक दूसरा कारण अनेकता का बीज मौजूद न हो? एकत्ववाद में समस्या खड़ी हो जायेगी कि एक से अनेकता निकल कहाँ से आई? अनुभव रात दिन अनेकता का हो रहा है। भगवान् भाष्यकार एक जगह कहते हैं कि सारे शास्त्र और सारे गुरु मिलकर एकता का उपदेश करते हैं तब तो लोगों के बात बैठती नहीं, और बिना किसी उपदेश के अनेकता की बात सबको जम रही है। उस अनेकता को कैसे कह देंगे कि है ही नहीं? इसलिये हमारा एकत्ववाद नहीं है।

हमारा तो कहना है कि इस अनेकता का जो कारण, वह उस एकता से अलग नहीं है। इसीलिये हम लोगों के दृष्टांत हमेशा होते हैं कि दो होठ मिलकर शब्द को उच्चरित करते हैं और उच्चरित शब्द एक है। दो डण्डे मिलकर एक आवाज़ पैदा करते हैं। अंगुली और अंगूठा मिलकर आवाज एक पैदा होती है। इन सबमें चीज़ें दो लेकिन जो पैदा हुआ वह एक है। माता पिता मिलकर पुत्र उत्पन्न करते हैं, लेकिन जो पैदा हुआ उसमें दोपना नहीं। बच्चा तो एक अखण्ड ही पैदा होता है। यह नहीं कह सकते कि इधर का नाक अलग और उधर का नाक अलग है। इसी प्रकार ज्ञान अज्ञान, विद्या अविद्या दोनों से उत्पन्न होने वाला जो तुरीय तत्त्व का ज्ञान है वह अद्वैत है। वहाँ ज्ञान अज्ञान दोनों कारण हैं। अगर अज्ञान न होता तो ज्ञान कहाँ से पैदा होता? जब तक ज्ञान नहीं तो अद्वैत की स्थिति नहीं। इसलिये तत्त्वज्ञान ज्ञान और अज्ञान से पैदा होने वाला एक है, उसमें दोपना नहीं। इसलिये इसे अद्वैत कहते हैं। लेकिन जगत् के प्रति कारण होते ही उसे शिव-शक्ति, माया-ब्रह्म से कहा। उसी को समझाने के लिये पुराणों ने एक

विलक्षण कल्पना की है कि शंकर का एक रूप है जिसमें आधा रूप पुरुष का और आधा स्त्री का रूप है। आचार्य नीलकण्ठ दीक्षित एक जगह कहते हैं कि संस्कृतभाषा से हमें बड़ी कठिनाई है क्योंकि संस्कृत में दम्पति शब्द नित्य द्विवचन है। 'दम' कहते हैं पत्नी को। यह फिर भारोपीय शब्द है। दम से अंग्रेजी में डोमेस्टिक शब्द बना। वह भी इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है। घर का मतलब हुआ पत्नी। गृहस्थी वही होता है जो घर-वाली के साथ रहे। गृहस्थ का मतलब घर में रहने वाला नहीं है, घर में तो ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी, संन्यासी भी रहेगा, चाहे कुटिया बनाकर रहे। लेकिन जब तक घर-वाली है तब तक ही गृहस्थ है। कलकत्ते में तो ऐसी चाल है कि कहीं तुमको मकान भाड़े लेना हो तो पहले पूछते हैं कि घर वाली है या नहीं? कोई कहे कि ब्याह ही नहीं हुआ, तो कहते हैं कि छड़े आदमी को हम नहीं रखते क्योंकि छड़ों का क्या ठिकाना! इसलिये चाहे कहीं से चार दिन के लिये ही पकड़ कर ले आओ, एक बार बैठ जाओ तो फिर सुरक्षित है। इसलिये गृहस्थ में गृह का मतलब गृहिणी है। दम्पति में दम शब्द घर-वाली को बताता है। दम्पति शब्द तो हुआ एक, पर संस्कृत में द्विवचन में चलता है। अर्द्धनारीश्वर में आधा पुरुषशरीर और आधा स्त्रीशरीर है। इसलिये आचार्य नीलकण्ठ दीक्षित कहते हैं कि यदि दम्पति का द्विवचनांत प्रयोग करते हैं तो वहाँ दो नहीं हैं कैसे प्रयोग करें? और एकवचनांत प्रयोग करें तो पाणिनि ने नियम बना दिया है कि दम्पति नित्य द्विवचनांत है। इसलिये आपको नमस्कार कैसे करें! ऐसा यह बताने के लिये है कि शिव-शक्ति को भिन्न देखकर ऐसा भ्रम हो जाता है कि वे दो हैं, लेकिन जब पूर्णता का विचार करते हो तो उनकी वह सद्वितीयता खत्म हो जाती है। इसी दृष्टि से हम लोग अपने सिद्धान्त को अद्वैत कहते हैं। शिव-शक्ति, ब्रह्म-माया का अद्वैत है, वस्तुतः वे दो नहीं हैं, यह तात्पर्य है। सर्वथा एक कहोगे तो अनेकता का विस्तार ही बन्द हो जायेगा, विस्तार नहीं होगा। इस अद्वैत को ही तुरीय कहते हैं।।१६।।

●

अनादि माया से सोया हुआ जीव जगता है तब अपने स्वरूप को जान लेता है। जगता है का मतलब कई बार आदमी ले लेता है कि जब इस जगत् प्रपंच की प्रतीति खत्म हो जाती है। यह बहुत बड़ी समस्या है। प्रायः जैसे ही कहा जाता है कि जगत् की निवृत्ति हो जाती है, संसार की निवृत्ति हो जाती है, तो संसार और जगत् शब्दों का भेद न समझने से झट भ्रम हो जाता है। लोक में प्रायः संसार और जगत् एकार्थक शब्द माने जाते हैं। लेकिन दोनों में ज़रा फरक है। 'गच्छति इति जगत्' अर्थात् जो चलता रहे उसे जगत् कहते हैं और संसार का अर्थ कर आये हैं कि एक अवस्था से दूसरी अवस्था में जाने का जो अनुभव है उसे संसार कहते हैं। आधुनिक दृष्टि से यदि कहें तो कह सकते हैं कि संसार आत्मनिष्ठ (subjective) और जगत् विषयनिष्ठ (objective world) है। लेकिन यह मोटी भाषा में है। 'मोटी भाषा' इसलिये कह रहे हैं कि अंग्रेजी में सब्जैक्ट का मतलब होता है शरीर-मन-विशिष्ट आत्मा। इसलिये सब्जैक्टिव के अंतर्गत वे मन

में होने वाली क्रियाओं को और शरीर में होने वाली क्रियाओं को भी ले सकते हैं और हम उसी दृष्टि से कह रहे हैं। लेकिन वस्तुतः केवल इन सबका जानने वाला साक्षी सब्जैक्ट है और तदतिरिक्त यह शरीर और मन भी आब्जैक्टिव वर्ल्ड है क्योंकि साक्षी अपने मन को भी जानता है। 'मैं क्रोध नहीं करना चाहता फिर भी मुझे क्रोध आ गया', यह अनुभूति है। यहाँ मन से अपने को अलग समझता है तभी यह कह रहा है कि न चाहने पर भी मन क्रुद्ध हो गया। न चाहने का उलटा मतलब नहीं कि किसी समय नहीं चाहता था, सवेरे उठे थे तब सोचा था कि क्रोध नहीं करूँगा। जैसे सड़क पर चलते हैं लेकिन ध्यान चूके तो पैर फिसला, उसी प्रकार मन के साथ व्यवहार करते हैं। यदि सावधानी नहीं रखी तो काम क्रोध झट आ जाते हैं और यही तीन नरक के द्वार भगवान् ने गीता में बताये हैं।

'त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ।।१६-२१।।'

काम, क्रोध और लोभ इन तीन को ही नरक का दरवाजा बताया। यह नहीं कि ये तीन भी नरक के दरवाजे हैं, वरन् ये तीन ही नरक के दरवाज़े हैं। जैसे यदि कहते हैं कि तीन आदमी भोजन को आना तो मतलब है कि चौथा मत आना। यदि केवल कह रहे हैं कि केशव, मुरारी और हरी भोजन करने आना तब हो सकता है कि देवी को आने में रुकावट नहीं है। ऐसे ही भगवान् ने जब कहा कि तीन नरक के द्वार हैं तो परिगणना हो गई कि ये तीन ही नरक के जाने के द्वार हैं। यह बात दूसरी है कि समाज ने इसमें एक क्रम मान रखा है। समाज ने यह क्रम माना है कि क्रोध को तो सर्वत्र सभी परिस्थितियों में नरक का द्वार मान लेते हैं, लेकिन लोभ को किसी-किसी परिस्थिति में नहीं मानते। लोभी आदमी नरक जायेगा यह समाज नहीं मानना चाहता, इसे जायज़ मान लेते हैं। काम को प्रतिबंधित (restricted) कर लिया गया। यदि तुम्हारी कामनायें किसी काल में जो समाज के नियम हैं उनसे विरुद्ध नहीं हैं तो कोई बात नहीं है। लेकिन वस्तुतः भगवान् तो कहते हैं कि ये तीनों नरक के द्वार हैं।

क्यों नरक के द्वार हैं? नरक शब्द नर के आगे क होकर बनता है। क अल्पार्थक प्रत्यय है। बाल और उससे छोटा हो तो बालक हुआ। किसी चीज़ को परिच्छिन्न कहने वाला या छोटा बता देने वाला 'क' है। नर को यदि कोई चीज़ छोटा बनाती है तो ये तीन चीज़ें ही हैं। यह अनुभवसिद्ध भी है। देख सकते हो कि या कामना के कारण किसी से दबते हो, या लोभ के कारण दबते हो, या क्रोध आदि के द्वारा दूसरों से अपने आपको अलग कर देते हो क्योंकि क्रोधी किसी को प्रिय नहीं लगता। सब उससे बचना चाहते हैं। नर का मतलब क्या है? उपनिषद् में नर का अर्थ किया 'न कर्म लिप्यते नरे' जो व्यक्ति कर्म-फल में आसक्ति से रहित हो वह नर है। 'न रमते विषयेषु स नरः' विषयों में जो रमण न करे वह नर है। विषयो में रमण करने वाला ही काम, क्रोध, लोभ से

प्रतिबद्ध होता है। मेरे कर्म का फल मुझे ही मिले यह कामना हुई। मेरे कर्म का फल मुझे न मिले, परमेश्वर को मिले, तब निष्काम हुए। ईश्वर समष्टि को कहते हैं, इसलिये मैंने कर्म किया इसका फल समग्र ब्रह्माण्ड को मिले यह भाव है तो कामना नहीं है। समग्र ब्रह्माण्ड के अंतःपाती हम भी हैं, उसका उतना अंश हमको भी मिल जायेगा।

हमारे अन्दर अभिमान बैठा हुआ है कि हमने ही कर्म किया, लेकिन विचार करके देखने से पता लगता है कि हमने जो कर्म किया उसमें अनंत लोगों का सहयोग है। गीता में भगवान् ने पाँच सहयोगी गिना दिये—

'अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम्।।१८-१४।।'

आदमी सोचता है कि मैं बोल रहा हूँ, यह तो मैं ही परिश्रम कर रहा हूँ। इसमें कोई क्या कर रहा है। लेकिन तब बोल रहे हो जब सवेरे किसी ने चाय पिला दी है। जिसे चाय पीने की आदत है, उसे कोई न पिलाये तो सिर दुःखने लगता है, फिर कहाँ से बोले? इसलिये चाय बनाने वाला भी बोलने में कारण हुआ। चाय बनी कब? जब चाय बागान वालों ने पैदा की, नहीं तो कहाँ से आती? वहाँ से यहाँ तक रेल में लाई गई, तो रेल वालों ने भी काम किया। रेल तब चले जब लोहे की खानों से लोहा निकले, नहीं तो काहे से बने? जितना विचार करते जाओगे पाओगे कि जिसे तुम समझ रहे हो कि हम करने वाले हैं वहाँ तुम्हारा तो बहुत छोटा हिस्सा है। इतने से भाग को लेकर हम समझ लेते हैं कि इस कर्म का फल मुझे ही मिले! इससे हम कर्म के अन्दर लिप्त होते हैं और इसी कारण हमारा काम, क्रोध और लोभ बढ़ता है। जहाँ हमारे नरत्व की भावना आई कि तुरंत हमारे अंदर से काम क्रोध लोभ निवृत्त हुए। समष्टि के लिये हमने कर्म किया, उसका जो हिस्सा हमको मिलना है वह मिल ही जायेगा, वह कहीं जाता थोड़े ही है। सारे गाँव में सफाई होगी तो फिर हमारे घर में मक्खियाँ थोड़े ही रह जायेंगी, अपने आप निकल जायेंगी। नरक अर्थात् काम क्रोध लोभ जो मनुष्य को नर बनने में रुकावट डालते हैं, विषयों से कर्मफल की तरफ ले जाकर हमें परिच्छिन्न कर देते हैं।

कामना आदि से उत्पन्न होने वाले को हम लोग संसार कहते हैं जिसे मोटी भाषा में सब्जैक्टिव वर्ल्ड समझ लो। बाह्य पंचमहाभूतों से बने हुए पदार्थ चूँकि निरतंर बदलते रहते हैं, उनमें स्थिरता नहीं है, इसलिये उन्हें जगत् शब्द से कहा गया 'गच्छति इति जगत्।' निवृत्ति संसार की होती है जगत् की नहीं। जगत् की निवृत्ति करने वाला तुम्हारा ज्ञान नहीं है। ईशावास्य उपनिषद् में इसीलिये इसको जगत् कह दिया 'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।' इसमें पहले 'जगती' से दोनों ले लिये संसार और जगत्। दूसरे से उसमें होने वाला जो जगत् है उसको अलग किया। निवृत्ति संसार की होती है, जगत् की नहीं होती। यह बात न समझने के कारण जो भ्रम लोगों को हो जाता है उसे भगवान् सुरेश्वराचार्यने बृहदारण्यक वार्तिक में प्रपंचप्रविलयवाद कहा है जो मानता

है कि जब तक यह सारा जगत् दीखना बन्द न हो जाये, इसका विलय न हो जाये तब तक ज्ञान नहीं हुआ। तब तो प्रपंच का महाप्रलय के पहले न कभी विलय होना हुआ और न ज्ञान किसी से सम्भव होना हुआ! इसलिये प्रपंचविलयवादी असम्भव प्रयत्न करता रहता है। सारी प्रतीतियाँ कुछ देर बन्द हो जायेंगी; दो, चार, छह घण्टे समाधि लगा लोगे, छह महीने की समाधि लगा लोगे, उतनी ही देर प्रपंच की निवृत्ति रहेगी, फिर वैसा का वैसा ही बना रहेगा। प्रपंचप्रविलयवाद को अद्वैत वेदांत स्वीकार नहीं करता क्योंकि यह हम वेदांतियों की दृष्टि नहीं है। इसका उल्टा मतलब मत ले लेना कि ज्ञान के बाद दुनिया, जगत्, ऐसी ही बनी रहेगी। यह नहीं कह रहे। तब सांख्यवाद हो जायेगा। वे मानते हैं जगत् सत्य है अतः हमें उससे अपना विवेक नहीं तो हम बद्ध और जब हमें विवेक हो गया तब हम मुक्त। दुनिया ऐसी ही रहेगी, सिर्फ हमारे सामने नहीं आयेगी, हमें नहीं दीखेगी। वेदान्ती ऐसा नहीं कहता है। हमारा तो कहना है कि प्रपंचविलय तब होता जब पहले प्रपंच रहा होता। जो घड़ा अभी बना ही नहीं उसे तोड़ोगे क्या? इसलिये प्रपंच का बाध होता है, विलापन या अदर्शन की ज़रूरत नहीं। संसार तो ज्ञान के बाद प्रतीत भी नहीं होता क्योंकि कामना आदि दोष रह नहीं जाते। जगत् प्रतीत रहता है क्योंकि प्रारब्ध दोष है। इतना ही अभिप्राय है। इसलिये भगवान् गौडपाद अगली कारिका में कहते हैं

प्रपंचो यदि विद्येत निवर्तेत न संशयः।
मायामात्रमिदं द्वैतम् अद्वैतं परमार्थतः।।१७।।

तुम कह रहे हो कि प्रपंच-निवृत्ति होने से ज्ञान होता है। किंतु प्रपंचनिवृत्ति ज्ञान के प्रति कारण नहीं है। क्यों नहीं है? यदि प्रपंच विद्यमान होता तब उसकी निवृत्ति होती। जो विद्यमान नहीं उसकी निवृत्ति कैसे करोगे? जो चीज़ है नहीं, उसकी मृत्यु की तारीख पूछो तो कोई कैसे बतायेगा? इसलिये प्रपंचनिवृत्ति नहीं होती क्योंकि उसमें विद्यमानता नहीं है। विद्यमानता नहीं है का मतलब है कि उसमें वास्तविकता (reality) नहीं है। यद्यपि प्रायः लोग इसका अनुवाद (existence) कर देते हैं, वह भी ठीक है क्योंकि reality और existence में बड़ा सूक्ष्म फरक है। अगर कहना चाहो तो बृहदारण्यक उपनिषद् के शब्दों में कह सकते हो कि परमेश्वर हुआ 'सत्यस्य सत्यम्'। सत्य हुआ जगत् और उसका जो सत्य है अर्थात् जो उसमें सत्यता देने वाला है, वह परमात्मा हुआ। Reality अगर संसार को मानते हो तो जो संसार को reality देने वाला है वह परमात्मा है। यदि परमात्मा को Real कहते हो तो संसार को relatively real कहना पड़ेगा। दोनों प्रकार के शब्द कहीं कहीं शास्त्रों में मिलते हैं, इसलिये यहाँ स्पष्ट कर दिया। कहीं कहते हैं जगत् सत्य नहीं है और कहीं कहते हैं कि जगत् सत्य है। ये दोनों बातें शास्त्रों में मिलती हैं। जहाँ जगत् सत्य है वहाँ मतलब है कि जगत् सापेक्ष दृष्टि से सत्य है और जहाँ मिलता है कि जगत् सत्य नहीं है वहाँ तात्पर्य है कि पारमार्थिक दृष्टि से, निरपेक्ष दृष्टि से सत्य नहीं है।

सत्य वह होता है जो कभी बदले नहीं 'येन रूपेण यन्निश्चितं तेन रूपेण न व्यभिचरति।' संसार में कोई चीज़ ऐसी नहीं जो बदलती नहीं। इस दृष्टि से उसे निरपेक्ष सत्य तो कह नहीं सकते, लेकिन किसी और पदार्थ की सापेक्षता से नहीं भी बदलती है, इसलिये उसे सापेक्ष दृष्टि से तो सत्य मान लेंगे। जैसे आइंस्टाइन की थ्योरी आफ जनरल रिलेटिविटी और थ्योरी आफ स्पैशल रिलेटिविटी : यदि मान लो हम इन सीमाओं (coordinates) में है जिनके अन्दर प्रकाश १ लाख ८६ हजार मील प्रति सेकेण्ड से तेज़ नहीं चल सकता तो थ्योरी आप स्पैशल रिलेटिविटी; और अगर यह न मानो तो थ्योरी आफ जनरल रिलेटिविटी हो गई। इसी प्रकार वेदांत कहता है कि निरपेक्ष दृष्टि से पूछोगे तब तो जगत् में कोई चीज़ ऐसी नहीं जो नहीं बदलती। सापेक्ष दृष्टि से इसलिये कि महाप्रलय तक नहीं बदलती। इसलिये कह देंगे कि मिट्टी सच्ची है। सापेक्ष दृष्टि से मिट्टी नहीं बदलती, सिकोरा, घड़ा इत्यादि बदल जाते हैं। इसलिये मिट्टी सत्य और सिकोरा इत्यादि असत्य हैं। सोना नहीं बदलता, गहने बदल जाते हैं, इसलिये सापेक्ष दृष्टि से स्वर्ण सत्य, गहने मिथ्या हैं, लेकिन निरपेक्ष दृष्टि से नहीं क्योंकि अंततोगत्वा तो वे चीज़ें भी समाप्त हो जाती हैं। 'प्रपंचो यदि विद्येत' का मतलब है कि यदि प्रपंच के अन्दर स्वरूप से, निरपेक्ष दृष्टि से विद्यमानता होती, तो उस विद्यमानता को हटा सकते थे।

दूसरे दृष्टांत से समझ लो कि स्फटिक मणि के पास अडूसे का लाल फूल रखा हुआ है। स्फटिक मणि लाल दीख रही है। तुमको हम कहते हैं कि यह लाली पता नहीं किसने चिपका दी, इसे अच्छी तरह से धो दो। उसे जितना धोते जाते हो वैसी की वैसी लाली बनी रहती है। तब स्फटिक को खुरचने लगते हैं। वहाँ बैठा हुआ कोई बुद्धिमान् कहता है कि यदि इसमें लाल रंग होता तो 'निवर्तेत न संशयः' तुमने इतना माँजा है, जरूर हट जाता। यह तो यहाँ रखे फूल के कारण लाली दीख रही है, प्रतीतिमात्र है, है नहीं। इसलिये उस फूल को वहाँ से हटाओ, धोना छोड़ो। या जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब आदमी को दीखता है। यदि काँच के अंदर आदमी हो तो पीछे जाकर उसे पकड़ लेते। है नहीं, प्रतीतिमात्र है।

इसी प्रकार जगत् के पदार्थों में यदि अपनी स्वतः की विद्यमानता होती तो किसी समाधि इत्यादि प्रक्रिया से उसे खत्म भी कर लेते, वह आगे की बात होती, लेकिन चूँकि संसार के पदार्थों में अपनी विद्यमानता नहीं है इसलिये वह हटे कैसे? हर पदार्थ के साथ ब्रह्म बैठा हुआ है, सब उसी में अध्यस्त है। ब्रह्म की सत्यता से वह पदार्थ सत्यवत् प्रतीत हो रहा है। इसलिये अब जगत् की सत्यता हटाने की चीज़ नहीं है। प्रपंच की सत्यता या प्रपंच कहीं हटने वाला नहीं है। केवल इस बात को समझना है कि प्रपंच में अपनी सत्यता नहीं है।

सत्यता उसे कौन दे रहा है? ब्रह्म दे रहा है। अब ब्रह्म कौन है जो इसे सत्यता दे रहा है? तुम खुद हो। विचार करके देखो कि यह शरीर नौ इंच का या एक फुट का पैदा हुआ था और अब छह फुट का सामने खड़ा हुआ है। पाँच पाउण्ड या सात पाउण्ड का पैदा हुआ होगा और अब १७० किलो को छू रहा है। इतना बड़ा परिवर्तन होने पर भी यह वही है जो पैदा हुआ था। दिल्ली में लोग जन्मगाँठ मनाते हैं। मनाना अच्छी चीज़ है क्योंकि आस्तिक लोग जब वर्षगाँठ मनाते हैं तो हमें मिठाई इत्यादि खिलाते हैं इसलिये अच्छी चीज़ है। लेकिन विचार-दृष्टि से देखो कि जिसका जन्म हुआ था वह है कहाँ? वह तो रहा नहीं, खत्म हो गया। फिर कौन सी चीज़ सत्यता दे रही है जिससे वह जन्म लेता है और अब तक है? आज हम हैं, यही न उसे सत्यता दे रहा है। चेतन के अन्दर की सत्यता पदार्थों में प्रतिबिम्बित होती है। इसका मतलब यह नहीं कि पदार्थ नहीं हैं। वही स्फटिक वाली बात याद रखना। स्फटिक नहीं है यह नहीं कह रहे हैं, स्फटिक में ललाई नहीं है। इसी प्रकार जगत् के पदार्थों में सत्यता नहीं है। कौन सी सत्यता नहीं है? यहाँ तात्पर्य है कि निरपेक्ष सत्यता नहीं है। और जहाँ कहते हैं कि सत्यता है, वहाँ सापेक्ष सत्यता अभिप्रेत है। इसमें से इस सत्यता को दूर करना नहीं है, केवल समझना है। संसार के यावत् पदार्थों में यही बात है।

क्या कारण है कि आज हम कहते हैं कि विश्व में सबसे प्राचीन संस्कृति भारत की है? यह हम कैसे कहते हैं? मिस्र की संस्कृति कम पुरानी थोड़े ही है, बेबिलोनिया और असीरिया की संस्कृति कम पुरानी थोड़े ही है। लेकिन वे संस्कृतियाँ मृत संस्कृतियाँ हैं, वे मर चुकीं। इसका मतलब यह नहीं कि मिस्र में कोई आदमी नहीं जी रहे हैं या असीरिया या बेबिलोनिया में आदमी नहीं जी रहे हैं। यह भी नहीं कि सारे ईजिप्शियन्स तब मर गये थे, आज कोई नये खून के हैं। जब ढाई सौ साल के राज्य में अमरीकी इंडियन्स को अमरीकन्स खत्म नहीं कर सके तो उस समय सारे ईजिप्शियन्स को मार डाला होगा, ऐसा नहीं। उनकी संस्कृति मृत इसलिये है कि उन्हें अवबोध यह नहीं है कि हम फरोहा से लेकर आज तक एक संस्कृति वाले हैं। वह कड़ी टूट गई। उन्हें अवबोध है कि हम अब तत्तत् संस्कृति के अभिन्न अंग हैं, किसी अतिप्राचीन संस्कृति के नहीं, यही फरक है। हम आज भी कहते हैं कि मोहिंजोदड़ो-हडप्पा की संस्कृति से लेकर आज पर्यन्त हम उसी परंपरा में हैं। मोहिंजोदड़ो में शंकर जी की ही पूजा होती थी और देवी की भी मूर्ति वहाँ थी तथा आज भी हमारे घरों में, शहरों में ये ही पूजे जा रहे हैं। अतः हमें अखण्डता की प्रतीति है। जैसे शरीर की सब चीज़ें बदल गई लेकिन जब तक यह अखण्डता की प्रतीति है कि मैं वही देवदत्त हूँ तब तक हम एक ही हैं, तब तक शरीर जीवित है, और जैसे ही यह अवबोध हटा तो वह अखण्डता नहीं रहेगी।

जैसे व्यक्ति के जीवन में वैसे ही संस्कृति में भी अखण्ड अवबोधन की आवश्यकता होती है। पाकिस्तान बना, क्या हुआ? कुछ नहीं हुआ। पहले भी यहाँ मुसलमान राजा

राज्य करते थे, कोई बुरी बात नहीं है। जो असली चीज़ हुई वह यह कि अखण्ड अवबोध हट गया। तक्षशिला मेरी संस्कृति है, यह अवबोध पाकिस्तान वालों को नहीं है। तक्षशिला उनके पास है लेकिन तक्षशिला मेरा है, यह अवबोध नहीं रहा। अद्वैती जितना बौद्ध का खण्डन करता है सम्भवतः किसी का नहीं करता क्योंकि बौद्ध असद्वाद को मानता है, लेकिन अद्वैती का यह अवबोध नहीं है कि बुद्ध हम से कोई भिन्न थे। हमारे में एक बुद्ध हुए, उनकी कुछ बातें चाहे हमको नहीं जँच रही हैं या सभी बातें नहीं जँच रही हैं। जैसे हमारे चाचा जी का स्वभाव बड़ा खराब था, हम उनसे बात भी नहीं करते थे, इससे क्या हमारा अवबोध है कि वे मेरे चाचा नहीं थे? इसी प्रकार हमारा अवबोध बुद्ध के प्रति है कि चाहे जितनी गलती की है, थे तो हमारे ही पूर्वज। भारत में जब कोई व्यक्ति मुसलमान या ईसाई बनता है तो असली गलती यह आती है कि अवबोध की कड़ी टूटती है। उसे सोहराब अपने लगते हैं और बुद्ध-महाबीर अपने नहीं लगते। यह जो अवबोध की कड़ी टूटना है इसके कारण कहते हैं कि अब वह संस्कृति उस व्यक्ति में नहीं जी रही है। केवल मुसलमानों का राज्य हो जाने से कोई फरक थोड़े ही पड़ता है। यह जो अखण्डता की चेतना है, चाहे व्यक्ति में चाहे समाज में, यही हमको जीवित रखती है, यही हमको प्राण देती है। बाह्य पदार्थों में परिवर्तन होता रहता है।

लोग प्रायः कहते हैं कि आप अपने को वैदिक संस्कृति का कहते हैं, उस काल में इस प्रकार से खेती हुआ करती थी, ऐसे यज्ञ होते थे, ऐसे बकरों पर गाड़ी खींची जाती थी, अब उस संस्कृति का तुम्हारे में क्या रह गया है, कौन सी चीज़ तुम्हारे में उस संस्कृति की बच गई है? श्रौत तरीके आये, उसके बात स्मार्त तरीके, पौराणिक तरीके और भिन्न भिन्न तरीके आते चले गये। किसी काल में इन्द्र, वरुण, यम की प्रधान रूप से पूजा होती थी; ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र की पूजा प्रधान हो गयी। फिर विष्णु की पूजा में राम, कृष्ण की पूजा और प्रधान हो गई। उनमें भी जितनी राम की पूजा प्रधान है, उतनी विष्णु की नहीं। उस काल में आहुति प्रधान थी, आज ऊपर से चढ़ावा प्रधान है। जैसे नौ इंच के शरीर में और छह फ़ुट के शरीर में कोई समानता नहीं लेकिन अवबोध है कि मैं एक हूँ वैसे अक्षुण्णता की चेतना ही पदार्थों के निरंतर गतिशील होने पर भी, जगत् होने पर भी, उनमें अपरिवर्तन रखती है। इन बदलते हुए पदार्थों में स्थिरता देने वाला चेतन है, यही समझना है। 'प्रपंचो यदि विद्येत निवर्तेत न संशयः' इसलिये प्रपंचप्रविलयवाद हमारा नहीं। स्फटिक को छोड़कर उसकी रक्तिमा नहीं निकालनी है। इस बात को समझो कि रक्तिमा का केन्द्र और स्फटिक का केन्द्र कौन है? उसी से कह दिया 'मायामात्रम् इदं द्वैतम्' यह जो द्वैत की प्रतीति है बस यह मायामात्र है।

माया का मतलब क्या होता है? 'मा' मतलब जानना। इसी से प्रमाता शब्द है। प्र उपसर्ग है। ऐसे ही मा से मेय बन जाता है। 'या' मतलब जो। जिसे जाना जाये अर्थात्

जो प्रतीतिरूप हो उसको माया कहते हैं। जिसको जाना तो जाये लेकिन यदि जानने से अतिरिक्त उसकी सत्ता ढूँढने जाओ तो कुछ न मिले वही माया है। जितना जितना वैज्ञानिक इस जगत् के पदार्थों को ढूँढने लगे, अंत में जाकर कहाँ पहुँचे? ये पदार्थ केवल ऊर्जापरिवर्तनों के कारण प्रतीत होते हैं, वस्तुतः ऊर्जा ऐनर्जी का रूप हैं। उनसे पूछते है कि ऐनर्जी का रूप क्या है? कहते हैं 'बस वहीं अटके हैं, आगे नहीं जा पा रहे हैं।' इसलिये उन्होनें एक नया शब्द बना लिया 'इलैक्ट्रोक्यूल', कहते हैं यह नहीं तो ऐनर्जी नहीं। इलैक्ट्रोक्यूल ऐसी चीज़ है जो किन्हीं परिस्थितियों में मालिक्यूल और किन्हीं परिस्थितियों में ऊर्जा की तरह काम करती है। यदि उनसे पूछें कि ऐनर्जी चेंजेज़, ऊर्जा-परिवर्तन कहाँ रहते हैं? तो फिज़िसिस्ट को, भौतिकी-वैज्ञानिक को कहना पड़ता है कि वह कांश्यसनैस में परसीव ही किया जाता है अर्थात् चेतन को ऐसा ज्ञान होता है। उससे पूछो 'क्या इसके अतिरिक्त ऐनर्जी चेंजज़ हो सकते हैं?' कहते हैं 'इसके बारे में कुछ नहीं कह सकते।' इसलिये नहीं कह सकते कि यदि कहते हैं नहीं होते हैं तो उसमें प्रमाण क्या देंगे? तुरंत तुम कहोगे कि कांश्यसनैस से तुम पर्सीव करते हो, चेतना से तुम जानते हो, यहाँ तक ठीक है, लेकिन इसके अतिरिक्त नहीं है इसमें प्रमाण क्या और कैसे है? तो क्या प्रमाण देंगे? इसलिये कहते हैं कि इस विषय में हम कुछ नहीं कह सकते। हम केवल इतना जानते हैं कि जो पर्सैप्शन है, ज्ञान है, वह केवल कांश्यसनेस के इलैक्ट्रिकल चेंजेज़ हैं, चेतना के वैद्युत परिवर्तन हैं, प्रतीति मात्र हैं।

यही बात वेदांती कहता है। वह कहता है कि चेतना के सामने प्रतीति आती है, प्रतीति का स्वरूप हमेशा अज्ञात है। प्रतीति तो ज्ञात है लेकिन उस प्रतीति का मूल कारण क्या है, यह हमेशा अज्ञात है। अज्ञात का मतलब क्या है? जो अज्ञान के कारण हो उसको अज्ञात कहते हैं। जो चीज़ ज्ञान के कारण हो वह ज्ञात हुई। जब वेदांती कहता है कि जगत् का मूल कारण अज्ञान है तो कोई अजीबोगरीब चीज़ नहीं कह रहा है। वही चीज़ कह रहा है जो हमारे प्रतिदिन के अनुभव की है। केवल वह इस बात को साक्षात् कहता है, दूसरे कहते हैं कि हम सच्ची बात धीरे धीरे बतायेंगे यही फरक है। किसी न किसी कोटि में जाकर सबको कहना पड़ेगा कि हमको पता नहीं। किसी भी चीज़ का कारण ढूँढोगे तो 'पता नहीं' ही अंतिम स्तर निकलेगा। जैसे कपड़ा किससे बना? सूत से। सूत किससे बना? रूई से। रूई किससे बनी? बिनौले के पौधे से। वह पौधा कहाँ से आया? मिट्टी से। मिट्टी कहाँ से आई? कहोगे 'सिर मत खाओ, जाओ यहाँ से।' इसका मतलब है कि हमें पता नहीं। ज्यादा विज्ञान पढ़ा होगा तो मिट्टी की दो चार कोटियों तक चला जायेगा। वहाँ से आगे पूछेंगे 'वह किससे ?' तो कहेगा कि आगे नहीं, यहीं तक पूछो। 'अतिप्रश्नान् मा कार्षीः' जो महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा वही उसे कहना पड़ेगा। वेदांती कहता है कि तुम इतने बाद में जा कर कहते हो पता नहीं, हम पहले कहते हैं

कि पता नहीं कपड़ा कहाँ से आया। कपड़े की प्रतीति हमें पता है। कैसे बना, क्या बना? — हम पहले ही हथियार डाल देते हैं।

इसपर कुछ लोग कहते हैं कि फिर व्यवहार कैसे होगा? इन दोनों प्रश्नों को अलग समझना। निरपेक्ष दृष्टि से सचमुच कहाँ से आये? तो कहते हैं 'पता नहीं।' सापेक्ष दृष्टि से हम भी वही कोआर्डिनेट्स, सीमायें, परिधियाँ या मापदण्ड मान रहे हैं जो तुम मान रहे हो। सापेक्ष दृष्टि से दो चार कोटि तक हम भी व्यवहार चला लेंगे लेकिन हम यह जानते हैं कि निरपेक्ष कारणता नहीं है। इसका नतीजा क्या होगा? प्रारंभ में बताया कि निरपेक्ष कारणता मानने वाले में ही काम, क्रोध, लोभ उत्पन्न होते हैं। हमारे नौकर से कुछ नुक्सान हो गया। आजकल घरों में मिट्टी के कप सासर का दो दो सौ रुपये का एक सैट होता है। पता नहीं कहाँ से ज़िंक स्टोन, बोन चाइना के बने हुए आते हैं। देखने में मिट्टी के लगते हैं, लेकिन हड्डी से बनते हैं। इसलिये पुराने लोग ऐसे बर्तनों में नहीं खाते थे क्योंकि पहले पता नहीं लगता था कि मिट्टी से बना है या इसमें हड्डी भी डाल दी है। जो महँगा आता है उसमें हड्डी होती है। वह जब नौकर से टूट जाता है तो देखने में आनंद आता है।घर की मालकिन का मुँह उस समय देखने लायक हो जाता है। वह मान रही है कि गिरने का निरपेक्ष कारण यह नौकर है। सापेक्ष कारणवादी जानता है कि इसके अनंत कारण हैं। हमारी दृष्टि से इसका पहला कारण तो यह है कि इससे इतने दिन तक भोग भोगना था, इसलिये यह अब तक रहा, आज भोग समाप्त हो गया तो इसे जाना था। या सम्भवतः नौकर की पत्नी बीमार है, यह दूसरा कारण है। साल भर से वह रोज़ ही इन्हें रख रहा था, कभी नहीं गिरा। दो दिन से उसकी पत्नी बीमार है, रात में उसकी तीमारदारी करता रहा, इसलिये कुछ नींद का प्रभाव था जो ठीक से रास्ता नहीं देख सका और गिर गया। अनेक कारणों में यह भी एक है कि उसका पैर चूक गया। सापेक्ष कारणवादी घबराता नहीं। वह जानता है कि निरपेक्ष कारण केवल वह नहीं है, उसमें अनेक कारण हैं जिनमें एक कारण वह भी है। इसी प्रकार उसमें कामना नहीं आती। तुम लोगों का तो गृहस्थ का अनुभव हुआ होगा, हम संन्यासी का अनुभव बता सकते हैं। एक बार बहुत साल पहले तीन चार महात्मा एक शहर में गये और किसी राजा के यहाँ ठहरे हुए थे। एक दिन हम सब लोगों ने निश्चय किया कि यहाँ तो रोज़ माल ही माल खाने को मिल रहा है, आज यहाँ भोजन नहीं करना है, भिक्षा करके खाना है। पता तो लगे कि राजा खिला रहा है या भाग्य खिला रहा है। उस दिन हमने उनसे कहा कि आज कुछ नहीं खायेंगे। पहले तो उन्होंने बहुत पूछा कि क्या बात है लेकिन सत्संगी लोग थे सोचा महात्मा हैं, कुछ व्रत अनुष्ठान कर रहे होंगे। दस ग्यारह बजे हम सब वहाँ से निकले। भिक्षा करके आये, इकट्ठा करके देखा तो पता चला कि राजा जितना खिलाता था उससे बढ़िया माल मिला। तब यह निर्णय हुआ कि राजा के यहाँ रहकर अपने को नुकसान ही हो रहा है, कोई फायदा नहीं हो रहा है। कामना पदार्थ की इसीलिये होती है कि हम समझते हैं कि हम ही एकमात्र कारण हैं। आप लोगों को भी

अनुभव हुआ होगा। किसी के घर जाते हैं, उस दिन वहाँ पार्टी हो रही होती है, अपने को बढ़िया खाने को मिलता है। सोचकर यह गये थे कि घर का सुख छोड़कर जा रहे हैं लेकिन वहाँ जाकर घर से बढ़िया मिलता है। उसमें तुम्हारी कमाई कारण नहीं है। कुछ प्रयत्न भी तुमने इसके लिये नहीं किया। और कई बार बाजार से खरीद कर चीज लाते हो और भूल से गलत बर्तन में रखने से खराब हो जाती है। काम क्रोध लोभ को रखने वाली चीज़ निरपेक्ष सत्यता है। सापेक्ष सत्यता से व्यवहार चलता रहे लेकिन जानो कि निरपेक्ष सत्ता सिवाय चेतन के और किसी की नहीं है। इसलिये मायामात्र द्वैत कहा।

माया यानी जो प्रतीत तो होती है, लेकिन उसकी असलियत ढूँढने जाओ तो अज्ञान ही मिलता है, कि पता नहीं। क्यों पता नहीं? क्योंकि अनंत कारण हैं, उन सारे कारणों को जानना असम्भव है। यह नहीं कि हम नहीं जान सके, बल्कि जानना असम्भव है क्योंकि कारणों के फिर कारण, इस प्रकार एक बड़ी भारी शृंखला हो गई। यह जो द्वैत प्रपंच प्रतीत हो रहा है यह केवल प्रतीतिमात्र है इसलिये इसको हटाने की ज़रूरत नहीं है। इसमें सत्यता किस की है, केवल यह समझना ज़रूरी है। 'परमार्थतः अद्वैतम्' निरपेक्ष सत्यता तो अद्वितीय की है। चेतना के अन्दर ही वास्तविक सत्यता है क्योंकि चेतना में कोई द्वैतभाव नहीं है। जहाँ प्रतीति हो रही है उसको तो चेतना ने सत्ता दी लेकिन जहाँ प्रतीति नहीं हो रही है वह चेतन खुद हुआ। इसलिये उसे किसी दूसरे से सत्ता नहीं लेना पड़ती। मोटी भाषा में बाकी सब चीज़ों को जानने के लिये आँख चाहिये, आँख से पदार्थ दीखता है, लेकिन मेरी आँख ठीक नही हैं इसको जानने के लिये तुमको दूसरी आँख की ज़रूरत नहीं पड़ती। डाक्टर से जब जाकर कहते हो कि मेरी आँख कुछ ठीक नहीं है तो डाक्टर कहता है कि तुम खुद देखकर बताओ स्वतः पता लगता है। इसी प्रकार चक्षु इत्यादि प्रत्यक्षों को जानने के लिये मन की ज़रूरत पड़ती है। मन के द्वारा पता लगा कि मेरी आँख ठीक नहीं है, यहाँ मन ने जाना। लेकिन जब मन खराब हो जाता है तो किसने जाना? आजकल मन का नया रोग ऊबना होता है जिसे बोर्डम कहते हैं। जिससे पूछो कहता है कि 'मैं ऊब रहा हूँ।' उनसे पूछो 'तुम बोर हो रहे हो, यह किस मन से जाना?' किसी दूसरे ने नहीं कहा। मन के द्वारा दूसरी चीज़ों को जानोगे लेकिन मन को जानने के लिये किसी दूसरे मन की ज़रूरत नहीं। आँख को देखने के लिये दूसरी आँख की और मन को देखने के लिये दूसरे मन की ज़रूरत नहीं। मन का द्रष्टा साक्षी तुम खुद हो, उसको जानने के लिये फिर किसी की ज़रूरत नहीं। बाकी सब चीज़ों को जानने के लिये तुम्हारी सत्ता चाहिये। तुम अपने लिये किसी सत्ता की अपेक्षा नहीं करते। मैं हूँ या नहीं, मैं जान रहा हूँ या नहीं— यह अपनी सत्ता और ज्ञानरूपता निरपेक्ष है, किसी की अपेक्षा नहीं करते। प्रकट करने के लिये तो अपेक्षा कर सकते हैं। बोलने के लिये तो ज़बान चाहिये, लेकिन यदि कोई गूँगा है तो ऐसा नहीं कि वह 'मैं हूँ' यह अनुभव नहीं कर रहा है। उसके न बोलने

मात्र से यह नहीं कह सकते कि उसे अनुभव नहीं। इसी प्रकार शरीर क्रियारहित हो गया, इतने मात्र से चेतना नहीं रही, यह नहीं कह सकते। शरीर के द्वारा यह चेतना प्रकट नहीं हो रही है, इतना ही कह सकते हैं। जैसे गूँगे आदमी की चेतना वाणी से प्रकट नहीं हो रही है, अंधे की चेतना आँख से प्रकट नहीं हो रही है, लंगड़े आदमी की चेतना पैर से प्रकट नहीं हो रही है, लेकिन इसका नतीज़ा यह नहीं कि चेतना खत्म हो गई। इसी प्रकार सारा शरीर भी यदि निष्क्रिय है तो केवल इतना कह सकते हैं कि वह चेतना अब इस शरीर में प्रकट नहीं हो रही है। यह नहीं कह सकते कि चेतना नहीं रही। इसलिये कहा 'मायामात्रमिदं द्वैतम् अद्वैतं परमार्थतः।'

इस कारिका का अर्थ भगवान् भाष्यकार बताते हैं 'प्रपंचनिवृत्या चेत्प्रतिबुध्यतेऽनिवृत्ते प्रपंचे कथमद्वैतमिति।' प्रपंच की निवृत्ति होने से यदि ज्ञान होता है तो प्रपंच निवृत्त हुए बिना अद्वैत कैसे? जैसा पहले बता दिया था सिद्धान्त में निवृत्ति का मतलब नाश हो जाना नहीं। प्रपंच की निवृत्ति का भी यदि प्रतिबोध हो रहा है 'मेरा प्रपंच निवृत्ति हो गया' ऐसी अनुभूति है, तो भी प्रपंच बना ही हुआ है। मुझ से भिन्न है तो निवृत्त भी प्रपंच ही है। तो फिर अद्वैत कैसे? यह साधक के मन का प्रश्न भगवान् भाष्यकार कह रहे हैं। साधक कहता है कि मैंने इतनी ध्यान धारणा की, इतना विचार किया, फिर भी द्वैत दीख रहा है! अभी मेरा काम बना नहीं, अभी पूर्णता नहीं आई। पूर्णता नहीं आई, यह तुम्हारी कल्पना ही तुम्हारे पूर्णत्व को प्रकट नहीं होने देती। व्यवहार में अनेक स्थल ऐसे हैं जहाँ संदेह के कारण मनुष्य प्रवृत्ति नहीं कर पाता । जब कोई बड़ा आदमी आता है तो हम पूछते हैं कि 'तुम्हारे घर का कितना खर्चा है?' वे कहते हैं कि 'दस हजार रुपया महीना।' हम कहते हैं 'अब तुम्हारी उम्र साठ साल की हो गई। अगर तुम अस्सी साल तक भी जियोगे तो इसी स्टैण्डर्ड में बीस हज़ार रुपया महीना खर्च करोगे। साल भर में दो लाख चालीस हज़ार खर्चा होगा। बैंक में दस प्रतिशत व्याज पर रखकर चौबीस लाख में इतना ब्याज मिलता रहेगा। अब तो तुम्हारे पास चौबीस करोड़ हैं, फिर क्यों डरते हो। चौबीस लाख रखो, और छोड़ो।' तब कहते हैं 'यह तो ठीक है, लेकिन पता नहीं कब कैसी परिस्थिति आ जाये।' हम कहते हैं क्या होगा, दुगने भाव भी हो जायेंगे तो भी बीस हजार रुपये महीने में तुम्हारा गुज़ारा हो जायेगा। इसलिये हम यह नहीं कह रहे हैं कि एक पैसा कम खर्च करो, लेकिन बाकी के लिये तो मन में लाओ कि हमारे लिये बेकार है। लेकिन नहीं ला पाते। कारण क्या है? भरोसा नहीं है। आत्मविश्वास नहीं है। कल्पना करते रहते हैं कि न जाने क्या हो जायेगा। इसी प्रकार अद्वैत की स्थिति पर हमें भरोसा नहीं हो पाता। अद्वैत का ज्ञान कठिन नहीं है। श्रवण मनन डट कर आदमी करे तो ज्ञान हो जाता है लेकिन जैसा भगवान् भाष्यकार लिखते हैं 'ज्ञाननिष्ठा सुदुर्लभा' उसपर निष्ठा अर्थात् नितरां स्थिति नहीं हो पाती। समझ में तो आ जाता है। कभी व्यवहार के नाम से कभी किसी नाम से आदमी अनिष्ठा को ढकता रहता है। बेईमान व्यवहार

के नाम से ढकता है, और ईमानदार उसे कोसता रहता है कि आज तक हुआ क्यों नहीं। व्यवहार के नाम से ढाँकने वालों को भगवान् गौडपादाचार्य ने जवाब दिया और कोसने वालों को भगवान् भाष्यकार जवाब दे रहे हैं कि ऐसा मत मानो।

स्फटिक और लौहित्य को अलग जानने वाले को भी स्फटिक लाल ही दीखेगा। दर्पण में मेरा मुख नहीं है, इस बात को जानने वाले को भी अपना मुख दर्पण में दीखेगा। शास्त्रीय भाषा में इसको सोपाधिक भ्रान्ति कहते हैं। वेदांत में सामान्य भाषा में निरपेक्ष-सापेक्ष कहते हैं। यह जो जगत् की प्रतीति हम लोगों को हो रही है यह जगत् प्रतीति सोपाधिक भ्रान्ति है, सापेक्ष है। निरपेक्ष या निरुपाधिक नहीं है अर्थात् उस लालिमा के कारण होने वाले तुम्हारे राग द्वेष, शोक मोह तो हट जायेंगे। अब तुमको दुःख नहीं हो रहा है कि मेरा स्फटिक खराब हो गया। तुम्हारे राग द्वेष आदि तो हट जायेंगे लेकिन प्रतीति नहीं हटेगी क्योंकि प्रतीति वैसी होती रहेगी, उसमें कोई फरक नहीं आना। वह जो हटने वाला तत्त्व है वही संसार है और जो न हटने वाला तत्त्व है वह जगत् है। महात्माओं में एक कहानी प्रसिद्ध है। कहानी से चीज़ स्पष्ट हो जाती है।

एक राजकुमार था। उसके पिता छोटी उम्र में ही मर गये थे। वह बड़ा हुआ, राजा बना। सब लोग कहने लगे कि ब्याह कर ले। वह हमेशा टालता रहे कि अभी नहीं करना। अंततोगत्वा सबने बैठाकर उससे पूछा 'सच्ची बात बता कि तू ब्याह क्यों नहीं करना चाहता? किसी खास लड़की से करना हो तो बता दे!' उसने एक फोटो निकाली और कहा 'मुझे इसी से ब्याह करना है।' लोगों ने कहा 'इसका पता दो कि कहाँ की लड़की है, कहाँ देखा है।' उसने कहा— 'यह सब मुझे पता नहीं, बस यह फोटो मुझे मिला है अपने कागजों के अन्दर, तब से मेरे को यह हो गया है कि ब्याह करना है तो इससे करना है। बाकी मुझे कुछ पता नहीं।' उन्होंने चारों तरफ अपने चर (सी. आई. डी.) भेज दिये कि पता लगाओ। वे सब जगह ढूँढ आये, दूसरे देश में भी ढूँढ आये, लेकिन कहीं कोई हिसाब नहीं मिला। सारे दुःखी हो गए। कहने लगे 'वह नहीं मिली तो दूसरी लड़की से कर लो।' राजकुमार ने कहा—'नहीं, मुझे इसी से करना है।' वहाँ एक पुराने पुरोहित थे जो रिटायर हो चुके थे। उनके पास पहुँचकर कहा 'आप ही उसे समझाओ, ब्याह नहीं करता, गद्दी कैसे चलेगी।' पुरोहित ने कहा 'वह फोटो हमें भी दिखाओ कैसी है।' देखकर कहा— 'शादी हम करवा देंगे।' पुरोहित ने राजकुमार से कहा— 'इसी से शादी करनी है?' राजा ने कहा 'हाँ जी।' 'किसी दूसरे से नहीं करनी है?' कहा— 'नहीं।' तब पुरोहित ने कहा 'इससे तुम्हारी शादी नहीं हो सकती क्योंकि मैं इसको जानता हूँ।' अन्ततोगत्वा बताया कि कैसे नहीं हो सकती। उन्होंने एक ग्रुप फोटो निकालकर कहा 'इस फोटो में यह तू है। तू उस समय आठ साल का बच्चा था। यहाँ एक ड्रामा हुआ था, तू उसके अन्दर एक लड़की का पार्ट कर रहा था, तू ही यह है।' उसकी आँख से आँख तथा अन्य अंग भी मिलवाये। वह ग्रुप फोटो देखकर राजकुमार समझ गया और सब को भी याद

आ गया कि ड्रामा तो हुआ था। जिसके प्रेम में मैं घूम रहा हूँ वह कोई नहीं मैं हूँ, यह जहाँ पता लगा वहाँ दूसरी चीज़ों से अपने आप निवृत्ति हो गई।

'उच्यते सत्यमेवं स्यात्प्रपंचो यदि विद्येत।' तुम क्या ढूँढ रहे हो? हरेक प्राणी सिवाय आनन्द के और क्या ढूँढता है। बाकी कोई सीधा कह देता है कि सुख ढूँढ रहा हूँ, कोई उसे बड़े बड़े नामों में ढाँक देता है। लेकिन अन्त में सभी सुख को ही ढूँढ रहे हैं। जो परमेश्वर-भक्त रोज़ प्रातःकाल सूर्य की तपस्या करते हुए गायत्री का जप करता है उसे भी जेठ की चिलचिलाती धूप में कहें कि अमुक जगह जाना है, ज़रूरी काम है, तो वह भी कहेगा 'शाम को चला जाऊँ तो कोई हर्ज़ा है?' उससे कहते हैं 'तुम्हारे तो इष्टदेव चमक रहे हैं, उनके दर्शन करते हुए जाना।' लेकिन इष्ट देव भी दुःख देने लग जायें तो किसी काम के नहीं रहते। वृन्दावन में अनेक भक्त लोग कहते हैं कि हमको तो सर्वथा भगवान् से निष्काम भक्ति है, हमें केवल भगवान् के लिए प्रेम है, और हमें कुछ नहीं चाहिए। हम पूछते हैं कि भगवान् के चिन्तन से तुम्हें सुख होता है या दुःख। कहते हैं सुख होता है। तो उनका चिंतन इसलिये करते हो कि तुम्हें सुख चाहिये। बात यही है, चाहे सीधा कहो चाहे घुमा कर। वेदांती सच्ची बात कहता है कि हर प्राणी सुख के पीछे है। जहाँ सुख देखता है वहाँ ढूँढता है। सुख है कहाँ? सारे जगत् में सुख देने वाली चीज़ तुम्हारा आत्मा है। तुम जिसमें प्रियता की दृष्टि करोगे वही सुख देगी, और कोई सुख नहीं देता। इसलिये परप्रेमास्पद तो चेतन स्वयं हुआ। इसलिये कह दिया कि यदि बाहर कहीं प्रपंच होता तो ऐसा हो जाता। लेकिन 'रज्ज्वां सर्प इव कल्पितत्वान्न तु स विद्यते।' जैसे रस्सी में साँप तुम्हारी दृष्टि के कारण है,वैसे ही प्रपंच के अन्दर विद्यमानता तुम्हारे आत्मा के कारण है। तुम ही उसे वह सत्ता दे रहे हो।

यह जानने से अब सुख के लिये तुम्हारी प्रवृत्ति नहीं होगी, प्रतीतिमात्र के लिये व्यवहार करो। व्यवहार का जो प्रयोजन सुख था वह तुम्हारे अन्दर से हट गया क्योंकि पता है कि सुख स्वरूप तो मैं ही हूँ। अब नतीजा क्या होगा? घर के अन्दर नौ साल का बच्चा होता है और छह साल का बच्चा होता है। दोनों में झगड़ा हो रहा है; नौ साल वाला कहता है 'ये खिलौने मेरे हैं, मैं इसे क्यों दूँ?' माँ कहती है 'यह छोटा है, इसे दे दे। अब तू नौ साल का हो गया, अभी भी गुड्डा गुड्डी नहीं छोड़ रहा है।' वह छोड़ना नहीं चाहता और दोनों का झगड़ा चल रहा है। तीसरा लड़का शादी शुदा बीस साल का है। वह अपने नौ साल के भाई से कहता है 'अपने छोटे भाई से झगड़ा नहीं करते, उसे खिलौने दे दे।' वह कोई झगड़ा नहीं करता क्योंकि उसे तो सच्ची गुड़िया मिल गई है इसलिये वह अब उस गुड्डी से खेलेगा, इस गुड्डे से नहीं खेलेगा। उसे अपने खिलौने देने में कोई देरी नहीं लगती और ना नहीं करता। ठीक इसी प्रकार जिसने अपने आत्मतत्त्व की दृष्टि कर ली, संसार के यावत् पदार्थ उसे गुड्डे गुड्डी का खेल लगते हैं। जिन्हें ज्ञान नहीं हुआ, वे उन्हीं को चाहते हैं। इसलिये ज्ञानी का उनसे विरोध नहीं रहता।

वह कहता है 'ये तुम्हारे हैं, तुम ही ले जाओ, पड़े हैं, जिसके काम के हैं ले जाओ।' जब तक यह ज्ञान नही होगा तब तक कभी भी यह झगड़ा नहीं मिटेगा। तुम कहते रहोगे 'तुम बड़े हो गये, छोड़ दो। वह कहेगा कि अभी कैसे छोड़ू? मेरा आकर्षण बना हुआ है।' इसलिये भगवान् भाष्यकार करते हैं कि इनमें विद्यमानता नहीं है।

यदि प्रपंच की वास्तविक विद्यमानता होती तब तो उसकी निवृत्ति आवश्यक होती। चूँकि उसकी वास्तविकता वैसी ही है जैसे स्फटिक के सामने लाल फूल रख देने पर स्फटिक के अन्दर लालिमा की प्रतीति होती है, इसलिये जहाँ यह पता लग गया कि स्फटिक में लालिमा नहीं हैं, वहाँ फिर उस लालिमा को धोना नहीं पड़ता। उसी प्रकार यहाँ जो प्रपंच दीख रहा है, जो जगत् दीख रहा है, उसको हटाना नहीं पड़ता। केवल जो राग द्वेष शोक मोह रूपी संसार है वह हट जाता है।

'न हि रज्ज्वां भ्रान्तिबुद्ध्या कल्पितः सर्पो विद्यमानः सन्विवेकतो निवृत्तः।' रस्सी के अन्दर भ्रान्ति के कारण सर्प की कल्पना होती है। भ्रम का हमेशा कारण क्या होता है? कोई न कोई अपनी इन्द्रिय या अन्तःकरण में ऐसा दोष बैठा हुआ है जो भ्रम कराता है। पीलिया (jaundice) का रोग हो गया तो मनुष्य को हरेक चीज़ पीली दीखने लगती है, गुड़ भी खाये तो तीता लगने लगता है। कई बार ऐसा होता है कि बुखार इत्यादि के बाद कोई चीज़ खाओ तो कड़वी लगती है। यहाँ इन्द्रियों का दोष है। इसी प्रकार मन के दोष के कारण भी चीज़ कुछ की कुछ लगने लगती है। बंगाल के एक लेखक निरोध चौधरी ने अपनी किताब में अपना एक अनुभव लिखा है कि एक बार वे पंजाब में गये, तब जवान उम्र थी। लिखा है कि मैंने वहाँ जाकर अपने वराण्डे से दूसरे घर की तरफ देखा तो वहाँ एक बड़ी हृष्टपुष्ट औरत दिखाई दी जो पीठ करके खड़ी थी। मैंने सोचा कि बड़ी सुन्दर पंजाब की औरत है, इधर मुँह करे तो देखूँ। काफी देर तक खड़ा रहा। थोड़ी देर बाद देखा कि वह लटक गई! हुआ यह था कि पंजाब के लोग सुथना (कुर्ता-पाजामा) पहनते हैं। दोनों कपड़े ऊपर नीचे की तारों पर सूख रहे थे और उनमें हवा भर गई थी। उन्होंने सोचा था कि वह ऊधर मुँह करके खड़ी है। हवा बन्द हुई तो वे कपड़े लटक गये। मन के अन्दर स्त्री विषयक अभिलाषा के कारण यह भ्रम हो गया। नहीं तो सिर, पैर देखने चाहिये थे, केवल कुर्ता पाजामा देखने से क्या होगा? लेकिन स्त्री विषयक कामना मनुष्य को अन्य पदार्थों को देखने से निवृत्त कर देती है। इसलिये या इन्द्रिय-दोष के कारण हमको भ्रम होता है या मन के दोष के कारण भ्रम होता है। कई बार भ्रम का कारण अपने पूर्व जन्म के किये हुए पुण्य-पाप भी हुआ करते हैं। जब पाप उदय हो जाता है तो अच्छी चीज़ों में भी गलत दृष्टि हो जाती है और वही दुःख का कारण बन जाता है। पुण्य उदय हो जाता है तो बुरी चीज़ में भी अच्छी दृष्टि बन जाती है और वह सुख का कारण बन जाता है। पहले के किये हुए पुण्य-पाप भी कारण बन जाते हैं। कोई कोई दोष स्वाभाविक है जैसे कोई चीज़ दूर से दीखेगी तो गलत दीख जायेगी। भ्रम के अनेक कारण हैं। लेकिन वे सारे कारण किसी न किसी

प्रकार दोषरूप हैं। कोई न कोई दोष वहाँ है जिस कारण से उस पदार्थ का अनुभव हमको जैसा होना चाहिये, वैसा नहीं हो रहा है। रस्सी के अन्दर भी इसी प्रकार सर्प की कल्पना होती है तो उसमें भी दोष कारण है। पहले दोष है कि मनुष्य जब आँख से किसी चीज़ को देखता है तो आँख पर उसको इतना ज्यादा भरोसा है कि वह कभी सोचता ही नहीं कि इस बात को देखने में हम जरा ध्यान दें। सबसे ज्यादा मनुष्य को भ्रम आँख के विषय में होता है। वेदांती बार बार लोगों को कहता है कि जो दीखता है उसे भ्रम समझो, तो कई बार लोग कहते हैं कि जो चखते हैं उसको भ्रम समझो ऐसा भी आप ज्यादा नहीं कहते, जो छूते हो उसे भ्रम समझो यह भी नहीं कहते। दृश्यत्व के बारे में ऐसा क्यों कहते हैं? वैसे तो सब इन्द्रियों में भ्रमहेतुता एक जैसी है और वेदांती जब दृश्यत्व कहता है तो उसका मतलब सभी ज्ञानेन्द्रियों से है, फिर भी उस शब्द का प्रयोग इसलिये कि मनुष्य के अन्दर आँख पर बहुत ज्यादा भरोसा है, और जगह वह इतना ज्यादा भरोसा नहीं करता। लोग कह भी देते हैं कि कान की सुनी बात तो झूठी हो सकती है, आँखों देखी कैसे झूठी हो सकती है? चूँकि विश्वास आँख पर ज्यादा है इसलिये भ्रम भी इसमें ज्यादा हो जाता है, और चीज़ों में कम भ्रम होता है। रस्सी में साँप तब देखोगे जब वहाँ रोशनी कम होगी। नियम यह होता है कि जहाँ अन्धकार मन्द हो वहाँ पहले ही समझ लेना चाहिये कि आँख ठीक नहीं देख सकती, इसलिये और ज्यादा सावधान मनुष्य को होना चाहिये, लेकिन होता नहीं है। रास्ते में चलते हुए मनुष्य इसीलिये मन्द अंधकार में ही गिरता है। पूरी रोशनी होती है तो भी नहीं गिरता, पूरा अन्धकार हो तब भी मनुष्य नहीं गिरता क्योंकि तब अपने पैर को बड़ा सम्भाल कर रखता है। लेकिन मन्दान्धकार में चूँकि थोड़ा दीखता है इसलिये उसमें मनुष्य अधिक सावधान नहीं (overconfident) होता और उसी असावधानी के कारण उसका पैर गड्ढे में पड़ जाता है।

रस्सी में सर्प कल्पित है। ऐसा नहीं है कि सर्प पहले वहाँ मौजूद था और फिर विवेक के कारण हट गया हो। वहाँ था ही नहीं, भ्रान्ति के कारण प्रतीत हुआ था और भ्रान्ति हटते ही वह नहीं रहा अर्थात् वह कहीं गया नहीं। ठीक इसी प्रकार संसार में राग-द्वेष, शोक-मोह हैं और हट जायेंगे ऐसा नहीं है। अविद्या के कारण कल्पित हैं, अविद्या के हट जाने पर यह नहीं होगा कि ये पहले थे और अब हट गये, वरन् यह होगा कि मैंने भ्रम से ही इनको मान रखा था। सारे दोषों का प्रारम्भ कहाँ से होता है? 'मैं' से ही सारे दोषों का प्रारम्भ होता है। जहाँ तुमने 'मैं' को पकड़ा वहाँ वह 'मेरे' को लेकर आ गया, क्योंकि जब 'मैं' हुआ तब 'मेरा' यह सम्बन्ध सामने आ गया। यह मैंपना ही बंधन का कारण है। मैंपने का विचार करो कि यह मैं है कौन? तो इसका पता नहीं लगता। मैं को यदि देखना चाहो कि इसका रूप क्या है तो पता नहीं लगता। यदि कहो कि मैं चेतन या आत्मा (Consciousness) है तो गहरी नींद के काल में चेतन आत्मा तो रहता है लेकिन मैं कहाँ रहता है? गहरी नींद में मैं हूँ ऐसा भान नहीं होता क्योंकि वहाँ पर मन की 'मैं' इस आकार की वृत्ति नहीं बनती। मन जब होगा तभी 'मैं' इस आकार की

वृत्ति बनेगी, तभी मनुष्य को 'मैं' इसका अनुभव होगा। इसका मतलब यह नहीं कि गहरी नींद में आत्मा नहीं था क्योंकि यदि आत्मा न होता तो फिर लोग वहाँ ले गये होते जहाँ चार आदमियों को मिलकर ले जाना था! आत्मा वहाँ था तभी छोड़ दिया और तभी उसे मरा हुआ नहीं मान रहे हैं। आत्मा वहाँ विद्यमान था लेकिन मैं का भान नहीं। इसलिये मैं को आत्मस्वरूप नहीं कह सकते। मैं को केवल मन रूप भी नहीं कह सकते। क्योंकि मन तो जड है और मैं के अन्दर हमेशा अनुभव चेतना का होता है। इतना ही नहीं, यह भी अनुभव होता है कि मैं ध्यान करने बैठा लेकिन मन नहीं लगा। इसलिये एक मन हुआ जो नहीं लगा और एक मैं जो ध्यान करने बैठा था। मैं चेतन भी है और मैं चेतन नहीं भी है। मैं मन के कारण ही है। मन होता है तभी मैं है और अन्तःकरण या मन से भिन्न भी मैं है। इसलिये मैं बड़ा विचित्र है।

महात्माओं में एक दृष्टांत प्रसिद्ध है। एक बार कोई बारात गई। पुराने जमाने में बारात हफ्ता भर रहती थी। एक आदमी ने बारातियों के पास जाकर कहा कि सब इंतजाम ठीक तो है, कोई कमी तो नहीं है। बारातियों की तो आदत होती है कि उनकी लिस्ट कभी कम नहीं होती। सबने अपनी अपनी फरमाइश बताई। उसने लड़की वालों से जाकर कहा कि आपने क्या गड़बड़ व्यवस्था कर रखी है, कुछ इंतजाम नहीं कर रखा है। उन लोगों ने कहा अभी सब ठीक कर देते हैं। दो एक दिन तो इस प्रकार चलता रहा और वह आदमी अपना काम बनाता रहा, इधर की खबर उधर और उधर की खबर इधर ले आता रहा। इस बीच में दोनों पक्षों की वेवाई हुई, लड़के लड़की के माता पिता की आपस में बातचीत शुरू हो गई। लड़की वालों ने कहा 'हमारी एक प्रार्थना है कि आप जो बारात का इंचार्ज बनाकर लाये हैं, वह कड़वी बातें बोलता है, बड़े ज़ोर से डाँटता है, आपका स्वभाव तो बहुत अच्छा है, उसे समझा दीजिये।' जब उस आदमी का वर्णन करने लगे तो लड़के वालों ने कहा 'क्या वह आपका आदमी नहीं है?' उस आदमी ने देखा कि ये दोनों मिलकर मेरी बात कर रहे हैं इसलिये वह तो वहाँ से उसी समय भाग गया। लड़के वालों ने कहा 'वह हमारा आदमी नहीं है' लड़की वालों ने कहा 'फिर वह कौन है?' पता लगा कि वह था कुछ नहीं, वह तो दोनों तरफ से ऐसे ही माल उड़ा रहा था!

अहम् भी इसी प्रकार का है। यह अहम् क्या करता है? जड अन्तःकरण की बात को लेकर तो चेतन को दबाता है और अन्तःकरण सुख-दुःख, इच्छा वाला होकर कहता है कि आत्मा कुछ करता क्यों नहीं? इसलिये जड अन्तःकरण की बात को लेकर चेतन पर जोर जमाता है। और चेतन की बात को लेकर जड अन्तःकरण पर जोर जमाता है। जब इसके स्वरूप को देखने जाओ तो न यह चेतन की जाति का है और न अनात्मभूत अन्तःकरण की जाति का। फिर यह ऐसा गायब हो जाता है कि पता ही नहीं लगता। अहम् ही हमारे अज्ञान के कारण सारे राग-द्वेष, शोक-मोह का बीज है। जहाँ यह हटा फिर सब कारण निवृत्त हो जाते हैं, राग-द्वेष आदि कुछ नहीं रह जाते। इसलिये कहा

कि विवेक के द्वारा यह हट जाता है। लेकिन ऐसा नहीं कि पहले था और हट जाता है, वरन् पहले भी इसकी सत्ता नहीं थी। चूँकि इसका विश्लेषण नहीं किया, विवेक नहीं किया, इसको मानकर चलते रहे कि यह तो है ही, इसी से यह बढ़ता रहा है।

'नैव माया मायाविना प्रयुक्ता तद्दर्शिनां चक्षुर्बन्धापगमे विद्यमाना सती निवृत्ता।' दूसरा दृष्टांत दे दिया। आत्मा में किसी न किसी कारण के अधीन ही प्रपंच विद्यमान रहता है। किसी कारण को लेकर ही हमको प्रपंच के अन्दर प्रतीति होती है। कोई आदमी आराम से बैठा हुआ है, शान्त है, उसको जाकर कहो 'अरे! आज तुम शान्त क्यों बैठे हो, सुख से क्यों बैठे हो?' वह कहेगा 'तुम्हारी छाती क्यों जलती है? हम बड़े आनन्द से बैठे हैं, कोई चिंता नहीं है।' इसके विपरीत यदि कोई व्यक्ति दुःखी है, उससे जाकर पूछो 'तुम दुःखी क्यों हो, क्या बात है?' वह यह नहीं कहता 'तुम्हें इससे क्या, मैं दुःखी बैठा हूँ।' उलटा कहता है 'क्या बतायें, मेरा इकलौता लड़का है, उसकी तबियत खराब है, इस चिंता मे हूँ। आबू में कोई डॉक्टर भी ढंग का नहीं है।' यदि किसी को दुःखी देखते हो तब तो तुम्हारे अन्दर उसके प्रति सहानुभूति होती है और वह भी सहानुभूति को ग्रहण करता है। शान्ति और सुख का कोई आदमी कारण नहीं पूछता इससे सिद्ध होता है कि शान्ति और सुख बिना कारण के है, हमारे स्वभाव से है। बाकी दुःख इत्यादि किसी न किसी कारण से आते हैं, इसलिये कारण की जिज्ञासा भी होती है और कारण बताने वाला बताता भी है। इसी प्रकार राग, द्वेष, शोक, मोह सब किसी कारण से होते हैं। बिना कारण के नहीं होते। किसी चीज़ की हमारे मन में इच्छा है, वह चीज नहीं मिल रही है तब उसके प्रति राग होता है। वह चीज़ मिलने वाली है लेकिन उसमें कोई रुकावट डाल रहा है तो उसमें द्वेष होता है। राग द्वेष आदि के कारण हैं लेकिन राग-द्वेष की निवृत्ति किसी कारण से नहीं है।

राग द्वेष उठते किसी कारण से हैं। संसार में जो बहुत झूठ बोलता है, कूड़ा बोला माना जाता है, ऐसा रात-दिन झूठ बोलने वाला आदमी भी पाँच या सात प्रतिशत से ज्यादा झूठ थोड़े ही बोलता है। दिन भर में बोले गये हजार वाक्यों में सत्तर वाक्य झूठे हो जाते होंगे, इससे ज्यादा झूठ कोई नहीं बोलता क्योंकि फिर तो व्यवहार ही नहीं चल सकता। अदालत में भी झूठे से झूठा गवाह आधा झूठ तो आधा सत्य भी बोलता ही होगा क्योंकि शतप्रतिशत झूठ बोले तो झट पता लग जायेगा। इसलिये प्रतिदिन पाँच सात झूठ बोलने वाला बाकी समय तो सत्य ही बोलता है। इससे पता लगता है कि सत्य बोलना सबका स्वभाव है। झूठ किसी निमित्त से, किसी कारण से बोलता है। जहाँ कोई कारण नहीं है वहाँ तो मनुष्य सत्य ही बोलेगा। बिना कारण के कोई झूठ नहीं बोलेगा। राग-द्वेष शोक मोह आदि जितने दोष हैं वे सारे किसी कारण को लेकर आते है और कारण के हट जाने पर राग-द्वेष शोक-मोह आदि से निवृत्ति हमारा स्वभाव है। इसलिये किसी न किसी कारण के अधीन ही संसार के पदार्थों की स्थिति होती है।

फिर शोक-मोह आदि की निवृत्ति का मतलब क्या हुआ? कारण-संसर्ग की निवृत्ति हो जाना है। अभी वह कारण हमारे संसर्ग में है, हमारे से सम्बन्धित है, उस कारण से सम्बन्ध की निवृत्ति हो जानी है। भगवान् भाष्यकार ने उपदेश साहस्री में यह एक चक्र बताया है।

'कर्माणि देहयोगार्थं देहयोगे प्रियाप्रिये।
ध्रुवे स्यातां ततो रागो द्वेषश्चैव ततः क्रियाः।।'

यह चक्कर ऐसा चलता है कि मनुष्य पुण्य पाप रूप कर्म करता है उससे फिर शरीर की प्राप्ति होती है। देहयोग हुआ तो कोई चीज़ प्रिय और कोई अप्रिय लगती है। जो चीज़ प्रिय या अप्रिय लगेगी उससे राग या द्वेष होगा। राग-द्वेष जहाँ हुए वहाँ फिर प्रवृत्ति निवृत्ति रूप क्रिया होगी। वह क्रिया फिर अगले जन्म का कारण बन जायेगी। इस प्रकार यह चक्र निरंतर चल रहा है। इस चक्र को कैसे काटा जाये? कर्म कर लिया और फिर शरीर की प्राप्ति न हो, यह तुम्हारे हाथ में नहीं। कर्म किया है तब तो शरीर की प्राप्ति होगी ही। वह काटना तुम्हारे हाथ में नहीं। शरीर की प्राप्ति होने पर तुमको कोई चीज़ प्रिय और कोई चीज़ अप्रिय लगे, ऐसा न हो, यह भी नहीं हो सकता। सर्दी में सर्दी तुम्हें खराब लगेगी ही, गर्मी में लू खराब लगेगी ही, सहन भले ही कर जाओ, यह नहीं होगा कि अच्छी लग रही है। वह तो शरीर का धर्म है, खराब है तो खराब ही लगेगी, उसको नष्ट नहीं कर सकते। जिन चीज़ों में राग-द्वेष होगा उनसे प्रवृत्ति-निवृत्ति नहीं रोक सकते।

किन्तु बीच में कड़ी है कि प्रिय-अप्रिय होने पर भी राग-द्वेष होना-न होना अपने हाथ में है। राग-द्वेष के ऊपर नियंत्रण कर सकते हैं। बाकी चक्र को कहीं तोड़ने का उपाय नहीं है। गीता में भगवान् ने कहा 'तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ' राग द्वेष के वश में नहीं जाना क्योंकि यही तुम्हारी रुकावट के कारण बनेंगे। प्रिय तो लगेगा,लेकिन प्रिय लगने पर भी उसके साथ राग नहीं करना। अप्रिय तो लगेगा, लेकिन अप्रिय लगने पर भी उसके साथ द्वेष न करना।बचने का उपाय क्या है? प्रिय लगने पर यह समझो कि हमारे पुण्य कर्मों के उदय होने के कारण हमें प्रिय हो रहा है। यह चीज प्रियता का कारण नहीं। वही चीज अप्रियता का कारण बन जाती है जब पाप कर्म उदय हो जाता है। चीज़ में कोई फरक नहीं आया। यह जो राग द्वेष की निवृत्ति की स्वरूपता है, यह बार बार विवेक करने से दृढ होती है। जैसे मान लो हम लोगों का एक बड़ा भ्रम बना हुआ है कि रुपये से चीज़ मिलती है। यह एक बहुत भ्रम है। आजकल सबको यह भ्रम सबसे जयादा है। आप लोग जोधपुर रियासत के रहने वाले हैं शायद गाँव में भी रहे होंगे। पहले यह भ्रम नहीं होता था। गाँव में चमार भी चाचा जी होते थे। उसको कहते थे 'एक जोड़ा जूता बना देना चाचा जी।' वह कहता था 'अभी दो महीने पहले ही तो जूता ले गया था, आज फिर ले रहा है?' 'नहीं चाचा जी, फट गया है।' 'अच्छा

अब बना देता हूँ, सम्भाल कर रखना।' वह दे देता था, पैसा नहीं देते थे। खेती के समय वह चमार चाचा अनाज लेने के लिये पहुँच जाता था तो उसे अनाज दे दिया जाता था। इसी प्रकार नाई काका हजामत बनाने आ जाता था। आजकल सैलून में अठन्नी देकर जब चाहे दाढ़ी बनवा लो। नाई काका को कहो तो वह बना देता था और थोड़ी ज्यादा बार कहो तो वह डाँटता भी था। ब्याह शादी में वही नाई काका ढोल लेकर आता था तो उसे इनाम मिलता था। पैसा हमारे हर व्यवहार के बीच में नहीं आता था। बाजार से छोटी मोटी चीज़ लेने जाते थे तो थोड़ा गेहूँ जौ इत्यादि ले जाकर उसके बदले वह चीज़ ले आते थे। कभी कदाचित् पैसा देखने को मिलता था, नहीं तो देखने को भी नहीं मिलता था! मन में यह भ्रम बैठा हुआ नहीं था कि पैसे से चीज़ आती है।

वर्तमान राज्य ने हमारे अन्दर यह भ्रम पैदा कर दिया कि पैसे से पदार्थ का सम्बन्ध है। वस्तुतः पदार्थ का सम्बन्ध हमारे कर्म से है। यह बात ज़रा ठीक से समझना। हमने आठ घण्टे परिश्रम किया तब हमें दस रुपये मिले। उन दस रुपयों का मतलब है हमारा आठ घण्टे का परिश्रम। जब हम उस दस रुपये से एक डिनर खाते हैं तो आठ घण्टे के परिश्रम को खा रहे हैं, दस रुपये से डिनर नहीं खा रहे हैं। यह विचार यदि रहेगा तब तो पता लगेगा और नहीं तो बच्चे को कहाँ पता लगता है? बच्चा जब कहता है 'पिता जी बीस रुपये की चीज़ ही तो है, इसमें क्या फरक पड़ता है?' तब उन बीस रुपयों के पीछे पिता के परिश्रम का यदि पता हो तो ऐसा न कह पाये। तीन घण्टे तक पिता जी ने परिश्रम किया है तब बीस रुपये मिले हैं, मैं भी तीन घण्टे तक परिश्रम करूँ तब पता लगे। लेकिन वह चेतना नहीं क्योंकि पैसा बीच में आ गया इसीलिये गड़बड़ी हो जाती है।

जैसे यह एक भ्रम पैदा हुआ, ठीक इसी प्रकार पदार्थ हमको सुख दुःख देता है, यह भी एक भ्रम है। बढ़िया के. सी. दास का रसगुल्ला सुख देता है। किसी ने ऐसे दिन भेजा जिस दिन अपने को बुखार आया हुआ है और डॉक्टर ने कह रखा है कि सात दिन तक कुछ नहीं खाना, मोती झरा हुआ है। तो वही रसगुल्ला दुःख दे रहा है। सोचते हैं 'भेजना ही था तो थोड़े दिन पहले भेजते, चलो अब तुम लोग ही खा लो, हमारे कर्मों में नहीं लिखा।' पुण्य-पाप सुख-दुःख देने वाले हैं। पुण्य-पाप सुख-दुःख देने के लिये सिक्के या नोट की जगह पदार्थों का प्रयोग करते हैं, बस इतना ही है। तुम यह याद रखो कि यह पैसा नहीं, वरन् हमारे कर्म हैं जो नोट या पैसे के रूप में हमारे हाथ में है। ये हमारे कर्म, हमारी अपनी मेहनत है। यह याद रखो तो ठीक ज्ञान हो और अगर इस बात को भूल गये तो भ्रान्ति ज्ञान है। उसी प्रकार जब पदार्थ से सुख-दुःख, प्रिय-अप्रिय अनुभूति होती है तो उस पदार्थ को सुख-दुःख का कारण न समझकर जो हमारा किया हुआ पुण्य-पाप है, वह सुख-दुःख रूप में हमारे सामने आ रहा है यह याद बनी रहेगी तो पदार्थों के साथ राग-द्वेष नहीं होगा क्योंकि वह पदार्थ सुख-दुःख

नहीं दे रहा है, सुख-दुःख देने वाली चीज अपना पुण्य पाप है। राग-द्वेष हटा तो मनुष्य का काम बना। इसलिये यह कारणता की निवृत्ति किससे होगी? कारण-असंसर्ग से होगी। जितना जितना कारण संसर्ग हटता जायेगा, उतना ही उतना कार्य निवृत्ति होती जायेगी। शब्द पर ध्यान देना : कारण हटेगा यह नहीं कह रहे हैं, कारण-संसर्ग हटेगा। मनुष्य यह समझता है कि कारण हट जायेगा तो काम होगा। कारण कहाँ से हटना है? वह तो बना ही रहेगा। हमने जो उसके साथ संसर्ग समझ रखा है वह हट जायेगा। गीता में भी इसीलिये संस्पर्श शब्द का प्रयोग भगवान् ने किया है 'ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते'। भगवान् ने यह नहीं कहा कि भोग दुःख के कारण हैं, भोगों के साथ संस्पर्श दुःख का कारण है। संस्पर्श और संसर्ग दोनों का एक ही तात्पर्य है। इसलिये कारण के अधीन संसार नहीं, कारण-संसर्ग के अधीन संसार है। कारण के अधीन जगत् है। जगत् और संसार का भेद पहले बता आये हैं, वही समझ लेना। जैसे एक स्त्री शरीर सामने खड़ा हुआ है। वह स्त्री शरीर पाँच फुट छह इंच का है, गोरे रंग का है, १८० पाउण्ड का है। यहाँ बैठे हुए दस आदमी देखेंगे तो सबको पाँच फुट छह इंच का, गोरे रंग का और १८० पाउण्ट का ही दीखेगा, दसों आदमियों की एक ही दृष्टि बनेगी। लेकिन वहीं एक कामुक व्यक्ति खड़ा है वह उसे देखकर भोग्या समझता है, वहीं एक कुत्ता खड़ा हुआ है, वह उसी स्त्री शरीर को भोज्या समझता है कि इसकी पिंडलियाँ खाने को मिल जायें तो बड़ा मजा आये! और वहीं एक तीसरा वीतरागी पुरुष खड़ा है, उसमें उसे उपेक्ष्य दृष्टि है, वहीं उसका एक पुत्र खड़ा है, उसमें उसे पूज्या दृष्टि है, कि यह मेरी माता है पूज्या है। जहाँ तक स्त्री शरीर का सम्बन्ध है, वह जगत् हुआ। उसको कोई नहीं बदल सकता। ऐसा नहीं हो सकता कि यह मेरी माँ है तो वजन ज्यादा और बेटी है तो कम हो जाये। वह पाँच फुट छह इंच की है तो पाँच फुट छह इंच की ही रहनी है। इसी को शास्त्रों के अन्दर ईश्वर सृष्टि, ईश्वर द्वारा बनाई हुई चीज़ और जीव द्वारा बनाई हुई चीज़ इस भेद से कहा है। उसमें भोग्या, भोज्या, उपेक्ष्य और पूज्या आदि सब दृष्टियाँ परमेश्वर की बनाई हुई नहीं हैं। यह प्रत्येक प्राणी अपने संसर्ग के कारण खुद बनाता है। जो कारण है उसकी निवृत्ति कभी नहीं होगी, इसलिये उसके पीछे नहीं दौड़ना चाहिये।

कई बार मनुष्य यह प्रयत्न करता है कि पदार्थ बदल जाये तो ठीक हो जायेगा। वर्तमान काल में विदेशी विचारधारा हमको बार बार इसी चीज़ पर जोर दिलाती है। लेकिन सुखी कब हुआ जायेगा? जब चीज़ मिल जायेगी तब सुखी होंगे यह भ्रम लोगों में बैठा है। इस भ्रम को अब एक दर्शन का रूप दे दिया गया है कि लोगों को चीज़ें मिल जायेंगी तो सुखी हो जायेंगे। लेकिन वे यह विचार नहीं करते कि चीज़ें सुख-दुःख का कारण नहीं होती। वे तो और किसी चीज़ का कारण बन जायेंगी। कारण की निवृत्ति पर जोर

नहीं, कारणसंसर्ग की निवृत्ति पर जोर देना है। उसके अन्दर हमने जो संसर्ग भोग्या, भोज्या, इत्यादि का कर रखा है, उसे हटा दो तो चीज़ तो जैसी है वैसी ही है।

मायावी जब किसी माया को प्रयुक्त करता है तो वह माया का पदार्थ कब तक दीखता है? जब तक मयावी उनको दिखाना चाहता है तभी तक पदार्थ दीखेंगे। वैसे ही यहाँ यह जगत् प्रपंच कब तक दीखता रहेगा? जब तक यह माया रहेगी। माया कब तक रहेगी? माया हमेशा रहेगी, उसे कहीं जाना नहीं है। माया तुम्हारी शक्ति है। आत्मा की शक्ति माया है। आत्मा की शक्ति को जाना कहाँ हुआ? अभी हो क्या रहा है? शक्ति का प्रयोग करते करते तुम भ्रम में आ गये। कई बार ऐसा होता है कि बड़ी उम्र का दादा हो तो वह अपने पोते के साथ खेलता है। देख बेटा देख कौन ज्यादा तेज़ दौड़ सकता है। उसे पता है कि मैं दादा, बुड्ढा हूँ, यह समझ भी रहा है, इस ज्ञानपूर्वक दौड़ना शुरू करता है। वह बच्चे के साथ तेज दौड़ते हुए कभी कभी भूल जाता है कि मैं बुड्ढा हूँ। बच्चे के जोश में जरा तेजी से दौड़ जाता है और फिर अकस्मात् हाँफने लग जाता है, चक्कर आ जाता है। कोई पूछता है 'क्या हो गया?' कहता है 'क्या बताऊँ, पोते के साथ दौड़ते हुए जरा जोर से दौड़ गया।' क्या उसे पता नहीं था? पता तो था, लेकिन साथ साथ दौड़ते हुए भूल गया, उस समय ख्याल नहीं रहता। कुछ लोगों ने ऐसा अनुभव किया होगा। ठीक इसी प्रकार आत्मा की अपनी माया है। उसके द्वारा वह स्वयं ही अपना आनन्द लेने के लिये पदार्थों की प्रतीति करता है। लेकिन वह मन के पदार्थोंको देखते देखते भूल जाता है कि यह मेरा ही बनाया हुआ प्रपंच है और उसके साथ भिड़ जाता है। जहाँ साथ भिड़ा वहाँ उसकी साँस फूलने लगती है, राग-द्वेष होता है। फिर जब उपदेश मिलता है कि यह क्या कर गया, तो कहता है कि क्या करूँ, चक्कर आ ही गया। अब विचार करो कि वहाँ पाँच मिनट के लिये भूल गया तो साँस फूलने लगी और यहाँ तो दीर्घ काल के लिये भूल जाते हो! लेकिन यह जो माया है, यह तुम्हारी ही शक्ति है। अब यदि वह दादा बुड्ढा है और उसे चक्कर आ गया तो उसके चलने की शक्ति लुप्त थोड़े ही हो गई। थोड़ी देर में फिर पहले के जैसा चलने लग जायेगा। इतना है कि अब ज़रा ख्याल रखेगा। अब जल्दी भूल से तेजी से नहीं दौड़ेगा। पोता कहेगा 'जल्दी दौड़ो,' वह कहेगा 'तू ही दौड़, मैं बैठा हुआ हूँ।' ठीक इसी प्रकार माया में हो जाता है।

मायावी जब अपनी माया को दिखाता है तो आँख बाँध देता है। उस आँख से जो वह दिखाना चाहता है वह दिखा देता है। जो आँख से देखना था वह नहीं देखता है। पी. सी. सरकार नाम का एक बाजीगर था, अब शायद मर गया है। वह एक ऐसा खेल दिखाता था कि एक लड़की को दो टुकड़ों में काट कर फिर जोड़ देता था। हमने उसके एक परिचित से पूछा कि वे कैसे दिखाते हैं? उसने बताया कि बात कुछ नहीं है, केवल आँख बाँध देता है। हमने पूछा यह आँख बाँधना क्या होता है। कहने लगे

पहले वह कोई दूसरी चीजें दिखाता रहता है और उसके बीच में एक ऐसा काल आता है जब किसी कोने में एक चीज़ दिखा रहा होता है, सब की आँख उसमें लगी रहती है और जो उसे बीच में हाथ का खेल करना होता है वह कर जाता है और इस ढंग से करता है कि सबका ध्यान दूसरी तरफ होता है। यही चक्षुबन्ध है। नहीं तो आदमी समझता है कि कोई विशेष शक्ति होगी। विशेष यही है कि वह समझ सकता है कि किस चीज के आकर्षण से लोगों की अकस्मात् दृष्टि हटेगी। एक बात और बताई कि जैसे मान लो पीछे के कोने में कोई प्रकाश के अन्दर उसने अपना ही चित्र दिखा दिया तो सब कहेंगे कि उधर पहुँच गया और ईधर अपने अन्धकार में हो गया, फिर वह दूसरी तरफ पहुँच गया तुरन्त बिजली चमकी और खड़ा हो गया। इतने बीच में उसे जो करना था, वह कर लिया, सबकी दृष्टि दूसरी तरफ के कोने में चली गई। यही चक्षुबन्ध है। यही वैशिष्ट्य है। यदि कोई आदमी ऐसा हो जो आँख को न बँधने दे, इसके लिये चाहिये तो काफी नियंत्रण, लेकिन नियंत्रण किया जा सकता है। वह कुछ भी कहे 'यह देखो, वह देखो!' लेकिन तुम अपनी नज़र केवल उस मायावी पर लगाये रखो। वह कई चीज़ें दिखायेगा, वह कहेगा 'यह देखो धागा ऊपर फेंका', लेकिन तुम उसे न देखकर मायावी को देखते रहो, वह कुछ भी कहता रहे तुम उस पर से नज़र न हटाओ, तो पाओगे कि तुम्हारा जादू देखने का मजा किरकिरा हो जायेगा।

उसी प्रकार यहाँ जो व्यक्ति सत्ता अर्थात् अस्ति पर नज़र लगाकर रखता है उसको तो ये संसार के पदार्थ भ्रम में नहीं डाल पाते। वह 'है' (अस्ति) कहता है 'मैं घट, पट, मठ इत्यादि रूप से आ गया,' लेकिन वह कहता है 'मैं तो 'है' की तरफ नजर लगाये बैठा हूँ, तुम्हारे रूप मुझे नहीं देखने हैं, केवल है का रूप देखना है।' उस अस्तिता का परिवर्तन होने वाला नहीं है। उस तरफ दृष्टि लगाकर रखो तो सारा जगत् प्रपंच बाहर नहीं प्रतीत होगा। लेकिन आदमी सोचता है कि जरा घड़ा भी देख लूँ, बस उसी में मारा जाता है। इसलिये कहा 'नैव माया मायाविना प्रयुक्ता तद्दर्शिनां चक्षुर्बन्धापगमे विद्यमाना सती निवृत्ता।' ऐसा नहीं कि सचमुच कोई आकर आँख बन्द करता है। इसलिये कहा कि होकर निवृत्त होता हो ऐसा नहीं है। 'तथेदं प्रपंचाख्यं मायामात्रं द्वैतं रज्जुवन्माया-विवच्चाद्वैतं परमार्थतस्तस्मात्र कश्चित्प्रपञ्चः प्रवृत्तो निवृत्तो वास्तीत्यभिप्रायः।' इसी प्रकार प्रपंच नाम का जो द्वैत है, यह मायामात्र ही है। माया से अतिरिक्त कुछ नहीं है। माया का स्वरूप कल बता ही दिया था। मा अर्थात् ज्ञान और या जो; जो केवल ज्ञान स्वरूप, प्रतीतिमात्र है, प्रतीति से भिन्न जिसकी सत्ता न हो, उसे माया समझ लेना। वस्तुतः तो केवल ज्ञान स्वरूप ही अद्वैत है। इसलिये प्रपंच न प्रवृत्ति के योग्य है और न निवृत्ति के योग्य है। प्रवृत्ति के योग्य भी नहीं अर्थात् उसको पकड़ने जाओ तो भी कुछ नहीं मिलेगा। निवृत्ति के योग्य भी नहीं अर्थात् इससे भागोगे तो भी कुछ नहीं मिलेगा। जैसे समुद्र को देखते हुए लहर, बुलबुले, झाग आदि रूपों में ही समुद्र को देखोगे। इनसे

भिन्न समुद्र का रूप कुछ नहीं। कोई कहे कि लहर इत्यादि हटाकर समुद्र दिखाओ, तो नहीं दिखा सकते। इसी प्रकार अनंत कोटि ब्रह्माण्ड में प्रकाशित हुआ जो परमात्मा है यही तो परमात्मा है। इससे दूसरी जगह परमात्मा नहीं बैठा हुआ है। लेकिन जब तक तुम समझते हो कि लहर अलग है, तब तक तुम्हें अज्ञान है, और जब जानते हो कि समुद्र ही लहर इत्यादि आकार वाला है, इसी का नाम ज्ञान है।

कोई कहे कि गहनों के अतिरिक्त सोना दिखाओ तो क्या दिखाओगे? यदि पासा दिखाओगे तो वह भी सोने की एक शक्ल है। सोने की शक्ल पासा नहीं, मोहर भी सोने की शक्ल नहीं। पासा भी ढाला जाता है और मोहर भी बनाई जाती है। इन सब शक्लों से रहित सोने की शक्ल नहीं दिखा सकते। कहेंगे कि इन सबमें जो एक समान दीख रहा है वही सोना है। वह बुद्धि से दीखेगा, उसको आँख नहीं देख सकती। वह जो उन सब शक्लों में रहने वाली समान वस्तु है वह बुद्धि के विवेक से दीखेगी। जब पता लग गया कि इसमें सब गहना आदि रूप हैं, उसके बाद सोने का व्यवहार करोगे तब भी पासे, गहने इत्यादि का व्यवहार करोगे। यह नहीं कि ज्ञान होने पर सिर्फ सोने को खरीदोगे; गहने इत्यादि से ही सारा व्यवहार करोगे, लेकिन केवल ज्ञान रहेगा कि इन सब शक्लों में रहने वाला सोना है। इसी प्रकार जब ब्रह्म को समझते हैं तो इन सब शक्लों को छोड़कर ब्रह्म की कोई न्यारी शक्ल नहीं है लेकिन इन सब शक्लों में, इन सब प्रतीतियों में सत्य ज्ञान आनन्द स्वरूप ब्रह्म को जब पहचान लिया तो फिर भी व्यवहार इन्हीं सब चीज़ों से करोगे, लेकिन व्यवहार करते हुए जानोगे कि वास्तविक सत्यता ब्रह्मरूपता है, बाकी चीज़ें तो आती जाती हैं। इसलिये कहा कि न उसकी कोई प्रवृत्ति है, जैसे न उस सोने को तुम पकड़ सकते हो, न छोड़ सकते हो। उसी प्रकार ब्रह्मरूपता को न ग्रहण कर सकते हो, न छोड़ सकते हो। केवल भ्रान्ति से जो द्वैत प्रतीति है, वह हट जाती है, इतना ही होता है।।१७।।

●

जब कहा कि वहाँ प्रवृत्ति निवृत्ति दोनो नहीं है तो कोई कहता है 'ननु शास्ता शास्त्रं शिष्य इति विकल्पः कथं निवृत्त इत्युच्यते।' बाकी चीज़ें तो आपने कहीं, समझ में आ गई कि सच्ची नहीं होती, लेकिन शास्ता अर्थात् उपदेश देने वाला, शास्त्र जिन शास्त्रों से उपदेश दिया जाये और शिष्य जिसको उपदेश दिया जाये, इतने तो सच्चे होते ही होंगे। बाकी चीज़ें और सारा संसार झूठा है, यह तो ठीक है लेकिन गुरु, शिष्य और शास्त्र को तो सच्चा मानो क्योंकि इन्हीं से ज्ञान होता है। अगर यही झूठे होंगे तो ज्ञान कैसे होगा? इनकी निवृत्ति की बात समझ में नहीं आई। हरेक के मन में होता है कि यदि उपदेश देने वाला और उपदेश झूठा है तो उससे ज्ञान भी झूठा पैदा होगा। ऐसी दृष्टि हो जाती है।

लेकिन विचार करने पर पता लगता है कि यह नियम लागू नहीं होता। क्यों नहीं लागू होता? 'असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते।' हम लोग यह किताब बाँच

रहे हैं। कोई शब्द यहाँ नहीं है। सफेद कागज पर काली लीकें हैं। जिसको तुम 'मा' 'या' कहते हो वह शब्द है जो सुना जाये। वह हमेशा कण्ठताल्वादि में रहेगा। यहाँ लिखा हुआ 'मा' 'या' यह शब्द नहीं है। 'माया' शब्द तो जो हम बोल रहे हैं वह है। लेकिन यह कण्ठताल्वादि संघात वाला शब्द नहीं होकर भी हमारे मन में उस शब्द को ले आता है। यहाँ जैसे लिखा है मा या, उसकी जगह उर्दू में मीम में अलिफ करके या से माया लिखेंगे, और अंग्रेज़ी में 'एम ए वाई ए' करके माया लिखते हैं। लिखित शब्द की शक्लें अलग हो जायेंगी। लेकिन इन सब शक्लों के अलग होने पर भी जो माया शब्द उच्चारण करने से पैदा होगा वह एक ही होगा। इसलिये यह लिपि झूठी है, इससे जो शब्द हमारे मन में पैदा होता है वह सच्चा है। खासकर संस्कृत पढ़ने वालों को यह चीज बड़ी स्पष्ट होती है। आन्ध्रप्रदेश में संस्कृत के प्राचीन ग्रन्थ आन्ध्र लिपि में, तमिलनाडु में तमिल लिपि में मिलते हैं। अक्षर विभिन्न आकारों के होने पर भी शब्द सब में एक ही होता है। तमिल लिपि के परिवर्तित रूप को ग्रन्था कहते हैं, ग्रन्थ की लिपि होने से यह नाम रख दिया गया है। तमिल की कमी यह है कि उसमें महाप्राण आदि की कोई जगह नहीं है। क ड से ही काम चल जाता है, ख घ उसमें नहीं लिख सकते। जैसे उर्दू के अन्दर एक अलिफ से स्वरों का काम चल जाता है इसी प्रकार तमिल में क को प्रकरण के अनुसार ख घ आदि बाँच लिया जाता है। संस्कृत में ये अक्षर ज़रूरी हैं। इसलिये थोड़ी सी भिन्न लिपि बनाई। क पर एक दो बिन्दु रखकर बाकी का ज्ञान कर लेते हैं। जहाँ जाओगे लिपि बदलती रहेगी, लेकिन संस्कृत भाषा का श्लोक एक ही जैसा बाँचने में आयेगा। वर्तमान काल की रोमन लिपि को देवनागरी के लिये विशेष चिन्हों से युक्त बना दिया गया है जिसके अन्दर अगर आ लिखना हुआ तो ए के ऊपर एक डण्डा और मार देते हैं, अ के लिये केवल ए (a, a) लिखते हैं। इ के लिये आई और ई लिखना हुआ तो आई के ऊपर एक डण्डा लगा देते हैं, टी के नीचे एक बिन्दु रख दिया तो ट (t) की ध्वनि देता है। लिपि कुछ भी बना लो। उससे शब्द का जो ज्ञान होगा, वह ठीक है। भारतवर्ष के अन्दर आजकल अधिकतर झगड़ा लिपि का है। लोग कहते हैं कि हिन्दी भाषा को लाना चाहते हैं लेकिन हिन्दी भाषा को कोई नहीं चाहता। लोग समझते हैं कि देवनागरी लिपि आ गई तो हिन्दी भी आ गई। इसलिये उत्तर प्रदेश की तरफ कोई व्यक्ति दुकान का नाम Bharat Bhandar रख दे तो लोग कहते हैं कि अंग्रेजी के नाम नहीं होने चाहिये, और दूसरा अगर देवनागरी लिपि में लिख दे 'इण्डिया ऐण्टरप्राइजेज' तो लोग कहते हैं कि यह ठीक है इसने हिन्दी लिख रखी है! इसलिये लिपि का झगड़ा है, भाषा का झगड़ा नहीं है। लेकिन लिपि कैसी है? लिपि तो केवल उस शब्द को याद दिलाने वाली चीज़ है। लिपि के झगड़े में क्या रखा हुआ है? ठीक इसी प्रकार गुरु शिष्य और उपदेश तो केवल लिपि स्थानीय होने के कारण भ्रम हैं, असत्य हैं। लेकिन इसके द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होगा वह सत्य होगा। इसलिये गुरु आदि

के मिथ्यात्व के प्रश्न का जवाब देते हैं कि वस्तुतः ये कल्पित हैं लेकिन इनसे उत्पन्न होने वाला ज्ञान सत्य है।

विकल्पो विनिवर्तेत कल्पितो यदि केनचित्।
उपदेशादयं वादो ज्ञाते द्वैतं न विद्यते।।१८।।

यह विचार प्रारम्भ हुआ था कि बाकी प्रपंच चाहे अज्ञान के कारण हो लेकिन जो ज्ञान के साधन हैं, गुरु, शास्त्र, शिष्य इत्यादि, वे तो सच्चे होने चाहिये। पूछने वाले का तात्पर्य यह है कि यदि वे झूठे हैं तो उनके द्वारा उत्पन्न होने वाला ज्ञान भी झूठा होगा। यदि उनके द्वारा होने वाला ज्ञान सच्चा है तो वे भी सच्चे होने चाहिये। यह प्रश्नकर्ता का तात्पर्य है। किन्तु यदि वे सच्चे हो गये तो अद्वैत झूठा हो जायेगा! प्रायः द्वैतवादी एवं साधारण मनुष्य के हृदय में यह संदेह स्वाभाविक होता है कि यदि गुरु और शास्त्र सच्चे हैं तो ब्रह्म अद्वितीय नहीं हो सकता, और यदि गुरु और शास्त्र झूठे हैं तो उनके द्वारा दिया हुआ ज्ञान सच्चा नहीं हो सकता।

'असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं प्रबोधयेत्' यह वेदांत का परम रहस्य और परम त्याग है। संसार के जितने मत मतांतरों और मज़हबों के स्थापक हुए उन्होंने त्याग की बातें बड़ी कहीं, लेकिन स्वयं तो त्याग नहीं कर पाये। उन्होंने कहा कि बाकी सब भरोसों को छोड़ो लेकिन मेरा भरोसा तो रखो। सारे मतमतांतरों और मज़हबों का यही कहना है 'या इलाही इलइलाही' अल्लाह एक ही है लेकिन 'रसूल इल्ला' रसूल तो ज़रूर होना चाहिये। वेदांत कहता है कि हम न रहें लेकिन अद्वितीय ज्ञान रहे। इसलिये गुरु शास्त्र इत्यादि सब झूठे हैं। सच्चा केवल एक ब्रह्म ही है। सिवाय वेद के और किसी शास्त्र को आज तक यह हिम्मत कहने की नहीं हुई कि 'यत्र वेदा अवेदा भवन्ति' यह वेदवाक्य है कि जब वेद भी न रह जाये तब समझना ज्ञान हुआ।

यदि वे झूठे हैं तो उनसे ज्ञान सत्य कैसे? जैसा पहले बताया था कि अक्षर और लिपि असत्य होते हुए भी सत्य ज्ञान करा देते हैं। ऐसी बहुत सी चीज़ें संसार में हैं जो स्वरूप से असत्य होते हुए भी सत्य का ज्ञान करा देती हैं। कोई कहता है कि हमें दूज का चन्द्रमा दिखा दो तो हम कहते हैं कि वह देखो वटवृक्ष की दो डालियों के बीच में चन्द्रमा हैं। दो डालियों के बीच में चन्द्रमा नहीं हो सकता क्योंकि हजारों मील लम्बा चौड़ा चन्द्रमा यहाँ से करोड़ों मील की दूरी पर है। इसलिये हमारा यह वाक्य झूठा है कि दो डालियों के बीच में चन्द्रमा है। लेकिन दो डालियों के बीच में तुम्हारी नज़र जाती है तो चन्द्रमा दीख जाता है।

एक चित्रकार था। उसने पहाड़ पर बैठकर बढ़िया चित्र बनाया। चित्र का यह नियम है कि ज़रा दूर से देखो तो चित्र की सफाई नज़र आती है। पास से देखने पर उसकी सफ़ाई नज़र नहीं आती। वह अपने चित्र की सुन्दरता देखने के लिये पीछे हटने लगा।

पीछे एक गड्ढा था। वह बिना पीछे देखे हुए पीछे जाकर चित्र देख रहा था। जैसे ही उसकी घरवाली ने यह देखा कि अब एक कदम भी पीछे रखा तो नीचे गड्ढे में गिरेगा उसने एक झाडू चित्र पर दे मारा वह चित्र नीचे गिरा और चित्रकार झट आगे दौड़ा। कहा—'यह क्या कर रही है?' उसने कहा 'आपका पैर गड्ढे में जाने वाला था।' उसने कहा 'मेरे को कहा क्यों नहीं?' उसने कहा 'यदि मैं कह भी देती तो भी अन्तिम पैर तो तुम्हारा नीचे चला ही जाता।' किसी से कहो कि 'पीछे नहीं' तो पीछे घूमेगा; एक कदम पीछे ही गड्ढा था इसलिये पैर गड्ढे में चला जाता। चित्र गिरेगा तो चित्रकार आगे ही दौड़ेगा, इसलिये पीछे वाली बात नहीं कही। यद्यपि चित्र कोई गिराने वाली चीज़ नहीं है, लेकिन इस कार्य से फल ठीक पैदा हो गया। ऐसे अनेक दृष्टांत जीवन में आते हैं जहाँ जिससे ज्ञान होता है, वह झूठा होता है और जो ज्ञान होता है वह सत्य होता है।

इसी प्रकार वेद कहता है कि हम जितना ब्रह्म के बारे में तुमको बताते हैं, वह सत्य नहीं है लेकिन उसके कारण तुम्हारी वृत्ति प्रपंच से हटकर अन्तर्मुखी हो जायेगी। अन्तर्मुखता को प्राप्त करके जो ज्ञान तुमको हो जायेगा, वह हमारे इस उपदेश का फल है। उपदेश सत्य नहीं है लेकिन उपदेश के द्वारा जो तुम्हारी वृत्ति अन्तर्मुखी होकर फल होगा, वह सत्य है। यही वेदांत का रहस्य है 'असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं प्रबोधयेत्।' गणित के अन्दर भी ऐसे अनेक दृष्टांत आते हैं। एक संख्या है माइनस वन का स्क्वेअर रूट (ऋण एक का वर्गमूल), उसका नाम ही (imaginary no.) 'काल्पनिक संख्या' रखा है। स्क्वेअर रूट आफ माइनस वन क्या हो सकता है? कोई भी कल्पना करो, कोई संख्या ऐसी नहीं हो सकती कि गुणा करने से माइनस निकले! लेकिन उस संख्या को मानकर अनेक प्रश्न हल हो जाते हैं। इसलिये मान लेना पड़ता है। कोई कहे कि संख्या झूठी है तो फिर क्यों मानते हो? इसलिये कि झूठी संख्या से सत्य का ज्ञान हो जाता है, नतीजा निकलता है। ठीक इसी प्रकार वेद कहता है कि हम जितना कुछ ब्रह्म के बारे में बताते हैं, वह सब झूठ (imaginary) है, जैसे स्क्वेअर रूट आफ माइनस वन की कीमत कुछ नहीं है। ऐसे ही ब्रह्म के उपदेश के ढंग में उपयोगी जो वर्णन हैं वे झूठे हैं यह हमें मान्य है पर वे जिस तात्पर्य को व्यक्त करते हैं वह परम सत्य है।

शब्द बेकार हैं लेकिन उनकी कार्यकारिता यह है कि तुम्हारी वृत्ति बाहरी विषयों से हटकर आत्मा की तरफ चली जाती है। रसगुल्ला गुलाबजामुन खाने का, संदेश खाने का, जोधपुर की मावे की कचौड़ी खाने का आनन्द आता है। ये सारे आनन्द झूठे हैं लेकिन इनके अन्दर से जो वह आनन्दरूपता का ग्रहण होता है, वह सत्य है। आनन्द-भोग के बाद वृत्ति बनती है 'इसमें जो आनन्द आया, वह उपादेय था, अच्छी चीज़ें थीं, अगर ऐसा आनन्द नित्य निरतिशय रह सके तो बड़ा बढ़िया हो'। अगर ऐसा आनन्द हमेशा रह सके और जो सबसे बड़ा आनन्द हो, घटने वाला भी नहीं, निरतिशय आनन्द

हो, तो काम बन जाता है। विचार करो कि रसगुल्ले का आनन्द तो रसगुल्लाजन्य है। जब रसगुल्ला झूठा है तो उससे जन्य आनन्द भी झूठा ही होगा, लेकिन उस आनन्द के कारण तुमको कुछ एकाग्रता की इच्छा पैदा हुई। अब जब तुमसे कहते हैं कि ब्रह्म नित्य निरतिशय आनन्दरूप है, तुम्हारे मन में आनन्द की कल्पना होती है कि रसगुल्ले जैसा आनन्द वह भी होगा। लेकिन वह विषयजन्य आनन्द नहीं है। रसगुल्ले आदि के आनन्द में आनन्द का भोक्ता और आनन्द का विषय, दोनों अलग अलग हैं, एक नहीं है। ऐसे तुम कोई ब्रह्म का भोग नहीं कर सकते क्योंकि तुम स्वयं ही ब्रह्मरूप और स्वयं आनन्दरूप हो। वस्तुतः रसगुल्ले के आनन्द से ब्रह्म के आनन्द का कोई सम्बन्ध नहीं है लेकिन रसगुल्ले का आनन्द देखकर उस आनन्द की कल्पना तुमको हो गई, तभी तो आगे तुम साधना में प्रवृत्त होगे।

पुराणों में कथा आती है कि देवर्षि नारद तपस्या कर रहे थे, तपस्या करते करते उनको भगवद्दर्शन होता है। भगवान् का दर्शन हुआ तो बड़े प्रसन्न हो गये। भगवान् ने उनके साथ बड़ा दुलार किया, खूब सिर पर हाथ फेरा, उपदेश दिया। नारद बड़े प्रसन्न हो गये। भगवान् अन्तर्धान हो गये। अब उनको याद कर नारद तड़पने लगे। इतने दुःखी हो गये कि एक बार शरीर छोड़ने को तैयार हो गये कि न जाने भगवान् मुझसे क्यों नाराज़ हो गये दर्शन क्यों नहीं दे रहे हैं। आकाशवाणी हुई 'शरीर न छोड़, मेरा दर्शन होगा जब तुम्हारी साधना पक जायेगी।' पूछा 'पहले कैसे दर्शन दिया था?' कहा 'पहले तो स्वाद चखाने को दर्शन दिया था। अब चूँकि स्वाद पड़ गया है, इसलिये तू डट कर तपस्या करेगा क्योंकि तेरे को पता है कि इस चीज़ की प्राप्ति होगी।' वास्तविक दर्शन तब होगा जब साधना पक जायेगी लेकिन बीच में संकेत मिल गया तो उधर प्रवृत्ति हो जाती है। इसी प्रकार योगज सिद्धियों का वर्णन किया है।

विचार करके देखो कि राधाकृष्ण के प्रेम को बड़ा आदर्श प्रेम कहते हैं। भगवान् ने ११ साल की उम्र में वृन्दावन छोड़ दिया था मथुरा चले गये थे और १२५ साल तक भगवान् जिये। इसलिये वृन्दावन छोड़ने के बाद ११४ साल तक जिये हैं। लेकिन उन ११४ साल में ११४ सैकेण्ड के लिये भी कभी वृन्दावन लौटकर नहीं गये। केवल एक बार जब महाभारत युद्ध शुरू हो चुका था, उस समय सूर्यग्रहण पड़ा था और उसमें नन्द और नन्द के साथ गोप गोपियाँ भी कुरुक्षेत्र में नहाने आये थे। भगवान् भी उस समय कुरुक्षेत्र में मौजूद थे। केवल वहाँ घण्टे आधे घण्टे के लिये मिले थे। लेकिन लौटकर कभी नहीं गये। क्या ११४ साल उन्हें फुर्सत नहीं मिली? ऐसी बात नहीं है क्योंकि ११४ साल में न जाने कितनी बार वृन्दावन और मथुरा के सामने से निकले। कभी मगध में जरासंध को मारने, कभा आसाम में नरकासुर को मारने, कभी त्रिपुरासुर को मारने के लिये उलूपी के पिता के पास गये थे जिसके साथ अर्जुन का विवाह हुआ था। यह नहीं कि वृन्दावन के पास से निकले नहीं, लेकिन एक सैकेण्ड को भी वृन्दावन

में नहीं रुके, फुर्सत के कारण न गये हों सो बात नहीं है। वहाँ गोप गोपिकाओं को उन्होंने एक बार जो स्वाद चखा दिया तो अब जब तपस्या की पूर्ति होगी तभी भगवद्धाम में उन्हें भगवान् के दर्शन होने हैं। हमेशा भगवान् की एक झलक जीव को मिलती है लेकिन वह झलक पूर्ण तभी होगी जब साधना पूरी पक जायेगी।

ठीक इसी प्रकार वेदांती तुमको कहता है कि रसगुल्ले का आनन्द ले रहे हो, उसमें रसगुल्ले को जरा लीन करके देखो तो उसकी झलक मिलती है। है वह झलक ही, असली निर्विषय आनन्द तो आगे आयेगा लेकिन उससे मनुष्य को पता तो लग जायेगा कि कैसी स्थिति होगी। स्वयं वह आनन्द असत्य है। जो बात आनन्द की है, वही सत्, चित् में समझ लेना। सत् को समझाने के लिये कहते हैं कि जैसे घड़े में, कपड़े में हैपना (existence) है, सत्ता है और अब घड़े के सिवाय जो सर्वत्र व्यापक सत्ता है, उसको ग्रहण करना है। घट पट आदि की व्यावहारिक सत्ता और परमेश्वर की पारमार्थिक सत्ता है। दोनों की सत्ता एक नहीं है। लेकिन इस सत्ता से उस सत्ता का संकेत मिल गया। घटज्ञान पटज्ञान के द्वारा ज्ञान का संकेत मिल गया। यद्यपि घटसत्ता घटज्ञान और घट-आनन्द सारे के सारे व्यावहारिक होने से झूठे हैं, लेकिन इनके द्वारा सच्चे ब्रह्म के जो सत्ता, ज्ञान और आनन्द हैं उनकी झलक मिल गई। बस उससे प्रवृत्ति कराना शास्त्र का काम है।

यहाँ वेदांत की इसी दृष्टि को बताते हैं। 'विकल्पो विनिवर्तेत यदि केनचित् कल्पितः स्यात्।' यदि किसी के द्वारा गुरु, शास्त्र आदि विकल्पों की कल्पना की गई होती, अर्थात् यदि वास्तविक रूप से इनको मानना पड़ा होता, तो तुम्हारी शंका ठीक होती। व्यावहारिक जगत् में तुम्हारा मन फँसा हुआ है, वहाँ से हटाने के लिये कारण भी व्यावहारिक ही चाहिये। एक कड़वा दृष्टांत देते हैं। किसी मनुष्य के एक पुत्र है। उस पुत्र के अन्दर उसका मन फँसा हुआ है। अब उसका पुत्र मर गया, झंझट खत्म हुई। जब पुत्र मर गया तो उसके मन में आगे जिज्ञासा होती है कि अरे, इस संसार का क्या रूप है? क्योंकि एक ही पुत्र था, वह चला गया तो अपने आप विचार में प्रवृत्ति हो गई। संसार के रूप का अब तक विचार क्यों नहीं कर सका था? क्योंकि घर में पुत्र था। पुत्र की उत्पत्ति व्यावहारिक है, मिथ्या है। उत्पन्न होने के पहले पुत्र तुम्हारा थोड़े ही था। कोई अगर सूक्ष्म विवेकी हो तो घर में पुत्र उत्पन्न होने के साथ ही सोचने लगे कि यह लड़का मेरे घर में कहाँ से आ गया। इसने पहले कोई चिट्ठी तार नहीं दिया और घर में टपक पड़ा। पता नहीं कोई दुश्मन ही घर में आ गया हो। आज तक इसे देखा ही नहीं, इसलिये बाहर ही रखो। यह विचार जाग्रत् हो सकता है, लेकिन नहीं होता। जैसे पुत्र का उत्पन्न होना अव्याख्येय, अनिर्वचनीय (inexplainable) मिथ्या है, ठीक इसी प्रकार से उसका मरना भी अनिर्वचनीय, अव्याख्येय और मिथ्या है। आया तो ठिकाना देकर नहीं आया और गया तो मेल रीडायरेक्ट (redirect) करने का पता छोड़कर नहीं गया कि कोई डाक

आये तो अमुक जगह भेज देना। आना भी विचारशील को उतना ही असत्य लगता है जितना जाना। लेकिन देखने में आता है कि जब आता है तब मोह बढ़ता है और जाता है तो मोह घटता है। जाता है तो शोक हो गया। आगे विचार में प्रवृत्ति हो जाती है। यद्यपि घर में आना जितना असत्य, मरना भी उतना ही असत्य, असत्य दोनों एक जैसे हैं, लेकिन एक असत्य मनुष्य को विचार में प्रवृत्त कराता है, दूसरा नहीं कराता।

अथवा घर में मान लो कहीं से एक औरत पकड़ लाते हो, ढोल आदि बजाकर लाये तो उसका नाम ब्याह रख दिया,लेकिन पकड़कर तो कहीं से लाये ही हो। आबू में रहते हो। अगर वह जाकर खूब सवेरे गरम पानी नहाने के लिये तैयार करके दे; तुम नहा धोकर पूजा करके संध्या करके तैयार हुए तो ठीक सात बजे गरम गरम दूध पीने को दे; और अगर गुजरात की तरफ की हो तो साथ में तुमको बढ़िया चिवड़ा या खामन ढोकला बनाकर दे; तो क्या होता है? वह लड़की तो बाहर से आई हुई है, तुम्हारा उसका पहले से कोई सम्बन्ध नहीं, फिर भी तुम्हारा मोह उसके प्रति बढ़ता है कि बड़ा अच्छा हुआ ब्याह हो गया, कैसी अच्छी लड़की मिल गई। लेकिन वह आये और तुम छह बजे उठो तो वह आठ बजे उठे और तुमसे कहे कि मेरी आदत है कि जब तक मेरे को गरम चाय नहीं पिलाओगे, मेरे से नहीं उठा जाता। सवेरे उठकर तुम्हें चाय बनाकर पिलानी पड़े। फिर कहे कि भोजन वगैरा मुझसे नहीं बनता अच्छे भील को रखकर रसोई बनवा लो, अपने से नहीं बनेगा। एक काम वह रोज़ करे कि सवेरे जब चाय पिये तो कहे 'तुम्हें अब तक चाय बनाने की अक्कल नहीं आई, कम उबालते हो, बड़े पढ़े लिखे बनते हो, किसके गले पड़ गई।' तब क्या करोगे? सत्संग करने लगोगे, विचार करने लगोगे, विवेक जाग्रत् हो जायेगा कि इस संसार में जितने सम्बन्ध हैं सब बेकार हैं। पाश्चात्य देश यूनान (ग्रीस) में एक बहुत बड़ा विद्वान् हुआ है। वह कहता है कि हर आदमी को ज़रूर विवाह करना चाहिये। यदि अच्छी औरत मिलेगी तो जीवन सुखी हो जायेगा और यदि फूहड़ मिलेगी तो दार्शनिक बन जाओगे। वह बेचारा ऐसे ही दार्शनिक बन गया था! उसकी बीबी भी ऐसी ही थी। यद्यपि कौन सी औरत घर में आई यह पता नहीं, फिर भी वह उतनी ही मिथ्या। अच्छी औरत है तो उसका पत्नीपना भी उतना ही कल्पित है। लेकिन योग्य पत्नी क्या करती है? वह तुम्हारा मोह बढ़ा देती है, उसमें तुम्हारा विचार जाग्रत् नहीं होता कि किस को पकड़कर ले आया। किसी किसी का हो जाये तो बात दूसरी है और वह हो गया तो विचार जग जाता है कि रिश्ते सब झूठे हैं इसमें कुछ नहीं रखा।

इसलिये वास्तविक की ज़रूरत पड़े ऐसा नियम नहीं, मिथ्या से भी काम चल जाता है। दो तरह के मिथ्या या झूठ हुए। एक झूठ जो झूठ की आसक्ति को बढ़ाता है और दूसरा जो तुम्हें झूठ से हटाकर सत्य की तरफ़ ले जाता है। इसलिये कहा कि यदि किसी कारण से सच्चे विकल्प की कल्पना करनी ज़रूरी होती तो उसे हटाने के लिये सोचना

पड़ता। लेकिन वास्तविक स्थिति क्या है? वास्तविक स्थिति तो यह है कि तत्त्वज्ञान होने के पहले 'उपदेशाद् अयं वादः' तत्त्वोपदेश निमित्त बनाया जाता है। 'उपदेशात्' में पंचमी निमित्त के लिये है, निमित्त के लिये भी पंचमी होती है। यह जो शास्त्र आदि हैं, ये केवल गुरु आदि भेद का अनुवाद मात्र करते हैं। उपदेश निमित्त से मान लिया जाता है कि यह गुरु, यह शिष्य और यह शास्त्र है। कभी अगर पुराणों को ध्यान से पढ़ने का मौका पड़े तो देखोगे कि किसी पुराण के अन्दर नारद वक्ता हैं तो लोमश महर्षि श्रोता हैं। दूसरे पुराण में लोमश महर्षि वक्ता और नारद श्रोता हो जाते हैं। किसी पुराण के अन्दर सनत्कुमार वक्ता हैं और वशिष्ठ महर्षि श्रोता तथा किसी के अन्दर वक्ता वशिष्ठ जी और वही सनत्कुमार श्रोता हो जाते हैं। कई बार मन में शंका आती है यह क्या, पहले जो ज्ञान का उपदेश कर रहे हैं वे फिर उसी श्रोता से ज्ञान का उपदेश माँगने लग गये! यह पुराणकार के कहने का ढंग है कि गुरु-शिष्य-भाव केवल कल्पना मात्र है। जिस समय जिससे ज्ञान होता है उस समय उसमें गुरुत्व कल्पना कर ली जाती है। और अन्य काल के अन्दर जिसको तुम शिष्य मान रहे थे वह गुरु हो जाता है।

सूक्ष्म दृष्टि से विचार करके देखो तो गुरु और शिष्य का कोई भी नियमन नहीं हो सकता है। मान लो राजस्थान के रहने वाले दिल्ली में पहुँच गये और वहाँ किसी को सुना रहे हैं। सुनाते हुए स्वाभाविक है कि आदमी दूसरे की आँख देखता है कि यह हमारी बात समझा या नहीं। यह वेदांत का विषय है इसलिये देखना पड़ता है। राजनीति के व्याख्यानों में आँख तो क्या चेहरा ही नहीं दीखता। कहते हैं कि दस हज़ार आदमी सुनने आये। हमारी समस्या यह है कि यदि एक एक आदमी की तरफ एक सैकेण्ड को भी देखो तो दस हज़ार सैकेण्ड तो उन्हें देखने में चले जायें। पहले हम समझते थे कि उन्होंने ध्यान धारणा करके कोई सिद्धि प्राप्त कर ली होगी कि अनेक व्यक्तियों के चेहरे एक साथ देख लेते होंगे। शास्त्रों में आता है कि इन्द्र आदि की ऐसी सामर्थ्य है जो हज़ारों नेत्रों के द्वारा सबके चेहरे एक साथ ग्रहण कर लेते हैं। लेकिन बाद में पता चला कि वह सब कुछ नहीं, उनको पता ही नहीं होता कि कौन आया और कौन नहीं आया। जहाँ कोई बात समझाई जायेगी वहाँ देखेंगे कि सामने वाले की समझ में अगर नहीं आया तो शब्द बदलें। हमने एक शब्द कहा तुम्हारी समझ में आ गया, दूसरे की समझ में नहीं आया, हमने शब्दान्तर दिया। देखा यह भी समझ में नहीं आया तो सोचा कि शायद उर्दू का शब्द या अंग्रेजी का शब्द समझ लेंगे तो उर्दू या अंग्रेज़ी का शब्द कह दिया। ठीक दो साल बाद वही बात दिल्ली में समझा रहे होते हैं तो पहले ही अंग्रेजी या उर्दू का शब्द बोलते हैं तो लोग बड़े खुश हो जाते हैं कि बड़ी अच्छी बात की। लेकिन इसका गुरु पहली बार का श्रोता था जिसकी आँखों को देख कर, या और दस पाँच आदमियों को सुनाने के बाद पता चला हि यह दिल्ली है यहाँ मारवाड़ का शब्द नहीं चलेगा, उर्दू या अंग्रेज़ी का शब्द चलेगा। वे समझते हैं

कि हमने उन्हें सुनाया, हमने समझा कि उन्होंने हमें उपदेश दिया कि किस शब्द का प्रयोग करें। कैसे कहोगे कि कौन समझाने वाला और कौन समझने वाला है? निरंतर यह व्यवहार चलता रहता है।

भाष्यकार कहते हैं कि जितने भी सम्बन्ध है 'विश्वं पश्यति कार्यकारणतया स्वस्वामिसम्बन्धतः। शिष्याचार्यतया तथैव पितृपुत्राद्यात्मना भेदतः।' कार्य और कारण का विचार मनुष्य करता है लेकिन सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने वाला कह ही नहीं सकता कि क्या कारण और क्या कार्य है। सामान्य रूप से समझते हैं कि मिट्टी कारण और घड़ा कार्य है। बढ़िया मिट्टी एक जगह मिला करती है, घड़ा बनाने के लिये लोग वहाँ से वह मिट्टी खोदते रहते हैं। खोदते खोदते अकस्मात होता है कि नीचे से कुछ एक दो बर्तन टूटे फूटे मिट्टी के निकल आते हैं, लोग उठाकर फैंक देते हैं। एक दिन वहाँ पुरातत्त्ववेत्ता उन्हें देखकर कहता है कि यह तो अमुक युग की पाटरी लगती है। वहाँ घेरा पड़ जाता कि यहाँ से कोई मिट्टी नहीं ले जा सकता। कई दिनों से लोग ले जा रहे थे। खोदने पर वहाँ से बढ़िया पाटरी के टुकड़े निकलते हैं। अब पता चला कि वहाँ की मिट्टी के घड़े इसलिये बढ़िया बनते थे कि पाँच हज़ार साल पहले घड़े टूट टूट कर वहाँ डाल दिये गये और पानी पड़ पड़कर गल गये थे। इसलिये वहाँ बिल्कुल छनी हुई मिट्टी का माल था। लोग कहते हैं मिट्टी घड़े का कारण है, विचारशील देखता है कि घड़े से मिट्टी बनी! किस को कार्य और किसको कारण मानोगे? ऐसे ही सर्वत्र समझ लेना। दो तीन दिन पहले किसी एक पत्र में देख रहे थे कि इंग्लैण्ड के वैज्ञानिकों ने मनुष्य के मल स्टैरिलाइज़ करके और उसको ठीक प्रकार से केमिकली ट्रीट (रसायनों से संस्कृत) करके उसके बिस्कुट बनाये हैं। यहाँ किसी को सुनाया तो उन्हें उबकाई आने लगी कि कैसा ज़माना आ गया है। हमने कहा 'उसमे फरक क्या पड़ा? आखिर तुम्हारे मल की खाद देकर ही गोभी, गेहूँ, इत्यादि पैद्रा किये जाते हैं और तुम उन्हें खाते ही हो। जैसे उसका प्रयोग वैसे ही इसका प्रयोग है। फरक इतना है कि वह बनने में छह महीने लगते हैं और यह ज़रा जल्दी वैज्ञानिक तरीके से बना लिया गया, और तो कोई फरक नहीं है।' विचार करो कि हम लोग सामान्यतः समझते हैं कि भोजन से मल बनता है लेकिन भूल जाते हैं कि मल से भी भोजन बनता है, उसी से तो आटा दाल इत्यादि बना हुआ है। किसी को कारण किसी को कार्य कह रहे हैं।

इसी प्रकार 'स्वस्वामिसम्बन्धतः' मैं नौकर हूँ और यह मालिक हैं, ऐसा मनुष्य समझता है। तीस दिन तक तो यह बात ठीक है कि तुम मालिक हम नौकर। तुम्हारा हुक्म हमें मानना पड़ता है। इकतीसवें दिन कहते हैं 'हमारी तन्खा दो, महीना खत्म हो गया।' उस समय यदि कहो 'हाथ तंग है, दो दिन बाद दूँगा', तो वह सामने खड़ा हो जाता है 'बिना पैसे के काम कराना चाहते हो?' और चार आदमी इकट्ठे होकर कहने लगते हैं कि गरीब से काम ले लिया और तन्खा देते समय कहता है कि पैसा पास में

नहीं है? उस समय वह अदालत की नालिश भी कर दे तो जेल तुम्हें ही जाना पड़ेगा। यह नहीं कह सकते कि हम मालिक, दें न दें, हमारी मर्जी। अब तुम्हारा मालिकपन खत्म हो गया, इस समय वह नौकर मालिक बना हुआ है। 'शिष्याचार्यतया' गुरु शिष्य में भी ऐसा ही है। किसको गुरु और किसको शिष्य कहें , यह निश्चित नहीं है। एक काल में एक ही व्यक्ति किसी का शिष्य और उसी काल में उसी का गुरु भी है, दूसरे समय नहीं।

'पितृपुत्राद्यात्मना भेदतः' यह दृष्टांत ज़रा सूक्ष्म दृष्टांत है। बेटा बाप का बाप होता है। किसी दूसरे का नहीं समझना, अपना ही बेटा अपना बाप है। बाप, जनक अर्थात् पैदा करने वाला। मैं रामकिशोर तो अपने बाप से पैदा हुआ। लेकिन जब बाप से पैदा हुआ उस समय तो रामकिशोर पुत्र पैदा हुआ, पिता रामकिशोर पैदा नहीं हुआ। पिता रामकिशोर तब पैदा हुआ जब मेरे घर में कृष्णकिशोर पैदा हुआ। मैं अस्सी साल का हो जाऊँ घर में पुत्र पैदा न हो, थाली न बजे, अर्थात् कृष्णकिशोर पैदा नहीं हुआ तो मेरे में पितापना नहीं आ सकता। मेरे पितापन को वह थाली बजवाने वाला कृष्णकिशोर पैदा कर रहा है, उससे पहले पिता रूपी धर्म नहीं आया। रामकिशोर का रामकिशोर ही रहा या पुत्र का पुत्र ही रहा। आज मेरे पुत्रत्व को समाप्त करके मेरा पुत्र मेरा जनक हुआ। स्वरूप से मैं उसका जनक, लेकिन मेरे बापपने को पैदा करने वाला, वही हुआ। इसलिये पुत्र बाप हुआ। इसी प्रकार से सर्वत्र समझ लेना चाहिये। इसलिये कहा 'उपदेशाद् अयं वादः' यह जो कहा जाता है कि यह गुरु और यह शिष्य, यह केवल उपदेश के निमित्त से कहा जाता है, वास्तविक दृष्टि से नहीं क्योंकि वास्तविक दृष्टि से विचार करोगे तो न शिष्य और न गुरु ही सिद्ध होगा। 'ज्ञाते द्वैतं न विद्यते' जब उस उपदेश का कार्य समाप्त हो गया अर्थात् ज्ञान हो गया तो फिर द्वैत नहीं रहता।

वेदांतशास्त्र सत्य मार्ग का प्रदर्शक इसलिये है कि 'ज्ञाते द्वैतं न विद्यते।' और जितने उपदेश हैं वे तुमको श्रेष्ठ बनाते हैं लेकिन वेदान्त का उपदेश तुम्हें श्रेष्ठ नहीं बनाता। तुमको अपना स्वरूप बना देता है। भगवान् भाष्यकार एक जगह कहते हैं कि आत्मज्ञान की विशेषता क्या है? आत्मज्ञान देने वाले गुरु की विशेषता क्या है? मनुष्य को अपना आत्मा बना देता है। पारस पत्थर लोहे को छूता है तो लोहा सोना बन जाता है। पारस का प्रसिद्ध गुण है। इसीलिये लोग कहते हैं कि गुरु या ज्ञान पारस मणि की तरह है। पारस लोहे को सोना बनाता है। भाष्यकार का प्रश्न यह है कि सोने की कीमत ज्यादा है या पारस की कीमत ज्यादा है? कहोगे कि पारस की कीमत ही ज्यादा है। किसी से कहो कि एक तोला पारस लोगे या एक क्विंटल सोना लोगे? तो वह एक तोला पारस ही लेने को तैयार होगा क्योंकि जानता है कि उससे चाहे जितने क्विंटल सोना बना लेंगे। पारस की कीमत ज्यादा है क्योंकि लोहे को छूकर सोना बनाता है। लेकिन वह भी पारस नहीं बनाता। गुरु जब शिष्य को ज्ञान देता है तो उसे अपना स्वरूप बना देता है। जैसे

वह स्वयं ब्रह्म वैसे ही वह उस शिष्य को भी ब्रह्मस्वरूप बनाता है। 'ज्ञाते द्वैतं न विद्यते' ज्ञान होने के बाद उपदेश के निमित्त से कल्पित जो गुरु-शिष्यभाव था, वह नहीं रह जाता।

इस स्वरूप के सत्य को बताने वाला होने से ही ब्रह्मज्ञान सत्य कहा जाता है। वस्तुतः तो ब्रह्म ही सत्य है लेकिन सत्य ब्रह्म में स्थिति कराने वाला होने से ब्रह्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान का उपदेश सत्य कह दिया जाता है। वस्तुतः वह भी सत्य नहीं। वस्तुतः तो ब्रह्म ही सत्य है। मिथ्या के ये दोनों भेद स्पष्ट समझना। हैं तो दोनों मिथ्या, संसार का ज्ञान देने वाला गुरु भी मिथ्या है और ब्रह्मज्ञान देने वाला गुरु भी मिथ्या है। फिर क्यों ब्रह्मज्ञान देने वाले को सद्गुरु या सच्चा गुरु कहते हैं? क्योंकि संसार का ज्ञान देने वाला गुरु हमको अपने स्वरूप में स्थित नहीं करता, स्वरूप से दूर ले जाता है। ब्रह्म का उपदेश देने वाला गुरु और शास्त्र हमको स्वरूप में स्थित कर देते हैं। सच्चा फल उत्पन्न करने के कारण उन्हें सच्चा कह दिया गया है, स्वरूप से सत्य नहीं।

भाष्य में और स्पष्ट करते हैं 'विकल्पो विनिवर्तेत यदि केनचित्कल्पितः स्यात्।' विकल्प विनिवृत्त हो जाता यदि किसी कारण से कल्पित हुआ होता। तत्त्वज्ञान रूपी कार्य की अन्यथा अनुपपत्ति से तुम जो शास्त्र आदि विकल्पों को सत्य सिद्ध करना चाहते हो, वह आवश्यक नहीं है। उसकी निवृत्ति न होने पर अद्वैत की सिद्धि कैसे होगी? इसको दृष्टांत से समझाते हैं। तुमको दूर से धुआँ नहीं दिखाई दिया, दिखाई दी भाप। दूर से भाप भी धुएँ की तरह दीखती है। तुमने उसे धुआँ समझ लिया। भाप को धुआँ समझना झूठा ज्ञान है। तुम उसको धुआँ समझकर इस आशा से कि वहाँ आग मिलेगी, वहाँ पहुँचे। जहाँ भाप, वहाँ आग भी है क्योंकि आग होगी तभी भाप पैदा होगी। जिस कारण से तुमने उसको आग समझा था वह कारण झूठा था अर्थात् तुमने जिस धूम को हेतु बनाकर वह्नि का अनुमान किया वह धूम था नहीं, लेकिन उस कारण से जो तुमने फल समझा वह मिल गया। यह नहीं कह सकते कि भाप देखकर आये थे इसलिये यहाँ झूठी आग है। वह आग तो सच्ची मिली, चाहे जिस निमित्त से आये वह निमित्त झूठा है। ऐसे कई दृष्टांत शास्त्रकारों ने दिये हैं। कोई आदमी मर रहा है। लोगों ने कहा 'इसको गंगाजल पिला दीजिये।' तुम घर के अन्दर गये और पूजा के कमरे से एक बोतल उठाकर ले आये और उसे जल पिला दिया। वह आदमी मर गया। बाद में पता लगा कि वह गंगा का जल नहीं, नर्मदा का जल था। तुमने नर्मदा के जल को गंगा जल समझा था। है तो यह भ्रमज्ञान लेकिन जैसे गंगाजल मनुष्य की पवित्रता का हेतु है वैसे ही नर्मदा का जल भी पवित्रता का हेतु है। उसका जल पीने से भी सद्गति हो जाती है। गंगाजल समझकर नर्मदा का जल पिलाने का सद्गतिरूप फल तो सच्चा मिल गया। ऐसे ही दूर से तुमने किसी चीज़ को हीरा समझा, उसकी चमक देखकर वहाँ पहुँचे तो हीरा न निकलकर माणिक या पन्ना निकला। चमक तो हीरे की देखकर गये थे लेकिन जैसे हीरा कीमती वैसे ही माणिक या पन्ना भी कीमती है। तुमको मणि की प्राप्ति हो गई। लेकिन

जिसको हीरे की चमक समझा था वह हीरे की चमक नहीं थी फिर भी वहाँ कीमती पत्थर मिल गया, तुम्हारा काम बन गया। कहीं प्रत्यक्ष से, कहीं अनुमान से, कहीं शब्द में भ्रान्ति से हो गया, अनेक प्रकार से ऐसा हो जाता है।

हमारे यहाँ तो ऐसे ऐसे दृष्टांत दे दिये हैं जो आजकल के लोगों को कहें तो उनकी समझ में भी नहीं आयेगा, जँचेगा नहीं। फिर भी सुना देते हैं लेकिन बाद में प्रश्न नहीं पूछना। एक मुसलमान था उसको एक सूअर मारने दौड़ा। वे लोग सूअर को हराम कहते हैं। जब उसने सूअर को अपनी तरफ आते देखा तो कहा 'हराम, ह राम।' सूअर ने आकर उसे मार दिया। वह मुसलमान भगवान् राम के साकेत लोग को चला गया क्योंकि उसने अंतिम शब्द राम कहा था; ह तो अलग हो गया, राम कहकर उसकी मुक्ति हो गई, क्योंकि शास्त्र में लिखा है कि अंत में राम कहने वाले की मुक्ति हो जाती है। हो सकता है कि यह अतिशयोक्तिपूर्ण कथा हो लेकिन यहाँ बताया यह जा रहा है कि कई बार भ्रम की प्रवृत्ति भी सत्यज्ञान पैदा करती है, फल सच्चा पैदा करती है। इसी प्रकार हमने यह समझकर प्रवृत्ति की थी कि गुरु और वेद सच्चे हैं, गुरु-वेद तो झूठे निकले लेकिन उनसे जो हमें ब्रह्मस्वरूप का ज्ञान मिला वह सच्चा है। इसलिये धूमाभास यद्यपि अव्याप्त है लेकिन उस हेतु से भी फल की उत्पत्ति हो गई तो उसे हेतु मान लेना पड़ेगा।

शिष्य आदि विकल्प कल्पित कैसे हैं? उसमें दृष्टांत देते हैं 'यथाऽयं प्रपंचो मायारज्जुसर्पवत्तथाऽयं शिष्यादिभेदविकल्पोऽपि प्राक्प्रतिबोधादेवोपदेशनिमित्तः।' यह प्रपंच माया या रस्सी में दीखने वाले साँप की तरह है। पूर्व श्लोक में भी यही दो दृष्टांत दिये थे और यहाँ भी यही दो दृष्टांत दिये हैं। रस्सी में साँप के दृष्टांत से मनुष्य के मन में एक भ्रम रह जाता है कि रस्सी जड है, ऐसे ही ब्रह्म भी जड होगा। यह शंका रह जाती है। और साधारण आदमियों के नहीं, बड़े-बड़े विचारकों के मन में रह जाती है और इसलिये ब्रह्म की स्वतंत्रता वे सहन नहीं कर पाते। भगवान् सुरेश्वराचार्य लिखते हैं कि ईश्वर के ऊपर कौनसा दार्शनिक कौनसा नियमन कर सकता है कि यह इस नियमन से चले और इस नियमन से न चले? कौन उसकी स्वतंत्रता का हरण कर सकता है? लोग पूछते हैं कि परमेश्वर कर्म के अनुसार फल देता है या अपनी मर्ज़ी से देता है? कर्म के अनुसार कर्म-फल देता है यहाँ तक तो ठीक है, यह तो सबकी समझ में आ जाता है और यहीं तक हम लोग बताते भी हैं। लेकिन जैसे कार्य-कारण-भाव की दृष्टि है वैसे ही कार्य-कारण-भाव से रहित भी दृष्टि चलती है। बीच बीच में कभी यह श्लोक लोग बाँच लेते हैं। गीता बाँचोगे तो उसके अन्दर भगवान् एक जगह कह देंगे 'सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।' सारे कर्मों को करता हुआ भी यदि मेरा सहारा पकड़ कर रहता है तो फिर उसको मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है। भाष्यकार वहाँ 'सर्वकर्माणि' का अर्थ 'सब प्रकार के पाप भी करता हुआ' ऐसा करते हैं। भाष्यकार कहते हैं कि यदि ऐसा अर्थ लोगे कि 'पुण्य करते हुए भी रहने से दोषी नहीं होता' तो ! 'भी' कहना संगत नहीं होगा। किसी को कहो 'तुम चाहे जिस स्थिति में हो अगर तुमको धन की ज़रूरत

पड़े तो तुम हमसे पाँच सौ रुपये ले लेना।' तो यहाँ तुम्हारा मतलब यही होता है कि जब तुम्हारे पास न हो तब ले लेना। पहले ही लखपति है और फिर लेने आये तो तुम यही कहोगे कि 'जब तुम्हारे पास लाखों हैं तो क्यों माँगते हो?' ऐसे ही यदि कह दिया जाता कि 'सर्वकर्माणि' का मतलब है पुण्यकर्म करने वाला, तो उसे कहाँ ज़रूरत है यह कहने की कि पुण्य कर रहा है तो मेरा सहारा लेने से सद्गति होगी? यह बेकार है। उसकी तो पुण्य से ही सद्गति हो जायेगी। अंत में भी भगवान् कहते हैं 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।' 'सर्वधर्मान्' का मतलब क्या यह लोगे कि हिन्दू, मुसलमान, ईसाई धर्म छोड़ दो? ये तो उस काल में थे ही नहीं तो इन्हें छोड़ना कैसे बनेगा? इसलिये यहाँ 'सर्वधर्मान्' से लेना पड़ेगा कि वर्णाश्रम धर्म को छोड़ दो। यह छोड़ोगे तो प्रत्यवाय या पाप लगेगा। ऐसे को भी भगवान् कहते हैं कि मैं उसकी रक्षा कर लूँगा, तू घबरा नहीं।

लोग कहते हैं कि शुभ कर्म करने वाले को भगवान् शुभ फल और अशुभ कर्म करने वाले को अशुभ फल दें, इतनी बात तो समझ में आती है लेकिन इतनी स्वतंत्रता ईश्वर की नहीं कि शुभ अशुभ कर्म करने वाले दोनों को एक भाव ही कर दे। भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि ईश्वर का परिच्छेद करने की ताकत तुम्हें दी किसने? लोक में भी तुम्हारी अपनी कमाई हुई चीज़ तुम अगर किसी को दो तो इसमें तुम्हारी स्वतंत्रता मानी जाती है। अगर तुम अपने एक नौकर को बीस रुपये ज्यादा दो तो वहाँ कोई रुकावट नहीं मानी जाती। उलटा लोग तुम्हारी महिमा ही करते हैं कि 'ये अपने नौकर को ज़रूरत पड़ने पर पच्चीस पचास रूपये दे देते हैं।' कोई कहे कि 'यह क्या बात हुई? दो नौकर काम कर रहे हैं, एक की घरवाली बीमार है उसे बीस रूपये दे दिये, दूसरे की घरवाली ठीक है उसे नहीं दिये?' तो यह कहना व्यर्थ है। अगर दूसरे की कटौती की तब तो हर्ज़ा है। लेकिन देने न देने में तुम्हारी मर्ज़ी है। क्या ईश्वर के पास यह स्वतंत्रता भी नहीं? यदि शुभ करने वाले को शुभ फल न दे तब तो अन्याय है, लेकिन जिसके पास शुभ कर्म नहीं उसकी अगर मदद कर देता है तो तुम्हारा क्या गया? इसलिये ईश्वर का परिच्छेद न कोई दार्शनिक कर सकता है और न कोई ईश्वर से ज्यादा बलवान् है जो उसे हुक्म दे सके। ईश्वर का स्वातंत्र्य लोग इसलिये नहीं मानना चाहते क्योंकि ब्रह्म को जड समझ रहे हैं। कहते हैं कि 'ब्रह्म तो जड है। हमने शुभ कर्म किया तो शुभ फल और अशुभ किया तो अशुभ फल दिया। आटोमैटिक मशीन की तरह ईश्वर चलता होगा, उसमें चेतनता नहीं।' शास्त्र में पढ़ते समय उसकी जगह जगह चेतनता कही है। इसकी निवृत्ति करने के लिये उसको केवल रज्जु सर्प की तरह कुछ न करने धरने वाला समझकर जड न समझ लेना बल्कि वह मायावी जानबूझ कर अपनी माया का प्रयोग करता है क्योंकि चेतन है। ऐन्द्रजालिक ऐसा नहीं कि तुमको दीखता हो, वह इच्छा पूर्वक ही जो तुम्हें दिखाना चाहे, वह दिखाता है क्योंकि वह स्वतंत्र है। इसी प्रकार परब्रह्म परमात्मा भी स्वतंत्र है। उसके ऊपर तुम्हारी परतंत्रता नहीं चलेगी।

यह जो स्वातंत्र्यवाद है यह वेदांत के सिवाय दूसरी जगह स्फुट नहीं होता क्योंकि दूसरी जगह ईश्वर को किसी न किसी कार्य-कारण-भाव में रखते हैं। ईश्वर ने सृष्टि क्यों की? जीव के कर्मों के अनुरूप, वहाँ भी ईश्वर पर नियंत्रण लगाना चाहते हैं। वह कर्मों के अनुरूप सृष्टि न करे तो तुम रुकावट करने वाले कौन होते हो? इसी प्रकार सर्वत्र समझ लेना कि ईश्वर का स्वतंत्र्य कभी हटता नहीं, हमेशा बना रहता है नहीं तो वह जड हो जायेगा। इसलिये वह दूसरा दृष्टांत बार बार देते हैं कि वह मायावी स्वतंत्र है। इसलिये भगवान् भाष्यकार का सिद्धान्त है 'स्वशक्त्या नटवद् ब्रह्म कारणं शंकरोऽब्रवीत्' अपनी शक्ति को नट या मायावी जैसे प्रयोग करता है, वैसे ही परमात्मा भी करता है। इसी प्रकार जैसे वहाँ सब कल्पित है वैसे ही यहाँ भी शिष्य आदि भेद विकल्पित हैं। इसमें भी मायावी का लक्षण समझ लेना। आत्मज्ञानी गुरु उपदेश कैसे करता है? यह प्रश्न उठता है। जो बिल्कुल कार्य-कारण-भाव में बँध कर सोचते हैं वे वहाँ भी यही ले आते हैं कि शिष्य का कोई पुण्य उदय हुआ होगा तो गुरु ने उपदेश दिया है, लेकिन भाष्यकार पहले कह आये हैं 'परमकारुणिकेन गुरुणा' (कारिका १६ भाष्य)। यदि तुम्हारे शुभ कर्मों के अनुरूप ही गुरु उपदेश करता हो तो उसकी करुणा क्या हुई? करुणा का तो मतलब ही हुआ कि वह अहेतुक है। मान लो कोई आदमी लंगड़ा है। उसने तुम्हें दस हज़ार रुपये दे रखे हैं। वह अपना ब्याज लेने आया तो क्या तुम करुणा करके देते हो? करुणा वहाँ होती है जहाँ सामने वाले का कोई अधिकार तुम्हारे ऊपर न बनता हो। उसको यह नहीं कह सकते कि 'लँगड़ा आया था मैनें उसे दो सो रुपये करुणा करके दे दिये;' वह सुनेगा तो चार गालियाँ और ऊपर से सुनायेगा कि 'मैनें दस हजार दे रखे हैं और ब्याज देकर के कहते हो करुणा करके दे दिया। दान थोड़े ही दिया है।' लेकिन बिना निमित्त से किसी गरीब को या लँगड़े को पाँच रूपये दिये तो वही करुणा कही जायेगी। ब्रह्मज्ञान का उपदेश, जो कुछ लोग मानते हैं कि गुरु पूर्व पुण्यों के फल से देता है, वह नहीं है।

इसी प्रकार बहुत से लोग सिद्धांत की दृष्टि से ऐसा मान लेते हैं कि शिष्यकल्पित उसमें उपदेश आदि है वैसे ब्रह्मज्ञानी कुछ करता नहीं। इस प्रकार जैसे ईश्वर में अस्वातंत्र्य का प्रतिपादन किया, वैसे ही ब्रह्मज्ञानी में भी अस्वातंत्र्य का प्रतिपादन करते हैं। लेकिन यह सिद्धान्त नहीं है। जब तक खुद को तत्त्वनिष्ठा हुई नहीं और घटादि प्रपंच को मान रहे हो तब तक गुरु आदि भेद मानना ही पड़ेगा और उस गुरु को बिना कारण करुणा करने वाला ही मानना पड़ेगा। परमार्थतः तो तुम बद्ध जीव ही नहीं हो तो तुमसे कल्पित उपदेष्टा कहाँ से होगा? एक ही परमात्मा संसरण कर रहा है, वही मुक्त होता है। वह जैसे तुम होकर श्रोता है वैसे ही गुरु होकर उपदेष्टा है। इसलिये वह अपना स्वातन्त्र्य छोड़ता नहीं। इसलिये कहा कि जैसे परमेश्वर अपनी स्वतंत्र शक्ति से करुणा करता है, इसी प्रकार यहाँ भी ब्रह्मज्ञानी गुरु शिष्य को अपना आत्मस्वरूप समझते हुए ही 'इसका

कल्याण हो' इस निमित्त से उसमें शिष्यत्व की कल्पना स्वतंत्र होकर करता है, अस्वतंत्र होकर नहीं। इसलिये मायावी की तरह है। जैसे मायावी तुमको कोई खेल दिखाने के लिये तुम्हारे सामने एक ढंग पैदा करता है इसी प्रकार गुरु भी तुम्हें ब्रह्मज्ञान उत्पन्न कराने के लिये उपदेश आदि का एक ढंग बना लेता है, तुमको शिष्य बना लेता है, तुम्हारे मन में शिष्यभाव का आपादन हो जाता है, वह श्रद्धा पैदा करवा लेता है, तुम्हारे मन में श्रद्धा पैदा हो जाती है और उसके फलस्वरूप तुम्हारे अन्दर ज्ञान पैदा हो जाता है। यह सब वह मायावी की तरह करता है। दूसरा दृष्टांत बार बार रज्जुसर्पवत् इसलिये देते हैं कि माया को कहीं सच्ची शक्ति नहीं समझ लेना। मायावी के द्वारा बताया कि केवल शक्ति नहीं समझना। यह वेदांत का सिद्धान्त है कि शक्तिमान् सच्चा है, शक्ति नहीं। शक्ति तत्त्व वाले ठीक इससे विपरीत मानते हैं कि शक्ति ही शक्तिमान् को बनाती है। उनकी यह दृष्टि सर्वथा गलत है। शक्ति कल्पित है और शक्तिमान् सच्चा है। शक्ति के कारण उसमें शक्तिमत्ता की कल्पना हो जाती है लेकिन स्वरूप से वह सच्चा है। जैसे रस्सी में सर्पभाव की कल्पना तो तुमने अंधकार के कारण की लेकिन रस्सी रूप से तो वह है ही। जब अंधकार में दीखने वाला सर्प नहीं रहेगा तब भी रस्सी तो है ही। उसी प्रकार से अज्ञान से दीखने वाला जगत् जब नहीं रहेगा तब भी ब्रह्म है। अज्ञान से जब जगत् दीख रहा है तब भी ब्रह्म है। जगत् को दिखाता है इसलिये ब्रह्म है, ऐसी बात नहीं। यह विपरीत कल्पना लोगों की ठीक नहीं, इसलिये दोनों दृष्टांत साथ ही दिये। शिष्य आदि भेद विकल्पों की निवृत्ति के प्रकार पर आगे विचार करेंगे।।१८।।

●

आठवाँ आदि चार मन्त्र

गुरु, शास्त्र, शिष्य इत्यादि जितने भेद हैं जब तक आत्मज्ञान का उपदेश नहीं हो गया तभी तक ये आवश्यक हैं और प्रतिबोध होने के बाद ये सब निवृत्त हो जाते हैं। उपदेश रूपी क्रिया के लिये इनको स्वीकार किया गया और जैसे ही उपदेश का कार्य समाप्त हुआ वैसे ही ये निवृत्त हो गये 'उपदेशादयं वादः ज्ञाते द्वैतं न विद्यते।' इस प्रकार जो तत्त्वज्ञान में समर्थ हैं ऐसे उत्तम और मध्यम अधिकारियों को उपदेश उपनिषद् दे चुकी है। उत्तम अधिकारी को श्रवण मात्र से ज्ञान हो जाता है। जब श्रुति ने कहा 'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं' ॐ ही सब कुछ है, तो जो उत्तम अधिकारी है उसको यह श्रवण करने के साथ ही सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि बन गई। उत्तम अधिकारी के मन में संशय उत्पन्न नहीं होता। उत्तमता की प्राप्ति का मतलब क्या है? अन्तःकरण में तत्त्व को ग्रहण करके पकड़ने की सामर्थ्य। दो सामर्थ्य होती हैं— एक तत्त्व को ग्रहण अर्थात् जानने की सामर्थ्य और एक पकड़ने की सामर्थ्य। जानने की सामर्थ्य नहीं होती तो तत्त्व का उपदेश देने पर मनुष्य की समझ में ही नहीं आता। उसके मन में लगा रहता है कि इसका

मतलब कुछ और ही होगा। तत्त्व को जानने की सामर्थ्य हुई— जैसा विषय वैसा ही ठीक से समझ में आ जाये।

और दूसरी पकड़ने की सामर्थ्य अर्थात् जो समझ में आया उसमें स्थिर रहने की सामर्थ्य। जिसमें यह सामर्थ्य नहीं होती है वह समझ तो जाता है, समझाओ तब तो समझ जाता है, लेकिन फिर थोड़ी देर बाद उसको पकड़ कर नहीं बैठता। व्यवहार आदि करने जाता है तो फिर ढीला पड़ जाता है। जिसमें ये दोनों सामर्थ्य होती हैं वह उत्तम अधिकारी है। उसको उपनिषद्वाक्यमात्र से ही ज्ञान हो जाता है। मध्यम अधिकारी वह है जो तत्त्व को समझ तो ले लेकिन पकड़ न पाये। जिसमें दोनों सामर्थ्य हुई वह तो उत्तम हुआ और जो समझ ले और पकड़ न पाये वह मध्यम हुआ। मध्यम अधिकारी के लिये बार बार उस चीज़ का विचार करना आवश्यक है। जितना जितना वह बार बार उसे दोहरायेगा अर्थात् विचार करेगा, दोहरायेगा का मतलब मंत्रजप की तरह नहीं बल्कि उस विचार को बार बार अर्थ को समझते हुए दोहराना, तब उससे धीरे धीरे उसके मन में वह बात सीझ जायेगी।

हम कई बार लोगों को दृष्टांत देते हैं कि हम हिन्दी भाषा वालों के लिये एक शब्द 'कल' है जिसके लिये अंग्रेजी में दो शब्द हैं येस्टर्डे (yesterday) और टुमारो (tomorrow)। गत कल को अंग्रेजी में यैस्टर्डे और आगामी कल को टुमारो कहते हैं। प्रायः मनुष्य की अंग्रेजी बोलने की दृढ़ता का पता इसी शब्द से लगाना सरल होता है। जो रात दिन अंग्रेजी बोलता रहेगा वह तो इसका उच्चारण ठीक करेगा और जो ऐसा नहीं करता होगा तो वह पहले कभी टुमारो बोल देगा और फिर कहेगा आई मीन येस्टर्डे (I mean yesterday)। अंग्रेज़ लोगों को आश्चर्य होता है कि यह टुमारो और यैस्टर्डे में भ्रम क्यों कर रहा है। उन्हें पता नहीं है कि पहले उसके मन में हिन्दी में 'कल' आता है और फिर वह उसका अनुवाद करता है। इसी प्रकार संस्कृत किसी मनुष्य के मन में ठीक बैठी या नहीं, इसका पता द्विवचन के प्रयोग से लगता है क्योंकि हिन्दी इत्यादि भाषाओं में केवल एक वचन और बहुवचन होता है लेकिन संस्कृत में द्विवचन होता है। जिसको संस्कृत भाषा सीझी नहीं होती वह बाकी चीज़ें तो ठीक बोल जाता है लेकिन द्विवचन की जगह कभी बहुवचन और कभी एकवचन बोल जायेगा और थोड़ी देर बाद उसे ख्याल आयेगा कि गलत बोला। यह नहीं कि वह जानता नहीं, उसे ख्याल भी आ जाता है, समझ भी लेता है।

ठीक इसी प्रकार संसार सत्य है, ब्रह्म का अनुभव दुर्लभ है और मैं संसार में फँसा हुआ हूँ इन तीन बातों का पाठ हमको अनादि काल से और बचपन से पढ़ाया गया है। संसार सत्य है, ब्रह्म को जानना दुर्लभ है, किसी ने जाना है भी या नहीं, यह बड़ा कठिन है, योगियों को भी दुर्लभ है और मैं इस संसार जाल में फँसा हुआ हूँ, सुख दुःख का भोक्ता हूँ। ये तीनों पाठ रटा दिये गये हैं। वेदांत के द्वारा समझाते हैं कि ये तीनों जो तुमने समझ रखे हैं वे उलटे समझ रखे हैं। संसार सत्य नहीं मिथ्या है, ब्रह्म दुर्लभ नहीं

सुलभ है और तुम संसार में फँसे हुये नहीं, संसार तुम में फँसा हुआ है। जब यह समझाते हैं तो बात समझ में आ जाती है। मध्यम अधिकारी की समझ में तो आ जाती है। यदि संसार मिथ्या न होता तो हर क्षण बदलने वाला और विनाशी न होता, एक जैसा रहना चाहिये और है यह ऐसा 'नलिनीदलगतजलमतितरलम्' जैसे कमल के पत्ते पर पड़ा हुआ पानी लुढ़कता है, ऐसे संसार के सभी पदार्थ लुढ़कते जाते हैं, कोई टिकता नहीं। अतः वह मिथ्या है यह बात समझ में आती है। जब समझाते हैं कि सत् चित् आनंद ब्रह्म का रूप है। जब तुम्हें घड़ा है, घड़े का भान होता है तो है के द्वारा ब्रह्म का ही नाम ले रहे हो। घड़े का ज्ञान हो रहा है यह ज्ञान कराने वाला ब्रह्म ही है। रसगुल्ला खाने से आनंद आता है, यह आनंद ब्रह्म का रूप है। तो ब्रह्म का ज्ञान दुर्लभ कैसे हुआ? महासरल हुआ। जैसे कोई कहे कि सूर्य हमको नहीं दीख रहा है। सूर्य नहीं दीख रहा है तो ये सब चीज़ें किस के प्रकाश से दीख रही हैं? सूर्य के प्रकाश से ही दीख रही हैं। सच्चिदानंद ब्रह्म का ज्ञान प्रत्येक प्राणी को सुलभ है, इससे सरल और कोई चीज़ नहीं। और तुम संसार में कहाँ फँसे हुए हो? तुम तो चेतन हो, तुम फँसने वाले नहीं वरन् सारी दुनिया को फँसाने वाले हो। विचार करो, आदमी का जवान लड़का मर जाता है सब जने दुःख प्रकट करने जाते हैं और वह सिर धुन धुन कर रो रहा होता है, महादुःखी होता है, कहता है 'मेरा जीवन खत्म हो गया, बस यह समझ लो कि मेरे शरीर का लोथड़ा पड़ा हुआ है, जान कुछ नहीं है, मुझे मरा हुआ समझो।' सभी कहते रहते हैं कि ऐसी बात न करो, हिम्मत रखो। दो साल बाद उस लोथड़े को रबड़ी खाते हुए, माल उड़ाते हुए और हँसी मजाक आदि सब कुछ करते हुए देखते हैं। क्या हो गया? तुम संसार में फँसे हुए होते तो अब तक रो ही रहे होते। यह नहीं समझना कि उसे कोई परमात्मा का ज्ञान हो गया। क्या हो गया? कुछ नहीं हुआ, कहता है 'वह दुःख आया था निकल गया, मैं तो वैसा का वैसा चिन्मात्र शुद्ध रूप हूँ।' इसलिये मैं संसार में फँसा फँसाया नहीं हूँ। मैंने संसार को ज़रूर फँसा रखा है। मैंने मान लिया कि पुत्र के जाने से मैं दुःखी। वह तो मर ही गया, छोड़ो उसे और अब आगे दूसरा जीवन देखो। यह बात समझाते हैं तो समझ में तो आ जाती है लेकिन बहुत पुराना पढ़ाया हुआ पाठ है इसलिये फिर जैसे द्विवचन की जगह कभी एक वचन और कभी बहुवचन का प्रयोग कर लेता है या कभी यैस्टर्डे की जगह टुमारो का प्रयोग समझकर गलत उच्चारण करता है वैसे संसार सत्य लगने लगता है। संस्कृत बोलने लगा तो व्यवहार होते होते उसकी आदत द्विवचन की जगह द्विवचन बोलने की हो जाती है या अंग्रेजी के अभ्यास से यैस्टर्डे और टुमारो के उच्चारण की आदत ठीक हो जाती है। ऐसे ही जितना संसार का ज्यादा विचार, मनन करता जायेगा तो फिर वह पुराना ग़लत याद किया हुआ वर्णन्यास ठीक होता जायेगा। यह मध्यम अधिकारी हुआ। उत्तम अधिकारी वह जो तत्त्व को समझ ले और समझ कर तुरंत पकड़ ले। मध्यम अधिकारी वह जो समझ तो ले लेकिन पकड़

न पाये। इन दोनों के लिये उपदेश तो समाप्त हो गया। वेद ने इन दोनों को उपदेश, समझाने का तरीका, युक्ति इत्यादि सब बता दी कि किस प्रकार मन को बार बार समझायें।

जो अधम अधिकारी होता है वह तत्त्व ज्ञान को बार बार समझाने पर भी समझता ही नहीं है। उसकी समझ में ही नहीं आता, उसकी बुद्धि पकड़े ही रखेगी कि 'मेरी समझ में ही नहीं आ सकता, ग्रहण ही नहीं कर सकता।' यह समस्या आती है। व्यवहार में भी यही समस्या आती है। किसी लड़के को प्रिंसिपल छठे दर्जे में ही कह देता है कि तुम घर में जाकर खेतीबाड़ी करो। सब तरह से पढ़ाने पर भी वह छठा दर्जा ही पास नहीं कर पाता तो आगे क्या करेगा? उसे जितना भी समझाओ वह उलटी गलत पढ़ी हुई बात उसमें से निकलती ही नहीं। अध्यारोप और अपवाद के द्वारा उसे उपदेश देकर जब पता लग जाता है कि अब इसके समझने की सामर्थ्य नहीं तब फिर क्या किया जाये? तब उसको आरोप दृष्टि का अवष्टंभन कराया जाता है अर्थात् जो चीज़ जहाँ नहीं है वहाँ उस चीज़ को मानने का अभ्यास, यह आरोपदृष्टि हुई। जैसे सामने शालिग्राम पत्थर है लेकिन शालिग्राम में विष्णु की बुद्धि करो। इसी का नाम आरोप है। इसमें न कुछ समझने की और न कुछ पकड़ने की ज़रूरत है। कई बार लोग कहते हैं 'महाराज! नर्मदेश्वर में ही विष्णु का ध्यान कर लें तो क्या हर्ज़ है, भगवान् तो सर्वव्यापक हैं।' लेकिन सर्वव्यापक होने पर भी तुम्हें फल कुछ नहीं होना है क्योंकि आरोप कहाँ किसका करना है, उसका क्या फल होगा, इसमें अपनी बुद्धि काम नहीं करती। सर्वव्यापक तत्त्व विष्णु है जिसने यह पकड़ लिया उसे 'सशंखचक्रं सकिरीटकुण्डलं सपीतवस्त्रं सरसीरुहेक्षणम्' का ध्यान नहीं करना पड़ेगा। जो विष्णु की सर्वव्यापकता को नहीं समझा, यदि वह कहे कि 'विष्णु के चार हाथ क्यों?' तो उससे कहेंगे कि 'यह समझने की तुम्हारी ताकत नहीं, तुम्हारे को तो जैसा कहते हैं वैसा किये जाओ।' कई बार कोई ऐसा गुर या फार्मूला होता है जो बच्चों को समझाना बड़ा मुश्किल होता है। वह फार्मूला कैसे बना यह समझाना बड़ा कठिन होता है। इसलिये बच्चे को वह गुर याद करा देते हैं। जैसे सर्कल का क्षेत्रफल पाई-आर-स्क्वेअर, यह याद ही कराना पड़ेगा और कोई तरीका नहीं है। उसका पता तरीके से लगाना है। जब आगे मैट्रिक में पहुँचेगा तब पढ़कर तरीका समझ जायेगा कि कैसे निकल गया। छोटा बच्चा कहे कि ऐसा क्यों कह रहे हैं तो उससे कहेंगे कि 'याद कर ले' इसके सिवाय और दूसरा उपाय नहीं है। इसी का नाम आरोप है।

ये आरोप दो प्रकार के हैं। एक सच्चे में झूठा और एक झूठे में सच्चा आरोप। सच्चे में झूठा आरोप तुमने कर रखा है, अनादि काल से। सच्चा ब्रह्म है और उसमें तुमने नामरूपात्मक जगत् का आरोप कर रखा है। सच्चे में झूठे का आरोप तुमने स्वभाव से कर रखा है। जिसके साथ कुछ लेना देना नहीं उसके ऊपर आरोप कर रखा है कि यह मेरा पुत्र है, यह मेरा पिता है, यह मेरा भाई है, यह मेरी बहन है, यह मेरा मकान है, यह मेरी जायदाद है। ये सब झूठे आरोप हैं। तुम्हारा मकान है तो पचास साल पहले

था? नहीं था। पचास साल बाद रहेगा? नहीं रहेगा। अनादि काल से पचास साल पहले तक नहीं था अर्थात् खरबों साल पहले बीत गये जब नहीं था। पचास साल बाद खरबों साल तक नहीं रहेगा। यह तो वही बात हुई कि रेल्वे में किसी ने एक सीट रिज़र्व कर ली, कण्डक्टर से पूछता है 'यह सीट मेरी हो गई?' वह कहता है— 'हाँ जी! आपकी है।' उसके बाद जब जाने लगा तो स्क्रयू ड्राइवर से खोलने लगा। कण्डक्टर कहता है 'यह क्या कर रहे हो?' कहता है 'तुमने कहा था कि मेरी है।' वह कहेगा 'बैठने के लिये तुम्हारी थी, खोलकर ले जाने के लिये नहीं।' ज्यादा ज़ोर लगाओगे तो डण्डे और पड़ेंगे। ठीक इसी प्रकार यह मकान घर-बार, शरीर इत्यादि तुमको थोड़े दिन के लिये बैठने के लिये मिल गये तो तुम तो खोलकर ले जाना चाहते हो, अपनी ही मिल्कियत उनपर कायम कर ली कि ये तो मेरे ही हो गये। सत्य ब्रह्म के ऊपर इन सारी चीज़ों का तुमने मिथ्या आरोप कर रखा है।

वेद कहता है कि इस मिथ्या आरोप के ऊपर फिर सत्य का आरोप करो। विचार-सामर्थ्य होती तब तो अधिष्ठान की तरफ चला जाता कि आरोप मिथ्या है, लेकिन अब उस अधिकारी को ले रहे हैं जो विचार में असमर्थ है, नहीं समझ सकता। उसको यह गुर याद कराते हैं कि तुमने अब तक जिस सच को झूठ समझ रखा है वह जैसे सच है वैसे तुम इस झूठ को मानो। यह तो वहाँ कहना बनता नहीं कि वह सच है। सच का अनुभव हुआ करता है, माना नहीं जाता। इसलिये इसको आरोप कहते हैं। बिना समझे हुए सच्ची चीज़ को मानना भी आरोप है। आरोप हमेशा झूठा होता हो ऐसा नहीं है। सच्चे का भी आरोप होता है। वेदांत में इसी को चेतन में जड का अध्यास और जड में चेतन का अध्यास, इस प्रकार अन्योन्याध्यास करके कहते हैं। चेतन में जड का अध्यास तो झूठा है लेकिन जड में चेतन का अध्यास है, वह चेतन तो सत्य है और अध्यास असत्य होता है। यह आरोप उपासना है जैसे ईशावास्योपनिषद् के प्रारंभ में कहा 'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्', संसार में जो कुछ है उस सब को 'परमेश्वरेणाच्छादनीयम्' परमेश्वर से आच्छादित कर दो। जैसे चीज़ों के ऊपर जब अंधकार का आच्छादन आ जाता है तब तुमको केवल अंधकार दीखता है, कोई चीज़ नहीं दीखती। अथवा बिस्तरे के ऊपर ऊर्ध्वतान (बैडकवर) किया जाता है तो कुछ नहीं दीखता, उर्ध्वतान दीखता है, नीचे बिस्तरा, चद्दर, तकिया, कंबल है, लेकिन सब ढका गया है। इसी प्रकार इस सारे जगत् को परमेश्वर से ढाँक दो तो तुमको सर्वत्र परमेश्वर दिखाई देगा। अनुभव नहीं हो रहा है, यह तो उपासना है, आरोप है। दीखेगा तुमको कोढ़ी, दीखेगा तुम्हें अंधा लेकिन उसके ऊपर आरोप करना है कि ये साक्षात् नारायणस्वरूप हैं।

यह आरोप उपासना करने पर कई लोग बीच में पूछ लेते हैं कि ऐसे लोगों को नारायण कैसे समझें? हम उनसे कहते हैं कि हम तो इतनी कठोर परीक्षा लेते हैं कि संसार में दूसरे धर्म वाले तो उस परीक्षा के नाम से भी घबराते हैं, हमारे यहाँ आर्यसमाजी

भी घबराते हैं। जो पत्थर न बोले, न चाले, हमारे हाथ से गढा जाये हम हिलायें तो हिले, हम पानी डालें तो पानी इसपर पड़े और पोछें तो पोंछा जाये ऐसे पत्थर के ऊपर हम कहते हैं कि आरोप करो कि यह सारी सृष्टि का बनाने वाला, सारी सृष्टि की रक्षा करने वाला और सारी सृष्टि का नाश करने वाला है। जो एक मक्खी नहीं उड़ा सकता उसके ऊपर तुम्हें आरोप करना सिखाते हैं। शालग्राम की बटिया, कृष्ण की मूर्ति, अपने ऊपर बैठी मक्खी उड़ाने में समर्थ नहीं है। रात में गर्मी लग रही हो तो पंखे का स्विच आन करके पंखा नहीं चला सकती। और उसपर अध्यारोप करा रहे हैं कि यह समग्र सृष्टि का कर्त्ता, समग्र सृष्टि का रक्षक और संहारक है! उसके मुख के अन्दर चावल डालें तो भी जाता नहीं है और कहते हैं कि छप्पन भोग लगाकर भगवान् को खिला रहे हैं। यह आरोप उपासना है। यदि यह उपासना तुमने ठीक तरह से कर ली तो फिर कोढ़ी, अन्धे, लूले, लंगड़े को देखकर मन में संदेह नहीं आयेगा कि इसको कैसे नारायण मान लें क्योंकि जहाँ हमने अभ्यास कर रखा है, उससे तो फिर भी यह कुछ करने में समर्थ है। अगर वहाँ पक्का अभ्यास हो गया तब तो यहाँ काम बन जायेगा। बहुत से लोग यह किये बिना पहले ही सीधे 'दरिद्र नारायण' में जाते हैं। एक बार एक जगह गये हुए थे, महात्माओं का स्थान था नाम नहीं बतायेंगे। वहाँ देखा कि जब गुरु की तिथि आदि होती है तो दरिद्र नारायण की सेवा होती है। सबको खिचड़ी का प्रसाद दिया जाता है। वहाँ वह सब हो रहा था। अब भीख माँगने वाले तो भीख माँगने वाले रहे। वहाँ कहाँ समय है कि एक दूसरे के पीछे लाइन में लगें। भीड़ बहुत थी, एक दूसरे को धक्का दे रहे थे। पहले तो स्वामी जी सबको कहते रहे कि 'ठीक से लाइन में आओ नहीं तो काम कैसे हो।' फिर उनको गुस्सा आया तो दो चार को डण्डा मार दिया कि ठीक से लाइन में लगो। हमको हँसी आई कि क्या यह भी दरिद्र नारायण की सेवा का अंग है! हमने स्वामी जी से पूछा, कहने लगे 'क्या बतायें स्वामी जी! गुस्सा आ ही जाता है।' हमने कहा 'मूर्तिपूजा कर ली होती तो आज इस दरिद्र नारायण को देखकर तुम्हारे मन में दूसरा विकार नहीं आ सकता था।' अभ्यास हम लोग ऐसी जगह करते हैं कि यदि पक्का हो गया तो कहीं पैर चूकने वाला नहीं है। इसी का नाम आरोप है। जब यह आरोप दृढ हो जायेगा तो काम हो गया है। वह सच्ची बात। वही आरोप उपासना यहाँ बताते हैं। आरोप दृष्टि अवष्टंभित करके बताते हैं—

सोयमात्माऽध्यक्षरमोंकारोऽधिमात्रं पादा मात्रा
मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति।।८।।

इसी आत्मा की अक्षर के ऊपर उपासना करने के तरीके को बताते हैं। ॐ ही अक्षर हो गया। इस ॐ अक्षर रूप प्रतीक के अन्दर आत्मा की उपासना करनी है। जैसे शालिग्राम में विष्णु की उपासना, वैसे ही ओंकार के ऊपर आत्मा की उपासना। यह उसका प्रतीक या चिह्न हो गया। यहाँ दोनों उपासनायें ले लेना, दृश्यानुविद्ध समाधि

और शब्दानुविद्ध समाधि। हृदय कमल के ऊपर सोने के चमकते हुए ओंकार को देखकर उसमें आत्मबुद्धि की उपासना करना दृश्यानुविद्ध हुआ और प्रणव का उच्चारण करते हुए इस शब्द के अन्दर ब्रह्मदृष्टि करना शब्दानुविद्ध है। ये दोनों ओंकार की उपासना हैं, इसमें से जो जिसके अनुकूल पड़े वह कर लेनी चाहिये। दोनों प्रकार के लोग होते हैं। इतना याद रखना कि ओंकार की उपासना शरीर से बाह्य उपासना नहीं है। यह नहीं कि तुम ॐ लिखकर बाहर रखो और उसका ध्यान करो। ॐ जब बाहर रखा जाता है तब वह लिंगाकार हो जाता है। शिवलिंग ॐ का ही तीन आयामों वाला रूप (three dimensional form) है। इसलिये जब बाहर उस आत्मतत्त्व की उपासना करनी हो तब तो शिवलिंग रखकर ही उपासना करनी चाहिये। आजकल लोगॐ लिखकर टाँग देते हैं, उसके सामने धूप बत्ती भी जगा देते हैं। वहाँ धूप बत्ती जगाओ, घर में मच्छर नहीं रहेंगे, मनाई नहीं, लेकिन उससे अदृष्ट की उत्पत्ति की विधि शास्त्र में नहीं है। एक दो जगह और विचित्र चीज़ देखी कि वहाँ लोगों नें संगमर्मर का ॐ बनाकर रखा है और उसपर जल भी चढ़ाते हैं। यह सब शास्त्रीय उपासना के विरुद्ध है। उपासना में जैसा मन आये वैसी करने से फल नहीं होता है, शास्त्रविधि से करो तो फल मिलता है। बाह्य प्रतीक रूप से ॐ का वर्णन या बाह्य तरीकों से ॐकी उपासना का वर्णन माण्डूक्य उपनिषद् में नहीं है। जहाँ है वहाँ शिवलिंग का आकार हो जाता है। यहाँ तो आत्मोपासना है। इसलिये इस अक्षर को ही आधार बनाकर यह उपासना है।

'ओंकारः अधिमात्रम्' ओंकार के अन्दर जो मात्रायें हैं, उनको आगे बतायेंगे। तीन मात्रायें अकार, उकार और मकार, उसी को जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति समझना ही उसकी उपासना हुई। 'पादा मात्रा मात्राश्च पादाः' आत्मा के तीन पाद हो गये जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति और मात्रायें अकार, उकार, मकार। पाद ही मात्रा और मात्रा ही पाद हैं, ऐसी उपासना करनी है। अकार ही जाग्रत् अवस्था और जाग्रत् अवस्था ही अकार, स्वप्न ही उकार और उकार ही स्वप्न है। आरोप उपासना भी दो प्रकार की हो जाती है। एक जिसमें आरोप्य और आरोप दोनों की उपासना होती है और एक जिसमें केवल आरोप्य की उपासना होती है। इस प्रकार ॐ की उपासना उभयरूप है। जैसे आप लोगों में से कुछ ने श्रीचक्र देखा होगा। श्रीचक्र के अन्दर देवी के मणिमण्डल को देखा श्रीचक्र में आरोप्य उपासना हो गई। उस मणिपुर के सारे अंग बताये गये हैं। उसी के अनुसार वह बना हुआ है। ऐसे श्रीचक्र में मणिपुर की दृष्टि करना आरोप्य हो गया। अब उसी श्रीचक्र के मणिपुर को अपने शरीर में देखना। पाँच ऊर्ध्व त्रिकोण अपने अन्दर होने वाले पाँच प्रकार के चेतनों को बताते हैं। चार उससे विपरीत हैं, वह अपनी जड शक्ति या माया शक्ति के चार रूपों को बताते हैं। इसी प्रकार त्रिपुरातापनीय उपनिषद् आदि के अन्दर उसी श्रीचक्र को अपने देह रूपी मूल से बताया। देह में श्रीचक्र की उपासना और श्रीचक्र में फिर मणिपुर की उपासना, यह आरोप्य और जिसपर आरोप किया गया, दोनों की उपासना

हो गई। इसी प्रकार ॐ के अन्दर भी दोनों उपासनायें पाद मात्रा और मात्रा पाद साथ साथ चलेंगी। यहाँ विकल्प नहीं समझना कि या यह करो या यह करो, ऐसा नहीं है— मात्रा के नाम लिये अ, उ, म। ये कौन कौन सी हैं— इसे आगे बताते हैं।

'सोयमात्मा अध्यक्षरमोंकारो अधिकमात्रं' पर विचार कर रहे थे। उसी को भगवान् भाष्यकार स्पष्ट करते हैं 'अभिधेयप्रधान ओंकारश्चतुष्पादात्मेति व्याख्यातो यः सोयमात्मा अध्यक्षरमक्षरमधिकृत्याभिधानप्राधान्येन वर्ण्यमानोऽध्यक्षरम्।' अभिधेयप्रधान अर्थात् वाच्य प्रधान। घट इसको अभिधान अर्थात् नाम कहते हैं और जो मोटे पेट वाला लम्बी गर्दन वाला, मिट्टी का बना हुआ पदार्थ है उसको अभिधेय या नामी कहते हैं। यद्यपि यह सत्य है कि जब नाम का प्रयोग करेंगे तो नामी, और जब नामी को देखेंगे तो नाम, दोनों साथ ही साथ उपस्थित होते हैं, बिना नाम के नामी की कल्पना सम्भव नहीं और बिना नामी के नाम की कल्पना सम्भव नहीं, फिर भी व्यवहार में कभी नाम प्रधान होता है और कभी नामी प्रधान होता है। प्रधानता का फरक हो जाता है। जैसे समाचारपत्र के अन्दर कहीं किसी सम्मेलन का वर्णन आ रहा है, जब आदमी कहता है कि 'इसमें राधाकृष्ण जी तो आये नहीं' तब वहाँ राधाकृष्ण जी यह अभिधान-प्रधान या नाम-प्रधान मानकर कहा है। सम्मेलन में भाग लेने वालों के सबके नाम आये और राधाकृष्ण जी का नाम नहीं आया, यह तात्पर्य है। नामी का विषय नहीं है, क्योंकि सम्मेलन में नाम वाले (अभिधेय) राधाकृष्ण तो गये ही थे। अतः जब कहते हो कि 'वे आये ही नहीं' तो भाव है कि उनका नाम इसमें नहीं आया। और जब सम्मेलन में राधाकृष्णजी को बुलाया हो और नहीं आये, तब कहते हैं 'यह जो आपने सूचनापत्र छापा था इसके अन्दर राधाकृष्ण जी का नाम था, पर वे तो आये ही नहीं।' वहाँ राधाकृष्ण का नाम तो आया नामी नहीं आया। यद्यपि नाम-नामि साथ रहते हैं फिर भी कभी नाम प्रधान और कभी नामी प्रधान होता है। अब तक जो वर्णन किया था वह अभिधेय-प्रधान अर्थात् ओंकार जिस परमात्मा का नाम है उसका प्रधान रूप से वर्णन किया था। अब आगे वर्णन अभिधान ओंकार का कर रहे हैं, इसलिये अ उ म बतायेंगे। सातवें मंत्र तक तो ओंकार जिस परमात्मा का नाम है उस परमात्मा का वर्णन विस्तार से किया। आठवें मंत्र से उस नाम का ही विस्तार से वर्णन कर रहे हैं। नाम वाला अर्थात् ॐ जिसका नाम है, ऐसे ब्रह्म तत्त्व का चार पैर वाले आत्मा का व्याख्यान यहाँ तक किया।

अब उसी आत्मा को ओंकार रूप जो अक्षर है उसको आधार बनाकर कहेंगे। कहना तो उसी को है लेकिन पहले नामी प्रधान और अब नाम प्रधान हो जायेगा। अध्यक्षर मंत्र का शब्द है, उसका अर्थ कर दिया 'अक्षरम् अधिकृत्य' इस अक्षर ॐ को लेकर आगे वर्णन करेंगे। 'अभिधानप्राधान्येन वर्ण्यमान अध्यक्षरम्।' अभिधान अर्थात् नाम की प्रधानता को लेकर के जिस चीज़ का वर्णन किया जाये उसको अध्यक्षर कहते हैं। जैसे शरीर की प्रधानता को लेकर जिस चीज़ का वर्णन किया जाये उसे अध्यात्म कहते हैं।

देवता को लेकर जिसका वर्णन किया जाये उसको अधिदैव कहते हैं। दूसरी बातें चाहे आयें लेकिन वे गौण रहेंगी। यज्ञ को प्रधान मानकर जो वर्णन किया जाये वह अधियज्ञ होगा। संसार की घटनाओं को देखकर उसका प्राधान्य रहे, तो उसे अधिलोक कहेंगे। नक्षत्र नीहारिकाओं ग्रह इत्यादियों की गति को प्रधान करके जिसका वर्णन किया जायेगा उसको अधिज्योतिष कहेंगे। वैदिक मंत्रों में ये सब अर्थ मिलते हैं। इसीलिये वेदों को पांक्त वेद कहा जाता है। पांक्त अर्थात् ये पाँचों चीज़ें वेद के प्रत्येक मंत्र में निहित हैं। संसार के पंच महाभूत और उनसे होने वाली सृष्टि प्रक्रियायें भी उसमें बताई गई। उसी को अधिभूत कहते हैं। इस प्रकार एक ही मंत्र के भिन्न-भिन्न अर्थ हैं। कहीं नक्षत्रों की घटनाओं को लेकर वर्णन किया गया है। जैसे पुराण की प्रसिद्ध घटना है कि ब्रह्माको मारने के लिये भगवान् शंकर ने बाण छोड़ा। ब्रह्मा हिरन बन गये, फिर भी वह बाण उनके पीछे चलता रहा। यह मृगशिरा नक्षत्र के पीछे आर्द्रा नक्षत्र के चलने का वर्णन है। मृगशिरा बिल्कुल हिरन की तरह और आर्द्रा बाण की तरह होते हैं। इस प्रकार मृगशिरा के पीछे पीछे आर्द्रा नक्षत्र चल रहा है, यह उसका अधिज्योतिष तात्पर्य हो गया। ऐसे ही अनेक मंत्रों के अन्दर अधिज्योतिष का वर्णन है। नक्षत्र नीहारिकाओं के चलने, उनकी गति को इसमें बताया गया। आध्यात्मिक अर्थ शरीर में होने वाले, मानसिक बौद्धिक, और भी जितने अपने उन्नति के मार्ग हैं उन सबको भी उसी में बताया गया है। शरीरों को लेकर जिसका वर्णन किया जाये उसी को अध्यात्म कह देते हैं क्योंकि आत्माको शारीर आत्मा कहा जाता है। आत्मा तो सर्वव्यापक है लेकिन जिस आत्मा का विचार करने से मनुष्य बंधन से छूटता है, वह शारीर आत्मा है, उसका विचार करने से ही बंधन से छूटेगा। ब्रह्मसूत्रों को इसीलिये शारीरक शास्त्र कहते हैं। उसी प्रकार यहाँ अक्षर को प्रधान करके वर्णन होने से इसको अध्यक्षर कह दिया।

'किं पुनस्तदक्षरमित्याह ओंकारः।' वह अक्षर कौन सा है जिसे लेकर वर्णन करेंगे? ओंकार ही वह अक्षर है। संस्कृत में कार का मतलब वर्ण खुद होता है— जैसे ककार खकार आदि। अंग्रेज़ी में कहेंगे द लैटर 'क'। इसी प्रकार ओंकार मायने द लैटर ॐ। आजकल कुछ लोगों को भ्रम हो गया है कि 'ओंकार' इतना नाम होगा, इसी का जप करने लगते हैं। पूछें 'किसका जप कर रहे हो?' कहते हैं 'ओंकार का।' फिर जब उन्हें ओंकार ओंकार का जप करते देखते हैं तो हम कहते हैं 'यह क्या कर रहे हो?' 'जप कर रहे हैं।' ओंकार का ऐसे जप नहीं होता। ओंकार कोई मंत्र नहीं है। उसी ॐ को लेकर विचार प्रवृत्त कर रहे हैं।

ओंकार के अन्दर जीव-परमात्मा की एकता प्रकट है। इसे दो तरह से समझ लेना। क्यों ओंकार चुना गया? यहाँ तो बतायेंगे कि अ उ म की क्या विशेषता है। हमारे यहाँ यह मानते हैं कि स्वर आधार होता है और व्यंजन अध्यस्त होता है। व्यंजन का मतलब ही होता है कि जो चीज़ हो उसको प्रकट करे। इतना ही व्यंजन का उद्देश्य होता है।

इसीलिये रोटी या चावल को हम लोग भोजन कहते हैं और दाल साग को हम पुराने लोग व्यंजन कहते हैं क्योंकि हम लोग यह मानते हैं कि रोटी चावल को खाने के लिये दाल साग चाहिये, इनके बिना काम नहीं चलेगा। आधुनिक लोगों में यह बात नहीं है। पूछो 'वहाँ गये थे तो क्या बना था?' पुराने लोग कहेंगे 'इमरती जलेबी बनी थी।' आजकल के लोगों को बड़ा परिश्रम करना पड़ता है, कहते हैं 'दम आलू बना था।' 'दम आलू तो हुआ, बना क्या था?' 'भिण्डी की सब्ज़ी भी बनी थी।' अंत में हम ही परेशान होकर पूछें 'कुछ मीठा भी बना था?' तो कहेंगे 'हाँ जी बना था।' लेकिन पुराने लोगों का हिसाब था कि रोटी खानी है, वह चूँकि दाल साग के बिना खाई नहीं जा सकती इसलिये दाल साग व्यंजन हो गये। इसलिये व्यंजन उसको कहते हैं कि जो आधार नहीं होता है केवल प्रकट करने वाला होता है। इसी प्रकार अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ऐ, ओ, औ को स्वर मानते हैं और बाकी क, ख आदि व्यंजन हैं। अब सोहम् के अन्दर स और ह दोनों व्यंजन हैं। इसलिये 'सकारं च हकारं च लोपयित्वा प्रयोजयेत्' भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि सोहम् में से स और ह उड़ा दो तो ॐ बच जाता है। वह परमात्मा ही ॐ रूप से उसके अंदर विद्यमान है। यह बताने वाला सोहम् हुआ। ईशावास्य उपनिषद् में भी यह मंत्र आता है। जब इसका प्रयोग करना हुआ तो व्यंजन अनावश्यक है, व्यंजन तो अर्थ समझने के लिये ज़रूरी था। स ह दोनों का लोप कर दें तो सो का ओ और उधर हम का अम् बच जाये तो ॐ बन गया।

दूसरा एक कारण और है जो इसी से मिलता जुलता है। बारखड़ी में अं के आगे अः होता है। अं बिन्दु है और अः विसर्ग है, यह सृष्टि-प्रक्रिया है। बिन्दु परमात्मा हुआ। बिन्दु के ठीक सामने एक कांच रख दो तो दो बिन्दु हो जायेंगे। एक बिन्दु पहले वाला और एक प्रतिबिम्बित। विसर्ग का मतलब होता है बाहर निकलना या प्रकट होना। सृष्टि-प्रक्रिया में परमात्मा बिन्दु रूप है और फिर उसका अंतःकरण या मन में प्रतिबिम्ब पड़ा तो वह प्रतिबिम्ब जीव हो गया और यह सृष्टि अर्थात् विसर्ग हो गया। अब यह याद रखना कि बिन्दु में परिवर्तन नहीं आया, बिन्दु वैसा का वैसा बना रहा। काँच आने से विसर्ग की प्रतीति हो गई। विसर्ग की प्रतीति होने में बिन्दु की प्रतीति भी होनी पड़ेगी। काँच हटा दोगे तो बिन्दु फिर भी बना रहेगा। काँच के आने न आने से बिन्दु में कोई फरक नहीं पड़ा। लेकिन बिना बिन्दु के विसर्ग नहीं रह सकता। उस बिन्दु को ढाँक दो तो काँच के अंदर वाला भी गायब हो जाता है। इसी प्रकार परमेश्वर परब्रह्म परमात्मा के सामने अंतःकरण आने से अंतःकरण के अन्दर जो उसका प्रतिबिम्ब पड़ा, यही सृष्टि हो गई। इसलिये अं के आगे अः यह सृष्टि प्रक्रिया हो गई। बिन्दु और विसर्ग का असली चिह्न तो बिन्दु ही है, अ पर बिन्दु या विसर्ग तो उच्चारण की स्पष्टता के लिये है। वही क पर लगायेंगे तो कं और कः हो जायेगा। इसलिये अं और अः में बिन्दु और विसर्ग को अ के साथ वाला अंग नहीं समझना, अ आधार होने से अपने यहाँ उसके ऊपर लिख देते हैं। असली बिन्दु की आवाज़ तो केवल उसकी है और विसर्ग की आवाज

केवल विसर्ग की है। यह सृष्टि-प्रक्रिया हुई जो वस्तुतः विसर्ग बन जाती है। जिस समय जीव है उस समय भी एक क्षण ईश्वर से अलग होकर नहीं रह सकता। जीव के बिना तो ईश्वर रह सकता है। जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब के बिना बिम्ब बना रहेगा लेकिन उलटा नहीं हो सकता कि जीव ईश्वर के बिना रह जाये, या विसर्ग बिना बिन्दु के रह जाये; यह नहीं हो सकता।

हम लोग इस समय विसर्ग अवस्था में हैं क्योंकि हम लोग सारे अपने आपको जीव ही मान रहे हैं। विसर्ग अवस्था से हमको बिन्दु अवस्था में जाना है, परमात्मा की प्राप्ति करनी है। इसलिये हमें अं अः की जगह अः अं का प्रयोग करना पड़ेगा। अः हम हैं और अं बनना है। संस्कृत भाषा की दृष्टि से संधि नियमों के अनुसार अः के आगे अं आता है तो संधि होकर अंत में उसका रूप ओम् बन जाता है। विसर्ग का ओ, अकार पूर्वरूप होकर ओम् रह जायेगा। ये दोनों कारण सोहम् या अः अं को प्रकट करने के लिये हैं। जब तक अः और अं अलग रहते हैं तब तक इसका रूप बनेगा अः + अम्= अहम्। विसर्ग आधा ही है। इसलिये जब तक हम परमेश्वर से अलग बने रहते हैं तब तक हमारा नाम अहम् (Iness, ego consciousness); अहंकारात्मिका वृत्ति समझना, गर्व वाला अहम् (ego) नहीं। जब विसर्ग अवस्था खत्म हो गई और परमात्मा से एक हो गये उस अवस्था का नाम ओम् हो गया। इन्हीं दोनों दृष्टियों से यहाँ स्पष्ट रूप से इस बात को कहा 'सोयमात्मा अध्यक्षरमोंकारो अधिमात्रम्।'

यह जो ओंकार है इसको इस उपनिषद् के अन्दर प्रधान रूप से पादशः अर्थात् एक एक चरण करके अलग करेंगे। क्योंकि यहाँ आत्मा को भी चार चरणों से समझाया है इसलिये ओंकार को भी चार चरणों से समझाना पड़ेगा। प्रतीक और जिसका प्रतीक, दोनों में हमेशा कुछ न कुछ एकता लेनी पड़ती है। यही सारा का सारा आरोप्य उपासना का तात्पर्य है। जैसे संवर्ग विद्या आरोप्य उपासना है जो छांदोग्य उपनिषद् में आती है। सुषुप्ति काल में हम अपनी इन्द्रियों और मन सबको प्राण में लीन करते हैं क्योंकि उस समय आँख, कान, नाक आदि कोई काम नहीं करते। केवल एक ही चीज़ प्राण उस समय काम करते रहते हैं। जितने भी दूसरे काम हैं गहरी नींद में वे सब प्राणों में लीन हो जाते हैं। इसी प्रकार प्रलयकाल में सब चीजें वायु में लीन हो जाती हैं, पृथ्वी जल में, जल तेज में, तेज वायु में लीन हो जायेगा। यह लीन होना समानता हो गई। इस लीन होने की समानता को लेकर प्राण में वायु की उपासना संवर्ग विद्या है। उपासना में किसी न किसी एकता को पकड़ना पड़ता है। इसी को लेकर कुछ उपासनाओं का स्वरूप हमारे यहाँ प्रसिद्ध होता है और लोग समझते नहीं हैं, उलटा अर्थ ले लेते हैं। जैसे अपने यहाँ प्राचीन काल से प्रसिद्ध है कि हनुमान् जी की उपासना स्त्री न करे, सुना होगा। इसका तात्पर्य क्या है? हनुमान् जी पूर्ण बल और ब्रह्मचर्य के प्रतीक हैं। इस प्रतीकता के कारण हनुमान् की उपासना स्त्री के लिये बनती नहीं। लोग कहते है क्या

वह भगवान् नहीं? भगवान् तो सब में है लेकिन उपासना में तो किसी का आरोप करना पड़ेगा। हनुमान् की ज्यादा उपासना करोगी तो पति का काम तो खत्म ही है! क्योंकि जब स्त्री ही हनुमान् बन जायेगी तो पति का क्या हाल होना है! आरोप्य उपासना में इसलिये कुछ समानता लेनी पड़ती है। स्त्री के लिये सौन्दर्य, लावण्य आदि सारे आभूषण हैं। आजकल तो खूब दाढ़ी मूंछ निकली हुई स्त्रियाँ होने लग गई हैं जो दीखती स्त्री की तरह हैं लेकिन इसमें उनकी शोभा नहीं मानी जा सकती। परमात्मा की व्यापकता में कोई संदेह नहीं है। केवल इतने अंश को लेकर प्रसिद्धि हो जाती है कि यह अमुक ढंग का प्रतीक है, वह किसी के अनुकूल बैठेगा और किसी के अनुकूल नहीं बैठेगा। वैसे ही यहाँ चूँकि आत्मा का वर्णन चार पादों को लेकर किया तो उसके प्रतीक ॐ को भी चार पादों में ही बताना है। तब दोनों की समानता आयेगी। इसलिये पादशः अर्थात् अलग अलग पाद के द्वारा उसका विभाग करेंगे।

इसके पाद क्या होंगे? 'सोयमोंकारः पादशः प्रविभज्यमानः अधिमात्रं मात्रामधिकृत्य वर्तत इत्यधिमात्रम्।' इसकी चार मात्राओं को चार पादों के साथ एक कर लेंगे। 'कथं' कैसे? 'आत्मनो ये पादास्त ओंकारस्य मात्राः।' जो आत्मा के पाद हैं वही ओंकार की मात्रायें हैं। 'कास्ताः' कौन कौन सी हैं? 'अकार उकारो मकार इति' अ उ और म। यह आधारभूत सिद्धान्त हो गया।।८।।

●

जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राऽऽप्तेरादिमत्त्वाद्वाऽऽप्नोति ह वै सर्वान् कामानादिश्च भवति य एवं वेद।।९।।

जागरित जिसका स्थान है वह वैश्वानर है। जाग्रद् आदि शब्द पहले आये हुए हैं। वहाँ स्वरूप का निर्धारण करने के लिये कहा था, यहाँ उपासना के लिये प्रयुक्त है। जाग्रत् स्थान है जिसका वह वैश्वानर, वह ओंकार की प्रथमा मात्रा अर्थात् अकार है। वह अकार ही जाग्रत् का अभिमानी वैश्वानर है, यह वैश्वानर का रूप बता दिया। यह जाग्रत् स्थान का वर्णन करते हुए पहले बता आये हैं। 'तस्य ह वा एतस्य आत्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाः' इत्यादि से मूर्धा ही सूर्य, आदि सारा वर्णन आया था। यह अकार ही पहली मात्रा और यही विश्वरूपता है, यह दृष्टि इसमें करनी है।

ऐसा क्यों कहते हैं? क्योंकि 'आप्तेः' सारे अक्षरों के अन्दर अकार व्याप्त है। आप्ति का मतलब व्याप्ति होता है। अपने यहाँ संस्कृत में अ ही व्यापक अक्षर है जैसे क, ख आदि सबमें अ ही व्याप्त है, दूसरी भाषाओं में चाहे जो हो। क्योंकि अंग्रेजी में अ व्याप्त नहीं, ई ज्यादा व्याप्त है जैसे बी सी इत्यादि। प्रत्येक वर्णमाला में कोई भी एक स्वर लेना पड़ता है क्योंकि व्यंजन का उच्चारण शुद्ध नहीं किया जा सकता। संस्कृत में अ व्याप्त है। उर्दू में अ की व्याप्ति बड़ी प्रत्यक्ष है क्योंकि उनके यहाँ एक ही स्वर अलिफ

से सारे काम चलते हैं। वे इधर उधर बिन्दु आदि रखकर काम चला लेते हैं। अगर जल्दी लिखो तो वह भी गायब हो जाता है। एक प्रसिद्ध घटना है कि किसी ने उर्दू में तार दिया 'लाला जी अजमेर गये, बड़ी बही जल्दी लेकर आओ।' अब वहाँ स्वर तो एक ही है। अ और आ का एक ही चिह्न और ई ऊ एक होने से तार में हो गया 'लाला जी आज मर गये बड़ी बहू को लेकर जल्दी आओ।' लोग लाला जी की बहू को लेकर पहुँच गये। पूछा 'क्या हुआ?' कहा 'आपकी तार आई थी।' यहाँ अलिफ की व्याप्ति बिल्कुल प्रत्यक्ष है। जैसे अकार व्याप्त है वैसे ही वैश्वानर सारे जगत् में व्याप्त है जिसे जाग्रत्-स्थान के विचार में कहा था। पृथ्वी से लेकर द्युलोक पर्यन्त यह सारे जगत् में व्याप्त हो गया। ऐसे ही अकार सबमें व्याप्त हो गया। इसलिये अकार को वैश्वानर का प्रतीक मान लिया।

दूसरा और कारण बताते हैं 'आदिमत्त्वात्' जैसे तीनों अवस्थाओं की आदि अवस्था जाग्रत् है क्योंकि जाग्रत् के ही संस्कारों से स्वप्न देखना हुआ और जाग्रत् की थकावट से सुषुप्ति होनी हुई और जाग्रत् में ही ज्ञान होकर तुरीय अवस्था होनी हुई। इसलिये आदिम या प्रथम अवस्था जाग्रत् है। इसी प्रकार ओंकार का आदि अक्षर और वर्णमाला का आदि अक्षर 'अ' है। इसलिये भी इसको उसके साथ कर दिया।

'आप्नोति ह वै सर्वान्कामानादिश्च भवति' अब बताते हैं कि इस ओंकार के अन्दर उपासना करते हुए जिसकी उपासना पूर्ण हो जाये अर्थात् अकार मन में आये उसके साथ ही वैश्वानर उपस्थित हो जाये, यही उपासना की सिद्धि होती है, निश्चित रूप से उसके अंदर सत्यकामता आ जाती है। मन में जो कामना उत्पन्न होती है, वह तुरंत पूरी हो जाती है। यही सत्यकामता है। इसको सबसे पहले बताते हैं क्योंकि जो पहले पहल मनुष्य को अनुभव होता है वह यही होता है कि 'जो चाहते हैं होता नहीं है।' चाहते रहते हैं कि बड़ा भारी आलीशान मकान बना लें और अपनी झोपड़ी में टीन ही नहीं डाल पाते। लोगों की यह स्थिति होती है, न जाने कितनी कामनायें बेचारे करते रहते हैं। कोई झूठे ही कह दे कि हम तुम्हारी इच्छाओं को पूर्ण कर देंगे तो वोट डाल देते हैं और बाद में रोते हैं कि क्या कर आये, लेकिन उस समय तो आशा में बंध जाते हैं। जब ओंकार के अंदर उपासना दृढ हो गई तो मन में कामना उत्पन्न होते ही तुरंत पूर्ण हो जाती है। यह भी अच्छा ही फल है। तीनों की उपासना तो आगे ही बतायेंगे, यह तो अभी पहली ही उपासना है।

एक बात और बता देते हैं। वैदिकों में और दूसरे लोगों के सिद्धान्त में कुछ फरक है। दूसरे लोग कहते हैं कामनाओं का त्याग करना। वेदांती कहता है कि पहले तो कामनाओं के रूप को समझो। कामनायें दो प्रकार की हैं— एक शास्त्र के अनुकूल और एक शास्त्र के विपरीत। इसमें शास्त्र के विपरीत कामनाओं को तो छोड़ना ही है, नहीं तो उपासना दृढ नहीं हो पायेगी। शास्त्रानुकूल कामनाओं को सर्वथा छोड़ना है, ऐसा नहीं। फिर करना

क्या है? शास्त्रानुकूल कामनाओं को तब करना चाहिये जब उनके पूर्ण करने की सामर्थ्य हो। मोटी भाषा में वेदांत का यह कहना है, जेब में यदि सौ रुपये का नोट है तो सौ रुपये तक की साड़ी की कामना मन में रखनी चाहिये और बाकी सारी साड़ियों को बेकार समझना चाहिये क्योंकि जेब में सौ रुपये ही हैं! इसलिये सौ रुपये एक पैसे की साड़ी को मन से सर्वथा निष्कासित रखो, यह नहीं कि 'मेरे को मिलती तो ले लेती लेकिन मिल ही नहीं रही है;' यह नहीं, बल्कि यह कि है ही बेकार। उसकी कामना मत करो, वह दुःखदाई है। सौ तक की कामना करोगे तो कोई बात नहीं। और धीरे धीरे रुपया बढ़ाने के लिये प्रवृत्ति करते रहो। जब रुपये सौ से दौ सौ हो जायें तो दो सौ की कामना कर लो। इसलिये जितनी तुम्हारे अंदर कामना पूर्ण होने की सामर्थ्य है उससे ज्यादा शास्त्र अनुकूल कामनाओं को भी मत करो, तब तक न करो जब तक सामर्थ्य न हो जाये। जैसे जैसे सामर्थ्य बढ़ती जायेगी तो कामना दुःखदाई नहीं रहेगी। दूसरे लोग मोटा हिसाब कर देते हैं कि कामना ही दुःख का कारण है।

यह इसलिये समझा रहे हैं कि जो बहुत से लोग वेदांत तत्त्व को नहीं समझते हैं वे भूल कर जाते हैं। लोग कहते हैं कि कामनाओं के कारण दुःख होता है और बहुत से लोग मान भी लेते हैं कि कामनाओं के कारण दुःख होता है। अब अगला प्रश्न पूछते हैं जो अपने हृदय से पूछना, कि अगर तुम्हारे मन में किसी चीज़ की कामना नहीं है तो क्या वह चीज़ तुमको सुख दे सकती है? मानोगे कि नहीं दे सकती। भगवान् न करे यदि सारी कामनायें तुम्हारे मन से हट जायें, हट तो नहीं सकतीं क्योंकि ब्रह्म का स्वरूप ज्ञान इच्छा क्रिया शक्ति है, फिर भी मान लो अगर तुम्हारे मन से समग्र कामनायें हट गई तो क्या तुम्हें कभी किसी चीज़ से सुख हो सकता है? इसलिये वेदांत कहता है कि यह ठीक है कि कामना दुःख का कारण है, लेकिन सुख का कारण भी तो कामना ही है। अब विचार करना पड़ेगा कि कौन सी कामना सुख का कारण और कौन सी दुःख का कारण है। अतृप्त कामना दुःख का कारण और तृप्त कामना सुख का कारण है। इसलिये वेदांती कहता है कि कामना वह करो जिसको तुम तृप्त कर सको। जो केवल तृप्ति के योग्य कामनाओं को करेगा वह सब समय सुखी रहेगा। दुःख तब आयेगा जब अतृप्त कामनाओं को करेगा। शास्त्रविरुद्ध कामनाओं को पूर्ण कर भी सको, तृप्त कर भी सको तो भी मत करो क्योंकि उसमें बलवत् अनिष्ट अनुवेध है अर्थात् अभी तो पूरा कर लोगे लेकिन वह जो शास्त्र विरुद्ध कार्य है उसके अन्दर वह ऐसे अनिष्ट काँटे को छोड़ देगा जो आगे जाकर तुम्हें घोर दुःख देने वाला है। जैसे शरीर के अन्दर फोड़ा हो जाता है तो उसमें कील हो जाती है। बुद्धिमान् तो उस कील को निकलवा देता है, दूसरा सोचता है कि कील तो पड़ी रहे, दवाई इत्यादि से फोड़ा ठीक हो जाये। वह दो दिन में फिर भर जाता है। यद्यपि कील निकलने में कष्ट होता है फिर भी उसे निकाल देना ही ठीक है क्योंकि बलवत् अनिष्ट है, घाव ही नहीं भरना है। इसी प्रकार शास्त्रविरुद्ध

कामना तृप्त भी कर ली तो भी उसमें बलवत् अनिष्ट-अनुवेध है। इसलिये आगे अनेक दुःखों का कारण बनेगी। इसीलिये कहते हैं कि शास्त्रविरुद्ध कामनाओं को सर्वथा छोड़ो, शास्त्र अनुकूल कामनाओं में जिसको तृप्त कर सको उसको रखो और अतृप्त को जब तक पूर्ण करने की शक्ति न आये तब तक सामने न लाओ।

किसी किसी के मन में यह आयेगा कि क्यों कहीं गीता इत्यादि सद्ग्रन्थों में सब कामनाओं का त्याग भी बताया है? वह ज्ञानी के लिये बताया है। अविद्या काम कर्म यह क्रम कहा है। अविद्या ही जिसकी निवृत्त हो जायेगी, उसकी जब द्वैत की दृष्टि ही नहीं तो वह किस चीज़ की कामना करे। इसलिये हम लोग कामना छोड़ने को नहीं कहते हैं। वेदांत कभी नहीं कहता कि कामना छोड़ो। यह ज़रूर कहता है कि कामना का मूल कारण अविद्या है, उसको हटाने का प्रयत्न करो। यदि अविद्या हट गई तो कामना स्वतः हट जायेगी। कामना को ही हटाने का प्रयत्न क्यों न करें? बौद्ध आदि दर्शन कामना को हटाने का प्रयत्न करते हैं। लेकिन कामना को हटाने का प्रयत्न इसलिये मत करो क्योंकि असम्भव है। इसलिये असम्भव है कि कामना का बीज जब तक अविद्या पड़ा हुआ है तब तक कामना न आये, यह कैसे हो सकता है? कामना को हटाऊँ यह भी तो एक कामना ही है। कामना के रहते हुए कामना कहाँ से हटनी है? इसलिये कामनाओं को हटाने का प्रयत्न नहीं, उलटा उस प्रयत्न में मनुष्य को सफलता मिलनी नहीं, और दुःख हो जाना है। इतना ही अपने सामने रखो कि शास्त्रविरुद्ध कामनाओं को छोड़ना है और अतृप्त कामनाओं को सामने नहीं आने देना है, जब तक उन्हें तृप्त करने की सामर्थ्य न आये। जहाँ अविद्या हटेगी, निमित्त हटने से नैमित्तिक भी हट जायेगा, वह तो और बात हुई। वहाँ कामना हटाते नहीं, बल्कि वहाँ तो द्वैत ही नहीं रहा 'किमर्थं कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्।' 'आप्नोति ह वै सर्वान्कामानादिश्च भवति य एवं वेद' यह उपासना करने वाले मनुष्य की सभी कामनायें तुरंत पूरी हो जाती हैं, जैसे ही कामना उठती है वैसे ही तृप्त हो जाती है ऐसी सामर्थ्य उसमें आ जाती है।

बहुत से लोग केवल मन मारते रहने को ही साधना समझ लेते हैं। सोचते रहते हैं कि मन को मारते रहो, यह तो हमेशा ही दुःख की साधना हुई। 'आदिश्च भवति' केवल कामनाओं की पूर्ति ही नहीं होती बल्कि महत् पुरुषों के अन्दर उसकी प्रथमों में गिनती होती है। बड़े आदमियों में वह सबसे पहले गिना जाता है। यह इस उपासना का दूसरा फल है। यह भी मनुष्य के मन में रहता है कि मैं सबसे पहले, सबसे बड़ा गिना जाऊँ। इसलिये यह भी उसका फल हो गया। जिस किसी क्षेत्र में वह अपना जीवन चला रहा है उस क्षेत्र में जब महत् पुरुषों की गिनती की जाती है तो वह उस गिनती में पहला आ जाता है। जो इस प्रकार की उपासना करता है उसको इस फल की प्राप्ति हो जाती है।

अब इन तीनों में यह विशेष नियम करते हैं कि किस से जाग्रत्, किस से स्वप्न और किस से सुषुप्ति लेना 'तत्र विशेषनियमः क्रियते।' यहाँ नियम शब्द का प्रयोग किया

गया है। नियम हमारे यहाँ पारिभाषिक शब्द हैं। कई शब्द ऐसे होते हैं कि लोक-प्रसिद्ध होने पर भी हर शास्त्र में उसका अपना अर्थ होता है। हमारे यहाँ जब वेद कोई आज्ञा हमको देता है विधि और निषेध की, तो वे आज्ञायें हमारे यहाँ तीन तरह से बाँची जाती हैं। एक अपूर्व विधि, एक नियम विधि और एक परिसंख्यान विधि। विधि का अर्थ आज्ञा होता है। तीन प्रकार की वेद की आज्ञायें होती हैं। अपूर्व विधि अर्थात् जिस बात को किसी भी तरह से हम न जान सकें उस बात को जब वेद कहता है तो उसे अपूर्व विधि कहा जाता है। जैसे 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' जब स्वर्ग जाने की इच्छा हो तो ज्योतिष्टोम यज्ञ करे, यह अपूर्व विधि है। चाहे सारे संसार के विचारक बैठकर आज से लेकर महाप्रलय तक सोचते रहें तो भी ज्योतिष्टोम यज्ञ कैसे होता है, यह उनकी बुद्धि से नहीं निकल सकता। इसलिये यह अपूर्व विधि होती है। अपूर्व विधि वह होती है जिसके विषय में किसी दूसरे प्रमाण से ज्ञान होना सम्भव ही नहीं है। हर शास्त्र में कुछ अपूर्व विधि हुआ करती है जिनको किसी अन्य प्रमाणों से जान नहीं सकते। जैसे लोग कहा करते हैं कि एक और एक दो होता है, ऐसा प्रसिद्ध है। काम भी इससे चलता है लेकिन कभी बैठकर विचार करो कि एक सेव उसके पास है, एक सेव और रख दिया तो एक और एक तो ठीक है लेकिन दो नाम का सेव कहाँ से आ गया? जब दो सेव कहते हो तो क्या एक और एक सेव के वजन को मिलाकर कोई तीसरा वजन पैदा हो गया? कोई गुण की विशेषता आ गई? सब विचार कर, दो कुछ नहीं हुआ। एक एक ही रहे। फ़िर भी दो सेव मान लेने से व्यवहार चलता रहता है। जैसे एक उन्होंने पारिभाषिक शब्द बना लिया, ऐसे ही दो भी पारिभाषिक शब्द है। यह कभी अनुभव में आने वाला नहीं है। जब कहते हो एक जमा एक तो मान्यता यह है कि दोनों इकाइयाँ बिल्कुल एक दूसरे के जैसी हैं। इसी को लेकर एक जमा एक कहोगे। सारे ब्रह्माण्ड में सब पदार्थों को ढूँढ आओ, कहीं दो चीज़ें हर दृष्टि से एक जैसी (identical) मिलने वाली नहीं हैं। उनके अंदर कहीं परिमाण का, कहीं वज़न का, कहीं रंग का, कहीं स्वाद का फरक रहेगा। सत्य बात यह हुई कि अपने को कभी एक जैसी दो इकाइयाँ मिलनी ही नहीं हैं। लेकिन ऐसा होने पर भी हमने एक पारिभाषिक १ मान लिया और उससे हमने पारिभाषिक गणित शास्त्र बना दिया। अब चूँकि उस गणित शास्त्र के हिसाब से हमारा व्यवहार चल जाता है इसलिये उसे मान लेते हैं। इसी प्रकार वेदों में अनेक अपूर्व विधियाँ हैं। उन अपूर्व विधियों का ज्ञान किसी प्रमाणान्तर से तो हो नहीं सकता लेकिन वैसा करने से फल मिलता है इसलिये मानना पड़ता है कि कुछ है।

दूसरी नियम विधि होती है। जिस चीज का ज्ञान प्रमाणान्तरों से हो तो सके लेकिन चार पाँच सम्भावनायें या कम से कम दो संभावनायें हों, उनमें से एक सम्भावना सच्ची हो, वह जहाँ वेद कहेंगे उसका नाम नियम विधि है। दोनों में यही फरक है। आहुति देने के लिये चावल पका हुआ चाहिये। धान को दो तरह से चावल रूप में परिणत किया

जा सकता है। धान के ऊपर तुषा रहती है नखविदलन से उसे छील छील कर निकाल सकते हो, यह भी प्रमाणान्तर से ज्ञात है, या उलूखल में रखकर कूट सकते हो तब भी चावल निकल आयेगा। ये सम्भावनायें प्राप्त हुई। उनमें नियम कर दिया गया कि उलूखल के अन्दर कूटकर ही दाने निकालो। अपूर्व विधि में कुछ नहीं सोच सकते, पता लगाने का कोई तरीका नहीं है और नियम विधि वह हुई जो दूसरे प्रमाणों से प्राप्त तो है लेकिन कई सम्भावनायें प्राप्त होने से उनमें नियम कर दिया कि अमुक सम्भावना जो तुमने निकाली, वही ठीक है।

तीसरी परिसंख्यान विधि होती है। यह आजकल संवैधानिक संशोधन समझ लो, उसमें भी गणना कर दी जाती है कि ऐसा ऐसा है। प्रमाणान्तरों से प्राप्त तो है, लेकिन उन प्रमाणान्तरों से प्राप्त में से गिनती करके रख दिया। नियम विधि और परिसंख्यान विधि में कई बार लोगों को भ्रम हो जाता है क्योंकि परिसंख्यान विधि में केवल प्राप्त सम्भावनाओं में रुकावट है। अर्थ में भेद हम लोग थोड़ा सा इसलिये मानते हैं कि नियम विधि में 'क्या करो' पर जोर है और परिसंख्यान में 'क्या न करो' पर जोर है। इस भेद को लेकर ही इन दोनों में भेद किया जाता है। हर हालत में नियम और परिसंख्यान दोनों प्रमाणान्तर से प्राप्त चीज़ों के अन्दर करोगे।

अब अ उ म के अन्दर हमको जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति को बैठाना है इसलिये अपने आप ही प्राप्त हो गया कि अकार का मतलब या जाग्रत्, या स्वप्न या सुषुप्ति है। यह प्राप्त होने पर श्रुति ने नियम विधि कर दी कि अकार से जाग्रत् को ही लेना। इसलिये इसको कहा 'तत्र विशेषनियमः क्रियते'। नियम विधि के द्वारा यह बता रहे हैं कि प्रमाणांतर से प्राप्त होने पर भी एक निश्चित पता लग गया कि यही करो और दूसरा नहीं। परिसंख्यान का दृष्टांत प्रायः वाल्मीकि रामायण से देते हैं। जिस समय बाली को मारा है उस समय बाली ने कहा है 'पंच पंचनखा भक्ष्या ब्रह्मक्षत्रेण राघव। शशकः शल्लकी गोधा खड्गी कूर्मोथ पंचमः।।' पाँच नखों वाले पाँच प्राणियों को खाने के लिये ब्राह्मण क्षत्रिय को छूट दी गई है, फिर तुमने हमें किस मतलब से मारा? यह प्रसिद्ध दृष्टांत है इसलिये कह देते हैं। 'पंच पंचखा भक्ष्याः' का मतलब यह नहीं कि इन पाँच नख वालों को खाना चाहिये। यही नियम और परिसंख्यान विधि में फरक है। नियम विधि में क्या करो पर जोर और परिसंख्यान विधि में क्या न करो पर ज़ोर है। इस वाक्य को लेकर बहुत से मांसभक्षी लोग कहते हैं कि वाल्मीकि रामायण में कहा है इसलिये वे तो खा ही सकते हैं। वहाँ 'भक्ष्याः' परिसंख्यान विधि है। यह नहीं कि ये पाँच नख वाले खाओ वरन् इन पाँच नख वालों से भिन्न को तो नहीं ही खाना है। यदि नियम विधि मानोगे तो उसका अर्थ होगा कि पाँच नख वाले इन पाँच को खाओ, परिसंख्यान का मतलब होगा कि किसी को न खाओ, लेकिन इन पाँच को छोड़कर दूसरों को तो न ही खाओ। यह दृष्टांत इसलिये दिया जाता है कि प्रायः लोग इन चीज़ों को उठा लेते

हैं। इसलिये परिसंख्यान विधि हमारे शास्त्रों में अनेक जगह स्पष्ट की जाती है। महाभारत के अन्दर कहा गया है कि पाँच जगह झूठ बोला जा सकता है। किसी कन्या का विवाह हो रहा हो और तुम्हारे सच बोलने से वह विवाह रुक जाये, तो वहाँ झूठ बोल सकते हो। दूसरी बात सुनायेंगे तो सब नाराज़ हो जायेंगे। घर में स्त्री से रात्रि इत्यादि में कोई काम लेना हो उस समय वह कहे कि गहना चाहिये तो हाँ कर देना चाहिये सवेरे दो चाहे न दो। ऐसे पाँच स्थान माने हैं जहाँ झूठ बोला जा सकता है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि पाँच जगह झूठ बोलो ही, यह तात्पर्य नहीं है वरन् पाँच से अतिरिक्त स्थलों में झूठ मत बोलो। उत्तम पक्ष है कि कभी मत बोलो। लेकिन गृहस्थ हो, पूरी तरह से न निभ सके तो पाँच जगह आत्मरक्षा इत्यादि के लिये गिनाई हैं। उनको छोड़कर बाकी जगह तो नहीं ही बोलना चाहिये। परिसंख्यान नहीं मानोगे तो सभी अर्थ निकाल लेंगे कि पाँच जगह तो बोलना ही है। यह तात्पर्य नहीं है। व्यवहार में इन दोनों से बड़ा फरक हो जाता है। शास्त्र की विधि न जानने वाले हिन्दी अनुवाद पढ़कर अर्थ का अनर्थ कर देते हैं।

यहां अकार आदि में विशेष नियम करते हैं कि अ उ म में क्या ध्यान करना। 'जागरितस्थानो वैश्वानरो यः स ओंकारस्याकारः प्रथमा मात्रा।' जाग्रत् स्थान का अभिमानी वैश्वानर ही ओंकार की प्रथम मात्रा है। यह दोनों की सदृशता हो गई। जैसे अकार सब अक्षरों में व्याप्त है। जाग्रत् में जो चीज़ें देखी हैं उसी के संस्कार से स्वप्न दीखना है। जाग्रत् का परिश्रम या भोग समाप्त कर लोगे तभी सुषुप्ति आयेगी। जो दिन में पड़ा रहता है वह रात भर करवटें बदलकर कहता है कि इन्सोम्निया हो गया है। उसकी दवाई है : दिन में गड्डा खोदो तो यह रोग स्वतः दूर हो जायेगा। लेकिन लोग तो बिछौने पर जाकर इन्सोम्निया की दवाई करना चाहते हैं। वहाँ कुछ नहीं होना है। 'केन सामान्येनेत्याह।' दोनों में समानता बताई 'आप्तेराप्तिर्व्याप्तिरकारेण सर्वा वाग्व्याप्ता।' अकार से सारी ही वाणियाँ व्याप्त हैं। 'अकारो वै सर्वा वाग् इति श्रुतेः' उसी में श्रुति का प्रमाण दे दिया कि वेद भी कहता है कि सारी वाणियों में अकार रहता है।

अब अध्यात्म और अधिदैव की एकता को बताते हैं। पहले में आत्मा का स्वरूप वर्णन है, अब उसी का ध्यान करना है। 'तथा वैश्वानरेण जगत्' वैश्वानर से यह सारा जगत् ले लेना। "तस्य ह वा एतस्याऽऽत्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाः' इत्यादि श्रुतेः' समष्टि जगत् ही परमात्मा का मूर्त्त रूप है। चौदह भुवन सारे के सारे उस परब्रह्म परमात्मा की साक्षात् प्रत्यक्ष मूर्त्ति हैं। बाकी मूर्त्तियों में कल्पना करनी पड़े, यहाँ कुछ नहीं करना पड़ता। सूर्य चन्द्रमा भगवान् के नेत्र हैं इसमें कल्पना नहीं है। इन सब श्रुतियों के अनुसार ध्यान कर लेना चाहिये। 'अभिधानाभिधेययोरेकत्वं चावोचाम' नाम-नामी की एकता पहले बता दी है। 'आदिरप्य विद्यत इत्यादिमद्यथैवाऽऽदिमदकाराख्यमक्षरं तथैव वैश्वानरस्तस्माद्वा सामान्यादकारत्वं वैश्वानरस्य।' दोनों की एकता का एक कारण व्याप्ति और दूसरा कारण दिया 'आदिः अस्य विद्यत इति आदिमत्' जो आदि में होता है उसी को आदिमत् कहते

हैं। जैसे सारे अक्षरों में अकार पहले वैसे ही सारी अवस्थाओं में वैश्वानर जाग्रत् अवस्था सबसे पहले हैं। इसलिये भी वैश्वानर और अकार की एकता बता दी। इन सब युक्तियों से सोचकर हम भी मान सकते थे लेकिन निश्चय नहीं होता कि अ से यही लो। इसलिये यह नियम विधि हो गई। वेद ने कहा है तो यही लेना है।

'तदेकत्वविदः फलमाह—आप्नोति ह वै सर्वान् कामानादिः प्रथमश्च भवति महतां य एवं वेद यथोक्तमेकत्वं वेदेत्यर्थः।' जब यह एकत्व ज्ञान दृढ हो जाता है तब क्या फल होता है? उसकी सारी कामनायें पूर्ण हो जाती हैं। पूर्ण अर्थात् खत्म हो जाती हैं ऐसा नहीं, क्योंकि वह तो ज्ञान का फल है। अविद्यानाश से तो सारी कामनायें समाप्त हो जाती हैं। लेकिन यह तो उपासना है, इससे कामनायें पूर्ण हो जाती हैं। ज्ञान से तो कामना ही नष्ट हो जाती है। यह तो उपासना का प्रकरण है। अधिकतर लोग कामनाओं की पूर्ति चाहते हैं, कामना का नाश तो कोई ही चाहता है। 'प्रथमश्च भवति महतां' महत् पुरुषों के अन्दर वह सबसे प्रथम मुख्य माना जाता है। जो इस एकता की उपासना करता है उसका फल बता दिया।।९।।

●

स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्वोत्कर्षति ह वै ज्ञानसंततिं समानश्च भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति य एवं वेद।।१०।।

जो स्वप्न स्थान वाला तैजस है वह उकार है। उ ही तैजस अवस्था और तैजस अवस्था ही उ है। यह दूसरी मात्रा हो गई। इसमें भी हेतु देते हैं 'उत्कर्षात्' उत्कृष्ट होने के कारण, इस प्रकार दोनों की समानता हो गई। उत्कृष्ट उ से प्रारम्भ हुआ इसलिये उ उत्कृष्ट है। वैसे भी जब ॐ का उच्चारण किया जाता है तो उसके अन्दर अ अनुदात्त और उ उदात्त होता है। स्वर की दृष्टि से भी अनुदात्त अ से उदात्त की आवाज़ ऊँची गई, इसलिये भी उत्कृष्ट है। स्वप्न की भी उत्कृष्टता है। उत्कर्ष मायने खींचना। आकर्षण शब्द हिन्दी में भी चलता है। कहीं कहीं खेतिहर को कर्सा कहते हैं, गुजरात व मारवाड़ की तरफ कहीं कहीं इस शब्द का प्रयोग होता है। वह इसीलिये कि वह खेती में रेखायें खींचता है, यह कर्षण हो गया। अब जाग्रत् में से कुछ चीज़ों को स्वप्न में खींच लिया जाता है। कौन सी चीज़ों को खींचा जाता है? जो चीज़ वहाँ सबसे ज्यादा वासनाओं को पैदा करती है, जिनके संस्कार तगड़े होते हैं। जाग्रत् काल में जिसके संस्कार अतितीव्र होते है, वही बात स्वप्न में आती है। जाग्रत् से कर्षण करके स्वप्न में ले गया। विदेशी विद्वानों में खासकर फ्राय्ड, एडलर, युंग इत्यादि स्वप्न के विश्लेषण से मनुष्य की जाग्रत् स्थिति का विश्लेषण करते हैं। अपने यहाँ भी इस प्रकार प्राचीन काल में मनोविज्ञान काफी था, ग्रंथ अब भी मिलते हैं। यह स्वप्न और जाग्रत् में समता हो गई।

उ उभय को भी बताता है। वैसे यहाँ भी जो तैजस अवस्था है, यह विश्व और प्राज्ञ दोनों के बीच में पड़ी हुई है। जाग्रत् सुषुप्ति के बीच में स्वप्न अवस्था आती है।

उसमें उन दोनों अवस्थाओं के अलग अलग गुण आ गये। जैसे जाग्रत् में पदार्थों को देखता है, ऐसे स्वप्न में देखता है। यह जाग्रत् से समानता हो गई। लेकिन बिना पदार्थ हुए देखता है; समझ रहा है कि पदार्थ देख रहा हूँ देखता नहीं है। सचमुच वहाँ पदार्थ नहीं दीखते। सुषुप्ति में संसार नहीं दीखता है, इसी प्रकार स्वप्न में भी संसार दीखता नहीं है, यह सुषुप्ति और स्वप्न में समानता हुई। जाग्रत् में लगता है सचमुच दीख रहे हैं, स्वप्न में सचमुच नहीं लगता कि देख रहें हैं लेकिन दीख रहे हैं। इन दोनों कारणों से समानता हो गई।

जिसकी यह उपासना दृढ हो जाये उसे क्या फल होता है? 'ज्ञानसंततिम्' उसकी ज्ञान संतति अर्थात् ज्ञान (यहाँ आत्मविषयक अनुभव लेना) बढ़ता चला जाता है। दूसरा फल यह है कि 'समानश्च भवति' मित्र और शत्रु पक्ष दोनों को वह एक जैसा प्रिय लगता है। उसके विरोधी भी उससे प्रेम करते हैं और उसके समर्थक भी उससे प्रेम करते हैं अर्थात् सब उसे अपना ही समझते हैं, एक जैसा समझते हैं। यह उकार की उपासना का फल हो गया। उसके प्रति किसी की यह दृष्टि नहीं होती कि यह मेरा नहीं है। तीसरा फल बताया 'अस्य कुले अब्रह्मवित् न भवति' इसके कुल में ऐसा कोई पैदा नहीं होता जिसको ब्रह्म का अनुभव न हो जाये। ये तीन फल यहाँ बता दिये जो स्वप्न स्थान की उपासना से होते हैं।

'स्वप्नस्थानस्तैजसो यः स ओंकारस्योकारो द्वितीया मात्रा।' स्वप्न स्थान वाला तैजस ओंकार के अन्दर उकार द्वितीया मात्रा हो गई। 'केन सामान्येन इत्याह' किस समानता को लेकर यह आरोप उपासना बनेगी? 'उत्कर्षात्' उत्कर्ष हेतु से। 'अकारादुत्कृष्ट इव ह्युकारस्तथा तैजसो विश्वात्' अकार से उ उत्कृष्ट हुआ क्योंकि ॐ के उच्चारण में अ अनुदात्त और उ उदात्त है। स्वर की भाषा में अ षड्ज, सा, और उ पंचम, प, होगा। इसलिये उसकी आवाज़ उत्कृष्ट हो गई। पिक की आवाज़ पंचम मानी जाती है। या दूसरी समानता हो गई कि 'उभयत्वाद्वाऽकारमकारयोर्मध्यस्थ उकारः' अकार मकार के बीच में उकार है, वैसे ही जाग्रत् सुषुप्ति के बीच में स्वप्न है 'तथा विश्वप्राज्ञयोर्मध्ये तैजसोऽत उभयभाक्त्वसामान्यात्'।

'विद्वत्फलमुच्यते' जिसको यह दृढ पक जाता है, जिसको इसका साक्षात्कार हो जाता है, उसका फल है कि उसकी ज्ञान-संतति का उत्कर्ष हो जाता है। ज्ञानसंतति का उत्कर्ष क्या होता है? चाहे जैसी परिस्थिति आये उसमें जो अपने ज्ञान की स्थिति है, वह हिले नहीं यही ज्ञान का उत्कर्ष है। मनुष्य एक बात को ज्ञानपूर्वक समझता है लेकिन ऐसा प्रसंग आ जाता है कि वहाँ हाथ पैर ढीले हो जाते हैं। आबू में खूब डटकर सत्संग सुनकर जाते हैं और आबू रोड स्टेशन पर पहुँचते ही कहते हैं कि टिकट दो। कण्डक्टर तीन उंगलियाँ दिखाकर कहे 'टिकट नहीं है।' झट उसे तीन रूपये दे देते हो। टिकट के नहीं, घूस के हैं। आजकल इमर्जेन्सी लगी है तो बात दूसरी है! यहाँ से तो सुनकर

गये हैं कि जितना और जिसका और जैसा प्रारब्ध है वैसा ही फल मिलता है, कम ज्यादा नहीं मिलता, लेकिन वहाँ जाकर मन कहता है वह तो स्वामी जी बोलते हैं, यहाँ तो प्रत्यक्ष में तीन रुपये दिये बिना कहाँ सीट मिलती है? यह ज्ञान का उत्कर्ष नहीं हुआ, ज्ञान संतति नहीं हुई, उसपर पक्की भावना नहीं रही। ऐसे ही सारे व्यवहारों में समझना। काम क्रोध बुरी चीज़ है, यह मानकर चलते हैं, समझते हैं, फिर कहते हैं कि गुस्सा हुए बिना नौकर ठीक नहीं हुआ करते। वहाँ जाकर भूल गये। ऐसा नहीं कि उस बात को भूल गये, लेकिन ज्ञान की संतति सतत नहीं चली, दृढ भावना नहीं रहती, ढीला हो जाता है। लेकिन इस उपासना की दृढता से फिर ऐसा नहीं होता।

दूसरा फल बता दिया 'समानस्तुल्यश्च मित्रपक्षस्येव शत्रुपक्षाणामप्यप्रद्वेष्यो भवति' वह व्यक्ति मित्र और शत्रु पक्ष दोनों के लिये एक जैसा हो जाता है अर्थात् दोनों ही उससे प्रेम करने लग जाते हैं। तीसरा फल बताया 'अब्रह्मविदस्य कुले न भवति य एवं वेद' जो परब्रह्म परमात्मा की तरफ चलने वाला नहीं, ऐसा उसके घर में पैदा नहीं होता क्योंकि अगर आस्तिक मनुष्य के घर में नास्तिक पुत्र हो जाये तो पिता को जितना दुःख होता है और किसी चीज़ से नहीं होता। ये तीन फल बता दिये।।१०।।

●

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा मिनोति ह वा इदं सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद ।।११।।

जो प्राज्ञ नाम का तीसरा पाद सुषुप्त स्थान है, वह ओंकार की तीसरी मात्रा मकार है। 'सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो यः स ओंकारस्य मकारस्तृतीया मात्रा। केन सामान्येनेत्याह' इसमें क्या समानता या आरोप है? 'सामान्यमिदमत्र मितेर्मितिर्मानं मीयेते इव हि विश्वतैजसौ प्राज्ञेन प्रलयोत्पत्त्योः प्रवेशनिर्गमाभ्यां प्रस्थेनेव यवाः।' पहली समानता बता दी 'मितेः' मिति माप को कहते हैं। काल के परिमाण को भी मिति शब्द से कहते ही हैं, यह प्रसिद्ध है। मान (measure) के लिये मिति शब्द आजकल बहुत सामान्य हो गया है लेकिन यह हुआ है लैटिन और फ्रैंच के मार्फत। हम लोगों की आदत है कि विदेशी ठप्पा हो तो हम बुरे को भी अच्छा मानते हैं। मीटर शब्द में अर तो प्रत्यय है, मिति को जो करता है वह मीटर है। 'त' उनके यहाँ 'ट' हो जाता है। शब्द यही है जैसे किलो मीटर, सैंटीमीटर आदि। पैरिस के अन्दर एक चीज़ बर्फ आदि के मध्य रख दी गई थी ताकि गर्मी से घटे बढ़े नहीं। उसी के नाप से सब नापते रहते हैं। व्याकरण का अर्थ बता दिया 'मीयेते इव हि विश्वतैजसौ।' माप का मतलब होता है जिससे सब चीज़ों को नापा जाता है। यहाँ भी प्राज्ञ के माप से ही विश्व और तैजस नापे जाते हैं। प्राज्ञ माप हो गया, उसमें कुछ भान नहीं। इसलिये उसकी अपेक्षा केवल मन की वृत्तियों का

भान स्वप्न और मन की वृत्तियों के साथ बाहर की चीज़ों का भान जाग्रत् है। सुषुप्ति की अपेक्षा यह मापे गये। कुछ भान नहीं की अपेक्षा सब्जैक्टिव भान और उसकी अपेक्षा सब्जैक्टिव और आब्जैक्टिव दोनों भान समझे गये। 'प्रलयोत्पत्त्योः प्रवेशनिर्गमाभ्यां प्रस्थेनेव यवाः।' प्रस्थ उस माप को कहते हैं जिसको तुम लोग एक किलो कहते हो। किलो को प्रस्थ कहते हैं। गाँव के अन्दर पुराने जमाने में लकड़ी का प्रस्थ होता था, उससे भरकर अनाज देते थे, तराजू से तोलकर नहीं डालते थे। जौ इत्यादि प्रस्थ के द्वारा माप लिये जाते थे, वह प्रस्थ अनाज भरे बर्तन के अन्दर जाता था और बाहर आता था। वैसे ही 'तथोंकारसमाप्तौ पुनः प्रयोगे च प्रविश्य निर्गच्छत इवाकारोकारौ मकारे।' इसी प्रकार जब ओंकार का प्रयोग करते हैं तो ऐसा लगता है अ और उ दोनों म में घुस गये और फिर म से अ उ वापिस आ गये।

'अपीतेर्वा। अपीतिरप्यस्य एकीभावः। ओंकारोच्चारणेऽन्त्येऽक्षर एकीभूताविवाकारो-कारौ।' अब दूसरा दृष्टांत देते हैं अपीति का अर्थात् एक हो जाने का। ओंकार का जब उच्चारण करते हैं तो अन्तिम अक्षर के अन्दर अकार उकार एक हो जाते हैं मानो अ और उ, म के साथ एक हो गये और फिर उच्चारण करते समय अ उ वापिस आ गये। 'तथा विश्वतैजसौ सुषुप्तकाले प्राज्ञे।' विश्व और तैजस सुषुप्ति काल में एक हो जाते हैं। रोज ऐसा ही लगता है कि जाग्रत् स्वप्न का संसार सुषुप्ति में लीन हो गया था और जब सुषुप्ति से उठे तो फिर बाहर निकल आया। यह इनकी एकता हो गई। 'अतो वा सामान्यादेकत्वं प्राज्ञमकारयोः।' यह प्राज्ञ-मकार की सामान्यतः एकता हो गई।

इसको अनुभव करने वाले व्यक्ति को फल क्या है? ऐसा व्यक्ति संसार और इस जगत् के बारे में जो भी जानता है उसको यथार्थ रूप से जान लेता है। इससे पता लगता है कि हमारे ऋषि लोगों ने प्राचीन काल में बिना टेलिविज़न, टेलिस्कोप, माइक्रोस्कोप इत्यादि सभी साधनों के जो बातें कहीं, उन बातों को आज का विज्ञान भी सिद्ध कर रहा है। हमारा सृष्टि संवत् इस समय एक अरब ९६ करोड़वाँ साल चल रहा है। आधुनिक विज्ञान भी दो अरब के आप पास कहता है। इतनी बड़ी संख्या के अन्दर दो चार करोड़ का फरक फरक नहीं माना जाता, और वह भी वैज्ञानिक निश्चित नहीं कह रहे हैं, दो अरब के आप पास कह रहे हैं। जब इतने सारे प्रयोग करके आस पास के निर्णय पर पहुँचे और हमारे ऋषियों ने बिना प्रयोग किये एक दम निश्चित तिथि (definite date) बता दी तो हमने उसे प्रमाण मान लिया। लेकिन हम लोगों के अन्दर गुलामी यह है कि जब तक विदेशी का ठप्पा न लगे तब तक किसी चीज को सच्चा नहीं मानते। तीस चालीस साल पहले यह विचार वैज्ञानिकों को नहीं था कि सृष्टि का पता कैसे लगाया जाये, जब कार्बन प्रिंसिपल को जाना तब पता लगा। हमारे यहाँ डेढ़ सौ साल के छपे हुए पंचांग मौजूद हैं। कई बार लोग कहते हैं कि उन्होंने कहा तब आपने कहा लेकिन

उनके पास तो उस समय वह विज्ञान ही नहीं था। इतनी बातों का यथार्थ पता ऋषियों ने कैसे लगा लिया? ऐसे ही अनेक चीज़ें हैं। ज्ञान तन्तु किस प्रकार ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान ग्रहण करते हैं इसके बारे में जो हम लोगों का सिद्धान्त है वह अब इन लोगों की समझ में आ रहा है। उससे पहले उन्हें पता नहीं लगता था कि कैसे होते हैं। हमारे ऋषियों के पास माइक्रोस्कोप इत्यादि कोई साधन नहीं थे और न वे जानवरों को मारते थे। यहाँ तो जब हज़ारों को मारें तब एक नस का पता लगता है। उन ऋषियों को कैसे पता लगता था? उसका यही साधन उनके पास था 'मिनोति ह वह इदं सर्वं जगद्याथात्म्यं जानातीत्यर्थः।' यहाँ तो केवल एक उपाय बताया है वैसे हमारे शास्त्रों के अन्दर नाभिचक्र के ध्यान से शरीर विज्ञान का, ध्रुव के ऊपर ध्यान से नक्षत्र आदियों का, नदी, पृथ्वी इत्यादि की गति का ज्ञान फल कहा है। ये सोलहवीं सत्रहवीं शताब्दी में पृथ्वी को स्थिर मानने वाले थे और अपने यहाँ स्वयं वेद कहता है 'सूर्य आत्मा जगतः तस्थुषश्च'। इससे ज्यादा स्पष्ट प्रमाण और कहाँ से मिलेगा? ये सब चीज़ें उन्होंने औजारों से नहीं जानीं, ध्यान की प्रक्रियाओं से जान लीं।

'अपीतिश्च जगत्कारणात्मा भवतीत्यर्थः' इसके द्वारा एक फल और बताया कि यह जगत् के कारण परमात्मा के साथ लीन हो जाता है। ध्यान की गंभीरता जब पूर्ण हो जाती है तो एक तो उसे संसार में सब चीज़ों का पता लग जाता है जो यथार्थ बात है, और दूसरा फल यह है कि यह अपने को परमात्मा से बिल्कुल एक कर देता है। इसका अहम् नष्ट हो जाता है।

'अत्रावान्तरफलवचनं प्रधानसाधनस्तुत्यर्थम्' एक शंका पहले किसी के मन में आई थी उसका जवाब यहाँ भगवान् भाष्यकारों ने दे दिया। शंका थी कि क्या अ, उ, म का अलग ध्यान हो सकता है? प्रधान साधन तो ओंकार का ध्यान हुआ जो ऊपर बता दिया और उसकी स्तुति में कह देते हैं कि इसके एक अंग के ध्यान का भी इतना बड़ा फल है। अवान्तर फल बताने का तात्पर्य यह होता है कि अवान्तर फल ही इतना बड़ा है तो प्रधान का कहना ही क्या? इसलिये 'प्रधानसाधनस्तुत्यर्थम्।' यह नहीं कि केवल अ, उ, म का ध्यान करो, वरन् तीनों का इकट्ठा करो, सारा ही फल इकट्ठा होगा। प्रधान साधन की स्तुति के लिये यह कह रहे हैं। जैसे लोक में भी बच्चे को कह देते हैं कि 'बेटा! मैट्रिक पास करेगा तो डिस्ट्रिक्ट कलेक्टर बन जायेगा।' जूते के तले घिस जायेंगे, नौकरी नहीं मिलेगी! यह बात तो बच्चे को नहीं सुनाते; इसी प्रकार यहाँ कह दिया कि अकार आदि एक एक का इतना बड़ा फल है तो ओंकार के फल का क्या कहना, इस स्तुति के लिये यह बता दिया।।११।।

●

कारिका उन्नीस से तेइस

विश्वस्यात्वविवक्षायामादिसामान्यमुत्कटम् ।
मात्रासंप्रतिपत्तौ स्यादाप्तिसामान्यमेव च ।।१९।।

अब भगवान् गौडपाद इन श्रुतियों की व्याख्या करते हैं 'अत्रैते श्लोका भवन्ति'। विश्व की अता बताई। मूल श्रुति में कहा था वैश्वानर और यहाँ कह दिया विश्व। मूल में प्रथम मात्रा को वैश्वानर कहा था और यहाँ विश्व कह दिया। जब हम वास्तविक दृष्टि से विचार करते हैं तब तो एक समष्टि परमेश्वर को छोड़कर और कोई भी तत्त्व चेतन नहीं हो सकता। जैसे गर्मी अग्नि में ही रहेगी। अगर पानी में भी गर्मी है तो पानी में अग्नि है और उस अग्नि में गर्मी है। लोहे में गर्मी है तो लोहे में अग्नि के परमाणु हैं और उस अग्नि में गर्मी है। विचार दृष्टि से तो जहाँ जहाँ गर्मी है वहाँ अग्नि की ही गर्मी है। लेकिन जब दोनों इकट्ठे होकर नज़र आते हैं तो साधारण आदमी यह समझ लेता है कि लोहा गरम है, पानी गरम है। अर्थात् भ्रम से तो दूसरी चीज़ों में गर्मी रह सकती है, विवेक से केवल अग्नि में ही गर्मी रहेगी। इसी प्रकार भ्रम से तो चेतना जीव में भी रहती है, भ्रम से चेतना अहंकार में भी रहती है। इन सब चेतनताओं के अन्दर भ्रमरूपता है।

वस्तुतः चेतनता तो केवल परमात्मा में ही रहती है। विवेकी तो इस बात को जानता है कि यदि शरीर में चेतनता दीख रही है तो परमात्मा है इसीलिये; परमात्मा और शरीर वहाँ तादात्म्याध्यास से ऐसे एकमेक हो गये हैं जैसे लोहे में आग और लोहा, कि लगता है शरीर चेतन है। इसी प्रकार अविवेक से लगता है इन्द्रियाँ चेतन हैं। इसीलिये आदमी कई बार कह देता है कि 'मैं इस बात को सुनना नहीं चाहता था लेकिन क्या करूँ, कान ने बात सुन ही ली।' क्या मान रहा है? कान ऐसा चेतन है जो मेरी आज्ञा के बिना सुन लेता है। यह बिल्कुल गलत बात है। यदि मेरी चेतना वहाँ न होती तो कान नहीं सुन सकता था। यदि चेतना को किसी अन्य चीज़ के अन्दर एकाग्र कर लो तो बात तो क्या, पुल पर से रेल चली जाये तो सुनाई नहीं देता! लेकिन व्यवहार यह करते हैं कि कान ने सुन लिया। इसी प्रकार मन में भी चेतनता का व्यवहार करते हैं। 'मेरा मन नहीं मानता, चाहता तो हूँ कि केवल परमात्मा का भजन-चिंतन करूँ, लेकिन मन नहीं लगता।' मन कोई चेतन है कि नहीं लगता? मन तो जड पदार्थ है। यहाँ मन के साथ अपनी एकता की हुई है इसलिये वह समझता है कि मन चेतन पदार्थ है।

उससे भी अगे चलते हैं तो अहम् को चेतन तो प्रायः अच्छे अच्छे दार्शनिक लोग भी मान लेते हैं। लेकिन विचार करके देखो तो वहाँ भी अहम् में परमात्मा है तो चेतना है, नहीं तो उसमें भी नहीं। यह ठीक है कि अहम् इतना नजदीक है कि उसको अलग

करना ज़रा कठिन होता है लेकिन गहरी नींद में तो प्रत्यक्ष है कि परमात्मा है, चेतनता है, लेकिन अहम् का कोई ठिकाना वहाँ नहीं है। इसलिये विवेक की दृष्टि से जहाँ जहाँ चेतनता वहाँ वहाँ परमात्मा, और भ्रम की, तादात्म्याध्यास की, दृष्टि से अन्य चीज़ों में चेतनता नज़र आ जाती है।

कई बार मनुष्य शरीर से बाहर भी चेतनता को ले जाते हैं। जैसे कहते हैं 'किनारा गिरना चाहता है' या पेड़ नीचे से सड़ गया हो तो कहते हैं कि 'अब यह पेड़ गिरना ही चाहता है।' पेड़ थोड़े ही गिरना चाह रहा है। लेकिन वहाँ भी चेतनता का अध्यास कर देते हैं। चेतनता को जहाँ जहाँ परमात्मा से अध्यस्त करोगे वहाँ वहाँ उसकी प्रतीति होती चली जायेगी। 'आकाश क्रोधित हो रहा है,' आकाश जब लाल हो तो कई बार आदमी ऐसा कह देता है। या चन्द्रमा के चक्र में कुछ ललाई हो तो कहते हैं कि 'चन्द्रमा कैसा लाल है, लगता है इस पक्ष में कुछ अनिष्ट होगा क्योंकि चन्द्रमा लाल है।' चन्द्रमा को क्या क्रोध आना है, लेकिन उसके ऊपर हम चेतनता का आरोप कर लेते हैं। इसी प्रकार सर्वत्र समझ लेना। ग्रहों में चेतनता का आरोप हो जाता है। यहाँ तक तो ठीक है कि ग्रह हमको समय बताते हैं लेकिन लोग मानते हैं कि मंगल उसके ऊपर नाराज़ हो गया है, मंगल की क्रूर दृष्टि है। वहाँ भी चेतनता का अध्यारोप है। यहाँ तक तो बात समझ में आ सकती है कि मंगल की अमुक परिस्थिति में इस आदमी का अनिष्ट होगा लेकिन वह अनिष्ट अपने पुण्य पाप से होना है, मंगल को गुस्सा थोड़े ही आना है, वह तो कर्मों के अनुसार समय का संकेत कर देता है।

युग पर भी चेतना का आरोप होता है। 'आजकल का तो समय ही लोगों को बिगाड़ रहा है।' हम उनसे कहते हैं कि समय को कहाँ किसी को बिगाड़ते देखा, किस के कान में श्रीमान् समय जी पड़े? बेचारे समय ने कुछ नहीं किया, लेकिन वहाँ चेतनता का आरोप हो जाता है। इस प्रकार चेतनों का आरोप शरीर से बाहर भी होता जाता है। विवेक की दृष्टि से तो सिवाय परमात्मा के और कोई चेतन नहीं।

उपनिषद् में विवेक की दृष्टि से इसीलिये जाग्रत् के अभिमानी को सीधा परमात्मा और वैश्वानर कह दिया। लेकिन यह बात शूरू शुरू में मनुष्य की समझ में नहीं आती। है तो एकमात्र चेतन परमात्मा। यहाँ तक तो समझ में आ जाता है कि 'तू चेतन है'। लेकिन उसको सच्ची बात कहें कि तू भी चेतन नहीं, तो उसके बात बैठती नहीं है, घबरा जाता है।

जैसे लोक में देखा जाता है कि जिसके पास जितनी सम्पत्ति है वह न्यूनतम (minimum) हुआ करती है। उससे ज्यादा वाले की सम्पत्ति तो सरकार को लेनी ही चाहिये! राजाओं की सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण ठीक मानने वाले से कहो 'तुम्हारे भी तीन मकान हैं, चार दुकाने हैं, दो कारखाने हैं। उन्हें भी तो सरकार को लेना चाहिये?' तो कहता

है 'नहीं जी इतनी सम्पत्ति का अधिकार तो व्यक्ति को होना ही चाहिये। लेकिन वह न्यूनतम् तो हरेक का अलग अलग होगा। जिसके पास एक हज़ार गज ज़मीन है वह कहता है कि 'इससे कम में तो आदमी रह ही कैसे सकता है, इतनी तो होनी ही चाहिये।' एक बार हम कलकत्ते में थे। उस समय कम्युनिस्टों की सरकार थी, ज्योति बसु मुख्यमंत्री थे। बड़ा झगड़ा इस बात का चल रहा था कि बहुत से लोग कहते हैं कि अर्बन प्रापर्टी सीलिंग पाँच लाख होनी चाहिये, उनका कहना था कि सीलिंग दस लाख होनी चाहिये। उस समय असैम्बली में बड़ा विवाद (discussion) चल रहा था। हमने किसी से कहा 'इसमें क्या रखा है, आँख मीच कर कही अंगुली रख दो। कोई भी सीलिंग बनानी है, बना लो, वादविवाद से क्या होना है? साधारण जनता के पास तो बीस हजार की भी है नहीं और बड़े आदमियों के पास करोड़ों की भी है। कोई संख्या ही निश्चित करनी है तो आँख मीच कर निश्चित कर दो। इसमें विवाद क्या करना है?' किसी व्यक्ति ने बताया कि उसमें झगड़ा यह है कि मुख्यमंत्री का मकान दस लाख का घोषित है। सरकार में कोई रैडिकल सोशलिस्ट है तो कोई फार्वर्ड ब्लाक का सदस्य है। बाकी दूसरी पार्टी वाले सोचते हैं कि इसका मकान जरूर टूटे। ज्योति बसु स्वयं और उसकी पार्टी वाले चाहते हैं कि हमारे मकान बने रहें। झगड़ा इस बात का है। वह झगड़ा होते होते वह मिनिस्ट्री ही खत्म हो गई, न दस लाख और न पाँच लाख निश्चित हुआ।

हरेक व्यक्ति वहाँ तक तो मान लेता है जहाँ तक उसकी अपनी सीमा नहीं आती। इसलिये बुद्धिमान् व्यक्ति इकट्ठे ही नहीं मारते। इसी प्रकार वस्तुतः वेदांत का कहना है कि सिवाय परमात्मा के चेतन नहीं, सच्ची बात तो यह है। लेकिन सीधा ही यदि यह कहें तो सब घबरा जाते हैं, इसलिये उनसे कहते हैं कि 'हे जीव! तू चेतन है और एक परमात्मा चेतन है, बाकी कोई चेतन नहीं है।' सुनने वाले तो सब जीव हुए, इसलिये उन्हें संतोष हो जाता है कि अपने तो बचे, संसार ही झूठा सिद्ध हो रहा है। अब उसके बाद वहाँ से चलकर जब धीरे धीरे आगे बढ़ेगा तो पता लगेगा कि जैसे संसार झूठा है वैसे ही मैं जीव भी झूठा हूँ। धीरे धीरे विवेक करके वहाँ पहुँच जाता है तो पता लग जाता है। इसलिये श्रुति ने तो वैश्वानर शब्द का प्रयोग परमेश्वर-वाचक किया और यहाँ कारिका के अन्दर जीव-वाचक विश्व कहा। दोनों में विरोध नहीं है क्योंकि श्रुति ने जो कहा वह परम सत्य कहा और कारिका में जो कहा गया वह व्यावहारिक सत्य है।

'विश्वस्य अत्वविवक्षायाम्' विश्व को अ कहने की विवक्षा है। किसी बात को बताने की जो इच्छा होती है उसको विवक्षा कहते हैं। यह बात सामने वाला समझे, इस भावना से जो कहा जाता है, उसके पीछे जो इच्छा है उसको विवक्षा कहते हैं। शब्द के प्रयोग दोनों तरह से होते हैं। एक प्रयोग ऐसा होता है कि सामने वाला न समझे। हमारे एक पंडित थे, वे कहीं किसी जैन साधु को पढ़ाते थे। एक बार उनसे बातचीत हो रही थी, हमने कहा कि 'आप एक तरफ जैनों का खण्डन करते हो और फिर उसे पढ़ाते हो, यह

कैसी विरुद्ध बात है?' वे हँस पड़े और कहने लगे कि 'इसीलिये तो पढ़ाता हूँ कि चाहे उसे बीस साल पढ़ाता रहूँ उसकी कुछ समझ में नहीं आना है!' एक पढ़ाया ही इसलिये जाता है कि शब्द का, युक्तियों का ऐसा बवंडर बना दिया जाता है कि सुनने वाला समझता है कि मुझे बहुत कुछ बताया जा रहा है और अन्त में उससे पूछो कि हाथ क्या पड़ा? तो कुछ नहीं। जैसे व्हिप्ड क्रीम होती है जिसे यू. पी. में दौलत की चाट कहते हैं। दीखता तो है कि इतनी बड़ी क्रीम रखी हुई है लेकिन अन्दर से पोल ही पोल है, माल कुछ नहीं है। बहुत से लोग ऐसा करते हैं। यह तो आप लोगों को भी अनुभव होगा ही कि राजनैतिक नेता का भाषण तीन घण्टे तक सुनो और घर जाकर कभी सोचो कि क्या कहा, तो कुछ नहीं निकलना। एक यह बोलने का तरीका हुआ।

दूसरा तरीका है कि विवक्षा हुई, कि जो बात कह रहे हो वह ठीक तरह से दूसरा समझे। यदि हमने तुमको एक किताब पढ़ाई और ठीक ढंग से पढ़ाई तो आगे की चार किताबें तुम खुद बाँच लो तब मानेंगे कि हमने ठीक पढ़ाया। या यदि एक चौथाई किताब हमने पढ़ाई और बाकी तीन चौथाई तुम खुद पढ़कर समझ लो तब तो हमारा पढ़ाना सफल हुआ। मनुष्य की बुद्धि पढ़ाने से चौगुनी बढ़ जानी चाहिये। ज्ञान पानी के ऊपर तेल की बिन्दु की तरह होता है। जैसे पानी पर तेल की बूँद डालो तो तेल चारों तरफ फैलता है। यही ज्ञान का स्वरूप है।

ज्ञान कभी भी कबूतर खाने के जैसा लोगों के दिमाग में नहीं रहता। बहुत से लोगों का दिमाग कबूतर खाना होता है; जैसे एक एक खाने में कबूतर बैठ जाता है ऐसे ही दिमाग के एक एक खाने में फिज़िक्स, कैमिस्ट्री, साइकालाजी, सोश्यालाजी, पालिटिकल साइंस सब पढ़कर भर लिये जाते हैं, दिमाग एक कबूतर खाना बना रहता है। एक एक का प्रश्न पूछो तो जवाब दे देंगे लेकिन उन ज्ञानों को मिलाकर जो एक समूहालंबन ज्ञान होना चाहिये वह उन्हें यावज्जीवन नहीं होता। इसलिये दो उलटी बातों को मानकर भी चलते रहेंगे। कभी उनके मन में ही नहीं आयेगा कि इसमें कोई विरोध है या नहीं। यह ज्ञान का लक्षण नहीं है। इसको हमारे यहाँ ज्ञान नहीं कहते। ज्ञान वह होता है जो तेल की तरह फैलता है अर्थात् यदि तुमने किसी विषय में एक बात को जाना तो बाकी सब विषयों के अन्दर उसका प्रवेश हो जाता है वह फैल जाता है। शास्त्रकार इसीलिये कहते हैं कि मन कोई ऐसी चीज़ नहीं है कि ध्यान काल में तुम्हारे से कुछ और हो जाये, पूजाकाल में कुछ और, घर के व्यवहार में कुछ और, बाज़ार में कुछ और हो जाये, सरकारी व्यवहार में कुछ और ही हो जाये, ऐसा नहीं हो सकता। वह तो एक ही चीज़ है। यदि तुम्हारा निश्चय है कि परमात्मा सत्यरूप है तो तुम किसी से भी व्यवहार करोगे तो असत्यता का व्यवहार नहीं कर सकते, क्योंकि वह तो यदि ज्ञान ठीक हुआ तो सब जगह फैल जायेगा। ज्ञान को कोई रोक नहीं सकता। अंग्रेजी में कहते हैं कि ज्ञान को compartmentalize नहीं कर सकते। जो compartmentalization होता है वह सूचना का, information का होता है और सूचनामात्र ज्ञान नहीं हुआ करती।

यहाँ अ-पने को कहने की इच्छा का तात्पर्य है कि विश्व की अकारता तुम्हारे जीवन में फैल जाये। विचार करो कि अ का मतलब क्या होता है? अ मायने नहीं। संस्कृत में न को ही विशिष्ट परिस्थितियों में अ हो जाता है।

विद्या अविद्या, ज्ञान अज्ञान, मानवीय अमानवीय में सर्वत्र अ का मतलब 'नहीं' होता है। नहीं का मतलब भी क्या है? जब कहते हो अज्ञान तो 'ज्ञान नहीं' का मतलब क्या हुआ? जिसको तुम ज्ञान समझ रहे हो वह ज्ञान नहीं है, जिसको तुम विद्या समझ रहे हो वह विद्या नहीं है, जिसको तुम मानवीय समझ रहे हो वह मानवीय नहीं है। शेर किसी गाय को चीर कर खाता है तो कोई नहीं कहता कि यह शेर अमानवीय है। मनुष्य किसी दूसरे प्राणी पर हमला करके उसे चीरता है तो कहते हैं कि यह अमानवीय व्यवहार है। इसी प्रकार ईंट के सामने बैठकर घण्टा भर प्रवचन करो तो उसके बाद यह नहीं कहते कि 'यह ईंट महामूर्ख है मैंने तो बड़ा प्रवचन किया, यह कुछ समझी ही नहीं।' यदि कोई मनुष्य सामने बैठा हुआ है और उसको तुमने घण्टा भर उपदेश किया और वह कुछ नहीं समझा, तो कहते हो कि 'यह महा अज्ञानी या महामूर्ख है, इतना समझाया, फिर भी इसकी कुछ समझ में नहीं आया।' ईंट में ज्ञान की सम्भावना नहीं, उसमें चूँकि ज्ञानशक्ति नहीं इसलिये वह अज्ञानी भी नहीं। शेर के अन्दर मानव की दृष्टि नहीं इसलिये वह अमानवीय भी नहीं। नहीं वहाँ हुआ करता है जहाँ वह चीज़ किसी न किसी रूप में अव्यक्त या व्यक्त रूप में मौजूद हो सके, वहीं उसका निषेध कर सकते हैं। अकार का यह अर्थ ठीक से समझना क्योंकि शास्त्रों में कई जगह ऐसा आ जाता है कि जो व्यक्ति ऐसा व्यवहार करे, वह ब्राह्मण भी हो तो उसे ब्राह्मण मत समझना। ऐसे श्लोकों को लेकर लोग कहते हैं कि इससे पता लगा कि मनुष्य के गुण से ही जाति होती है, जन्म से थोड़े ही होती है। लेकिन विचार करके देखो कि क्या कहा जा रहा है? 'यदि वह ब्राह्मण भी हो तो ब्राह्मण मत समझना;' 'ब्राह्मण भी हो' अर्थात् जन्म से ब्राह्मण तो उसे मान रहे हैं, तभी तो कह रहे हैं कि उसे ब्राह्मण मत समझना। यह थोड़े ही कहा कि यदि वह शूद्र भी हो तो उसे ब्राह्मण मत समझना। जन्म से जाति जब मानोगे तभी निषेध बनेगा, नहीं तो निषेध ही नहीं बनेगा। इसी प्रकार यदि अमुक व्यक्ति में अमुक गुण हो और वह शूद्र भी हो तो ब्राह्मण समझना अर्थात् जन्म से शूद्र को स्वीकार किया जाता है, नहीं तो वाक्य का अर्थ ही नहीं बनेगा। लोग प्रमाण में ऐसे श्लोक उद्धृत कर देते हैं और साधारण आदमी को, जो भाषा के नियमों को नहीं जानता, भ्रम हो जाता है। जैसे कहते हैं 'वह कोई आदमी है।' मायने आदमी तो है लेकिन आदमी के गुण उसमें नहीं है।

ठीक इसी प्रकार विश्व के अन्दर अत्व इसलिये कह रहे हैं कि विश्व के अन्दर जीवभाव की प्रतीति, चेतनता का प्रतीति है लेकिन उस चेतनता का स्वरूप उस जीव में स्वयं नहीं है, परमात्मा के कारण आया हुआ है, यह समझना है। अपने अन्दर जो

चेतनता की प्रतीति हो रही है वह हमारे कारण नहीं बल्कि हमारे अन्दर बैठा हुआ जो अन्तर्यामी नारायण है, उसके कारण है। इसलिये अपने जीवभाव की चेतनता के अन्दर निषेध बताना श्रुति का तात्पर्य है। ठीक इसी प्रकार जैसे जीव वैसे ही जाग्रत् संसार। जाग्रत् सारा संसार दीख रहा है, अनुभव में आ रहा है लेकिन अनुभव में आने पर भी यह जैसा है वैसा नहीं दीखता है। है तो यह सारा का सारा ब्रह्मरूप और दीख रहा है देवदत्त, यज्ञदत्त, रुद्रदत्त इत्यादि रूप से। है तो वहाँ केवल ब्रह्म। जैसे हमें अपने जीवभाव में चेतनता दीखती है लेकिन वह चेतनता नहीं, ऐसे ही संसार के अन्दर जो हमको सत्ता दीख रही है, वह सत्ता संसार में नहीं है। इन दोनों का निषेध करना है। इस बात को श्रुति समझाना चाह रही है।

श्रुति में जो ॐ में अकार पद दिया वह इस बात को समझाने के लिये कि मैं और जगत् दोनों जैसे दीख रहे हैं वैसे नहीं हैं। यह नहीं कह रहे हैं कि नहीं हैं, यह ख्याल रखना। यही सूक्ष्म फरक बौद्धों में और हम सनातनियों में है। बौद्ध कहता है कि संसार और मैं नहीं हूँ। मैं नहीं इसलिये अनात्मवाद, संसार नहीं इसलिये क्षणिक विज्ञानवाद। बौद्धों का कहना है कि न आत्मा है और न बाह्य जगत् है, वेदांती यह कभी नहीं कहता, उसका केवल यह कहना है कि जैसा तुम मैं को समझ रहे हो वह वैसा नहीं और जैसा तुम जगत् को समझ रहे हो वैसा वह नहीं है। कैसा है? बस इसी बात को जानना है। जानोगे तब पता लगेगा ब्रह्म है। 'मैं' भी ब्रह्म है और जगत् भी ब्रह्म है। 'अहम् ब्रह्म अस्मि' और 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'। यह तो जब पता लगेगा तब लगेगा लेकिन इतना तो पहले समझ लेना है कि अब तक जो समझते रहे हैं, वह भूल है। यदि यह पता लग गया कि जो भी समझा वह भूल है तो रुपये में बारह आने काम बन गया। मनुष्य को जो बात समझ में नहीं आती, उसका सबसे प्रधान कारण यह है कि 'मैं भूल में हूँ' इस बात को कोई दिल से नहीं मानता। ऊपर से तो सब कह देते हैं कि गलती हो गई लेकिन हृदय से कोई नहीं मानता कि मुझसे गलती हुई है। बाकी सबसे गलती हो सकती है, मुझ से कैसे गलती हो? यदि यह समझ में आ गया कि मेरी समझ में भूल है तो रुपये में आठ आने नहीं, बारह आने काम बन गया।

एक महात्मा के पास कोई बड़े भारी राजनैतिक नेता, आजकल के मंत्री, राजा या गवर्नर समझ लो, गये और कहा महाराज! आप कुछ उपदेश दें। महात्मा ने विचार किया कि इसको क्या उपदेश देना है, बेकार ही है। महात्मा ने उससे कहा 'पहले चाय पी लें बाद में उपदेश कर देंगे।' महात्मा ने चाय बनाई। चाय बनाकर केतली से उसके गिलास में चाय डालने लगे। उसका गिलास भर गया, फिर भी डालते रहे। उसने कहा 'बस करिये।' महात्मा ने कहा— 'बड़े आदमी हो, थोड़ी और डालने दो।' कहने लगा 'ऊपर तक भर गया है, अब उसमें रहेगी थोड़े ही।' महात्मा ने कहा 'अच्छा, भर जाने के बाद नहीं रहेगी?' कहा 'कैसे रह सकती है?' महात्मा ने कहा 'ठीक है।' उन्होंने अपनी

चाय भी डाल ली। दोनों ने चाय पी ली। चाय पीने के बाद थोड़ी देर बैठे रहे। लीडरों को फुर्सत कहाँ होती है, वे तो चाहते हैं कि रकाब में पैर और ब्रह्म ज्ञान हो जाये। कहा 'स्वामी जी उपदेश करें।' महात्मा ने कहा 'उपदेश हो गया, अब क्या होना है।' कहने लगे 'आप कुछ नहीं बोले।' महात्मा ने कहा 'तुमने खुद ही उपदेश कर दिया कि भरे हुए गिलास में और डालना बेकार है। इसी तरह तुम्हारे दिमाग में सब बातें भरी हुई हैं, मेरे उपदेश को वहाँ बैठने की जगह कहाँ है?' वह समझ गया कि महात्मा ठीक कह रहे हैं।

मनुष्य के अन्दर अगर यह समझ आ गई कि मेरी समझ ठीक नहीं है तब गिलास खाली हुआ, तभी उसमें नई बात को बैठने में देर नहीं लगती। लेकिन जब तक उसके मन में यह निश्चय नहीं हुआ कि मेरी समझ भूल है, तब तक बैठाना बड़ा कठिन है। हमारे शास्त्रों के अन्दर जो बड़े बड़े शास्त्रार्थ हैं उनका एकमात्र प्रयोजन इतना ही है कि सामने जो व्यक्ति आया है वह यह मान रहा है कि 'मैं समझा हुआ हूँ', इसलिये पहले वह जो बोले उसकी बातें काटनी पड़ती हैं, तब उसके मन का जो गर्व है वह खत्म हो जाता है। आजकल शास्त्रार्थ-परम्परा नहीं रहने से ही ज्ञान नहीं हो पाता क्योंकि आजकल यह मान लिया गया है कि कोई आदमी आकर गलत बात भी कहे तो उसे 'हाँ जी' कर दो, नहीं तो वह सभ्यता का लक्षण नहीं माना जाता! जैसे घर में कोई मेहमान आ जाये, बेवकूफी की बात कहे और बच्चा कह दे कि 'यह क्या बेवकूफी की बात करते हो,' तो बच्चे की तरफ माँ बाप लाल आँखें करके घूरते हैं कि यह क्या करता है, मेहमान आये हैं। बच्चा ठीक ही कर रहा है, क्योंकि गलत को गलत कहना ही सभ्यता का लक्षण है। इसी प्रकार मनुष्य कहता है कि जो अपना सिद्धान्त हो उसे कह दो, दूसरे की गलती क्यों बताओ? जब तक दूसरे की गलती नहीं बताओगे तब तक उसका अभिमान नष्ट ही नहीं होगा।

किसी के मन में जो यह बैठा हुआ है कि 'मैं ठीक समझा हुआ हूँ', वह कैसे नष्ट हो? वह तभी नष्ट होगा जब उसकी गलती को बताओगे। अन्यथा नतीजा यह होता है कि घोड़े के अण्डे बिकते रहते हैं। एक बेचारा गरीब आदमी था, वह अपने गाँव में देखता रहता था कि गाँव का एक ठाकुर बढ़िया घोड़े पर बैठकर जाता है। उसने सोचा कि अपने पास भी एक घोड़ा हो तो अच्छा हो। उसने सोचा कि मुर्गी महँगी होती है, अण्डा सस्ता होता है, ऐसे ही घोड़े का अण्डा सस्ता ले आयें समय से तैयार हो जायेगा। गाँव में हाट (बाजार) लगती थी, वहाँ पहुँच गया और दुकानदार से कहा 'घोड़े का अण्डा चाहिये।' दुकानदार ने कहा 'घोड़े का अण्डा नहीं होता।' उसने कहा 'वाह! बिना अण्डे के घोड़ा कहाँ से आता होगा? तुम्हारे पास नहीं है तो ना करो।' दस पाँच दुकानों से पूछने के बाद एक दुकान पर पहुँचा, वह दुकानदार बुद्धिमान् था। वह समझ गया कि यह कोई बेवकूफ है। उसने कहा 'घ्रोड़े का अण्डा है तो सही लेकिन बड़ा महँगा आता

है।' उसने पूछा 'कितने का है?' दुकानदार ने कहा 'तेरे पास कितने रुपये हैं?' उसने कहा 'पाँच रुपये हैं।' दुकानदार ने कहा 'वह तो दस रुपये में मिलता है।' कहा 'मेरे पास तो पाँच ही रुपये हैं।' दुकानदार समझ गया कि पाँच ही हैं क्योंकि बुद्धिमान् दुकानदार भाँप जाता है। हमारे पण्डे भी इसी प्रकार भाँप जाते हैं। यह भी बुद्धि की एक बड़ी विलक्षण शक्ति है। एक पण्डे से किसी ने पूछा 'तुमने जीवन में कोई भूल की है?' उसने कहा 'एक बार की है, वह यह कि एक सेठ आया था पाँच हजार रुपये लेकर और मैंने उससे तीन ही हजार माँगे। बस यही एक भूल हुई है, बाकी जीवन भर ठीक रहा, मेरा हिसाब कभी गड़बड़ नहीं रहा।' ऐसे ही उस दुकानदार ने कहा 'मिलता तो दस रुपये में है लेकिन तुम्हें पाँच में ही दे दूँगा, अच्छी तरह सेना, खराब नहीं होने देना।' दुकानदार के पास एक सड़ा हुआ कुम्हड़ा था, वह अन्दर गया और उसपर सफेद चूना लगाकर ले आया और उसे दे दिया। उसने सोचा मुर्गी छोटी होती है तो अण्डा भी छोटा, घोड़ा बड़ा होता है तो उसका अण्डा भी बड़ा होना चाहिये। घर ले आया। लेकिन सेने से क्या होना था! सड़ा हुआ था ही, दो एक दिन में पीला पड़ गया और कुम्हड़े में से पीला पीला रस निकल गया। अण्डे में से भी पीला ही निकलता है, उसने कहा 'हाय! अण्डा फूट गया।'

जैसे अण्डे का खरीददार मिल जाये तो कोई बिकवाल भी मिल जाता है, इसी प्रकार लोग गलत चीज़ों के ऊपर चाहते हैं कि कोई हाँ करने वाला मिल जाये तो आजकल तरह तरह के मत मतांतर चल गये हैं जो कह देते हैं कि बिल्कुल ठीक है। कोई कहता है कि मांस खाना तो मेरे से नहीं छूट सकता। हम कहते हैं कि अध्यात्म-साधना में जाना है तो यह तो छोड़ना ही पड़ेगा। तब तक कोई सुन लेता है कि यह नहीं छोड़ सकता। वह कहता है 'अरे! इससे क्या होता है, मन चंगा तो कठौती में गंगा। खाये जाओ, कोई फरक नहीं पड़ता। यह तो शरीर खाता है मन थोड़े ही खाता है।' वह सोचता है कि इन्होंने ठीक कहा। इसी प्रकार कोई शराब पीने का ठप्पा लगवा लेता है, कोई टैक्स ईव्हेज़न का, कोई ब्लैकमार्किटिंग का ठप्पा लगवा लेता है, जिसको जो चाहिये, वह ठप्पा लगवा लेता है, उसे ठप्पा लगाने वाले मिल भी जाते हैं। इसलिये आवश्यक हो जाता है कि विवेकी इस बात को बताये। यदि किसी को ज्ञान कराना चाहते हैं तो उसे बतायें कि इन चीज़ों के अन्दर वस्तुतः खराबी यह है, नहीं तो काम नहीं होता। इसलिये विवक्षा का मतलब हो गया कि सामने वाला उस चीज़ को ठीक समझे इस इच्छा से वाक्य कहा जाये, उसमें चाहे कहीं कड़वाहट भी हो, कठोरता भी हो। यही यहाँ विश्व अर्थात् जीव और जगत् के निषेध करने में श्रुति का तात्पर्य है।

इस अत्व विवक्षा को स्पष्ट करने के लिये साधन बताया 'आदिसामान्यमुत्कटम्।' श्रुति ने कहा था 'अकारः प्रथमा मात्रा आप्तेः आदिमत्वाद्' जैसे जाग्रत् अवस्था आदि, वैसे ही ओंकार में अकार आदि; श्रुति ने सीधा ही कहा था कि अकार आदि है। लेकिन

आदि क्यों है? यह कारिका में बताया 'आदिसामान्यम् उत्कटम्' आदि की जो समानता बताई गई वह इस अकार को बताने के लिये है। जाग्रत् अवस्था के अन्दर बीजरूप सुषुप्ति और कल्पनारूप स्वप्न का निषेध किया जाता है। जाग्रत् अवस्था के अन्दर बीजरूप सुषुप्ति नहीं, तभी जाग्रत् होगा, और कल्पनारूप या वासनारूप स्वप्न नहीं, तभी जाग्रत् अवस्था होगी। जैसे जाग्रत् में आने का मतलब है बीज और वासना से रहित होना, ऐसी ही परमात्मा की प्राप्ति तब होगी जब बीज और वासनाओं से रहित अपने को बनाओगे उसके बिना नहीं होगी। बीज हुआ जीव के अन्दर सत्यता का भाव, जब तक यह बीज है तब तक आगे नहीं बढ़ सकता। और विश्व के अन्दर या बाह्य पदार्थों के अन्दर भी सत्यता का बीज है, क्योंकि हमारे मन में वासनायें हैं, इसलिये हम संसार को सत्य बनाये रखना चाहते हैं। आदित्व में यह हेतु दिया कि जाग्रत् अवस्था आदि अवस्था है, अर्थात् बीजभाव और वासनाभाव से रहित है चूँकि आगे जाग्रत् के कारण ही स्वप्न पैदा होना है और जाग्रत् के कारण ही सुषुप्ति पैदा होनी है, इसलिये यह आदि हो गई। दूसरे जाग्रत् में ही आदि अर्थात् सबसे पहले संसार का और जीवभाव का निषेध करना है। साधना जाग्रत् में होगी। जाग्रत् में यदि साधना नहीं करोगे तो फिर स्वप्न या सुषुप्ति में साधना नहीं होनी है। जाग्रत् में साधना का परिपाक होने से तो स्वप्न में भी वह वृत्ति चलती रहेगी। यदि पक जाती है तो सुषुप्ति में भी चलती है।

अगर किसी आदमी ने ज़प का दीर्घ काल तक अभ्यास किया होगा तो उसने देखा होगा कि यदि रात में सोते समय माला लेकर जप कर रहा हो तो गहरी नींद में सो जायेगा लेकिन रातभर माला चलती रहेगी। साथ में सोये हुए को लगेगा कि माला चल रही है लेकिन वह सोया हुआ है। इस बात का प्रयोग आधुनिक लोग रूस इत्यादि के अन्दर संसार के ज्ञान के लिये करते हैं। रात में जब बच्चा सोता है तो उसके तकिये के नीचे, जिस चीज़ को याद कराना हो, उसकी एक टेप चला देते हैं। वह रात भर चलती रहती है और बच्चे को वह चीज याद हो जाती है। कोई आदमी हमसे अलग विचारधारा का है। उसको हमने जेल में डाल दिया और जेल में उसे रोज़ उसी टेप को सुनाते रहेंगे जो अपने विचार की हो। जब वह सोया होता है तब भी वही चला देते हैं। धीरे धीरे उसके दिमाग में वही बातें बैठ जाती हैं और उस आदमी को यह जँचने लगता है कि वही विचार सत्य हैं, क्योंकि दिमाग तो एक औजार है। जिसका तो मन इतना नियंत्रित है कि वह गहरी नींद के अन्दर भी इस अत्व (अकारता) को रख सके, उसपर इसका प्रभाव नहीं पड़ता, वह बात दूसरी है। इसीलिये वेदांती से सब डरते हैं, क्योंकि सब लोग सिद्ध करेंगे कि जो देखा जाये, सुना जाये वह सच्चा होता है और वेदांती सबसे पहला सूत्र ही याद कराता है कि जो चीज़ दीखे, सुनी जायें वह मिथ्या होती है, दृश्यमात्र मिथ्या है। इसीलिये वेदांती की ब्रेन वाशिंग कोई नहीं कर सकता, बाकी सबकी ब्रेन वाशिंग हो जाती है क्योंकि उन्हें जंचा हुआ है कि जो कहा जायेगा वह सच

होता है। अखबार को बाँचेंगे उसमें जैसा लिखा है वैसा मानेंगे, रेडियो में जो सुनेंगे वही उन्हें जँचेगा। पहले एक दो दिन विश्वास नहीं करेंगे, फिर सोचेंगे कि कुछ तो है।

गोयेबल्स लिखता है कि किसी असत्य को कई बार दुहराओ तो वह सत्य हो जाता है! यह बात बिल्कुल ठीक है। वेदांती इस बात को अच्छी तरह जानता है। यह मेरा पिता, यह मेरा पुत्र यह सब कहते हैं। बचपन से दुहराते दुहराते अपने को पक्का हो गया और इतना पक्का हो गया कि जब शास्त्र कहता है कि 'इनसे तुम्हारा क्या सम्बन्ध?' तो यह सुनकर कहता है कि 'बात समझ में तो आती है लेकिन फिर भी बेटा तो बेटा है ही।' इसलिये गोयबल्स का नया आविष्कार नहीं, वेदांत पहले से ही जानता है इसलिये सत्य बात को दुहराता रहता है, नाम रूप के मिथ्यात्व का निश्चय करता रहता है। दृश्यत्व आदि रूप से सुषुप्ति में जो सुनेंगे उसकी विवक्षा चलती रहेगी कि जो सुना जा रहा है वह झूठा है। इसलिये जितना सुनाये जाओ, उसपर असर नहीं पड़ता। लेकिन अधिकतर लोगों पर असर पड़ जाता है। जाग्रत् काल के अन्दर जब हमारे ये संस्कार दृढ हो जायेंगे तभी स्वप्न और सुषुप्ति में फिर उनका प्रयोग आने लगेगा। जाग्रत् काल में जप करेंगे तब पहली अवस्था यह आयेगी की स्वप्न में भी जप चलेगा। यह आप लोगों में से कइयों ने अनुभव किया होगा कि नींद के क्षणों में भी देखा कि वहाँ बैठकर जप कर रहे होंगे। और दृढता होगी तो उसे होगा कि नींद में भी जप चल रहा है।

जप का अभ्यास नहीं भी किया हुआ हो तो एक अभ्यास किया हुआ होता है : घर में देखा होगा कि जो बुड्ढे दादा नाना होते हैं उन्होंने अपना एक अभ्यास किया हुआ होता है कि मुझे नींद नहीं आती। अपना अपना अभ्यास है, किसी ने कोई, किसी ने कोई अभ्यास कर रखा है। लेकिन अधिकतर दादा नाना के साथ इस चीज़ का प्रयोग करके देख लेना। ज़ोर से खुर्राटे ले रहे होंगे। निश्चय है कि सोये हुए हैं। उसी समय किसी से कहा कि नाना जी को तो नींद आ गई। यह वाक्य कहने के साथ ही नाना जी कहेंगे 'ऊँ हूँ, नहीं सोया हूँ।' सुषुप्ति के अन्दर भी 'मैं नहीं सोया हूँ' यह विचार दृढ है। बाकी बात का जवाब दें न दें, लेकिन यह ज़रूर कहेंगे कि 'मैं नहीं सोया हूँ' क्योंकि संस्कार बैठ गया है। इसी प्रकार 'ॐ नमः शिवाय' के जप का अभ्यास बैठ गया, तो वह चलता रहेगा। सुषुप्ति के अन्दर साधना अन्ततोगत्वा तो पहुँच जाती है लेकिन पहले साधना तो जाग्रत् में ही करनी पड़ेगी। यह पहली समानता बताई।

दूसरी समानता उत्कट से बताते हैं। उत्कट सामान्य श्रुति ने नहीं कहा था। श्रुति ने तो 'आप्तेः' और 'आदिमत्त्वात्' के द्वारा सामान्य बताये थे। कारिका में ऊपर से दूसरी समानता भी बता दी। उत्कट अर्थात् उत्कृष्ट। उत्कट को आदिसामान्य के साथ भी ले सकते हैं कि आदिसामान्य ही उत्कट है। अथवा जैसा भाष्यकारों ने किया है, उसे अलग ही गिन लेते हैं। अत्यन्त विलक्षण या अद्भुत चीज़ को उत्कट कहते हैं। जो दूसरी चीज़ों

से बिल्कुल भिन्न प्रकार की चीज़ हो उसे उत्कट कहते हैं। उत्कट के अन्दर श्रेष्ठता का भाव तो थोड़ा बहुत है ही लेकिन यह ज़रूरी नहीं कि उत्कट का मतलब हमेशा अच्छा या श्रेष्ठ ही हो। जैसे किसी आदमी को कहते हैं कि यह उत्कट अभिलाषा वाला है। यह अभिलाषा अच्छी बुरी दोनों हो सकती हैं। इसलिये उत्कट का मतलब प्रधान रूप से अद्भुत, विलक्षण या दूसरी चीज़ों से भिन्न है।

विश्व में क्या भिन्नता है? स्वप्न और सुषुप्ति की अपेक्षा क्या उत्कटता या श्रेष्ठता है? स्वप्न और सुषुप्ति में हमारा परमात्मा के साथ साक्षात् सम्बन्ध नहीं रहता। स्वप्न और सुषुप्ति में परमात्मा अन्तर्यामी रूप से पीछे तो रहता है लेकिन सामने बहिर्यामी रूप से नहीं रहता। जाग्रत् अवस्था के अन्दर परमात्मा न केवल अन्तर्यामी है, अन्तर्यामी तो स्वप्न सुषुप्ति में भी है, जाग्रत् में बहिर्यमन भी करता है। इस ब्रह्माण्ड सृष्टि को जितना देखते चले जाओ उतना ही उस परमात्मा की विलक्षणता का, उत्कटता का पता चलता है। एक छोटी से छोटी घास को ले लो और वह घास किस प्रकार से सूर्य रश्मियों को लेकर उससे भोजन निर्माण कर लेती है इस बात को देखने लगो तो बुद्धि स्तंभित रह जाती है! काली मिट्टी में से किस प्रकार से बिल्कुल सफेद शुभ्र रूई पैदा हो जाती है। गुजरात, महाराष्ट्र में जाओ तो जहाँ सबसे ज्यादा काली मिट्टी होती है वहीं रूई की उपज ज्यादा होती है। अपनी समझ में तो आयेगा कि रूई सफेद चीज़ है, जहाँ मिट्टी सफेद हो वहाँ बढ़िया रुई होनी चाहिये। लेकिन बिल्कुल काली मिट्टी से पैदा हो जाती है। विचार करने लगो तो उसकी उत्कटता, उसकी विलक्षणता का पता लगता है। जितना जितना जाग्रत् अवस्था के पदार्थों का विचार करते चले जाओ उतना ही उतना उसके अन्दर विलक्षणता नजर आती है। और जितनी विलक्षणता नजर आयेगी उतना ही अन्तःकरण स्तंभित होता चला जायेगा। कोई भयानक शक्ति यदि सामने आये तो मन स्तंभित हो जाता है। उस समय न सोच सकता है, न कुछ कर सकता है। स्तंभितता जहाँ अन्तःकरण में आई, वहीं उसमें आत्मज्ञान सरलता से हो जाता है क्योंकि आत्मज्ञान को रोक ही हमारा मन रहा है। हमारा मन स्पंदित होता है, हर मिनट कोई न कोई मन का स्पंद हो रहा है, चूँकि स्पंद हो रहा है इसीलिये निःस्पंद परमात्मा को हम पकड़ नहीं पा रहे हैं। जैसे ही परमेश्वर की विलक्षणता को मनुष्य जानता है वैसे ही यह निःस्पंदता आ जाती है और यह निःस्पंदता आई तो झट आत्मप्रकाश आया। जितना जितना परमेश्वर के ऐश्वर्य का विचार करते चले जाओगे उतना ही उतना यह स्तब्धता आयेगी।

भगवान् भाष्यकार इसीलिये कहते हैं भक्ति का विनियोग किस में है? 'मोक्षकारण-सामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसा' मोक्ष का कारण आत्मज्ञान है। आत्मज्ञान की सामग्री चित्त की शुद्धि और एकाग्रता अर्थात् चित्त की निःस्पंदता है। चित्त की स्पंदहीनता के लिये भक्ति बड़ी प्रयोजन वाली चीज़ है। भक्ति के द्वारा खट उसके अन्दर निःस्पंदता आ जाती है। भक्ति का मतलब यहाँ केवल बाह्य वैधी भक्ति नहीं समझ लेना। उसमें तो चित्त में निःस्पंदता नहीं और स्पंद पैदा होने लगते हैं; जैसे 'आज तो यह धूप बत्ती अच्छी नहीं

आई। अरे, आज तो भोग अच्छा नहीं लगा। आज तो दिये की बत्ती बीच में ही बुझ गई। आज गंगा जल खत्म हो गया।' इसलिये बाह्य पूजा मन को निःस्पंद नहीं करती, और स्पंदों को बढ़ाती है। इसका मतलब उलटा नहीं समझना कि बाह्य पूजा न करो। बाह्य पूजा की अपेक्षा है। कम से कम दुनिया के दूसरे स्पन्दों को छोड़कर भगवान् को निमित्त बनाकर स्पंद बना रहे हैं, इसलिये बाह्य पूजा की अपेक्षा है। लेकिन यहाँ तो आत्मज्ञान के लिये निःस्पंदता का विचार हो रहा है। बाह्य पूजा स्पंदों को बढ़ायेगी, घटायेगी नहीं। स्पन्दों को घटाने के लिये किस भक्ति को करना पड़ेगा? इसके आगे ही भगवान् भाष्यकार ने कहा है 'आत्मतत्त्वानुसंधानं भक्तिरेव गरीयसी' वैदिक भक्ति आत्मतत्त्व का अनुसंधान है। परमात्मा तुम कैसे हो? 'कैसे हो' का अनुसंधान तब होता है जब हम परमेश्वर के ऐश्वर्य को देखते हैं। जितना जितना जगत् को देखते हैं उतना उतना उसके ऐश्वर्य के अन्दर अचिंत्यता का पता लगता है, आत्मतत्त्व का अनुसंधान होता है। जितना जितना उसकी अचिंत्यता का पता लगता है, आत्मतत्त्व का अनुसंधान होता है, उतना उतना मन के अन्दर निःस्पंदता आती है। और जहाँ मन में निःस्पंदता आई, उसके अन्दर झट आत्मज्ञान का प्रवेश होने की सम्भावना हो गई। आत्मतत्त्व का अनुसंधान अर्थात् यह परमात्मतत्त्व कैसा है, यही अनुसंधान भक्ति है। यही आंतरिक भक्ति है। इसी को रागानुगा भक्ति भी कहते हैं। राग मायने प्रेम।

जिसके साथ प्रेम होता है उसको तुम हमेशा समझना चाहते हो। जब तक प्रेम नहीं होता तब तक तो समझाना चाहते हो, यह ज़रा कड़वी बात है। बाहरी आदमियों को समझाना चाहते हो, नौकर को, मालिक को इत्यादि सबको समझाना चाहते हो। लेकिन क्या अपने पुत्र को भी समझाना चाहते हो? अपने पुत्र को समझना चाहते हो कि यह ऐसा क्यों करता है, क्या बात है यह हमारी बात क्यों नहीं मानता। बाहर वालों को तो समझाना चाहते हो कि हमारी बात समझो, सुनो, नहीं तो चले जाओ। लेकिन ठीक इससे विपरीत पुत्र को समझना चाहते हो। जहाँ प्रेम होता है वहाँ मनुष्य समझना चाहता है। आजकल पति पत्नियों में यही तो झगड़ा चलता है। पति पत्नी से कहता है 'मेरी बात सुन' और पत्नी पति से कहती है 'मेरी बात सुन।' पति नहीं चाहता कि पत्नी को समझे कि वह कैसे वातावरण से आई है, उसके कैसे संस्कार हैं, किस जगह से आई है, क्या इसकी शिक्षा दीक्षा है, इसको समझने में जीवन के कुछ घण्टे खराब करे। यह न करके, कहता है 'मेरे घर आई है, मेरे नियम मान। मैं कहता हूँ, हमारे घर के यही नियम हैं।' ठीक यही पत्नी सोचती है कि 'मैं अपना सब कुछ छोड़कर आ गयी, तुम मेरी बात नहीं मानते। चलो कोई बात नहीं, मैं भी तुम्हें सबसे छुड़ा दूँगी'; और अंततोगत्वा छुड़ा देती है! यदि उनमें प्रेम होगा तो ठीक उससे विपरीत भावना होगी कि एक दूसरे को समझना चाहेंगे। जिसको समझना चाहता है वहाँ धीरे धीरे मनुष्य उसकी दृष्टि वाला बन जाता है और नतीजा यह होता है कि संघर्ष का प्रश्न ही नहीं रह जाता। इसी प्रकार रागानुगा भक्ति के अन्दर जब परमात्मा से प्रेम हो गया तो परमात्मा को समझाना नहीं चाहेगा।

वैधी भक्ति वाला जब पूजा करता है तो पूजा के साथ ही भगवान् को समझाता है 'हे भगवन्! मैं आपकी पूजा रोज़ करता हूँ, मेरा लड़का दो बार फेल हो गया, आपको कुछ विचार करना चाहिये, अच्छी बात नहीं है, अब की कम से कम पास हो जाये।' कहाँ तक लोग पहुँचते हैं, कोई ठिकाना थोड़े ही है। हमने यहाँ तक लोगों को देखा है जो कहते हैं 'हे भगवन्! तीन महीने से रसोइया नहीं मिल रहा है, कोई भेज दो।' भगवान् को समझाना चाहते हैं कि भगवान् को क्या क्या करना चाहिये। भगवान् से कभी नहीं पूछते कि 'आप मेरे से क्या चाहते हो? मैं आपके लिये क्या करूँ?'

आत्मतत्त्वानुसंधान रागानुगा भक्ति है। हम परमात्मा को समझाना नहीं चाहते, हम केवल परमेश्वर की अचिंत्य शक्ति को सोचकर विचार करें। कभी एक मिनट के लिये सोचो— जैसे जे. आर. डी. टाटा है, उसके कम से कम पाँच हज़ार नौकर सारे भारतवर्ष में होंगे ही। पाँच हज़ार नौकरों के अंदर किसी मेहतर की लड़की का ब्याह हो तो क्या उसे पता लगेगा? मालूम ही नहीं पड़ेगा। यदि वह उसे धन न दे पाये तो क्या उसमें दोष निकालोगे? कहोगे कि इतने आदमियों में किस किस का ख्याल रख सकता है। हमारे यहाँ नया दृष्टिकोण ही यह अपना लिया गया है कि इतने बड़े राष्ट्र के संचालन में राजा से किसी दस बीस व्यक्तियों के ऊपर अगर गैरकानूनी काम या अत्याचार हो जाये तो इतने से कोई अत्याचारी नहीं हो जाता है। यह हम लोग स्वीकार कर चुके हैं, यह सिद्धान्त हो गया है। अब विचार करो कि इस पृथ्वी लोक जैसे कितने अनंतकोटि ब्रह्माण्ड, और इस पृथ्वी के अन्दर ही कितनी योनियाँ और उनके अन्दर कितनी उनकी संख्या, इतने अनंत प्राणियों में तुम एक हुए और उसके अन्दर तुम्हारी एक कामना पूरी नहीं हुई तो लोग कहते हैं, 'हमने बड़ी पूजा की लेकिन कुछ फल नहीं हुआ।' विचार करो कि इतने प्राणियों में मनुष्य जाती ही साढे तीन अरब के करीब पहुँच रही है, मक्खी, मच्छर सभी तो भगवान् की सृष्टि में हुए और पृथ्वी से ऊपर कितने हुए। जो तो परमेश्वर के इस ऐश्वर्य को सोचता है, उसकी कभी कोई इच्छा पूर्ण हो गई तो उसका हृदय गद्गद हो जाता है कि 'इतना करते हुए भी भगवान् ने मेरी सुन ली।' जिसके हृदय में प्रेम नहीं होता है, जो बात उसने नहीं सुनी, उसे वही याद रहती है, उसी का स्मरण करता रहता है कि 'भगवान् ने कुछ नहीं किया।' रागानुगा भक्ति में परमात्मा से प्रेम होता है। उसके अन्दर हमको ऐश्वर्य का ज्ञान होता है कि वह अचिन्त्य शक्ति वाला है। तब मनुष्य अपना अहम् खो देता है, नहीं तो नहीं खो पाता, उसको बनाये रखता है। यही जाग्रत् अवस्था की उत्कटता है क्योंकि परमात्मा की अचिन्त्य शक्ति का पता जाग्रत् काल में लगता है। यह एक और विशेषता बता दी। 'मात्रा-सम्प्रतिपत्तौ स्यादाप्तिसामान्यमेव च' मात्रा को सम्प्रतिपन्न करने के लिये अर्थात् ठीक प्रकार से उसका साक्षात्कार करने के लिये उत्कट व्याप्ति समानता भी श्रुति ने बता दी जो पहले बता आये हैं।।१९।।

●

कारिका में ओंकार के प्रथम अकार को बता दिया। अब दूसरे उकार को बताते हैं—

तैजसस्योत्वविज्ञान उत्कर्षो दृश्यते स्फुटम् ।
मात्रासंप्रतिपत्तौ स्यादुभयत्वं तथाविधम् ।।२०।।

तैजस, जो द्वितीय पाद या अवस्था है, उसके अन्दर 'उ' का ध्यान करना है। स्वप्न का अभिमानी जो तैजस, उस तैजस के अन्दर 'उ' की समानता है। उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षात्' यह श्रुति में ही कह दिया था कि उ उत्कर्ष या उत्कृष्ट है अर्थात् उसमें से खींचकर निकलता है। जाग्रत् में से ही वासनाओं के कारण स्वप्न निकलता है। यही उसका उत्कर्ष है। दूध में से घी निकलता है तो यह उत्कर्ष हुआ। दूध में घी है लेकिन घी के साथ और भी कुछ है। ऐसा नहीं कि जो चीज़ दूध में नहीं है उसे घीरूप में निकालें और कहें कि यह उत्कर्ष है। कार्य हमेशा कारण में मौजूद रहता है, उसका बाहर निकलना ही उत्कर्ष कहा जाता है, और कोई उत्कर्ष नहीं है। इस बात का विशेष प्रयोग मनुष्यों की शिक्षा-दीक्षा में किया जाता है और विज्ञान में किया जाता है। इसलिये यहाँ भगवान् गौडपाद ने विज्ञान शब्द का जो प्रयोग किया है वह बड़ा सोचकर किया है। विज्ञान के दोनों अर्थ यहाँ आ जायेंगे। दूसरे को शिक्षा देना भी विज्ञान कहा जाता है, क्योंकि विज्ञान का मतलब है अनुभवपूर्वक ज्ञान। गीता में आया है 'ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्' तथा 'ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानम्'। जब ज्ञान विज्ञान का साथ साथ प्रयोग होता है तो विज्ञान का अर्थ अनुभवपूर्वक ज्ञान होता है।

दूसरे को शिक्षा देते समय यह याद रखना चाहिये कि उसमें जो तत्त्व है वही खींचकर बाहर निकालना है। यदि तुमने किसी व्यक्ति के ऊपर कुछ शिक्षा थोप दी तो यह समझ लेना कि उस मनुष्य के जीवन को तुमने नष्ट कर दिया। रामकृष्ण परमहंस के जीवन में आता है कि जब शुरू शुरू में विवेकानंद जी को कुछ विशिष्ट शक्ति प्राप्त हुई तो उन्होंने अपने एक गुरुभाई स्वामी अभेदानंद जी को जो भक्तिमार्गी या उपासना पक्ष के थे, रात को कहा 'मैं ध्यान करता हूँ और तू मेरे को हाथ लगाकर बैठ, देख तेरे को क्या होता है।' वे बैठ गये और उन्हें उस दिन निर्गुण तत्त्व की तरफ निष्ठा बन गई। दूसरे दिन प्रातःकाल रामकृष्ण जी ने विवेकानन्द को बहुत डाँटा 'तूने इसका जीवन बरबाद कर दिया। यह एक रास्ते से चल रहा था, उस रास्ते से धीरे धीरे आगे जाता। अब तूने उसमें ज़ोर से निर्गुणता का संचार तो कर दिया लेकिन वह उसकी प्रकृति में बैठेगा नहीं। नतीजा यह होगा कि धीरे धीरे उसके अन्दर एक संघर्ष बढ़ता रहेगा।' क्योंकि पहले के जन्मों से जैसी साधना जीव करता आया है तत्संस्कारों के अनुकूल ही उसकी साधना का क्रम चलता है। भगवान् ने गीता में कहा 'ह्रियते ह्यवशोपि सः' अवश हुआ उसी रास्ते जायेगा। अर्जुन कहता है मैं ब्राह्मण की तरह भिक्षा माँग कर गुजारा करूँगा।

भगवान् ने कहा— अरे अर्जुन! तेरे से यह होगा ही नहीं क्योंकि यदि तेरे में ऐसे संस्कार होते तो तू क्षत्रिय के घर पैदा क्यों होता? संस्कार तेरे दूसरे हैं, सुन सुनाकर दूसरे संस्कारों की नकल करने जायेगा, वे संस्कार पड़ेंगे नहीं इसलिये मन में केवल संघर्ष चलता रहेगा और कुछ नहीं होगा। यही बात रामकृष्ण परमहंस ने विवेकानन्द से कही। दूसरी बात यह भी कही कि अभी तूने शक्ति पूरी प्राप्त की नहीं है और दूसरों को दिखाना पहले ही शुरू हो गया। इसलिये आध्यात्मिक साधना में तो यह बहुत ही ज़रूरी है कि सामने वाले के संस्कारों को लेकर उन संस्कारों को ही आगे बढ़ाना है, नवीन संस्कारों का आरोपण नहीं करना है। नवीन संस्कारों की बात उसे सुना दो, वह दूसरी बात है। दस पाँच जन्मों में धीरे धीरे वे संस्कार बन जायेंगे। लेकिन हठात् यह सब काम नहीं हुआ करते। अध्यात्मविज्ञान बड़ा धैर्य का विज्ञान है। इसीलिये मनु ने धर्म के लक्षणों में सबसे पहला धर्म ही धृति (धैर्य) को गिनाया है। धैर्य का मतलब ही यह है कि तुमको एक संस्कार दिया और फिर धैर्यपूर्वक देखते हैं कि समय आने पर फल देगा। यदि सद्यः फल चाहोगे तो कुछ नहीं होना है सिवाय संघर्ष के।

अध्यात्मविज्ञान में यह चीज़ शतप्रतिशत है तो ९८ प्रतिशत लौकिक विज्ञान में भी है। दूसरे को शिक्षा देते समय अकस्मात् चाहो कि नये संस्कार बैठा दो तो वे नहीं बैठ पायेंगे और न बैठा पाओगे। हिन्दुस्तान के अन्दर आदमी डाक्टर बन जाता है, संक्रमण (infection) के बारे में सब समझ लेता है और इलाज करते समय किसी के चोट लगी हुई हो और दवाई का फाया ज़मीन पर गिरे तो ज़मीन से ही उठाकर लगा भी देता है! पढ़ा पढ़ाया है, लेकिन संस्कार अंदर प्रविष्ट नहीं हुए, इसलिये ऐसा कर जाता है। जहाँ वे संस्कार सौ साल से प्रविष्ट हो गये हैं वहाँ छोटा बच्चा भी यह काम नहीं करेगा। जोधपुर में पहले विंडम अस्पताल था, अब महात्मा गांधी अस्पताल उसका नाम कर दिया है। डा. विण्डम के नाम पर उस अस्पताल का नाम पड़ा था। उनके पास जब कभी कोई डाक्टर आता था तो सबसे पहले रूई लेकर उसकी दाढ़ी की परीक्षा करते थे और यदि रूई उसकी दाढ़ी पर चिपक गई तो वापिस भेज देते थे कि शेव ठीक से नहीं हुई है। उस समय वहाँ बड़ी सफाई भी थी। अभी तीन साल पहले उधर से निकले तो फिर देखने का मौका पड़ा तो देखा कि अस्पताल में महा गंदे कमरे। हमने कहा 'इस अस्पताल का क्या हाल हो गया है?' वहाँ के डाक्टर कहने लगे 'कोई ख्याल नहीं करता।' जिनको ख्याल था उनके डर से कर लेते थे, पर अंदर से निश्चय था कि इस सबसे क्या होता है। ज्ञान में ऊपर से थोपने से नहीं होता। धीरे धीरे अंदर में जो बैठा हुआ है उसे निकालना पड़ता है। उत्तम अध्यापक वह है जो विद्यार्थी के अन्दर के जो तत्त्व हैं उनको निकाल कर बाहर करे। केवल ऊपर से चीज़ रटा देने से काम नहीं होगा।

ऐसे ही विज्ञान की उन्नति भी धीरे धीरे होती है। विज्ञान का मतलब है ब्रह्माण्ड के नियमों को अर्थात् ऋत को ठीक ठीक समझना। हमारे यहाँ दो चीज़ें मानी गई 'ऋतं

च सत्यं च'; ऋत और सत्य ये दोनों जब तप अर्थात् सूक्ष्म दृष्टि से विचार किये जायें तो इद्ध अर्थात् प्रज्वलित होकर उनकी वृद्धि होती है। यह ऋग्वेद का मंत्र है, संध्या वंदन में इसका प्रयोग करते होगे। ऋत संसार को चलाने वाले नियम हैं। संसार को चलाने वाले नियमों के अन्दर कुछ वास्तविक नियम होते हैं और कुछ वास्तविक नियमों का ज्ञान होने पर हम मान लेते हैं, उन माने हुए नियमों से भी व्यवहार चलता रहता है। कालांतर में पता लगता है कि हमारा मानना गलत था। जैसे आदिम मानव मानता था कि सूर्य पृथ्वी के चारों तरफ घूमता है, स्वाभाविक है। नक्षत्र, तारामण्डल इत्यादि सब पृथ्वी के चारों तरफ घूमते हैं, यह मानना स्वाभाविक ही था और उससे भी काम चलता था। उससे भी वर्ष मास आदि का पता लगता था, सारा व्यवहार चलता था। उसके बाद धीरे धीरे पता लगा कि इनके अन्दर कई विप्रतिपत्तियाँ हैं। उनको हटाकर यह माना गया कि पृथ्वी ही सूर्य के चारों तरफ घूमती है। अब इससे भी व्यवहार चल रहा है। व्यवहार मान्यताओं से चलता है। ऐसा नहीं है कि कालान्तर में पता चलेगा कि पृथ्वी सूर्य के चारों तरफ चल रही है, सूर्य स्थिर है। अभी ही यह मालूम है कि पृथ्वी भी चल रही है। आज से सौ साल पहले ध्रुव को केन्द्र माना गया कि उसके चारों तरफ पृथ्वी घूमती है। फिर पच्चीस तीस साल पहले पता चला कि ध्रुव भी स्थिर नहीं है। वैज्ञानिक मानते हैं कि बीस हज़ार मील प्रति सैकेण्ड से ज्यादा गति से हम लोग चल रहे हैं। पृथ्वी की अपनी गति, पृथ्वी की सूर्य सम्बन्धिगति, सारे सूर्यमण्डल की गति, उसके साथ गैलेक्सी की गति, इन सब गतियों को मिलाकर जो गति बनती है, वह बीस हज़ार मील प्रतिसैकेण्ड से ज्यादा हो जाती है जो हम लोगों की गति है। यह तो वह हिसाब बताया जिसमें ध्रुव स्थिर है, लेकिन अब तो वह भी स्थिर नहीं है। अभी उसका पता नहीं, लाखों मील प्रति सैकेण्ड की गति हो जायेगी यदि उसे जोड़ा जायेगा।

ये परिष्कार धीरे धीरे आते हैं। पुराने व्यवहार पुराने परिष्कारों से चलते ही थे। धीरे धीरे बदलने से ही तो हमारे संस्कार बदलेंगे, एक दिन में थोड़े ही बदलेंगे। ऊपर से किताब गिराते हैं तो नीचे गिर जाती है। विज्ञान में पढ़ भी लेते हैं कि सारे के सारे इलेक्ट्रोन्स नीचे नहीं आते, उस पदार्थ के कुछ इलैक्ट्रोन्स ऊपर, कुछ दाहिने, कुछ बायें चले जाते हैं, सारे के सारे नीचे नहीं आते; फिर भी यही मानकर चलते हैं, क्योंकि अभी तक वही संस्कार है, कि चीज़ गिरी तो सारी नीचे गिरी। अब धीरे धीरे कई सौ वर्षों में नवीन विचार रहेंगे तो वे संस्कार बन जायेंगे। विज्ञान की वास्तविक उत्कर्षता तब होगी जब वह हमारे सोचने का, जीवित रहने का अंग बन जायेगा। तब तक वह बाह्य ज्ञान बना रहता है। जब वह हमारा विज्ञान बन जाता है तब फिर उसके आगे की प्रगति होती है। ऐसा नहीं कि कहीं जाकर यह सिलसिला बन्द हो जाना है कि इतनी प्रगति हो गई, इसके आगे कुछ नहीं। यह तो ऐसे ही चलता रहेगा।

हमारे यहाँ अनादि काल से आज तक वेदांती एक बात कहता है, द्वैतवादी, सांख्यवादी, नैयायिक दूसरी बात कहता है। वे जिस बात को कहते हैं उसमें हम दोष निकालते हैं। फिर वे जवाब देते हैं कि द्वैत सिद्धान्त ठीक है। वैदिक काल से आज तक यही चल रहा है। असद्वाद भी वैदिक काल से चल रहा है 'असद् वा इदमग्र आसीत्' उपनिषद् कहती है असत् से सब उत्पन्न हुआ है, ऐसा नहीं। इसके अतिरिक्त आरंभवाद, परिणामवाद भी सब मानते रहे हैं। क्या कोई ऐसा समय आयेगा जब यह शास्त्रार्थ बन्द हो जायेगा? यह कभी नहीं आना है। लेकिन हर बार जब परिष्कार होता है तो पहले की अपेक्षा चिंतन और सूक्ष्म सूक्ष्मतर होता चला जाता है, भावों में और ज्यादा गम्भीरता आ जाती है। इसी प्रकार विज्ञान के अन्दर भी जब उन्नति होती है तो यह नहीं होता है कि पुराना विज्ञान गलत हो गया है, वरन् उतने कोआर्डिनेट्स (coordinates) में वह ठीक था और अब नये रिफाइनमैण्ट (refinement) या नये कोआर्डिनेट्स का पता चल गया है तो ये भी ठीक हैं। चाहे आत्मविज्ञान हो चाहे बाह्य विज्ञान, निरंतर परिष्कार ही परिष्कार होते चले जाने हैं।

यहाँ कह रहे हैं कि वह परिष्कार सच्चा तब बनता है जब स्वप्न में भी तुम्हें उसका ख्याल रहे अर्थात् सोचते सोचते तुम्हारा ऐसा अंग बन जाये कि स्वप्न काल में भी तुम उसी को समझो। इसीलिये यहाँ भगवान् गौडपाद ने विज्ञान शब्द का प्रयोग किया कि आध्यात्मिक विज्ञान काल में भी यह उत्कर्ष की दृष्टि रखनी पड़ेगी चूँकि ये उसमें से निकलकर आते हैं।

इस कारिका का दूसरी पंक्ति कारिका १९ में लगभग आ चुकी है 'मात्रासंप्रतिपत्तौ स्यादुभयत्वं तथाविधम्।' मात्रा और उसकी एकता के ज्ञान के लिये उभयता दोनों जगह एक जैसी है। 'तैजसस्योत्वविज्ञान उकारत्वविवक्षायाम्' मूलकार ने जो उत्वविज्ञान कहा था, उसी का अर्थ कर दिया कि उ का ज्ञान कराने के लिये 'उत्कर्षो दृश्यते स्फुटं स्पष्ट इत्यर्थः। उभयत्वं च स्फुटमेवेति पूर्ववत्सर्वम्' यह सब पहले श्लोक की तरह स्फुट अर्थात् स्पष्ट है ही।।२०।।

●

मकारभावे प्राज्ञस्य मानसामान्यमुत्कटम् ।
मात्रासंप्रतिपत्तौ तु लयसामान्यमेव च ।।२१।।

तृतीय पाद और तृतीय मात्रा को बताते हैं। मकार तीसरी मात्रा हो गई। उसके साथ प्राज्ञ की एकता को बताना है। इन तीन श्लोकों में तीन अलग अलग शब्दों का प्रयोग भगवान् गौडपाद ने किया है, विश्व में विवक्षा, दूसरे तैजस में विज्ञान और अब तीसरे में भाव शब्द का प्रयोग कर रहे हैं। प्राज्ञ की मकार के साथ जो एकता है उसके अन्दर भाव प्रधान होगा।

भाव का मतलब क्या होता है? किसी के प्रति जो एक दृढ आकर्षण है उसी को भाव कहते हैं। वह भाव सद्भाव भी होता है और असद्भाव भी होता है। इसीलिये जानबूझ कर प्रेम शब्द का प्रयोग नहीं किया। जो अपना घोर दुश्मन हो उसके प्रति असत् भाव, लेकिन तीव्र आकर्षण होता है। कंस की जहाँ मुक्ति का विचार आया वहाँ प्रश्न होता है कि उनकी मुक्ति कैसे हो गई। वहाँ भी शास्त्रकारों का कहना है कि उन्होंने परमेश्वर का भजन किया। किस रूप में परमेश्वर का भजन किया? यह मेरा दुश्मन है, इस रूप से। भजन का मतलब है रात्रि दिन उसे सोचना। विचार करो; किसी पारस मणि को बड़े प्रेम से सवेरे स्नान करके भस्मी लगाकर शुद्ध हाथों के द्वारा उठा कर नमस्कार करके हथौड़े पर लगाओ तो वह सोने का बन जायेगा और बिना नहाये, बिना कपड़े धोये, बिना नमस्कार किये हथौड़े को उठाकर पारस मणि पर दे मारो तो पारस के टुकड़े हो जायेंगे लेकिन लोहा सोना हो जायेगा। पूजा पाठ से हथौड़ा ज्यादा कैरट का और बिना नहाये धोये कम कैरट का सोना होगा, ऐसी बात नहीं है, दोनों में एक ही असर होना है, कोई फ़र्क नहीं पड़ना है। हथौड़े को उठाकर मारो तो भी पारस मणि सोना बनायेगी, वह अपना गुण नहीं छोड़ेगी। इसी प्रकार परमात्मा में यदि किसी तरह से मन लगाया तो परमात्मा का काम है हमको सोना बना देना अर्थात् मुक्ति दे देना, वह इसकी अपेक्षा नहीं करेगा कि हमने उसे द्वेष के द्वारा सोचा या प्रेम के द्वारा सोचा। उसे सोचना ज़रूरी है। मन के साथ उसका सम्बन्ध बराबर बना रहे। 'कामात् क्रोधाद् भयात् स्नेहाद् ऐक्यात्' कामना से, क्रोध से, एकता की दृष्टि से, सुहृत् की दृष्टि से, भय से, किसी भी दृष्टि से करो, असर एक ही होना है। इसलिये कहा कि भाव का मतलब है तीव्र आकर्षण। तीव्र आकर्षण यदि प्रेम पूर्वक है तो सद्भाव और क्रोध, द्वेष आदि पूर्वक है तो असद्भाव कहा जायेगा लेकिन हैं दोनों भाव ही।

कोई कहेगा कि फिर प्रेम से भक्ति करने की आप लोग महिमा क्यों बताते हो? शास्त्रकार कहते हैं 'दृष्टदुःखं न नश्यति' मरने के बाद परमात्मभाव की प्राप्ति में तो कोई फ़र्क नहीं पड़ेगा लेकिन प्रेम पूर्वक परमात्मचिन्तन करने से यहाँ जीवित काल में परमात्मचिंतन से आनंद प्रकट होता रहेगा। चूँकि उसके साथ प्रेम है इसलिये उसे सोचने से आनंद प्रकट होगा। जब उसे द्वेष से सोचेंगे तो हर बार मन में जलन आयेगी, क्रोध आयेगा। प्रेम से चिंतन करने पर यहाँ चिंतन काल में सुख होगा द्वेष भाव से करने पर यहाँ जब सोचोगे तो हर बार गुस्सा आयेगा, दिमाग गरम होगा, आनंदोत्कर्ष नहीं होगा। आगे का फल तो एक जैसा ही है। इसलिये प्रेम भाव पर हम लोग जोर देते हैं; द्वेषभाव पर नहीं। अगर पारस मणि को तुमने प्रेम से छुआया तो पारस मणि सुरक्षित बनी रहेगी और ज़ोर से उस पर डण्डा मारा तो मणि चूरा हो गई, हथौड़ा तो सोनेका बन ही गया लेकिन पारस मणि आगे काम की नहीं रही। यही फरक यहाँ भी रह जायेगा। हर हालत में यहाँ तो सद् असद् दोनों भावों का संग्रह करने के लिये कहा है।

प्राज्ञ और मकार की जो एकता है इसके अन्दर उसके प्रति तीव्र आकर्षण की आवश्यकता है। सुषुप्ति अवस्था में बाह्य जगत् और आभ्यंतर जगत् दोनों नहीं रहते 'न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम्' श्रुति कही रही है कि बाह्य संसार का चिंतन भी नहीं रह जाता है और न मन का चिंतन रह जाता है क्योंकि अंतःकरण लीन हो जाता है। जैसे चुम्बक किसी लौह खण्ड को जब छू लेता है तो वे दोनों मिलकर एक हुए प्रतीत होते हैं, इसी प्रकार प्राज्ञ अवस्था के अन्दर ईश्वर और जीव एक हुए प्रतीत होते हैं। बाहर किसी चीज़ का चिंतन नहीं है। यही कर्षण है। इसी भाव को जाग्रत् के अन्दर भी ले आना है। अर्थात् प्रतिक्षण हम परमात्मा से ही चिपके हुए हैं।

उपनिषद् में इसकी उपासना बताई है 'नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि, त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि ऋतं वदिष्यामि सत्यं वदिष्यामि' उपनिषदों में इसको उपासना का रूप दिया। हे वायु! तुम्हारे को नमस्कार है क्योंकि तुम प्रत्यक्ष ब्रह्म हो। ब्रह्म सर्वव्यापक हुआ। जब हम एक क्षण पूर्व की बाहर की साँस को अंदर लेते हैं तो वह हमसे अभिन्न हो गई, एक हो गई, और एक क्षण के बाद जब हमने उस साँस को बाहर छोड़ा तो वह फिर समष्टि वायु से एक हो गई। इसलिये वायु का स्पर्शास्पर्श कोई नहीं मानता। यद्यपि छुआछूत करने वाले खूब हाथ पैर धोते रहते हैं लेकिन हवा को कोई नहीं धोता। 'यह हवा न जाने किस भंगी के मुँह से आई होगी इसे साबुन इत्यादि से धो लें तब लेंगे' ऐसा कोई नहीं सोचता। बाकी सब चीज़ों में छुआछूत है। भंगी का कपड़ा छू जाये तो नहाओ और धोओ, लेकिन उसके नाक से निकलने वाली साँस जब अंदर घुस जाये तो कुछ नहीं, चूँकि वायु प्रत्यक्ष ब्रह्मरूप है। मनु ने जहाँ शौचाचार का विचार किया वहाँ अंत में मनु लिखते हैं 'मनःपूतं समाचरेत्' जब तक तुम्हारे मन को ऐसा न हो जाये कि यह चीज़ साफ हो गई तब तक सारे सफाई के नियमों का पालन किये जाओ। पहले उन्होंने अनेक नियम दिये। अंत में लिखते हैं कि जब तक मन में यह भावना (feeling) न हो जाये कि शुद्ध हो गया, तब तक करते रहना चाहिये। वायु के लेने से किसी अशुद्धि का बोध नहीं। बोध की ही तो बात है। सीमेण्ट के ऊपर चार पत्तल रखकर भोजन करो तो कहाँ कष्ट होता है, और लकड़ी के चार पैरों पर उसी सीमेण्ट को उठाकर रख दो तो कहते हैं कि दूसरे के साथ मेज़ पर बैठकर नहीं खायेंगे। ज़मीन पर छुआ छूत नहीं मानते, क्या वह सीमेण्ट खण्ड जो चार पैरों पर रख दिया गया, पृथ्वी का नहीं है? बहुत शुद्धि मानने वाले ज़मीन पर बीच में कोयले की लकीर खींच देते हैं लेकिन मेज पर कोयले की लकीर खींचकर भी शुद्धि का बोध नहीं होता। ये सब मनःपूत चीज़ें हैं। मन में जब तक बोध हो कि 'मैं यह अपवित्र कर रहा हूँ' तब तक उसे बचाओ। जितनी छूआ छूत मानकर अपने हृदय में शुद्धता का बोध हो जाये कि 'मैं शुद्ध हूँ', उतना ही करना चाहिये। 'नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि' व्यष्टि समष्टि की एकता वायु में स्फुट हो गई।

वायु हमारे चारों तरफ है, वायु में हम हैं, वायु से हम हैं, वायु खींचती है तभी हमारा जीवन है। वायु को परमात्मा का प्रतीक मानकर जाग्रत् अवस्था में भाव करना चाहिये। वायु ब्रह्म का प्रतीक है। ब्रह्म हमारे अंदर है, तब हम हैं। ब्रह्म की शक्ति से ही हम हैं और ब्रह्म के अन्दर ही हम हैं। इसी का नाम भाव है। यह उत्कर्षता हो गई।

प्राज्ञ की मकार भावना के अन्दर उत्कटता किसको लेकर है? 'मानसामान्यमुत्कटम्' मान की समानता हुई। जैसे पहले प्रस्थ से बताया था कि माप में से चीजें माप कर निकलती हैं ऐसे ही सुषुप्ति में से जाग्रत् स्वप्न निकलते रहते हैं, उसी प्रकार परमात्मा से परिमाण की एकता से समानता की उत्कर्षता या उत्कृष्टता का पता लगता है। इस कारिका के ऊपर भाष्य में बाकी सब बातें तो वही हैं जो पहले बता दीं लेकिन मान का अर्थ भाष्यकारों ने किया है 'मितिलयावुत्कृष्टे सामान्ये इत्यर्थः' मान के दो भाव हैं एक मिति और एक लय। मिति अर्थात् प्रमिति हमने घड़े को देखा तो घड़े का ज्ञान उत्पन्न होता है, उसको प्रमिति कहते हैं। मिति अर्थात् ज्ञान। जैसे जाग्रत् स्वप्न उत्पन्न होते हैं वैसे ही परब्रह्म परमात्मतत्त्व से अंतःकरण आदि के अन्दर ज्ञान उत्पन्न होता है, यह मिति है। फिर वह ज्ञान किस में लीन होता है? साक्षिज्ञान में लीन हो जाता है। इसलिये उसी मान से फिर लय ले लिया। उस परमात्मा से ही ज्ञान अंतःकरण आदि के द्वारा उत्पन्न होता है और फिर उसी में लीन हो जाता है। हम परमात्मा से ही निकले और परमात्मा में ही हमारी स्थिति, यह पहले बता दिया, और फिर अंत में परमात्मा में ही लीन हो जाते हैं।

जब दो ज्ञान होते हैं, दो ज्ञानों के मध्य में एक काल आता है जो निर्विशेष ज्ञान का काल है। यह ज़रा अभ्यास की बात है। प्रथम क्षण में कोई वृत्तिज्ञान उत्पन्न होगा, दूसरे क्षण में उसकी स्थिति, तीसरे क्षण में दूसरा ज्ञान उत्पन्न होगा। मध्य काल में जहाँ प्रथम ज्ञान नष्ट हुआ और उत्तर ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ वह निर्विशेष ज्ञान का काल है। जो ज्ञान का निर्विशेष काल है उसी का नाम ब्रह्म है। शुद्ध चेतन वही है। निर्विशेष चैतन्य से वृत्ति उत्पन्न हुई मिति, लय हुई, और फिर निर्विशेष काल। पहले तो ऐसा लगता है कि सृष्टि के आदि में कभी हम परमात्मा से निकले, अब चल रहे हैं और सृष्टि के अंत में या ज्ञान के द्वारा यह खत्म हो जायेगा। अभ्यास करते करते ऐसी स्थिति आ जायेगी कि प्रतिक्षण लगेगा कि उस ब्रह्म में ही मितिकाल में उत्पन्न हुए और मिति समाप्त होते ही लय हो गये। एक निर्विशेष ब्रह्म का ही प्रवाह है। उसमें क्षण मात्र के लिये वृत्ति उत्पन्न हुई और खत्म हो गई। इसी को लेकर उपनिषदों के अन्दर बताया 'निमेषार्द्धं न तिष्ठन्ति वृत्तिं ज्ञानमयीं विना' पलक गिराने के आधे हिस्से में भी परमात्मचिंतन के बिना सनकादि ऋषि नहीं रहते क्योंकि प्रतिक्षण निर्विशेष चैतन्य की स्थिति बनी रहती है। बनती सबकी है, ऐसा नहीं कि आगे कोई नई वृत्ति बनानी है, लेकिन उसे पकड़ना है, ध्यान देना है। वेदांत साधना का आनंद ही यह है कि नई चीज़ कुछ नहीं करनी है, जो पहले से मौजूद है उसी को पकड़ना है। जहाँ पकड़ में आया, काम बना। यह मानकर भाष्यकारों ने यह अर्थ कर दिया।।**२१**।।

इस प्रकार जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति की अकार उकार मकार के साथ एकता का चिंतन कैसे करें? उस एकता के चिंतन का फल क्या है? और उस एकता के चिंतन का क्या प्रकार है? ये सब चीज़ें बता दीं। इस अनुभव की प्रशंसा करते हैं—

त्रिषु धामसु यत्तुल्यं सामान्यं वेत्ति निश्चितः ।
स पूज्यः सर्वभूतानां वन्द्यश्चैव महामुनिः ।।२२।।

ऊपर साधना बता दी। जो यह साधना करता है तो उसकी हमारे यहाँ प्रशंसा की जाती है। कोई अच्छा काम करे तो उसकी प्रशंसा करनी ही चाहिये, यह हमारे वेदांत का सिद्धान्त है। कोई भी छोटे से छोटा अच्छा कार्य करे तो उसकी प्रशंसा करनी चाहिये। हम लोगों ने पाश्चात्य संस्कृति सीख ली है कि छोटी से छोटी गलती करे तो उसकी समालोचना करनी चाहिये। आजकल स्कूलों के अन्दर नम्बर उसको देते हैं जो आदमी न लिखकर आये। जैसे मान लो किसी आदमी ने दस वाक्य ठीक और एक गलत लिखा तो गलत वाक्य पर स्याही फेरते हैं, दस अच्छों का कुछ नहीं। इसी प्रकार बच्चों के साथ हम लोगों का व्यवहार है। बच्चे में दस गुण हैं और एक अवगुण है, मान लो आलसी है, तो बाकी दस का विचार नहीं होगा, बार बार उसे यही बताया जायेगा कि तू कितना आलसी है। यह पाश्चात्य संस्कृति वालों की दृष्टि है और इसीलिये उनके जीवन में कभी परिपूर्णता का अवबोध नहीं होता।

मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि उनमें अपराध ग्रन्थि (guilt complex) बड़ी प्रबल होती है। उनका जो अच्छा आदर्श व्यक्ति है जिसको वे बहुत अच्छा समझते हैं, वह हमेशा इस तनाव में रहता है कि मेरे से भूल न हो जाये और उन बेचारों का गोड भी ऐसा ही है जो दण्डा लेकर खड़ा रहता है, जहाँ गलती की खट से दण्डा पड़ा। ऐसा उनके गोड का विचार है। हम तो कई बार उन लोगों से कहते हैं कि तुम्हारे यहाँ जो सबसे बड़ी कमज़ोरी है वह यह है कि तुम्हारे यहाँ मिस्टर गोड तो हैं, मिसेज गोड नहीं! वैसे यह कहते हम हँसी में हैं, लेकिन कमज़ोरी यह है कि जहाँ पिता का प्रभाव ज्यादा होता है वहाँ यह समस्या रहेगी ही। पिता की आदत है कि गलती निकाले। छाती से चिपकाने वाली माँ होती है। लड़का फेल हो गया; माँ कहेगी 'अपना कार्ड मुझे दे दे।' फिर एक दो दिन बाद जब देखेगी कि उसके पिता का मूड ठीक है तो पहले लड़के की अच्छाइयों को बतायेगी, दूसरे बच्चों की गलतियाँ निकालेगी। फिर कहेगी 'इस वर्ष परीक्षा के समय मुन्ने की तबियत कुछ ठीक नहीं थी, पढ़ाई नहीं कर पाया, ट्यूशन लगाने के लिये कहता था लेकिन लगाई नहीं। इसलिये अब की रिज़ल्ट कुछ ठीक नहीं आया।' बाप यह नहीं करेगा, वह तो पहले ही शेर की तरह कूदेगा। बाप भी अच्छे होते हैं, लेकिन प्रायः यह अनुभव किया होगा कि माँ ज्यादा गलतियों की तरफ नहीं देखती। नतीजा इसका यह होता है कि हम लोगों के तो शिव के साथ पार्वती हैं इसलिये भरोसा है कि कहीं चूक

जायेंगे तो माँ तो बैठी है। इसी प्रकार नारायण के साथ लक्ष्मी, राम के साथ सीता माँ बैठी है। लेकिन उनके यहाँ चूके तो सीधे गोड ही आना है। बीच बचौअल करने वाला कोई नहीं। इसलिये उनके यहाँ के मनोवैज्ञानिक का कहना है कि उनमें गिल्ट काम्प्लैक्स ज्यादा है। उनकी देखा देखी लोग हमारे यहाँ कहते हैं कि हिन्दू में गिल्ट काम्प्लैक्स है, उसकी भी कांश्यंस वीक (conscience weak) है अर्थात् भीतर से वह समझता है मैं गलत हूँ और उसकी आत्मशक्ति प्रबल नहीं है। किन्तु हिन्दू मनोविज्ञान ऐसा नहीं मानेगा क्योंकि हिन्दू का मानस वैसा है नहीं।

हर हालत में वे लोग केवल कमज़ोरियों पर ज्यादा ध्यान रखते हैं। इसलिये मनुष्य के जीवन में रस भावना की उत्पत्ति नहीं हो पाती। हम लोगों के अन्दर सम्भवतः दूसरी गलती कुछ ज्यादा हो गई है, ना नहीं कर सकते। लेकिन हम लोगों का हमेशा दृष्टिकोण यह रहता है कि जो अच्छा काम करे, उसकी प्रशंसा करो तो प्रशंसा के लोभ से मनुष्य अपने आप अच्छा काम और ज्यादा करने लगेगा दण्डे का प्रयोग करने की ज़रूरत नहीं। इसीलिये हम लोगों का मूलभूत प्रेमवाद है दण्डवाद नहीं। यह ठीक है कि किसी भी संस्था के अन्दर दण्ड होता है तो काम जल्दी होता है। यह बात तो हम लोग भी मान लेते हैं। लेकिन जल्दी होकर उससे फायदा किसको होना हुआ? दण्डे मारने वाले को फायदा नहीं, अपने आपको भी गरम करेगा, दुःखी करेगा तभी मारेगा। दण्डे खाने वाले को फायदा नहीं, मन में भय होगा। और यदि हम प्रेम करते हैं तो हमको भी आनन्द, बच्चे की अच्छाई को देखकर उसकी प्रशंसा करते हैं तो हमको भी आनन्द है, बच्चे को भी सुख है। अब कहो कि बड़ा होकर बिगड़ जायेगा तो दण्डे खाकर कितने प्रतिशत सुधरे हैं? किसी ने रिकार्ड रखा है? यह केवल मान ही लिया गया है।

हमारे यहाँ जो अर्थवाद वाक्य सब जगह आते हैं वे इसलिये कि थोड़ा भी अच्छा काम किया तो साथ ही उसकी प्रशंसा करो, उसकी अच्छाई बताओ। वही कह दिया 'त्रिषु धामसु यत् तुल्यम्'। धाम जिसे अंग्रेज़ी में Address या उर्दू वाले पता कहते हैं। प्राचीन काल में भी नाम धाम पूछते थे। उसकी प्रशंसा में कह दिया कि इसकी उपासना करने वाले के तीन धाम हो गये; एक धाम जाग्रत्, दूसरा स्वप्न और तीसरा धाम सुषुप्ति है। जीव को ढूँढना हो तो तीन में से एक न एक जगह बैठा हुआ मिलेगा। तीनों धामों में, जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति तीनों के अन्दर, अकार उकार और मकार के साथ एकता को समझना है। तीनों में सामान्य है। एक में आप्ति, एक में उत्कर्ष और एक में मिति है, ये ही सामान्य हैं। वह इसको निश्चित जानता है, अनुभव के द्वारा बड़ी दृढता से जानता है, किसी भी समय उससे कहो तो वह जानता है कि यह अकार उकार और मकार रूप हैं।

'स पूज्यः सर्वभूतानाम्' सारे ही प्राणियों के लिये वह पूज्य हो जाता है। पूज्य इसलिये हो जाता है कि संसार में पूज्य वही होता है जो किसी का उपकार कर सके।

मान लो हमारे पास पचास हज़ार रुपये हैं और हम लोगों को पचास पचास रुपये ज़रूरत पड़ने पर दे दिया करते हैं। दूसरे व्यक्ति के पास पचास करोड़ रुपये हैं, कोई मित्र माँगने को आ जाये तो पाँच रुपये का नोट भी देने वाले नहीं। पहले पहल तो लोग उसके पास पहुँचेंगे, सलाम करेंगे कि करोड़पति असामी है, लेकिन जहाँ थोड़े दिन बाद पता लगा फिर कोई उसे पूज्य समझने वाला नहीं है। कहेंगे कि 'करोड़पति है तो अपने घर का है, कभी किसी को कुछ भी नहीं देता। उसके घर में जाओ तो शिकंजी के गिलास को भी नहीं पूछता, हमारे किस काम का।' पूज्य इससे नहीं कि तुम्हारे पास क्या है, वास्तविक पूज्यता इससे है कि तुम दूसरे का क्या लाभ कर सकते हो। जो व्यक्ति अकार उकार मकार का ध्यान करता है उसके मन में जो कामना आती है वह पूर्ण हो जाती है। यह पहले आ ही चुका है 'आप्नोति ह वै सर्वान्कामनादिश्च भवति य एवं वेद', यहाँ उसका रहस्य बताया।

अपने लिये आदमी कितनी कामनायें करे? ज्यादातर कामनायें तो इसीलिये करता है कि कामनायें पूर्ण नहीं होतीं, नहीं तो अपने लिये कितनी कामनायें आदमी कर लेगा? ज्यादा से ज्यादा एक किलो घी, दो किलो रबड़ी, पाँच किलो दूध खा लेगा। इतने के लिये जो इतना धन एकत्रित कर रखा है वह इसलिये कि पता नहीं किसी दिन न मिले! जिसको पता है कि मेरी कामना उत्पन्न होते ही सत्य-कामता के कारण पूर्ण हो जानी है, उसकी कामनायें फिर बहुत थोड़ी रह जाती हैं। ज्यादा कामनायें फिर उसमें नहीं रह जातीं। रुद्रीय में पूरा का पूरा अध्याय ही आता है जिसमें कहते हैं 'शं च मे' 'गोधूमाश्च मे', 'मृत्तिकाश्चमे', 'लौहं च मे' इत्यादि बार बार उसके अन्दर माँगते हैं कि मेरे यह भी हो, यह भी हो, पत्थर, मिट्टी, झरने, हिरण्य, चावल, जौ। कई बार 'च मे च मे' को सुनकर लोग कहते हैं 'वैदिक ऋषियों की कभी भूख नहीं मिटती।' हमारा कहना यह है कि यदि अपने एक के लिये कामना कर रहे हों तो सीमा होती है लेकिन वैदिक तो प्राणिमात्र के लिये कामना कर रहे हैं। वे जानते हैं कि मैं कामना करूँगा तो वह कामना पूर्ण हो जायेगी। दूसरे की कामना करने से कुछ नहीं होना है। वह सोचता रहेगा पूरी हो और होनी है नहीं।

वे चूँकि सबके लिये कामना करके सबको सब चीजें बाँटते रहते हैं इसलिये वे प्राणिमात्र के लिये पूज्य हो जाते हैं, प्राणिमात्र उन्हें पूज्य दृष्टि से देखता है। ऐसे व्यक्ति की जो वंदना की जाती है अर्थात् जो नमस्कार आदि किये जाते हैं, वे सफल होते हैं। मुण्डक उपनिषद् में बताया है 'तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद्भूतिकामः' संसार के किसी ऐश्वर्य की, किसी पदार्थ की कामना हो तो आत्मज्ञानी की यदि अर्चना पूजा करते हैं तो उसकी वह कामना पूर्ण हो जाती है। 'यं यं कामं मनसा संविभाति' क्योंकि तुम्हारे मन की कामना को देखकर वह अपने मन में संकल्प करेगा कि इसकी यह कामना पूर्ण हो जाये, तो वह कामना पूर्ण हो जायेगी। इसलिये कह रहे हैं 'तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः'।

एक बार एक आदमी था जो महात्माओं की बड़ी सेवा करता था, भक्त था। लेकिन उसके कोई संतति नहीं थी। एक बार देवर्षि नारद उधर से निकले और उसके घर ठहरे। उसने नारद जी की बड़ी सेवा की, नारद जी खुश हो गये। कहा 'कुछ चाहिये तो मांग ले।' उसने कहा 'आपकी कृपा से सब कुछ है, क्या कामना करनी है! संसार में तो सब ऐसे ही चलता है।' उसकी बात सुनकर नारद जी को दया आई। कहने लगे 'मेरी भगवान् तक पहुँच है।' भक्त ने सोचा काम बन जायेगा, कहा 'एक ही कमी है कि मेरे कोई संतति नहीं है।' नारद जी ने कहा 'मैं भगवान् से जिक्र कर दूँगा।' वहाँ से नारद जी भगवान् के पास पहुंचे और कहा कि अमुक आदमी के कोई लड़का नहीं है, महात्माओं की बड़ी सेवा करता है। भगवान् ने कहा 'विधाता से रजिस्टर लेकर देख लो कि क्या ऐण्ट्री है।' नारद जी ने देखा कि वहाँ तो उस आदमी के सात जन्म में कोई संतान नहीं लिखी है। नारद जी ने कहा ठीक है, फिर वहाँ पहुँचे। उसने खूब वंदना की, बाद में जब भोजन करके बैठे तो पूछा 'भगवान् से मेरे विषय में कोई बात हुई थी?' नारद जी ने कहा 'हाँ हुई तो थी लेकिन तेरे ऐसे पाप हैं कि सात जन्म में भी तेरे कोई पुत्र नहीं होना है।' उसने कहा 'कोई बात नहीं, जैसा होगा ठीक ही होगा।'

उसके बाद साल छह महीने बीत गये। एक दिन उधर से एक शिवयोगी निकले। वह तो महात्माओं की सेवा स्वभाव से करता ही था। महात्मा ने उसे दुःखी देखकर पूछा 'क्या बात है?' उसने कहा 'मेरे को तो किसी बात का दुःख नहीं लेकिन घरवाली ज़रा दुःखी हो जाती है, कहती है कि 'आप इतनी महात्माओं की सेवा करते हो, मैं भी भोजन आदि बनाती हूँ लेकिन फल कुछ नहीं होता।' मैं उसे बहुत समझाता हूँ, लेकिन समझती नहीं है कि अपने ही पुण्य पाप फल दिया करते हैं, प्रारब्ध से ही सब मिलता है, यह वह नहीं समझती है। मेरे कोई संतति नहीं है, यही बात है। लेकिन मैंने पता लगा लिया है, मेरे सात जन्म में कोई संतान नहीं लिखी है। नारद जी आये थे, वे भगवान् से पूछकर कह गये हैं।' महात्मा ने कहा 'अच्छा, नारद जी कह गये हैं! जा इसी जन्म में सात ले ले।' महात्मा वहाँ से चले गये। अब उसके लग्गा लगा। तुम्हारी वर्तमान सरकार के पहले का राज्य था। धीरे धीरे सात आठ साल में सात बच्चे हो गये। नारद जी दस पन्द्रह साल बाद फिर कभी उधर से निकले तो देखा कि उसके घर में बड़ा शोरगुल हो रहा है। जहाँ सात बच्चे हों, वहाँ तो शोरगुल होना ही हुआ। वहाँ रुके। एक आध दिन आराम करके पूछते हैं 'ये तेरे कोई मेहमान के लड़के हैं या भाई के लड़के हैं?' उसने कहा 'नहीं।' पूछा 'फिर क्या किसी अनाथालय से लाया है?' कहा 'नहीं । एक महात्मा आये थे, आशीर्वाद दे गये, उसके फलस्वरूप सात बच्चे हो गये।' यह सुनते ही नारद जी को बड़ा गुस्सा आया। सोचा कि यह सोचेगा कि मैं पाखण्डी हूँ, क्योंकि मैंने कहा था मेरी भगवान् तक पहुँच है। गुस्से में थे ही, उसी समय सीधे वैकुण्ठ लोक में पहुँचे। दूर से भगवान् ने देखा कि नारद गुस्से में आ रहा है, सोचा लक्ष्मी भी यहीं

बैठी है, पत्नी के सामने ऊट पटांग कहेगा तो ठीक नहीं। यहाँ से चलें। यह सोचकर भगवान् गरुड पर बैठकर वहाँ से भागने लगे। इतने में नारद जी ने पहुँचकर हाथ पकड़ कर कहा 'कहाँ जा रहे हो?' भगवान् ने कहा 'थोड़ी देर बैठो, मैं अभी आ रहा हूँ।' नारद जी ने कहा 'आप बड़े मायावी हो, एक बार हाथ से निकलकर भागे तो फिर नहीं मिलने वाले हो'। भगवान् ने कहा 'बड़ा जरूरी काम है, विश्वास न हो तो तू भी मेरे साथ ही बैठ जा।' दोनों वहाँ से उड़कर एक घोर जंगल में पहुँचे जहाँ घोर वृष्टि हो रही थी। नारद जी ने सोचा कहाँ पहुँच गये, इससे अच्छा तो वहीं बैठते तो अपने खीर पूरी माल उड़ाते। लेकिन गुस्सा चढ़ा था, क्या करते।

वहाँ देखा कि पास ही एक झोपड़ी में महात्मा बैठे थे। दोनों वहाँ पहुँचे। महात्मा ने उठकर दोनों का स्वागत किया। भगवान् ने कहा 'भूख बड़ी लगी है।' महात्मा ने कहा 'मेरे पास और तो कुछ नहीं है दूध है'। भगवान् ने कहा 'दूध ही गरम करके ले आ।' दोनों वहाँ बैठे रहे, वह पास के कमरे में चला गया। थोड़ी देर में उधर से मांस के जलने की बदबू आने लगी। नारद ने पूछा 'यह बदबू कहाँ से आ रही है?' वहाँ से उठकर उस कमरे में गये जहाँ वह महात्मा दूध लेने गया था। वहाँ जाकर देखा कि भयंकर काण्ड हो रहा है। वह महात्मा अपने पैरों के ऊपर तेल के कपड़े बाँध कर उसी पर दूध गरम कर रहा है। उससे कहा 'यह क्या कर रहा है?' बोला 'पन्द्रह दिन से पानी बरस रहा है, सूखी लकड़ी कहाँ से आयेगी? यही एक सूखी चीज़ है, बाकी सब तो गीला ही गीला है।' उन्होंने कहा 'पहले ही कह देता तो हम कहते कि ठण्डा ही पिला दे!' वे तो वहाँ भगवान् के रूप में थे नहीं। लेकिन महात्मा पहचान गया था, कहता है 'साक्षात् त्रिलोकी के नाथ मेरे घर आकर कहें कि गरम दूध पीना है तो शरीर का इससे ज्यादा सदुपयोग कैसे हो सकता है?' नारद जी ने कहा 'क्या भगवान् को तूने पहचान लिया?' महात्मा ने कहा 'और जन्म भर किया ही क्या है जो नहीं पहचानूँगा? यह तो मेरा काम ही है।' भगवान् से आकर कहा 'वहाँ तो बड़ा भयंकर काम हो रहा है और उसे यह भी पता है कि आप विष्णु हैं।' वह स्थिति देखकर नारद की आँखों में पानी आ गया कि ऐसे भी लोग होते हैं। भगवान् ने सोचा अब ठीक समय है। कहा 'देख नारद, यही वहाँ सात लड़कों की प्रतिज्ञा कर आया था। तूने तो मेरे से हिसाब पूछा था कि क्या बात है। मैंने कहा विधाता का रजिस्टर देख ले। इसने पूछा नहीं, यह तो कह आया कि इसी जन्म में सात हो जायेंगे। इसके संकल्प को मैं कैसे ना कर दूँ?' नारद जी ठण्डे पड़ गये। कहने लगे— 'हाँ भगवन्, ऐसा भक्त हो तो क्या मना करेंगे! ठीक ही हुआ।'

इसलिये भगवान् गौडपाद कह रहे हैं 'वन्द्यश्चैव महामुनिः' वही वंदना का पात्र इसलिये होता है कि जो उसके सामने आ जाये उसकी क़ामना पूर्ति करने का ही उसका संकल्प बनता है, अपने लिये नहीं। उसमें सत्यसंकल्पता होने के कारण वह वन्द्य हो जाता है। संसारी लोगों की वंदना करने से कुछ नहीं होता। लोग दुनिया भर की वन्दना

करते रहते हैं कि यह राजी हो जायेगा तो काम बन जायेगा। कोई मिनिस्टर को, कोई डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट को राजी करता है, कोई सेठों को राजी करता है। इनको राजी करने से कुछ नहीं मिलना है। यदि परमात्मा के ऐसे मुनि की वंदना कर ली तो वह सब की कामनाओं को पूर्ण कर देते हैं और वह भी महामुनि हो जाता है अर्थात् ब्रह्मवेत्ता हो जाता है। भाष्य में कहा है 'यथोक्तस्थानत्रये तुल्यमुक्तं सामान्यं एवमेवैतदिति निश्चितो यः स पूज्यो वन्द्यश्च ब्रह्मविल्लोके भवति' पूर्वोक्त विषय ऐसा ही है, यों जिसका साक्षात्कार हो गया, वह पूज्य और वन्द्य है। महामुनि का अर्थ कर दिया— वही लोक में ब्रह्मवेत्ता कहा जाता है।।२२।।

●

अकारो नयते विश्वमुकारश्चापि तैजसम् ।
मकारश्च पुनः प्राज्ञं नामात्रे विद्यते गतिः ।।२३।।

ध्यान दो प्रकार का होता है। एक चित्त की एकाग्रता कराने वाला और एक तत्त्व का साक्षात्कार कराने वाला। चित्त की एकाग्रता के ध्यान में किसी भी चीज़ के ऊपर चित्त को स्थिर करने का अभ्यास किया जाता है। वह चित्त की एकाग्रता को तो कर देगा लेकिन साक्षात्कार में कारण नहीं पड़ेगा। ऐसे प्रतीक को जिसका कुछ तात्पर्य होता है उस तात्पर्य पर ध्यान रखते हुए जो चित्त एकाग्र किया जाता है वह तत्त्व साक्षात्कार का हेतु बनता है। जैसे चित्त एकाग्र करने के लिये तुमने दीपक जला लिया, उसकी लौ पर चित्त एकाग्र कर लिया; सूर्य पर, बिन्दु पर चित्त एकाग्र कर लिया; राम राम, कृष्ण कृष्ण या राधे राधे, किसी एक नाम पर चित्त एकाग्र कर लिया; अथवा किसी मूर्ति पर चित्त एकाग्र कर लिया। उसमें उस मूर्ति से अतिरिक्त या लपट से अतिरिक्त या सूर्य से अतिरिक्त, या उस शब्द से अतिरिक्त, बीच में कोई दूसरी चीज़ न आने पाये, इसका ध्यान है। चौबीस मिनट तक जब वृत्ति बीच में अन्य चीजों को न लाये तब उसे धारणा कहते हैं और जब उसका छह गुना हो जाता है तब ध्यान है जो करीब तीन घण्टे हो गया। चौबीस मिनट की एक घड़ी होती है, इसलिये तीन घण्टे तक वृत्ति स्थिर रहे तो ध्यान है। आजकल लोगों ने ध्यान शब्द का प्रयोग अंग्रेजी के pay attention का अनुवाद कर लिया है। इसलिये सैकेण्ड दो सैकैण्ड का ध्यान होने लग गया है, मिनट दो मिनट का ध्यान तो अच्छे ध्यानों में गिना जाता है। यहाँ पर चित्त की एकाग्रता तो है क्योंकि बीच में कोई दूसरी वृत्ति नहीं लेकिन इससे तत्त्व-साक्षात्कार नहीं होता, केवल चित्त एकाग्रमात्र होता है।

जिसको प्रतीक लेते हैं, उस प्रतीक का कोई तात्पर्य होता है। यह इसलिये कहते हैं कि आजकल लोग यहाँ तक कहने लग गये हैं कि किसी नाम का आधार ही तो लेना है, चाहे राम राम कहें, चाहे कृष्ण कृष्ण और चाहे कोका कोला, कोका कोला कहें, क्या फरक पड़ता है? यह हमको किसी सज्जन ने प्रत्यक्ष आकर बताया। सज्जन मायने

धर्मप्रचारक। हिन्दू के धर्म की एक बहुत बड़ी विशेषता है कि बाकी सब धर्मों का प्रचारक बनने के लिये तो उस धर्म का ज्ञान चाहिये हिन्दू धर्म का प्रचारक बनने के लिये कोई ज्ञान नहीं चाहिये। छाती की हिम्मत चाहिये कि कुछ भी बोल सकें, आगे फिर उसपर कोई रुकावट नहीं! यहाँ तक तो ठीक है कि यदि कोका कोला की बोतल पर चित्त एकाग्र करोगे तो वृत्ति स्थिर हो जायेगी, इतने अंश में वे जो बात कहते हैं वह ठीक हो सकती है, लेकिन उसका आगे फल कुछ नहीं है। इसलिये उसे हम लोग जड ध्यान कहते हैं। उसके द्वारा ज्यादा से ज्यादा जड समाधि हो जायेगी अर्थात् लयावस्था हो जायेगी। उससे परमेश्वर का साक्षात्कार नहीं होना है।

तत्त्वसाक्षात्कार के लिये तुमने जिसको प्रतीक बनाया है उसमें प्रतीकता होनी चाहिये और उस प्रतीकता का भान होना चाहिये, करने वाले को उसके अर्थ का ज्ञान होना चाहिये। केवल संस्कृत व्याकरण जानना अर्थज्ञान नहीं है। राम राम इस मंत्र को बोलते हुए प्राणिमात्र के हृदय में रमण करने वाले, रावण आदि असुरों का विनाश करने वाले, करुणामात्र से वैकुण्ठलोक छोड़कर हम लोगों के बीच आने वाले इत्यादि सारी चीज़ें हृदय में जब पूर्ण रूप से प्रस्फुटित हों, तब राम राम का जप तत्त्वसाक्षात्कार में हेतु बने अर्थात् राम का दर्शन हो। और अगर यह सब भाव नहीं है तो मन चाहे थोड़ी देर के लिये एकाग्र हो जाये, लेकिन तत्त्वसाक्षात्कार नहीं होगा। यह नाम का ध्यान बताया।

इसी प्रकार यदि कृष्ण की मूर्त्ति के ऊपर ध्यान करें, तो जो विश्व ब्रह्माण्ड को चलाने वाला है उसका ध्यान करें। अत्यंत सुन्दर यह ब्रह्माण्ड चल रहा है। संसार में जिस चीज़ को देखो वह चक्र में चलती है। समुद्र से पानी उठा, बादल बनकर कहाँ जाकर गिरता है? ऐसा नहीं कि वहीं बरसता हो या वहाँ से एक कोस पर जाकर बरस जाये, बल्कि वहाँ से चलकर ठेठ ऊँची पहाड़ की चोटी पर जाकर बरसेगा। यह विलक्षण परमेश्वर की कृपा है। यदि पानी नीचे बरसने वाला होता तो पहाड़ में रहने वाले प्राणी क्या करते? ऊपर से बरसता है तो पहाड़ से नीचे आकर भी सबको मिल जाता है। यदि भगवान् नियम ही यह बनाते कि पहाड़ की चोटी पर जाकर टकराने की ज़रूरत नहीं है, तो वहाँ लोगों को पानी कैसे मिलता? जब पहाड़ की चोटी पर टकराकर वृष्टि होती है तो सबको मिल जाता है। अगर परमेश्वर अत्यधिक करुणामय न होता तो यह नहीं होता।

एक बार केदारनाथ में दूध लाने वाले से हमारी बातचीत होने लगी। वह कहने लगा कि 'आपके देश में मैं भी एक बार गया था।' अर्थात् पहाड़ छोड़कर नीचे गया था। 'क्योंकि यहाँ बहुत पैसे वाले लोग आते हैं, मैंने भी सोचा कि वहाँ चलकर कुछ पैसा कमा लायें। वहाँ जाकर चार पाँच दिन हुए होंगे तो मैंने देखा कि हमारा पहाड़ इतना ऊँचा, सूर्य के पास, फिर भी वहाँ इतनी गर्मी नहीं होती जितनी यहाँ नीचे होती है। दूसरी बात पाँच सात दिन बाद मैंने बड़ी भयंकर देखी कि एक गड्ढा खुदा हुआ था। मैंने झाँका। पूछा कि 'यह क्यों खोद रखा है, कोई गिरगिरा जायेगा।' कहने लगे 'यहाँ कुआँ खुद रहा है।' मैंने पूछा 'कुआँ क्या होता है?' कहा 'इससे सब पानी खींचकर पीते हैं। खोदते

खोदते नीचे से पानी निकल आयेगा।' मैंने कहा 'यदि नीचे से खोदते खोदते ऊपर से मिट्टी गिर जाये तो खोदने वाले का क्या हाल होगा?' उन्होंने कहा 'कभी ऐसा भी हो जाता है।' मैंने कहा यह देश भगवान् का बनाया हुआ नहीं है। हमारे देश में तो पत्थर हैं और पत्थर फ़ोड़कर ऊपर से पानी निकलता है। वहाँ झरने नौनार होते हैं। और आपके देश में तो जमीन नीचे है, वहाँ तो पानी ऊपर होना चाहिये। लेकिन वहाँ गड्ढा खोदना पड़ता है पानी निकालने के लिये! मान लो हम यहाँ पैर रपट कर गिर भी जायेंगे और मर भी जायेंगे तो आसमान, तारे देखते हुए मरेंगे। कुएँ में पड़कर मरना पड़े तो कुछ नहीं दीखेगा। इसलिये मैंने कहा कि यह देश भगवान् का नहीं है और यहाँ पैसा कमाने का कोई फायदा नहीं।'

उस चक्र को समझो। समुद्र से ऊपर पहुँचकर वहाँ से बहते बहते नदियाँ होकर फिर उसी समुद्र में पहुँच जाता है, चक्र पूरा हो गया। हमने गेहूँ खाया, उससे हमारा खून इत्यादि बना, अंत में उससे विष्ठा बनकर खाद बन गई और फिर उसके द्वारा अन्न पैदा हो गया, चक्र पूरा हो गया। बीज पैदा हुआ, वृक्ष हुआ, फूल लगे, फल हुए और अंत में उसमें से फिर बीज निकल आया, चक्र पूरा हो गया। संसार में जितनी चीज़ें है सब चक्र रूप में हैं। यह संसार देखने में अत्यंत सुन्दर है। संसार से और सुंदर चीज़ अन्यत्र कहाँ मिलेगी। एक बीज बोकर हज़ारों गेहूँ के बीज तोड़ो! बूँद से मिस इंडिया, मिस अमरीका, मिस यूनिवर्स, सुन्दर से सुन्दर औरतें बनीं; एक बूँद ही है और कुछ नहीं है।

इसलिये भगवान् कृष्ण इस ब्रह्माण्ड के सुन्दर चक्र, सुदर्शन चक्र को चला रहे हैं। जो देखने में अत्यंत सुन्दर हो उसे सुदर्शन कहते हैं। दूसरे हाथ में भगवान् वंशी लिये हुए हैं। वंशी नाद करती है और प्राणवायु से नाद करती है। यह सारा जो विश्व ब्रह्माण्ड है इसके अन्दर नाद रूप से परमेश्वर की प्राणवायु भी गूँज रही है। जैसे वंशी के छेद हैं वैसे हम लोगों के अंतःकरण हैं। जिस जिस छेद से अंगुली उठाते जाते हैं उस उससे आवाज़ निकलती जाती है और जिस छेद पर अंगुली रख देते हैं वहाँ आवाज़ बंद हो जाती है। परमेश्वर हमारे अंतःकरणों के अंदर अपनी ही प्राणवायु फूँक रहा है। श्वेताश्वतर उपनिषद् कहती है 'यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै तं ह देवम्' परमेश्वर ऋषियों के अंतःकरण में वेद का ज्ञान फूँकते हैं। ऐसा नहीं कि पहले कभी फूँक दिया और अब नहीं फूँकते हैं। अब भी अपने अन्दर नवीन नवीन ज्ञानों का स्फुरण, ग्रहण करने वाला अंतर्यामी नारायण ही है, और कोई नहीं है। बड़े बड़े विद्वान् होते हैं। जिस समय उनके हृदय पर अंगुली रखकर भगवान् उस छेद को बन्द कर देते हैं तो वे बड़े बड़े विद्वान् मूर्ख होकर देखते रहते हैं। सारे हिन्दुस्तान के चालीस करोड़ आदमियों को चलाने वाले गांधी जी मरने के पहले बार बार कहते हैं कि 'मुझे रास्ता नहीं सूझता।' पहले सबको रास्ता बताते थे। क्या हो गया? भगवान् अंतर्यामी ने छेद बन्द कर दिया। चाहे महान् से महान् पुरुष रहे हों, अंत में क्या नज़र आया? कुछ नहीं। सारी सृष्टि के सबसे बड़े

युद्ध को अकेला लड़ने वाला अर्जुन था जिसने एक दिन में सात अक्षौहिणी सेना को अकेले मारा था। दुर्योधन पक्ष की कुल ११ अक्षौहिणी सेना थी। जिस दिन जयद्रथ को मारा उस दिन दस घण्टे में सात अक्षौहिणी सेना को अकेले अर्जुन ने मारा था और तब जयद्रथ मरा। जब उसके हृदय पर भगवान् की अंगुली बन्द हो गई तो जिस समय साधारण मैणे और भील आये हुए थे, कहता है 'मैं अर्जुन हूँ, मार दूँगा, खत्म कर दूँगा।' वे कहते हैं 'कर ना, बात क्या कर रहा है।' उस समय बड़ा सोचता रहा। ब्रह्मास्त्र, पाशुपतास्त्र भी याद नहीं पड़ रहा था। वे सब लूटकर ले गये और वह कहता ही रहा कि 'मैं अर्जुन हूँ, मैं अर्जुन हूँ।' कुछ नहीं हुआ। विचार करो, जिस छेद में से उन्होंने अपनी प्राणवायु को निकाला वह सर्वज्ञ बन गया और जिससे नहीं निकाला वह चाहे जितना विद्वान् हो, कुछ नहीं कर सका, मूर्ख होकर बैठा रहा। इसीलिये उनके हाथ में वंशी है। इस प्रकार भगवान् की सारी चीज़ों का विचार करते हुए जब ध्यान करोगे तब तो कृष्ण तत्त्वं का साक्षात्कार होगा, नहीं तो कैसे होगा? इसलिये हमारे यहाँ केवल कोका कोला, कोका कोला कहने से तत्त्वसाक्षात्कार नहीं होगा।

चित्त एकाग्र तो किसी भी चीज़ से हो जायेगा। लेकिन तत्त्वसाक्षात्कार के प्रति जिसका ध्यान कर रहे हो उस ध्यान के अर्थ का पता होना चाहिये। तभी वह ध्यान फल वाला होगा। इसलिये ज्ञान होना चाहिये कि अकार, उकार, मकार, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति को बताता है। भगवान् का रंग कृष्ण वर्ण या काले रंग का क्यों है? सारे रंगों को मिला दो तो कृष्ण वर्ण हो जाता है। वरण अर्थात् चुनना, लोक में भी कहते हैं कि उसने उसे वरण कर लिया अर्थात् चुन लिया। सुख दुःख जो कुछ आता है वह परमेश्वर का ही रूप मैं समझूँगा, ऐसा विचार करने से जो सारे पदार्थों की भेददृष्टि हट जाती है उसी को अंधकार की तरह काले रंगवाला मान लिया तभी उसके अन्दर ध्याननिष्ठा आयेगी। जैसे वहाँ अकार, उकार, मकार में ध्याननिष्ठा को प्राप्त करना पड़ता है वैसे ही सर्वत्र ध्यान में समझ लेंना। उसके द्वारा ही उसमें निष्ठा उत्पन्न होगी अन्यथा निष्ठा अर्थात् नितराम् स्थिति नहीं होगी। थोड़ी देर के लिये कर लो, बात दूसरी है। इसलिये उसे जड ध्यान और इसे चेतन ध्यान कहते हैं।

इस प्रकार का जो ध्याननिष्ठ है उसके फल को बताते हैं 'अकारः विश्वं नयते' अकार का ध्यान इसको विश्व की प्राप्ति कराता है। 'अकारालम्बनम् ओंकारम्' अकार के आलंबन ॐ का ध्यान करने वाला विश्व बन जाता है। आलम्बन अर्थात् प्रधान। अकारप्रधान ओंकार का ध्यान करने वाले को विश्वभाव की प्राप्ति हो जाती है। विश्व अर्थात् जाग्रत् का अभिमानी। शंका हो सकती है कि इसमें ध्यान करने की क्या ज़रूरत है? जाग्रत् के अभिमानी तो हम बने ही हुए हैं। 'विश्वं वैश्वानरम्' इस समष्टि के अन्दर फिर अपना बोध हो जाता है। अभी तो केवल अपने को साढ़े तीन हाथ के शरीर में समझते हो, अकार का ध्यान करने पर, वैश्वानर भाव की प्राप्ति होने पर अपने को समग्र ब्रह्माण्ड

में देखने लगते हो। जैसे भगवान् के वर्ण को केवल समझ लिया, कि सारे सुख दुःख आदि वहाँ एक रूप में हैं यह समझ लिया, लेकिन ध्यान नहीं किया तो उस स्थिति की प्राप्ति नहीं होगी। बिना समझे केवल ध्यान जैसे तत्त्वज्ञान नहीं करा सकता, वैसे ही केवल किसी चीज़ को समझ लिया और ध्यान के द्वारा उसकी निष्ठा-प्राप्ति नहीं की तो फिर उसका जो फल होना है वह नहीं होगा।

आजकल प्रायः लोगों में यही होता है। पहले यह होता था कि कोई आता था तो उसे कुछ ध्यान बता दिया और फिर उससे कहते थे कि पाँच साल तक इसे जाकर करो। वह जाकर करता था। सत्यकाम का दृष्टांत लोग खूब दिया करते हैं क्योंकि उसमें जातपाँत तोड़ो वाली बात उन्हें अच्छी लगती है, सच्ची झूठी जो हो। लेकिन उसे गुरु ने शिक्षा क्या दी— इस बात को कोई नहीं कहता। उससे गुरु जी ने कहा 'यह एक साँड है और सौ गौएँ हैं। इन्हें ले जा और जब हज़ार गायें हो जायें तो ले आना।' यह शिक्षा (education) थी। इसलिये जब लोग यह दृष्टांत देते हैं तो हम कहते हैं कि उसे पढ़ाया क्या है? उसे शास्त्र थोड़े ही पढ़ाये हैं। आज किसी को कहो तो क्या करेगा? उसे दिन में पाँच बार प्रश्न उठेंगे। अपने प्रश्न का समाधान कोई नहीं करता, विचार करके भी नहीं करना चाहता। नतीजा यह होता है कि चीज़ कही जाती है, वह समझ में आ जाती है लेकिन निष्ठा के द्वारा हृदय का अंग नहीं बनती और हृदय का अंग न बनने के कारण जीवन में जो परिवर्तन आना चाहिये, वह नहीं आता। आज का लड़का सत्य बोलने के ऊपर जितना बढ़िया लेख (article) लिख सकता है, पुराने लोग नहीं लिख सकते थे, लेकिन लेख लिखने के बाद दिन भर सत्य बोलने की ज़रूरत नहीं। पुराने लोग जानते थे कि सत्य नहीं बोलेंगे तो भगवान् दण्ड देंगे।

इसी प्रकार आप लोगों में से कई को याद होगा कि कोई अपना रिश्तेदार हो या अपने छोटे गाँव का ही कोई आदमी हो, यदि वह मर जाता था तो जब तक लाश उठाकर नहीं ले जाते थे, पूरे गाँव के अंदर कोई भोजन बनाकर नहीं खाता था, चाहे किसी भी जाति का हो। लेकिन वे लोग बता नहीं सकते थे कि दूसरे के दुःख में दुःखी होना चाहिये। अब हमारे नेता खड़े होकर भाषण देंगे कि सोशलिज्म, कम्युनिज्म के द्वारा गरीबों का निरंतर उद्धार होना चाहिये, इसपर बढ़िया से बढ़िया युक्तियाँ देंगे। और प्रवचन करने के बाद भी अशोका होटल में जाकर पच्चीस रुपये का माल खा जाते हैं। जिन्हें सुनाया उन्हें एक रूपया भी नहीं देते। उनको सब पता है कि गरीबों का उद्धार करना चाहिये लेकिन करना है, इसमें निष्ठा नहीं है। युक्तियाँ वे सब जानते हैं कि कैसे कैसे गरीबों का उद्धार करना चाहिये।

कई बार लोग हमारे पास आते हैं। हमें बड़ा विचित्र अनुभव होता है। आकर कहेंगे 'महाराज! हमें संसार में कुछ नहीं चाहिये, केवल भगवान् के चरणों का प्रेम चाहिये, संसार की सब चीज़ें क्षणिक हैं, कुछ स्थिर नहीं रहता, सब चले जाते हैं। एकमात्र भगवान्

ही रहता है, बस उन्हीं में भक्ति हो, आप यही आशीर्वाद दीजिये।' यह सब इंट्रोडक्शन होने के थोड़ी ही देर बाद कहते हैं 'आपके यहाँ अमुक डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट आते हैं, मेरा लड़का उनके अंतर्गत काम करता है, आप ज़रा कृपा कर दें तो उन्होंने उसकी इन्क्रीमैण्ट रोकी हुई है, वह दिलवा दें।' यदि पहले यह बात कही होती तो हम कहते कि सब प्रारब्धाधीन होता है, यदि भगवान् नहीं दे रहे हैं तो कोई कल्याण ही होगा। संसार के पदार्थ मिल भी जायें तो क्या फ़ायदा है। यह जो हमको कहना था, यह तो वह पहले ही कह चुके! उसे अब दोहराने की ज़रूरत नहीं है। यह हमारे अन्दर पूरी तरह से है। बड़े बड़े शहरों में यही अनुभव होता रहता है। सत्संग-काल में सब यही ख्याल रखते हैं कि यहाँ इन्कमटैक्स आफिसर, इन्कमटैक्स कमिशनर आये, जज आये। ध्यान यह नहीं कि व्यक्ति आया, यह है कि यह किस पद वाला है और उससे क्या काम निकाला जा सकता है। जहाँ जितना ज्यादा काम निकाला जा सकता है वह उतना ही अच्छा सत्संग माना जाता है। इसीलिये निष्ठा नहीं बनती। भगवान् के रंग के अन्दर सुख दुःख सब समान है, यह समझ मात्र लेने से काम नहीं चलेगा। ध्यान-निष्ठा के द्वारा जब अपने जीवन का अंग बनाओगे तो जब दुःख आयेगा, जब शोक मोह आयेंगे, तब जानोगे कि ये भगवान् का ही रूप हैं। क्योंकि वे कृष्ण वर्ण के हैं इसलिये ये सभी हमारे सामने आ रहे हैं। तब वह ध्यान निष्ठा दृढ होगी। केवल ध्यान से काम नहीं, और केवल समझने से भी काम नहीं होगा। दोनों का योग होगा तभी निष्ठा बनेगी। इसलिये कहा 'अकारो नयते विश्वम्।' विश्व तो प्राप्त ही है, इसलिये विश्व मायने वैश्वानर की प्राप्ति हो जाती है। भाष्य में स्पष्ट करेंगे कि वैश्वानररूप को प्राप्त हो जाता है अर्थात् केवल यह नहीं समझता कि सब प्राणियों में एक आत्मा है बल्कि सब प्राणियों में साक्षात् अपना अनुभव करता है। यह अनुभव है।

एक बार रामकृष्ण परमहंस कुछ बात कर रहे थे, कोई व्यक्ति घास पर दौड़ पड़ा तो वे चिल्ला पड़े, उन्हें अनुभूति हुई कि कोई मेरी पीठ पर दौड़ रहा है। एकात्मध्यान में साक्षात् यह अनुभव होता है। केवल कहने की बात नहीं कि सबमें एक ही आत्मा है। हमारे वेदांत का एक ग्रन्थ 'अद्वैतसिद्धि' है जिसपर लघुचन्द्रिका नाम की टीका है। उसमें जहाँ सर्वात्मभाव का विचार आया है वहाँ लघुचन्द्रिकाकार ने एक श्लोक दिया है 'द्रौपदीशाकमास्वाद्य त्रिलोकी येन तर्पिता। तज्जीवब्रह्मणोरैक्ये साक्षि ब्रह्मैव नो हरिः।' सारे ब्रह्माण्ड में एक ही आत्मा है। इसमें हमारा साक्षी कौन है? कृष्ण हमारे साक्षी हैं। कैसे? द्रौपदी साग का एक टुकड़ा अन्नपूर्णा के बर्तन से दे पाई। उसको खाकर भगवान् का संकल्प हुआ कि त्रिलोकी तृप्त हो जाये। नतीजा यह हुआ कि दुर्वासा और उनके जितने शिष्य थे सबका पेट भर गया, सारी त्रिलोकी का पेट भर गया। वहाँ लिखा है द्रौपदी के साग का 'आस्वादन करके;' 'खाकर' नहीं लिखा है। खाकर सबका पेट भरता तो शायद कल्पना भी कर लेते कि कुछ तो पेट में गया होगा। लेकिन वहाँ तो केवल

आस्वादन किया अर्थात् जीभ मात्र पर रखा, जैसे मन्दिर में तुलसी केवल जीभ पर ही लगती है। उतने मात्र से सारी त्रिलोकी तृप्त हो गई। इससे सिद्ध होता है कि एक ही आत्मा सारे प्राणियों में है नहीं तो यह तृप्ति नहीं बनेगी। उसी को यहाँ कहा 'अकारः नयते विश्वम्'। इसीलिये अनुभवपूर्वक ज्ञान को बताने के लिये कारिकाकारों ने 'नयति' परस्मैपद का प्रयोग न करके 'नयते' आत्मनेपद का प्रयोग किया। इस पद प्रयोग से बता दिया कि इसी बात को कहना चाहते हैं। भाष्यकारों ने उसे स्पष्ट किया है।

इसी प्रकार उकार को प्रधान बनाकर ध्यान करने वाले को तैजस अर्थात् हिरण्यगर्भरूपता की प्राप्ति हो जाती है। 'मकारश्च पुनः प्राज्ञं नामात्रे विद्यते गतिः' मकार को प्रधान करके उपासना करने वाले को ईश्वर के साथ की सायुज्य मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है। परमेश्वर के साथ वह युक्त हो जाता है। परमेश्वर से उसकी भिन्नता नहीं रहती। ये तीन बताकर अंत में बताते हैं 'अमात्रे गतिः न विद्यते' जो अमात्र है उसके अन्दर तो फिर यहीं पर विदेह कैवल्य हो जाने से यहीं मुक्ति हो जाती है। उसे न हिरण्यगर्भ की प्राप्ति, न वैश्वानर की प्राप्ति, और न ईश्वर की प्राप्ति है। वह तो यहीं मुक्त हो जाता है। उसके तत्त्वज्ञान से यही होता है। अमात्र अगले मंत्र में विस्तार से आना है।

'यथोक्तैः सामान्यैरात्मपादानां मात्राभिः सहैकत्वं कृत्वा यथोक्तोंकारं प्रतिपद्य यो ध्यायति तमकारो नयते विश्वं प्रापयति।' ऊपर कही हुई जो समानतायें हैं उनके द्वारा आत्मा के चार पादों का ओंकार की चार मात्राओं के साथ एकता करके अर्थात् दोनों एक हैं, इस प्रकार उस ॐ को जान कर या समझ कर जो ध्यान करता है, उसी पर चित्त एकाग्र करता है, उसे वह अकार विश्व की प्राप्ति करा देता है। विश्व का अर्थ स्पष्ट कर दिया। 'अकारालम्बनोंकारं विद्वान्वैश्वानरो भवतीत्यर्थः' अकार-आलम्बन ओंकार की उपासना करने वाला वैश्वानर पद को प्राप्त कर लेता है। 'तथोकारस्तैजसम्' उसी प्रकार उकार-प्रधान ओंकार का ध्यान करने वाला हिरण्यगर्भ को प्राप्त कर लेता है। 'मकारश्चापि पुनः प्राज्ञम्' और मकारप्रधान ॐ की उपासना करने वाला प्राज्ञ अर्थात् परमेश्वर को प्राप्त कर लेता है। 'चशब्दान्नयत इत्यनुवर्तते' केवल एक ही जगह क्रिया पद दिया है, आगे क्रिया नहीं दी है। च का मतलब है कि क्रिया पद को वहाँ भी लेना चाहिये।

'क्षीणे तु मकारे' अमात्र का अर्थ करते हैं कि मकार जब क्षीण हो जाता है तब अमात्र है। यह करने की साधना है। स्थूल प्रपंच जाग्रत् विश्व वैश्वानर रूप है। यह पहले ध्यान पर ज़ोर रहता है। ध्यान तो ओंकार का ही है लेकिन एक एक चीज़ को लेकर ध्यान है। जैसे भगवान् का ध्यान पहले चरणों पर, फिर पिण्डलियों पर, फिर हाथों पर, मुख पर, फिर होठों पर और फिर आँखों पर। सर्वत्र ध्यान भगवान् का चल रहा है लेकिन एक एक अंग पर ध्यान एकाग्र करते हुए जायेंगे तो बनेगा, सारा शरीर ध्यान में स्पष्ट रूप से नहीं आयेगा। उसी प्रकार ओंकार के तीनों पाद एक एक करके होते जायेंगे। जब एक बैठ (सैट हो) जायेगा, तब दूसरा करने पर पहले वाले का अनुवर्तन बना रहेगा।

उसमें भी शास्त्रकारों ने क्रम बताया है कि चरणों से उठकर मुख तक जाना चाहिये। यह ध्यान का प्रधान रूप है। कई बार ध्यान प्रारंभ से ही मुख से शुरू करते हैं। इसमें थोड़े समय तक तो ध्यान करने पर अच्छा लगता है लेकिन थोड़े समय के बाद ध्यान की गंभीरता नहीं आती। इसलिये चरणों में भी दाहिने चरण के अंगुष्ठ पर जो नख की छवि है, वहाँ पर ध्यान करना चाहिये। उसी प्रकार यहाँ भी क्रम है, ऐसा नहीं कि कोई उकार ही पहले कर ले। जाग्रत्, विश्व और वैश्वानर यह स्थूल प्रपंचरूप है और यह स्थूल प्रपंच अकारमात्र है। यह पहले ध्यान में पक्का कर लो। फिर उसके बाद सूक्ष्म प्रपंच स्वप्न अवस्था के अन्दर तैजस से अभिन्न हिरण्यगर्भ उकार मात्र है, यह ध्यान दृढ कर लेना चाहिये। फिर स्थूल सूक्ष्म दोनों प्रपंचो का कारण सुषुप्ति अवस्था रूप से प्राज्ञ से अभिन्न ईश्वर मकारमात्र है।

जब यह ध्यान पक्का हो जाये तब फिर पूर्व पूर्व के प्रविलापन का ध्यान करे। जाग्रत् भी स्वप्न ही है। जब यह पक्का हो जायेगा तो फिर जाग्रत् स्वप्न जो अभिन्न हैं, वह फिर सुषुप्ति ही है। इस प्रकार पूर्व पूर्व को पर पर में लीन करता चला जाये। उत्तरोत्तरभाव को प्राप्त करा ले। जब यह हो गया तब वह मकार अमात्रा में पहुँचेगा। यह सब ओंकार मात्र ही है। जब इस प्रकार लीन कर लिया तो ये तीनों ध्यान जो हमने किये, ये ओंकार मात्र ही हैं। जब ओंकार मात्र ही हैं ,ऐसा ध्यान करता है तो इतने काल तक जो ॐ रूप से मैं समझ रहा था वही परिशुद्ध ब्रह्म है क्योंकि उस ॐ में ही मैंने अ उ म की कल्पना की। उसी प्रकार उस अखण्ड आत्मा के अन्दर ही मैंने इन्द्रियों से दर्शन के समय जाग्रत् की कल्पना की, इन्द्रियों की वृत्ति न होने के समय में स्वप्न की कल्पना कर ली। जब जाग्रत् स्वप्न दोनों नहीं उस समय में कारण रूप से, बीज अज्ञान रूप से मैंने सुषुप्ति की कल्पना कर ली। लेकिन इन सब, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों, अवस्थाओं के अंदर है एकमात्र परमात्मा ही परमात्मा। इन्द्रियों से देखा तो परमात्मा को देखा, इन्द्रियों के बिना केवल अंतःकरण से स्वप्न काल में देखा तो परमात्मा को देखा, सुषुप्ति काल में जब ये दोनों नहीं तो सारे संसार को उत्पन्न करने वाला बीज रूप भी परमात्मा ही है। इसी प्रकार एक ओंकार के अंदर ही हम अ उ म देख रहे हैं। है तो वहाँ केवल ॐ ही, अ उ म तीनों वहाँ नहीं हैं। उस ॐ को समझने के लिये हमने तीन चीज़ों की कल्पना कर ली। इतने समय तक जो हम इस प्रकार से देख रहे थे वह ॐ ही परिशुद्ध ब्रह्म आत्मरूप तीनों कल्पनाओं से भिन्न है, ऐसा जब गुरु का उपदेश होता है तो फिर उसकी समाधि सर्वथा ॐ में एकाग्र हो जाती है और उसी से फिर उसे ब्रह्माकार वृत्ति बनकर परब्रह्म परमात्मतत्त्व का साक्षात्कार हो जाता है।

'क्षीणे तु मकारे' जब मकार क्षीण हो जाता है तो पूर्वोक्त जितने विभाग हमने किये थे, सब रह नहीं जाते। अ, उ, म, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, विश्व, तैजस, प्राज्ञ, वैश्वानर, हिरण्यगर्भ, ईश्वर, ये सबके सब विभाग अज्ञान से थे, था तो वहाँ एक ही आत्मा लेकिन

हमने समझने के लिये उसमें तीन विभाग कर लिये थे। ये विभाग चूँकि अज्ञान से थे, इसलिये जैसे ही तत्त्वसाक्षात्कार हुआ तो अज्ञान नहीं रहा, पता लगा कि एक ही आत्मा सर्वरूप है। जैसे ही यह पता लगा अज्ञान नष्ट हो गया। उसी को कह दिया 'बीजभावक्षयात्।' कई बार लोगों को यह शंका होती है कि सुषुप्ति में किसी भी चीज़ का भान नहीं रहता और श्रुति कहती है कि ब्रह्म से एक होकर वहाँ रहता है 'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति।' युक्ति से भी बताते ही हैं कि यदि उस समय हमारा परमात्मा से सम्बन्ध न होता तो हम वापिस तरोताज़ा होकर कैसे उठें? जैसे कोई व्यक्ति थोड़ी देर के बाद कमरे से निकले और उसके चहरे पर बढ़िया प्रसन्नता छाई हुई हो तो पता लग जाता है कि इस कमरे में बढ़िया बालूशाही, गुलाबजामुन, इमरती, इत्यादि रखी हुई थी जो यह खाकर आया है, क्योंकि जब गया था तो कुम्हलाया हुआ था और बाहर तरोताज़ा होकर निकला है। जैसे वह कमरे में गया, इसी प्रकार हम सुषुप्ति में गये। वहाँ चीज़ कुछ नहीं थी और महान् थके हुए, बीमार होकर गये थे लेकिन निकले तरोताज़ा होकर। इसलिये किसी न किसी चीज़ की हमें प्राप्ति हुई। वहाँ सिवाय परमात्मा के और कुछ था नहीं। इसलिये सुषुप्ति काल में परमात्मप्राप्ति को वेद भी बता रहा है और वह परमात्मप्राप्ति युक्ति से भी सिद्ध हो रही है। किसी चीज़ का दर्शन न होने के कारण वहाँ प्रत्यक्ष प्रमाण भी मिल रहा है। जैसे सुषुप्ति वैसे ही समाधि के अन्दर भी हो जाता है। समाधि में किसी चीज़ का भान नहीं रहता, उठते हैं ताज़े होकर इसलिये वहाँ भी परमात्मा का सम्बन्ध है। अब यदि सुषुप्ति या समाधि से उठकर जगत् की प्रतीति हो रही है तो आपका यह तत्त्वज्ञान होने के बाद भी प्रतीति होती रहेगी, यह शंका है।

समाधान है कि फर्क यह है 'बीजभावक्षयाद्।' सुषुप्ति के अन्दर बीजभाव बना रहता है। प्राप्त तो उसे तुमने किया लेकिन अज्ञात होकर प्राप्त किया, तुमको पता नहीं था कि तुमको किसकी प्राप्ति हुई। अब तुम्हें इस बात का पता लग गया। इसलिये बीजभाव नष्ट हो गया। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति का भेद अज्ञान से था। अब ज्ञान से पता लग गया कि सिवाय एक परमात्मा के और कुछ नहीं और चूँकि ज्ञान से पता लगा इसलिये अज्ञानरूपी बीज नष्ट हो गया। अब कभी भी भ्रम नहीं हो सकता कि जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति कोई चीज़ है। अब तो सब देखते हुए यह पता रहेगा कि सब ब्रह्म ही ब्रह्म है। 'अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः' अन्दर बाहर व्याप्त करके एक नारायण ही बैठा हुआ है। एक महात्मा एक कुत्ते पर बैठकर कुत्ते की रोटी छीन कर खा रहे थे। लड़के सब तालियाँ बजा बजाकर हँस रहे थे 'पागल है पागल है।' महात्मा ने कहा ऊपर बैठकर विष्णु ही खा रहा है हे विष्णु! तू क्या हँस रहा है?' सबकुछ विष्णुरूप ही है। यही बीजभाव का क्षय है। नामदेव रोटी बना रहे थे, कुत्ता रोटी उठाकर ले गया। नामदेव उसके पीछे दौड़े, कुत्ते को मारने के लिये नहीं, घी की कटोरी लेकर कुत्ते के पीछे दौड़ते हुए कहने लगे 'घी तो चुपड़ लेने दे, फिर ले जाना, सूखी क्यों ले जा रहा है।'

इसी प्रकार एकनाथ का दृष्टांत आता है कि गंगोत्री से जल लेकर काँवर कंधे पर रखकर रामेश्वर पर चढ़ाने के लिये जा रहे थे। मान्यता है कि गंगोत्री से जल ले जाकर रामेश्वर पर चढ़ाओ तो बड़ा पुण्य होता है। हैदराबाद के पास कहीं एक गधा प्यास से मर रहा था। उन्होंने झट अपनी काँवर रखी और गंगाजल उस गधे को पिलाने लगे। उनके साथी महाकर्मकाण्डी थे, कहने लगे 'तुम्हारा दिमाग खराब हो गया है, रामेश्वर पर गंगाजल चढ़ाने का महापुण्य है, यह क्या कर रहे हो।' एकनाथ कहते है 'जब साक्षात् रामेश्वर चलकर इस रूप को लेकर मेरे पास आ गये तो वहाँ जाकर पत्थर पर चढ़ाकर क्या होगा? साक्षात् नहीं आते तो मैं वहाँ जा ही रहा था। यहाँ तो साक्षात् है।' जब बीजभाव नष्ट हो जाता है तब यह अनुभव होता है, नहीं तो जबान से कहने से कुछ नहीं होता।

बंदा वैरागी गोविन्द सिंह जी का साथी था। लड़ाई खत्म होने के बाद मुसलमानों को भी दवाई, रोटी, पानी इत्यादि देता था। किसी ने गोविन्द सिंह जी से शिकायत की कि लगता है यह अन्दर ही अन्दर मुसलमानों से मिला हुआ है। गोविन्द सिंह जी ने कहा कि ऐसी बात नहीं हो सकती। लेकिन बाड़ाबन्दी तो सब जगह चलती है। बंदा वैरागी सिक्ख नहीं था। जैसे आजकल बाड़ाबन्दी चलती है कि हमारे देश के अंदर रहने वाले सब अच्छे, बाहर वाले सब बेईमान, किसी काम के नहीं। यह सब चलता है। गोविन्द सिंह जी ने उसे बुलाकर पूछा 'क्या बात है?' उसने कहा 'लड़ाई के समय मैं देखता हूँ कि ये विरोधी और ये अपने साथ वाले हैं। लेकिन लड़ाई के बाद जो वहाँ पड़े हुए हैं उनमें रोगी रूप से परमात्मा देखता हूँ। न दोस्त और न दुश्मन नज़र आते हैं।'

इसी प्रकार विभीषण भी रावण को जला नहीं रहा था कि 'यह महापापी है, मैं क्यों इसका अग्निकर्म करूँ, सड़ जाने दो इसका शरीर।' उस समय भगवान् ने कहा 'जितने भी विरोध होते हैं वे सब मृत्यु के साथ समाप्त हो जाते हैं। अब यह तुम्हारा भाई है, जो कर्म करना है वह कर।' महापुरुषों और भक्तों का भी यही अनुभव है।

जब यह अज्ञान हट गया तो इसके हट जाने के बाद वहाँ सिवाय शुद्ध ब्रह्म के और कुछ नहीं रहता क्योंकि भेद करने वाला अज्ञान जो जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि को पैदा करने वाला था, वह नष्ट हो गया। इसी का नाम अमात्र है। मात्रा से रहित अर्थात् जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति इत्यादि जिससे निकलते हैं, उस निकलने के भाव से रहित एक चेतन ही चेतन है। फिर 'ओंकारे गतिर्न विद्यते क्वचिद् इत्यर्थः' ऐसे व्यक्ति की परिच्छिन्नता न होने के कारण उसका कहीं आना जाना नहीं बनता। वह तो सर्वव्यापक रूप से यहीं स्थित हो गया।।२३।।

बारहवाँ मन्त्र

अब तक यह विचार किया कि प्रत्यक् चेतना ओंकार के ज्ञान में प्रकट होती है। प्रत्यक् चैतन्य ओंकारसंवेदन रूप है अर्थात् जितनी देर तक ॐ का ध्यान किया चित्त की एकाग्रता अर्थज्ञानपूर्वक रही, उतनी देर तक शुद्ध-रूपता में स्थिति रही। जैसे ॐ से भिन्न ज्ञान हुआ वैसे ही अशुद्धता का प्रवेश हुआ। सूर्य की किरणें संसार में सब चीज़ों पर पड़ती हैं और सब चीज़ों को दिखाती हैं, प्रकाशित करती हैं। सूर्यकांतमणि (convex lense) में यह गुण है कि यदि उसको सूर्य के सामने रखो तो उससे केन्द्रीकृत सूर्यरश्मियाँ रूई में आग लगा देती हैं। 'सूर्यकांतमुपारूढं न्यायं सर्वत्र योजयेत्।' उस काँच या सूर्यकांत मणि के ऊपर भी सूर्य की किरणें पड़कर उसको प्रकाशित करती हैं लेकिन उसमें यह एक और विलक्षणता है कि उससे निकलने पर वे जला देती हैं। दूसरी चीज़ों से सम्बद्ध सूर्य नहीं जलाता। इसको वस्तुस्वाभाव्य या वस्तुधर्म कहते हैं। अतः यह प्रश्न नहीं बनता कि ओंकार के ध्यान से ही ऐसा क्यों हो, दूसरे शब्द से या दूसरे नाम से क्यों न हो? जैसे यह शंका बेकार है कि सूर्यकांतमणि में ही यह शक्ति क्यों हैं, सीधे सादे काँच में क्यों नहीं है या चन्द्रकान्त मणि में क्यों नहीं है। चंद्रकांत मणि उल्टा गर्मी को कम कर देती है। यह वस्तुधर्म है। प्रायः लोग व्यावहारिक जगत् में वस्तुधर्म मान लेते हैं, पारमार्थिक जगत् में वस्तुधर्म को नहीं मानना चाहते। यह नहीं हो सकता।

इसी प्रकार यदि कोई यह कहे कि ओंकार में ही यह गुण क्यों है? तो यह ओंकार का वस्तुधर्म है। चित्त की एकाग्रता किसी चीज़ पर करो लेकिन प्रत्यगात्मा का, ब्रह्मरूपका, परब्रह्म परमात्मा का संवेदन ओंकार में चित्त को एकाग्र करने से ही होगा अतः टीकाकार कहते हैं 'प्रत्यक्चैतन्यमोंकारसंवेदनम्।' प्रत्यक् का जब त्रिमात्रा के ओंकार से तादात्म्य करके ध्यान करते हैं तो जिस स्थिति की प्राप्ति होती है, ध्यान करके जहाँ पहुँचते हैं, उसको बारहवे मंत्र में बताते हैं। पहले तीन मात्रायें तो ध्यान करने का तरीका हुआ और चतुर्थ मात्रा ध्येय का स्वरूप है। पहले भी तीन अवस्थायें जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, साधन थीं और जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति को ठीक तरह से समझ लेने पर जो उसका नतीज़ा होता है वह तुरीय था। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों रूपों में प्रतीत होने वाला जो ध्येय या साध्य है उसे तुरीय बताया। वहाँ ज्ञान का प्रकरण था, यहाँ उपासना का प्रकरण है, बात एक ही है। जिस स्वरूप की प्राप्ति होती है उसको अब अगले अंतिम मंत्र में माण्डूक्य उपनिषद् बताती है।

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपंचोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोंकार आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद य एवं वेद ।।१२।।

जहाँ पहुँचते हैं वह कैसा है? अमात्र है अर्थात् जिसकी मात्रा नहीं, जिसका कोई परिमाण नहीं, जिसमें से कुछ बाहर निकल कर नहीं आ सकता, वही अमात्र हुआ। मात्रा अर्थात् परिमाण (measure)। चाहे करोड़ मीटर कपड़ा हो लेकिन मीटर से नप जाता है तो उसे अमात्र नहीं कह सकते। कई बार लोग अमात्र का अर्थ बहुत बड़ा समझ लेते हैं, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है। पचास करोड़ मीटर भी कपड़ा हुआ तो मीटर से नप जायेगा, नहीं नपने वाली बात नहीं है। अमात्र का मतलब है जो किसी परिमाण से नापा ही न जा सके। जैसे कोई पूछे कि रसगुल्ले का मिठास कितने मीटर है? तो मिलीमीटर, सैंटीमीटर, किलोमीटर आदि किसी परिमाण में कोई नहीं बता सकता, क्योंकि मीटर की लम्बाई के हिसाब से मिठास नापी ही नहीं जा सकती, वह उसका नाप है ही नहीं। मिठाई का नाप यह तो हो सकता है कि चार तार की चाशनी है या एक तारी चाशनी है, इसमें तो उसका नाप कर सकते हैं। बंगला भाषा में बाउल का एक गीत है जिसमें उसने कहा है कि एक सुनार गुलाब के बगीचे में कसौटी का पत्थर लेकर आया है और घिसकर देख रहा है कि लोग गुलाब की तारीफ करते हैं तो देखें कि कितने टंच का है।

संसार में प्रायः ऐसा होता है। बढ़िया सुन्दर कहीं चित्र देखो तो आदमी पूछता है कि यह चित्र कितने का है? दोनों प्रश्नों में कोई सम्बन्ध नहीं है। चित्र की अच्छाई बुराई का कोई सम्बन्ध पैसे से नहीं है। पैसे का सम्बन्ध तो केवल इतने से है कि बनाने वाला भूखा कितना है, केवल पेट से ही भूखा नहीं; और देने वाला अमीर कितना है। वही चित्र, यदि कोई ऐसा चित्रकार हैं जिसके अपने लाख रुपये जमा हैं तो वह कहेगा कि हज़ार में बेचूँगा जिसको लेना हो लो, नहीं तो मत लो। और जिसकी घर वाली ने कहा है कि 'फालतू क्यों खींचते रहते हो, दो दिन से चावल ही नहीं मिले हैं', उसी को यदि सामने बनिया मिल जाये तो उसे उसी चित्र की अठन्नी मिल जाती है। मन में वह सोचता है कि दो रुपये का तो इसमें रंग ही लगा हुआ है लेकिन आज बिना पैसे घर पहुँचा तो घरवाली चमड़ी उखाड़ लेगी। कीमत तो अठन्नी नहीं है, लेकिन अठन्नी मिलती है तो यही सही। यह एक विचार है।

एक विचार मार्क्स ने दिया और संसार के दो बृहद् देशों को वह विचार जँच गया और उनमें कितना बड़ा परिवर्तन आ गया। क्या मार्क्स के विचार की कीमत नाप सकते हो। सारे अणुबम मिलकर जो काम नहीं कर सके, उसे वह कर सका। लोग सोचते हैं कि विचार की क़ीमत नहीं होती। बाजार में जाकर कहते हैं कि यह बड़ा अच्छा पब्लिकेशन है, पाँच सौ कि किताब डेढ़ सौ में दे रहा है और देखिये यह तो चोर पब्लिकेशन है, बीस रुपये की किताब पचास रुपये में बेच रहा है। वहाँ कीमत कागज और छपाई की दे रहे हैं, विचार की कोई कीमत नहीं है। एक विचार इतना कीमती हो सकता है कि यावज्जीवन तुम्हारे लिये महत्त्वपूर्ण हो जाये और चाहे हज़ार पृष्ठ बाँचते

चले जाओ, तुम्हारे जीवन में परिवर्तन नहीं लाता तो सब बेकार है। यह जो अर्हा या मूल्य है, इसका तुमने माप धन को बना लिया लेकिन जैसे मिठास को मीटर से, फूल की सुन्दरता को कसौटी से, ऐसे विचार को धन से नहीं नाप सकते। विचार की विशेषता को दूसरी चीज़ो से नहीं नाप सकते। इसलिये बाउल के उस गीत ने कहा कि गुलाब की सुन्दरता को सुनार आकर कसौटी पर कस रहा है, सुनाते समय लगता है कि लिखने वाले ने क्या लिखा, लेकिन बात यही है।

यहाँ श्रुति कहती है कि ओंकारध्यान से जहाँ पहुँचते हैं वह कैसा है? अमात्र है, किसी भी माप से नहीं मापा जा सकता। समझने के लिये उपनिषदों ने कुछ बातें कही हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् कहती है कि इस तत्त्व में स्थिति हो जाने पर यदि सूखे ठूँठ को भी वह सुना देता है तो उसमें हरी पत्तियाँ निकल आती हैं। अन्यत्र उपनिषदों में बताया कि सारी पृथ्वी को सोने से भरकर भी दे दो तो भी इस ज्ञान की गुरुदक्षिणा नहीं हो सकती। ये सब उपमायें केवल समझाने के लिये हैं कि यह जो आत्मज्ञान है इसका किसी चीज़ से नाप हो ही नहीं सकता। पुराणों में इसे दूसरे ढंग से बताया। पुराणकार उसी बात को कहानी के ढंग से कह देते हैं।

एक बार नारद जी के मन में आया कि भगवान् के पास बहुत महल आदि हैं, एकआध हमको भी दे दें तो यहीं आराम से टिक जायें, नहीं तो इधर उधर घूमते रहना पड़ता है। द्वारिका में बहुत महल थे। नारद जी ने भगवान् से कहा 'आपके बहुत महल हैं, एक हमको भी दो तो हम भी आराम से रहें। आपके यहाँ खाने पीने का इंतजाम अच्छा है ही।' भगवान् ने सोचा कि यह मेरा भक्त है, विरक्त संन्यासी है। अगर यह कहीं राजसी ठाठ में रहने लगा तो थोड़े दिन में ही इसकी सारी विरक्ति भक्ति निकल जायेगी। इसे अगर सीधा ना करेंगे तो यह बुरा मान जायेगा, लड़ाई झगड़ा करेगा कि इतने महल हैं और एक महल नहीं दे रहे हैं। भगवान् ने चतुराई से काम लिया, नारद से कहा 'जाकर देख ले, जिस मकान में जगह खाली मिले वही तेरे नाम कर देंगे।' नारद जी वहाँ से चले। भगवान् की तो १६१०८ रानियाँ और प्रत्येक के ११-११ बच्चे भी थे। यह द्वापर युग की बात है, नहीं तो आजकल इमर्जैन्सी लगी हुई है, लोग झगड़ा करेंगे कि ऐसी बातें नहीं सुनानी चाहिये! सब जगह नारद जी घूम आये लेकिन कहीं एक कमरा भी खाली नहीं मिला, सब भरे हुए थे। आकर भगवान् से कहा 'वहाँ कोई जगह खाली नहीं मिली।' भगवान् ने कहा 'फिर मैं क्या करूँ, होता तो तेरे को दे देता।'

नारद जी के मन में आया कि यह तो भगवान् ने मेरे साथ धोखाधड़ी की है, नहीं तो कुछ न कुछ करके, किसी को इधर उधर शिफ्ट कर कराकर, खिसकाकर एक कमरा तो दे ही सकते थे। इन्होंने मेरे साथ धोखा किया है तो अब मैं भी इन्हें मज़ा चखाकर छोडूँगा। नारद जी रुक्मिणी के यहाँ पहुँचे, रुक्मिणी ने नारद जी की आवभगत की, बड़े प्रेम से रखा। उन दिनों भगवान् सत्यभामा के यहाँ रहते थे। एकआध दिन बीता

तो नारद जी ने उसे दान की कथा सुनाई, सुनाने वाले स्वयं नारद जी। दान का महत्त्व सुनाने लगे कि जिस चीज़ का दान करोगे वही चीज़ आगे तुम्हारे को मिलती है। जब नारद जी ने देखा कि यह बात इसे जम गई है तो उससे पूछा 'तेरे को सबसे ज्यादा प्यार किससे है?' उसने कहा 'यह भी कोई पूछने की बात है, भगवान् हरि से ही मेरा प्यार है।' कहने लगे 'फिर तेरी यही इच्छा होगी कि अगले जन्म में तुम्हें वे ही मिलें।' बोली 'इच्छा तो यही है।' नारद जी ने कहा 'इच्छा है तो फिर दान कर दे, नहीं तो नहीं मिलेंगे। तेरी सौतें भी बहुत हैं और उनमें से किसी ने पहले दान कर दिया तो उन्हें मिल जायेंगे। इसलिये दूसरे करें इसके पहले तू ही कर दे।'

रुक्मिणी को बात जँच गई कि जन्म जन्म में भगवान् मिलें तो दान कर देना चाहिये। उससे नारद जी ने संकल्प करा लिया। अब क्या था, नारद जी का काम बन गया। वहाँ से सीधे सत्यभामा के महल में पहुँच गये और भगवान् से कहा कि 'उठाओ कमण्डलु, और चलो मेरे साथ।' भगवान् ने कहा 'कहाँ चलना है, बात क्या हुई?' नारद जी ने कहा 'बात कुछ नहीं, तुम्हारे को मैंने दान में ले लिया है। तूने एक कोठरी नहीं दी तो मैं अब तेरे को भी बाबा बनाकर पेड़ के नीचे सुलाउँगा।' सारी बात कह सुनाई। भगवान् ने कहा 'रुक्मिणी ने दान कर दिया है तो ठीक है। वह पटरानी है, उससे मिल तो आयें।' भगवान् ने अपने सारे गहने गाँठें, रेशम के कपड़े सब खोलकर सत्यभामा को दे दिये और वल्कल वस्त्र पहनकर, भस्मी लगाकर और कमण्डलु लेकर वहाँ से चल दिये। उन्हें देखते ही रुक्मिणी के होश उड़ गये। पूछा 'हुआ क्या?' भगवान् ने कहा 'पता नहीं, नारद कहता है कि तूने मेरे को दान में दे दिया।' रुक्मिणी ने कहा 'लेकिन वे कपड़े, गहने कहाँ गये, उत्तम केसर को छोड़कर यह भस्मी क्यों लगा ली?' भगवान् ने कहा 'जब दान दे दिया तो अब मैं उसका हो गया। इसलिये अब वे ठाठबाट नहीं चलेंगे। अब तो अपने भी बाबा जी होकर जा रहे हैं।' रुक्मिणी ने कहा 'मैंने इसलिये थोड़े ही दिया था कि ये ले जायें।' भगवान् ने कहा 'और काहे के लिये दिया जाता है? इसीलिये दिया जाता है कि जिसको दो वह ले जाये।'

अब रुक्मिणी को होश आया कि यह तो गड़बड़ मामला हो गया। रुक्मिणी ने कहा 'नारद जी! यह आपने मेरे से पहले नहीं कहा, अगले जन्म में तो मिलेंगे सो मिलेंगे, अब तो हाथ से ही खो रहे हैं।' नारद जी ने कहा 'अब तो जो हो गया सो हो गया, अब मैं ले जाऊँगा।' रुक्मिणी बहुत रोने गाने लगी। तब तक हल्ला गुल्ला मचा तो और सब रानियाँ भी वहाँ इकट्ठी हो गई। सत्यभामा, जाम्बवती सब समझदार थीं। उन्होंने कहा 'भगवान् एक रुक्मिणी के पति थोड़े ही हैं, इसलिये रुक्मिणी को सर्वथा दान करने का अधिकार नहीं हो सकता, हम लोगों का भी अधिकार है।' नारद जी ने सोचा यह तो घपला हो गया। कहने लगे 'क्या भगवान् के टुकड़े कराओगे? तब तो १६१०८ हिस्से होंगे।' रानियों ने कहा 'नारद जी! कुछ ढंग की बात करो।' नारद जी ने विचार

किया कि अपने को तो महल ही चाहिये था और यही यह दे नहीं रहे थे, अब मौका ठीक है, समझौते (compromise) पर बात आ रही है। नारद जी ने कहा 'भगवान् का जितना वजन है, उतने का तुला दान कर देने से भी दान मान लिया जाता है। तुलादान से देह का दान माना जाता है। इसलिये भगवान् के वजन का सोना, हीरा, पन्ना दे दो।' इसपर सब रानियाँ राज़ी हो गई।

बाकी तो सब राज़ी हो गये लेकिन भगवान् ने सोचा कि यह फिर मोह में पड़ रहा है। इसका महल का शौक नहीं गया। भगवान् ने कहा 'तुलादान कर देना चाहिये, यह बात तो ठीक है।' भगवान् तराजू के एक पलड़े के अन्दर बैठ गये। दूसरे पलड़े में सारे गहने, हीरे, पन्ने रखे जाने लगे। लेकिन जो ब्रह्माण्ड को पेट में लेकर बैठा हो, उसे द्वारिका के धन से कहाँ पूरा होना है! सारा का सारा बेचारों ने दूसरे पलड़े पर रख दिया लेकिन वह जिस पलड़े पर बैठे थे वह वैसा का वैसा नीचे लगा रहा, ऊपर नहीं हुआ। नारद जी ने कहा 'देख लो, तुला तो बराबर हो नहीं रही है, अब मैं भगवान् को ले जाऊँगा।' सब कहने लगे 'और कोई उपाय बताओ।' नारद जी ने कहा 'और कोई उपाय नहीं है।' अन्य सब लोगों ने भी अपने अपने हीरे पन्ने लाकर डाल दिये लेकिन उनसे क्या होना था। वे तो त्रिलोकी का भार लेकर बैठे थे। नारद जी ने सोचा अपने को अच्छा चेला मिल गया, बढ़िया काम हो गया। उधर औरतें सब चीख रही थीं। नारद जी प्रसन्नता के मारे इधर ऊधर टहलने लगे।

भगवान् ने धीरे से आँख मारकर रुक्मिणी को बुलाया। रुक्मिणी ने कहा 'कुछ ढंग निकालिये, आप इतना भार लेकर बैठ गये, हम लोगों का क्या हाल होगा?' भगवान् ने कहा 'ये सब हीरे पन्ने निकाल लो, नहीं तो बाबा जी मान नहीं रहे हैं। यह सब निकालकर तुलसी का एक पत्ता और सोने का एक छोटा सा टुकड़ा रख दो तो तुम लोगों का काम हो जायेगा।' रुक्मिणी ने सबसे कहा कि यह नहीं हो रहा है तो सब सामान हटाओ। सारा सामान हटा दिया गया और एक छोटे से सोने के पतरे पर तुलसी का पत्ता रखकर जैसे ही उस पलड़े पर रखा गया तो वह भगवान् के वजन के बराबर हो गया। सबने नारद जी से कहा 'ले जाओ तुला दान।' नारद जी ने खूब हिलाडुलाकर देखा कि कहीं कोई डण्डी तो नहीं मार रहा है। नारद जी ने कहा इन्होंने फिर धोखा दिया। फिर जहाँ के तहाँ। यह लेकर क्या करूँगा? उन्होंने कहा 'भगवन्! यह आप अच्छा नहीं कर रहे हैं, केवल घरवालियों की बात सुनते हैं, मेरी तरफ भी देखो।' भगवान् ने कहा 'तेरी तरफ क्या देखूँ? तू सारे संसारे के स्वरूप को समझ कर फिर मोह के रास्ते जाना चाह रहा है तो तेरी क्या बात सुनूँ।' तब नारद जी ने समझ लिया कि भगवान् ने जो किया सो ठीक किया।

नारद जी ने कहा 'एक प्रार्थना मेरी मान लो। आपने मेरे को तरह तरह के नाच अनादि काल से नचाये और मैंने तरह तरह के खेल आपको दिखाये। कभी मनुष्य, कभी

राजा, कभी गाय इत्यादि पशु, कभी इन्द्र, वरुण आदि संसार में कोई ऐसा स्वरूप नहीं जो चौरासी के चक्कर में किसी न किसी समय में हर प्राणी ने नहीं भोग लिया। अनादि काल से यह चक्कर चल रहा है, सब तरह से आपको खेल दिखाया। आप मेरे को ले जाते रहे और मैं खेल करता रहा। अगर आपको मेरा कोई खेल पसंद आ गया हो तो आप राजा की जगह पर हैं और मैं ब्राह्मण हूँ तो मेरे को कुछ इनाम देना चाहिये। वह इनाम यही चाहता हूँ कि मेरे शोक मोह की भावना निवृत्त होकर मैं आपके परम धाम में पहुँच जाऊँ। और यदि कहो कि 'तूने जितने खेल किये सब बेकार हैं', तो भी आप राजा हैं। जब कोई बार बार खराब खेल करता है तो राजा हुक्म देता है कि 'इसे निकाल दो।' इसी प्रकार यदि मेरा खेल आपको पसन्द नहीं आया है तो फिर आप कहो कि इसको कभी संसार की नृत्यशाला में नहीं लाना है। तो भी मेरी मुक्ति है।' भगवान् बड़े प्रसन्न होकर तराजू से उठे और नारद जी को छाती से लगाया और कहा 'तेरी मुक्ति तो निश्चित है। यह न करता तो तू इसमें फँसकर अपने विचार से छूट जाता।'

इस कथा में पौराणिक ढंग से यही बताया गया है कि भगवान् परब्रह्म परमात्मा की मात्रा कुछ नहीं। उन्हें किसी माप से नहीं मापा गया। सारी द्वारिका के धन के बराबर जिनका तोल नहीं था वे क्या तुलसी के वजन से तुल सकते थे? अमात्र तत्त्व को पौराणिक ढंग से बताया। इसलिये अमात्र का यह मतलब नहीं कि परमात्मा बहुत बड़े माप वाला है। बल्कि यह कि परमात्मा को किसी भी माप से माप ही नहीं सकते। 'अमात्रः चतुर्थः' वही चतुर्थ अर्थात् तुरीय है।

वह आत्मा कैसा है? 'अव्यवहार्यः' अव्यवहार्य है, इस परब्रह्म परमात्मतत्त्व से तुम कोई व्यवहार नहीं कर सकते। व्यवहार का मतलब दोनों ही होता है: किसी चीज़ को प्राप्त करना और किसी चीज़ को छोड़ना। ग्रहण और त्याग ही तो व्यवहार है। परमात्मा आत्मस्वरूप होने से न तो इसे तुम कभी धक्का देकर बाहर निकाल सकते हो कि निकालने वाला व्यवहार कर लो, और नित्य अपना स्वरूप होने से इसको प्राप्त भी नहीं कर सकते। पहले अपने अन्दर न हो तो उसे प्राप्त किया जाये। हेय और उपादेय, छोड़ना और पकड़ना दोनों भावों से रहित होने के कारण ही परमात्मा को अव्यवहार्य कहा गया। प्राप्त परमात्मा का हमने अप्राप्त जगत् की तरफ दृष्टि करके तिरस्कार कर रखा है, और कुछ नहीं है। जैसे ही अनात्म-जगत् की तरफ तिरस्कार की भावना बनाकर आत्मा की तरफ अपनी भावना को लाये तो काम हो गया।

कई बार ऐसा होता है कि आदमी पहले बड़ा जोर मारता रहता है, किसी काम को करने का बड़ा प्रयत्न करता रहता है। अंत में अपने पिता जी से कहता है 'अमुक काम के लिये बड़ा परिश्रम कर रहा हूँ लेकिन कोई जुगाड़ नहीं बैठ रहा है।' पिता जी हँस पड़ते हैं और कहते हैं 'अमुक आदमी इस काम को करने में समर्थ है।' वह पूछता है 'क्या उससे आपका परिचय है?' कहते हैं 'मैंने उसे पढ़ाया हुआ है।' वह कहता है 'आपने पहले क्यों नहीं कहा?' पिता कहता है 'लेकिन तू मेरे पास पूछने कब आया

था? सारी दुनिया से पूछता रहा!' जैसे ही यह पता लगा, झट काम हो जाता है। ठीक इसी प्रकार यहाँ आत्मा हमारे अन्दर अपना स्वरूप होकर बैठा हुआ है, सब कुछ देने में समर्थ है, सब कुछ करने में समर्थ है, लेकिन हम बाह्य कारणों को ढूँढते रहते हैं कि इससे होगा, उससे होगा। उस अंतर्यामी नारायण से कहते कब हैं कि हमारा अमुक काम अटका हुआ है? उस तरफ दृष्टि करें तो काम झट हो जाये। लेकिन दूसरे कारणों को ढूँढते रहते हैं, उस तरफ दृष्टि नहीं करते।

मारवाड़ी में एक कहावत है 'मँगते ऊपर मँगता माँगे उसकी अक्कल गुम्म', भिखमंगे के पास दूसरा भिखमंगा जाकर माँगे तो वह बेवकूफ माना जाता है। संसार में बड़े से बड़े राजा, महाराजा, सम्राट्, किसी के पास जाओ, सबको कुछ न कुछ माँगना ही है। कोई नहीं कहता कि मेरे को कुछ नहीं चाहिये, सारे मँगते हैं। कोई बुरा नहीं मानना। उनसे आशा करते हो कि हमको कुछ दें लेकिन वे कहाँ से दें? वे तो पहले खुद ही मँगते हैं। इसलिये हम लोगों की कभी इच्छा पूरी नहीं हो पाती। जहाँ अपने अन्दर अंतर्यामी नारायण की तरफ दृष्टि की तो ठीक उसका उलटा प्रभाव हो जाता है कि जितना नहीं चाहिये उससे भी सौ गुना ज्यादा मिलता है। हज़ार हाथों से भी न बटोर सकें उतना वे दे देते हैं और अपने दो ही हाथ हैं, बटोरा नहीं जाता।

एक बार बीकानेरके एक सेठ बद्रीनारायण की यात्रा में गये। उन दिनों ऋषिकेश से पैदल जाना पड़ता था। वह बहुत बड़े आदमी थे, अंग्रेजों के ज़माने में उन्हें रायबहादुर की टाइटल भी प्राप्त थी। खूब आनंद से यात्रा करके ऋषिकेश वापिस पहुँचे। उनका पण्डा हमें सुना रहा था। पण्डे ने बड़ा अच्छा इंतज़ाम किया था और बड़े आनंद से उन्हें यात्रा कराई थी। उन्होंने वापिस आकर पण्डे से पूछा 'तुम्हारी जो इच्छा सो माँग लो।' पण्डा बेचारा ब्राह्मण था। उसने खूब सोच विचार कर कहा 'सेठ जी मेरे को पाँच हज़ार रुपया दे दो।' उसने सोचा था कि पाँच तो क्या देंगे, हज़ार दे ही देंगे। सेठ जी मस्त आदमी थे, पण्डे ने इंतज़ाम भी बहुत बढ़िया किया था। पण्डे से कहने लगे 'आप हमारे लायक नहीं हो। चलो कोई बात नहीं, ये पच्चीस हज़ार रुपया और तीन मकान आपको देता हूँ, मर्ज़ी जैसे मकान बनवा लो।' योग्य व्यक्ति तो दूसरे को देखर प्रसन्न होता है। आबू में एक दो पुराने माली हैं। कभी कभी सुनाते हैं कि मौसम का पहला गोभी का फूल या फल होता था तो यहाँ जो बड़े बड़े राजा आते थे, उनके पास ले जाते थे तो वे एक फूल गोभी के बदले एक गिन्नी देते थे। कहते थे 'मौसम की पहली चीज़ नज़राने में लेकर आये हो', झट सोने की एक गिन्नी दे देते थे। अब वे ही कहते हैं कि आज के बड़े से बड़े राजा आ जायें तो भाव मोल करते हैं कि दुअन्नी का दे दो, छह पैसे का दे दो!

अंतर्यामी नारायण की तरफ दृष्टि करो तो इतना मिलता है कि पता ही नहीं लगता कि इक्ट्ठा कैसे करें। वैसे भी कभी विचार करके देखो तो पता लगता जाता है। बादल

भी खेत सींचते हैं, वे भगवान् की तरफ से आये हुए हैं; और तुम्हारे रेहट भी खेत सींचते हैं। रेहट की सिंचाई के अन्दर एक एक बूँद का ख्याल रखना पड़ता है, पाली बाँधते हैं कि पानी बेकार न चला जाये, बड़ा ध्यान रखते हैं। और भगवान् बादलों से बरसाता है तो सड़कों पर, नालों में, खेत में, सब, जगह बह रहा है। क्या माप कर करता है कि वहाँ गिराऊँ, वहाँ न गिराऊँ वहाँ कोई प्रयोजन नहीं है? ऐसा नहीं सोचता। बहुत साल पहले की एक बात है। एक बहुत बड़े नेता थे। वे एक छोटी लुटिया रखते थे। उसी से मुँह धोते थे, ताकि पानी बेकार न जाये। कुछ बरबाद नहीं होना चाहिये यह उनका सिद्धान्त था। कहीं शौच जाकर आये तो उनके साथ जो था, उससे मिट्टी मँगाई। वह जाकर मिट्टी का ढिकला उठाकर ले आया। उसको डाँटने लगे कि 'इतनी क्यों लाया?' उसने कहा 'बहुत पड़ी है।' उन्होंने कहा 'पड़ी है तो क्या बरबाद करने के लिये पड़ी है।' वे आकर दूसरे लोगों से पूछने लगे, दूसरों ने भी कहा कि 'हाँ जी, चीज़ खराब नहीं करनी चाहिये।' किसी ने कहा 'देखिये, यह भगवान् की सृष्टि में न जाने कितने आम एक आम के बीज से पैदा होते हैं, कितनों को कीड़ा खा जाता है, कितने सड़कर गिर जाते हैं, कितनों को आदमी खा लेता है। परमेश्वर को मानने वाले इसका कहाँ तक हिसाब लगायें कि हरेक आम का क्या प्रयोजन निकला। भगवान् की सृष्टि का विचार करो तो यहाँ हमेशा 'ओवर स्पैण्डिग' ही 'ओवर स्पैण्डिग' मिलेगी क्योंकि उसके पास किसी चीज़ की कमी नहीं है। और जब तक परमेश्वर की दृष्टि नहीं करोगे तब तक रात दिन यह सोचते रहना पड़ेगा।'

आज से कुछ वर्षों पूर्व तक यह स्थिति थी कि राजाओं के यहाँ विवाह होता था तो साथ में सौ दौ सौ बाँदियाँ भेजी जाती थीं केवल सेवा करने के लिये। आज तो लोगों का सारा बजट ही गड़बड़ हो जाता है। वहाँ पहले ही बजेटिंग होती है कि इतने रुपये का माल लड़की लेकर आयेगी तो पहले बहन की शादी कर लो। उस समय कभी नहीं सोचते थे कि सौ बाँदियों का खर्चा कहाँ से होगा। राजा हुआ करते थे तो कोई दो चार बढ़िया सुन्दर आदमी देखें तो उन्हें नौकर रख लेते थे। उनसे काम कुछ नहीं कराते थे। किसी ने पूछा 'आप इन्हें तन्खा देते हैं, काम क्या लेते हैं?' उन्होंने कहा 'तुम जैसे बेवक़ूफ़ों के चेहरे देखकर खिन्नता हो जाती है तो यह सुन्दर चेहरा देख लेता हूँ।' आजकल तो बजट ही गड़बड़ा जाता है, एक चपरासी भी रखें तो भी तमाम दुनिया भर के कानून कायदे बनाते हैं। कारण यह है कि हमने स्वतंत्रता के साथ ही अंतर्यामी नारायण को भी अपने जीवन से हटा दिया है, अब वह नहीं रहा। अब हम को ही हिसाब रखना है, हमारी ही ताकत से होना है। और कर पाते नहीं हैं। जब उनसे कहते हैं कि 'कौन सी स्थिति सुधरी?' तब कारण ही कारण बताते हैं। कारण एक ही है कि भगवान् के ऊपर पूर्ण भाव से विश्वास न करने का ही नतीजा है।

इसलिये कहा कि वह अव्यवहार्य है। न उसका ग्रहण और न उसका त्याग हो सकता है। केवल जो उसपर से ध्यान हटा कर संसार के पदार्थों से मोह बना रखा है, वहाँ से वृत्ति हटाओ तो वह स्वतः प्राप्त है। इसलिये उसे अव्यवहार्य कहा गया।

और वह कैसा है? 'प्रपंचोपशमः' अर्थात् प्रपंचों का उपशमरूप है। प्रपंच का उपशम पहले आ ही चुका है। प्रपंच से यहाँ सारे अनर्थों की उपलक्षणता समझ लेना। शोक मोह आदि सब वहाँ समाप्त हो जाते हैं। जहाँ तुरीय अवस्था प्राप्त हुई, परमात्मा का दर्शन हुआ, वहाँ फिर शोक, मोह, राग, द्वेष इत्यादि सारे प्रपंच उपशांत हो जाते हैं, कुछ भी करने में समर्थ नहीं होते हैं। यदि तुमको इंदिरा जी रोज़ दो घण्टे एकांत में बैठने का समय दे दें, बात भी तुमसे चाहे एक न करें, चाहे पंखा ही झलवाती रहें, तो हिन्दुस्तान के प्रैज़िडेण्ट और बड़े बड़े मिनिस्टर तुम्हारे पैर छूने लगेंगे कि पता नहीं इसका क्या प्रभाव है! यह ज़रूरी नहीं कि तुमसे वह बात करें और काम करायें तब तुम्हारा रुबाब जमे। ठीक इसी प्रकार निर्विकल्प समाधि में जब परमात्मा का दर्शन होता है तब आदमी के होश हवास गुम हो जाते हैं। वहाँ फिर वह भगवान् से यह बात नहीं कर सकता कि 'अमुक की तबियत ठीक हो जाये, औरत को छींक आती है, वह न आया करे।' जब परमात्मा का दर्शन होता है उस समय अपने शरीर, मन किसी भी चीज़ का होश नहीं रहता है। लेकिन है वह ऐसा दर्शन कि तुम हो और परमात्मा है, और वहाँ कोई नहीं है। संसार के बड़े से बड़े इन्द्र, वरुण, यम आदि देवता भी तुमसे डरने लग जाते हैं कि यह समाधि के अन्दर भगवद्दर्शन करता है, पता नहीं कब क्या कर दे। भगवान् के साथ अकेला रहता है, सर्वसमर्थ होगा। निर्विकल्प समाधि के अन्दर सिवाय परमात्मदर्शन के और होता कुछ नहीं है, लेकिन बाकी जितने भी देव, यक्ष, गंधर्व, किन्नर हैं, सब डरने लग जाते हैं और बिना कुछ तुम्हारी इच्छा प्रकट किये हुए अपने आप ही सारा काम तुम्हारे अनुकूल करने लग जाते हैं।

इसीलिये शास्त्रकारों ने कहा है कि परमात्मा की सम्प्रतिपत्ति हो गई तो 'अनुकूले जगन्नाथे अनुकूलं जगत्त्रयम्। प्रतिकूले जगन्नाथे प्रतिकूलं जगत्त्रयम्।।' जगत् के नाथ यदि अनुकूल हो गये तो त्रिलोकी सारी ही अनुकूल हो जाती है और जब वे प्रतिकूल हो जाते हैं तब सारे संसार की प्रतिकूलतायें आती हैं। इसलिये कहा कि यह प्रपंचोपशम है। वहाँ प्रपंच की, राग द्वेष आदि सबकी उपशान्ति है। वहाँ से जब शांत शुद्ध होकर आयेगा तो व्यवहार काल में भी ये शोक, मोह आदि उसके सामने उपस्थित नहीं हो सकते क्योंकि उनकी हिम्मत खत्म हो जाती है वे डरते रहते हैं। लेकिन यह तब होगा जब समाधि में भगवद्दर्शन हो। यह तो उपासना का विषय है, केवल बातें करने से नहीं होगा। यह नहीं कि भगवान् का दर्शन मन्दिर में कर आये। यहाँ तो साक्षात् दर्शन करना है।

वह परमात्मतत्त्व, तुरीय तत्त्व और कैसा है? 'शिवः' वही शिव नाम से कहा जाता है क्योंकि सबका अधिष्ठान वही है। उसी शिव तत्त्व से 'मैं एक हूँ, बहुत हो जाऊँ'

यह संकल्प होने पर सारी सृष्टि की उत्पत्ति होती चली जाती है। इसलिये वही शिव तत्त्व परब्रह्म परमात्मा है। 'हिंसि-धातोः सिंहशब्दः वशि-कान्तौ शिवः स्मृतः।' अनेक जगह धातु का विपर्यय हो जाता है ऐसा व्याकरण वालों का कहना है। जैसे हिंसि धातु का अर्थ हिंसा करना है। इसमें स ह का विपर्यय हो गया तो सिंह हो गया। सिंह चूँकि निरंतर हिंसा करता रहता है, सब उससे डरते रहते हैं, इसलिये सिंह कहते हैं। इसी प्रकार 'वशि-कान्तौ शिवः स्मृतः।' वशि धातु का अर्थ अत्यंत सुन्दर है। वशि का विपर्यय हो गया तो शिव बन गया। लोक में भी ऐसा होता है जैसे हमारे यू. पी. की राजधानी का नाम लखनऊ है लेकिन आस पास के रहने वाले उसे नखलऊ कहते हैं, इसमें न ल का विपर्यय है। बीकानेर में भी 'मैंने उसे पकड़ा' को प्रायः बोलते हैं 'मैं विन्ने कपड़ियो', यहाँ प क का विपर्यय हो गया। भाषा का विपर्यय बहुत जगह देखा जाता है। इसलिये शिव का अर्थ है अत्यंत कांत अर्थात् अत्यंत सुन्दर।

कांति का मतलब ही होता है सुन्दरता। जो चित्त को इतना आकृष्ट कर दे कि चित्त उसमें आकृष्ट होकर वहीं स्थिर हो जाये, उसी का नाम सुन्दरता है। आजकल की सुन्दरता नहीं समझ लेना। आजकल तो सौन्दर्य प्रतियोगितायें होती हैं उसमें जैसा कहा कि कसौटी के पत्थर से देखते हैं कि गुलाब कितने टंच का है। उनके यहाँ इंचों का परिमाण चलता है कि कमर इतने इंच, छाती इतने इंच इत्यादि सब नाप कर निश्चय करते हैं कि सुन्दर है या नहीं। कई बार किसी मैगज़ीन में फोटो देखने को मिल जाता है कि यह मिस इंडिया बन गई। हम कहते हैं कि अच्छा हुआ कि यह अपने किसी लड़के से ब्याही नहीं गई, महा फूहड़ औरत है। केवल टाइटल मिल जाता है। सुन्दरता का पता लगायें तो पता लगे। सुंदरता का कोई फुटे से नाप होना है! जो चीज़ तुम्हारे चित्त को ऐसी आकृष्ट कर दे कि वहाँ से हटने न दे, उसी का नाम कांत है। कम् धातु का अर्थ इच्छा है। 'शिवः' के द्वारा बताया कि एक बार परमात्मदर्शन हो जाये तो वह शिव तत्त्व ऐसा है कि वहाँ से मन क्षण भर को हटता नहीं, हट ही नहीं सकता। मन उसी सौन्दर्य के अन्दर बिल्कुल लीन हो जाता है।

और वह कैसा है? 'अद्वैतः' वह अद्वैत है अर्थात् उसके अन्दर और अपने अन्दर वास्तविक द्वितीयता नहीं है। लगता तो ऐसा है जैसे हम परमात्मा को देख रहे हैं लेकिन हम परमात्मा को क्या देखेंगे! विचार की दृष्टि से सोचो, "हम' मायने जड अंतःकरण की वृत्ति, उसी को अहम् कहते हैं। जड पंचमहाभूतों से बना अन्तःकरण ज्ञान कहाँ से लायेगा? अन्तःकरण में जो परमात्मचैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ा वही तो फिर परमात्मचैतन्य को देख रहा है। जैसे काँच में अपना मुख दीखता है तो लगता है कि काँच वाला प्रतिबिम्ब मेरा मुँह देख रहा है क्योंकि उसकी आँखें इधर लगी रहती हैं। लेकिन वह क्या देखेगा! तुम्हारी ही आँख काँच में पड़कर लौटकर तुम्हारे ही मुख को देख रही है। नेत्र की ज्योति काँच में नहीं जा सकती। काँच में यह गुण है कि वह वृत्ति वापिस भेज देता है। स्वयं

अपने मुख को ही वृत्ति विषय करती है लेकिन लगता है वहाँ कोई दूसरा है। इसलिये दो दीख रहे हैं, लेकिन आत्मा एक ही है। देखने को भले ही दो दीख रहे हैं। ठीक इसी प्रकार लगता तो यह है कि हम परमात्मा को देख रहे हैं लेकिन जब आगे जाते हैं तो पता लगता है कि हम कुछ हैं ही नहीं। परमात्मा हमारे अन्दर स्वयं अपने को ही देख रहा है।

या दूसरे दृष्टांत से समझ लो। लोग कहते हैं कि शलभ उड़कर दीपक की तरफ जा रहा है। दीखता ऐसा ही है कि शलभ उड़कर ज्योति की तरफ जा रहा है। लेकिन विचार करके पता लगेगा 'कुरुते न खलु स्वयेच्छया शलभान् इन्धनम् इद्धदीधितिः।' महाकवि माघ बताते हैं कि दीपक आँख के द्वारा पहले शलभ के अन्दर घुसा अर्थात् शलभ ने दीपक की लौ को देखा तब दीपक आँख के द्वारा उसके हृदय में उतर गया। तभी न वह उधर दौड़ने लगा। उसी को देखकर दौड़ता है। दौड़ने वाला शलभ नहीं है। दीपक स्वयं ही उसके अंतःकरण में उतर कर अपनी ही तरफ दौड़ रहा है। क्रिया दीख रही है शलभ के शरीर में इसलिये हम समझते हैं कि यह दौड़ रहा है। ठीक इसी प्रकार परब्रह्म परमात्मा हमारे हृदय में प्रविष्ट होकर स्वयं अपने को देख रहा है और स्वयं ही हमको अपनी तरफ ले जा रहा है। शुरु शुरु में हमको लगता है कि हम भगवान् को देखते हैं, लेकिन जब ध्यान जम जाता है तो पता लगता है कि हम नहीं परमात्मा स्वयं ही अपने आपको देख रहा है। हम तो केवल काँच की जगह हैं। हमारे में वह अपने आपको देख रहा है, बस इसी से हम धन्य हो गये। यही अद्वैत है। बिम्ब ही वास्तविक है, प्रतिबिम्ब कुछ नहीं है। बिम्ब स्वयं ही अपने को अविद्या रूपी उपाधि से प्रतिबिम्बवत् देख रहा है।

यह परम रहस्य वेदांत का अद्वैत है। यह अवस्था होना कठिन इसलिये होता है कि बाकी सब चीज़ें तो आदमी छोड़ दे लेकिन यह जो अहंकार है, वही छोड़ना नहीं चाहता। कहता है बाकी सब छुड़ाओ, यह अहम् न छुड़ाओ। लेकिन जब तक अहंकार बैठा हुआ है तब तक काम बनना नहीं। भगवान् भाष्यकर लिखते हैं कि अनेक प्रतिबंधक संसार में दुःख दिलाने वाले हैं लेकिन उस सबकी यदि जड़ ढूँढो तो यह अहम् ही है, मैंपना पैदा हो गया तो आगे सारे अनर्थ अपने आप लगते चले जायेंगे। जैसे अगर किसी तरह से तुम प्रधानमंत्री बन जाओ तो फिर हर विश्वविद्यालय एक-एक डाक्ट्रेट भी दे देगा, आनरेरी पी. एच. डी. भी मिल जायेगी। हर ऐसोसियेशन पहले तुम्हें अपना प्रैज़िडेण्ट बनाने के लिये आते रहेंगे। जहाँ कोई सम्मेलन होगा तो वहाँ भी बुलाने पहुँच जायेंगे। एक बार प्रधानमंत्री बन जाओ तो आगे के कामों के लिये प्रयत्न नहीं करना पड़ता। इसी प्रकार एक बार अहंकार का बिल्ला चिपक गया तो फिर राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य के लिये अलग कोशिश नहीं करनी पड़ती। अपने आप ही आते रहेंगे। अनेक लोग बार बार यह कहते हैं कि इन दोषों से छूटो। वेदांती कहता है कि बात तो वे ठीक कहते हैं लेकिन वह धीरे धीरे का रास्ता है। मुसलमानों वाला

रास्ता हलाल का है। आज एक चीज़ का राग छूटा, अब एक और का राग हटाना है। ऋषिकेश गये थे तब बैंगन छोड़ा था, अब इलाहाबाद जायेंगे तो टिण्डा छोड़ आयेंगे, फिर मौका पड़ा तो आलू भी छोड़ देंगे। यह हलाल वाला रास्ता है। वेदांती का रास्ता झटके का है। एक बार मार दो, छुट्टी करो। वेदांत कहता है कि अहंकार को एक बार हिम्मत करके काट दो कि 'मैं कुछ नहीं, परमात्मा ही परमात्मा है', यों काट दो तो बाकी सब अपने आप छूट जायेंगे। इसलिये कह दिया कि वह अद्वैत है, अहंकार छोड़ो तो यह काम बने।

'एवमोंकार आत्मैव संविशति' जो इस प्रकार ओंकार को समझ लेता है, वह बस परमात्मा के अंदर ही प्रवेश कर जाता है। फिर उसका अपना कुछ नहीं रहता। जैसे बूँद समुद्र में मिल जाती है ऐसे ही वह परमात्मा में मिल जाता है। 'आत्मना आत्मानम्।' अब श्रुति एक बड़ी विलक्षण बात कहती है कि यहाँ प्रवेश करने में साधन आत्मा है। आत्मा से, आत्मा के द्वारा। जिसने अहंकार को काट दिया उसे कोई साधन नहीं करना पड़ता। परमात्मा के द्वारा ही परमात्मा के अन्दर ही वह प्रवेश कर जाता है। उसके लिये साधन भी परमात्मा और उसका साध्य भी परमात्मा ही है, और उसके लिये साधक भी परमात्मा ही है। उसका अनुभव होता है कि परमात्मा ही मेरे से अच्छे कर्म भी करवा रहा है। उपनिषदों में बताया है कि वह बड़े से बड़ा अश्वमेध आदि करके भी यह नहीं मानता कि मेरे में कुछ विलक्षणता आ गई। बड़े से बड़ा दुष्कर्म भी उससे हो जाये तो उसके अन्दर यह भी नहीं होता कि मेरा कुछ घट गया। क्योंकि वह जानता है कि परमात्मा ही करवा रहा है। बड़े से बड़ा कर्म करके उसमें कोई बढ़ोत्री नहीं आती क्योंकि वह जानता है कि यह भी परमात्मा की महिमा है। चाहे उससे कैसा भी घृणित कर्म दूसरों की दृष्टि में हो जाये, तो भी वह जानता है कि 'यह मैंने नहीं किया, परमात्मा ही करने वाला है', वह इस बात को जानता है।

कई बार लोग संदेह करेंगे कि ऐसा सुनकर लोग बुरे काम करते रहेंगे और कहेंगे कि भगवान् ने करवाया। अच्छे काम वाली बात तो लोग पचा जाते हैं, लेकिन बुरे काम में घबरा जाते हैं। इसलिये यह समझ लो : जो ऐसा नहीं मानने वाला है क्या वह बुरा कर्म नहीं कर रहा है? जिनको बुरा कर्म करना है वह तो करना ही है। तुम्हारे कहने से कोई बुरा कर्म नहीं करेंगे; और हरेक कोई न कोई कारण तो बताता ही है। यह बात ज़रा ठीक से समझना, उल्टा नहीं समझना। कोई कहता है कि सरकार का कानून ही ऐसा है कि मुझे गलत काम करना पड़ता है। कोई कहता है कि ब्यूरोक्रेसी ऐसी है कि ऐसा काम करना पड़ता है। अथवा यह युग ही ऐसा है। दुष्कर्म करने वाला अपने दुष्कर्म का कोई न कोई निमित्त तो बताता ही है। या हमारी किस्मत ही खोटी है, या हमारी बुद्धि पर पत्थर पड़ गये, या हमारी कोई राहु केतु की दशा आ गई। इसलिये जो भी दुष्कर्म करता है वह करने के बाद कोई न कोई कारण बताता ही है। कारण बताने के लिये ही सही, जो परमात्मा का नाम तो ले रहा है, उससे क्यों घबराना? दूसरे लोग

तो दूसरे दूसरे कारणों को बता रहे हैं, उसमें भी परमात्मा का नाम नहीं ले रहे हैं। यह उतने में तो कम से कम परमात्मा का नाम ले रहा है। इतना सत्कर्म तो कर ही रहा है। और ऐसा कहेगा तो धीरे धीरे ये संस्कार भी बन जायेंगे और उसे यह अनुभव भी होने लग जायेगा। इसलिये इससे डरना नहीं चाहिये। इससे कोई नुक्सान किसी का नहीं हो सकता। होगा तो फायदा ही होगा। अधिकतर आदमियों को इस बात का विश्वास ही नहीं जमना है क्योंकि अहम् है 'मैं ही करने वाला हूँ', मुँह से भी नहीं कहेंगे कि मैं करने वाला नहीं। 'एवमोंकार आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद य एवं वेद।' जो ऐसी उपासना करता है वह परमात्मा में प्रवेश कर जाता है। दुबारा 'य एवं वेद' उपनिषद् की समाप्ति बताने के लिये है।

'अमात्रो मात्रा यस्य नास्ति सोऽमात्र ओंकारः।' मूल मंत्र में शब्द था अमात्र। अमात्र का अर्थ अनंत हो सकता है, इसलिये उसकी व्यावृत्ति के लिये कह दिया कि जिसको किसी तरह से मापा नहीं जा सकता वह अमात्र है। संस्कृत में 'न' के छह अर्थ होते हैं 'नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः।' प्रत्येक भाषा में भी 'न' के कई अर्थ लोग कर लेते हैं लेकिन प्रायः उसके अर्थ का विचार किये बिना करते हैं। जैसे कहते हो 'यह मनुष्यता नहीं है' तो यहाँ नहीं का मतलब यह नहीं है कि यह मनुष्यता ही नहीं है। यहाँ 'नहीं' का मतलब है कि निकृष्टता, नीचता या पशुता है। जैसे कोई आदमी अपने माँ-बाप को बहुत अच्छी तरह रखे, ऐसे रखे जैसे मनुष्य नहीं रखता, देवता रखता है, तो क्या कहोगे कि 'इस लड़के में मनुष्यता नहीं।' कोई पूछे 'यह तो माँ-बाप को अच्छी तरह रखता है, फिर कैसे कहते हो मनुष्यता नहीं है?' और कहो 'यही तो कहा है कि इसमें मनुष्यता नहीं, देवत्व है।' तो तुम्हारा 'मनुष्यता नहीं' का प्रयोग गलत ही माना जायेगा। इसलिये यहाँ 'मनुष्यता नहीं' का मतलब मनुष्यता से नीचपना या निकृष्टता है। अथवा इस लड़की के पेट नहीं है का मतलब हिन्दी में होता है गर्भ नहीं है। 'नहीं' शब्द के कई अर्थ होते हैं लेकिन प्रायः अंदाज से हम काम चलाते रहते हैं और सुनते सुनते हेवा (आदत) हो जाते हैं। इसलिये हम हमेशा कहते हैं कि संसार में सबसे सरल भाषा संस्कृत भाषा है। उसका कारण ही यह है कि नियम बने हुए हैं इसलिये निश्चित रूप से कह देते हैं कि यह ऐसा ही है। अन्य भाषाओं में जन्म भर पढ़ते रहो, फिर भी पता नहीं लगेगा कि कैसा है। नया शब्द, नई बात आते ही फिर अटक जाओगे। बरफ पुल्लिग है या स्त्रीलिंग है, चाहे दस साल तक हिन्दी पढ़ते रहो निश्चय नहीं हो पाता। एक तरफ कहा जाता है 'बरफ बहुत ठण्डा है', तब लगता है बरफ पुल्लिग है, फिर कहते हो 'वहाँ बहुत बरफ पड़ी है' तब लगता है बरफ स्त्रीलिंग है। सोचते रहो क्योंकि कोई नियम नहीं है। यहाँ न का अर्थ क्या लेना है? अर्थ कर दिया कि यहाँ अमात्र से मात्रा का अत्यंताभाव बताना है कि इसका किसी परिमाण से कोई सम्बन्ध ही नहीं है। अमात्रा का न यहाँ मतलब है छोटी मात्रा और न मतलब है बहुत बड़ी मात्रा बल्कि मतलब है कि परिमाण से उसका कोई सम्बन्ध ही नहीं है। वह अमात्र ओंकार है। मूल मंत्र में चतुर्थ पद था, उसी का

अर्थ कर दिया 'चतुर्थः तुरीयः' चतुर्थ के लिये तुरीय शब्द संस्कृत में बन जाता है। यह इसलिये कि बहुत बार लोग समझते हैं कि तुरीय कोई अलग अर्थ वाला शब्द है। चतुर्थ को ही संस्कृत में तुरीय कहते हैं।

'आत्मैव केवलः' तुरीय केवल आत्मा है। केवल अर्थात् अद्वितीय। तीन तरह की द्वितीयतायें (दूसरापना) होती हैं— सजातीय, विजातीय और स्वगत। 'दो ब्राह्मण यहाँ हैं', इसका मतलब है कि ब्राह्मण जाति के दो व्यक्ति हैं, यहाँ सजातीय द्वितीयता है। 'ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों झगड़ा करते रहते हैं', यहाँ दो का मतलब विजातीय द्वितीयता है। शब्द वही 'दो' है, लेकिन अर्थ एक नहीं है। आजकल ब्राह्मण क्षत्रिय नहीं समझते हो तो दूसरी सजातीयता विजातीयता समझ लो। 'दो सेव हैं', यह सजातीय द्वितीयता है तथा 'सेव और नारंगी ये भी दो हैं' यह विजातीय द्वितीयता है। दो सेवों को भी 'दो फल' कहेंगे और पच्चीस सेव और पच्चीस नारंगियाँ रखी हों तो भी कहेंगे कि 'दो फल हैं।' पचास दीख रहे हैं लेकिन वहाँ विजातीय तो दो ही हैं। एक में पच्चीस हुए तो फिर सजातीय हो गये। तीसरी स्वगत द्वितीयता है। हमारे हाथ और हमारे पैर दोनों आपस में अलग हैं, यह अपने अन्दर ही भेद हुआ। किसी को कहा कि आज ब्रह्मभोज है ब्राह्मणों को ही बुलाया है तो पच्चीस पचास ब्राह्मण भी आ सकते हैं। हमने कह दिया कि आज हमारे यहाँ केवल एकोद्दिष्ट श्राद्ध है, इसलिये एक ही पंडित आयेंगे। पार्वण हो तो पंडित जी की पत्नी और बच्चे भी आ जायेंगे। पंडितजी खाने के लिये आ गये। अब हम कहें कि 'आपके दो हाथ, दो कान, दो पैर लटक रहे हैं, इतने साथ क्यों आये, हमने अकेले बुलाया था?' अपने अवयवों के अन्दर जो द्वितीयता होती है उसे स्वगत द्वितीयता कहते हैं। हाथ पैर वाली द्वितीयता लोगों को कई बार विचित्र लगती है लेकिन दूसरी स्वगत द्वितीयता समझ लो। कहते हैं 'सत्संग सुनने आना तो चाह रहे थे, लेकिन पता नहीं दिल ही नहीं किया।' एक तुम आना चाह रहे थे और एक तुम जिसने दिल नहीं किया, क्या दो जने अंदर बैठे हैं? या कोई भूत प्रेत घुसा हुआ है? यह स्वगत भेद है। बुद्धि कहती है सत्संग सुनने चलो, मन कहता है ठण्डी हवा में रजाई बड़ी अच्छी लग रही है। यहाँ मन बुद्धि हमसे अलग नहीं, स्वगत हैं लेकिन स्वगत होते हुए भी एक दूसरे के विरोधी हो गये। बुद्धि कुछ कहती है, मन कुछ और कहता है। परमात्मा में ये तीनों तरह की द्वितीयतायें नहीं हैं। एक जाति की दो चीज़ें हों उनमें सजातीय द्वितीयता होती है।

परमात्मा एक ही है, दो नहीं है। समन्वयवादी कई मानते हुए ऊपर से एक एक कहते हैं। एक बार गाँधी जी के बहुत बड़े भक्त कहीं आये हुए थे। वे एक कीर्तन करवाया करते थे 'ईश्वर अल्लाह तेरे नाम, राम रहीम तेरे नाम, कृष्ण करीम तेरे नाम' इत्यादि उनके कई थे। एक दिन हमने उनसे हँसी में कहा 'आप बहुत से देवता मानते हैं?' वे कहने लगे 'नहीं जी, हम तो एक ही मानते हैं।' हमने उनका नाम लेकर कहा, 'मान लो आपका नाम देवदत्त है, हम यदि कहें कि देवदत्त जी आओ, यज्ञदत्त के पिता जी

आओ, कृष्णदत्त के बेटे जी आओ, भगवती के पति जी आओ, इस प्रकार एक के बाद एक कहकर आपको बुलायें तो आपको अच्छा लगेगा या बुरा लेगगा? क्योंकि आपके ही ये कई नाम हैं अतः किसी एक को कहकर बुला लिया जायेगा। यदि आप कई लोग हों तो कई नाम लेने पड़ेंगे। ऐसे ही यदि आप मानते होते कि राम, रहीम, कृष्ण, करीम एक ही नाम हैं तो फिर इकट्ठे ही यहाँ एक के बाद एक क्यों बोलते हो? इसका मतलब है कि हृदय में जमा हुआ है कि ये अलग अलग देवता हैं और राजनीति के चक्कर में सबको फँसाने के लिये ऐसा बोलते हो।' वे बुरा मान गये। हमने कहा विचार करो हृदय में एकता हो तो यह भाव ही न आये कि यह कहा तो साथ यह भी कहें। यह तभी हो सकता है कि राम और रहीम दो होंगे, राम को बुलायेंगे तो रहीम बुरा मानेंगे। यदि एक होगा तो दो काहे को मानें, एक ही से काम चल जायेगा। यह तो परमेश्वर के विषय में सद्वितीयता है। मोटी दृष्टि से लोग कह देते हैं कि हम परमेश्वर को मानते हैं लेकिन ऊपर से मानते हैं हृदय से नहीं मानते।

यहाँ केवल राम रहीम में नहीं समझना, घर में भी ऐसा ही है। एक बार भीमताल में ठहरे हुए थे। हमारे साथ आल इंडिया रेडियो के एक अधिकारी थे। वहाँ एक प्राचीन मंदिर है जहाँ नल को सर्प ने काटा था और जहाँ पक्षी लोग दमयंती की साड़ी लेकर उड़े थे, वह जगह भी बनी हुई है। वहाँ गये तो मन्दिर में भगवान् विष्णु की एक प्राचीन बहुत सुन्दर मूर्त्ति लगी हुई थी। विष्णु भगवान् का मन्दिर था। उसके पास में एक हनुमान् जी बनाकर बैठा दिये थे, वह उतने कलात्मक नहीं थे, और वहाँ भद्दे भी लगते थे क्योंकि मन्दिर वहाँ एक मूर्त्ति के लिये बनाया गया था लेकिन और सब भी वहाँ रख दिये गये। वे अधिकारी आधुनिक पढ़े लिखे हैं, कहने लगे 'ये लोग बहुत ग़लत काम करते हैं।' हमने उनसे कहा 'इसके बारे में आपको फिर कभी बतायेंगे, आज इस बात का जवाब नहीं देंगे।' फिर आठ दस दिन बाद कलकत्ते के कोई सज्जन सेठ आये हुए थे, उनके साथ दर्शन करने गये। वहाँ पहुँचे तो उन्होंने विष्णु भगवान् की मूर्त्ति पर चवन्नी, हनुमान् जी पर दुअन्नी, दुअन्नी कृष्ण जी को, और दुअन्नी राधा जी को भी चढ़ाई। एक ही मंदिर में अलग अलग जगह पैसे चढ़ाये। वह अधिकरी सज्जन भी हमारे साथ थे। हमने उनसे कहा 'नोट कर लो। हमारे मन्दिरों में क्यों इतनी मूर्त्तियाँ बनती हैं, उसका जवाब यह है।' अगर केवल विष्णुमूर्त्ति होती तो भी उन्हें चवन्नी चढ़ानी थी, रुपया नहीं चढ़ाना था। क्योंकि यह तो रेट हुआ। इतनी मूर्त्तियाँ हैं तो दुअन्नी दुअन्नी करके मन्दिर की रुपये दो रुपये की आमदनी तो हो गई। कहीं भी दर्शन करने जाओ तो यदि मन में एक परमात्मा का विश्वास होगा तो जो मूर्त्ति सामने है उस पर चढ़ा दिया और वहाँ एक जगह आनंद से बैठकर पूजन कर लो। लेकिन मन कहता है कि विष्णु की पूजा कर लेंगे, राम जी पास में बैठे हैं, इनकी नहीं करेंगे तो ये शायद बुरा मान जायेंगे। हनुमान् जी की पूजा भी ज़रूर करनी है। कहने को कहते हैं कि हम एक परमात्मा को मानते हैं लेकिन एक

परमात्मा के ऊपर विश्वास जितना सरल लोग समझते हैं उतना है नहीं। वह हो जायेगा तो किसी में कोई फरक नहीं, फिर रामजी की मूर्त्ति सामने आई तो उनकी पूजा दिल से कर ली, कभी हनुमान् जी की मूर्त्ति सामने आई तो उसमें भी कोई फरक नहीं है। परमात्मा की सजातीय द्वितीयता नहीं है।

दूसरी द्वितीयता विजातीय है। परमात्मा से दूसरी जाति की कोई चीज़ है ही नहीं। हम लोगों को यह सारा संसार परमात्मा से दूसरी जाति का लगता है। एक परमात्मा हो गया और एक संसार हो गया। यह विजातीय भेद है। वेद कहता है 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' सब कुछ ब्रह्मरूप है, 'आत्मैवेदं सर्वम्' आत्मा ही यह सब कुछ है। 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' ब्रह्म ही यह सब कुछ है। 'पुरुष एवेदं सर्वम्' पुरुष ही यह सब कुछ है। अनेक श्रुतियों के अन्दर यह स्पष्ट उद्घोष है कि यह परब्रह्म परमात्मा ही संसार के सारे रूपों को लिये हुए है। उससे अलग होकर कोई चीज़ नहीं रह सकती। रोज़ महिम्न के पाठ में कहते हो 'त्वमर्कस्त्वं सोमस्त्वमसि पवनस्त्वं हुतवहस्त्वमापस्त्वं व्योम त्वमु धरणिरात्मात्वमिति च' तुम ही जल, तुम ही तेज, तुम ही वायु, तुम ही आकाश और तुम ही सूर्य, चन्द्र और यजमान हो, सब तुम ही हो। उसमें विजातीय भेद नहीं है। परमात्मा की जाति का भी कोई दूसरा नहीं है, और परमात्मा से भिन्न जाति की भी अन्य कोई चीज़ नहीं। तीसरा : शायद परमात्मा के अंग प्रत्यंगों में कोई भेद होगा। उसका भी निषेध कर दिया। परमात्मा कैसा है? 'निष्कलम्' उसके टुकड़े नहीं हैं। यह नहीं हो सकता कि परमात्मा का आधा टुकड़ा इधर और आधा उधर हो जाये। टुकड़े होने वाली चीज कभी नित्य नहीं हुआ करती। इसलिये यदि परमात्मा को टुकड़े वाला समझोगे तो उसकी नित्यता ही नहीं रहेगी। अतः परमात्मा के अन्दर स्वगत भेद भी सम्भव नहीं है। यहाँ तीनों प्रकार की द्वितीयता का निषेध होने के कारण उसको अद्वितीय कहा गया। अमात्र हो गया जिसका परिमाण से कोई सम्बन्ध नहीं। चतुर्थ हो गया तुरीय, जिसके अन्दर तीनों प्रकार की द्वितीयता नहीं।

अब अव्यवहार्य का तात्पर्य बताते हैं 'अभिधानाभिधेयरूपयोः वाङ्मनसयोः'। व्यवहार हमेशा वाणी और मन से होता है। शरीर आदि से भी जो व्यवहार करोगे तो वह मन के अधीन होकर करोगे, वाणी भी मन के अधीन है। मन इन्द्रियों से ज्ञान प्राप्त करता है और फिर कर्मेन्द्रियों के द्वारा व्यवहार करता है। ज्ञानेन्द्रियों से मन जानता है और जानकर कर्मेन्द्रियों से व्यवहार करता है। जो चीज़ ज्ञानेन्द्रियों का विषय नहीं होगी, वह मन का विषय न होने से कर्मेन्द्रियों के द्वारा व्यवहार का विषय भी नहीं बनेगी। रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श आदि को इन्द्रियाँ ग्रहण करेंगी, उसके द्वारा सुख दुःख का अनुभव मन करेगा। जिस चीज़ से सुख का अनुभव करेगा उधर प्रवृत्ति करेगा और जिस चीज़ से दुःख का अनुभव करेगा उससे निवृत्ति होगी। यही व्यवहार है। जो चीज़ इन्द्रियों का विषय नहीं होगी तो मन भी उसे विषय नहीं कर सकता। मन स्वतंत्र होकर

बाहर गति नहीं करता है, हमेशा ज्ञानेन्द्रियों के पराधीन होकर ही मन की गति है। अगर मन इन्द्रियों से स्वतंत्र रहते बाह्य पदार्थ का प्रत्यक्ष ज्ञान कर सकता तो इन्द्रियाँ बेकार हो जातीं। मन हमेशा इन्द्रियों के अधीन ही ज्ञान करेगा और तब सुख दुःख के द्वारा प्रवृत्ति निवृत्ति कर्मेन्द्रियों से करेगा। जब परमात्मा ज्ञानेन्द्रियों का विषय नहीं तो ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा मन उसको ग्रहण नहीं कर सकता। जब ग्रहण ही नहीं करेगा तो आगे कर्मेन्द्रियों से प्रवृत्ति निवृत्ति और व्यवहार कैसे बनेगा?

एक हुआ मन का व्यवहार और दूसरा हुआ वाणी का व्यवहार। वाणी के लिये ज्ञानेन्द्रियों की आवश्यकता नहीं। कान से जो ध्वनि सुनते हो उससे अलग वाणी को समझना। हम बोल रहे हैं। अगर यहाँ कोई रूस देश का व्यक्ति बैठा हो तो ध्वनि तो वह वही सुनेगा जो आप लोग सुन रहे हो लेकिन वाणी कुछ नहीं सुनेगा। उसको लगेगा कि कुछ आवाज या शोर हो रहा है, आदमी बोल रहा है तो कुछ मतलब भी ज़रूर होगा। वाणी के द्वारा जो ज्ञानेन्द्रियों का विषय नहीं उसका प्रतिपादन हो जाता है। जैसे यहाँ बैठकर अगर न्यूयार्क का वर्णन करें तो जिसने न्यूयार्क कभी नहीं देखा है उसे भी ज्ञान हो जाता है। स्वर्ग का वर्णन करते हैं तो स्वर्ग का ज्ञान होता है। यहाँ इन्द्रिय आदि से तो देखा नहीं गया। इसलिये एक व्यवहार वाणी के द्वारा हुआ और दूसरा मन के द्वारा हुआ। अनुमान आदि जितने हैं उनके अन्दर तो कहीं न कहीं ज्ञानेन्द्रियों का सम्बन्ध होता है। दूर से धुएँ को देखकर तुमने जब अग्नि का अनुमान किया तो वहाँ भी ज्ञानेन्द्रिय पहले धुएँ और आग का एकत्र रहना रसोई आदि में देखेगी। ऐसे शाब्द-ज्ञान के प्रति नियम नहीं। कह सकते हो 'यहाँ पहले कान की ज़रूरत सुनने के लिये पड़ती है। सुनकर ही शब्द से ज्ञान होगा।' लेकिन यह जरूरी नहीं कि शब्द सुनने के प्रति कान ही कारण हो। आजकल एक उपन्यास नाम की चीज़ आती है, कुछ लोग जानते होंगे। वह बाजार से खरीद लेते हैं, कभी सुनते नहीं। उसपर काली लींगटियाँ होती हैं और लोग उसे बाँचते रहते हैं, अर्थज्ञान हो जाता है। वहाँ कान की ज़रूरत नहीं पड़ी। कहोगे वहाँ आँख की ज़रूरत पड़ी तो एक ब्रेल लिपि होती है, वहाँ आँख, कान दोनों की ज़रूरत नहीं, स्पर्श से ज्ञान हो जाता है। इन सबसे पता लगा कि वाणी से व्यवहार किसी इन्द्रिय को लेकर किसी भी तरह हो सकता है। और यह तो शब्द को जानने के लिये इंद्रिय की ज़रूरत सिद्ध हुई। शब्द से अर्थ को, वाक्यार्थ को जानने में इन्द्रिय का उपयोग नहीं, यह कह रहे हैं। इन्द्रियों के अयोग्य पदार्थ शब्दों से जान लिये जाते हैं। कोई कहता है 'आपने ऐसा किया, मुझे बुरा लगा।' तुम्हे स्पष्ट ज्ञान होता है उसे क्या हुआ। बुरा लगना किसी इन्द्रिय का तो विषय नहीं। दो व्यवहार हुए, एक वाणी का व्यवहार और एक मन का व्यवहार। वाणी के व्यवहार में अभिधान की ज़रूरत और मन के व्यवहार में अभिधेय की ज़रूरत है। अभिधान और अभिधेय, नाम और रूप बस यही सारे व्यवहार का बीज है।

वही क्षीण क्यों हो जाता है? तुरीय की दृष्टि से जो अभिधेय है वह भी ज्ञानातिरिक्त नहीं। जितने पदार्थ दीखते हैं वे ज्ञानरूप ही तो हैं। इसलिये वे ज्ञान से अतिरिक्त नहीं। और जितने भी नाम लेते हो वे भी ज्ञान से अतिरिक्त नहीं, ज्ञानरूप ही हैं। अभिधान और अभिधेय के व्यवहार के क्षय का कारण है कि चित् से अतिरिक्त कोई भी वाणी या रूप रह नहीं जाता। इसीलिये शास्त्रकारों ने लिखा है कि बुद्धिमान् सारे जगत् में ज्ञान को देखता है और मूर्ख पदार्थों को देखता है। शास्त्रकारों ने तो मूर्ख नहीं लिखकर कड़वी बात लिखी है 'मन्दभाग्या न पश्यन्ति स्वरूपं केवलं बृहत्' मन्द भाग्य वालों को पदार्थ दिखाई देता है। यह आजकल के लोगों की समझ में नहीं आयेगा क्योंकि आजकल लोग समझते हैं कि पदार्थ दीखना भाग्य का फल है! इसलिये कोई आदमी गाँव में रहता हो और दिल्ली जैसे शहर में पहुँच जाये तो लोग कहते हैं कि उसके भाग खुल गये। हम लोग कहते हैं कि भाग फूट गये। किसी के घर घड़े की जगह रैफ्रिज्रेटर आ गया तो लोग कहते हैं कि भाग खुल गये, हम कहते हैं भाग फूट गये। घड़े की जगह एक और लम्बा चौड़ा पदार्थ दीखने लग गया। इसलिये श्रुति, स्मृति, पुराण इत्यादि पदार्थों को ज्ञानस्वरूप प्रतिपादित करते हैं। ज्ञान को लेना सौभाग्य का लक्षण है। अब जब मूल अज्ञान नष्ट हो गया तो फिर वाणी और मन के दोनों व्यवहारों में, अभिधान और अभिधेय में केवल ज्ञानरूपता ही रह गई। इसलिये कह दिया 'क्षीणत्वात् अव्यवहार्यः।' 'क्षीणत्वात्' इसलिये कहा कि जब तक प्रारब्ध कर्म है तब तक बीच बीच में थोड़ा बहुत पदार्थों का ज्ञान प्रारब्ध कराता ही रहेगा नहीं तो जीवन यात्रा ही नहीं चल सकती। सामने दाल चावल आयेंगे, तभी खाओगे, नहीं तो जीवन कैसे चलेगा? इसलिये उसका व्यवहार क्षीण हो जाता है, अत्यल्प हो जाता है। सर्वथा नष्ट तो प्रारब्ध शेष होने पर ही हो सकता है।

किसी के मन में शंका हो सकती है कि यदि आत्मा अव्यवहार्य है तो फिर ऐसा क्यों न मान लें कि यह आत्मा कुछ है ही नहीं? क्योंकि लोक में जो चीज़ जितनी व्यवहार के अयोग्य होती है वह चीज़ उतनी ही व्यर्थ समझी जाती है और जितनी व्यवहार के योग्य हो उसे उतना ही श्रेष्ठ माना जाता है। यदि यह आत्मा सर्वथा अव्यवहार्य है तो फिर यह सर्वथा ही व्यर्थ है। जो चीज़ व्यर्थ होती है, वह होते हुए भी नहीं जैसी ही होती है। जैसे किसी के घर में २५ मन सूअर की टट्टी पड़ी हो और वह उस घर को बेच रहा हो। तुम उससे पूछो 'तुम्हारे घर में कोई फर्नीचर आदि माल तो नहीं है?' वह कहे 'पच्चीस मन माल है।' कहोगे 'पच्चीस मन गेहूँ, घी आदि होगा, उसके भी पैसे ले लो, कहाँ ले जाओगे।' वह कहे कि पच्चीस मन सूअर की टट्टी है। अब तुम उसका दाम दोगे या ऊपर से शर्त लगाओगे की खाली कराओ तब लेंगे? सारा खाली करके जाना पड़ेगा क्योंकि वह व्यवहार के अयोग्य होने से व्यर्थ है। और व्यर्थ है अतः नहीं है, उसका होना न के समान है। उस पच्चीस मन के माल को गिनती में नहीं गिना जायेगा। इसी प्रकार यदि यह आत्मा अव्यवहार्य है तो नहीं है कहने से ही काम चल जायेगा।

समाधान है कि अव्यवहार्य होने पर भी इसका फल बहुत बड़ा है। श्रुति ने आगे कह दिया 'प्रपंचोपशमम्' जितने संसार के दुःख हैं उन सबकी निवृत्ति हो जाने पर जो परम आनंद बच जाता है, बस वही यह आत्मा है। इससे और कुछ व्यवहार नहीं है, केवल परम आनंद ही आनंद है। जितना विकारजात है इसका बाध करते करते, इसकी असत्यता जानते जानते जो अंतिम सत्य बच जाता है वही परमात्मा है। जो असत्य है वह नष्ट होता है, जो सत्य है वह रह जाता है। इसी दृष्टि से हम लोगों ने अपने धर्म का नाम सनातन धर्म रखा था। 'सदा भवः सनातनः' हमेशा रहने का मतलब है कि जो चीज़ न रहने के लायक है वह कालान्तर में खत्म होती जाती है। कई बार लोग कह देते हैं महाराज! सनातन धर्म आजकल बहुत खराब हो गया है या नष्ट हो रहा है। कोई दूसरा कहता है नष्ट तो नहीं होगा, कोई न कोई महापुरुष आयेगा तो बच जायेगा। ये दोनों बातें सनातन धर्म को न समझने के कारण हैं। जो नष्ट हो रहा है, जो बदल रहा है वह कभी सनातन धर्म था ही नहीं। तुमने यदि उसे सनातन समझ लिया था तो गलत समझ लिया था। सनातन हो और फिर नष्ट हो, यह असम्भव है। जो बदल रहा है, वह सनातन नहीं है।

पंजाब में दस गुरुओं में किसी गुरु की कथा है कि एक बार उनके पास बहुत शिष्य इकट्ठे हो गये। कोई रबड़ी, कोई मलाई लाने लगा, खूब माल मिलने लगा। जैसे बड़े मंदिरों में, तिरुपति, श्रीनाथ जी में चले जाओ, वहाँ सभी भगवान् के भक्त इकट्ठे नहीं होते, कोई ठोर के भक्त, कोई लाडू के और कोई रबड़ी के भक्त भी होते हैं। कई बार लोग उदयपुर जाते हैं तो उनमें कोई भगवान् की भक्ति हो सो कुछ नहीं, कहते हैं स्वामी जी भोजन तो नाथद्वारे करके जायेंगे। हम पूछते हैं 'क्या बता है?' कहते हैं 'दो रूपये में बढ़िया पत्तल मिलती है।' वहाँ सभी भक्त थोड़े ही हैं। इसी प्रकार वहाँ गुरु के पास कई प्रकार के भक्त हो गये। गुरु जी ने सोचा कि बहुत इकट्ठे हो गये हैं, मुश्किल हो गई है, क्या उपाय करें? उन्होंने कहा कि अपने सब जंगल में चलकर खेती करके खायें। आधे चेले तो उसी समय निकल गये कि अच्छा बढ़िया माल खाने को आये थे, वहाँ खेती जोत कर खाना है तो घर में ही खा लेंगे, उसके लिये इनके पास आने की क्या ज़रूरत है? उन्होंने और कई काम लगाये लेकिन जो गये नहीं वे अब असली भक्त रह गये। बाकी सब धीरे धीरे निकल गये।

इसी प्रकार सनातन धर्म के अन्दर एक तो वास्तविक सनातन धर्म है, वह है सत्य को जानना, सत्य का अन्वेषण करना, सत्य पर स्थिर रहना, किसी हालत में सत्य को न छोड़ना। लेकिन इस प्रकार के सत्य व्यवहार के साथ जीवन यात्रा में कई असत्य के बाड़े भी इकट्ठे हो जाते हैं। साधारण आदमी उन दोनों को अलग करके नहीं समझ पाते। मान लो कोई परमेश्वर-भक्त नित्य निरंतर परमात्मचिंतन करता है। उसका शरीर ऐसे देश में पैदा हुआ था जहाँ भात खाने की आदत है। अब परमात्मभजन या ध्यान से भात का

तो कोई सम्बन्ध नहीं है, शरीर से उसका सम्बन्ध है। वे खाते दोनों समय भात ही हैं। दूसरे लोग समझते हैं कि अपने सम्प्रदाय के अन्दर भात खाने की परम्परा है! फिर वे महापुरुष चले गये। उसके बाद किसी ने किसी दिन भात नहीं बनाया तो दूसरा कहता है 'गुरुजी को (यानी गुरु जी की फोटो को) भात का भोग नहीं लगाया, फुलका ही बना लिया? अरे तुम्हें पता नहीं, जब तक भात का भोग न लगे भोग पूरा नहीं होता?' उनका सत्य वाला हिस्सा सनातन हुआ, खाने को तो वे भात भी खा लेंगे, खैनी भी खा लेते थे, कभी तम्बाकू भी ले लेते थे, कभी गला खराब हो तो गरम पानी के कुल्ले भी करते थे। उनका सत्य वाला हिस्सा तो सनातन हुआ, बाकी सब प्रासंगिक है, उससे जीवन चलेगा। इसलिये वैदिक अपने शिष्य को उपदेश करता है तो सावधान करता है 'यानि अस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि।' जो हमने धर्म-बुद्धि से अनुष्ठान किया है कि यह धर्म है, फ़ायदे की चीज़ है, परलोक में ले जाने का काम है, उसका निर्वाह करना। शरीर-निर्वाह के लिये तो और कई चीज़ें होती हैं, उन्हें पकड़कर नहीं बैठ जाना। होता यही है कि जो असली आदर्श होता है वह लोग कम जीवन में ला पाते हैं। लेकिन वह बाल कैसे रखते थे, कितने बजे रोटी खाते थे, कपड़े कैसे पहनते थे, चंदन लगाते थे या भस्मी, इन बातों की आदमी शत प्रतिशत नकल कर लेगा। उनके जीवन की तरफ, उनके सत्य वाले हिस्से की तरफ दृष्टि नहीं रहती है।

जब कहते हो कि सनातन धर्म का कुछ हिस्सा नष्ट हो रहा है तो निश्चित जानो कि नष्ट वही होता है जो असत्य वाला हिस्सा है। सत्य वाला हिस्सा नष्ट हो सके, यह असम्भव है। नष्ट होते होते भी जो कभी नष्ट नहीं होगा बस वही समझ लेना कि तुम्हारा अपना आत्मस्वरूप है। जिस चीज़ को कुछ कर लो लेकिन हटा न सको, वही तुम्हारा स्वरूप है। इसलिये कह दिया 'प्रपंचोपशमः' जो बचेगा वही प्रपंच का उपशम है। विकारजात नष्ट होते होते अंत में जो बचता है, वह परम आनंद बचेगा। 'आनंदं ब्रह्मेति व्यजानात्।' तुम जितने विकार अपने ऊपर लादते हो, वही सारे अनर्थ हैं और जैसे जैसे अनर्थ हटते जायेंगे वैसे वैसे अनर्थ के अभाव से उपलक्षित तुम्हारा आत्मस्वरूप प्रकट होता जायेगा। इसलिये असत्य को बचाने का प्रयत्न बेकार जाता है। यह हमेशा याद रखना, क्योंकि यही सत्य का अन्वेषण है। यह मानकर कभी नहीं चलना कि जो हम जानते हैं, हम मानते हैं, वह सत्य है। जो सत्य है वही हम मानेंगे, जो भी उस सत्य का रूप हमारे सामने आये। ईशावास्य उपनिषद् के अंत में ऋषि प्रार्थना करते हैं हे पूषन् देवता! 'तत्त्वं अपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।' पहले तत्त्व के ऊपर जो ढक्कन या आवरण पड़ा हुआ है, उसको आप दूर करिये। उसको जब दूर करेंगे तो वह जो सत्य धर्म है उसकी हमको दृष्टि अर्थात् अवलोकन प्राप्त हो जायेगा। जहाँ अज्ञान का ढक्कन हटा सत्य धर्म स्वयं प्रकाशित हो जाता है। उसको मानना नहीं पड़ता, वह प्रत्यक्ष सिद्ध होता है। इसलिये 'प्रपंचोपशमः' कहा। उसी तत्त्व को कहते हैं कि वह सर्वप्रपंचों का उपशान्त

रूप है। 'शिवः अद्वैतः' वही शिव है, वही अद्वैत है। तुरीय में कह आये थे 'आत्मैव केवलः' फिर यहाँ अद्वैत अलग से कहने की क्या ज़रूरत पड़ी? दोनों में थोड़ा सा फ़र्क है। अद्वैत का मतलब यह है कि सर्व द्वैत कल्पनाओं का अधिष्ठान। केवल मतलब सजातीय, विजातीय एवं स्वगत तीनों द्वितीयताओं से रहित। अद्वैत अर्थात् सारा द्वैत जिस ज्ञान में दीखता है। घड़ा, कपड़ा, लड्डू, पेड़ा आदि ज्ञान में ही तो दीखते हैं। घड़े का ज्ञान होगा तभी घड़ा दीखेगा। सब कुछ ज्ञान में प्रतीत हो रहा है। इसलिये उसका अधिष्ठान आत्मस्वरूप ज्ञान है। अभी अद्वैत है ढका हुआ। जो मिथ्या होता है वह ढाँकता है और जो सत्य होता है वह ढका रहता है जैसे जब रस्सी में साँप दीखता है तो साँप मिथ्या है, वह ढाँक देता है और रस्सी सत्य है जो ढक जाती है। ढाँकने वाला असत्य होता है और ढँकने वाला सत्य होता है। यह अच्छी तरह से याद रखना क्योंकि मनुष्य इसमें प्रायः गड़बड़ी कर जाता है। स्वभाव से जो चीज़ ढाँकती है वह असत्य होती है और जो चीज़ ढँकती है वह सत्य होती है। सत्य दब जाता है और झूठ दबा लेता है।

इसीलिये पुराणों में जितनी कथायें पढ़ोगे सब जगह देवता और असुर लड़ते हैं और असुर देवताओं को दबा लेते हैं। देवता सब जगह हार जाते हैं। अंत में जब हारे हुए देवता अपने अहंकार को छोड़कर भगवान् की शरण जाते हैं तो भगवान् उन्हें बचाते हैं। जितनी देव असुरों की कथायें हैं सबमें असुर ढाँकने वाले हैं, मिथ्या हैं और ढँकने वाला देव प्रकाशरूप सत्य है। मिथ्या हमेशा सत्य को ढाँक देता है। लेकिन चूँकि वह मिथ्या है, इसलिये परमात्मशक्ति, जो नित्यशक्ति है वह, उसे रहने नहीं देती। स्वयं सत्य नहीं हटाता है लेकिन काल रूपी जो परमात्मा है वह अपने आप ही असत्य को हटा देते हैं। सत्य को वह हटा नहीं सकते।

किसी आदमी को क्रोध आ जाये तो बेवकूफ़ उसी समय उससे लड़ता है। उसको गुस्सा आया हुआ होता है और बेवकूफ़ उसी समय कहता है 'तुम गलत कह रहे हो।' जितनी उसकी गलती कहोगे उतना उसका गुस्सा और बढ़ेगा। बुद्धिमान् दूसरे को गुस्से में देखकर चुप बैठता है। फिर चार छह घण्टे निकल जाने दो। उसके गुस्से को शांत करने के लिये कुछ नहीं करना पड़ता है। कई बार लोग समझाने जाते हैं। हमारे यहाँ कभी किसी को गुस्सा आ जाये तो दूसरे हमसे कहते हैं 'महाराज! बुलाकर समझा दीजिये।' हम कहते हैं 'कुछ मत समझाओ, सवेरे बात करेंगे।' विचार की बात यह है कि क्रोध इसलिये निकल जाता है कि असत्य है। ऐसा शांति में नहीं होता है कि शान्ति से बैठे हुए हो तो कालान्तर में शान्ति निकल जाये। शान्ति को हटाने के लिये तो कोई न कोई अशांति के कारण को आना पड़ेगा। लेकिन क्रोध को हटाने के लिये कोई मनायेगा तो हटेगा ऐसा नहीं है, बल्कि थोड़े समय में अपने आप हट जायेगा। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य सभी आत्मा की दृष्टि से असत्य ही हैं। इसलिये बुद्धिमान् जब काम क्रोध आदि असत्य का आक्रमण होता है, उस समय काल की अपेक्षा करता है। उसको

हटाने के चक्कर में नहीं जाता। थोड़े काल के बाद वे अपने आप निकल जाते हैं। ढाँकने वाली आसुरी शक्ति हुई और ढँकने वाला देव हुआ। अंततोगत्वा काल रूपी परमेश्वर सभी असत्यों को निकालता चला जाता है। जो उन सबमें कभी निकल नहीं पाता, बस उसी को सत्य समझो।

'एवं यथोक्तविज्ञानवता प्रयुक्त ओंकारः।' ओंकार के विज्ञान वाला अर्थात् इस प्रकार का ध्यान करने वाला, जब ओंकार का प्रयोग करता है तो 'त्रिमात्रः त्रिपादः आत्मैव' वह पाद और मात्राओं की एकता समझता है, जानकर ही प्रयुक्त करता है। पाद और मात्रा तुरीय आत्मा या ओंकार में नहीं हैं। पूर्व पूर्व विभाग का उत्तरोत्तर में अंतर्भाव क्रम से करते जाना। केवल आत्मा ही पर्यवसान में रह जाता है। यही उसका प्रयोग है। अ उ म में पूर्व अ हुआ इसलिए अ उ में और उ म में, अ उ से भिन्न नहीं, इसी प्रकार अंतर्भाव करते जाना चाहिये। और म फिर ओंकार से भिन्न नहीं। इस प्रकार जाग्रत् स्वप्न से, स्वप्न सुषुप्ति से भिन्न नहीं और सुषुप्ति तुरीय से भिन्न नहीं, इस प्रकार उत्तर उत्तर में लीन करते जाना है। तब केवल शुद्ध आत्मा ही पर्यवसान में रह जायेगा। इस प्रकार ओंकार का प्रयोग हो तो वह फिर अपने अन्दर ही अवस्थित हो जाता है अर्थात् जितनी बाहर की दृष्टियाँ हैं वे सब उसकी हट जाती हैं, आत्मा से फिर उसे कोई चीज़ भिन्न नहीं लगती। अपने से भिन्न उसे किसी चीज़ की प्रतीति नहीं होती। सब चीज़ों के अन्दर स्वयं अपने को ही देखता रहता है। यही तद्रूपता की प्राप्ति है। यह साधन बता दिया।

'आत्मैव संविशत्यात्मना स्वेनैव स्वं पारमार्थिकमात्मानं य एवं वेद।' आत्मना पद श्रुति में था। उसी आत्मना का अर्थ कर दिया 'स्वेनैव' अपने से ही अर्थात् स्वयं ही इसमें साधन है। ब्रह्मप्राप्ति का साधन भी परमात्मा है और साध्य भी परमात्मा है। 'आत्मना आत्मानं संविशति' परमात्मा ही साधन और परमात्मा ही साध्य कैसे? जैसे लकड़ी के जलने का साधन लकड़ी स्वयं ही है। लकड़ी स्वयं ही जलती है। पानी में तो लकड़ी जलकर पानी को जलाती है। ऐसे कोई और चीज़ जलकर लकड़ी को जलाती हो ऐसा नहीं है। बल्कि लकड़ी स्वयं ही अपने आपको जलाती है। और लकड़ी के जलने का फल भी उसका जलना ही है। यहाँ साध्य और साधन लकड़ी का जलना ही है। लकड़ी जल गई तो लकड़ी के अन्दर रहने वाली जो अग्नि थी, उसका प्रतिबंधक नष्ट हो गया। यह थोड़ा कठिन विषय है। लकड़ी में आग बँधी हुई है। किससे बँधी है? प्राचीनों के मत में परमात्मा ने बाँध रखा है। 'अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।' प्राचीनों के मत में संसार के प्रत्येक पदार्थ में अग्नि प्रविष्ट है। आधुनिकों के मत में पत्तों में रहने वाली क्लोरोफिल के द्वारा सूर्य से अग्नि को खींचकर लकड़ी में बाँधा गया है। वस्तुतः दोनों में कोई भेद नहीं। वे जडवादी हैं इसलिये उनको सूर्य आग का गोला दीखता है। हम चैतन्यवादी हैं इसलिये हमको सूर्य भगवान् दीखते हैं। यह तो दृष्टि का भेद है। जैसी शिक्षा दोगे वैसी दृष्टि बनेगी। हम लोगों को माता जगत् को उत्पन्न करने

वाली परब्रह्ममहिषी का अंग प्रतीत होती है और आधुनिकों को अपने भोग के लिये पैदा करने वाली प्रतीत होती है। हमने बच्चों को यह कहते हुए सुना है कि 'तुमने तो अपनी मौज की, हमारे लिये नहीं सोचा' यह दृष्टिभेद ही है और कुछ नहीं है। प्राचीनों की दृष्टि में घर में कन्या आती है तो भगवती आती है, कन्या-दान का महत् पुण्य करके परलोक सुधरता है, साक्षात् भगवती आई है। आधुनिकों की दृष्टि में दहेज ले जाने वाली बलायें आई हैं। यह दृष्टि का ही भेद है। लड़की पैदा होती है तो सूप बजता है, लड़का पैदा हो तो थाली बजाते हैं। इसलिये दोनों बात तो एक ही कह रहे हैं लेकिन दृष्टि का भेद है। अग्नि को लकड़ी के अन्दर बाँधकर परमात्मा ने या सूर्य भगवान् ने रखा है।

जब बाँधकर रखेंगे तो इसका मतलब है कि अग्नि के चारों तरफ कोई ऐसी चीज़ होगी जो उसे प्रतिबद्ध करेगी जिससे अग्नि प्रकट नहीं हो पाये या बाहर नहीं जा पाये। वह प्रतिबंधक मिट्टी हो सकती है; पेड़ मिट्टी से ही बना है, खाद आदि भी मिट्टी का ही रूप है। जब वह प्रतिबंधक हटा देते हो तो अग्नि प्रकट हो जाती है। अग्नि को प्रकट करने के लिये लकड़ी को और किसी चीज़ की ज़रूरत नहीं पड़ती है। यह दूसरी बात है कि आजकल लोग दियासलाई का प्रयोग कर लेते हैं। कभी भी लकड़ी को लकड़ी से घिसते हैं तो घिसते घिसते आग पैदा हो जाती है। लकड़ी के अन्दर अग्नि प्रकट होकर अपने प्रतिबंधक को हटाती है। जो उसकी रुकावट करने वाली मिट्टी थी, वह फिर मिट्टी हो जाती है। उसी को तुम लोग राख कहते है, राख भी मिट्टी ही है और कुछ नहीं है।

इसी प्रकार शरीर में भी तो आत्माग्नि बैठी हुई है। शरीर से प्रतिबद्ध है। जब प्रकट हो जाती है तो मिट्टी मिट्टी रह जाती है। प्रतिबंधक के दूर हो जाने पर प्रतिबद्ध प्रकट हो जाता है। उस अग्नि का क्या हुआ, कहाँ गई? सर्वव्यापक अग्नि के साथ एक हो गई। प्राचीन भौतिकी से अर्वाचीन भौतिकी के अन्दर अनेक नियमों का फ़र्क है। माडर्न फिज़िक्स और न्यूटानिक फिज़िक्स के सिद्धान्त में बहुत फ़र्क है लेकिन 'सैकेण्ड ला आफ थर्मोडायनेमिक्स' वैसा का वैसा स्थिर है। उसका खण्डन आज तक नहीं हुआ है। अग्नि की व्यापकता को बताने वाला ही सैकेण्ड ला आफ थर्मोडायनेमिक्स है। जो अग्नि सूर्य में बैठी हुई व्यापक थी, कहीं बँधी हुई नहीं थी, वही फिर जब पेड़ में आई तो बँधी हुई हो गई। उसके बाद जब उसका बंधन हट गया तो पुनः सर्वव्यापक अग्नि ही रह गई। यहाँ बँधने वाली भी अग्नि, छुड़ाने वाली भी अग्नि और छूटने वाली भी अग्नि ही है। उसी ने जलाकर अपने को अलग किया। तिलों से तेल तो किसी दूसरे उपायों से भी दूर कर देते हो लेकिन लकड़ी के अन्दर अग्नि और राख को दूर करने वाली अग्नि स्वयं ही तो है। इसी प्रकार सर्वव्यापक आत्मा अंतःकरण के अन्दर बंधा हुआ है। जैसे अग्नि लकड़ी में बँध गई।

लकड़ी की तरह यहाँ पर भी अंतःकरण में बँधा हुआ आत्मा अतिदीर्घ काल तक बँधा रहता है लेकिन किसी समय इसमें विचार की अग्नि प्रकट होती है। विचार की अग्नि अर्थात् 'कोहं कथमिदं जातं को वै कर्त्तास्य विद्यते' यह विचार आता है : इस सृष्टि प्रपंच में मैं हूँ कौन?— यह जानना चाहता है। बाकी सब चीज़ों में तो जानने में अपनी प्रवृत्ति हुई लेकिन यह मैं कौन हूँ? यह प्रश्न करते ही आसुरी शक्तियाँ आकर झट हाथ पकड़ लेती हैं। कहती हैं जाने दो, बेकार की बातें हैं। 'कौन हूँ' जानते ही हो, केशव राम के बेटे हो, यह काकदंतवत् परीक्षा मत करो, घर का काम करो, कमाओ खाओ। भगवान् ने हाथ पैर दिये हैं, पैसा भी दिया है। कोई उससे आगे जाता है, कहता है 'अरे, भगवान् का भजन करो। भगवद्दर्शन हो जायेगा तो काम बन जायेगा।' लेकिन मैं कौन हूँ— यह नहीं जानना।

'तन्न देवानां प्रियम् यन्मनुष्या विद्युः' देवताओं को भी यह अच्छा नहीं लगता कि आदमी को ज्ञान हो जाये। मैं कौन हूँ— इस बात का पता लग जाये यह देवताओं को भी अच्छा नहीं लगता। भगवान् भाष्यकार ने एक विलक्षण दृष्टांत दिया है, यह भाष्य का दृष्टांत है कोई बुरा नहीं मानना। कहते हैं किसी आदमी के पास हज़ार दूध देने वाली गायें हों, उनमें यदि एक भी भाग जाये तो कहाँ कहाँ से ढूँढकर वापिस लाता है। इसी प्रकार जितने धार्मिक व्यक्ति हैं बेचारे कमा कमाकर देवताओं को आहुतियाँ देते हैं। इसलिये ये जितने धर्म कर्म करने वाले लोग हैं ये देवताओं के पशु हैं। जैसे पशु घास चरकर दूध देता है ऐसे ही ये दिन भर परिश्रम करके देवताओं को आहुति देते हैं। अब इनमें से अगर कोई आत्मज्ञानी बनकर हाथ से छूट जाये तो देवताओं को कहाँ प्रिय लगेगा? इनके लिये तो धर्म करने वाले थोड़े ही होंगे, क्योंकि अधिकतर लोग तो आहुति देने वाले नहीं होते। जब हज़ार गायों वाला एक को नहीं छोड़ना चाहता तो देवता कब चाहेंगे कि यह आदमी ज्ञानी बनकर हमारे पँजे से छूट जाये? इसलिये न इहलोक और न परलोक में कोई इस रास्ते का साथी है। 'मैं कौन हूँ' इस प्रश्न करने वाले को इह लोक में कोई साथ नहीं देगा, यही कहेंगे कि घर का काम करो, कमाओ-धमाओ। देवता भी यही समझायेंगे।

'आखिर मैं हूँ कौन? कभी घर वालों का पशु बना, कभी देवताओं का और कभी अपने मन का अर्थात् कामनाओं का पशु बना। आखिर मैं कौन हूँ जो चारों तरफ से परेशान हो रहा हूँ?' यह प्रश्न अगर उत्पन्न हो गया तो फिर यह अंतःकरण जलकर राख हो जायेगा। अंतःकरण जिस अविद्या से बना उसी में वापिस चला जायेगा। और तुम मुक्त होकर पुनः अपने व्यापक स्वरूप में स्थिर हो जाओगे। स्वयं तुम्हारा विचार ही तुमको मुक्त कर देगा। वही लकड़ी वाला दृष्टांत समझ लो। पाओगे अपने सहज व्यापक स्वरूप को ही, कोई नई चीज़ नहीं मिलेगी। बस अज्ञान के कारण आया हुआ परिच्छिन्न-भाव नष्ट हो जायेगा, और कुछ नहीं होना है। प्राप्त करने का साधन भी, साध्य भी वही,

करने वाला भी वही। इसलिये कह दिया 'संविशति आत्मना स्वेनैव', स्व ही इसमें करण है। जिसको प्राप्त करेगा वह कैसा है? 'स्वं पारमार्थिकमात्मानम्' अपना जो पारमार्थिक आत्मा है। जो इस प्रकार से ओंकार को समझता है, वह उसे प्राप्त कर लेता है।

'परमार्थदर्शी ब्रह्मवित् तृतीयं बीजभावं दग्ध्वाऽऽत्मानं प्रविष्ट इति न पुनर्जायते तुरीयस्याबीजत्वात्।' कोई पूछता है— सुषुप्ति में भी तो तुमको ब्रह्म-प्राप्ति हो जाती है। अपने आप से अपने आप में लीन हो जाते हो। वहाँ किसी परिच्छिन्नता का बोध कहाँ रह जाता है। सुषुप्ति में ऐसा थोड़े ही लगता है कि मैं शरीर में बँधा हुआ हूँ, वहाँ शरीर का ही भान नहीं है। सुषुप्ति में जैसे मैं शरीर में बँधा हुआ हूँ, ऐसा भान न होने पर भी उठने पर फिर बँधा हुआ हूँ, ऐसे ही यह आत्मप्राप्ति तुमको हो भी गई तो थोड़ी देर बाद फिर संसार-चक्र में आ जाओगे। इसलिये इतनी साधना करना बेकार है क्योंकि अगर साधना कर भी ली तो फिर आ जाओगे। बहुत से लोगों की यह शंका रहती है 'महाराज! धीरे धीरे अगर एक एक करके लोग मुक्त होते जायेंगे तो फिर संसार का क्या बनेगा?' यह तो वैसी ही बात है जैसे हमसे कई बार लोग कहते हैं 'महाराज! अगर गरीबों की दशा अच्छी हो जायेगी तो फिर चौका बर्तन कौन करेगा?' इसका मतलब किसी की दशा ही अच्छी न होने दो। पहले तो यह प्रश्न ही बेकार है। दूसरी बात यह है कि संसार का प्रयोजन क्या है? तुम्हारे लिये संसार का प्रयोजन है या ईंट पत्थर के लिये संसार का प्रयोजन है? इसलिये बढ़िया से बढ़िया आलीशान मकान और बढ़िया से बढ़िया मज़बूत किला बना लो और उसके अन्दर पचास साल तक कोई आदमी न रहे तो खण्डहर रह जायेगा। इसी प्रकार यह जितना संसार है, यह अगर जीव नहीं रहेंगे तो खुद ही खत्म है। इसकी चिंता करने की ज़रूरत नहीं है। इसकी कोई अपेक्षा ही नहीं रहेगी। किंतु इसी चिन्ता के मारे लोग कहते हैं कि मुक्ति के बाद भी पुनरावर्तन मान लेना चाहिये। कुछ विचारकों ने तो मान भी लिया है। आर्य समाजी ऐसा ही मानते हैं। इस कल्प के बाद मुक्त लोग फिर आ जाते हैं अर्थात् निरतिशय मुक्ति को वे नहीं मानते। इसी प्रकार किसी की शंका है कि सुषुप्ति काल में ब्रह्मप्राप्ति के बाद पुनरुत्थान की तरह मुक्त का भी पुनर्जन्म हो जाये। फ़ायदा उनको यही है कि अगर यही होना है तो इस साधना में लगना अपने आप ही बेकार हो गया।

उसका जवाब देते हैं सुषुप्ति के अन्दर अपने परिच्छिन्न-भाव का ज्ञान तो नहीं है लेकिन उसका बीज पड़ा हुआ है। लोक में भी ऐसा होता है कि हर चीज़ का ज्ञान हर समय नहीं रहता। किसी आदमी ने मेरे ऊपर झूठा मुकदमा करके मुझे छह साल की जेल करा दी। जब छह साल के बाद छूट कर आया तो हर क्षण मैं यह जप थोड़े ही करता रहूँगा कि 'अमुक ने मेरे को जेल भिजवाया था, अमुक ने मेरे को जेल भिजवाया था।' वह हँसता है, बोलता भी है, खाता पीता भी है, काम काज भी करता है। लगता है कि वह उस बात को भूल गया। लेकिन भूला नहीं है। उस आदमी को जब देखता

है तो देखने के साथ ही उसकी आँख से चिंगारी निकलने लगती है और अगर कभी मौका मिल गया तो पूरा बदला निकाल लेगा। अन्य समय में इस बात का भान न होने पर भी बीज पड़ा हुआ है। ऐसे ही यहाँ भी सुषुप्ति के अन्दर अपनी अव्यापकता का, परिच्छिन्नता का भान न होने पर भी बीज पड़ा हुआ है, उठने पर फिर वह बीज अंकुरित हो जाता है। लेकिन जिसने परमार्थ दर्शन कर लिया उसका तो वह बीजभूत अज्ञान रहा नहीं। यही परमार्थ-दर्शन का फल है। यदि अज्ञान नष्ट नहीं हुआ तो परमार्थ-दर्शन नहीं हुआ। बाकी कोई सींग निकलकर आने वाले नहीं हैं। इस दर्शन से, सत्य बात का दर्शन हो जाने से कोई सींग निकल आते हों, ऐसी बात नहीं है कि दूर से पता लग जाये; उसका कोई प्रमाणपत्र उसे मिल जाता हो, ऐसा कुछ नहीं है। उसके अन्दर अज्ञानरूप बीज नहीं रहता।

अज्ञान क्या है? 'अहमेव परब्रह्मेत्यस्यार्थस्याप्रबुद्धता। अविद्येति वयं ब्रूमः येह नास्ति सदात्मनि।।' मैं ही परब्रह्म हूँ, मेरे से अतिरिक्त और परब्रह्म नहीं और मैं परब्रह्म से अतिरिक्त कुछ भी नहीं, इस वाक्य का जो अखण्ड अर्थ है उसका ज्ञान न होने को ही अज्ञान कहा गया है। मैं ही परब्रह्म हूँ इस बात को न जानना ही अज्ञान है। जहाँ अपने को ब्रह्म से अलग किया, संसार शुरू हुआ। सीधी सी बात है। अपने को ब्रह्म में मिला दिया और संसार खत्म हुआ। परमार्थ दृष्टि का मतलब है कि फिर मैं ही परब्रह्म हूँ, यह उसका प्रबोध कभी जाता नहीं, हमेशा बना रहता है। इसलिये अज्ञान का बीज परमार्थ दृष्टि में नहीं रहा। उसी परमार्थ दृष्टि का नाम ब्रह्मज्ञान है। केवल परमार्थदृष्टि से ही काम चल जाता, 'ब्रह्मविदाम्' कहना ज़रूरी नहीं था लेकिन स्पष्टार्थता के लिये कह दिया। परमार्थ और ब्रह्म एक ही चीज़ है, दो चीज़ें नहीं हैं। अथवा ऐसा समझ लेना कि परमार्थ दृष्टि के अन्दर इस ज्ञान की प्रत्यक्षता को बताया। दृष्टि अर्थात् प्रत्यक्ष अनुभव। परमार्थ दृष्टि के द्वारा प्रत्यक्ष दृष्टि को बताया। एक परोक्ष दर्शन भी होता है। किसी आदमी ने कह दिया कि 'तुम्हारे अन्दर अन्तर्यामी नारायण है।' यह किसी के कहने से जो पता लगा वह परोक्ष पता लगा और जब उसका अपरोक्ष साक्षात्कार, अपरोक्ष अनुभव कर लिया तब वही दर्शन हो गया। 'ब्रह्मविदाम्' के अन्दर उसका उपाय बता दिया। परमार्थ दर्शन कैसे होता है? बार बार ब्रह्माकार वृत्ति बनाने से होता है। विद् मायने उपासना। जितना जितना ब्रह्म की वृत्ति बारंबार बनाते जाओगे उतना ही परमार्थ दर्शन दृढ होता चला जायेगा। इसलिये यह व्यर्थ विशेषण नहीं रहेगा।

'तृतीयं बीजभावं दग्ध्वा आत्मानं प्रविष्टः' तीसरा बीजभाव सुषुप्ति नाम का है उसे जलाकर उस तुरीय आत्मा में जो विद्वान् प्रविष्ट हो गया, उसका फिर उत्थान नहीं होता। जैसे योगियों का समाधि से व्युत्थान होता है, वैसा ज्ञान समाधि से व्युत्थान नहीं होता। इसीलिये ज्ञानी की समाधि सहज समाधि होती है। ज्ञानी की समाधि में कभी समाधि लगी, कभी व्युत्थान हुआ और कभी खुली, ऐसा नहीं होता, उसकी तो नित्य निरंतर

वही चलती रहती है। यही फ़र्क है। इसलिये कह दिया कि ऐसा जिसने जला दिया उसका फिर 'न पुनर्जायते' पुनर्जन्म नहीं होता। यह नहीं कि अगला जन्म नहीं होता; यहीं वृत्ति में दूसरी बार जन्म नहीं होता। उसके बाद जो भी वृत्ति उत्पन्न होती है वह बाधित उत्पन्न होती है। बाधित का मतलब होता है खण्डित। जिसको मिथ्यात्व का पूर्ण निश्चय है वह पहले पदार्थ को देखकर बाध नहीं करता है। साधक तो पहले पदार्थ को देखता है और फिर बार-बार उस अभ्यास से वह विचार करता है कि ये नाम रूप मिथ्या हैं 'दृश्यत्वात् परिच्छिन्नत्वात् जडत्वात् परवेद्यत्वात्' दृश्य होने से, परिच्छिन्न होने से, जड होने से और परवेद्य होने से, ऐसा उसका विचार चलता है। उसको तो जब पदार्थ दीखा तब उसका मिथ्यात्व का निश्चय होता है। यह साधक का काम है। जब पारमार्थिक दर्शन करता है तब परमार्थदर्शी ऐसे बाध नहीं करता कि पहले चीज़ को देखे और फिर निश्चय करे कि यह मिथ्या है। इसीलिये उसकी बाधितानुवृत्ति कहते हैं। उसको बाध पहले हो जाता है और पदार्थ फिर दीखता है। इसलिये उसकी बाधितानुवृत्ति होती है। यहाँ बाधानुवृत्ति अर्थात् बाध करे, ऐसा नहीं। बाधित होने के कारण वहाँ नामरूपात्मिका वृत्ति बने उसके पहले ही उसका मिथ्यात्व-निश्चय बना रहता है।

भगवान् सुरेश्वराचार्य से कोई कहता है संसार को देखते हुए हो सकता है कभी बहिर्मुखी वृत्ति ज्ञानी की बन जाये, ज्यादा व्यवहार करेगा तो बन जायेगी, इसलिये ज्ञानी को कम व्यवहार करना चाहिये। भगवान् सुरेश्वराचार्य उसका जवाब देते हैं कि जो राजा अपनी पूरी फौज पलटन लेकर हमारे ऊपर आक्रमण करने आये, हमारे किले को घेर कर बैठा रहे और हमको हरा न सके और हम उसे हरा चुकें, राजा अपनी फौज समेत मर जाये, फिर कोई कहे कि 'रात में सावधानी रखना, कहीं यह (मरा हुआ) राजा अकस्मात् रात्रि में ही तुम्हारे ऊपर आक्रमण करके तुम्हारे किले को न ले ले!' तो उस आदमी को हँसकर कहेंगे कि 'जब यह जीवित था, तब तो मेरा एक बाल नहीं उखाड़ सका और अब जब इसकी सारी फौज पलटन मरी पड़ी है और खुद मरा पड़ा है, तो यह मेरा क्या बिगाड़ेगा?' इसलिये उसे उससे डर नहीं लगेगा। इसी प्रकार यह अज्ञान, कामना, कर्म, राग, द्वेष आदि सारी पलटन बनाकर हमारे ऊपर चढ़ाई करने आये थे, अंतःकरण के अन्दर हमको घेरकर बन्द कर दिया था, तब तो ये हमको खत्म नहीं कर सके; और अब जब ब्रह्माकारवृत्ति से अज्ञान और उसके सारे कार्यों को मारकर रख दिया, ये लाशें पदार्थों की रखी हैं, ये हमारा क्या बिगाड़ लेंगी? यह बृहदारण्यक वार्तिक में भगवान् सुरेश्वराचार्य ने लिखा है। इसीलिये वे आगे लिखते हैं 'रागादयः सन्तु कामं न तद्भावोपराध्यति।' उसके बाद अंतःकरण में राग द्वेष आदि पड़े हुए भी कुछ नहीं कर सकते। दीखते तो हैं, लेकिन मरे पड़े हैं। इसी का नाम बाधितानुवृत्ति है। 'न पुनर्जायते' का मतलब केवल पुनर्जन्म में नहीं, दूसरी वृत्ति ही सच्ची पैदा नहीं होती। पैदा होने के पहले ही उसके मिथ्यात्व की प्रतीति होकर उत्पन्न होती है। यही उसके पुनरुत्थान न होने का बीज है।

'तुरीयस्य अबीजत्वात्' क्योंकि तुरीय के अन्दर पुनरुत्थान का बीज नहीं, बिना कारण के कार्य उत्पन्न नहीं होता और तुरीय रूपी पदार्थ के अन्दर क्योंकि बीजरूप कारण नहीं मौजूद है, इसलिये आगे उत्पत्ति का प्रश्न ही नहीं है। 'न हि रज्जुसर्पयोर्विवेके रज्ज्वां प्रविष्टः सर्पो बुद्धिसंस्कारात्पुनः पूर्ववत्तद्विवेकिनामुत्थास्यति' लोक में भी यही देखने में आता है कि जब तक कारण अवस्था रहती है तभी तक आगे कोई चीज़ पैदा होती है। यह नहीं कह सकते कि तुरीय में भी पुनरुत्थान का बीज पड़ा रहता हो क्योंकि यदि कारण वहाँ होता तो फिर उसका नाम सुषुप्ति हो जाता, उसको तुरीय न कहना पड़ता। तुरीय का मतलब ही है कार्य-कारण-भाव से निर्मुक्त। जब आदमी ने रोशनी के अन्दर देख लिया कि रस्सी थी, साँप नहीं, रज्जु सर्प का विवेक हो गया अर्थात् अलग अलग करके जान लिया, उसको पुनः तभी वहीं वही भ्रम नहीं होता। जिसको हिन्दी वाले बीनना कहते हैं, जैसे—दाल चावल को बीनते हैं, उसी को संस्कृत में विवेक करना कहते हैं। इसी प्रकार रज्जु-सर्प का विवेक है कि रज्जु व्यावहारिक सत्ता वाली इन्द्रिय ग्राह्य है और सर्प प्रातिभासिक सत्ता वाला अज्ञान से ग्राह्य है। सर्प का भान अज्ञान से है और रस्सी का भान आँखों से है। यही दोनों में फ़र्क है। प्रयोजन दोनों का अलग है, उपादान कारण भी दोनों का अलग अलग है। रस्सी रूई से या धागे से बनी, सर्प बुद्धि में पड़े संस्कारों से बना, सर्पिणी से नहीं बना। दोनों के उपादान कारणों में, प्रोयजनों में, लक्षणों में और ग्रहण के तरीके में भेद है। इस प्रकार इन दोनों के भेद का विवेक कर लेते हैं। वेदांत सबसे पहले हम लोगों को विवेक की प्रक्रिया सिखाता है। संसार में वही सुखी है जिसको विवेक की प्रक्रिया आती है। जो छटनी कर सकता है, क्या क्या चीज़ है उसको अलग अलग करके जान सकता है, वही सुखी होता है।

सारे आधुनिक विज्ञान की प्रगति विवेक ही है और कुछ नहीं है। हमारे यहाँ भी रोग पहले होते थे, दवाइयाँ भी पहले होती थीं। कोई नये रोग आये हों ऐसा भी नहीं और कोई खास नई दवाइयाँ भी नहीं आई हैं, दस बीस को छोड़कर। फ़र्क यह पड़ गया है कि पहले अपने अन्दर रोग और दवाई का विवेक नहीं था। इसलिये दवाइयों के अन्दर ज्यादा से ज्यादा चीज़ें डाल देते हैं कि कोई न कोई तो काम करेगी ही। कभी किसी बुड्ढी माई के पल्ले पड़ जाओ तो वह कहेगी कि 'अरहर घिसकर काले नमक के साथ मिलाकर ले लेना।' दूसरी बुड्ढी कहेगी कि 'यह ठीक है, लेकिन उसमें अजवाइन और डाल देना।' पहले वाली उसका समर्थन कर देगी। तीसरी कहेगी कि 'काँसे की कटोरी में करना।' बाकी दोनों उसको स्वीकार कर लेंगी। अगर कोई कहे कि 'मत डालना', तो विरोध करेंगी। कुछ न कुछ डाल ही तो रही हैं। धीरे धीरे नुस्खा (prescription) लम्बा चौड़ा होता चला जाता है लेकिन उसमें फ़ायदा करने वाली चीज़ एक ही है, बाकी दवाइयाँ नहीं हैं। इसी प्रकार रोगों का विवेक नहीं था। बुखार आ गया लेकिन बुखार कितने तरह का? शरीर में फोड़ा हो गया लेकिन फोड़े कितने तरह

के? अगर उसमें कीटाणु हो गये तो वे कितने तरह के? चरक संहिता में इसका उल्लेख आता है कि कीटाणु कितने तरह के हैं। ग्राम नैगेटिव, ग्राम पाज़िटिव आदि आधुनिक भेद हैं। किस की कौन सी दवाई है यह विवेक होता गया। विवेक के मार्ग के द्वारा ही शरीर विज्ञान आगे बढ़ा। विवेक विचार से ही रसायन शास्त्र आगे बढ़ा। चीज़ें वही थीं लेकिन विवेक करके देखा कि किस चीज़ के मालिक्यूल किस में हैं, उनमें कौन कौन से ऐटम्स और उन ऐटम्स में फिर क्या चीज़े हैं। आधुनिक विज्ञान और दूसरे भी मानते हैं कि सत्यता के निर्णय के लिये विवेक की आवश्यकता है। वेदांती भी इसे मानता है।

विवेकहीन कौन बनाना चाहता है? जितने राजनैतिक नेता हैं वे सबको विवेकहीन बनाना चाहते हैं। क्यों बनाना चाहते हैं? मारवाड़ी में एक कहावत है 'चोर ने कैजो चोरी करजे, कुत्ते ने कैजो भूँकतो रैजो, हाउकार ने कैजो जागतो रैजो।' यह घपला सिद्धान्त विवेक न करने से चलता रहता है। चोर को कहना चोरी करना, कुत्ते को कहना भूँकते रहना और साहूकार से कहना जागते रहना। इसी प्रकार नेता भी यही चाहते हैं। सवर्णों में जाओ तो कहना कि 'हम तो तुम्हारी ही भलाई चाहते हैं, देखो हरिजनों की संख्या ज्यादा है, इनको उन्नत नहीं करना, नहीं तो ये तुम्हारे ही ऊपर कूदेंगे। हम तो तुम्हें बचाने के लिये ही खड़े हैं।' हरिजनों में कहेंगे 'ये सवर्ण तुमको खत्म कर देंगे, हम तुम्हारे ही हितों के लिये खड़े हैं।' मुसलमानों में जाओ तो 'हिन्दू सब तुम्हें खाने को बैठे हुए हैं, तुमको बचाने के लिये ही तो हम इतना कष्ट सह रहे हैं।' हिन्दुओं के पास जाकर कहेंगे कि 'चारों तरफ अरब देश बैठे हुए हैं, कुद पड़ेंगे। तुमको बचाने के लिये ही हम हैं।' गरीबों के पास जायेंगे तो 'बड़े आदमी सब तुम्हें लूट लेंगे। नहीं तो हमको क्या, तुम्हारे फायदे के लिये हम खड़े हैं।' और बड़े आदमियों के बीच में कहेंगे 'सावधान रहना, कम्युनिस्ट आ जायेंगे तो बड़ी मुश्किल होगी, हम तो इसीलिये बीच बचाव कर रहे हैं। हम तो प्राइवेट इण्डस्ट्री बना रहे हैं।' इस प्रकार के घपले में यह निर्णय कभी नहीं होना है कि असली बात क्या है, अविवेक बना रहता है।

ऐसे ही धर्मों में भी अविवेक ले आते हैं। चाहे जो धर्म हो, चाहे जो महापुरुष हो, उसकी वाणी लो, विवेक करो, उसमें कौन सा अंश नित्य रहने वाला है, सनातन अंश है, कौन सा ऐसा है जो किसी देश काल के अनुरूप कहा गया है, यह विवेक करके समझेंगे। वे कहेंगे कि यह विवेक ही मत करो। जैसा तुम मानते हो, मानते रहो। जैसे वे मानते हैं, वे मानते रहें। विवेक जाग्रत् होता है तो फिर मनुष्य सारे व्यवहारों में सफल हो जाता है।

जैसे नेता लोग होते हैं, वैसे ही घर के भी बड़े, और माता पिता भी अपने बच्चों को घपलेबाजी सिखाते हैं, विवेक करना सिखाना चाहिये कि तम्बाकू खाना बुरी चीज़ है, चाचा जी खा रहे हैं तो बुरा कर रहे हैं। घपले वाला कहेगा कि बड़ो में बुराई नहीं

देखनी चाहिये। अवगुण है तो वहाँ भी अवगुण रहेगा। बच्चा विवेक से ग़लत को ग़लत कह रहा है तो ठीक कर रहा है। इस प्रकार घपला सिखाते रहेंगे। बच्चों में खराबी नहीं होती, उन्हें गोल मटोल करके सिखाते रहते हैं 'सब कुछ चलने दो, तुम मत करना।' इसलिये विवेक जाग्रत् नहीं होता। विवेक जाग्रत् होने के लिये किन्ही भी दो पदार्थों या दो से अधिक पदार्थों के अन्दर यह देखना कि इनके लक्षण में क्या फ़र्क, इनके प्रमाण में क्या अंतर, इनके स्वरूप में क्या भेद, इनके नतीज़े में या फल में क्या पार्थक्य, प्रयोजन में क्या विलक्षणता है, इन को अलग अलग करके समझो कि कहाँ कहाँ अलगाव है। यह स्पष्ट समझ लेना चाहिये।

इस प्रकार जब अलग करके देखा तो सर्प कहाँ गया? रज्जु में प्रविष्ट हो गया, रस्सी से अभिन्न हो गया। यह विवेक करने पर पता चला, रस्सी रह गई, साँप नहीं रहा। अभी अपनी बुद्धि के संस्कारों में सर्प पड़ा हुआ है लेकिन वहाँ बुद्धि के संस्कार से सर्प नहीं दीख सकता। कोई कहे कि संस्कार हैं तो दो मिनट बाद फिर डरने लगेगा तो हँसी की बात है, क्योंकि रस्सी के न जानने से डर था। जैसे वहाँ बुद्धि के सस्कारों से फिर सर्प उत्पन्न नहीं होगा इसी प्रकार यहाँ ज्ञान होने के बाद जगत् के पदार्थों की प्रतीति होने पर भी कोई कहे कि फिर अज्ञान के कारण भ्रम हो जायेगा, तो होने वाला नहीं है। 'पूर्ववत्तद्विवेकिनामुत्थास्यति' अब विवेक वाला है अतः अविवेक अवस्था में जो होता था वह अब विवेक अवस्था में नहीं हो सकता। यह उत्तम अधिकारी हो गया। उसको परिशुद्ध ब्रह्म की एकता होकर अपुनरावृत्ति की प्राप्ति हो गई।

अब मन्द मध्यम बुद्धि वालों का फल बताते हैं 'मंदमध्यमधियां तु प्रतिप्रन्न-साधकभावानां सन्मार्गगामिनां संन्यासिनां मात्राणां पादानां च क्लृप्तसामान्यविदां यथावदुपास्यमान ओंकारो ब्रह्मप्रतिपत्तय आलम्बनी भवति।' जिसका चित्त विक्षिप्त हो लेकिन शुद्ध हो वह मध्यम और जिसका चित्त विक्षिप्त और अशुद्ध भी है अर्थात् जिसके मन में पाप के संस्कार भी प्रबल हैं और एकात्मकताधी भी नहीं है वह मंद है। जिसमें एक दोष है, पाप नहीं है लेकिन मन की एकाग्रता नहीं है, उसको मध्यम अधिकारी कह दिया। कुछ लोग कहते हैं कि जो मंद मध्यम बुद्धि वाले हैं उन्हें ब्रह्मज्ञान में अधिकार ही नहीं है, वे अपना काम करते रहें। मंद अधिकारी कर्म में लगा रहे। उसके द्वारा कभी न कभी अंतःकरण शुद्ध हो जायेगा। जिसके अन्दर विक्षेप है वह सगुण ब्रह्म का ध्यान करता रहे तो उसका चित्त एकाग्र हो जायेगा। फिर जब उत्तम अधिकारी बन जायेगा तब ज्ञान हो जायेगा। किन्तु भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि जो मंद और मध्यम अधिकारी है उसे भी किसी कारण-विशेष से, सत्संग के द्वारा, किसी महापुरुष के संग के द्वारा अथवा ईश्वर की कृपा से साधक-भाव आ जाता है। उनके मन में भी प्रतिपत्ति आ जाती है कि मुझे पाना है तो परमात्मा को ही पाना है। चित्त एकाग्र भी नहीं और मन भी शुद्ध नहीं है लेकिन मन में साधक-भाव आ गया। सत्संग आदि श्रवण से भी ऐसा हो जाता

है। सत्संग सुनने से पता लगता है कि ऐसी अच्छी चीज़ है, तो लगता है 'अभी हम कर नहीं सकते यह बात दूसरी है लेकिन यह हमें प्राप्त हो जाये।'

अथवा किसी महापुरुष के संग से भी हो जाता है। एक नियम हुआ करता है कि जिस आदमी के साथ रहोगे उसके कुछ लक्षण सीख ही जाओगे। अपने यहाँ पहले बड़े बड़े राजाओं के ठिकाने होते थे, राजाओं के यहाँ ठिकानेदारों के साथ जो लोग रहते थे वे कोई बहुत पढ़े लिखे नहीं होते थे, ऐसा नहीं कि सारे विद्वान् हों। लेकिन उनकी बातचीत, बैठने का तरीका ऐसा होता था कि आज के पी. एच. डी. वाले भी बैठें तो ऐसा लगे कि न जाने कहाँ से फूहड़ आकर बैठ गये। दो मिनट शांति से नहीं बैठ सकते। वे लोग तो सारी चीज़ें सीख लेते थे, कैसे बोलना चाहिये, कैसे बैठना चाहिये, कैसे बड़ों के साथ व्यवहार करना चाहिये। उन्हें कोई पढ़ाया नहीं जाता लेकिन उनके साथ रहते रहते सीख लेते थे। शास्त्र में लिखा है कि गुरु को 'हुं' नहीं करना चाहिये। पुराने लोगों ने यह शास्त्र नहीं पढ़ रखा है लेकिन फिर भी कोई महापुरुष, महात्मा पूछे तो बड़े आदर से 'हाँ जी, जी हाँ' कहेंगे। जिनको वे संस्कार नहीं हैं उनसे पूछें कि 'आप अभी आये हों?' तो कहेंगे 'हुँ'। जब उन्हें सुनाते हैं 'गुरुं हुंकृत्य' तो कहते हैं 'यह तो हमें पता ही नहीं था।' पुराने सभी शिष्टों ने कोई वेद नहीं पढ़ रखे हैं लेकिन बड़ों को देखकर सीख लेते हैं। जैसे आदमियों के साथ मनुष्य रहेगा वैसे संस्कार आ जाते हैं। उसी प्रकार अगर किसी ब्रह्मवेत्ता के साथ रहें तो चाहे उसका रसोईदार हो, चाहे उसका टहलुआ हो, चाहे झाड़ू लगाने वाला हो, भंगी हो, उसका संग मिलने से संस्कार पड़ते हैं और उन संस्कारों के कारण उसके मन में परमात्मविषयक जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है। इसलिये सत्संग और महापुरुष के संग से भी हो जाता है। महापुरुषों के संग में सबसे बड़ा दृष्टांत नारद हैं। नारद की माँ महात्माओं के बर्तन माँजती थी, उनकी दासी थी। अपनी माँ के साथ नारद भी जाता था और वहाँ से उनके चित्त में संस्कार पड़ा कि हम परमात्मप्राप्ति करें। वही नारद आगे चलकर देवर्षि हो गये।

कभी कभी किसी पर ईश्वर की कृपा भी हो जाती है तब भी उसके मन में यह आ जाता है कि 'मैं परमात्ममार्ग में जाऊँ।' कई बार ऐसे लोग देखने में आते हैं कि जिनको कोई ऐसी चीज नहीं मिली फिर भी परमात्ममार्ग में प्रवृत्त हो जाते हैं। कई बार ऐसे विदेशी आ जाते हैं। उनके देश में कोई सत्संग नहीं। उनसे पूछते हैं कि 'कुछ संस्कृत पढ़े हो, कोई भारतीय दर्शन पढ़े हो?' वे कहते हैं 'कुछ नहीं किया।' पूछो— 'फिर यहाँ कैसे आये?' कहते हैं 'मन में प्रेरणा हुई कि हिन्दुस्तान में चलें, कोई न कोई योग्य गुरु मिलेगा तो परमात्मदर्शन करा देगा।' उस देश में उक्त चीज़ों में से कुछ नहीं फिर भी प्रवृत्ति हो गई। जिसका और कोई कारण नहीं, वहाँ फिर ईश्वर को ही कारण मानना पड़ता है। कहानी तुम लोगों की सुनी हुई है। एक बार बादशाह अकबर थे। उनके यहाँ एक मौलवी रहा करता था। वह इबादत कर रहा था, जैसे अपने प्रार्थना करते हैं। इबादत करते हुए

कह रहा था— 'या खुदा तेरी खुदाई को कोई नहीं जानता।' उधर से दूध बेचने वाला एक जाट निकल रहा था। उसने कहा— 'मौलवी जी, खुदा की खुदाई को मैं जानता हूँ।' मौलवी ने कहा— 'तू बेवकूफ़ मूर्ख क्या जानता है?' जाट ने कहा 'ऐसे नहीं बताऊँगा, राजा के पास चलो।' बादशाह लालकिले में बाहर के वराण्डे में घूम रहे थे। मौलवी को देखकर सलाम किया, बुलाया। मौलवी ने कहा— 'मैं इबादत कर रहा था कि खुदा की खुदाई को कोई नहीं जानता। यह जाट कहता है कि मैं जानता हूँ।' बादशाह हँसे, पूछा 'जानता है?' जाट ने कहा 'हाँ जी।' लाल किले के पीछे जमुना बहती है। उसने कहा 'यह खुदा की खुदाई नहीं तो क्या इसके बाप की खुदाई है?' जिसको किसी ने नहीं खुदाया, उसका कारण ईश्वर ही है। सत्संग महापुरुष आदि कारण न मिले तो ईश्वर को ही कारण मान सकते हैं। किसी भी प्रकार से प्रतिपन्नसाधकभाव हो जाता है। अधिकारी तो मंद या मध्यम है, अंतःकरण तो उसका शुद्ध और एकाग्र नहीं, लेकिन प्रतिपन्नसाधकभाव है।

प्रतिपत्ति अर्थात् शरण। 'मैं सर्वथा अयोग्य हूँ, ईश्वर या गुरु ही मेरी रक्षा कर सकते हैं' ऐसा जिसे दृढ भाव है वही प्रतिपन्न-साधकभाव है। 'मैं इसके योग्य नहीं हूँ, बहुत कठिन बात है लेकिन गुरु की या परमेश्वर की शरण में हूँ, वह मेरा जो करेंगे सो कल्याण ही करेंगे'— ऐसे दृढ निश्चय का नाम प्रतिपत्ति है। प्रतिपत्ति का दृष्टांत महात्माओं में प्रसिद्ध है। एक बार एक गुरु-शिष्य कहीं जा रहे थे तो किसी वट के पेड़ के नीचे आराम करने को लेट गये। अकस्मात् शिष्य की आँख खुली, देखता है कि गुरु जी उसकी गर्दन को काट रहे हैं। गुरु जी को देखकर वह फिर सो गया, काटने से दर्द होने के कारण उठा था, गुरु जी को देखकर उसे फिर नींद आ गई। घण्टे दो घण्टे बाद जब उठने का समय हुआ तो उठकर गुरुजी के लिये पानी लाने का इंतजाम करने लगा। गुरु ने पूछा 'बीच में तेरी आँख खुली थी, तूने क्या देखा?' कहा— 'आप नाड़ काट रहे थे।' गुरु ने कहा 'फिर तू सो क्यों गया?' बोला— 'और क्या करता। जब आप जग रहे हो तो मैं जगकर क्या करूँ। आप सो रहे हो तो आपके लिये मैं कुछ करूँ। जब मैंने देखा कि आप ही जग रहे हो तो मैं सो गया?' गुरु ने कहा 'तेरे मन में नहीं आया कि मैं गर्दन क्यों काट रहा हूँ?' उसने कहा 'यदि काट रहे हैं तो भी किसी कल्याण के लिये ही काट रहे हैं। उसमें मेरे को क्या सोचना है? जो आप कर रहे हैं ठीक कर रहे हैं।' पूछा— 'कुछ भी भाव तेरे मन में नहीं आया?' कहा— 'कुछ भी नहीं आया, सारे संसार को छोड़कर आपके पास आ गया तो आगे मुझे ही अपनी चिंता करनी पड़े, फिर क्या फायदा?' गुरु जी ने प्रसन्न होकर उसे छाती से लगाया और बताया कि 'एक सर्प यहाँ आया और तेरे को काटने के लिये जाने लगा। मैंने मंत्र से उसे बाँधा। उसने बताया कि कुछ जन्मों के पूर्व तूने उसे मारा था, उसका बदला लेने का समय आ गया था इसलिये वह तेरा खून पीने आ गया था। मैंने उसे बहुत

कहा कि कुछ करके छोड़ दे लेकिन वह किसी हालत में नहीं माना, कहा 'यह तो मेरा कर्म-बंधन है, इसका खून मेरे हिस्से में आया हुआ है। कर्मभोग अवश्यंभावी होता है।' मैंने सोचा कि वह यदि तेरे को काटता है तो खून पीकर तेरे शरीर में जहर छोड़ देगा। मैंने उससे कहा कि 'तेरे तो खून ही लिखा है और गले का खून लिखा हुआ है क्योंकि तेरा गला इसने काटा था, तो तू यहाँ बैठ जा।' मैंने पत्ते का एक दोना बनाया और तेरी गर्दन से खून निकालने लगा। वह खून उसे पीने के लिये दे दिया। उसका जब कर्म-बंधन समाप्त हो गया तो वह चला गया। इसलिये तेरी नाड़ काटनी पड़ी।' शिष्य ने कहा 'मुझे तो पता ही था कि आप जो करेंगे मेरे कल्याण के लिये ही करेंगे।' इसका नाम प्रतिपत्ति है। ऐसा व्यक्ति मंद मध्यम बुद्धि वाला होने पर भी उसको ओंकार के आलम्बन से ब्रह्मप्राप्ति हो जाती है।

ईश्वर अथवा गुरु की प्रतिपत्ति के द्वारा जिन्होंने साधक-भाव को प्राप्त किया उनका वर्णन किया। अब कहते हैं 'सन्मार्गगामिनाम्' दूसरे सन्मार्गगामी हुए। सत् ईश्वर का नाम है 'ॐ तत् सद् इति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः' ॐ तत् और सत् ये ब्रह्म के नाम हैं। श्रुति में भी कहा है 'सदेव सोम्येदमग्र आसीद् एकमेवाद्वितीयम्।' इसके अनुसार सत् शब्द परमेश्वर को बताता है। परमेश्वर का मार्ग सन्मार्ग है। जिसके ऊपर चला जाये उसको मार्ग कहते हैं। परमेश्वर ने शास्त्रों में जो नियम बताये उन नियमों को मानना ही मार्ग पर चलना है और उन नियमों के विरुद्ध चलना कुमार्ग पर चलना है। 'श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे' भगवान् कहते हैं कि श्रुति और स्मृति मेरी आज्ञायें हैं। 'यस्तान् उल्लंघ्य वर्तते' जो व्यक्ति श्रुति और स्मृति की आज्ञाओं को न माने तो 'आज्ञाछेदी मम द्वेषी' वह मेरी आज्ञा को न मानने के कारण मेरा द्वेषी है 'मद्भक्तोपि न वैष्णवः' वह मेरा भक्त दीखे तो भी उसे वैष्णव अर्थात् विष्णु का अनुगामी मत समझ लेना। शास्त्रों में परमेश्वर के बताये हुए रास्ते पर चलने वाला सन्मार्गगामी है। जो अपने वर्ण और आश्रम के लिये शास्त्रों ने बताया उसका पालन करना मार्गगमन अर्थात् रास्ते चलना हुआ। इसमें अपनी बुद्धि नहीं लगती है। सूत्रभाष्य में कहा है 'यो हि यं प्रति विधीयते स तस्य धर्मः' जिसका जिसके लिये विधान किया गया है, वही उसका धर्म है। जैसे पत्नी के लिये विधान किया गया कि वह पतिव्रता हो। लेकिन शास्त्र ने यह विधान किया है कि पत्नी ही पतिव्रता हो। नारद जी की एक कहानी अपने यहाँ ऐसी आती है जिसमें यही आता है कि भगवान् ने उन्हें अपनी माया दिखाई। किसी देश की चाल थी कि घरवाली मर जाये तो आदमी 'सता' हो जाये। नारद जी पहले तो वहाँ बड़े राजी हो कर रहे, राजा बन गये थे। जब उनकी पत्नी मर गई तो सबने कहा कि सता बनो। नारद जी ने कहा कि 'यह क्या बात हुई?' उन्होंने कहा 'इस देश का यही नियम है, इसी के अनुसार रहना पड़ेगा।' तब उन्होंने कहा 'मुझे यहाँ नहीं रहना है, मुझे छोड़ो।' उन लोगों ने कहा 'पहले तो माल मारते रहे, तब नहीं पूछा कि क्या नियम हैं। इतने साल रहकर अब कैसे नहीं रहना है?'

कहानी लम्बी है। सबने मिलकर अंत में उन्हें आग में डाल दिया। शास्त्र ने जो विधान किया, उस वर्णाश्रम धर्म के अनुसार चलने में अपनी बुद्धि नहीं चलेगी कि सती होती है तो सता क्यों नहीं हो सकता। इसलिये जहाँ ऐसा विधान है वहाँ सता हो जाओ। ऐसे ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के लिये जो नियम बताये, उन नियमों के अनुसार चलना है। इसलिये शास्त्र ने जो विधान किया उसमें अपना मन नहीं चलता। यह दूसरा रास्ता हुआ। पहला रास्ता प्रतिपन्न-साधक-भाव वाला है जिसमें ईश्वर या गुरु की प्रतिपत्ति कर ली। दूसरा हुआ सन्मार्ग में चलना।

इस मार्ग में चलने वाले के भी दो भेद हैं : एक स्वर्ग आदि जाने के लिये ही अपने वर्णाश्रम धर्म को करता है और दूसरा परमेश्वरप्राप्ति के लिये करता है। परमेश्वरप्राप्ति के लिये जो करे वह उन धर्मों को करते हुए ईश्वरार्पण बुद्धि से करे, इसका फल मुझे न मिले, परमेश्वर को ही अर्पण है। इसी को हम कहते हैं कि हमारा वेदांत शास्त्र पक्का कम्युनिस्ट है! फ़र्क इतना ही है कि वे कहते हैं सारी कमाई करके प्रधानमंत्री को दे दो और हम लोग कहते हैं कि ईश्वर को दे दो। जितना भी धर्म करो सब ईश्वरार्पणबुद्धि से करो। ईश्वरार्पणबुद्धि का मतलब केवल 'श्रीकृष्णार्पणमस्तु' कह देना नहीं। हृदय से उसका फल दे दिया तो फिर उस फल की कामना नहीं करनी है। हम लोग कहने को कह देते हैं 'श्रीकृष्णार्पणमस्तु' लेकिन साथ ही सोचते हैं कि फल अब तक क्यों नहीं मिला। किसी आदमी की हमने सेवा की और कह भी दिया कि भगवदर्पण-बुद्धि से करते हैं फिर उसने कोई कड़ी बात कही या गाली दी तो कहते हैं 'मैंने तुम्हारे लिये इतना किया, तू ऐसा बोलता है?' कोई मुँह से नहीं कहता, भाव से प्रकट करता है। फिर ईश्वरार्पणबुद्धि से कहाँ किया? लोगों की इज़्ज़त प्राप्त करने के लिये किया। सत् परमात्मा की प्राप्ति के लिये ईश्वरार्पण बुद्धि से जो श्रुति स्मृति की आज्ञाओं को मानने वाला है, वह सन्मार्गगामी है।

इसमें भी 'मन्दमध्यमधियाम्' विशेषण है ही। अर्थात् इसमें भी दो हैं, एक मन्द और एक मध्यम। मध्यम-बुद्धि वाला तो कर्म और उपासना दोनों करता है और ईश्वरार्पणबुद्धि से करता है। मन्द-बुद्धि वाला केवल कर्म करता है, उपासना नहीं करता। यह दोनों में फ़र्क है। मन्द-बुद्धि वालों को कर्म करने को कहो तो कर लेंगे लेकिन मन की एकाग्रता उनमें नहीं आती। मन की एकाग्रता बड़ा कठिन विषय है। यह कर्मकाण्ड का विषय नहीं। इसलिये कर्मकाण्ड में जहाँ ध्यान भी आता है वहाँ 'ध्यानार्थं पुष्पं समर्पयामि' कहकर काम चला लेते हैं क्योंकि ध्यान होता नहीं। मंत्र तो बोल लेंगे 'सशंखचक्रं सकिरीटकुण्डलं सपीतवस्त्रं सरसीरुहेक्षणं। सहारवक्षःस्थलकौस्तुभश्रियं' लेकिन मनीराम वहाँ कहाँ लग रहा है? इसलिये 'ध्यानार्थं पुष्पं समर्पयामि' कह देते हैं। पुष्प हृदय कमल का प्रतीक है। ध्यान हृदय कमल में किया जाता है, इसलिये यह बोल देने से फिर वह मुख्य ध्यान नहीं करना पड़ता!

उपासना का बीज क्या है, कौन व्यक्ति उपासना कर सकता है? जिसके हृदय में प्रेम हो वही उपासना कर सकता है। बिना प्रेम के उपासना नहीं होती। इसलिये भक्ति शास्त्र के दोनों आचार्य नारद और शांडिल्य ने भक्ति का लक्षण किया। नारद का भक्ति लक्षण है 'सा तु अस्मिन् परप्रेमस्वरूपा' और शांडिल्य ने भक्ति का लक्षण किया 'सा परानुरक्तिरीश्वरे।' पर प्रेम या परम अनुराग में थोड़ा फ़र्क है, बात एक ही है। फ़र्क थोड़ा सा यह है कि प्रेम के अन्दर केवल अपनी ही प्रेम करने की दृष्टि रहती है, सर्वथा अहैतु भाव रहता है। जिससे परप्रेम करते हैं उसकी तरफ से कुछ आये, यह भावना नहीं रहती है। अनुराग के अन्दर भी यद्यपि सब कुछ करना चाहते हो लेकिन फिर भी उसमें अनु अर्थात् पश्चात्, किसी न किसी सुखानुभूति के बाद जो होता है उसमें राग है। अनुभव से इष्टबुद्धि होती है, इष्टबुद्धि से ही राग होता है। भक्ति में वह राग जिसके साथ हुआ वह परमेश्वर है। जैसे मान लो रास्ते में चल रहे हैं, कहीं भोजन की व्यवस्था नहीं दीख रही है, भूख के मारे प्राण घबरा रहे हैं। अकस्मात् कोई आकर खाने को दे देता है। हृदय के अन्दर भाव होता है कि देखो, 'भगवान् की कैसी कृपा है। ऐसी कृपा हुई, परमेश्वर से हम प्रेम क्यों न करें!' इसको अनुराग कहेंगे। कोई ऐसी घटना हो गई जिसमें परमेश्वर-कृपा का अनुभव किया, उसके बाद जो प्रेम हुआ उसका नाम अनुराग। जो ऐसा बिना अनुभव के समझता है उसको प्रेम कहते हैं। नाममात्र का दोनों में फ़र्क है, कोई खास फ़र्क नहीं है। दोनों ही भक्तिसूत्रों में यही लक्षण किया। उपासना का बीज प्रेम है। जब तक हृदय में प्रेम नहीं तब तक उपासना नहीं होती चाहे घण्टा भर बैठकर आँख मीचकर बैठे रहो। आँख मीचकर बैठे तो रह सकते हो लेकिन हृदय में प्रेम नहीं तो बिना प्रेम के उपासना का काम नहीं बनता।

प्रेम तो संसार में सामने दीखने वाले लोगों से ही अब सूखता जा रहा है। पहले लोगों से कह देते थे कि प्रेम ऐसा करो जैसा पति पत्नी से और पत्नी पति से करती है। अब वह दृष्टांत भी नहीं दे सकते क्योंकि अब पति पत्नी भी तलाक कर देते हैं। फिर कहते थे जैसे माता पुत्र से और पुत्र माता से करता है, वैसा प्रेम करो। तो आज वह दृष्टांत भी नहीं दे सकते। माता क्या कोशिश करती है? यह भयंकर विषय है। मातायें कोशिश यह करती हैं कि बच्चे पैदा ही न हों! पैदा होने के बाद मारती हों ऐसा नहीं, पैदा होने के पहले ही मार देती हैं। इससे सिद्ध होता है कि अब माताओं के हृदय में तो प्रेम रह ही नहीं गया है। किसी से कहें भी तो जवाब देते हैं कि 'जीवनस्तर कैसे बढ़ेगा?' इसका मतलब है कि किसी से प्रेम नहीं करना चाहिये, स्टैण्डर्ड आफ लिविंग बढ़ाना चाहिये। जब माता का हृदय ऐसा होगा तो जब पुत्र उत्पन्न होंगे तो उनके हृदय में भी यही भाव होगा, यह स्वाभाविक है। इसलिये आजकल लोगों के हृदय में प्रेम सूख रहा है। किसी भी व्यवहार के अन्दर निरंतर खड़-खड़ चलती रहती है। एक दूसरे को कैसे नीचा दिखायें, कैसे एक दूसरे को दबायें, ऐसा वे करते हैं जो अपने को धार्मिक कहते हैं! कहते हैं कि

हम परमात्मा से प्रेम करना चाहते हैं। तुम जीवित सामने बैठे व्यक्ति से प्रेम नहीं कर सकते तो भगवान् से क्या प्रेम होना है? बेकार की बातें है।

मन्द अधिकारी केवल कर्म तो कर सकता है क्योंकि वह तो नियमावली के अनुसार होना है। पहले चंदन, फिर अक्षत, पुष्प और फिर धूप, दीप, सब क्रम से कर सकते हैं। लेकिन हृदय में जब तक प्रेम नहीं होगा तब तक उपासना नहीं बनेगी। 'सन्मार्गगामिनाम्' में मध्यम गति वाला वह हुआ जो कर्म उपासना दोनों कर सके। उनका ईश्वरार्पण-बुद्धया अनुष्ठीयमान कर्म श्रेष्ठ हो गया। जो वह न कर सके तो केवल कर्म भी करके यदि मन से भावना करे कि यह परमेश्वर के लिये है तो वह भी ज्ञान का अधिकारी हो जाता है।

तीसरा अधिकारी कहा 'संन्यासिनाम्।' संन्यासी का मतलब क्या होता है? संसार के पदार्थों के प्रति आसक्ति को छोड़कर मुझे परमेश्वर चाहिये ऐसा जिसका दृढ निश्चय है। संन्यास के समय कहते हैं 'मैं प्राणिमात्र को अभय देता हूँ। मैं किसी भी प्राणी के उद्वेग का कारण नहीं बनूँगा। मेरे कारण किसी भी प्राणी को कभी भी कष्ट नहीं होना चाहिये।' उलटा नहीं समझ लेना चाहिये; क्योंकि जो इस तत्त्व को नहीं समझते वे समझते हैं कि 'हमको संसार की कोई चीज़ नहीं चाहिये तो संसार जहन्नुम में जाये, अपने तो बाबा जी हैं।' इससे बाबा जी बनोगे, संन्यासी नहीं बन सकते। मेरे द्वारा निरंतर प्राणियों का कल्याण ही होगा, मेरे कारण किसीको उद्वेग नहीं होना है। इस प्रकार सबको अभयदान देकर तब 'हे परमात्मा! मेरे को उनसे तो कुछ लेना नहीं है अतः तेरी ही शरण में हूँ।' लोक में जिससे लेने की कामना करोगे, उसी को उद्वेग होना है। भाष्यकार यहाँ तक कहते हैं कि एक कौर अन्न भी खाओगे तो उसपर दूसरे प्राणी की दृष्टि है। इसलिये किसी से कुछ कामना करना ही तो उद्वेग का कारण बनता है। इसलिये हे परमात्मन्! मैंने केवल तुम्हारी शरण ली है 'गतिरन्या न विद्यते' मैं आपके सिवाय और किसी का सहारा लेने वाला नहीं हूँ। बाकी सब सहारे छोड़ दिये। इसीलिये संन्यास लेते समय चोटी जनेऊ को भी फेंक देते हैं क्योंकि चोटी जनेऊ के द्वारा जप अनुष्ठान आदि का सहारा होता है। बाकी लौकिक सहारे तो छूट ही गये, दुकान का काम नहीं करना, नौकरी नहीं करनी, लेकिन पारलौकिक सहारा फिर भी रह सकता है कि ज़रूरत पड़ने पर श्रीसूक्त करके भगवान् से पैसा ले लेंगे। जब चोटी जनेऊ छोड़ दिया तो अब कोई भी कर्म अनुष्ठान आदि करने का अधिकार नहीं रह गया। अब तो भगवान् दे तो दे, न दे तो न दे। इसलिये कहा 'अन्या गतिः न विद्यते' शिखा सूत्र तक ही छोड़ दिया तो और क्या रहा? इसीलिये संन्यास-विधि में बताया कि 'जीवच्छववत् शरीरं पश्येत्' संन्यास के बाद अपने शरीर को चलता फिरता मुर्दा देखे। इस शरीर को इज्ज़त मिले, प्रतिष्ठा मिले, सब तरह के सुख मिलें इत्यादि जितनी बातें हैं, सब मन से निकल जाती हैं। जब इनमें से कुछ भी प्राप्त हो तो सोचो कि मुर्दा पड़ा हुआ है।

ऐसे संन्यासी भी मंद और मध्यम गति वाले हुए। मध्यम गति वाला हुआ जो वेदांत के तात्पर्य को समझ तो सकता है। उत्तम बुद्धि वाला तो निष्ठा वाला हो ही गया, उसका प्रसंग पहले आ ही गया। जो वेदांत के तत्त्व को समझ तो पाता है लेकिन स्वयं मनन करने में असमर्थ है वह मध्यम गति वाला हुआ। युक्ति इत्यादि का उद्भावन नहीं कर सकता है। एक बार एक ब्रह्मचारी आया, सौ दो सौ वर्ष पूर्व की बात है। आकर काशी में कई मठों में गया। वह जरा बड़ी उम्र का था। जहाँ जाये थोड़े दिन रहने के बाद वे कहें 'लघुकौमुदी पढ़ो।' वह घर में खेती आदि करने वाला था। था ब्राह्मण लेकिन पढ़ा लिखा नहीं था। जहाँ उसको लघुकौमुदी के सूत्र, तर्कसंग्रह याद कराना शुरु किया तो वह वहाँ से भगा। दूसरे मठ में पहुँचा। वहाँ भी दो चार दिन रहने के बाद उन्होंने कहा कि 'तुम्हारे को महात्मा बनना है तो पढ़ो।' वहाँ से भी थोड़े दिनों में भगा। ऐसे सात आठ जगह से भगा। वह पढ़ना न चाहे और उससे पढ़ा जाये भी नहीं। फिर एक मठ में पहुँचा तो पहुँचकर महात्मा ने उससे जैसे ही पूछा कि 'क्या चाहता है।' उसने कहा 'संन्यासी बनना चाहता हूँ।' और यह कहते ही वह रो पड़ा। महात्मा ने पूछा 'बात क्या है? क्यों रो रहा है।' उसने कहा 'क्या बताऊँ आप भी यही कहोगे लघुकौमुदी पढ़।' उन्होंने कहा 'वह कहेंगे तो पढ़ा भी देंगे, रोता क्यों है?' उसने कहा 'यही तो बात है, पढ़ा मेरे से जाता नहीं और संन्यासी मेरे को ज़रूर बनना है।' महात्मा को उसकी उम्र और भोलापना देखकर दया आ गई। कहा 'क्यों नहीं पढ़ना चाहता, संन्यासी बनेगा तो उसका धर्म ही श्रवण मनन करना है। चार आदमी तेरे को संन्यासी समझकर सिर झुकायेंगे, चार बातें पूछेंगे, पढ़ा लिखा नहीं होगा तो कैसे जवाब देगा?' वह कहने लगा 'मेरे से पढ़ा नहीं जाता, सूत्र याद करते ही मन में आता है घर चलकर खेती करके खायें।' महात्मा को उसपर दया आ गई, कहा 'एक उपाय बताता हूँ, संन्यासी बनाऊँगा लेकिन अखण्ड मौन ले ले, किसी से बोलना नहीं। बोलेगा तो फजीता होगा, कभी ऊटपटांग बोलेगा। मौन में अनेक गुण हैं उससे बहुत सी कमज़ोरियाँ छिप जाती हैं।' उसने कहा 'यह तो कर लूँगा।' उन्होंने उसे संन्यास देकर जप, ध्यान आदि बता दिया और कहा कि चुपचाप कमरे में बैठकर करता रह। उसका हृदय बड़ा अच्छा था, गुरु पर श्रद्धा अच्छी थी। सारी गुरु-सेवा, आश्रम-सेवा करता रहा। धीरे धीरे उसके हृदय में तत्त्वस्फुरण हो गया। यह हो गया तो फिर मनुष्य अनुभव से बहुत सी बातें समझ लेता है, बोल देता है। संन्यासी का प्रधान धर्म ही श्रवण मनन करना है। यदि श्रवण मनन में समर्थ नहीं होगा तो फिर मध्यम संन्यासी हुआ।

मंद संन्यासी का मतलब है कि जो ध्यान जप भी न कर सके। कई ऐसे होते हैं जिनसे ध्यान जप आदि नहीं हो सकता। भगवान् भाष्यकार के एक शिष्य आनंदगिरि स्वामी थे, उन्हीं से हमारी परम्परा चली है, हम लोगों के आदि गुरु वही हैं। वह भाष्यकारों के साथ रहते थे और उनकी निष्काम भाव से सेवा करते रहते थे। पढ़ना, लिखना, समझना

यह सब उनके बूते का नहीं था। लेकिन यह उनका नियम था कि रोज पाठ में बैठना, पाठ सुनना, बड़े बड़े प्रकाण्ड पंडित लोग वहाँ बैठे रहते थे, भाष्यकार उन्हें पढ़ाते थे, आनंदगिरि भी बैठे बैठे सुनते रहते थे। इस प्रकार सारी सेवा निष्काम भाव से करते हुए कई साल हो गये। एक दिन पाठ शुरु होने वाला था, उनको आने में कुछ देरी हो रही थी। वहाँ बड़े बड़े विद्वान् सुरेश्वराचार्य, पद्मपादाचार्य, भानुमरीच्याचार्य सब बैठे हुए थे। किसी ने कहा 'समय हो गया, पाठ शुरु करें।' भाष्यकारों ने कहा 'ठहर जाओ, गिरि भी आ जाये।' पद्मपादाचार्य ने सुरेश्वराचार्य की तरफ देखकर दीवार की तरफ इशारा किया कि दीवाल की समझ में आता हो तो उसकी समझ में आये। भाष्यकारों ने देख लिया कि इन्हें अपनी विद्वत्ता का बड़ा घमण्ड है। उसी समय आनंदगिरि स्वामी के अन्दर ज्ञान का संचार कर दिया। उन्होंने अकस्मात् देखा कि मेरे हृदय में सारी विद्याओं का प्रकाश होता चला जा रहा है। फिर आकर बड़े सुन्दर स्तोत्र बोले। वहाँ बैठे हुए सब लोग बड़े आश्चर्यचकित रह गये कि इन्होंने इतने सुन्दर स्तोत्र बना लिये! भगवान् भाष्यकारों ने उनसे कहा 'इतने दिन से सुन रहा है, बता क्या समझा?' तब सौ श्लोकों के अन्दर उन्होंने 'श्रुतिसार-समुद्धरणम्' नामक ग्रन्थ में श्रुति के सार को बताया। इस प्रकार वह न ध्यान करते थे और न जप करते थे।

प्रतिपन्नसाधकभाव, सन्मार्गगामी और संन्यासी, तीनों के मंद और मध्यम दो भेद। इस तरह छहों प्रकार के अधिकारियों को ओंकार की उपासना का अधिकार है। जो उत्तम है वह तो ज्ञानी हो ही गया। 'मात्राणां पादानां च क्लृप्तसामान्यविदाम्' मात्रायें अ, उ, म और पाद जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति, इन दोनों की इस उपनिषद् में बताई हुई समानतायें हैं। उनको समझकर 'यथावदुपास्यमानः' जो ठीक प्रकार से उपासना करता है तो 'ओंकारो ब्रह्मप्रतिपत्तय आलम्बनी भवति' फिर यह ॐ ब्रह्मप्रतिपत्ति के लिये सहारा बन जाता है। 'यथावदुपास्यमानः' यथावद् उपासना करे, कब? जब इन तीनों में से किसी विशेषता को प्राप्त कर ले, तभी उपासना बनेगी नहीं तो नहीं। तब ॐ ब्रह्म प्रतिपत्ति के लिये आलम्बन हो जाता है। ऐसे व्यक्तियों की क्रममुक्ति होती है अर्थात् यहाँ की उपासना की सफलता से ब्रह्मलोक को जायेंगे। ब्रह्मलोक के अन्दर कल्पांत तक आनंदपूर्वक परमेश्वर के साथ रहेंगे। जो जिसका इष्ट है उसी रूप में वहाँ परमेश्वर उसे दर्शन देते हैं। विष्णु के उपासक को परमेश्वर विष्णु रूप में, शिव के उपसाक को शिव रूप में, गणपति के उपासक को गणेश रूप में, देवी के उपासक को देवी रूप में परमेश्वर दीखते हैं। एक ही परमेश्वर अपनी अपनी भावनाओं के अनुसार वहाँ दीखता रहता है। कई बार लोग इसमें यह शंका ले आते हैं कि एक ही पदार्थ एक साथ भिन्न भिन्न मूर्त्ति वाला कैसे दीख जाता है? लोक में भी ऐसा हो जाता है। जब भगवान् कृष्ण मथुरा गये हैं उस समय मल्लों को कृष्ण का रूप दूसरे पहलवानों की तरह दीखा था। यह भागवत में आता है। स्त्रियों को साक्षात् कामदेव की तरह दीखा था, कंस को साक्षात् यमराज के रूप

में दीखा था। एक ही कृष्ण का रूप भिन्न भिन्न लोगों को भिन्न रूप में दीखा, यह भी हो जाता है। ब्रह्मलोक में तो शरीर यहाँ की अपेक्षा सूक्ष्म ही है। इसलिये जिसने जैसा अपने इष्ट का ध्यान किया है वहाँ तदाकार इष्टदर्शन होता है। फिर उसके बाद वे इष्ट ही उसको तत्त्वज्ञान का उपदेश देते हैं। इष्ट अर्थात् इष्टाकार में परब्रह्म परमात्मा ही उसे तत्त्व उपदेश देते हैं और उस उपदेश से वह मुक्त हो जाता है। इसका नाम क्रम-मुक्ति है। उत्तम अधिकारी को यहीं ज्ञान हो जाता है। अगर किसी कारण से यहाँ ज्ञान नहीं हुआ तो वहाँ जाकर ज्ञान हो जाता है। उसी को कहा कि ब्रह्मप्रतिपत्ति अर्थात् क्रम-मुक्ति हो जाती है। वह वापिस यहाँ लौटकर नहीं आता। मरने के बाद ब्रह्मलोक और वहाँ मुक्त हो जाता है। 'तथा च वक्ष्यति' आगे स्वयं भी भगवान् गौडपादाचार्य यही बात कहेंगे 'आश्रमास्त्रिविधा हीनमध्यमोत्कृष्टदृष्टयः।' (३-१६) हीन, मध्यम और उत्कृष्ट तीन तरह की दृष्टि वाले आश्रमी होते हैं। ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी, ज्ञान का अधिकार सबको ही है। उनके कर्म अलग अलग हैं। चारों ही आश्रम में रहने वाले लोग तीन दृष्टि वाले होते हैं। कोई हीन, कोई मध्यम और कोई निकृष्ट दृष्टि वाले 'उपासनोपदिष्टेयं तदर्थमनुकम्पया' उनपर अनुकम्पासे अर्थात् उनके कल्याण में प्रवृत्त होकर शास्त्र ने इस उपासना को बताया, उपदेश दिया। यह आगे आयेगा।।१२।।

●

बारहवें मन्त्र पर कारिकायें

ओंकारं पादशो विद्यात्पादा मात्रा न संशयः।
ओंकारं पादशो ज्ञात्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्।।२४।।

ओंकार को पादशः अर्थात् जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों के साथ एक करके समझे। ओंकार को जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति के साथ एक करके उसकी उपासना करे। पाद और मात्रा दोनों कैसे हैं? पाद ही मात्रा और मात्रा ही पाद हैं। इस प्रकार एकता समझे। तीनों मात्राओं से तथा तीनों पादों से रहित जो है, वह ओंकार ही ब्रह्म है। इस प्रकार से ध्यान करे। उससे कृतार्थता होती है। ओंकार ही अकार-उकार-मकार-भाव से रहित हुआ साक्षात् ब्रह्म है, ऐसा ध्यान करे। उपासना कब तक की जाती है? शास्त्रों में यह नियम बताया है कि जिसकी उपासना कर रहा हो उसका जब तक साक्षात्कार न हो जाये तब तक उपासना करते रहना चाहिये। ओंकार में ब्रह्मबुद्धि तब तक करे जब तक ब्रह्मसाक्षात्कार न हो जाये। फिर उसके बाद आवश्यकता नहीं रह जाती।

'न संशयः' के द्वारा बताया कि उपासना के मार्ग में ज्यादा संशय करने वाले को सिद्धि नहीं होती। ऐसा क्यों है? क्योंकि वे उपासना के अधिकारी नहीं होते। इसलिये उपासना में प्रेम को बताया। आजकल लड़की लड़के कहते हैं कि 'हमको प्रेम हो गया।'

प्रेम होता है नहीं। जब उनसे पूछते हैं 'प्रेम क्यों हो गया, बात क्या हो गई?' कहते हैं 'आप उसके नाक नक्श देखें तो आप भी कहेंगे कि प्रेम करने लायक है।' हम समझ जाते हैं। प्रेम किससे हुआ? नाक कान से। खुदा न ख्वास्ता उसकी नाक कट जाये तो ब्याह करेंगे? ढीले पड़ जायेंगे। कुछ प्रेम तो उससे भी शिथिल होते हैं। किस बाप का बेटा है, हमारा बाप उसे दहेज नहीं दे सकता, इसलिये प्रेम के टण्टे से फँसा लो। प्रेम जहाँ होगा वहाँ ये सब बातें मन में उठ ही नहीं सकती। प्रेम का स्वरूप है कि न नाक-नक्श और न लड़के का पैसा मन में आये। जो संशयालु व्यक्ति होता है उससे उपासना इसलिये नहीं हो सकती कि उसका हृदय प्रेमशून्य है।

परमात्मा को भी जब तक सोचते रहोगे कि परमात्मा से हमको क्या क्या मिलेगा तब तक उपासना नहीं होती है। लोग पूछते हैं 'महाराज! गणेश जी की उपासना से ज्यादा फल मिलता है या विष्णु भगवान् की उपासना से?' किसी से नहीं मिलना है क्योंकि प्रेम तो है नहीं। कर्म तो ऐसे कर सकते हैं कि चतुर्थी के दिन एक हज़ार लड्डू गणेश जी को चढ़ाओ, नवरात्रि में नौ दिन तक केवल जल पीकर रहना। इन दोनों में तो कह सकते हैं कि अगर तुम्हें धन आदि की क़ामना है तो गणेशजी के हज़ार लड्डू का ज्यादा फल होगा और अगर राज्य आदि की इच्छा है तो नौ दिन तक केवल जल पीकर रहने से ज्यादा फल होगा। वहाँ संशय नहीं आ सकता है क्योंकि कर्म हुआ। उपासना ऐसे नहीं होती। 'न संशयः' शब्द का प्रयोग करके बताया कि आत्मा में संशय उठे ही नहीं। यही प्रेम का रूप है। 'ओंकारं पादशो ज्ञात्वा' इस प्रकार ओंकार को पादपूर्वक जो समझ लेता है, अनुभव कर लेता है, वह उभय-विभाग-शून्य उसे समझ लेता है। 'ज्ञात्वा' अर्थात् अखण्ड ॐ के ब्रह्मरूप का साक्षात्कार कर लेता है।

अखण्ड ओंकार को मन में लेकर फिर बीच में कोई और विचार नहीं ले आना क्योंकि उपासना का रूप है दूसरी वृत्तियों से अनंतरित हुआ वृत्तिप्रवाह। जिसकी उपासना कर रहे हैं उससे भिन्न कोई चीज़ दिमाग में न आये, इसी का नाम उपासना है। ऐसा नहीं समझ लेना कि जो बात मन में आये आती रहे, हो गई उपासना। ऐसा भी आजकल हो गया है। दूसरी किसी वृत्ति का प्रवाह न होकर केवल एक जैसी वृत्ति का प्रवाह होना उपासना है। दूसरी वृत्ति को होने दोगे तो सब व्यवहार हो ही रहे हैं। यदि कहो कि दूसरी वृत्ति का न होना मात्र ध्यान है तो गहरी नींद में भी दूसरी वृत्तियों का प्रवाह कहाँ होता है? लेकिन वहाँ वृत्तिप्रवाह नहीं है। इष्ट की वृत्ति का प्रवाह चलना चाहिये। साधक के दोनों दोष होते हैं; यह तीसरे अध्याय में आयेगा। कई बार साधक ध्यान करने बैठता है तो दूसरी बातें मन में आती हैं। कई बार दूसरी बातें मन में नहीं आती हैं लेकिन आराम से सुषुप्ति में चला जाता है। यह ज़रूरी नहीं कि सुषुप्ति में जाये तो खुर्राटे भरने लग जाये क्योंकि वृत्ति अगर लीन हो गई और अभ्यास अच्छा है तो बैठा तो वहाँ रहेगा, दूसरे समझेंगे कि अच्छी समाधि में बैठा है, लेकिन अन्दर आनंद का भान नहीं रहता, शून्याकार वृत्ति हो जाती है। वह नहीं होनी चाहिये।

जहाँ शून्याकार हो, इष्ट-मूर्ति मन से निकले, वहाँ खट फिर इष्टमूर्ति ले आनी चाहिये, शून्य अवस्था में नहीं रहना चाहिये। शून्य अवस्था में रहने से शून्य की प्राप्ति हो जाती है क्योंकि जिसका ध्यान करोगे वही मिल जायेगा। असत् का ध्यान करने से असत् मिल जायेगा! 'भाववृत्या हि भावत्वं शून्यवृत्या हि शून्यता पूर्णवृत्या ही पूर्णत्वं तस्माद् पूर्णत्वमभ्यसेत्।।' भगवान् भाष्यकार अपरोक्षानुभूति नामक ग्रन्थ में लिखते हैं कि विष्णु, गणपति, देवी आदि सब परमेश्वर के भावाकार होने से इनका ध्यान करने से उसी भावरूपता को प्राप्त कर जाओगे, उसी रूप में दर्शन हो जायेगा। मन को सर्वथा शून्य करते चले जाओगे तो शून्य रूप में ही परमेश्वर-दर्शन हो जायेगा, उसमें कुछ नहीं रहेगा। पूर्ण अर्थात् कण कण और क्षण क्षण में परमात्मा है, इस प्रकार की पूर्ण वृत्ति बनाओगे तो तुम्हें भी पूर्णत्व की प्राप्ति होगी। तुम्हें लगेगा कि अखिल ब्रह्माण्ड के ज़र्रे ज़र्रे में मैं ही चमक रहा हूँ 'अहं हरिः सर्वमिदं जनार्दनः।' प्रतीति होती है कि यह सब मेरा ही रूप है। मैं ही हरि रूप में और इस सारे जगत् रूप में हूँ। गीता में भी कहा 'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः' कण कण और क्षण क्षण में अपना प्रकाश देखना है। इसलिये कहा कि पूर्णता का ही अभ्यास करना चाहिये।

यहाँ भी इन दोनों से बचना है 'ओंकारं पादशो ज्ञात्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्' अर्थात् न शून्याकार वृत्ति और न दूसरी वृत्तियों से उसके बीच में वृत्यंतरता आये, ऐसा वृत्तिप्रवाह ही होना चाहिये। उलटा नहीं कि चिंतन न करके सो जाना। बहुत से सोकर उठते हैं तो कहते हैं कि बड़ा आनंद आया। हम कहते हैं कि लेट जाते तो और ज्यादा आनंद आता। कुछ लोग तो ऐसा करते हैं। एक योगदण्ड बना देते हैं, उसपर अपना सिर रख देते हैं जिससे झोंका आये तो उस झटके से आँख न खुले। वह योग दण्ड बनाया तो किसी अन्य कारण के लिये ही था। कुछ विशिष्ट अभ्यास जब किया जाता है तो उसमें बंधों को ऊपर खींचते हैं। जालंधर, उड्डयान आदि के अभ्यास में कुण्डलिनी को जाग्रत् करना है, रीढ़ की हड्डी को सीधा रखना है। उनमें सिर को स्थिर रखना मुश्किल होने से और शरीर में हिलाव आना रोकने के लिये योगदण्ड बनाया जाता है। लेकिन जिन्होंने यह योगाभ्यास नहीं किया वे जब रखें तो समझ लेना कि किसलिये रखकर बैठते हैं।

अब तो उससे भी आगे लोग पहुँच गये हैं। अपने ही एक भक्त सुना रहे थे। उत्तर काशी में हुआ कि अमुक व्यक्ति समाधि लगायेंगे। सब दर्शन करने पहुँचे कि देखें कैसे समाधि लगेगी। वे व्यक्ति आये तो उनके लिये बिछौना बिछा हुआ, ऊपर शामियाना लगा हुआ था। वह आकर उसके ऊपर लेट गये। सबने कह दिया कि अब यह समाधि में चले गये। कुछ लोग वहाँ बैठे रहे और कुछ वहाँ से चले गये। तीन घण्टे समाप्त हुए तो वापिस उठकर बैठ गये। जो सज्जन यह देख आये थे वह हमसे पूछने लगे कि ऐसी भी समाधि होती है? हम उनसे कहते हैं कि हमने तो सुना था कि समाधि बैठकर होती है। लेकिन यह कलियुग है, इसमें सब कुछ सम्भव है, असंभव नाम की कोई

चीज़ इसमें नहीं। अब बैठने की भी ज़रूरत नहीं, डायरैक्ट ऐप्रोच ही काम कर जाती है। इसलिये यहाँ कहा कि पूर्ण ब्रह्म को छोड़कर और कोई वृत्तिप्रवाह न रहे। 'पूर्ववत् अत्रैते श्लोका भवन्ति।' भगवान् भाष्यकार कहते हैं 'यथोक्तैः सामान्यैः पादा एव मात्रा मात्राश्च पादास्तस्मादोंकारं पादशो विद्यादित्यर्थः' ओंकार को पाद पाद करके जानना है। 'एवम् ओंकारे ज्ञाते दृष्टार्थमदृष्टार्थं वा न किञ्चित्प्रयोजनं चिन्तयेत् कृतार्थत्वादित्यर्थः।' इस प्रकार ओंकार को जान लेने पर अर्थात् अनुभव कर लेने पर उसका कोई प्रयोजन नहीं रहता क्योंकि वह कृतार्थ हो जाता है। प्रयोजन दो प्रकार के हैं— दृष्ट और अदृष्ट। जो यहीं फल दे, वह दृष्टार्थ हुआ। जैसे भूख लगी हो तो रबड़ी पूरी से निवृत्त हो जाती है। स्वर्ग वैकुण्ठ इत्यादि का सुख अदृष्ट है क्योंकि दृष्ट प्रयोजन नहीं है। ओंकार के अन्दर जो स्थित रहता है उसको न दृष्टार्थ के लिये कभी कोई चिंता करनी पड़ती है और न अदृष्टार्थ के लिये। दृष्ट प्रयोजन वाले जो अर्थ यानी पदार्थ हैं वे भी अपने आप उसके पास आते चले जाते हैं, उसको चिंता नहीं करनी पड़ती। अगर उसको ही चिंता करनी पड़े तो फिर यह सब ध्यान करके फ़ायदा क्या होगा?

भगवान् गीता में कहते हैं 'तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्' योग मायने अप्राप्त की प्राप्ति और क्षेम मायने प्राप्त का संरक्षण। अर्थात् जो चीज़ पास है वह सुरक्षित बनी रहे और जो नई मिलनी है वह मिल जाये। वहाँ मधुसूदन स्वामी शंका उठाते हैं कि सबका योग क्षेम भगवान् निर्वाह करते ही हैं, फिर अनन्य त्तिंतन करने का फ़ायदा क्या हुआ? वे जवाब देते हैं कि योग-क्षेम सबका तो वे किसी निमित्त से वहन करते हैं और इस प्रकार के अनन्य चित्त वाले का स्वयं वहन करते हैं, किसी को माध्यम (intermediary) नहीं बनाते। अन्यों के लिये तो किसी दूसरे को करने को कह देते हैं। जैसे सब लोगों को राशन की सप्लाई सरकार करती ही है। सब अपने अपने राशनकार्ड से खरीद कर ले आते हैं। कैसा गेहूँ चावल मिलेगा? जैसा राशन कार्ड है, वैसा मिलेगा। लेकिन इंदिरा जी संजय के लिये रोटी का आर्डर करती होंगी कि 'संजय के लिये अमुक भोजन बनाना है।' सबको राशन देती हैं वह और बात है और संजय के लिये भोजन बनाना है वह और बात है। वहाँ साक्षात् कहती हैं। इसलिये हम लोगों को हो सकता है कभी सड़ा चावल मिल जाये, लेकिन संजय को वह कभी सड़ा चावल थोड़े ही खिलायेंगी। इसी प्रकार जो अनन्यचेता नहीं हैं उनका भी भगवान् भार वहन करते हैं लेकिन देवता इत्यादि के द्वारा, महाभूत इत्यादि के द्वारा, अन्य प्राणियों के द्वारा, किसी न किसी के द्वारा करते हैं। अनन्यचेता का स्वयं भार वहन करते हैं, किसी दूसरे को बीच में नहीं डालते। इसलिये कहा कि उसको भूख लगेगी तो किससे गुजारा निकालता है? रबड़ी पूरी से। दूसरों का गुजारा दाल रोटी से निकलता है।

जैसे उसको दृष्ट प्रयोजन नहीं, वैसे ही उसको अदृष्ट प्रयोजन भी नहीं। वह जानता है कि जो परमेश्वर को करना है स्वतः ही करेंगे। इसलिये उसकी भी चिंता उसे नहीं।

प्रायः आजकल के लोगों में देखते हैं कि अदृष्ट प्रयोजन तो परमेश्वर, गुरु पर छोड़ना चाहते हैं कि 'हमारा अदृष्ट तो सब आप ही देख लेना।' और विश्वास भी कर लेते हैं। किसी के सिरपर हाथ रखकर कहें कि 'जा तेरा मोक्ष हो जायेगा', तो विश्वास कर लेता है। लेकिन दृष्ट प्रयोज़न में सोचते हैं कि यह तो हमारे ही पुरुषार्थ से होना है, 'मैं नहीं करूँगा तो कहाँ से होगा!' फिर उससे कहते हैं कि 'मोक्ष भी तेरे से ही होगा', तो कहता है कि 'वह तो आप ऐसे ही कर दें।' जब हम अदृष्टार्थ कर सकते हैं तो दृष्टार्थ भी कर सकते हैं और यदि हम दृष्टार्थ ही नहीं कर पा रहे हैं तो अदृष्टार्थ हमसे कहाँ होगा? किसलिये छोड़ देते हैं? इसका कारण अंदर का अविश्वास है कि शायद हो ही नहीं। अतः कहा कि 'एवम् ओंकारे ज्ञाते दृष्टार्थमदृष्टार्थं वा न किंचित् प्रयोजनं चिंतयेत्।' इसका चिंतन ही न करे। परमात्मा स्वयं सब इंतजाम करते रहते हैं और आगे से आगे बढ़िया से बढ़िया इंतजाम करते हैं क्योंकि वह कृतार्थ हो गया।

मनुष्य को कहाँ तक कृतार्थ करना है, उसकी कृतिमत्ता कहाँ तक है? जब तक परमात्मा से प्रेम नहीं हो गया। जैसे हमसे लोग पूछते हैं 'महाराज! इस लड़की को आगे क्या करना है? क्या बी. ए. पढ़ायें या नहीं?' हम कहते हैं कि 'लड़का मिला या नहीं?' क्योंकि लड़की को बी. ए., एम. ए. कराने में प्रयोजन थोड़े ही है, वह तो चूँकि उसके बिना वर नहीं मिला तो बी. ए. कराओ, फिर भी न मिले तो आगे एम. ए. कराओ। और इसका कोई प्रयोजन नहीं है। लड़की की पढ़ाई लिखाई तब तक है जब तक वर न मिल जाये। इसी प्रकार से जीव को कब तक कर्म करना है? जब तक परमात्मा से प्रेम न हो जाये। परमात्मा से प्रेम हो गया तो फिर उसके बाद क्या करना है? फिर तो ब्याह के बाद पत्नी को पति से प्रेम करना है। बाकी तो फिर वह कमायेगा भी, बाजार से चीज़े भी लायेगा। आजकल औरतों के साथ अन्याय करना शुरु कर दिया है, बाजार में औरतों को चीज़ें खरीदने भेजते हैं। हम ऐसे लोगों को जानते हैं जो औरतों से कहते हैं टिकट खरीद कर लाओ। पत्नी का काम सिवाय इसके कि पति को प्रसन्न रखे और कोई नहीं रह जाता। नौकरी ही करके खाना है तो ब्याह क्यों करेंगी? इसी प्रकार जब परमात्मा से प्रेम हो गया तो परमात्मा से प्रेम के अतिरिक्त और कुछ चिन्ता नहीं करनी है। यदि परमात्मा से प्रेम करने के बाद भी हमको दृष्ट अदृष्ट प्रयोजन के लिये चिंता करनी पड़े तो फिर परमेश्वर से प्रेम करने का फायदा ही क्या हुआ? फिर तो खुद ही गुजारा निकाल लेते, भक्ति की क्या ज़रूरत थी? इसलिये जहाँ तक हमको जाना था, वह कर लिया, इसलिये कृतार्थ हो गये। अब कुछ करना शेष नहीं है।।२४।।

●

इसलिये भगवान् गौडपादाचार्य ने कहा—

युञ्जीत प्रणवे चेतः प्रणवो ब्रह्म निर्भयम्।
प्रणवे नित्ययुक्तस्य न भयं विद्यते क्वचित्।।२५।।

प्रणव का ही अनुसंधान करना है। ॐ को ही प्रणव कहते हैं, उद्गीथ भी ॐ का ही नाम है। इसको प्रणव क्यों कहते हैं? 'प्रकर्षेण नवं यस्मात् तस्मात् प्रणव उच्यते' प्रकर्ष अर्थात् अच्छी प्रकार से इसमें हमेशा नवीनता बनी रहती है। इसीलिये इसे प्रणव कहते हैं। प्रकर्ष से नवीनता का मतलब है कि जैसे जैसे ओंकार का ध्यान गम्भीर होता जाता है वैसे ही भिन्न भिन्न प्रकार के नये नये अनुभव होते चले जाते हैं। अपना शरीर देखने में तो छोटा है लेकिन इसमें सारा ब्रह्माण्ड नमूने के तौर पर थोड़ा थोड़ा रख दिया गया है। शरीर की रचना को कोई ठीक समझ ले तो ब्रह्माण्ड की रचना को समझ सकता है। इस शरीर के अन्दर भी जो अंतःकरण या चित्त है, वह और छोटी जगह में है। देखने में तो वह भी छोटा है लेकिन सामवेद की छांदोग्य उपनिषद् कहती है 'यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः' जैसे यह बाहर का आकाश लम्बा चौड़ा अनन्त है, ऐसे ही अपने चित्त का जो आकाश है वह भी अनंत है। जितना इसके अन्दर घुसते जाओगे उतने नये अनुभव होते चले जाते हैं। ऐसा नहीं समझ लेना चाहिये कि बाहर ही विभिन्नतायें हैं, अन्दर भी जाओगे तो नवीन ज्ञानों का उदय होगा। वह भी अनंत आकाश है। बाहर के और भीतर के दोनों के अनंत आकाशों के अधिष्ठान रूप में साक्षात् परब्रह्म परमात्मा है। उस परब्रह्म परमात्मा में ये दोनों आकाश कल्पित हैं। चित् में ही चित्त और चेत्य दोनों कल्पित हैं। इसलिये उसे प्रणव कहते हैं क्योंकि ओंकार की उपासना से नवीन नवीन अनुभव होते जाते हैं।

कब तक? जब तक तत्त्वज्ञान का उदय न हो जाये। प्रणव-ज्ञान के द्वारा ही सर्वद्वैत बाधित होता चला जाता है। जैसे जैसे अन्दर के अनुभव होते हैं वैसे वैसे बाह्य अनुभव से वृत्ति हटती जाती है। लोक में भी देखा जाता है कि बढ़िया मिठाई मिलती है तो घटिया मिठाई से मन हट जाता है। बढ़िया कपड़ा मिले तो घटिया कपड़े से मन हट जाता है। उसी प्रकार परमार्थ मार्ग के अन्दर बढ़ने पर जब बाह्य अनुभवों से भी श्रेष्ठ अनुभव होने लगते हैं तो बाह्य पदार्थों की वृत्तियाँ हट जाती हैं। कुछ लोग केवल दाँत भींचकर संसार छोड़ना चाहते हैं लेकिन जितनी कोशिश करते हैं उतना छूट नहीं पाते हैं। कोशिश तो यह करनी है कि परमात्मा के अनुभव को करें तो संसार से मन अपने आप हट जायेगा। जितना संसार की चीज़ को सोचेंगे कि यह बुरा है, इसको छोड़ना है, उससे उलटी वही वृत्ति पुनरावृत्त होती जायेगी। शास्त्र की यह बात याद रखना। क्या कारण है कि हमारी प्राचीन व्यवस्था के अनुसार आदमी के रहने का घर सामान्य बनता था लेकिन मन्दिर में सुन्दर से सुन्दर कारीगरी करते थे। यही भाव था। कारण यह था कि मनुष्य के मन में यह पता लगे कि घर से मन्दिर श्रेष्ठ है, मन्दिर की श्रेष्ठता का भाव बनेगा। बड़े बड़े राजा जितना अपने घर को सुन्दर नहीं बनाते थे, भगवान् के मन्दिर को सुन्दर बनाते थे, उसमें यही दृष्टिकोण था।

योगवाशिष्ठ के अन्दर बार बार वेदांत-साधना बतायी है। महर्षि वशिष्ठ कहते हैं कि वेदांत के साधक में आर्यता, हृद्यता और स्निग्धता, ये तीन चीज़ें पहले होनी चाहियें। आर्यता— निरुक्त के अन्दर महर्षि यास्क ने आर्य का अर्थ किया जो अपने को परमेश्वर का पुत्र समझे। पुत्र समझने का मतलब होता है पिता के अनुसार आचरण करना। चाहे कोई पुत्र नहीं बन सकता है। यह नहीं कि पिता के आदर्श कुछ, और तुम्हारे कुछ और, फिर कहो कि 'हम उनके बेटे हैं।' उनके आदर्शों पर चलो, तभी उनके पुत्र कहे जाओगे। परमेश्वर का आदर्श देखो। सूर्य के द्वारा गर्मी देकर, बादल के द्वारा पानी बरसाते हैं, ज़मीन के द्वारा खेती पैदा करते हैं। सब कुछ करते हैं लेकिन ऐसा छिपकर यह सब काम करते हैं कि कभी किसी को पता ही नहीं लगने देते और गिनाने तो कभी आते ही नहीं कि मैंने तुम्हारे लिये क्या किया। यह परमेश्वर का आदर्श हुआ। ईश्वर-पुत्र वह होगा जो सबके लिये सब कुछ करते हुए ऐसा छिपा रहेगा कि मैंने कुछ किया ही नहीं। दिखावे के भाव से नहीं, स्वाभाविक भाव से। हम लोग रोज़ पृथ्वी स्पर्श करते हैं तो पृथ्वी को ईश्वर मानकर स्पर्श करते हैं। कितना सुन्दर साहित्यिक वर्णन है 'समुद्रवसने देवि पर्वतस्तनमण्डले। विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे।।' विचार करो कि साक्षात् भगवती पृथ्वी पर हम चरण रखते हैं, लेकिन क्या पृथ्वी कभी किसी प्रकार की शिकायत करती है? उसमें हम लोग हज़ारों फुट के गड्ढे खोदते हैं और गड्ढे खोदकर उसमें से कोयला, तेल, सब निकालते हैं। इन सबको कहते हैं कि हम उन्नति कर रहे हैं। हमारे प्राचीन ऋषियों ने कभी कोयला और तेल नहीं निकाला। इसलिये नहीं कि वह निकाल नहीं सकते थे, लेकिन वे जानते थे कि यह साक्षात् भगवती है, यह करना ठीक नहीं। विचार करके देखो, जो चीज़ गंदी होती है उसे ढाँक कर रखा जाता है। इन चीज़ों की आवश्यकता तो खनिज आदि के रूप में है लेकिन ये गंदी चीज़ें हैं इसलिये भगवती पृथ्वी ने इन्हें नीचे दबाकर रखा था कि बाहर आकर बदबू फैलायेंगी, कार्बन मोनो आक्साइड पैदा करेंगी, लोग बीमार पड़ेंगे। इसलिये पृथ्वी ने छिपाकर रखा कि ये काम में लाने लायक नहीं हैं। लेकिन हम उसी को काम में लाने लायक समझते हैं और उसी को उन्नति मानते हैं। कल ही कोई कह रहा था कि हिन्दुस्तान से लंगड़े आम निर्यात होते हैं और उनके बदले में मिट्टी का तेल लाते हैं। बढ़िया बासमती चावल अपने यहाँ नहीं खा सकते क्योंकि पैट्रोल जो जलाना हुआ। किसका फ़ायदा हो रहा है, यह कभी नहीं सोचते। इसलिये ऐसी जितनी चीज़ें होती हैं, उन्हें भगवती पृथ्वी ने दबाकर रखा कि ये कोई अच्छी चीज़ें नहीं हैं। बढ़िया हरियाली, पेड़, पुष्प इत्यादि आक्सीजन को फैलाने वाली चीज़ें सुन्दर थीं, उन्हें ऊपर रखा। काला कोयला, बदबूदार पैट्रोल आदि नीचे रखे क्योंकि देखने लायक नहीं हैं। लेकिन हम इसे इतना खोदते हैं, फिर भी भगवती पृथ्वी कभी कुछ नहीं कहती कि ऐसा क्यों किया? और हम लोग एक तरफ तो कहेंगे कि हम भगवान् के भक्त हैं और किसी ने कोई थोड़ी सी बात ही कह दी या टिल्ला

ही लग गया तो ऊपर से नीचे तक आग ही आग निकलेगी। कहाँ तो कारण होने पर भी परमेश्वर हमको कुछ नहीं कहते और कहाँ बिना कारण के झल्लाना, चिढ़ना आदि होता रहता है! इसको हम लोक स्वाभाविक मानते हैं। इसलिये महर्षि यास्क ने कहा 'आर्यः ईश्वरपुत्रः' आर्य वह होता है जो ईश्वर के अनुसार कार्य करे। ईश्वर के अनुकूल आचरण करे।

हृद्यता— हृदय से हमेशा दूसरे के साथ एक भाव लाना हृद्यता है। हम उस परिस्थिति में हों और हमारे साथ कोई ऐसा करे तो हमें कैसा लगे? अपने को हमेशा उस परिस्थिति में रखो, तभी हृद्यता की प्राप्ति होगी और तभी तुम्हारे आचरण में शुद्धि आयेगी। नहीं तो चाहे सवेरे से शाम तक हाथ धोते रहो और सोचते रहो कि किस ब्राह्मण के हाथ का खाना है और किसके हाथ का नहीं खाना है, और फिर क्रोध करते रहो, झल्लाते रहो, तो यह सब बेकार है।

स्निग्धता— हर व्यवहार में स्नेह को उड़ेलना चाहिये, चाहे किसी से व्यवहार करो। महर्षि वशिष्ठ कहते हैं कि मनुष्य आत्मज्ञान की तरफ कब आकृष्ट होगा? जब आत्मज्ञान के साधकों में यह लक्षण देखेगा। तुम्हारे आत्मज्ञान को कौन जानता है? जैसे लोक में कहते हैं कि करोड़ रुपया तुम्हारे पास है तो तुम्हारे घर रखा रहे, नगर सेठ तो तब कहे जाओगे जब किसी को आवश्यकता पड़ने पर उसे सौ-पचास रुपया देने वाले होगे। घर में रखे रहो तो कोई जय जयकार नहीं करेगा। इसी प्रकार यदि कुछ भी समझ पाओ कि 'सारे प्राणियों में एक आत्मा है अतः उनके साथ इस प्रकार की आर्यता, स्निग्धता, हृद्यता का व्यवहार करूँगा', तो माने जाओगे कि समझे हो, नहीं तो तुम्हारी सारी समझ बेकार है। तुम्हारी आर्यता, हृद्यता, स्निग्धता होनी चाहिये। मन्दिर क्यों श्रेष्ठ बनाते थे? यह दृष्टि बने, इसीलिये बनाते थे। ठीक इसी प्रकार वेदांत के साधक को होना है। सामने वाले में आर्यता हृद्यता स्निग्धता नहीं; उसमें होती तो तुम्हारे पास क्यों आता? तुम्हारे पास आया ही इसलिये है कि ये चीज़ें उसमें नहीं हैं। तुम भी इसे अपने जीवन में नहीं लाओगे तो तुम्हारा जीवन बेकार गया। इसलिये कहा 'प्रकर्षेण नवं यस्मात् तस्मात् प्रणव उच्यते' यही प्रणव की विशेषता है कि इससे सारे द्वैत का अपवाद निरंतर होता है और यही कृतार्थता का कारण बनता है।

'प्रणवे चेतः युंजीत' अर्थात् प्रणव में चित्त को युक्त करे। युक्त करने का मतलब बताया कि प्रणव के अनुसंधान में जितनी कुशलता आती जायेगी उतना ही सारे द्वैत अपोदित होते जायेंगे या निवृत्त होते जायेंगे। किसी भी चीज़ का संस्कार अपने अन्दर शब्दमय होता है। पदार्थों के संस्कार अधिकतर शब्दमय होते हैं। इसलिये मनुष्य का सबसे ज्यादा बंधन करने वाली चीज़ शब्द है। शब्द से ही अधिकतर बंधन होता है। बच्चा मर गया। क्या रह गया है? उसका नाम रह गया कि मेरा बच्चा था। यही बार

बार स्मृति लाकर दुःख तो उसका नाम देता है। धन था, चला गया, लेकिन वह जो धन का नाम है कि 'दस करोड़ रुपया था', वह दुःख देता है। जो धन चला गया, वह दुःख नहीं देता। बंधन में डालने वाला शब्द है। शब्द को ही संस्कृत में वद् धातु से कहते हैं। पहली बार कोई बात मन में आती है तो उसे वाद या हिन्दी में बात कहते हैं। वाद का ही अपभ्रंश बात होता है। उसके बाद जो चलता रहता है उसको अनुवाद कहते हैं। द्वैत हमारे को प्रत्यक्ष तो बहुत थोड़ा सा होता है। बंधन का कारण द्वैत का अनुवाद है।

यहाँ बैठे हैं तो इस कमरे को या उस पेड़ को या चट्टान को जानते हैं। यह तो वाद है क्योंकि दीख रहे हैं। और दिल्ली, दिल्ली का घण्टाघर, काशी, काशी का मठ आदि सब अंतःकरण में अनुवाद दृष्टि से रहेंगे। अगर इस समय दिल्ली के अन्दर ऐटमबाम्ब पड़कर आश्रम की ईंट-ईंट गिर गई हो तो भी अपने को शायद शाम तक पता चले, या सैंसर के जमाने में न भी पता लगे! और हम सोचते ही रहेंगे कि विद्यालय खुला या नहीं, प्रधानाचार्य गये हुए थे, अभी आकर प्रवेश का काम शुरु हुआ या नहीं? और वहाँ गली हुई ईंटे पड़ी हैं! इसी बात को सप्तशती के प्रारंभ में कहा। एक राजा आकर दूसरे राजा को हरा देता है और उसकी सारी सम्पत्ति ले लेता है। यह राजा भागकर जंगल में जाता है और वहाँ चिंता कर रहा है कि मेरा जो मदमत्त हाथी था जिसको मैं खिलाता था, न जाने नया राजा उसको कैसे रख रहा होगा! यहीं से सप्तशती का प्रारंभ होता है। कुछ लोग बड़े खुश होते हैं कि पाकिस्तान में हमारे मकान का जो हो, लेकिन वहाँ के लोग उसे मेन्टेन अच्छा करते हैं। दूसरा दुःखी होता है कि हमारे शीतला जी के मन्दिर में उन लोगों ने टायर भर रखे हैं। वहाँ अपने अखाड़े का मन्दिर था, कोई महन्त जी देखने गये और आकर खबर सुना रहे थे कि कैसा ज़माना आ गया, वहाँ मन्दिर में टायर भर रखे हैं। हमने कहा 'वह मुसलमानों का है, जो मर्ज़ी सो करें।' जिसके मकान को अच्छी तरह रखते हैं वह यहाँ सुखी होता है और जिसके मन्दिर में टायर भर रखे हैं वह यहाँ आकर दुःखी होता है। यह सब अनुवाद से है।

अब यदि इसका अपवाद कर सको तो बड़ा अच्छा है। अप का मतलब हटाना है। जितना जितना ओंकार में चित्त लगेगा उतना उतना अनुवाद का अपवाद होता जायेगा। मन बिना कुछ सोचे नहीं रह सकता। मन का स्वरूप सोचना है। यदि ओंकार को सोचते रहोगे तो दूसरी बात को सोचने का कहाँ समय मिलेगा? इसी को अपोदन कहते हैं। प्रणव में अनुसंधान- कुशल व्यक्ति प्रणवाकार वृत्ति में स्थिर होने के कारण सारे द्वैत का अपवाद कर देता है और इसी से उसे कृतार्थता का बोध हो जाता है। यही कृतार्थता है। संसार की चिंता चाहे जितनी कर लो, कभी यह बोध नहीं होना है कि हम कृतार्थ हो गये। जो करना था सो कर लिया, यह कभी नहीं होने वाला है।

भगवान् राम और भगवान् कृष्ण ये दो ही हम लोगों के प्रधान आदर्श अवतार हैं। भगवान् राम की अत्यंत प्रिय सीता और सुख दुःख में सहायता और अनुगमन करने वाले अत्यंत प्रिय भाई लक्ष्मण थे। लेकिन भगवान् को परमधाम-गमन करने के पहले, सीता को गर्भावस्था में जंगल भेजना पड़ा। आज का ज़माना होता तो बड़ा भारी विमैन्स लिब का मूवमैण्ट खड़ा हो जाता! और लक्ष्मण को फाँसी की सजा सुनानी पड़ी। कितना भयंकर काण्ड हुआ कि जो दो सबसे प्रिय व्यक्ति, उन्हीं दोनों का यह हाल करना पड़ा। यह संसार है। भगवान् कृष्ण ने अपने सामने ही अपने बेटे और पोतों को आपस में लड़कर मर जाने दिया। आज बाप के सामने दो बेटे मुकदमा करते हैं तो कहते हैं 'मेरे दुःख का पार नहीं है, भगवान् मदद करो और इन्हें सद्‌बुद्धि दो।' हमें अंदर से हँसी आती है कि भगवान् के अपने लड़के मुकदमेबाजी नहीं, हथियारों से एक दूसरे का गला काटते हैं और भगवान् बैठे हुए हैं। जब उन्हीं को भगवान् ने सद्‌बुद्धि नहीं दी तो तुम्हारे मुकदमेबाजी करने वाले लड़कों को सद्‌बुद्धि देंगे? इसके द्वारा भगवान् ने बताया कि संसार के लिये कुछ भी करो, कृतार्थता का बोध नहीं होने वाला है। अगर भगवान् राम ज्ञान में निष्ठा वाले न होते तो महादुःखी होकर यह सोचकर मरते कि मेरा जीवन बेकार गया। भगवान्‌कृष्ण ज्ञान में दृढ न होते तो मेरा सारा जीवन अकृतार्थ हुआ, यह सोचकर मरते। लेकिन वे परम शान्ति से मरे। बाण लगा हुआ है, घर वाले अभी एक दिन पहले ही सब मरे हैं और खुद उद्धव को उद्धव गीता सुनाकर तत्त्वज्ञान का उपदेश दे रहे हैं। उनका केवल एक पड़पोता बचा था। अंत में उद्धव से कहा कि 'उससे मेरे को आग दिलवा देना, बाकी तो सब गये।' द्वैत के लिये समग्र प्रवृत्ति करके यह होता है, ऐसा जिसका निश्चय है वह प्रणव में मन को लगाकर द्वैत का अपवाद करता रहता है तभी कृतार्थता होती है। इसलिये कहा 'प्रणवे चेतः युञ्जीत।'

'प्रणवो ब्रह्म निर्भयम्' प्रणव निर्भय ब्रह्म है। शंका होती है कि मन को ब्रह्म में लगाना चाहिये, प्रणव में लगाना क्यों कह दिया? कहते हैं कि यहाँ विषय मन्द और मध्यम अधिकारी का चला हुआ है जो ब्रह्म को समझ नहीं पाता है, ब्रह्मावगति जिसके बूते की नहीं। केवल परोपदेशमात्र ही उसकी शरण है। जिसने मनन के द्वारा श्रवण करके ब्रह्म का अनुभव कर लिया, उसका तो काम बना गया, लेकिन जो श्रवण मनन करके ब्रह्म के स्वरूप का निर्णय नहीं कर पाता उसको तो परोपदेश ही एकमात्र शरण है। गुरु का उपदेश हो, वेद का उपदेश हो, गीता इत्यादि सच्छास्त्रों का उपदेश हो; किसी न किसी की बात मानकर ही उसको चलना है क्योंकि खुद विचार करने में असमर्थ है। खुद बिना विचार किये ज्ञान नहीं हो सकता। ज्ञान तो स्वतः श्रवण मनन करने से ही होगा। जो उसमें असमर्थ है तो वह किसी का सहारा पकड़ लेता है। परोपदेशमात्र ही उसका सहारा है। गीता में भी सत्रहवें-अट्ठारहवें अध्याय में अर्जुन का यही प्रश्न था कि जो श्रद्धा वाले हैं वे कैसे कल्याण पायें? मन्दाधिकारी को कहें कि 'ब्रह्म में ध्यान

लगाओ' तो जिस ब्रह्म को समझा ही नहीं उसका ध्यान क्या लगायेगा? केवल ब्रह्म ब्रह्म कहने से ब्रह्म थोड़े ही हो जायेगा। इसलिये उसके लिये प्रणव में ही ध्यान कर्त्तव्यता बताई। वह ॐ का ही ध्यान करे। यही प्रतीक है। प्रणव या ओंकार ही निर्भय ब्रह्म है।

निर्भय ब्रह्म क्यों कहा? बाकी किसी भी उपाधि वाला जो परमात्मा का नाम है, वह साक्षात् परमात्मा का नाम नहीं। श्रुति ने भी कहा है 'तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि ओमित्येतत्।' 'नेदिष्ठं हि ब्रह्मणो नाम' इत्यादि भाष्य भी इसमें प्रमाण है। 'तस्मिन् प्रसीदति' ओंकार का ध्यान जप करने वाले पर परमात्मा प्रसन्न हो जाता है। महिम्न-स्तोत्र के अंत में भी इसलिये ओंकार का ध्यान ही बताया। जब भगवान् शंकर की सारी लीलाओं का वर्णन कर लिया, सारे उपदेश बता दिये, तब अंत में 'त्रयीं तिस्रो वृत्तीः' से ओंकार का ही ध्यान बताया। बाकी सब परमात्मा के नाम किसी उपाधि को लेकर हैं और जहाँ उपाधि रहेगी वहाँ द्वैत रहेगा, जहाँ द्वैत रहेगा वहाँ भय रहेगा। ओंकार निरुपाधि ब्रह्म का नाम है। सर्वोपाधिशून्य जो परब्रह्म परमात्मा है उसका नाम ओंकार है। उसमें उपाधि नहीं इसलिये उसके अन्दर किसी प्रकार का भय भी नहीं।

'प्रणवे नित्ययुक्तस्य' इस प्रकार प्रणव के अन्दर जो नित्य निरंतर चित्त को समाहित करता है तो उसका निर्भय ब्रह्म में चित्त समाहित हो जाता है। इसलिये उसको कहीं भी कभी भी भय नहीं होता। श्रुति कहती है देवता भी उसपर शासन नहीं कर सकते। इसलिये वह अभय-पद को प्राप्त हो जाता है। ब्रह्मा विष्णु इत्यादि देवता भी उससे भय खाते हैं कि यह साक्षात् निर्गुण परब्रह्म परमात्मा का चिंतन करने वाला है। इसलिये 'न भयं विद्यते क्वचित्' में क्वचित् का मतलब केवल भूत प्रेत का भय नहीं वरन् द्वैत का अभाव होने से उसे कहीं भय नहीं। मैं आत्मस्वरूप हूँ, ऐसा उसका अनुभव है।

'युञ्जीत समादध्याद्यथाव्याख्याते परमार्थरूपे प्रणवे चेतो मनः' इस प्रकार जो यहाँ बताया हुआ परमार्थरूप प्रणव है उसके अन्दर ही चेतः अर्थात् मन को समाहित करे क्योंकि प्रणव ही निर्भय ब्रह्म है 'यस्मात्प्रणवो ब्रह्म निर्भयम्।' 'न हि तत्र सदा युक्तस्य भयं विद्यते क्वचित्।' कारिका के 'नित्ययुक्तस्य' का अर्थ बता दिया 'सदा युक्तस्य' सब काल में, चाहे रास्ते में चल रहे हो, चाहे जूता पहने हुए हो, चाहे नहाने घर में गये हो, इस बात की चिंता ही नहीं करना; ब्रह्म का चिंतन निरंतर चलता ही रहे। परमात्मा से भिन्न देवी देवताओं के चिंतन में तो नियम रखना पड़ता है लेकिन परमात्म-चिंतन में तो कोई नियम नहीं। चलते फिरते सब समय कर सकते हो। भगवान् ने तो गीता में यहाँ तक कह दिया 'प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि' विसृजन् अर्थात् विसर्गकाल में भी उसके चिंतन से नहीं घबराना चाहिये। वह तो नित्य निरंतर अपनी आत्मा में बैठा हुआ है। अतः भय का कभी कोई प्रसंग ही नहीं। भय द्वैत-भावना से आता है। भगवान् से अलग होगे तब भय आयेगा नहीं तो भय का प्रवेश कहाँ से होगा? बड़ी भारी सेना को सामने रखकर भी कहो कि डर लग रहा है, यह नहीं हो सकता। यद्यपि हिन्दुस्तान में सब सम्भव

है। सारी आर्मी बात मान रही है, पुलिस नियंत्रण में है फिर भी आदमी कहता है कि 'मुझे लोग चिट्ठी भेज देते हैं कि मारेंगे' और फिर कहते हैं कि 'मार भी देंगे तो डर नहीं।' हिन्दुस्तान में सब सम्भव है, भारतवर्ष में नहीं। ठीक इसी प्रकार जिसकी परमात्म-दृष्टि है वह कहे के 'मुझे भय लगता है', क्या ऐसा कभी हो सकता है? 'विद्वान् कुतश्चन न बिभेति' यह कृष्ण युजुर्वेद की तैत्तिरीय श्रुति कहती है कि विद्वान् अर्थात् परमात्मा की उपासना करने वाला किसी चीज़ से भय नहीं करता। 'अभयं वै जनक प्राप्तोसि' इत्यादि बृहदारण्यक का वाक्य भी कहता है कि जब तक किसी से किंचित् भी भय का अनुवर्त्तन हो तो समझ लेना चाहिये कि परमात्मा से हमारा प्रेम हुआ ही नहीं।।२५।।

●

मन्द और मध्यम अधिकारियों के लिये प्रणव का जो भेद होता है, वह क्या है? उसी को बताते हैं—

प्रणवो ह्यपरं ब्रह्म प्रणवश्च परः स्मृतः ।
अपूर्वोऽनन्तरोऽबाह्योऽनपरः प्रणवोऽव्ययः ।।२६।।

'हि' अर्थात् जिस कारण से प्रणव ही अपरब्रह्म है और प्रणव ही परब्रह्म है। पर-अपर दोनों ब्रह्म प्रणव रूप ही है। प्रणव का चिंतन करते हुए चाहे निर्गुण ब्रह्म को सोचो और चाहे शक्तिविशिष्ट चेतन सगुण ब्रह्म को। प्रणव सगुण को भी विषय करता है इसलिये परमेश्वर की सारी शक्तियाँ तुम्हारी मदद करने को आ जाती हैं। चूँकि वह निर्गुण ब्रह्म को विषय करता है इसलिये उस की जो विद्या-शक्ति है वह भी तुम्हें मुक्त करने आ जाती है। ब्रह्म में दो शक्तियाँ हैं 'विद्याऽविद्ये प्रभोः शक्ती भानोश्छायाप्रभोपमे' भगवान् सुरेश्वराचार्य लिखते हैं कि प्रभु की, परब्रह्म परमात्मा की दोनों शक्तियाँ हैं— विद्या शक्ति और अविद्या शक्ति। दो विरुद्ध शक्तियाँ कैसे हो सकती हैं? जैसे सूर्य की दो शक्तियाँ हैं छाया और प्रकाश। छाया भी तब हो जब सूर्य का उदय हो। बिना रोशनी के, अंधेरे में छाया नहीं पड़ती। फ़र्क यह है कि सूर्य की तरफ मुख करें तो प्रकाश मिलता है और सूर्य की तरफ पीठ करें तो छाया मिलती है।

पुराणों में इसीलिये भगवान् सूर्य की पत्नियाँ ही दो बताई गई हैं— एक संध्या और एक छाया। संध्या एक बार सूर्य के ताप को सहन न कर सकी तो छाया छोड़कर चली गई और भगवान् सूर्य को बहुत समय तक पता ही नहीं चला! उस समय सूर्या घोड़ी बनी हुई थी। कहानी लम्बी है। यहाँ भी सूर्य रूपी आत्मा अविद्या रूपी छाया-शक्ति को दीर्घकाल तक देखते हुए पहचान ही नहीं पाता कि यह अविद्या है। यही जीवरूपता है। रात दिन इसी को देखकर इसी को भगवद्-रूप समझता रहता है इसलिये विद्या की तरफ तो इसकी दृष्टि नहीं जाती। परमात्मा रूपी सूर्य की तरफ जो मुख कर लेता है उसे विद्या मिलती है। परमात्मा तो सर्वव्यापक है फिर उसकी तरफ दृष्टि करना

क्या है? परमात्मा रूपी सूर्य की तरफ दृष्टि करना अर्थात् परमात्मा से प्रेम। वह किया तो विद्या-शक्ति मिल गयी। और परमात्मा से पीठ की अर्थात् अनात्म-जगत् की तरफ दृष्टि की तो अविद्या शक्ति है ही।

हैं ये दोनों शक्तियाँ परमेश्वर की ही अपरब्रह्म अविद्याशक्ति और परब्रह्म विद्याशक्ति है। अज्ञात ब्रह्म जगत् का कारण और ज्ञात ब्रह्म संसार की निवृत्ति का कारण है। वेदांत शास्त्रों में माया कोई दूसरी चीज़ नहीं है, यह हमेशा याद रखना। ब्रह्म और माया दो नहीं हैं। वही ब्रह्म ज्ञात हुआ मोक्ष का कारण है और वही अज्ञात हुआ संसार का कारण है। इसलिये अपने यहाँ शिव शक्ति दो नहीं हैं। जब संसार की तरफ व्यवहार करने वाली दृष्टि हुई तब उसी को शक्ति कहते हैं और जब परमात्मा की तरफ दृष्टि की तब उसी का नाम शिव है। जैसे एक सिक्के में एक तरफ अशोक चक्र और दूसरी तरफ गेहूँ की बाली होती है, सिक्का एक ही है दो नहीं है, अथवा नोट की एक तरफ खेत की बाली काटने वाला और दूसरी तरफ अशोक चक्र होता है। वहाँ भी दो नोट नहीं हैं, एक ही है। इसी प्रकार ब्रह्म को ज्ञात तरफ से देखो तो मोक्ष का कारण, उसी को शिव कहते हैं; और उसी को दूसरी तरफ से देखो तो अज्ञात ब्रह्म संसार का कारण हो गया; प्रणव चूँकि इन दोनों को कहता है, इसलिये अविद्या रूपी संसार में जब तक रहते हो तब तक प्रारब्ध आदि निर्वाह के लिये दृष्टार्थता, और मोक्ष के लिये ब्रह्माकार वृत्ति, दोनों ही ओंकार से सिद्ध हो जाते हैं। इसलिये कह दिया 'प्रणवो हि अपरं ब्रह्म प्रणवश्च परः स्मृतः।'

इसी पर भगवान् भाष्यकार कहते हैं 'परापरे ब्रह्मणी प्रणवः, परमार्थतः क्षीणेषु मात्रापादेषु पर एवाऽऽत्मा ब्रह्मेति।' पर और अपर ब्रह्म दोनों के लिये प्रणव का प्रयोग है। मंद व मध्यम अधिकारियों के लिये प्रणव पर या अपर ब्रह्म रूप से ध्येय है। उत्तम अधिकारी की यह दृष्टि है 'परमार्थतः क्षीणेषु मात्रापादेषु।' परमार्थतः अर्थात् वास्तविक दृष्टि से। उत्तम अधिकारी पारमार्थिक दृष्टि बना पाता है और मंद तथा मध्यम अधिकारी व्यावहारिक दृष्टि को नहीं छोड़ पाते। व्यावहारिक दृष्टि उत्तम अधिकारी की भी होगी और मंद मध्यम अधिकारी की भी होगी, लेकिन उत्तम अधिकारी व्यावहारिक दृष्टि को रखते हुए परमार्थ दृष्टि को बना पाता है और मंद मध्यम अधिकारी यह नहीं बना पाता। यही दोनों में फ़र्क है। इसीलिये एक व्यवहार को छोड़ नहीं पाता, व्यवहार में फँसा रहता है और दूसरा व्यवहार करते हुए भी व्यवहार को छोड़े रहता है।

व्यवहार छोड़े हुए मायने आग्रह रहित, व्यवहार में उसका आग्रह नहीं रहता। 'मेरे घर में पुत्र उत्पन्न हुआ, उसको मैं स्कूल भेज रहा हूँ, पढ़ा रहा हूँ, उसके लिये कमा रहा हूँ'; उस काल में तो परमार्थ दृष्टि और केवल व्यवहार दृष्टि वाले, दोनों एक जैसे हैं। लेकिन जिस दिन मेरा लड़का मर गया, उस दिन परमार्थ दृष्टि वाले को आग्रह नहीं कि 'मैं ही लड़के का पालन करूँ।' अगर कुछ हुई तो प्रसन्नता ही हुई 'अच्छा हुआ मर गया अब इसके लिये कमाना नहीं पड़ेगा। यह पढ़ता ही नहीं, मैं इतना पढ़ाता हूँ, यह चिंता भी अब नहीं करनी पड़ेगी। जहाँ भगवान् ने उसका ट्रांस्फर करके भेजा, अब वहाँ

के आफ़िसर देखेंगे।' और जो अपरब्रह्म की दृष्टि वाला है अर्थात् जिसे परमार्थदृष्टि नहीं है, वह रोने लग जाता है क्योंकि उसको तो आग्रह है कि 'इस लड़के को तो मैं पढ़ा दूँ, दूसरी जगह मेरे पास से अच्छी जगह गया होगा ऐसा उसको विश्वास नहीं है। बस यहाँ आकर परब्रह्म की दृष्टि वाला परमार्थ दृष्टि बना लेता है कि यह लड़का पच्चीस साल पहले कौन सा मेरा था जो आज मेरा नहीं रहा। यह तो चला चली का मेला है। जैसे रेल के डिब्बे में बैठ गये। तुम अपना अचार हमको दो, हमारी बरफी तुम लो। लेकिन कब तक? जब तक स्टेशन नहीं आया। स्टेशन पर उतरते समय क्या दुःख होता है कि 'हाय! अच्छा खिलाने पिलाने वालों को छोड़ दिया', या यह कहते हैं कि 'आपसे बड़ा प्रेम हो गया, अगले स्टेशन तक साथ चलो, वापिस आ जायेंगे।' कुछ नहीं। ठीक इसी प्रकार जो अपना पुत्र है, पत्नी है वे मेरे साथ हैं। जब तक साथ हैं तब तक तो 'आओ जी, खाओ जी और बैठो जी' सब करो और जब स्टेशन अपना या उनका आ गया तो कौन किसको देखता है? झट अपना सामान उतारने की चिंता करते हैं। बस यही फ़र्क है परमार्थ दृष्टि वालों में और केवल व्यवहार दृष्टि वाले में।

व्यवहार काल में जो चूकता है वह तो मूर्ख है। व्यवहार काल में उससे पूछें कि तुम्हारा लड़का किस क्लास में पढ़ता है? और वह कह दे कि 'हम तो यह सब चिन्ता नहीं करते भगवान् जो करता है सो करता है'; वह तो मूर्ख है। यह प्रणव का चिंतन नहीं है। व्यवहार काल में दोनों में कोई फर्क नहीं। फर्क तो उस क्षण आता है जहाँ आग्रह का विषय होता है। मान लो तुम रेल के डिब्बे में जा रहे हो और साथ वाला परांवठा खा रहा है। तुम पूछते हो कि 'कोरा ही परांवठा खा रहे हो?' वह कहता है 'क्या बतायें, नौकर सब्जी रखना भूल गया, बाज़ार की चीज़ें सूट नहीं करतीं क्योंकि वैजीटेबल में बनती हैं।' उस समय यदि तुम यह नहीं कहोगे कि 'हमारे पास काफी आलू या अचार है ले लीजिये,' तो तुम्हारी गिनती मूर्खों में होगी। उस समय तो उनसे पूर्ण प्रेम का व्यवहार करना है। केवल स्टेशन आने पर उतरते समय फर्क मालूम पड़ेगा। जो उत्तम अधिकारी होता है वह व्यवहार तो करता रहता है लेकिन उसकी दृष्टि पारमार्थिक बनी रहती है।

व्यवहार कितना उत्तम करना चाहिये? भगवान् ने गीता में कहा कि ठीक जैसा व्यवहार अज्ञानी करता है वैसा ही ज्ञानी करे। फर्क केवल इसमें है कि अज्ञानी तो व्यवहार में आसक्त है 'सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत', और ज्ञानी आसक्ति से रहित होकर व्यवहार वैसा ही करे। व्यवहार में गड़बड़ न करे। क्योंकि जब शरीर धारण कर लिया तो हमारे यहाँ भले आदमी का यह नियम किया गया है 'अनारम्भो हि कार्याणां प्रथमं बुद्धिलक्षणम्। आरब्धस्यान्तगमनं द्वितीयं बुद्धिलक्षणम्।।' श्रेष्ठ बुद्धि का लक्षण तो यह है कि किसी काम को शुरू ही न करे। क्यों? क्योंकि भगवान् ने गीता में कहा 'सर्वारंभा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः'। आरभ्यन्ते इति आरंभाः कर्माणि। जितने भी कार्य हैं, जो भी चीज़ की जाती है उन सबमें दोष ही दोष भरे हुए हैं। कोई कहे कि 'मैं कोई भी ऐसा काम करूँ जिसमें दोष न हों', तो बेकार की बात है। कर्म करो और

फिर वह बिना दोष का है, क्या कभी हो सकता है? हर पैर चलने में दोष ही दोष सामने हैं। जैसे आग जलाओगे तो धुआँ होगा और असावधानी से रहो तो ज्यादा होगा, यह तो हो सकता है, लेकिन लकड़ी जले और धुआँ न हो, यह कैसे हो सकता है? इसी प्रकार जितने कर्म हैं उनमें दोष न हों, यह कभी हो ही नहीं सकता। कर्म तो आदि से अन्त तक दोष से भरे हुए हैं।

भगवान् राम बाली को छिपकर मारते हैं। छिपकर मारना क्या क्षत्रिय का धर्म है? लेकिन मारते हैं। राजा हुआ करता है ब्राह्मण की रक्षा करने के लिये और वे उत्तम वेदपाठी ब्राह्मण के सारे कुल को मारते हैं। केदारनाथ की यात्रा की होगी तो लोगों ने बताया होगा कि ब्रह्महत्या के पाप को हटाने के लिये प्रायश्चित्त करने के लिये रामजी वहाँ गये थे। जब भगवान् भी कर्म करते हैं तो दोष होना ही है। चाहे उसका परिहार करते रहो कि उनका अन्तिम उद्देश्य अच्छा था इत्यादि। महाभारत युद्ध होता है तो धर्मयुद्ध के नियमों के खिलाफ शिखण्डी को आगे खड़ा करते हैं, धर्मयुद्ध के नियमों के खिलाफ युधिष्ठिर से झूठ बुलवाते हैं, नियमों के खिलाफ दुर्योधन की जंघा पर गदा मरवाते हैं, धर्मयुद्ध के नियमों के खिलाफ भगदत्त राजा को निश्शस्त्र अवस्था में हाथ कटवा कर मरवाते हैं।

विचार करो, भगवान् तो सर्वसमर्थ हैं, वह तो इच्छा मात्र से संहार कर सकते हैं, यह नहीं कि नहीं कर सकते। लेकिन उनका मतलब है कि कर्म करेंगे तो दोष से बच ही नहीं सकते। इसके द्वारा भगवान् कह रहे हैं कि जब मैं ही नहीं बचा तो तुम लोग क्या बचोगे? यह भगवान् का कर्म सर्वकर्मसंन्यास की श्रेष्ठता को बताने के लिये है। भगवान् नहीं कर सकते हैं, ऐसा नहीं, वह तो सर्वसमर्थ हैं, लेकिन उन्हें दिखाना यह था कि सर्वकर्मपरित्याग ही एकमात्र आनन्द की चीज़ है। इसलिये हर कर्म करने में दोष ही उत्पन्न होना है यह निश्चय समझ कर कार्य को प्रारंभ ही नहीं करना, प्रवृत्ति ही नहीं करना तो उत्तम बुद्धि का लक्षण है।

यदि कोई काम किसी भी हेतु से शुरू कर दिया तो फिर उसे पूरा निभाना चाहिये। फिर बीच में ढीला पैर नहीं करना चाहिये। यह मध्यम बुद्धि का लक्षण है। शुरू करके छोड़ दे, यह निकृष्ट पुरुषों का लक्षण है। आर्य ऐसा नहीं करते। इसीलिये यदि शरीर को हम धारण न करते, पूर्व जन्म में ही हमने ज्ञान प्राप्त करके मुक्ति प्राप्त कर ली होती, तो वह प्रथम बुद्धि का लक्षण है। शरीर-धारण न करना तो उत्तम बुद्धि का लक्षण है। उत्तम बुद्धि रहती तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, कहीं पैदा ही क्यों होते? लेकिन जब इसमें आ गये हैं तो जब तक यह शरीर चलना है तब तक इसको उत्तम ढंग से निभाना है। फिर यह गड़बड़ी नहीं करना कि 'कौन टण्टा करे? कौन लड़कों की चिंता करे? मास्टर पढ़ाता है, या नहीं? क्या उसका रिज़ल्ट (परिणाम) आता है?' लड़के के स्कूल से कार्ड आता है तो बहुत से बाप माँ से कहते हैं कि 'इसपर तू ही दस्तखत कर दे।'

उन्हें फुर्सत ही नहीं है। यह निकृष्ट बुद्धि का लक्षण है। ब्याह न करते तो कोई बात नहीं थी। करके यह कहना कि 'करवा चौथ या हरियाली तीज हो, लेकिन पत्नी के लिये साड़ी लाना आदि ये सब चिन्ता हम नहीं करते,' यह ठीक नहीं। और हम तो ऐसे लोगों को जानते हैं जो घरवाली से कहते हैं कि 'मर्ज़ी आये सो ले आ।' ब्याह नहीं करते तो उत्तम बुद्धि का लक्षण, किया तो अच्छी तरह से निभाओ, जैसे आसक्त पुरुष करता है, वैसा करो।

इसलिये कहा 'परमार्थतः', अर्थात् व्यवहारतः नहीं। व्यवहार की दृष्टि से तो जैसा व्यवहार है, वैसा ही करना है। लेकिन वह करते हुए मन्द मध्यम बुद्धि वाला परमार्थ दृष्टि नहीं रख पाता और यह रख लेता है। और फ़र्क वही याद रखना; हरियाली तीज के पहले औरत मर जाये तो वह खुश होता है कि 'चार सौ पचास रुपये की साड़ी का दुःख आया था, यह मर गई तो अच्छा हुआ, वह दुःख निकल गया, नहीं तो चार सौ पचास रुपये निकल गये होते।' ज्यादा कड़वी बात हो गई हो तो छोड़ देना। 'परापरे ब्रह्मणी प्रणवः परमार्थतः क्षीणेषु मात्रापादेषु' इस पारमार्थिक दृष्टि से मात्रा और पाद दोनों जब क्षीण हो जाते हैं तो फिर 'पर एवाऽऽत्मा ब्रह्मेति' आत्मा ही ब्रह्म हो जाता है। जो इस प्रकार के उत्तम अधिकारी को सम्यक् ज्ञान होने वाला कहा है वह अगले पाद से बताते हैं 'अपूर्वोऽबाह्योऽनपरः प्रणवोऽव्ययः'। यह अपूर्व है अर्थात् इसका कोई कारण नहीं है। वह जो परब्रह्म है उसका कोई कारण नहीं है। जब तक कार्य-कारण-भाव की दृष्टि है तब तक अपर ब्रह्म रूप से प्रणव है और जब पारमार्थिक दृष्टि बनी तो कार्य-कारण-भाव से रहित है। इसलिये कहा 'अपूर्वः न पूर्वं कारणमस्य विद्यत इत्यपूर्वः'। इसीलिये वह कैसा है? 'अनन्तरः' उसी का अर्थ कर दिया 'न अस्यान्तरं भिन्नजातीयं किंचिद्विद्यत इत्यनंतरः' इसके अन्दर इससे भिन्न जाति वाली कोई चीज़ नहीं। एक ब्रह्म को छोड़कर वहाँ और कुछ नहीं, इसलिये उसे अनन्तर कह दिया, अर्थात् सर्वविशेषशून्य है। ब्रह्म के अन्दर किसी प्रकार का विशेष नहीं जिनके कारण उसमें कोई भिन्नता आ सके। दिक् काल रूप भिन्नता भी वहाँ नहीं। यह नहीं कि ब्रह्म में यह दायाँ हिस्सा और यह बायाँ हिस्सा है या यह अगला रूप और यह पिछला रूप, ऐसा भी नहीं। उससे भिन्न जाति वाली कोई चीज़ नहीं इसलिये उसे अनन्तर कह दिया। वह अबाह्य है 'तथा बाह्यमन्यन्न विद्यत इत्यबाह्यः'। उसके अन्दर भले ही कुछ न हो बाहर तो कुछ होगा? कहते हैं उससे बाहर भी कुछ नहीं है।

अच्छा इसका कोई कारण नहीं है, न अन्दर कुछ है और न बाहर कुछ है, लेकिन यह किसी चीज़ को पैदा तो करता होगा? कहते हैं 'अनपरः अपरं कार्यमस्य न विद्यत इत्यनपरः' न यह किसी से पैदा होता है और न आगे किसी चीज़ को पैदा करता है। सर्वविशेष शून्य है और एकरस ही है। 'सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः सैन्धवघनवदित्यर्थः' अन्यत्र श्रुति में कहा है कि वह बाहर भी पूर्ण, अन्दर भी पूर्ण जन्मरहित किसी को पैदा नहीं करता। कैसा एकरस है? जैसे नमक की डली में सिवाय नमक के कुछ नहीं, वैसे ही

ब्रह्म में उसके सिवाय कुछ नहीं। उत्तम अधिकारी तो जो सर्वविशेषशून्य एकरस अपना प्रत्यगात्मा ब्रह्म है, उसको ठीक ऐसा समझ लेता है, और जो इसको करने में असमर्थ है वह फिर अपरब्रह्म का उसी रूप से ध्यान कर लेता है। अपरब्रह्म अर्थात् सारी सृष्टि को उत्पन्न करने वाला, स्थित रखने वाला शक्तिविशिष्ट शिव या मायाविशिष्ट ब्रह्म। लेकिन दोनों की प्राप्ति कराने वाला प्रणव ब्रह्म ही है।।२६।।

●

सर्वस्य प्रणवो ह्यादिर्मध्यमन्तस्तथैव च।
एवं हि प्रणवं ज्ञात्वा व्यश्नुते तदनन्तरम्।।२७।।

इस श्लोक में पर और अपर ब्रह्म का स्वरूप वर्णन किया। पर निर्गुण ब्रह्म, ज्ञेय ब्रह्म, ज्ञान का विषय; और अपर ब्रह्म सगुण ब्रह्म भक्ति योग का विषय। अपरब्रह्म मन्द मध्यम अधिकारी के लिये और परब्रह्म उत्तम अधिकारी के लिये है। एक ध्येय ब्रह्म और एक ज्ञेय ब्रह्म है लेकिन ये ब्रह्म दो हैं ऐसा नहीं समझ लेना। जैसे एक ही गुलाब के फूल को आँख से देखो तो लाल दीखता है और नाक से सूंघों तो खुशबूवाला दीखता है। खुशबू वाला गुलाब और रंग वाला गुलाब दो नहीं हैं, एक ही है। आँख और नाक रूप इन्द्रिय के भेद से दो तरह का दीखता है। ऐसे ही प्रेम की वृत्ति बनाकर परमात्मा को ग्रहण करते हैं तब वही ब्रह्म सगुण रूप से भान होता है, अन्तःकरण की एकाग्रता से उसको विषय करते हैं तो सगुण ब्रह्म का भान होता है।

क्यों? इसमें हेतु क्या? प्रमाण से ज़ो वृत्ति उत्पन्न होगी, वह प्रमा होगी; जो और किसी कारण से उत्पन्न होगी, वह प्रमा नहीं होगी। प्रमा मायने यथार्थ ज्ञान, जिसका कभी बाध नहीं होता, जो निश्चय कभी बदल नहीं सकता आँख से यदि हमने किसी चीज़ के रंग को ठीक प्रकाश में देख लिया तो हमें उसकी प्रमा हो जाती है। चीज़ को देखने में कई दोष होते हैं। रोशनी ठीक न हो तो भी रंग का ज्ञान ठीक नहीं होगा। हल्की रोशनी में भी निश्चय नहीं होता, पता तो लग जाता है कि लाल है, फिर भी संदेह बना रहता है क्योंकि कई तरह के लाल रंग होते हैं, मैरून लाल, रक्त लाल, गुलाबी आदि। मंद अन्धकार के अन्दर जहाँ प्रकाश पूरा न हो वहाँ निश्चय नहीं होता कि यह रंग कैसा है। काशी में हम लोग अपने कपड़ों को रंगते हैं तो दिन में भोजन के बाद दो तीन बजे रंगते हैं, अपने मठ में खुली जगह है। दिल्ली में रंगते हैं तो वहाँ लोगों ने एक बाथरूप बना रखा है, ऊपर नीचे बन्द, चारों तरफ दीवालें, उसमें बिजली की रोशनी होती है। इसलिये दिल्ली में रंग करते हैं तो कभी रंग हल्का हो जाता है क्योंकि बिजली के प्रकाश में देखते हैं और बिजली की वोल्टेज कभी डाउन और कभी हाई होती है। काशी जाते हैं तो कपड़े वहीं रंगवा लेते हैं क्योंकि दिल्ली में रंग ठीक नहीं होगा, यह जानते हैं। मन्द प्रकाश में रंग का ज्ञान ठीक नहीं हो सकता। इसलिये यह नहीं समझ लेना कि

रंगने वाले की भूल है, रंगने वाला वही महात्मा है। चीज बहुत दूर हो तब भी उसके रंग का ज्ञान नहीं होता और चीज़ अत्यंत पास हो तो भी नहीं होता। चीज़ बहुत दूर भी नहीं होनी चाहिये और बहुत पास भी नहीं होनी चाहिये, प्रकाश भी ठीक होना चाहिये, आँख में भी कोई दोष नहीं होना चाहिये। आँख में मोतियाबिन्द हो जायेगा तो भी पता नहीं चलेगा। इस प्रकार निर्दोष परिस्थिति में जो ज्ञान होगा वह यथार्थज्ञान होगा क्योंकि प्रमाणजन्य होगा। यदि प्रमा उत्पन्न हो गई तो फिर सारा संसार भी कह दे कि यह चीज़ ठीक नहीं तो आदमी के मन का विश्वास नहीं हटेगा।

विदेशों में एक बहुत बड़ा विद्वान् कापर्निकस हुआ है। उसने पृथ्वी के भ्रमण आदि के विषय में पहले पहल पता लगाया। पाश्चात्य देश हमेशा से स्वतंत्र विचारकों के विरोधी रहे हैं। उन्हीं की परम्परा में वर्तमान कम्युनिस्ट हैं और उन्हीं की परंपरा में हमारे यहाँ भी यह सोशलिज्म के नाम से चलने लगा है कि स्वतंत्र विचार मत करो। स्वतंत्र विचार का ठेका राजा लोग ले लेते हैं! वह राजा किसी समय पोप होता था और किसी समय प्रधानमंत्री बन जाते हैं। लेकिन उनका कहना यह है कि विचार में नहीं लगने देंगे। वे कहते हैं कि 'सिर्फ दाल रोटी खाओ सोचो मत' अर्थात् जैसे पशु को रखते हैं, वैसा रखना चाहते हैं। जैसे जो घोड़े वाला होंता है, उसके पास यदि कम भोजन हो तो भी वह पहले घोड़े को खिला देता है क्योंकि घोड़े से आगे कमाना हुआ। लेकिन घोड़ा कहे कि 'मेरे को खाना नहीं चाहिये, जहाँ मर्ज़ी वहाँ जाने दो', तो कहता है कि 'यह नहीं करने देंगे।' ठीक इसी प्रकार जो उस परम्परा को मानने वाले हैं वे मनुष्यों को भी वैसे ही रखते हैं। कहते हैं 'तुम्हें रोटी देंगे, कपड़ा देंगे तुम्हें कुछ चीजें देंगे, तुम्हें अच्छी तरह से रखेंगे। पहले से अच्छे रह रहे हो या नहीं? लेकिन यह दिमाग का काम, विचार, नहीं करना।' हमारी दशा घोड़े गधों जैसी बनी रहे, यही चाहते हैं। पहले यह काम पोप कर लेता था अब प्रधानमंत्री लोग कर लेते हैं।

कापर्निकस के साथ भी यही किया गया। उसे जेल में डाल दिया गया। उनका कहना था 'हम लोग जैसा मानते हैं तुम उससे भिन्न क्यों मानते हो?' वह अट्ठारह साल जेल में रहा। अन्त में आदमी दुःखी हो ही जाता है। उसने माफी माँग कर कह दिया कि हमने जितना आविष्कार किया सो सब गलत, तुम ही ठीक हो। उसके बारे में कहा जाता है कि पढ़ाते समय पढ़ाता तो वही बात था जो पोप ने कह रखी थी पर उसके बाद धीरे धीरे गुनगुनाता था 'लेकिन यह बात बिल्कुल झूठी है'। जो झूठी है, वह सच्ची कैसे हो जायेगी? डण्डे के जोर से मनवा चाहे लो। यह कराने वाली चीज़ प्रमा है। प्रमाणजन्य ज्ञान जब होता है तब सब लोग मिलकर भी किसी चीज़ को कह दें कि गलत है, तो भी प्रमा नहीं हिलती क्योंकि वह प्रमाणजन्य है। स्पष्ट उस चीज़ का अनुभव कर लिया है।

आत्मा की स्वतंत्रता को जिस व्यक्ति ने अनुभव कर लिया, संसार के विषय की असत्यता का जिस व्यक्ति ने अनुभव कर लिया उसको सारी दुनिया के लोग मिलकर

कहें कि 'हम सभी संसार को सत्य समझते हैं तो तुम भी समझ लो' तो वह मान नहीं सकता। लोग महात्माओं से कहते यही हैं कि 'कोई कोई ऐसा होता होगा जो संसार को असत्य समझता होगा, उनकी बात जाने दो, हमें तो संसार-सत्यत्व का ही प्रचार करने दो, नहीं तो लोग आलसी हो जायेंगे, देश की उन्नति नहीं होगी', अर्थात् लोग हमारे पशु नहीं बने रहेंगे। लेकिन जितना भी कोई कह दे जिसे प्रमाणजन्य ज्ञान हो गया, प्रमा उत्पन्न हो गई वह कभी भी हिल नहीं सकता। जानता है कि ये सब लोग कहते रहें, उससे कुछ फर्क नहीं पड़ना है, असत्य तो असत्य ही रहेगा। जिसे योग्य विषय का प्रमाणजन्य अपरोक्ष ज्ञान नहीं हुआ है उसे सच्ची बात किसी ने कही कि 'इस चीज़ का रंग अमुक है,' तो भी निश्चय नहीं होगा। पक्का आप्तपुरुष, विश्वासी आदमी ने कहा, लेकिन रंग की हमको अपरोक्ष प्रमा नहीं हुई, क्योंकि रंग की अपरोक्ष प्रमा तो चक्षु से होनी है। लाल रंग है यह बात उसने कही यह तो ठीक है और आप्त-कथित होने से हमारा ज्ञान भी झूठा नहीं है लेकिन योग्यविषयक अपरोक्ष न होने से वह प्रमा पक्की नहीं होगी। यदि कालान्तर में किसी दूसरे विश्वासी आदमी ने कह दिया कि 'उसका रंग तो बैंगनी होता है', तो फिर हिल जाओगे। एक ने कहा था लाल और दूसरे ने कहा बैंगनी तो समन्वयवाद करोगे कि गहरा लाल रहा होगा तभी ये बैंगनी कह रहे हैं। कुछ बात तो दोनों की ठीक होगी क्योंकि दोनों विश्वासी आदमी हैं। यदि अपनी आँख से देख लिया तो कहोगे कि 'आप विद्वान् हो, लेकिन वह फूल आपने नहीं देखा, हमने देखा है।'

ठीक इसी प्रकार जो ज्ञान प्रमाणजन्य नहीं होता, ध्यानजन्य या प्रेमजन्य होता है वहा प्रमा तो है नहीं चाहे वह सच्ची ही बात है उसे मानकर हम चले हैं, उसके बारे में वह दृढता नहीं आती जो प्रमा में होती है। इसीलिये ध्यानी को या भक्त को यावज्जीवन सावधान रहना पड़ता है क्योंकि किसी कुसंगी के साथ हो गये तो मन फिर इधर उधर हो जायेगा। देखते हैं कि बड़े बड़े विचारकों में भी ऐसा होता है कि कालान्तर में दूसरा आदमी कोई दूसरी बात कह देता है तो भ्रम में पड़ जाते हैं, समन्वयवाद में चले जाते हैं कि कुछ इसका ले लो और कुछ उसका ले लो क्योंकि दोनों महापुरुष हुए। यह इसलिये कि उनका अपना अनुभव है नहीं। यद्यपि सगुण ब्रह्म और निर्गुण ब्रह्म दो नहीं, एक ही है लेकिन ध्येयाकार वृत्ति या प्रेमाकार वृत्ति जो बनती है वह किसी दूसरे की कही हुई बात से बनती है, इसलिये वह प्रमा नहीं हो पाती। प्रमा न होने के कारण ही वह भ्रम को नष्ट नहीं कर पाती, दबा तो देगी। और जब प्रमा हो जाती है, यथार्थ ज्ञान हो जाता है, तब उसमें दृढता हो जाती है। इसलिये यद्यपि सगुण और निर्गुण ब्रह्म एक ही है जैसे गुलाब का फूल एक ही है, लेकिन किसी के कहने से यदि लाली का ज्ञान होता है तो वह अपरोक्ष प्रमा नहीं और स्वयं अपने प्रमाण से ज्ञान होता है तो वह अपरोक्ष प्रमा है। इतना ही फर्क ध्यान के द्वारा ब्रह्मप्राप्ति में और ज्ञान के द्वारा ब्रह्मप्राप्ति में रहता है।

ब्रह्मदर्शन जिस काल में होता है उस समय ध्यानी में और ज्ञानी में कोई फर्क नहीं है। 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' यह पतंजलि का योगसूत्र है। तदा अर्थात् समाधि काल के अन्दर तो द्रष्टा की स्वरूप-स्थिति ही है। इसलिये समाधिकाल में जैसे ध्यानी, वैसे ही ज्ञानी, दोनों में कोई फर्क नहीं है। दोनों का अनुभव एक ही है। लेकिन व्यवहार-काल में ज्ञानी के पैर कभी हिलेंगे नहीं और ध्यानी के हिल जायेंगे क्योंकि प्रमा से उसका अज्ञान हटा नहीं है। ज्ञानी का निश्चय है माया के त्रैकालिक अत्यंताभाव का। ध्यानी का अनुभव है कि अन्तःकरण की वृत्ति रोकने पर माया नहीं है; वृत्तिकाल में माया नहीं है— यह उसका निश्चय नहीं है। ज्ञानी का निश्चय है कि जिस समय अन्तःकरण वृत्ति बना रहा है, उसी काल में नहीं है। समाधिकाल में दोनों का एक अनुभव है लेकिन व्यवहारकाल में भेद आ जाता है। इसीलिये विद्यारण्य स्वामी स्पष्ट कहते हैं कि ज्ञानी यदि अच्छी तरह से एक राज्य भी चला ले तो उसे कोई फर्क नहीं पड़ता क्योंकि उसमें भी उसका ज्ञान कभी हटने वाला नहीं है। ध्यानी यह नहीं कर सकता क्योंकि ध्यानी को जहाँ व्यवहार ज्यादा होने लगा, उसको विक्षेप हो जाता है। संसार में सत्यत्व बुद्धि होने से इधर उधर की बातें उसे विक्षिप्त कर देती हैं। ज्ञानी जानता है कि वृत्तिशून्य और वृत्ति वाली अवस्था, दोनों उस आत्मा में कल्पित हैं, न वह अच्छी है और न यह बुरी। बस यही दोनों में फर्क रहता है। इस प्रकार मंद और मध्यम अधिकारियों के लिये ध्येय ओंकार के द्वारा उस ब्रह्म की दृष्टि बता दी और उत्तम अधिकारी के लिये प्रमादृष्टि बता दी।

साधक चाहे ध्यान मार्ग से आया हो, चाहे ज्ञानमार्ग से, चाहे भक्ति मार्ग से, मंद मध्यम और उत्तम किसी भी अधिकारीके लिये प्रणज का सहारा है। ओंकार की प्रत्यगात्मता को जिसने प्राप्त कर लिया अर्थात् अकार उकार मकार तीनों जिस प्रकार ओंकार में कल्पित हैं वैसे ही जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति उस आत्मा में कल्पित हैं, इस प्रकार जिसने ओंकार के साथ अपनी प्रत्यगात्मा की एकता का अनुभव कर लिया, वह फिर इस बात को स्पष्ट देखता है कि 'सर्वस्य आदिः प्रणवः सर्वस्य मध्यं प्रणवः और सर्वस्य अंतः प्रणवः।' आदि मायने सृष्टि, मध्य— स्थिति और अंत— प्रलय। सृष्टि, स्थिति, प्रलय, सब प्रणवरूप ही हैं क्योंकि ओंकार के अन्दर ही अकार उकार मकार उठते हैं, नष्ट होते हैं और स्थित होते हैं। ओंकार में ही सब एक हो जाते हैं।

इसी प्रकार जो शुद्ध चेतन है उस शुद्ध चेतन के अन्दर ही सारे जगत् के ज्ञान उत्पन्न होते हैं। जाग्रत् काल में घड़ा, कपड़ा, लड्डू, पेड़ा आदि के रूप में ज्ञान ही आता है, बिना ज्ञान के कहीं घड़ा, कपड़ा आदि नहीं रहते हैं। घड़े का ज्ञान होगा तभी घड़ा होगा। ज्ञान ही घड़ा, कपड़ा आदि सब रूपों में जाग्रत् काल में आता है। स्वप्न में वही ज्ञान वासनारूप से, कामनारूप से आता है। वहाँ भी ज्ञान ही है। सुषुप्ति के अन्दर कुछ नहीं के ज्ञान के रूप में आता है। वहाँ भी तो ज्ञान ही है। इसकी ज्ञानरूपता कभी हटती नहीं। कभी बाहर की चीज़ों को जाना, कभी अंदर की चीज़ों को जाना, कभी

दोनों के अभाव को जान लिया। जैसे मिट्टी से बने हुए सारे बर्तनों को मिट्टी-रूप मानते हो, सोने से बने हुए सारे गहनों को स्वर्ण-रूप मानते हो, उसी प्रकार ज्ञान से इन सब चीज़ों की प्रतीति होती है तो ये सब चीज़ें ज्ञान से ही उत्पन्न होती हैं, जब तक ज्ञान है तब तक रहती हैं और जब ज्ञानहीन हो जाते हैं तब नहीं रहती हैं। लड़का मर गया, इसका मतलब है कि लड़के का अब अनुभव नहीं हो रहा है; और कुछ नहीं होता है। जो लड़का शरीर में हिलता डुलता था वह अब नज़र नहीं आ रहा है। लड़का मर गया का कुछ और मतलब नहीं है। महाभारत में भगवान् वेदव्यास कहते हैं 'अदर्शनादापतितः पुनश्चादर्शनं गतः' बेटा अदर्शन से पैदा हुआ अर्थात् पहले दीखता नहीं था, अब वह दीखने लग गया तो कहते हो पैदा हो गया। उसका ज्ञान ही तो हुआ। 'पुनश्चादर्शनं गतः' पहले उसका ज्ञान हो रहा था, अब उसका ज्ञान नहीं हो रहा है, इसी का नाम अदर्शन है अर्थात् मर गया। व्यवहार में भी इसीलिये यदि कोई बच्चा बारह साल तक या पति बारह साल तक नज़र न आये तो कुशा की पुत्तलिका बनाकर अंत्येष्टि कर लेते हैं, मान लेते हैं कि मर गया। यह भी बताता है कि ज्ञानमात्र से ही पदार्थों की सिद्धि है। ज्ञान से ही जगत् की आदिता, ज्ञान में ही जगत् की स्थिति और अंत में ज्ञान में ही जगत् का लय है।

'एवं हि प्रणवं ज्ञात्वा' इस प्रकार जो प्रणव को आत्मरूप समझ लेता है तो उसी क्षण 'व्यश्नुते तदनंतरम्' अपने व्यापकभाव में स्थित हो जाता है। व्यापकभाव ज्ञानभाव हुआ। जैसे ही हमने गहने इत्यादि को हटाकर स्वर्ण को समझा वैसे ही हमने स्वर्ण की सब चीज़ों में व्याप्त स्वर्ण है यह जान लिया। सोने को जब कसौटी पर कसकर पहचानना सीख लिया तो ऐसा नहीं की जंजीर पहचानना आता है और कड़ा, तेड़िया आदि को देखकर कहें कि यह नहीं पहचान सकते कि क्या है। जब तक कड़ा, करधनी, तेड़िया दीखता रहेगा तब तक सोने की पहचान नहीं हुई। लेकिन सोने को कसौटी पर कसकर उसकी पहचान सीख ली तो हरेक गहने के दाम लगा लेंगे। इसी प्रकार जब तक उस ज्ञान की स्थिति नहीं हुई तब तक जो लगता था कि ये पदार्थ न्यारे न्यारे हैं, कहाँ तक हरेक को जानेंगे, जहाँ उस ज्ञान को पकड़ लिया वहाँ संसार के यावत् पदार्थों की ज्ञानरूपता का पता लग जायेगा। इस प्रकार व्यापकभाव की प्राप्ति हो जाती है।

यही तो बंधन है कि जो व्यापक ज्ञान है, उसको कौड़ी जितनी आँख के अधीन या दो छोटी नली रूप नाक के अधीन समझ रखा है। देह के अन्दर अभिमान से हमने मान लिया कि इनके द्वारा ज्ञान होगा। और कुछ बंधन नहीं है। हनुमान् की कहानी आती है कि हनुमान् जी में ताकत तो बहुत थी लेकिन उन्हें शाप यह लगा हुआ था कि जब तक कोई याद न दिलाये, तब तक उन्हें पता नहीं लगता था कि हम यह कर सकते हैं या नहीं। जिस समय लंका जाने का प्रसंग आया उस समय सब ने कहा कि 'मैं यह कर सकता हूँ, मैं यह कर सकता हूँ, लेकिन कोई यह नहीं कह सका कि 'मैं जाकर

वहाँ से वापिस आ जाऊँगा।' हनुमान् जी चुपचाप बैठे थे। जब उनसे किसी ने कहा कि 'तुम क्यों नहीं बोलते; तुम इतने बलवान् हो, पवनपुत्र हो, जहाँ चाहो वहाँ जा सकते हो, मनोजव हो अर्थात् मन की गति से चलने वाले हो?' बस जैसे ही यह याद दिलाया, उन्हें याद आ गया और याद आते ही खड़े हो गये कि 'मैं क्या करूँ, कहो तो मैं सीता को यहाँ उठा लाऊँ, रावण को मार आऊँ?' जब तक याद नहीं दिलाया तब तक समझ रहे थे कि 'मैं बंदर क्या कर सकता हूँ।'

ठीक इसी प्रकार से तुम हो। तुम्हारा भी वही स्वरूप है। हो तो तुम कण कण और क्षण क्षण में व्यापक, क्योंकि ज्ञान तुम्हारा स्वरूप है। कोई कण और क्षण ऐसा नहीं जहाँ तुम व्यापक नहीं, सब जगह तुम ही व्यापक हो। लेकिन चुपचाप शरीर में बैठे हुए हो। 'क्या करें आँख के बिना देख नहीं सकते, कान के बिना सुन नहीं सकते' यह मानकर शरीर में बैठे हो। जब शास्त्र तुमको बताता है कि 'अरे तुम तो ब्रह्मस्वरूप हो! कण कण और क्षण क्षण में ज्ञान के सिवाय और क्या है और ज्ञान ही तुम्हारा स्वरूप है।' तब आदमी झट जग जाता है। सबसे बड़ा बंधन यह है कि तुमने अपने को शरीर में मान रखा है, देह में अध्यास कर रखा है। श्रीमद्भागवत में कहा कि एक ही ज्ञान परब्रह्म रूप है और वह ज्ञान निर्गुण है। लेकिन 'अवभात्यर्थरूपेण भ्रान्त्या' इन्द्रियों के द्वारा उसको ग्रहण करने जाते हैं तो रूप, रस, गंध, शब्द स्पर्श पकड़ में आते हैं। जो चीज़ वहाँ है वह पकड़ में नहीं आती। वहाँ जो चीज़ है, उसका ग्रहण नहीं हो रहा है।

अनादि काल से संसार में लोग यह निर्णय करने में लगे हुए हैं कि जो दीख रहा है वह क्या है? रूप, रस आदि तो सबको ही दीख रहे हैं। कुछ कहते हैं कि वहाँ परमाणु हैं। हमारे यहाँ कणाद महर्षि ने यह कहा। पाश्चात्य देशों के अन्दर भी इसी बात को मानने वाले अनेक लोग हुए। वर्तमान् काल में रसायन शास्त्र यही मानता है। वे कहते हैं कि वहाँ हैं तो परमाणु लेकिन दीखते पदार्थ हैं। दूसरे सांख्यवादी हैं जो कपिल मत वाले हैं। वे कहते हैं कि परमाणु नहीं हैं, वहाँ तो प्रकृति है और वह प्रकृति ही परिणाम को प्राप्त करके संसार के पदार्थों के रूप में दीख रही है। प्रकृति का परिणाम जगत् है। वर्तमान् काल में ऐस्ट्रोफिज़िसिस्ट और माडर्न फिज़िसिस्ट यही मानते हैं कि एक ही ऐनर्जी मैटर रूप में बनकर भान होती है। सांख्यवादी भी प्रकृति को त्रिगुणात्मिका मानते हैं और इनकी ऐनर्जी भी त्रिगुणात्मक ही है। इनके यहाँ भी तीन चीज़ें हैं— पोटेंशियल ऐनर्जी (स्थितिज ऊर्जा), काइनैटिक ऐनर्जी (गतिज ऊर्जा) और ऐनर्जी बिल्कुल आइडैंटिकल होने से उसका फ्लो (बहाव) बन्द होना। पोटेंशियल ऐनर्जी को तमोगुण, काइनैटिक ऐनर्जी को रजोगुण कहते हैं और जब ऐनर्जी के दो बिन्दु सर्वथा एक स्तर पर आ जाते हैं तब उनमें किसी प्रकार की गति सम्भव नहीं, इसी को सत्त्वगुण कहते हैं। चीज़ एक ही है। कुछ मानते हैं कि यह सारा संसार हमें हमारे कर्मों के फल से दीखता है। मीमांसा शास्त्र यही मानता है कि हमारे किये हुए कर्म ही हमारे सामने आ रहे हैं, अदृष्ट को कारण मानते

हैं। वर्तमान काल में भी अनेक विचारक ऐसा ही मानते हैं। बहुत कुछ इस अदृष्टवाद को कम्युनिस्ट लोग मानते हैं और उनके आचार्य मार्क्स ने इसे 'ऐतिहासिक भवितव्य' कहा है। हम ईश्वर की इच्छा कहते हैं, ईश्वर का नाम इन्होंने इतिहास रख लिया। हम कहते हैं ईश्वर ने संकल्प किया, और ये कहते हैं कि इतिहास ने निर्धारण किया। बात एक ही है।

वेदांत कहता है कि ये सब चीज़ें ठीक नहीं क्योंकि ये सब चीज़ें बिना अनुभव के हैं। ये सब बिना अनुभव के बोल रहे हैं। वेदांती कहता है वहाँ तो ब्रह्म है। है वहाँ ब्रह्म ही अर्थात् ज्ञान ही है। परमाणुवादी से पूछो 'परमाणु का तुमको ज्ञान हुआ?' वह कहता है— 'हुआ।' जब बिना ज्ञान के परमाणु की सिद्धि नहीं तो परमाणु ज्ञानरूप ही हुआ। प्रकृतिवादी को वेदांती कहता है कि 'प्रकृति और तीन गुणों का तुम्हें ज्ञान है? बिना ज्ञान के ये भी सिद्ध नहीं होंगे।' वह कहता है, 'हाँ, जानते हैं।' तो ज्ञान ही मानो। मीमांसक से पूछे, 'यह बताओ कि कर्म के अनुसार फल आया तो 'कर्म के अनुसार फल' इसका ज्ञान है?' यदि न होता तो ज्योतिष्टोम और दर्शपौर्णमास क्यों करते? इसलिये ज्ञान ही तद्रूप में दीख रहा है। वेदांती कहता है कि अपने अनुभव को देखो तो सारे झगड़े मिट जायेंगे। असली कारण ज्ञान है। उस ज्ञान से किसी प्रकार तुम उसकी व्याख्या करो : परमाणु के द्वारा, गुणों के द्वारा, कर्मों के द्वारा। किसी भी प्रकार उसकी व्याख्या करो। वेदांती का कोई झगड़ा नहीं, तुम्हारी मर्ज़ी वैसी व्याख्या करो। वेदांती तो इतना ही बताना चाहता है कि बिना ज्ञान के कुछ भी नहीं। अंतिम पदार्थ ज्ञान है और 'विज्ञानम् आनन्दं ब्रह्म' ज्ञान ही ब्रह्म का स्वरूप है।

इसी दृष्टि से अनेक जगह शास्त्रों में कहा है 'एकं वेदांतविज्ञानं स्वानुभूत्या विराजते' वेदांत तो अनुभव को पकड़ता है, उसे देखना है। बिना ज्ञान के किसी चीज़ की सिद्धि नहीं। जब वही ज्ञान आँख के द्वारा देखा गया तो रूपाकार, कान के द्वारा सुना गया तो शब्दाकार बन गया। ज्ञानरूपता तुम्हारा अपना स्वरूप है। क्योंकि एक क्षण भी तुम बिना ज्ञान के नहीं रह सकते। तुम्हारी ज्ञानस्वरूपता प्रतिक्षण है। चीज़ें होती हैं तो उसे जानते हो और नहीं होती हैं तो उसे भी जानते हो। पेटी में गहने पड़े हैं तो तुम जानते हो और चोरी होने के बाद चले गये, तो भी तुम ही जानते हो। सन् ४७ में स्वतंत्रता मिली तब किसने जाना कि मिली? हमने जाना मिली। और अब जब स्वतंत्रता चली गई, देखते देखते हाथ में आकर निकल गई तो भी अपने ही जान रहे हैं, दूसरा कौन जान रहा है? कोई गोरी चमड़ी वाला राजगद्दी पर बैठे तभी स्वतंत्रता जाये, ऐसा नहीं है। आचार-विचार, धर्म-संस्कृति, भाषा-विज्ञान-कला-संगीत, समाज, रीति-रिवाज़, सभी में जब दूसरे के अनुसार चलना है तो तुम परतंत्र हो हो। अब तो व्यापार में भी परतंत्रता आ गयी, यहाँ की अर्थनीति का निर्धारण हम नहीं कर सकते, बाहर वाले जैसा कहें वैसा करना पड़ेगा। अतः मिली हुई स्वतंत्रता निकल गयी यह कोई अतिशयोक्ति

नहीं है। इसलिये ज्ञानस्वरूपता कभी खण्डित नहीं होती, एक जैसी बनी हुई है। यह जो एक अखण्डरूप ज्ञान है, इसको जब पकड़ता है तब वह इन्द्रियों के अधीन नहीं रहता। यही उसकी व्यापकता है।

भगवान् भाष्यकार कहते हैं 'आदिमध्यान्ता उत्पत्तिस्थितिप्रलयाः' आदि, मध्य और अंत तीनों को उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय समझ लो। आदि से उत्पत्ति, मध्य से स्थिति और अंत से लीन अवस्था बताई। उसी को दृष्टांत से समझाते हैं 'सर्वस्यैव मायाहस्तिरज्जुसर्पमृगतृष्णिकास्वप्नादिवदुत्पद्यमानस्य वियदादिप्रपंचस्य यथा मायाव्यादयः।' ऊपर कहे हुए विशेषणों के द्वारा प्रणव को जब अपने प्रत्यगात्मा रूप से जानकर कृतकृत्यता हो गई, जो कुछ करना था वह कर लिया, तब कैसा लगता है? सब दृश्य उत्पद्यमान है। उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, तीनों उत्पद्यमान हैं। जैसा अभी बताया कि सन् ४७ में स्वतंत्रता उत्पन्न हुई, कुछ सालों तक बनी रही, स्थिति रही और नष्ट हो गई तो प्रलयकाल हो गया। जितनी भी चीज़ें उत्पन्न होंगी वे हमेशा इसी प्रकार से रहेंगी। कोई यह कहे कि हमको कोई चीज़ मिल गई तो वह हमेशा हमारी बनी रहेगी, सो होना नहीं है। निरंतर परिश्रम करेंगे तो बनी रहेगी, नहीं तो बनी नहीं रहनी है। किसी समय ब्राह्मण को देखकर बड़े से बड़ा आदमी मस्तक झुकाता था। क्यों? पिता संहिता पाठी होता था तो पुत्र संहितापाठी और पदपाठी निकलता था। पिता संहितापाठी और पदपाठी होता था तो पुत्र सोचता था कि मैं जटापाठी और क्रमपाठी बनूँ, ध्वजपाठी बनूँ। तब ब्राह्मण को देखकर लोग सिर झुकाते थे कि ब्राह्मणत्व को बनाये रखे हुए हैं। बाद में केवल बाप-दादों के नाम पर 'उनके कुल के हैं', इतने से ही थोड़े दिन इज़्ज़त चलती रही। एक दो पीढ़ी वैसे चला लेकिन ऐसे चलता थोड़े ही है। कोई कहे कि हमारे कुटुम्ब में ब्राह्मणत्व आ गया तो हमेशा बना रहेगा, तो वह नहीं बना रहने वाला है। हर पीढ़ी परिश्रम करके बनाये रखेगी तो रहेगा। हर उत्पद्यमान की स्थिति ही यह है। इसी प्रकार कुछ लोगों ने समझ लिया कि स्वतंत्रता आ गई तो आ गई, अब बनी ही रहेगी। उसको बनाये रखने के लिये परिश्रम नहीं किया तो प्रलय हो गई अर्थात् नष्ट हो गई।

कैसे उत्पन्न होता है, स्थित होता है, लय होता है? बता दिया 'मायाहस्ति-रज्जुसर्पमृगतृष्णिकास्वप्नादिवत्' जैसे मायावी अपनी माया से हाथी दिखा देता है। हाथी उत्पन्न हो गया। मायावी जब तक चाहता है दिखाता है और जब चाहता है लीन कर लेता है। इसी प्रकार यह जगत् माया रूप होने के कारण ईश्वर जब चाहे सृष्टि कर लेता है, स्थिति करता है और फिर जब चाहे लीन कर लेता है। ऐसा नहीं हो सकता कि मायाहस्ति मायावी के सो जाने पर भी दीखता रहे! माया का प्रयोग तो मायावी करता है इसलिये निरंतर जागृति रखने से ही पदार्थों की रक्षा होती है, सो जाने से रक्षा नहीं होती। कुछ वर्ष पूर्व हम बीकानेर में थे। वहाँ संहिता पाठ करवाने की इच्छा हुई। बड़ी मुश्किल से १५ संहितापाठी ब्राह्मण मिले, उनमें से भी कईयों को पूरा कंठ नहीं, कहा

'किताब रखकर करेंगे।' हमने कहा 'किताब रख लेना, कोई बात नहीं।' कई जगह जहाँ मंत्र की पुनरावृत्ति होती है, वह किताब में नहीं लिखी होती, केवल इतना लिखकर छोड़ देते हैं 'मनोज्योतिरिति षट्' अर्थात् छह मंत्र बोलने हैं। पाठ करते हुए ब्राह्मणों ने भी वैसे ही बोल दिया 'मनोज्योतिरिति षट्' हमने बाद में उन लोगों से पूछा— 'पंडित जी पुनरावृत्ति न करके यह क्या किया?' कहने लगे 'स्वामी जी पंद्रह साल पहले पढ़ा था, तब से आज तक किसी ने संहिता पाठ तो कराया नहीं।' हमने कहा 'लोगों ने नहीं कराया तो अपने आत्मकल्याण के लिये तो करते रहते।' चाहे जितनी विद्या पढ़ लो, उसका प्रयोग नहीं किया तो थोड़े काल में हाथ से निकल जायेगी। जैसे मायाहस्ति तब तक रहेगा, जब तक मायावी जागता रहेगा। वैसे ही सारे पदार्थ तब तक रहेंगे जब तक उनके प्रति जागरूक रहोगे। जिस चीज़ के प्रति जागरूक नहीं रहोगे, समझोगे कि 'इसमें क्या रखा है, क्या कमी-बेशी आनी है', वह चीज़ निकल जायेगी।

सम्भवतः सन् ३३-३४ की बात है यहाँ वुडाल्फ जोन्स नाम का एक अमेरिकन आया था। उसने गाँधी जी से एक प्रश्न किया था। सन् ३२ में अमरीका में पूर्ण शराबबंदी का कानून बनाया गया। सारे देश में शराब बंदी पूरी तरह से लागू हो गई। लेकिन पूरी शराब बंदी होने पर भी लोग छिपकर पी रहे थे। आठ साल बंदी रही, फिर खोलनी पड़ी। उसने आकर गाँधी से यह बात पूछी कि 'हमारे देश में हम लोगों ने इतनी तैयारी करके पूर्ण शराबबंदी की लेकिन हम लोग असफल हो रहे हैं। क्या आप समझते हैं कि हिन्दुस्तान में जब कि इतनी पुलिस वगैरा नहीं, शराबबंदी हो सकती है?' गाँधी जी ने एक बात कही— 'देखो, हमारे यहाँ शराबबंदी सफल हो जायेगी। तुम्हारे यहाँ बाप और बेटा, पति और पत्नी बैठकर चौराहे पर पीते हैं। उन्हें अंदर अन्तरात्मा धिक्कारती नहीं कि यह अच्छी चीज़ नहीं है। लेकिन हमारे यहाँ लड़का बाप से छिपकर, पति पत्नी से छिपकर पीता है। सबके मन में यह बैठा हुआ है कि है तो यह दुष्कर्म ही। कानून बन जायेगा तो दुष्कर्म में रुकावट आने लगेगी। इसलिये हमारे यहाँ यह सफल हो जायेगी।' उन्होंने माना था कि जो चीज़ राष्ट्र की अंतरात्मा में जमी हुई है कि बुरी है, जब कानून बनेगा तो उसकी रुकावट में हम सफल होंगे। हमने स्वतंत्रता के बाद इस कीमत को भुला दिया। इसलिये सबको जमा दिया कि शराब पीने में कोई बुराई नहीं है, यह तो प्रगति का चिह्न है। अब जब हमारे अंतःकरण से वह बात ही निकल गई कि शराब पीना बुरी चीज़ है, तो अब कहते हैं कि शराबबंदी सफल नहीं हो रही है, बूट लैगिंग होती है। लड़के को पहले बिगड़ने का मौका दो, सिखाने के समय न सिखाओ, थप्पड़ मारने के समय न मारो, अब बिगड़ गया तो कहते हो कि हाथ से निकल गया! हमने निकल जाने दिया, वह निकला थोड़े ही। इसलिये अब बाप को बेटे के सामने पीने में शर्म नहीं। दिल्ली में ऐसे लोग हैं जो छह महीने या दो साल के बच्चे के सामने बैठकर लोगों को कहते हैं कि देखो कैसी बढ़िया शराब पीता है और सब हो हो करके

हँसते हैं। फिर कहते हैं कि हम चाहते हैं कि शराब बंदी हो जाये। ११ सूत्री या १२ सूत्री फार्मूला निकल गया है, निकालने वाले वही जो अपने लड़कों को बैठकर पिलाते हैं। फिर कहते हैं कि 'लोग नहीं मानते, हम क्या करें?'

मायाहस्ति के दृष्टांत से बता रहे हैं कि यह संसार माया स्वरूप है। जिन अर्हाओं के प्रति, जिन मूल्यों के प्रति, जिन नैतिक चरित्रों के प्रति तुम मायावी की तरह जाग्रत् बने रहोगे वे मूल्य तो बने रहेंगे और जिनके प्रति सोच लोगे कि हमें ध्यान देने की ज़रूरत नहीं है तो जैसे मायावी के लुप्त हो जाने पर मायाहस्ति भी लुप्त हो जाता है, वैसे वे भी समाप्त हो जायेंगे। चाहे अच्छी से अच्छी और बुरी से बुरी चीज़ हो, सर्वत्र यही नियम है।

दूसरा दृष्टांत रज्जुसर्प का दिया। मायाहस्ति और रज्जुसर्प के दृष्टांत में थोड़ा सा फ़र्क है। मायावी जानबूझकर माया को रखता है। ऐसे रस्सी जानबूझकर सर्प नहीं रखती। कुछ भावनायें या अर्हायें ऐसी होती हैं जिन्हें जागरूक होकर रखा जाता है, और कुछ रज्जुसर्पवत् अर्थात् जब तक अविद्या है, तब तक रहेंगी, चाहे तुम उनके लिये प्रयत्न करो, चाहे न करो। जैसे भूख प्यास इत्यादि। यह नहीं कि भूख प्यास के प्रति जागरूक रहो तो लगेगी, नहीं तो नहीं। जब तक तुम्हारे अंदर अविद्या है, तब तक तुम्हारे प्रयत्न के बिना ही वे बनी रहेंगी। रज्जुसर्प के दृष्टांत के द्वारा उन चीज़ों को बताया जो तुम्हारे ऊपर निर्भर नहीं करती हैं बल्कि जब तक अविद्या है, तब तक जिनका अनुवर्तन स्वाभाविक रूप से रहेगा ही। उनके प्रति ज्यादा विचार करना बेकार हो जाता है। लोग करते यही हैं, जो न सोचने की चीज़ है, वह सोचेंगे और जो सोचने की चीज़ें हैं उनके बारे में कहेंगे कि 'ये बेकार हैं।' जो न सोचने की चीज़ें रज्जुसर्पवत् हमेशा बनी रहनी हैं, कहते हैं 'इनके बारे में क्या करे?' उनके बारे में कर क्या सकते हो?'

तीसरा दृष्टांत मृगतृष्णिका का दिया। रज्जुसर्प भय को बताता है। मृगी का जल राग को बताता है, आकर्षण को बताता है। इसलिये रज्जुसर्प के द्वारा बताया कि अनेक पदार्थ मिथ्या भ्रान्ति से हममें द्वेष उत्पन्न करते हैं, निवृत्ति उत्पन्न करते हैं, उनसे भागते हो। वह भागना बेकार है क्योंकि वह तो उन पदार्थों का स्वरूप है। भूख प्यास न लगे, सर्दी गर्मी न लगे, ऐसा हो जाये तो काम बन जाये— बहुत से लोग ऐसा प्रयत्न करते रहते हैं लेकिन इनसे भागना बेकार है। ऐसे ही मृगतृष्णिका के द्वारा आकर्षण बताया। उसमें भी तुम्हारी स्वतंत्रता नहीं है। बढ़िया गुलाबजामुन दीखेगा तो आकर्षण होगा कि खा लो और गंदी चीज़ अण्डा दीखेगा तो मन में घृणा होगी कि कहाँ आकर बैठ गये। देखने में तो बड़े भले आदमी दिखाई देते हैं लेकिन खाने के समय अण्डा लेकर बैठ जाते हैं। अब क्या करोगे? रेल इत्यादि के सफर में ऐसा अनुभव होता है। वहाँ यह तो लिखा हुआ भी है कि कोई सिगरेट पिये तो मना कर सकते हो लेकिन यह नहीं लिखा हुआ कि अण्डा मत खाओ। जब कभी अपने साथ परांवठे अचार रखकर चलते हैं तो

जैसे ही खोलने का समय आया, सामने वाला अण्डे वगैरा रखकर बैठ जाता है। ऐसे ही मृगतृष्णिका आकर्षण को बताती है। जैसे हिरन तृष्णा के द्वारा उधर जाता है उसी प्रकार जीव भी तृष्णाओं के द्वारा संसार के पदार्थों में आकृष्ट होता रहता है। अंतिम दृष्टांत स्वप्न का दिया। स्वप्न का दृष्टांत वासनाओं को बताता है, वहाँ केवल वासनाओं का भोग है। मायाहस्तिसे बताया कि जो नैतिक अर्हायें (values) या मूल्य हैं उनके प्रति जागरूक रहोगे तब वे अर्हायें रहेंगी। रज्जुसर्प के द्वारा बताया कि जो दुःख की चीज़ें हैं उनसे निवृत्ति स्वाभाविक है। मृगतृष्णिका के द्वारा बताया कि सुख-बुद्धि वाली चीज़ों की तरफ आकर्षण स्वाभाविक है। इनके प्रति किसी प्रयत्न या जागरूकता की ज़रूरत नहीं। वे तो जैसे-तैसे आयेंगे ही।

स्वप्न के द्वारा जो केवल मानसिक भोग हैं उनके बारे में बताया। मानसिक भोग जैसे यह मेरा पुत्र, यह मेरी पुत्री। सम्बन्ध इत्यादि सब कहाँ रहते हैं? केवल तुम्हारे मन में रहते हैं। अपने यहाँ एक मामा होता है, एक ताया होता है, एक चाचा होता है; ये तीन अलग अलग होते हैं। अंग्रेज़ों के यहाँ ये नहीं होते, उनके यहाँ एक अंकल (Uncle) होता है; मामा, चाचा, ताया सबका काम एक में ही निकल जाता है। क्या उनका व्यवहार नहीं चलता? उनका भी चलता है। अपना भी व्यवहार चलता है। ये चीज़ें स्वप्न की तरह हैं। ये केवल मनःकल्पित हैं, बाहर पदार्थों में नहीं हैं। अपने यहाँ जो मामा की लड़की या चाचा की लड़की होती है तो उसमें बहन की बुद्धि हो जाती है। विदेशियों को यह बुद्धि नहीं होती। वे उससे ब्याह कर लेते हैं, उन्हें उसमें कोई रुकावट महसूस नहीं होती। यह सब वासनामय है। जैसे जैसे मनुष्य के संस्कार पड़े होते हैं तदनुकूल इनकी प्रतीति होती है जिसको आजकल के लोग सब्जैक्टिव (subjective) कहते हैं।

ये सब भिन्न भिन्न दृष्टांत दिये लेकिन इन सबमें समानता यह है कि ये सब उत्पद्यमान हैं, उत्पन्न होते हैं। ये स्थित रहते हैं तो आगे राग उत्पन्न होता है या मानसिक वासना उत्पन्न होती है। अंत में ये लीन हो जाते हैं। लेकिन ये सारे के सारे ज्ञानरूप ही हैं। 'ज्ञानरूपं न व्यभिचरति' उनका ज्ञानरूप कभी परिवर्तित नहीं होता, वह एक जैसा ही है।

'वियदादिप्रपञ्चस्य यथा मायाव्यादयः' आकाश आदि जितने प्रपंच हैं, उनके उत्पत्ति आदि तीनों ज्ञानरूप परमात्मा ही है जैसे माया आदि के उत्पत्ति आदि मायावी आदि हैं। 'एवं हि प्रणवमात्मानं मायाव्यादिस्थानीयं ज्ञात्वा तत्क्षणादेव तदात्मभावं व्यश्नुत इत्यर्थः।' यह विवर्तवाद का प्रतिपादन हो गया। भिन्न भिन्न प्रकार से सारा विवर्त ही बताया। मायाहस्ति इत्यादि सब विवर्त हैं। विवर्तवाद का अर्थ है 'अतत्त्वतः अन्यथाभावः विवर्तः' जो चीज़ सचमुच बिना बदले हुए बदली हुई प्रतीत हो उसे विवर्त कहते हैं। और 'तत्त्वतः अन्यथाभावः परिणामः' दूध से दही बन गया तो परिणाम हुआ। मिट्टी से घड़ा या सोने से गहना बन गया तो विवर्त है। उपनिषदों में कहीं भी परिणामवाद का एक भी दृष्टांत

सृष्टि की उत्पत्ति के लिये नहीं है। कहीं भी दूध से दही बनने जैसा दृष्टांत नहीं दिया। मिट्टी से घड़ा, लोहे से बर्तन, सोने से गहनों का, अग्नि से चिनगारियों का दृष्टांत दिया। सर्वत्र जहाँ कहीं दृष्टांत दिया है वहाँ दृष्टांत विवर्तवाद का दिया है। 'अतत्त्वतः अन्यथाभावः।' ज्ञान ज्ञानरूपता को छोड़कर घटज्ञान थोड़े ही बना, अथवा ज्ञान ज्ञानरूपता को छोड़कर पटज्ञान थोड़े ही बना। ज्ञानरूपता बने हुए ही तो घड़े कपड़े के आकार की प्रतीति हुई; इसलिये विवर्तवाद है। परिणामवाद को यदि स्वीकार कर लेंगे तो दोष यह होगा कि ब्रह्म से जगत् उत्पन्न हुआ तो ब्रह्म नहीं रहेगा। जैसे दूध से दही बना तो दूध नहीं रहा। इसलिये ज्ञानरूप ब्रह्म जगदाकार में ज्ञानरूप बने हुए ही दीख रहा है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। इन अनेक दृष्टांतों से विवर्तवाद और विवर्तवाद के भिन्न भिन्न तरीके बताये। उनके द्वारा बताया कि विवर्त कितने प्रकार का होता है, इसलिये भिन्न भिन्न दृष्टांत व्यर्थ नहीं समझना।

जब प्रणव को प्रत्यगात्मा रूप से समझ लिया तो अपने अविकृत भाव को जान लिया कि मैं ज्ञानस्वरूप से अविकारी हूँ और मैं ही जगत् के सब रूपों में ज्ञानस्वरूप से प्रतीत हो रहा हूँ। तब अपनी माया-शक्ति के अधीन ही जगत्-हेतुता है। जैसे मायावी के अधीन माया उसी प्रकार ज्ञान के अधीन ही घट, पट आदि सब हैं। इसी को हम सबसे बड़ी वेदांत की देन कहते हैं। बड़े से बड़ा अत्याचारी भी तुमको बाँधता किसमें है? कष्ट देकर ही बाँधता है, तुम्हें अपने वश में रखता है। कभी साक्षात् कष्ट देकर और कभी कष्ट का भय दिखाकर। वेदांती जब इस बात को समझ लेता है कि सुख जैसे एक ज्ञान वैसे ही कष्ट भी एक ज्ञान है। अब उसका तुम कर क्या सकते हो? बड़े से बड़ा अत्याचार उसका करेगा क्या? उसके शरीर मन को कष्ट दे सकता है। शरीर को कष्ट दे तो शरीर को मिला। अत्याचारी मन को कष्ट देता है, बाल बच्चों को उसके सामने कटवा देगा, इस भय से ही वह अपने वश में करता है। लेकिन जो इस ज्ञानस्वरूपता में स्थिर हो गया, उसका अत्याचारी कुछ नहीं कर सकता। यही बचने का एकमात्र तरीका है।

महात्माओं में प्रसिद्ध दृष्टांत है, सच्चा झूठा भगवान् जाने। एक बार यहाँ सिकंदर आया था। उसको उसके गुरु ने कहा था कि भारत में किसी महात्मा से मिलना। जब वह सिन्धु नदी के किनारे पहुँचा तो वहाँ एक महात्मा रहते थे। पहले उसने अपने मंत्री को उन्हें बुलाने भेजा, वे नहीं आये। अंततोगत्वा वह स्वयं उनके पास गया और कहा कि मेरे साथ चलो। उन्होंने कहा 'इतनी सुन्दर भारतभूमि को छोड़कर मैं कहीं नहीं जाने वाला हूँ।' सिकंदर ने कहा 'जानते हो मैं बादशाह सिंकंदर हूँ, मरवा डालूँगा।' महात्मा ने कहा 'बक बक क्यों करता है, मैंने कह दिया कि मैं कहीं नहीं जाने वाला।' सिकंदर तलवार निकालकर कहता है 'मैं तुम्हें अभी मार सकता हूँ।' महात्मा हँस पड़े, कहा 'इतना बड़ा झूठ क्यों बोलता है?' कहा 'क्या मैं नहीं मार सकता?'

महात्मा ने कहा 'तेरे को मैं कहाँ दीख रहा हूँ? यह शरीर दीख रहा है, और ऐसे शरीर तो अनादि काल से हज़ारों लिये और छोड़ दिये, आगे भी हज़ारों शरीर लेता रहूँगा और छोड़ता रहूँगा। इसलिये पहले मेरे को देख, फिर कहना कि मार दूँगा।' सिकंदर बेचारा समझदार तो था ही, समझ गया। कहने लगा 'मैंने तुम्हारे जैसा निर्भीक किसी को नहीं देखा। अब बताओ मैं तुम्हारे लिये क्या करूँ?' महात्मा ने कहा 'दाहिने हट जा। सूर्य की रोशनी आ रही है, उसे रोक रहा है, मुझे ठण्ड लग रही है। और तू क्या कर सकता है?' निरंतर जिसके अंदर आत्मस्थिति है, वही निर्भीक होता है। बड़े से बड़ा अत्याचारी भी उसका क्या बिगाड़ सकता है? इसलिये कहा कि इस प्रणव के अन्दर ही जगत्-हेतुता है। इस प्रकार अपनी मायावी आदि स्थानीयता को जिसने जान लिया, कि मुझ ज्ञानस्वरूप के अन्दर भय, राग की चीज़ें भी कल्पित हैं और मुझ ज्ञान के अन्दर ही सारी वासनायें भी कल्पित हैं, वह उसी क्षण अपने आत्मभाव को प्राप्त कर लेता है अर्थात् सर्वव्यापकता को पा लेता है।।२७।।

●

प्रणवं हीश्वरं विद्यात्सर्वस्य हृदि संस्थितम् ।
सर्वव्यापिनमोंकारं मत्वा धीरो न शोचति ।।२८।।

अब प्रणव के ध्यान का स्थल बताते हैं। अपरब्रह्म के प्रतीक रूप से ओंकार का ध्यान कैसे करे— यह बताया। ध्यान करते हुए क्या न करे, यह भी बताया। प्रणव में आदि मध्य और अंतरूपता, सृष्टि-स्थिति-लयरूपता, निरंतर अंतःस्मरण रूप से बनी रहनी चाहिये। इसका फल भी बता चुके हैं। अब ध्यान का स्थल बताते हैं कि ध्यान कहाँ करे? क्योंकि ध्यान कुछ ऐसे होते हैं जो बहिर्देश में किये जाते हैं और कुछ ध्यान ऐसे होते हैं जो अन्तर्देश में किये जाते हैं। अंदर और बाहर का भेद शरीर को लेकर है। शरीर के बाहर ध्यान को बहिर्ध्यान कहते हैं और शरीर के अन्दर के ध्यान को अन्तर्ध्यान कहते हैं। कुछ लेख हमने ऐसे बाँचे हैं कि जो कह देते हैं कि मन के अन्दर ध्यान और मन के बाहर ध्यान किया जाये। लेकिन ध्यान तो मन में ही होगा, मन के बाहर की प्रसक्ति ही नहीं, प्राप्ति ही नहीं है। ध्यान क्या है? मन के द्वारा किसी चीज़ का निरंतर चिंतन ही तो ध्यान कहा जाता है। इसलिये मन को लेकर के अन्दर और बाहर नहीं, वरन् शरीर को लेकर अंदर और बाहर है। इसी को पातंजलसूत्रमें देशबंध कहा 'देशबंधश्चित्तस्य धारणा।' ओंकार का ध्यान कभी भी बहिः नहीं होता है, शरीर से बाहर कभी नहीं होता है, क्योंकि ओंकार का ध्यान हमेशा अभेद ध्यान है। जीव और ईश्वर की एकरूपता से ही प्रणव का चिंतन होता है।

बाहर और अंदर को जब तक एकरूप नहीं समझा जाये तब तक ओंकार का ध्यान नहीं होता। इस दृष्टि से ही ओंकार या उद्गीथ के ध्याना को कई जगह संवर्ग विद्या

साथ मिलाया है। बहिर्ध्यान की प्रकृति पंचाग्नि विद्या और अन्तर्ध्यान की प्रकृति संवर्गविद्या है। उसी में कुछ परिवर्तन करके ध्यानों का परिवर्तन हो जाता है। हमारे यहाँ मीमांसा का नियम है कि पहले किसी कर्म और उपासना के जितने अंग-प्रत्यंग हैं वे बता देते हैं। आजकल की भाषा में जिसको (standard) कहते हैं। फिर उसके अन्दर भिन्न भिन्न कर्म या उपासना में कौन से अंग न करे, कौन से अंग जोड़े या कौन से अंग अन्य प्रकार से करे, बस इतना बता दिया जाता है। प्रकृति जहाँ ली जाती है, उसके अंदर सब अंगों को पूरी तरह से बताते हैं। उसके बाद जितनी हुई वे विकृतियाँ हुई। यहाँ विकृति का मतलब खराबी के अर्थ में नहीं लेना। विकृति का केवल मतलब है प्रकृति से (standard) जिनमें कुछ फ़र्क है। हिन्दी वाले विकृति का मतलब बुरा, या उसमें कोई गड़बड़ी, बिगाड़ समझते हैं, ऐसा विकृति का मतलब संस्कृत में नहीं है। यह बात अपने प्राचीन ग्रन्थों को पढ़ते समय याद रखना। हम कई चीज़ो को विकार कहते हैं। व्याकरण के अन्दर भी विकार हो जाता है, इसका मतलब यह नहीं कि ग़लत हो जाता है, बल्कि वही ठीक है। अर्थात् परिवर्तन के अर्थ में इसका प्रयोग होता है। संवर्ग विद्या ही अन्तर्ध्यान की प्रकृति है। संवर्ग विद्या के अन्दर मूल ध्यान है कि जो प्राण रूप से हमारे शरीर को चलाता है वही वायु रूप से बाह्य सृष्टि को चलाता है। दोनों को चलाने वाला वह एक ही है। सारे ब्रह्माण्ड, नक्षत्र, पृथ्वी इत्यादि को चलाने वाली चीज़ वायु है। भिन्न भिन्न चीज़ों को चलाने वाली ४९ प्रकार की वायु है और वही प्राण रूप से शरीर को चलाता है। प्राण और वायु इन दोनों की एकता का ध्यान ही संवर्ग विद्या कहा जाता है। अन्तर्ध्यान की प्रकृति यह है। जहाँ व्यष्टि और समष्टि दोनों की एकता का चिंतन किया जाये, वे सारे अन्तर्ध्यान हैं। बहिर्ध्यान में मैं अलग और समष्टि परमेश्वर अलग, यह भाव रखा जाता है।

जब बहिर्नियामक रूप से ध्यान किया जाता है तब उसे कह देते हैं बहिर्ध्यान और उसे शरीर से बाहर करना पड़ता है। यह ध्यान में फ़र्क समझ लेना। इसीलिये मूर्त्ति का ध्यान अन्तर्ध्यान बन नहीं पाता। शुरू शुरू के साधक को भले ही थोड़ा बहुत बता देते हैं। क्यों नहीं बन पाता? यह समझ लेना। मूर्त्ति का चेहरा ज़रूर होगा और ध्यान करने वाला भी अपने चेहरे को तो भूल नहीं सकता है। हमेशा समस्या यह रहेगी कि ध्येय को अपने स्वरूप से बाहर करके ही देखेगा। यही देखेगा कि देवता सामने बैठे हुए हैं। विशिष्ट रूप वाले को अपने स्वरूप से दूर करके ही देख सकते हो अपने स्वरूप से एक करके कैसे देखोगे? इससे बचने के लिये कई बार लोगों को पहले पहल यह बताते हैं कि ऐसे देखो कि अपना इष्ट तो हृदय में बैठा है और तुम बाहर बैठे हो। ताकि उस समय कम से कम तुम शरीर के अन्दर परमेश्वर को समझो, अन्तर्यामी रूप को समझ सको। लेकिन सूक्ष्म दृष्टि से विचार करो : परमात्मा को तुमने इस शरीर में रखा तो तुम शरीर लेकर बाहर हो गये या नहीं हो गये? इसीलिये जो प्रतीकोंका, प्रतिमाओं का या मूर्त्तियों का ध्यान है, यह प्रधान रूप से बहिर्ध्यान होता है।

अन्तर्ध्यान जितने होते हैं, जैसे ज्योति का ध्यान है, ध्वनि का ध्यान है, वे सारे के सारे अन्तर्ध्यान हो जाते हैं क्योंकि उनमें भेद प्रधान नहीं रहता। ज्योति के ध्यान का प्रकार है 'अंगुष्ठमात्रः पुरुषः मध्य आत्मनि तिष्ठति। ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते।।' जो ज्योति हमारे हृदय के अन्दर से आँख के द्वारा बाहर निकलती हुई रूपाकार बनती है, जो ज्योति हमारे हृदय से कान के द्वारा बाहर निकलती हुई शब्दाकार बनती है, जो ज्योति हमारे हृदय से घ्राण के द्वारा निकलकर गंधाकार बनती है उस ज्योति का ध्यान करना है। भगवान् भाष्यकारों ने इसीलिये कहा है 'नानाच्छिद्रघटोदरस्थित-महादीपप्रभाभास्वरम्। ज्ञानं यस्य तु चक्षुरादिकरणद्वारा बहिस्स्पन्दते।' जैसे घड़े के अन्दर तरह तरह के छिद्र बना दो, एक तिकोना, एक चौकोर, एक गोल आदि, और उस घड़े को किसी दीपक पर रख दो तो तिकोने छेद से रोशनी तिकोनी, गोल छिद्र से गोल रोशनी और चौकोर छिद्र से चौकोर रोशनी निकलेगी। लेकिन ज्योति एक अखण्ड है न तिकोनी, न गोल और न चौकोर है। इसी प्रकार जो परब्रह्म परमात्मा है उसका ज्ञान चक्षुरादि इन्द्रियों के द्वारा बाहर आने के कारण रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श वाला बनता है। इसलिये अन्तर्ध्यान में हमेशा ही जीव ईश्वर की एकता व्यष्टि और समष्टि की एकता का ध्यान है। ओंकार भी तद्रूप होने से उसका ध्यान भी अन्तर्ध्यान है। सबके हृदय के अन्दर संस्थित रूप से होने के कारण अन्तर्ध्यान है।

हृदय मायने क्या? भाष्य में कहेंगे 'स्मृतिप्रत्ययास्पदे हृदये' स्मृति और प्रत्यय का जो आस्पद है। स्मृति अर्थात् याद और प्रत्यय अर्थात् ज्ञान इन दोनों का जो आस्पद है अर्थात् जहाँ ये दोनों होते हैं, इन दोनों का जो आश्रय है वह हृदय कहा जाता है। इसलिये यह भूल कभी नहीं कर लेना कि हृदय अंग्रेज़ी का हार्ट (heart) है। यह ठीक है कि अंग्रेज़ी भाषा के अन्दर लिखने वाले अध्यात्मवेत्ता हुए हैं, वे भी हार्ट शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में करते हैं; लेकिन अपने यहाँ के अधिकतर लोग अंग्रेज़ी पढ़ते समय उनके अध्यात्मशास्त्र के ग्रन्थ को तो पढ़ते नहीं हैं, वे तो उनके लौकिक ग्रन्थों को पढ़ते हैं और लौकिक ग्रन्थ में हृदय का मतलब दिल है जो धड़कता है, खून आदि फेंकता है, और इस भ्रम से लोग इसी को हृदय समझ लेते हैं। अध्यात्म ग्रंथ पढ़ो तो उनमें वे भी हार्ट का प्रयोग खून-पम्प के अर्थ में नहीं करते, वरन् हृदय के अर्थ में करते हैं। हृदय वह स्थल है जहाँ स्मृति व प्रत्यय दोनों उत्पन्न होते हैं। स्मृति और प्रत्यय का आश्रय अहम् है। याद करो तो 'मैं' किसी चीज़ को जानो तो 'मैं', यह जो 'मैं' है यही हृदय है।

यह कहाँ संस्थित है? 'सर्वस्य' अर्थात् प्राणिमात्र में। छोटी से छोटी चींटी और मच्छर से लेकर ब्रह्मा विष्णु के अहम् के अन्दर किसी प्रकार का भेद नहीं। हम लोगों का वेदांत मानवतावादी (humanist) नहीं है। आजकल विदेशी लोगों ने बड़ा परिश्रम करके अपने आपको ह्यूमैनिस्ट बनाया, यद्यपि यह अभी पक्का नहीं हुआ क्योंकि अभी

उन्हें जँचता नहीं कि काले आदमी सचमुच आदमी होते हैं। इतना तो जँचता है कि ये भी आदमी हैं तो ज़रूर, लेकिन 'हैं' ऐसा पक्का नहीं हो पाता। इसलिये कई बार भूल जाते हैं कि ये भी आदमी हैं। बहुत परिश्रम करके किसी तरह यहाँ तक पहुँचे हैं, हाँ तो करने लग गये हैं। हमें याद है कि एक बहुत बड़े अध्यापक कहा करते थे बाइबल में कहा है 'Man was made in the image of God' मनुष्य परमात्मा का प्रतिरूप है, लेकिन उनकी बुद्धि में वेदांत की समझ तो थी नहीं, इसलिये अगला प्रश्न करते थे कि 'Everyone knows that God is not black' सभी जानते हैं कि ईश्वर काला तो है नहीं। फिर कैसे कहते हो कि काला आदमी आदमी है? गोड काला होता तो काला आदमी आदमी होता। इसलिये भगवान् का प्रतिबिम्ब काला आदमी कैसे हो सकता है? उनका यह निश्चित कहना था कि हब्शी (काले आदमी) आदमी नहीं हैं। आदमियों से एक जैसा व्यवहार करना चाहिये, लेकिन ये आदमी हैं ही नहीं।

आज से चालीस साल पहले भी वहाँ लोगों को पूरी तरह यह निश्चय नहीं था कि औरतें भी आदमी हैं। अरब देश में तो आज भी निश्चय नहीं है। गोड तो पुरुष है उसका प्रतिबिम्ब औरत कैसे हो जायेगी? यह सम्भव नहीं है। और उनके सिद्धान्त में पहले भगवान् को भी ख्याल नहीं रहा था कि बिना औरत के दुनिया नहीं चलेगी। इसलिये उनके पास जितनी सामग्री थी वह सारी खर्च करके आदमी बना दिया। उस आदमी का नाम ऐडम (Adam) था। बनाने के बाद ख्याल आया कि आगे बच्चे पैदा नहीं कर सकता। सामग्री खत्म हो गई थी। अतः उसने उस ऐडम को सुला दिया और— कहीं लिखा है छाती से और कहीं लिखा है पैर से— हड्डी निकाली जिससे औरत बना दी। सिद्धान्त यह कहता है कि अपने शरीर के किसी अंग या हड्डी को काटकर अलग करो तो उसमें आत्मा नहीं होता। इसलिये उनकी समस्या सच्ची है कि औरत में कैसे आत्मा माना जाये? इसलिये जब उनके अन्दर ही आत्मा की सिद्धि नहीं तो आगे फिर पशु पक्षियों के अन्दर आत्मा हो, यह तो सम्भव ही नहीं। वे आज भी नहीं मानते कि पशु पक्षियों में आत्मा है। वृक्षों में आत्मा तो उनकी कल्पना से भी बाहर है।

वेदांत ह्युमैनिस्ट नहीं है क्योंकि वह तो घास के तिनके से लेकर भगवान् तक सर्वत्र आत्मा को एक जैसा व्यापक देखता है। 'सर्वस्य हृदि संस्थितम्' का मतलब केवल आदमियों में नहीं। उन्हीं की देखा देखी आज हम लोगों की जितनी योजनायें बनती हैं वे मनुष्य-केन्द्रित होती हैं। इसलिये हम कई बार कहते हैं कि जितनी हमारी योजनायें हैं सब अभारतीय हैं क्योंकि उनके अन्दर दूसरे पशु पक्षियों का क्या स्थान है, क्या नहीं है, इसका विचार करने की किसी को फुर्सत नहीं है। आदमी ही उनका एकमात्र केन्द्र है क्योंकि हमने ईसाइयों की नकल की। एक तरफ़ वर्णाश्रम व्यवस्था को कहते हैं कि यह भेदभाव बढ़ाती है और दूसरी तरफ मनुष्य पशु का भेदभाव बढ़ाना इष्टापत्ति समझते हैं।

परमेश्वर ने जो सृष्टि की, उसके अन्दर अपने आप एक तरह का तोल (balance) रखा है। अमरीका के अन्दर यैलो पार्क नाम की एक जगह है। वहाँ एक बार इतने ज्यादा

हरिण हो गये कि उन्हें चाहे जितनी बन्दूकें ले लेकर लोग मारते रहे, उनकी संख्या नहीं घटी। वे सारी खेती आकर खा जायें। विचार करने लगे कि क्या हो गया। अन्त में पता लगा कि लोगों ने वहाँ रहने वाले जितने खूंखार शेर बघेरे थे उन सबको मार डाला था। नतीजा यह कि आज हरिण नहीं मर रहे हैं। चाहे जितनी बंदूकें लेकर बैठो तुम उन्हें कहाँ तक मार सकते हो? अन्ततोगत्वा वहाँ उन्होंने फिर से शेर बघेरे आदि मँगवा कर रखे और इस प्रकार उन हरिणों का आना बन्द हो गया। हमारे यहाँ आज लोग कहते हैं कि चूहे अनाज खा जाते हैं। हम लोगों ने बहुत पहले इसका उपाय किया था कि साँप को मारना पाप है। जब तक साँप को मारना पाप है तब तक चूहों को मारने के लिये करोड़ों रुपये की योजना नहीं बनानी पड़ेगी। जब तुमने मान लिया कि साँप को मारने में दोष नहीं, तो पहले साँप मारने पर और फिर चूहे मारने पर खर्च करो। आगे चूहे भी किसी चीज़ को खाते ही हैं, क्योंकि वे बिना खाये तो नहीं रहते। परमेश्वर ने जो सृष्टि बनाई है इसके अन्दर उन्होंने अपने आप एक दूसरे का तोल रखा है और उससे सृष्टि सारी ऐसे चलती रहती है कि किसी को कहीं भी दुःख न हो।

उसका सदुपयोग कैसे बढ़ाया जाये, यह हम सब सोच सकेंगे जब यह समझ पायेंगे कि सबमें आत्मा एक है। सबके कल्याण में हमारा कल्याण है और किसी का भी अकल्याण करने जाओगे तो उसमें अपना ही अकल्याण होगा। लोग यह तो कह देते हैं कि 'अगर गरीबों की तुम मदद नहीं करोगे तो अन्त में तुम बड़े आदमी खुद मारे जाओगे।' क्योंकि अंग्रेजों से सीख लिया की आदमी आदमी को बराबर रखना चाहिये। लेकिन समग्र सृष्टि में यह दृष्टि नहीं बना पा रहे हैं। वह बनाई तो सारी चीज़ अपने आप ठीक होती जाती है।

भगवान् भाष्यकार मनीषापंचक में कहते हैं 'या ब्रह्मादिपिपीलिकान्ततनुषु प्रोता जगत्साक्षिणी' ब्रह्मा से लेकर पिपीलिका तक एक जगत्-साक्षी ही, एक परमेश्वर ही सबमें विद्यमान है। अहं-प्रत्यय प्राणिमात्र में एक जैसा है, उसमें कोई भेद नहीं। अहम् के साथ जब किसी को मिलाओगे, शरीर, मन, इन्द्रिय इत्यादि किसी न किसी पदार्थ को मिलाओगे, तब उसमें भेदग्रहण होगा। केवल अहम् में कोई भेद नहीं है, वह तो एक जैसा ही है। कोई आकर दरवाजा खट-खटाये तो पूछते हो 'कौन आया?' वह कहता है 'मैं आया।' इससे कोई अर्थग्रह नहीं होता। 'मैं कौन?' तब वह अपने शरीर को लेकर कहता है 'वासुदेव।' या रिश्ते को लेकर कहता है 'मैं तुम्हारा चाचा।' इस मैं का कभी भी बहुवचन नहीं होता। बाकी सबका बहुवचन होता है। जैसे रामः रामौ रामाः; यहाँ रामः एक राम। रामश्च रामश्च रामौ, दो राम हुए तो रामौ और तीन राम हों तो रामाः (बहुवचन) कहेंगे। इसी प्रकार तुम का बहुवचन तुम लोग अर्थात् तुम + तुम + तुम = तुमलोग। लेकिन जब कहते हो 'वयं गच्छामः' 'हम जा रहे हैं' तो इसका मतलब यह नहीं होता कि मैं जा रहा हूँ + मैं जा रहा हूँ + मैं जा रहा हूँ अर्थात् अहं च अहं च अहं

च वयम् नहीं होता। वयम् का मतलब है अहं च त्वं च स च मैं + तुम + वह। मैं के साथ दूसरी जाति की चीजें जोड़ी जायेंगी तभी वयम् कहेंगे।

यद्यपि व्याकरण में समझाने के लिये कह दिया गया कि मैं, हम दो हम सब यों मैं के भी द्विवचन और बहुवचन हैं, लेकिन विचार की दृष्टि से देखो तो पता लग जाता है कि मैं इस शब्द का बहुवचन नहीं है क्योंकि मैं एक ही है। इसी दृष्टि से वेदांत के मूल सिद्धान्त में एकजीववाद का प्रतिपादन है। इस ग्रन्थ में सर्वथा एकजीववाद चलेगा। अन्यत्र भी उसे प्रधान माना जाता है। एक जीव मैं और वह प्राणिमात्र में एक जैसा है उसके अन्दर कोई भेद नहीं है। उसमें कुछ न कुछ अन्तःकरण की उपाधि, देह की उपाधि लेकर भेद करते हो। वे अहम् से बाहर ही हुए। उस अहम् के अन्दर ही स्मृति और प्रत्यय रहते हैं। स्मरण करने वाली चीज़ तुम्हारा शरीर और मन नहीं है। ये सहकारी कारण तो हैं, मदद तो देते हैं, लेकिन असल में देखो स्मृति और प्रत्यय का आस्पद कौन है? 'मैं स्मरण करता हूँ' या 'मैं किसी चीज़ को जानता हूँ या निश्चय करता हूँ।' प्रत्यय से मन और बुद्धि दोनों के व्यापार लेना। संकल्प विकल्प भी मैं करता हूँ और निश्चय भी मैं ही करता हूँ।

अन्तःकरण इत्यादि उपाधियों को छोड़कर जो 'मैं' है उसका ध्यान करना है। 'हृदि संस्थितम्' का मतलब केवल यह नहीं कि हृदय स्थल ही देखते रहो। शुरू का साधक इसी को मानकर चले, यह ठीक है, लेकिन वस्तुतः अहम् की प्रतीति ही वह आस्पद है जहाँ ओंकार का ध्यान करना है। कभी कभी जब यह ध्यान गंभीर हो जायेगा तो एक गड़बड़ी आ जाती है, उससे घबराना नहीं। इस ध्यान की गंभीरता में ऐसी चीज़ें स्मृति में आयेंगी जिनका तुमको लगेगा कि तुमने कभी अनुभव ही नहीं किया है। उसका कारण है: अगर अन्तःकरण लुप्त होकर अविद्या में चला गया तो नींद आ जायेगी, लेकिन यदि चेतना पूर्ण जागरूक है और तुम्हारा अन्तःकरण लुप्त हो गया तो जिस क्षण में अन्तःकरण लुप्त होगा उस समय सब प्राणियों के स्मृति-प्रत्यय के आस्पद वाली तुम्हारी स्थिति बनेगी। इसलिये अनन्तकोटिब्रह्माण्ड की स्मृति और प्रत्ययों में से कुछ भी तुम्हारे अन्दर प्रतीत हो सकता है। पूर्ण अभ्यास करने पर तो मनुष्य जहाँ चाहे वहाँ की स्मृति या प्रत्यय कर लेता है। अहम् के ऊपर वृत्ति एकाग्र करके जिस किसी अन्तःकरण को तुम समझना चाहोगे उसे समझ लोगे। पतंजलि के योगसूत्रों में इसकी विशेष विधि भी दी है। प्रारंभ में यह तो पता नहीं लगता कि हमारे स्मृति-प्रत्यय का आस्पद कहाँ है, केवल ऐसा लगता है जिस बात की कभी कल्पना नहीं की वह मन में आ गई। कई बार ऐसा होता है कि आगे आने वाली स्थिति का भान पहले हो जाता है क्योंकि देश-काल-वस्तु का परिच्छेद नहीं रह जाता है। अहम् के ज्ञान में तो देश-काल-वस्तु नहीं है। महाभारत युद्ध में अर्जुन की यही स्थिति हो गई थी जब उसने कहा कि मुझे विराट् रूप देखना है। भगवान् ने उससे कहा जो कुछ देखना चाहे सब देख ले। लेकिन यदि

अर्जुन के अनुभवों को देखो तो अर्जुन ने सबसे ज्यादा किस चीज़ को देखा? भीष्म, द्रोण, कर्ण इत्यादि जो उसके प्रधान दुश्मन थे, वे सारे के सारे भगवान् के मुख में जा रहे हैं। वह तो विराट् रूप था, उसमें सब कुछ देखना चाहिये था, फिर यही चीज़ क्यों देखी? जिन चीज़ों के प्रति अपनी कुछ आसक्ति कषाय रूप में रहती है, उन्हीं चीज़ों की प्राप्ति जल्दी आ जाती है। ठीक इसी प्रकार जब ध्यान की गम्भीरता आती है तो जब तक वासना शून्य हुई नहीं है, कषाय रूप दोष के रह जाने के कारण अपने से सम्बन्धी चीज़ों का भान पहले हो जाता है। लेकिन उससे यह नहीं समझना चाहिये कि कोई नुक्सान की बात है। उससे यह पता लगता है कि अहम् की चेतना रहते हुए अन्तःकरण लुप्त हुआ था; परन्तु कषाय दोष के साथ लुप्त हुआ था इसलिये उस घटना या तद्व्यक्ति के विषय में ज्ञान हुआ, बाकी चीज़ों का नहीं हुआ। यह जो अन्तर्यामी स्वरूप है इसी को 'सर्वस्य हृदि संस्थितम्' के द्वारा कह दिया। 'ईश्वरं विद्यात्' यही मायाविशिष्ट चेतन ईश्वर है। सब प्राणियों के हृदय में अहम् रूप से जो विद्यमान है वही ईश्वर है, उसे समझो या जानो। वेदांत का ईश्वर खण्डन मंडन का विषय नहीं है। बाकी जितने ईश्वरवादी हैं उनको तो सिद्ध करना पड़ेगा कि ईश्वर है, और अनेक हेतु ईश्वर-सिद्धि में वे देते हैं। नास्तिक उनका खण्डन करते हैं। वेदांत ने एक विलक्षण बात कही। वह कहता है कि तुम्हारे हृदय के अन्दर जो स्पंदन करने वाला है उस 'मैं' को हम ईश्वर मानते हैं। अब हमारे इस ईश्वर का खण्डन कोई नहीं कर सकता क्योंकि जो खण्डन करेगा उसको कहना पड़ेगा कि 'मैं नहीं हूँ।' बाकी तो यह कहते हैं कि 'यह सारी दुनिया है, इसको बनाने वाला कोई ज़रूर रहा होगा।' वेदांती कहता है कि तुम्हारे अन्दर जो अहं प्रत्यय है यह ईश्वर है। इसका तुम कैसे खण्डन करोगे? तुमको कहना पड़ेगा कि 'मैं नहीं हूँ।' 'मैं नहीं हूँ' इस बात को जो कह रहा है वही तो मैं हुआ, और वही हमारा ईश्वर है! तुमने उस ईश्वर को गलत उपाधियों के द्वारा बाँध रखा है। 'देहं प्राणमपीन्द्रियाण्यपि चलां बुद्धिं च शून्यं विदुः। स्त्रीबालान्धजडोपमास्त्वहमिति भ्रान्त्या भृशं वादिनः' भ्रम के कारण तुम कभी शरीर को मैं कहते हो। तुम्हारा हाथ कट जाता है तो क्या तुम्हें लगता है कि मैं के अन्दर कोई कमी आ गई? लगता है 'मेरे शरीर में कमी आ गई, मैं तो वैसा का वैसा हूँ।' प्राणों में जब कमी आ जाती है तो कोई काम उनसे नहीं कर पाते। पहले घोड़े की तरह पहाड़ पर चढ़ जाते थे और अब बच्चों को कहते हैं कि 'तुम जाकर घूम आओ हम बैठे हैं।' प्राण में कमी आयी मैं में नहीं आई, वह तो वैसा का वैसा है। मन, बुद्धि कमजोर हो जाते हैं। मन की कमजोरी को भी स्पष्ट रूप से मैं प्रकाशित करता है। मन बुद्धि ढीले हो जाते है। पहले जो दो घण्टे शास्त्रार्थ कर लेता था वह अब दस मिनट में ही कहता है कि 'तुम लोग आपस में करो, हम सुन रहे हैं।' बुद्धि थक जाती है लेकिन मैं में कुछ फर्क नहीं पड़ता। इस मैं के विषय में विचार करो तो वही ईश्वर है। इसलिये इस अहम् को साक्षात् ईश्वर रूप से देखो अर्थात् अनुभव करो।

प्रणव इसी का रूप है। 'सर्वव्यापिनमोंकारं मत्वा' यह ध्यान का प्रकार है। आत्मा आकाश की तरह है, आकाश जैसा व्यापक है। आकाश का मतलब खाली जगह होता है। लेकिन कौन सी खाली जगह काम में आती है? जिसमें कोई न कोई उपाधि है। घड़े के अन्दर जो खाली जगह है उसी में पानी भरते हो। कोई कहे कि 'घड़े की क्या ज़रूरत है? खाली जगह में भरना है तो सीधे ही खाली जगह में भर लाओ' तो यह नहीं हो सकता। घड़े के अन्दर वाली खाली जगह में ही पानी भर कर ला सकते हैं, केवल खाली जगह में भरकर नहीं ला सकते। जिस आकाश में कोई उपाधि नहीं, जिस खाली जगह को हमने घेरा नहीं, वह खाली जगह काम की नहीं; घेरने के बाद वही खाली ज़गह काम की हो जाती है। ठीक इसी प्रकार सर्वत्र व्यापक जो परमेश्वर है वह किसी न किसी मन बुद्धि की, अन्तःकरण की उपाधि में आया हुआ ही काम का है। है सब जगह वही, जहाँ कोई भी अहम् की प्रतीति नहीं हो रही है वहाँ भी वह है। प्रतीति इसलिये नहीं है कि वहाँ अन्तःकरण नहीं है। यह नहीं समझ लेना कि जब कहा कि सारे प्राणियों के हृदय में है तो बीच की जगह में नहीं है। वह तो वस्तुतः सर्वव्यापक है, प्रकट करने की जगह अन्तःकरण हो गया। अन्तःकरण रूपी परिच्छेद, मन रूपी उपाधि जहाँ आयेगी वहाँ वह अहम् कार्यकारी होगा, दूसरी जगह वह कार्यकारी नहीं लेकिन है मौजूद वैसा का वैसा। इसलिये जब हम परमेश्वर से भी व्यवहार करेंगे तो उसमें ब्रह्मा, विष्णु आदि का कोई न कोई अन्तःकरण काम करेगा। यदि उसे सर्वव्यापक दृष्टि से उपाधिरहित मानोगे तो निरुपाधिक से कुछ काम नहीं होने वाला है। जब भी काम होगा तो सोपाधिक से ही होगा। निरुपाधिक से एक ही काम होता है कि आज तक जितने काम हुए हैं और आगे होने वाले हैं वे सब खत्म हो जायें! निरुपाधिक निर्विशेष ब्रह्म का साक्षात्कार तो 'तस्य कार्यं न विद्यते' सारे कर्मों को खत्म करने के लिये है, किसी कार्य को बनाने के लिये नहीं है।

'सर्वव्यापिनमोंकारं मत्वा' इस प्रकार से ओंकार को जिस व्यक्ति ने ठीक प्रकार से मनन के द्वारा समझ लिया, 'मत्वा मननेन ज्ञात्वा' तो ऐसा मनन् करने वाला व्यक्ति ही 'धीरो न शोचति' धीर अर्थात् बुद्धिमान् हो जाता है। बुद्धि का काम निश्चय है, इसीलिये उसका निश्चय पक्का हो जाता है। किस विषय में? कि एक अखण्ड चिन्मात्र के सिवाय और कहीं कुछ नहीं है, यह दृढ निश्चय हो जाता है। मनन करने से ही ऐसी धीरता आती है और इस निश्चय को जिसने प्राप्त कर लिया उसका धैर्य कभी हिलता नहीं। क्यों नहीं हिलता? एक जगह श्रीहर्ष लिखते हैं 'एकं ब्रह्मास्त्रमादाय नान्यं गणयतः क्वचित्। आस्ते न धीरवीरस्य भंगः संगरकेलिषु' एक ब्रह्मरूपी अस्त्र को जिसने पकड़ लिया वह उससे सबको परास्त कर देता है। उसके लिये सारे के सारे युद्ध 'केलि' होते हैं। बच्चे बच्चियाँ, युवक युवतियाँ आपस में जो खेल करते हैं उसको केलि कहते हैं। केलि का मतलब हँसी मज़ाक ठट्ठा होता है, तत्त्व उसमें कुछ नहीं निकलता। कई बार बच्चे कहते हैं 'वहाँ

गये थे Oh! We had a wonderful time बहुत मज़ा रहा।' हम सोचते हैं कि कुछ नई विद्या सीख आये होंगे, पूछते हैं 'क्या जाना?' कुछ नहीं बता पाते। बोर्डम नहीं मायने हँसी, मजाक, ठट्ठा। उसमें होता कुछ नहीं और खूब मज़ा आ गया। उसी को संस्कृत में केलि कहते हैं। इसी प्रकार जिसने एकमात्र ब्रह्मरूप अस्त्र को पकड़ लिया, उसके लिये ब्रह्माण्ड में जितने व्यवहार हैं वे हँसी-मजाक हैं। इनमें कहीं कोई तत्त्व उसे नज़र नहीं आता। बड़े से बड़े युद्ध के बाद उससे पूछो 'क्या हुआ?' उसका अनुभव है 'कुछ भी नहीं हुआ।' इसलिये कहा कि उसका कहीं भंग भी नहीं हो सकता है।

ऐसा जो धीर है वह 'शोचति न' कभी भी शोक को प्राप्त नहीं होता। शोक को प्राप्त तब होता है जब केलि को भूल जाता है। लोग घूमते हैं, बाकी सब तो बड़े खुश होकर आते हैं लेकिन एक दो बड़ा लम्बा चेहरा करके आते हैं। कहते हैं 'ये सब लोग हमारा ही मज़ाक उड़ाते हैं। अब मैं कभी भी इन लोगों के साथ नहीं जाऊँगी या जाऊँगा।' हम कहते हैं कि 'सबको मज़ा आया, तुमको क्यों नहीं आया?' इसलिये कि वे उसे खेल नहीं समझ पाये। वे समझ गये कि इसमें कोई तत्त्व है। तभी शोक होता है। इसी प्रकार जब सृष्टि के अन्दर कुछ भी करोगे, पाली बाँधकर कबड्डी खेलोगे, तो किसी की हार और किसी की जीत होगी। मज़ाक में तो होना ही यह है। यदि पता है कि मज़ाक है तब तो प्रसन्नता होती है, और जब इसे भूल जाते हैं तो झगड़ा होने लगता है। हम ऐसे लोगों को जानते हैं कि ताश खेलना शुरू करते हैं और ताश फाड़कर खत्म होता है! शतरंज खेलेंगे और दूसरे की तरफ मोहरे फैंकते हैं। इसी का नाम शोक है। ऐसा जो धीर है, सारे ब्रह्माण्ड को जो खेल समझने वाला है, उसकी क्योंकि कभी खेल की भावना नहीं हटती, इसलिये शोक की प्राप्ति नहीं होती।

भाष्य में इसी को स्पष्ट करते हैं 'सर्वप्राणिजातस्य स्मृतिप्रत्ययास्पदे हृदये स्थितमीश्वरं प्रणवं विद्यात्सर्वव्यापिनं व्योमवदोंकारमात्मानमसंसारिणं धीरो बुद्धिमान् मत्वा न शोचति।' 'सर्वस्य' का अर्थ 'सर्वप्राणिजातस्य' कर दिया। जो ब्रह्मबुद्धि से प्रणव का ध्यान करने वाला है, सारे प्राणिजात के स्मृति और प्रत्यय के आश्रय हृदय में स्थित ईश्वर की उपासना करता है, उसे शोक नहीं होता। यह अपरब्रह्म का विषय समझना। अगले श्लोक में परब्रह्म का विषय आयेगा। जो पारमार्थिक दृष्टि वाला है वह तो देश-काल आदि से रहित, परिच्छेद से रहित वस्तु को विषय करता है, अतः उसको तो शोक आदि की प्राप्त ही नहीं है। ईशावास्य उपनिषद् में इसी को आक्षेप पूर्वक कहा है 'तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः' निरुपाधिक चेतन को जो देखता है उसको शोक मोह प्राप्त ही नहीं हो सकते क्योंकि द्वितीय दर्शन करे तब शोक मोह की प्राप्ति हो। इसका विषय अगले श्लोक में आयेगा। यहाँ सविशेष को बता रहे हैं। जो निर्विशेष के लायक नहीं हुआ वह अपरब्रह्म की उपासना करता है।

ईश्वर को ही प्रणवरूप से ध्यान करे। वह आकाश की तरह व्यापक है, असंसारी है, उसका संसरण नहीं। उसके ऊपर से तो जाग्रत्, स्वप्न, सुप्ति का संसरण होता है; जैसे रेल की पटरी के ऊपर से तो पैसेन्जर, मेल, मालगाड़ी का संसरण होता है लेकिन रेल की पटरी तो वैसी की वैसी है। ऐसा तो नहीं कि मालगाड़ी के लिये लोहे की पटरी और सबसे बढ़िया राजधानी ऐक्सप्रेस के लिये सोने की लाइन हो! उनके डिब्बों के अन्दर चाहे जो फर्क हो जाये, एक में चाहे बिना छत के डिब्बे लगे हों और दूसरी में एयरकंडिशंड हों। पटरी में तो कोई फर्क नहीं होता है। इसी प्रकार जो ओंकार से अभिन्न आत्मा है उसके ऊपर से निकलने वाले जाग्रत् के अन्दर दूसरे तरह के विषय, स्वप्न के अन्दर आभासमात्र विषय, एक में व्यावहारिक और दूसरे में प्रातिभासिक विषय; और सुषुप्ति में केवल अज्ञानमात्र, मालगाड़ी आ गई। जैसे राजधानी में एयरकंडिशंड डिब्बे और बाकी गाड़ियों में पंखे और गद्दे तथा मालगाड़ी में वह भी नहीं, यों डिब्बों में फरक हुआ इसी प्रकार अधिष्ठान अभिन्न आत्मा के ऊपर से जाग्रत् गया तो उसमें व्यावहारिक पदार्थ, स्वप्न निकला तो प्रातिभासिक पदार्थ और सुषुप्ति में खाली डिब्बा है, लेकिन इन सबके निकलते रहने पर भी जैसे पटरी एक रूप है इसी प्रकार 'ओंकारं आत्मानं असंसारिणम्' ओंकारम् से अभिन्न आत्मानम् का संसरण नहीं होता, भिन्न भिन्न अवस्थाओं के आने जाने पर भी वह एक जैसा बना रहता है।

धीर का अर्थ कर दिया 'धीरो बुद्धिमान्' अर्थात् विवेकी, जो यह समझता है कि संसारी जीव और है, मैं और हूँ। संसारी जीव अन्तःकरण में प्रतिबिम्बरूप हैं और मैं अविद्या में प्रतिबिम्ब है। यही एकजीव का आधार है। अविद्या में प्रतिबिम्ब मैं एक जीव और अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित होने वाले सारे जीवाभास। यह जानने वाला ही विवेकी बुद्धिमान् है। मत्वा अर्थात् साक्षात्कार करके। बृहदारण्यक में जहाँ आया 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मंतव्यो निदिध्यासितव्यः' वहीं उसके नीचे श्रुति ने अनुवाद कर दिया 'आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेन'। श्रुति ने स्वयं निदिध्यासन का अनुवाद विज्ञान कर दिया। मनन कब तक करना चाहिये? जब तक साक्षात् अनुभव न हो। इसलिये मत्वा अर्थात् विवेक के द्वारा जब इस प्रकार तत्त्वसाक्षात्कार हो जाये तब शोक नहीं करता क्योंकि शोक का निमित्त तो आत्मा का अज्ञान है। 'शोकनिमित्तानुपपत्तेः'। 'तरति शोकमात्मवित्' इत्यादि श्रुति स्पष्ट कहती है कि जिसे आत्मज्ञान हो गया उस आत्मवेत्ता को फिर शोक की सम्भावना नहीं है।

साधारण आदमी उसे निर्मम (heart-less) मानता है। ये दोनों चीज़ें विचित्र हैं : लौकिक भाषा में दो शब्द बड़े खराब माने जाते हैं, एक 'निकम्मा' और एक 'निर्मम'। हम अध्यात्मवादियों के लिये ये दोनों बड़े भूषण हैं। हमको जितना कोई निकम्मा कहे, हमें प्रसन्नता होती है कि हमारी स्थिति ठीक है। कोई 'काम करने वाला' कहे तो हम सोचते हैं कि हाय! यह बदनामी का टीका कहाँ से लग गया। लोग निकम्मा होने को दूषण मानते हैं, हम भूषण मानते हैं। ऐसे ही हम लोग मानते हैं कि जिसकी ममता हट

गई वह निर्मम हुआ। हमारे यहाँ वह भूषण का विषय हुआ। लोक में उसे बुरी चीज़ मानते हैं। आत्मा का अज्ञान ही शोक का कारण होता है। इसीलिये संसारी लोगों में किसी के मर जाने पर जो रोये वह भला आदमी माना जाता है। बहुत साल पहले की बात याद है। कोई मर गया तो सब रोये लेकिन एक बच्चा नहीं रोया। उसकी माँ हमसे कहती है कि 'इसको कुछ तो सहूर सिखाइये, चाहे आँखों में मिर्चें डालकर ही रोये, नहीं तो बदनामी होती है।' हमारे यहाँ रोना दूषण माना जाता है क्योंकि हम लोग मानते हैं कि जीव जब वैतरणी नदी पार करता है तो उसके घर वालों की आँखों से बहाये गये आँसू उसे पीने पड़ते हैं और जो उसके घर वालों का गला भर आता है वह कफ उसे खाना पड़ता है! इसलिये हम लोग तो उसे बुरी चीज़ मानते हैं, और लोक में उसे अच्छी चीज़ मानते हैं। इसलिये कहते हैं 'न शोचति'। शोक का निमित्त है आत्मा का अज्ञान। आत्मा के साक्षात्कार से जब वह निमित्त हट गया तब शोक क्यों होगा? ।।२८।।

●

अमात्रोऽनन्तमात्रश्च द्वैतस्योपशमः शिवः ।
ओंकारो विदितो येन स मुनिर्नेतरो जनः ।।२९।।

अब निर्विशेष परब्रह्म परमात्मा की जो ओंकाररूपता है, उसको बताते हैं। तुरीयभाव को प्राप्त जो साधक है— वस्तुतः तुरीय भाव को प्राप्त होने के बाद साधक तो क्या फिर तो सिद्ध ही है, लेकिन फिर भी पहले की साधकता समझ लेनी चाहिये— उसने इस बात को समझ लिया है कि जो अमात्र है वह शिव है। मात्रा अर्थात् परिच्छेद। देशगत, वस्तुगत, कालगत सब परिच्छिन्नतायें हैं। इन सब परिच्छिन्नताओं का जहाँ अभाव है वह अमात्र हुआ और इसीलिये उसे अनन्तमात्र कह दिया जाता है। अनन्तता कोई गुण नहीं जो ब्रह्म में रहता है। उसका अन्त नहीं इसलिये अनन्त कहा जाता है। जैसे कहने को कह देते हैं कि यह कपड़ा है किन्तु कपड़े के अन्दर कितनी चीजें हैं? घड़े का अभाव, रज्जु का अभाव भी इसमें है क्योंकि कपड़ा रज्जु या घड़ा नहीं है। कपड़ा आत्मा नहीं है। यदि विचार करो तो कपड़े में उस कपड़े को छोड़कर बाकी सब कपड़ों का भी अभाव बैठा हुआ है। कहीं यदि अभाव के अन्दर कोई वास्तविकता थोड़ी भी होती तो कपड़ा कभी दीखता ही नहीं क्योंकि कपड़ा बेचारा एक हुआ और उसपर अभावों का ढेर हो जाता। और वज़न कितना होता उसका तो कोई हिसाब ही नहीं! यदि अभाव का वज़न एक रत्ती भी समझो तो अनन्त चीज़ों का अभाव रहने से घड़े का कितना वज़न होगा पता नहीं लगा सकते। अभाव केवल यह समझाने के लिये है कि यह वह सब नहीं है। वह कोई चीज़ नहीं जो उस पर बैठी हुई हो।

जब हम कहते हैं ब्रह्म की अनन्तता तो लोग कहते हैं कि ब्रह्म की अनन्तता कैसे पता लगेगी? तुमको अपनी अन्तवत्ता का पता लग रहा है: इस शरीर तक मैं हूँ, इस

मन तक मैं हूँ; अन्तवत्ता का जब पता न लगे, वही अनन्तता है। उसमें अनन्तता कोई नया गुण आकर नहीं बैठ जाना है। लोग कहते हैं कि वहाँ हमको तारे दीखने लग जायेंगे! वह तो फिर अन्तवत्ता हो गई। फिर उस तारे से आगे क्या? अन्तवत्ता की प्रतीति न होना ही अनन्तता है। वही द्वैत की उपशान्ति है और द्वैत की उपशान्ति से ही उसे शिव कहा जाता है। जब तक द्वैत है शिव नहीं और जब शिव है तो फिर द्वैत नहीं। दोनों एक साथ नहीं हैं। यही वास्तविक वैदिक शिवतत्त्व है। जिसने इस प्रकार शिवरूप से ओंकार को जान लिया वही मुनि कहा जाता है। दूसरा कोई मुनि शब्द से नहीं कहा जाता है। वास्तविक मुनि वह है जिसको अपनी इस शिवरूपता का ओंकार से अभेद होकर अनुभव हो गया। वही मुनिपद का वाच्य है।

भाष्य में कहते हैं 'अमात्रस्तुरीय ओंकारः। मीयतेऽनयेति मात्रा परिच्छित्तिः सा अनन्ता यस्य सोऽनन्तमात्रः।' अमात्र तुरीय ओंकार है। 'मीयतेऽनयेति' जिसके द्वारा कोई चीज़ मापी जाती है वह मात्रा है यह श्रुति के अर्थ में बता दिया था। इसलिये मात्रा से परिच्छित्ति, परिच्छेद का भाव कहा। अनन्तमात्रता को 'इतना ही' ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसलिये कोई भी कभी कहे कि 'मैंने परमेश्वर को जान लिया कि परमेश्वर ऐसा है', तो समझ लेना कि महाझूठा है। परमेश्वर को जानोगे तो यह कह सकोगे कि वह क्या नहीं है? आज तक जो कुछ जाना समझा वह सभी परमेश्वर ही है, इस बात को समझना ही परमेश्वर को समझना है। जहाँ कहा कि परमेश्वर 'को' जाना तो समझ लो कुछ नहीं जाना। पहले ही बताया कि जहाँ तुम्हारा ज्ञान भी समाप्त हो जाता है बस इस रूप से ही उसे जानना है। जितने संसार के झगड़े होते हैं वे इसीलिये होते हैं कि कोई कहता है 'मैंने परमेश्वर को जान लिया और बाकी तुम कोई नहीं जानते।' मैंने जान लिया या गोडमैन ने जाना बाकी तुम जो कुछ जानते हो तो वह सब गलत है। किन्तु ऐसा ज्ञान परमेश्वर का ज्ञान है ही नहीं। इसीलिये उसे शिव शब्द से कहा गया क्योंकि उसका स्वरूप ऐसा है जिसमें सारा द्वैत उपशान्त है, बाधित है। आत्मा परम आनन्द है, द्वैत ही उसे रोके रखता है जिससे सारे दुःख हैं। जब द्वैत नहीं रहा तब आनन्द पूरा स्फुट है। शिव अर्थात् आनन्दरूप।

'ओंकारो यथाव्याख्यातो विदितो येन स परमार्थतत्त्वस्य मननान्मुनिः'। जिस को अनुभव नहीं हुआ है केवल यह पता लग गया कि शास्त्र में ऐसा लिखा है, उसे पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं होगी। शास्त्र में लिखा है यह जानकर काम नहीं बनने वाला है। जब तक तुमको जीवन में प्रतिक्षण नहीं दीख जाये तब तक वह शास्त्रवाक्य तुम्हारे काम का नहीं। इसलिये जब तक यह बुद्धि है कि गीता में कहा है तब तक तुम्हारा ज्ञान नहीं, और जिस दिन दम ठोककर कहोगे कि 'भगवान् नारायण भी मना करे तो मैं मान नहीं सकता'; तब तुम्हारा काम बने।

दक्षिणभारत में एक कथा प्रसिद्ध है। तमिल भाषा का संगम होता था जिसमें नियम था कि जो बढ़िया कविता बनाकर लाये उसे इनाम मिलता था। कविता में कोई दोष

नहीं होना चाहिये। एक गरीब ब्राह्मण ने भगवान् शंकर की उपासना की कि 'मैं गरीब हूँ, लड़की की शादी का इंतजाम करना है इसलिये एक श्लोक लिखकर दे दोगे तो मैं जाकर दे दूँगा।' भगवान् शंकर तो संस्कृत के विद्वान् हैं, तमिल भाषा उतनी पढ़े हुए नहीं हैं! उन्होंने तमिल में लिख दिया। उसने कहा कि 'वहाँ जाऊँगा, वे लोग दोष निकालेंगे तो मैं क्या करूँगा? आप साथ ही चलो।' छोटे बच्चे होकर भगवान् उसके साथ गये। वहाँ पहुँचे तो श्लोक दिखाया। नाविकरण वहाँ विद्वान् थे। उन्होंने कहा कि 'इसमें अमुक दोष है।'। ब्राह्मण ने कहा 'मैं क्या जबाव दूँ, यह बच्चा ही दे देगा'। उस जवाब पर विद्वान् ने फिर युक्ति लगाई। ऐसे पाँच सात कोटि तक प्रश्नोत्तर होता रहा। वे विद्वान् भी भगवान् शंकर के भक्त थे। उस बालक ने धीरे धीरे अपना तीसरा नेत्र खोलकर दिखाया कि 'मैं तुम्हारा इष्ट हूँ, मेरा श्लोक पास कर दो।' लेकिन वे भी तगड़े विद्वान् थे। उन्होंने कहा 'तीसरा नेत्र दिखाओ, चाहे कुछ भी दिखाओ, गलत श्लोक तो गलत ही रहेगा ठीक कैसे करूँ।' फिर राजा से कहा कि 'यह जितना धन माँगे दे दो।' जिसके लिये भगवान् शंकर बच्चे बन कर आ गये उसे देने में कमी नहीं, लेकिन भगवान् जो गलत लिखकर लाये वह तो गलत ही है, ठीक नहीं हो सकता। यह दृढता है।

सारी दुनिया एक तरफ हो तो भी हमारा अनुभव नहीं बदल सकती। इसलिये परोक्षज्ञान, शास्त्रीय ज्ञान से काम नहीं होता। 'ओंकारः विदितः येन अनुभवेन साक्षात्कृतः येन स परमार्थतत्त्वस्य मननान्मुनिः' परमार्थ-तत्त्व का मनन करने से मुनि हो जाते हैं। 'नेतरो जनः शास्त्रविदपीत्यर्थः' केवल शास्त्र के शब्दों को जानने वाला व्यक्ति मुनि नहीं है। इस प्रसंग का सार आनन्दगिरि स्वामी यह निकालते हैं 'तदेवं प्रणवद्वारेण निरुपाधिकमात्मानम् अनुसन्दधानस्य पुरुषार्थपरिसमाप्तिः, न इतरेषां बहिर्मुखाणाम् इति स्थितम्।' पुरुषार्थ अर्थात् परमपुरुषार्थ मोक्ष। उसकी परिसमाप्ति मतलब प्राप्ति। वह बहिर्मुखी लोगों को हो नहीं सकती। फिर किसे हो सकती है? जो प्रणव का सहारा लेकर उपाधिरहित आत्मा का अनुसन्धान करता है उसे मोक्ष मिलता है। इस प्रकार इस आगम नामक प्रथम प्रकरण में माण्डूक्य उपनिषत् के मंत्रों का अर्थ बताते हुए प्रणव की उपासना और प्रणव के आधार पर विचार दोनों का विशदीकरण हुआ।।२९।।

प्रथम प्रकरण समाप्त